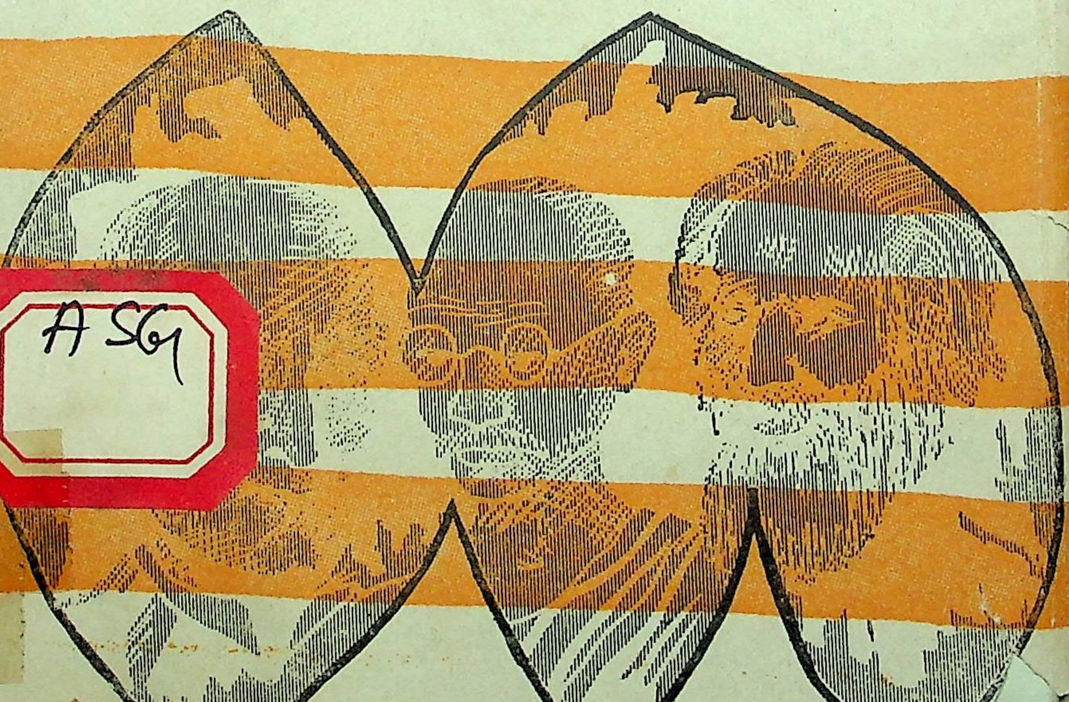
राजनीतिक चिन्तन

हरिदत्त वेदालंकार



आधुनिक राजनीतिक चिन्तन

[बेन्थम से महात्मा गांधी तक १८वीं, १९वीं, २०वीं शताब्दी की प्रधान राजनीतिक विचारधाराओं का आलोचनात्मक विवेचन]

लेखक :

हरिदत्त वेदालंकार, एम० ए०

भू० प्राध्यापक, गुरुकुल कॉंगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

भू० निदेशक, प्रकाशन विभाग, उ० प्र० कृषि विश्वविद्यालय, पंतनगर, जिला नैनीताल।

प्रकाशक :

रंजन प्रकाशन गृह

सी-५/१३, सफदरजंग डेवलपमैण्ट एरिया

नई दिल्ली-११००१६.

[मूल्य : २९ रु० ५० पैसे

पंचम संस्करण : १९८४]

प्रकाशक :
रंजन प्रकाशन गृह,
सी-५/१३, सफदरजंग डेवलपमेंट एरिया,
नई दिल्ली-११००१६.

पंचम संस्करण : १९८४

मुद्रक :
अजय प्रिंटर्स, दिल्ली-११००३२.

मातरं वन्दे
परमपूज्या माता श्रीमती इन्दिरादेवी जी के
चरणों में !

तृतीय संस्करण की भूमिका

लेखक को इस बात का हर्ष है कि पाठकों ने 'पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास' की भांति 'आधुनिक राजनीतिक चिन्तन' के द्वितीय संस्करण का स्वागत किया और थोड़े समय में ही यह संस्करण समाप्त हो गया। यह इस पुस्तक की उपयोगिता तथा लोकप्रियता का परिचायक है।

तृतीय संस्करण में पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने के लिए अनेक नए विषयों का समावेश किया गया है। 'अराजकतावाद' पर एक नया प्रकरण बढ़ाया गया है और इसका प्रतिपादन करने वाले माइकेल बाकुनिन और प्रिंस क्रोपाटकिन के सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। अन्य अध्यायों में भी यथास्थान आवश्यक संशोधन और परिवर्द्धन किए गए हैं।

आशा है इनसे यह संस्करण पहले की अपेक्षा अधिक उपयोगी और लोकप्रिय सिद्ध होगा!

पंतनगर
१०-१-७६

—हरिदत्त

प्रथम संस्करण की भूमिका

आधुनिक राजनीतिक विचारों का अनुशीलन और अध्ययन हमारे लिए कई कारणों से विशेष महत्व रखता है। हम इस समय ऐसे जगत् में रह रहे हैं जो विचारधारा की दृष्टि से दो बड़े शक्तिशाली गुटों में बँटा हुआ है। एक गुट का नेता रूस एवं चीन है और दूसरे गुट का संयुक्त राज्य अमेरिका तथा इंगलैण्ड। यह विभाजन राजनीतिक सिद्धान्तों के आधार पर है। पहला गुट साम्यवाद के सिद्धान्तों में गहरी आस्था रखता है, विश्व में सर्वत्र उसका प्रचार और प्रसार करने का प्रबल प्रयास कर रहा है। दूसरा गुट लोकतन्त्र का उग्र समर्थक है और उसके प्रसार का भगीरथ प्रयत्न कर रहा है; वर्तमान समय की परिस्थितियों ने पूंजीवाद, समाजवाद (Socialism), साम्यवाद (Communism), संघवाद (Syndicalism), श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism), उदारवाद, व्यक्तिवाद, अराजकतावाद, बहुलवाद (Pluralism), फासिज़्म, नाज़ीवाद, लोकतन्त्र, राष्ट्रीयता आदि की विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं को जन्म दिया है। भारत पर इन सब का गहरा प्रभाव पड़ा है। १९५० ई० में स्वीकार किए गए भारतीय संविधान पर पश्चिमी जगत् के आधुनिक विचारों—

स्वतन्त्रता, समानता, उदारवाद, लोकतन्त्र, समाजवाद आदि का स्पष्ट एवं गहरा असर पड़ा है। इस समय भारत संसार का सबसे बड़ा लोकतन्त्र है। फरवरी, १९६७ में हुए आम चुनावों ने भारतीय लोकतन्त्र को एक बड़ी कसौटी पर कसा है। इससे पूर्व भारत के मित्र अनेक प्रकार की आशंकाओं से भयभीत थे, शत्रुओं को यह आशा थी कि ये देश के अन्तिम चुनाव होंगे ; किन्तु ये सब भय निर्मूल सिद्ध हुए हैं। इनसे हमारे देश में स्वस्थ लोकतन्त्रीय भावना विकसित होने के प्रमाण मिले हैं। हमारा कल्याण इस भावना और परम्परा को पुष्ट एवं सुदृढ़ बनाने से ही सम्भव है। इस दृष्टि से लोकतन्त्र, समाजवाद, साम्यवाद आदि विचारधाराओं का गम्भीर अध्ययन और अनुशीलन हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस पुस्तक में बेन्थम से बापू तक वर्तमान काल की उपर्युक्त प्रमुख राजनीतिक विचारधाराओं का सरल, संक्षिप्त, रोचक एवं सुबोध परिचय देने का विनम्र प्रयास किया गया है।

इस पुस्तक में प्रमुख राजनीतिक विचारकों की विचारधाराओं का प्रतिपादन यथासम्भव उनके मूल ग्रन्थों के आधार पर तथा उन्हीं के शब्दों में देने का प्रयत्न किया गया है। बेन्थम, काण्ट, हेगल, गांधी जी आदि के विचार उन्हीं के वचनों और ग्रन्थों के आधार पर दिए गए हैं। पादटिप्पणियों में मूल ग्रन्थों से लिए गए उद्धरणों के निर्देश और संकेत दे दिए गए हैं। इस ग्रन्थ की दूसरी विशेषता प्रमुख दार्शनिकों के विचारों पर प्रभाव डालने वाली तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का विवेचन है। उदाहरणार्थ, कार्ल मार्क्स के विचारों का प्रादुर्भाव इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न दुष्परिणामों को दूर करने के लिए हुआ, इसी प्रकार बेन्थम, हेगल, काण्ट तथा गांधी जी के विचारों का विकास तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक पृष्ठभूमि में हुआ। इस पुस्तक में इस बात का प्रयास किया गया है कि राजनीतिक दार्शनिकों के विचारों का प्रतिपादन करने के साथ-साथ इन्हें उत्पन्न करने वाली तथा इन पर प्रभाव डालने वाली परिस्थितियों का भी वर्णन किया जाए।

काण्ट और हेगल जैसे शुष्क दार्शनिकों के तथा अन्य विचारकों के विचारों का प्रतिपादन करते समय इसे उनके जीवन के रोचक प्रसंगों से सरस बनाया गया है। बेन्थम के समय के आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के वातावरण का वर्णन (पृ० २१), उसकी बिल्ली पालने आदि की सनकें (पृ० २६), काण्ट (पृ० १०५–९) और हेगल (पृ० १२५–७), हर्बर्ट स्पेन्सर का बीमारी और निर्धनता में महान् ग्रन्थों का प्रणयन तथा झक्कीपन (पृ० २२७–९), कार्ल मार्क्स की भीषण दरिद्रता (पृ० २८९) न केवल ज्ञानप्रद हैं अपितु सबको प्रबल प्रेरणा प्रदान करने वाले हैं ; इसी प्रकार अन्य सभी विचारकों के जीवन के रोचक और पावन प्रसंग देने का प्रयत्न किया गया है।

विचारकों के जीवन और व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाली सामग्री के अतिरिक्त मिल, ग्रीन, काण्ट, मार्क्स आदि के चित्र भी दिए गए हैं। इन चित्रों के साथ-साथ इस पुस्तक में यह भी प्रयास किया गया है कि दुर्बोध, जटिल एवं क्लिष्ट विचारों को भी चित्रों की सहायता से सरल और सुबोध बनाया जाए। उदाहरणार्थ, हेगल

और मार्क्स का एक जटिल विचार द्वन्द्वात्मक (Dialectic) पद्धति है। इसे सुबोध बनाने के लिए कई चित्र (पृ० १३२–४, २९५) दिए गए हैं। इसे बीज और पौधे के सुप्रसिद्ध दृष्टान्त से समझाया गया है (पृ० २९६)। इसी प्रकार मार्क्स द्वारा मध्यम वर्ग के लोप की भविष्यवाणी के सम्बन्ध में भी कुछ चार्ट दिए गए हैं (पृ० ३२६–२७)।

इस पुस्तक में पश्चिमी जगत् के विचारकों के विचारों का परिचय देते हुए, कई स्थानों पर इन विचारों से सादृश्य रखने वाले भारतीय विचारों का निर्देश किया गया है। दोनों विचारधाराओं का इस प्रकार का तुलनात्मक विवेचन बड़ा विचारोत्तेजक और रोचक है, इससे भारतीय पाठकों को पश्चिमी विचारकों के विचार समझने में बड़ी सरलता हो जाती है। उदाहरणार्थ पृ० ११५ पर तर्क द्वारा ईश्वर की सिद्धि के बारे में काण्ट और शंकर के विचारों की रोचक तुलना की गई है। इसी प्रकार काण्ट के कर्त्तव्य-बुद्धि से किए जाने वाले कार्य में तथा गीता के निष्काम कर्मयोग में बहुत सादृश्य है (पृ० ११६)। ब्रिटिश आदर्शवादी विचारक थामस हिल ग्रीन के और गीता के विचारों में विलक्षण साम्य है (पृ० १७३-७४)। इसी प्रकार सत्य के स्वरूप के बारे में ग्रीन और महाभारत के विचारों की समानता का उल्लेख किया गया है। दृश्य जगत् के अन्तिम मूल कारण के बारे में हेगल के विचार की तुलना वेदान्त के तथा अरविन्द के विचारों से की गई है (पृ० १३०-३१)। समाजवाद की वर्तमान विचारधारा का जन्म पश्चिमी जगत् में औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न परिस्थितियों से हुआ। किन्तु इसके एक प्रधान तत्व—आर्थिक विषमता—के विरुद्ध विचारक अत्यन्त प्राचीन काल से अपनी आवाज उठाते रहे हैं। गांधी जी का कहना था कि समाजवाद का मूल ईशोपनिषद् में है। पश्चिमी विचारक बाइबल में वर्णित अनेक विचारकों को समाजवादी मानते हैं (पृ० २६१), इस पुस्तक में इस विषय में आर्थिक विषमता के उन्मूलन तथा धन के समान वितरण पर बल देने वाली विचारधारा के सम्बन्ध में ऋग्वेद के समय से चली आने वाली भारतीय परम्परा का उल्लेख किया गया है (पृ० २५९–६१)। इसी प्रकार मार्क्स की द्वन्द्वात्मक पद्धति की तुलना सांख्य और वेदान्त के विचारों से की गई है।

इस पुस्तक में पारिभाषिक शब्दावली भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय द्वारा स्वीकृत और प्रकाशित शब्दसूचियों के आधार पर रखी गई है। इनमें न आने वाले शब्दों के लिए नए हिन्दी पर्याय निश्चित करते हुए भारतीय साहित्य की पृष्ठभूमि का पूरा ध्यान रखा गया है और यथासम्भव प्राचीन साहित्य से ही शब्द ग्रहण किए गए हैं। उदाहरणार्थ मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति में विकास की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए Negation शब्द का प्रयोग किया है। इसका अनुवाद हिन्दी में प्रायः निषेध या प्रतिषेध किया जाता है; इससे किसी वस्तु का अभाव सूचित होता है। वस्तुतः यह प्रकृति के विकास अर्थात् एक दशा से दूसरी दशा में जाना है। इसके लिए पुस्तक में निषेध शब्द का प्रयोग न करते हुए सांख्य दर्शन के विपरिणाम शब्द का व्यवहार किया गया है (पृ० २९६)।

इस पुस्तक के प्रणयन की प्रेरणा देने तथा सुन्दर रूप में प्रकाशित करने के लिए लेखक श्री विश्वरंजन जी, एम० ए०, एल-एल० बी० का आभारी है। गुरुकुल कांगड़ी के पुस्तकालय के अध्यक्ष श्री पं० धर्मदेव जी वेदवाचस्पति ने पुस्तकों के सम्बन्ध में अनेक सुविधाएँ प्रदान कर तथा नवीन ग्रन्थ मंगवाकर लेखक को अनुगृहीत किया है। श्री राजेन्द्र जी वेदालंकार ने इसके प्रूफ संशोधन में तथा ब्रह्मचारी गयादत्त ने कई प्रकार से बहुमूल्य सहायता की है। श्री महेशचन्द्र ने पुस्तक के लिए सुन्दर चित्र तैयार किए हैं। प्रेस ने मेरी पाण्डुलिपि को स्वीकार करते हुए इसका जो सुन्दर, स्वच्छ और शीघ्र मुद्रण किया है उसके लिए लेखक इन सबका बहुत आभारी है!

९ मार्च १९६७ —हरिदत्त
शिवरात्रि, गुरुकुल कांगड़ी।

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन का महत्व—बीसवीं शताब्दी मानवीय इतिहास में असाधारण महत्व रखती है। इसके पूर्वार्द्ध में मनुष्य ने अद्भुत एवं विलक्षण वैज्ञानिक आविष्कारों से न केवल प्रकृति पर अभूतपूर्व विजय पाई है, देश और काल की दूरी को नगण्य बना दिया है, अपितु इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रलयंकर ताण्डव-लीला करने वाले अणु बम, उदजन बम जैसे भीषण ब्रह्मास्त्रों की सृष्टि कर विश्व के उज्ज्वल भविष्य को संदिग्ध एवं संकटापन्न बना दिया है, इस भूमण्डल की लघु परिधि के संकीर्ण घेरे को तोड़कर मानव चन्द्रमा तक पहुँच गया है तथा अन्य ग्रहों तक पहुँचने के लिए प्रयत्न कर रहा है। अन्तरिक्ष में विहार करने के नित नए परीक्षण हो रहे हैं। इस वैज्ञानिक उन्नति का प्रभाव मानवीय क्रियाशीलता के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में पड़ा है। आर्थिक क्षेत्र में वैज्ञानिक आविष्कारों ने मशीनों द्वारा उत्पादन से औद्योगिक क्रान्ति का श्रीगणेश किया है। औद्योगिक क्रान्ति तथा अन्य आधुनिक परिस्थितियों ने पूँजीवाद (Capitalism), समाजवाद (Socialism), साम्यवाद (Communism), संघवाद (Syndicalism), श्रेणीसमाजवाद (Guild Socialism), उदारवाद (Liberalism), व्यक्तिवाद, अराजकतावाद, बहुलवाद (Pluralism), फासिज़्म, नाज़ीवाद, लोकतन्त्र, राष्ट्रीयता आदि विभिन्न राजनीतिक विचारधाराएँ और वाद उत्पन्न किए हैं। इस समय संसार पूर्व और पश्चिम के दो शक्तिशाली राजनीतिक गुटों में बँटा हुआ है। पहले गुट का नेता रूस एवं चीन तथा दूसरे का सं० रा० अमेरिका है। यह विभाजन राजनीतिक सिद्धान्तों के आधार पर है। पहला गुट साम्यवाद के सिद्धान्तों में गहरी आस्था रखता है, विश्व में सर्वत्र उसका प्रचार और प्रसार करने का प्रबल प्रयास कर रहा है; दूसरा गुट लोकतन्त्र का उग्र समर्थक है, उसके प्रसार का भगीरथ प्रयत्न कर रहा है। राज्य के सम्बन्ध में महात्मा गांधी, हेरल्ड लास्की, जी० डी० एच० कोल, बर्ट्रेण्ड रसेल आदि मनीषी विचारकों ने विभिन्न प्रकार के विचार रखे हैं। इन सबने नए विचारों को जन्म दिया है। राजनीति में सामान्य रुचि रखने वाला पाठक विभिन्न वादों के वैविध्य को देखकर परेशान और विमूढ़ हो जाता है और अर्जुन के समान यह इच्छा रखने लगता है कि उसे इनमें से श्रेयस्कर मार्ग का बोध हो (यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे), ताकि वह अपने कर्त्तव्य का निर्धारण कर सके और नागरिक के दायित्वों का पालन करने में समर्थ हो सके। इसलिए आधुनिक राजनीतिक चिन्तन की विभिन्न धाराओं तथा प्रश्नों को समझना आवश्यक हो जाता है। इनमें पहला प्रश्न यह है कि आधुनिक युग किस समय से आरम्भ होता है।

आधुनिक युग का स्वरूप—यों तो प्रत्येक पीढ़ी अपने को आधुनिक कहती है, किन्तु पश्चिमी जगत् के इतिहास में अधिकांश ऐतिहासिक इसका श्रीगणेश १७८९ में आरम्भ होने वाली फ्रेंच राज्यक्रान्ति से करते हैं[1] और १९वीं तथा २०वीं शताब्दी को आधुनिक युग मानते हैं। इतिहास में युगपरिवर्तन की निश्चित तिथि का निर्धारण बड़ा जटिल प्रश्न है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के जीवन में यह कहना कठिन है कि उसने किस तिथि को शैशव से यौवन में और यौवन से बुढ़ापे में प्रवेश किया, वैसे ही प्राचीन, मध्य एवं अर्वाचीन युगों का तिथि निर्धारण बहुत कठिन है। जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन में कुछ शारीरिक लक्षणों और प्रवृत्तियों के आधार पर शैशव, यौवन और बुढ़ापे की अवस्थाओं का भेद किया जाता है, वैसे ही इतिहास में भी कुछ विशेष प्रवृत्तियों का आविर्भाव होने पर नवयुग का श्रीगणेश समझा जाता है। आधुनिक युग की प्रमुख प्रवृत्तियाँ और विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—(१) **मशीनों द्वारा उत्पादन**—पौराणिक परम्परा वर्तमान काल को कलियुग बताती है, किन्तु ऐतिहासिक इसे **कलयुग** कहते हैं। आधुनिकता का प्रधान चिह्न कलयुगी होना अर्थात् मशीनों की सहायता से भारी परिमाण में उत्पादन और वैज्ञानिक आविष्कारों का अधिकाधिक उपयोग है। यह १८वीं शती के उत्तरार्द्ध में इंगलैण्ड में आरम्भ होने वाली औद्योगिक क्रान्ति से शुरू हुआ। १९वीं शती के अन्त में यह क्रान्ति योरोप के अन्य देशों में भी हुई। (२) **राष्ट्रीयता, लोकतन्त्र तथा समानता की भावना**—मध्ययुगीन योरोप में निरंकुश स्वेच्छाचारी शासकों का बोलबाला था। फ्रांस का सुप्रसिद्ध राजा लुई १४वाँ कहा करता था—"मैं ही राज्य हूँ।" राजा की इच्छा ही कानून थी, वह अपनी सैनिक शक्ति से जितना प्रदेश जीत लेता था, वह उसका राज्य समझा जाता था। इंगलैण्ड में जेम्स प्रथम जैसे राजाओं का यह दावा था कि भगवान् ने उन्हें शासन का अधिकार प्रदान किया है, प्रजा को शासन में हस्तक्षेप का कोई अधिकार नहीं है। उस समय समाज तीन वर्गों में विभक्त था—कुलीन वर्ग, पादरी तथा सामान्य जनता। पहले दो वर्गों को अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त थे, उन्हें राज्य को कर नहीं देने पड़ते थे और अनेक प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त थीं, शेष जनता कर देती थी और सब प्रकार के विशेषाधिकारों से वंचित थी। फ्रेंच राज्यक्रान्ति ने सब व्यक्तियों के समान अधिकारों की घोषणा की तथा विभिन्न वर्गों के विशेषाधिकारों का उन्मूलन किया। लोकतन्त्र, राष्ट्रीयता और समानता के सिद्धान्तों की घोषणा की। (३) वर्तमान युग की तीसरी बड़ी विशेषता धर्म के प्रति दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन होना तथा इसका प्रभाव क्षीण होना है। प्राचीन एवं मध्ययुग के राज्यों पर धर्म का प्रबल प्रभाव था। पुरोहित राज्य में बहुत ऊँचा स्थान रखते थे, साधारण जनता धर्म में गम्भीर आस्था और अगाध श्रद्धा रखती थी। मध्ययुगीन योरोप में चर्च राज्य पर हावी था, उस समय राजा के धर्म को प्रजा का धर्म बनाने का प्रयत्न किया जाता था, राजा के प्रतिकूल धार्मिक मत रखने वालों का प्रबल दमन तथा उन्मूलन किया जाता था। यद्यपि आज भी ईसाइयत, इस्लाम, बौद्ध एवं हिन्दू धर्मों का जनता पर पर्याप्त प्रभाव है, किन्तु विज्ञान

---

१. हेज एण्ड मून—एंशेण्ट एण्ड मिडीवल हिस्टरी, पृ० ८६५

के प्रसार से सन्देहवाद और नास्तिकता की प्रवृत्ति बढ़ रही है, धर्म में आस्था क्षीण हो रही है, धार्मिक क्षेत्र में बलप्रयोग के स्थान पर धार्मिक सहिष्णुता और उदारता की नीति को श्रेयस्कर समझा जा रहा है। (४) प्राचीन एवं मध्ययुग में सब बातों में धर्म तथा धार्मिक ग्रन्थों को प्रमाण माना जाता था, अब इसका स्थान बुद्धि और तर्क ने ले लिया है। धर्म के प्रामाण्य के स्थान पर वर्तमान युग में बुद्धिवाद को प्रधानता प्राप्त हो गई। (५) **पाँचवीं** विशेषता सामाजिक वर्गों में मौलिक परिवर्तन है। पहले समाज में कुलीन, जमींदार, जागीरदार एवं भूस्वामी वर्गों का प्राधान्य था, किन्तु अब इनके स्थान पर मिल-मालिकों, श्रमिकों, व्यापारियों, वकीलों और व्यवसायियों के नवीन वर्गों का प्रादुर्भाव हो गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आधुनिक युग के प्रधान लक्षण औद्योगिक संगठन, मशीनों द्वारा उत्पादन, राष्ट्रीयता, प्रजातन्त्र और समानता की भावना, बुद्धिवाद और समाज में नवीन वर्गों का अभ्युत्थान हैं।

ये परिवर्तन पश्चिमी जगत् में १८वीं शताब्दी के अन्त में होने वाली तीन महान् क्रान्तियों से उत्पन्न हुए हैं—(१) बौद्धिक क्रान्ति, (२) फ्रेंच राज्यक्रान्ति, (३) औद्योगिक क्रान्ति। इन क्रान्तियों ने योरोप के पश्चिमी समाज को आमूलचूल परिवर्तित करके उन्हें वर्तमान रूप प्रदान किया। बौद्धिक क्रान्ति ने राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक प्रश्नों पर तथा दर्शन, साहित्य और विज्ञान के चिन्तन के विषय में एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया। फ्रेंच राज्यक्रान्ति ने राजनीतिक स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रीय शासन के विचारों को उत्पन्न किया। औद्योगिक क्रान्ति ने समाज के आर्थिक जीवन को पूर्ण रूप से परिवर्तित कर दिया। यहाँ इन तीनों क्रान्तियों के प्रभावों का संक्षिप्त उल्लेख किया जाएगा।

(१) **बौद्धिक क्रान्ति** (Intellectual Revolution)—इसका श्रीगणेश १७वीं शताब्दी में विज्ञान के अध्ययन के साथ आरम्भ हुआ, १८वीं शताब्दी में प्रबोध आन्दोलन (Enlightenment) के रूप में यह अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुई। सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ से ही योरोप में प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन पर बल दिया जाने लगा, विभिन्न देशों में इनका अध्ययन करने के लिए वैज्ञानिक संस्थाएँ स्थापित होने लगीं, १६०३ में रोम में वैज्ञानिक अकादमी स्थापित हुई, १६६२ में चार्ल्स द्वितीय ने ग्रेट ब्रिटेन में रायल सोसायटी को 'सभी प्रकार के प्राचीन और नवीन विषयों, सिद्धान्तों, पद्धतियों और कल्पनाओं का अनुसन्धान एवं गवेषणा करने के लिए' स्थापित किया। १६६६ में फ्रांस में 'विज्ञानों की अकादमी' की नींव रखी गई; वेधशालाएँ, संग्रहालय और प्रयोगशालाएँ स्थापित की गईं। वैज्ञानिक विषयों के अध्ययन में अग्रणी व्यक्ति फ्रांस के रेने देकार्त (१५९६–१६५०) तथा ब्रिटेन के आइज़क न्यूटन (१६४२–१७२७) थे। गणित, ज्योतिष, रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, प्राणिशास्त्र आदि विज्ञानों का अध्ययन आरम्भ हुआ। उस समय वैज्ञानिक विषयों के प्रति इतना उत्साह था और इसका इतना अधिक प्रभाव था कि अध्यात्मशास्त्र के विषयों का आधार समझे जाने वाले धर्मशास्त्र (Theology) का अध्ययन भी प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति होने लगा।

बौद्धिक क्रान्ति का अभिप्राय धर्मशास्त्रों के स्थान पर बुद्धिवाद के आधार पर सब विषयों का विवेचन और मीमांसा करना है। आधुनिक दर्शन में बुद्धिवाद (Rationalism) की विचारधारा का प्रवर्त्तक फ्रेंच विचारक देकार्त (Descartes) माना जाता है। शनैः-शनैः यह विचारधारा प्रबल हुई और १८वीं शती में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची। उस समय इसे प्रबोधवाद (Enlightenment) का नाम दिया गया है। उस समय सभी दार्शनिकों और वैज्ञानिकों का यह विचार था कि विज्ञान द्वारा खोजे गए नवीन तथ्यों का उन्हें ज्ञान अथवा प्रबोध होना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे अपने पूर्ववर्त्ती विचारकों की अपेक्षा भौतिक जगत् के सम्बन्ध में और इसे संचालित करने वाले सामान्य नियमों के बारे में अधिक जानकारी रखने के कारण उनकी अपेक्षा अधिक ज्ञानी या प्रबुद्ध (enlightened) थे। १८वीं शताब्दी के प्रबोध आन्दोलन में चार प्रधान विचार थे—(१) इसकी यह मान्यता थी कि समूचे विश्व का संचालन, शासन और नियन्त्रण भगवान् द्वारा नहीं, किन्तु एक अटल प्राकृतिक नियम (Natural law) द्वारा हो रहा है। सब कार्य और घटनाएँ अलौकिक चमत्कारों से नहीं, किन्तु प्रकृति के स्वाभाविक नियमों से होती हैं। सब विषयों के विवेचन का मूल आधार और प्रमाण बाइबल और धर्मशास्त्र नहीं, किन्तु विज्ञान और बुद्धिवाद है। (२) दूसरी मान्यता यह थी कि प्रबोध आन्दोलन मानवीय बुद्धि को सर्वोच्च स्थान और असाधारण गरिमा प्रदान करता था। इसका यह मत था कि प्रत्येक व्यक्ति को बुद्धि का उपयोग करते हुए प्रकृति के नियमों का अन्वेषण करना चाहिए और इनके अनुसार ही अपने जीवन को ढालना चाहिए। (३) तीसरी मान्यता यह थी कि मनुष्य अपनी बुद्धि के प्रयोग से तथा प्राकृतिक नियमों का पालन करने से शीघ्र ही महान् प्रगति कर सकता है और मानव-जाति के दोषों को दूर करके उसे पूर्ण बना सकता है। (४) चौथी मान्यता यह थी कि व्यक्ति के कुछ प्राकृतिक अधिकार हैं और इनकी रक्षा की जानी चाहिए, व्यक्ति को अपने प्राकृतिक अधिकार प्राप्त होने चाहिएँ।

उपर्युक्त मान्यताएँ रखने वाले प्रबोध आन्दोलन के कारण विचार के सभी क्षेत्रों में नवीन चिन्तन का श्रीगणेश हुआ : पुरानी आस्थाओं, विचारों, विश्वासों, पद्धतियों और रूढ़ियों की प्रबल आलोचना आरम्भ हुई। फ्रेंच विचारक वाल्तेयर (१६९४–१७७८) को प्रबोध आन्दोलन का साकार रूप समझा जाता है। उसने तत्कालीन कैथोलिक चर्च और ईसाई धर्म के प्रत्येक विश्वास और रूढ़ि की खिल्ली उड़ाई और प्रबल आलोचना की। उसकी दृष्टि में सब पुरोहित ठग थे और सभी चमत्कार भ्रान्तियाँ थीं। ईसाई चर्च का प्रयोजन केवल निम्न वर्ग के अज्ञानी लोगों को नियन्त्रित करना था, बुद्धिमान् व्यक्तियों के लिए प्रकृति के नियमों पर आधारित धर्म पर्याप्त था। काण्ट (१७२४–१८०४ ई०) ने दर्शन के क्षेत्र में नैतिक नियम को मानव-जाति का सर्वोच्च नियामक शासक माना और ईश्वर पर बल देने वाले धार्मिक दृष्टिकोण के स्थान पर नैतिक दृष्टिकोण को प्रधानता दी। इस आन्दोलन ने आर्थिक एवं राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में भी युगान्तर उपस्थित किया। एडम स्मिथ (१७२३–१७९० ई०) ने आधुनिक अर्थशास्त्र को जन्म देते हुए उस समय राज्य द्वारा व्यापार

में एवं आर्थिक क्षेत्र में लगाए जाने वाले विविध प्रकार के प्रतिबन्धों और पाबन्दियों का उग्र विरोध किया और **खुला छोड़ दो अथवा मुक्त द्वार** (Laissez faire) की नीति का प्रतिपादन किया। बेन्थम (१७४८–१८३२ ई०) ने उस समय के दीवानी और फौजदारी कानून की कटु आलोचना करते हुए यह प्रदर्शित किया कि इसके सिद्धान्त तर्कहीन हैं, इसकी पद्धतियाँ अन्यायपूर्ण हैं और इस कानूनी पद्धति द्वारा किए जाने वाले निर्णय पाशविक एवं मूर्खतापूर्ण हैं। उसने इनके संशोधन पर बल देते हुए अपने राजनीतिक सिद्धान्तों को उपयोगितावाद के नवीन सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित किया। अगले अध्याय में इसका प्रतिपादन होगा। रूसो ने उस समय के सभी राजनीतिक विचारों का खण्डन करते हुए सर्वथा नवीन क्रान्तिकारी एवं समाज में आमूलचूल परिवर्तन करने वाले विचारों का प्रतिपादन किया और फ्रेंच राज्यक्रान्ति पर रूसो का गहरा प्रभाव पड़ा। इसने आधुनिक राजनीतिक चिन्तन में नवीन विचारधाराओं को जन्म दिया।

(२) **फ्रेंच राज्यक्रान्ति**—१७८९ में आरम्भ होने वाली यह सुप्रसिद्ध क्रान्ति राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक क्षेत्रों की पुरानी समूची व्यवस्था का, विचारों का और परम्पराओं का समूलोन्मूलन करने का महान् प्रयास था। यद्यपि यह क्रान्ति इसमें पूर्ण रूप से सफल नहीं हुई; नैपोलियन के पतन के बाद फ्रांस में तथा योरोप में प्रतिक्रिया का युग आरम्भ हुआ और इस क्रान्ति द्वारा उत्पन्न नवीन प्रवृत्तियों को दबाने का प्रबल प्रयास किया गया, किन्तु यह सफल नहीं हुआ। इसने जिन विचारों को जन्म दिया, वे प्रगति का मूलमन्त्र समझे जाने लगे और १८४८ के बाद योरोप में फ्रेंच राज्यक्रन्ति द्वारा उत्पन्न की गई नवीन प्रवृत्तियाँ शनैः-शनैः सफल होने लगीं। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ये योरोप में पूर्ण रूप से सफल हुई और इसके बाद एशिया और अफ्रीका के देशों में ये प्रवृत्तियाँ प्रबल हुईं। फ्रेंच राज्यक्रान्ति ने निम्न-लिखित नवीन सिद्धान्तों और विचारों को जन्म दिया था—(१) प्रजातन्त्र, (२) राष्ट्रीयता, (३) बौद्धिक स्वतन्त्रता, (४) धार्मिक स्वतन्त्रता, (५) आर्थिक स्वतन्त्रता। राजनीतिक चिन्तन की दृष्टि से पहले दो सिद्धान्त बड़े महत्वपूर्ण हैं। प्रजातन्त्र का अभिप्राय ऐसा राजनीतिक संगठन है जिसमें सार्वभौम वयस्क मताधिकार द्वारा जनता का अधिकांश भाग अपने देश के शासन में भाग लेता है और इसके सब कार्यों का संचालन करता है। अब्राहम लिंकन के शब्दों में "यह जनता द्वारा, जनता के लिए और जनता का शासन है।" इंगलैण्ड ने संसार को पार्लियामैण्ट के रूप में प्रजातन्त्र का ऐसा शासनयन्त्र प्रदान किया जो जनता प्रतिनिधित्व करने वाले निर्वाचकों की इच्छानुसार सब कानूनों का निर्माण करता है। सं० रा० अमेरिका ने इस क्षेत्र में एक ऐसे लिखित संविधान की देन दी, जिसके अनुसार लोगों के अधिकार सुरक्षित रखे जाते हैं और लोकतन्त्रीय शासन-व्यवस्था का संचालन होता है। फ्रेंच राज्यक्रान्ति की सबसे बड़ी देन यह थी कि इसने सार्वभौम पुरुष मताधिकार पर आधारित जनता की सर्वोच्च सत्ता के सिद्धान्त की घोषणा की। यह फ्रेंच राज्यक्रान्ति का प्रधान विचार था और फ्रेंच राज्यक्रान्ति की सेनाओं ने कुछ समय के लिए पश्चिमी योरोप में पुराने निरंकुश राजाओं के राजतन्त्रों का अन्त करते हुए स्वशासन करने वाले लोकतन्त्रीय

शासनों की स्थापना की। यद्यपि ये शासन दीर्घजीवी नहीं हुए, किन्तु १९वीं शताब्दी में राजतन्त्र और लोकतन्त्र का संघर्ष चलता रहा। लोकतन्त्र को आदर्श समझकर सभी देशों में फ्रांस का अनुसरण करते हुए स्वेच्छाचारी तानाशाहों के विरुद्ध क्रान्तियाँ होती रहीं और लोकतन्त्रीय संविधान बनते रहे।

फ्रेंच क्रान्ति का दूसरा मौलिक सिद्धान्त राष्ट्रीयता (Nationalism) का था। राष्ट्र का अभिप्राय समान भाषा, समान जाति, समान परम्पराएँ, रीति-रिवाज, आचार-विचार, धर्म और संस्कृति रखने वाले तथा इन्हें सुरक्षित एवं संरक्षित रखने की प्रबल आकांक्षा तथा एकानुभूति की भावना रखने वाले व्यक्तियों का एक राजनीतिक शासन में संगठित होना है। प्राचीन एवं मध्यकाल के राज्य ऐसे राजनीतिक संगठन थे जो अधिकांश रूप में सैनिक शक्ति पर आधारित थे। एक राजा अपनी सेनाओं द्वारा नाना भाषाएँ बोलने वाले, विभिन्न परम्पराएँ, धर्म और संस्कृतियाँ रखने वाले लोगों से बसे हुए प्रदेशों पर अपना अधिकार रख सकता था; वे सब प्रदेश उसके राज्य का अंग होते थे। राज्य के लिए यह आवश्यक न था कि उसमें समान वंश, समान धर्म, संस्कृति, भाषा, और परम्पराएँ रखने वाले व्यक्ति हों। १६वीं शताब्दी से योरोप में राज्य (State) राष्ट्र (Nation) बनने लगे, राष्ट्रीयता की भावना का विकास होने लगा। विदेशी आक्रमणों और युद्धों से राष्ट्रीयता उत्कर्ष पाने लगी। इंगलैण्ड और फ्रांस के शतवर्षीय युद्धों ने दोनों देशों में राष्ट्रीयता का बीजारोपण किया। मुस्लिम आक्रान्ता मूरों के आधिपत्य से स्वदेश को मुक्ति दिलाने के लिए स्पेन और पुर्तगाल में राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ, स्पेन के विरुद्ध संघर्ष ने हालैण्ड में इस भावना को प्रोत्साहित किया। फ्रेंच राज्क्रान्ति ने फ्रांस के पुराने विभिन्न प्रकार के कानूनों का उन्मूलन करके एक-रूप कानूनी पद्धति और लोकतन्त्रीय संस्थाओं की स्थापना से फ्रांस के सभी वर्गों और स्थानों में राष्ट्रीयता की भावना को परिपुष्ट किया। इस क्रान्ति के प्रभाव से इस भावना का दूसरे देशों में भी तेजी से प्रसार हुआ। १९वीं शताब्दी योरोप में राष्ट्रीयता तथा लोकतन्त्र के सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देने के लिए किए जाने वाले संघर्ष की कहानी है। राष्ट्रीयता राज्यों का नवीन धर्म बन गया। जिस प्रकार पहले लोग धर्म के लिए शहीद होते थे, अब राष्ट्र के लिए अपने प्राणों का बलिदान करने लगे। राष्ट्रीयता के सिद्धान्त ने आधुनिक राजनीतिक चिन्तन पर गहरा प्रभाव डाला।

(३) **औद्योगिक क्रान्ति**—आधुनिक राजनीतिक चिन्तन पर प्रबल प्रभाव डालने वाली तीसरी घटना औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) थी। आधुनिक युग में किसी अन्य घटना ने साधारण मनुष्य के जीवन पर इस क्रान्ति जैसा गहरा असर नहीं डाला, इस क्रान्ति जैसे उग्र, व्यापक और मौलिक परिवर्तन नहीं उत्पन्न किए और मानवीय प्रगति की ऐसी असीम सम्भावनाओं का सृजन नहीं किया। हम आजकल मोटर, रेल, बिजली, रेडियो, प्रेस, कारखानों, मशीनों, टेलीफोन, तार, सिनेमा तथा टेलीविज़न से रहित संसार की कल्पना नहीं कर सकते, किन्तु २०० वर्ष पूर्व संसार वास्तव में ऐसा ही था। ये सब परिवर्तन १८वीं शताब्दी के अन्त में इंगलैण्ड से आरम्भ होने वाली औद्योगिक क्रान्ति से आरम्भ हुए। इससे पहले कपड़ों के बनाने

के लिए सूत चरखे या तकली पर काता जाता था और करघों पर जुलाहों द्वारा बुना जाता था। यातायात के शीघ्रगामी साधन घोड़े और पाल के जहाज थे। दैनिक व्यवहार में आने वाली सभी वस्तुएँ कारीगरों द्वारा हाथ से तैयार की जाती थीं। शनैः-शनैः इनको बनाने के लिए यन्त्रों का आविष्कार किया जाने लगा। वस्तुतः औद्योगिक क्रान्ति का अभिप्राय कपड़ा, लोहा, फौलाद तथा सुई से जहाज तक सभी वस्तुओं का उत्पादन मशीनों की सहायता से करना है। यह क्रान्ति इंगलैण्ड में वस्त्रोद्योग से आरम्भ हुई और लोहा, यातायात और संचार साधनों के क्षेत्र में विस्तीर्ण हुई। १७३३ में जॉन के ने बुनाई के काम में तेजी लाने के लिए एक नए ढंग की 'उड़ती ढरकी' (Flying Shuttle) बनाई, इससे जुलाहे द्वारा कपड़े की बुनाई अधिक शीघ्र गति से हो सकती थी। इस आविष्कार से सूत की माँग में वृद्धि हुई, इसे पूरा करने के लिए १७६५ में हारग्रीव्ज़ ने एक ऐसा चर्खा बनाया जिसमें आठ तकुए लगे हुए थे। इसका चक्र घुमाने से आठ तार एकसाथ काते जा सकते थे। इस मशीन का नाम उसने अपनी पत्नी के नाम पर जेनी रखा। इस मशीन में और सुधार किए गए तथा रिचर्ड आर्कराइट ने १७६९ में पानी की शक्ति से चलने वाली (Waterframe) सूत कातने की मशीन बनाई। १७७९ में सैमुअल क्राम्पटन ने हारग्रीव्ज़ और आर्कराइट के आविष्कारों को मिलाते हुए सूत को तेजी से कातने की एक नई संकर मशीन (mule) बनाई। इससे बुनाई के कार्य में तेजी लाने वाली मशीनों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। इसकी पूर्ति के लिए एडवर्ड कार्टराइट ने १७८५ में पानी की शक्ति से संचालित होने वाले करघे का आविष्कार किया। इसी समय वाष्प की शक्ति से चलने वाले इंजनों ने औद्योगिक क्रान्ति की गति को तीव्र बनाया। १७६९ में जेम्स वाट ने वाष्प के इंजन का आविष्कार किया। अब तक कताई और बुनाई की मशीनें नदियों के पानी की शक्ति से चलाई जाती थीं और इनके कारखाने केवल नदियों के किनारे ही बन सकते थे। वाष्प का इंजन बन जाने के बाद यह आवश्यक नहीं रहा, अब जहाँ-कहीं कोयला तथा कच्चा माल सुलभ एवं सस्ता हो वहाँ कारखाने स्थापित किए जा सकते थे। इसी समय १७६० में जॉन स्मीटन ने लोहे को कोयले की सहायता से गलाने की एक उत्तम विधि खोजी। १८१५ में हम्फ्री डेवी के रक्षाप्रदीप से, १८५६ में हेनरी बेस्सेमर द्वारा आविष्कृत फौलाद बनाने की नवीन पद्धति से 'काष्ठयुग' समाप्त होकर 'लौहयुग' का आरम्भ हुआ। १८२५ में जार्ज स्टीवन्सन ने रेल का इंजन बनाकर यातायात में नवीन क्रान्ति का श्रीगणेश किया। इससे पहले एक अमेरिकन राबर्ट फल्टन ने समुद्री नौकाओं और जहाजों में वाष्प-शक्ति द्वारा संचालित इंजनों का प्रयोग आरम्भ किया था, १८०७ में उसके एक अगनबोट ने हडसन नदी में १५० मील की यात्रा की। १८१९ में 'सवन्ना' नामक जलपोत ने वाष्प के इंजनों की सहायता से अटलांटिक महासागर को पार किया। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में टेलीफोन, टेलीग्राफ, समुद्री तार आदि के साधनों का प्रयोग होने लगा और नवीन यन्त्रों और आविष्कारों का यह क्रम अब तक निरन्तर जारी है, इनकी सहायता से न केवल विश्व के सुदूरवर्ती भागों से सम्पर्क रखना सुगम हो गया है अपितु

इस समय विज्ञान ने मानव को चन्द्रलोक पहुँचा दिया है तथा अन्य ग्रहों के साथ सम्पर्क करने का भी वह प्रयत्न कर रहा है।

क्रान्तियों का प्रभाव और परिणाम—उपर्युक्त तीनों क्रान्तियों ने १९वीं शताब्दी में ऐसे प्रबल प्रभाव और परिणाम उत्पन्न किए जिनसे मानव-जीवन में एक नवयुग का श्रीगणेश हुआ। यहाँ संक्षेप में राजनीतिक चिन्तन को प्रभावित करने वाले परिवर्तनों का ही उल्लेख किया जाएगा। औद्योगिक क्रान्ति ने नवीन आविष्कारों और मशीनों द्वारा न केवल पुरानी दस्तकारियों और हस्तोद्योगों का अन्त किया, अपितु आर्थिक उत्पादन की उस घरेलू पद्धति (Domestic system) की भी समाप्ति की, जिसमें कारीगर अपने घरों में बैठे हुए स्वतन्त्रतापूर्वक उत्पादन-कार्य करते थे। इसने आधुनिक कारखाना पद्धति (Factory system) को जन्म दिया; इसमें मजदूरों तथा कारीगरों को अपने घर के स्थान पर उस कारखाने में काम करना पड़ता था जहाँ पूँजीपतियों द्वारा उत्पादन के लिए नवीन मशीनें लगाई जाती थीं। पहले कारीगर का एक स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यक्तित्व था, अब वह मिल-मालिक की कृपा पर जीवित रहने वाला उसके कारखाने का एक मजदूर अथवा पुर्जा मात्र बन गया। स्वामी-सेवक के सम्बन्धों में बड़ा अन्तर आ गया, व्यापार के नवीन एवं असीम क्षेत्र खुल गए, पूँजीवाद का जन्म हुआ, मिल-मालिकों और मजदूरों की नवीन श्रेणियों का विकास हुआ, सम्पत्ति के उत्पादन के नए स्रोतों का अन्वेषण हुआ, कारखाना-पद्धति द्वारा उत्पादन ने वित्तीय व्यवस्था के नवीन साधनों और प्रणालियों की उत्पत्ति में सहायता प्रदान की, समाज की समूची आर्थिक व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन किया।

औद्योगिक क्रान्ति का एक बड़ा प्रभाव जनसंख्या के स्वरूप में होने वाला महान् परिवर्तन था। जनसंख्या गाँवों से उन शहरों की ओर आने लगी जहाँ कारखाने स्थापित होने के कारण आजीविका की सुविधाएँ अधिक बढ़ रही थीं, नगरों में जनसंख्या विलक्षण द्रुत गति से बढ़ने लगी। १८०० से १९०० के बीच में योरोप की जनसंख्या दुगनी से भी बहुत अधिक अर्थात् १८,७६,९३,००० से ४०,०५,७७,००० हो गई। व्यावसायिक क्रान्ति के जन्तदाता ग्रेट ब्रिटेन में इंगलैण्ड का उत्तरी भाग पहले निर्जन एवं बियाबान प्रदेश था, एक पीढ़ी के भीतर यह इस देश का सबसे घनी आबादी वाला प्रदेश बन गया। १७७४ में मैञ्चेस्टर की आबादी ४०,००० के लगभग थी, १८३१ में यह २,७१,००० हो गई। यही स्थिति शेफील्ड, लीडस्, बिरमिंघम आदि औद्योगिक नगरों की थी। १९वीं शताब्दी के आरम्भ में इंगलैण्ड और वेल्स की केवल ३० प्रतिशत आबादी ही नगरों में रहती थी, इस शताब्दी के अन्त तक यह संख्या बढ़कर ७०% हो गई। सं० रा० अमेरिका में इसी अवधि में नगरवासियों की संख्या ४ प्रतिशत से बढ़कर चालीस प्रतिशत हो गई। नगरवासियों की संख्या में वृद्धि के साथ-साथ जनसंख्या में भी बड़ी तेजी से वृद्धि होने लगी। इसकी वृद्धि की दर सामान्य रूप से दुगनी हो गई। यह अन्दाज लगाया गया है कि औद्योगिक क्रान्ति से पहले प्रति दस वर्ष में जनसंख्या की वृद्धि लगभग ६ प्रतिशत होती थी, किन्तु इस क्रान्ति के बाद १८०१ वे ११ तक की दशाब्दी में यह

वृद्धि २१ प्रतिशत हो गई।[1] सड़कों की स्थिति में सुधार, रेलगाड़ी, वाष्प की शक्ति से चलने वाले पोतों, अगनबोटों, टेलीफोन, तार, गैस, बिजली आदि के आविष्कारों से नगरों में विशाल जनसंख्या को निवास और यातायात की सुविधाएँ हो गईं और इनसे भी जनसंख्या की वृद्धि को प्रोत्साहन मिला। नगरों में रहने वाले पूँजीपतियों और मजदूरों के विविध संगठन बनने लगे, ये मताधिकार पाने के लिए तथा अन्य राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए आन्दोलन करने लगे, राजनीतिक क्रान्तियों में भाग लेने लगे। १८४८ की फ्रांस की क्रान्ति में मजदूरों ने बहुत भाग लिया था। इंगलैण्ड में शासनसत्ता शनैः-शनैः पुराने जमींदार वर्ग के हाथ से निकलकर नगरवासी (बूर्जुआ) उद्योगपतियों के हाथ में आने लगी। इसने अर्थशास्त्र और राजनीति के क्षेत्र में नवीन विचारधाराओं को जन्म दिया, आगे यथास्थान इनका उल्लेख होगा।

औद्योगिक क्रान्ति का एक दूसरा बड़ा परिणाम पूँजीपति एवं मजदूर वर्गों का अभ्युत्थान था। पूँजीपति का अभिप्राय उस व्यक्ति से है जो औद्योगिक उत्पादन के लिए उपयुक्त मशीनों और कारखानों को बनाने में अपनी पूंजी लगाता है और इससे मुनाफा कमाता है। पुराने व्यापारी और नए पूँजीपति में मौलिक अन्तर था। पुराना व्यापारी जुलाहे, लुहार आदि कारीगरों को आवश्यकता पड़ने पर ऋण दिया करता था, किन्तु उस समय उत्पादन के साधन तथा यन्त्र कारीगर के ही हाथों में रहते थे, वह अपनी इच्छा से अपने घर पर उत्पादन करता था। किन्तु उद्योगों में पैसा लगाने वाला पूँजीपति उत्पादन की पूरी प्रक्रिया पर नियन्त्रण रखता था, वह मजदूरों को काम पर लगाता था, उद्योग का कच्चा माल खरीदता था, कारखाना बनवाता था, उसमें मशीनें लगवाता था और कारखाने से पैदा होने वाले समूचे माल पर अधिकार रखता था। मशीनों द्वारा उत्पन्न होने वाली वस्तुओं में उत्पादन-व्यय कम आने से लाभ की मात्रा बहुत अधिक थी, अतः उस समय उद्योग-धन्धों में पैसा लगाने वाले पूँजीपतियों ने बहुत अधिक मुनाफा कमाया, वे पुराने व्यापारियों और जमींदारों से भी अधिक समृद्ध हो गए। उत्पादन के साधनों पर पूँजीपतियों का स्वामित्व और नियन्त्रण होने से अधिकांश नगरवासी—मिलों में काम करने वाले मजदूर, क्लर्क, कारखाने के अन्य कर्मचारी तथा अधिकारी पूँजीपतियों के नियन्त्रण में आ गए। यदि कोई पूँजीपति अपने कारखाने के द्वार बन्द कर दे, तो इस पर अवलम्बित रहने वाले मजदूर भूखे मरने लगते थे और वह शहर उजड़ने लगता था। शहरों में रहने वाला (बूर्जुआ) तथा कारखानों से धन कमाने वाला यह नवीन मध्यवर्ग—व्यापारी तथा उद्योगपति—अपने प्रभाव और धन की दृष्टि से समाज में महत्वपूर्ण बनने लगे।

इसके साथ ही समाज में एक दूसरे, किन्तु अभागे निर्धन श्रमिक वर्ग का आविर्भाव हुआ। इसका अभिप्राय उन व्यक्तियों से था जो कारखानों, खानों, रेलों आदि में अपना श्रम बेचकर आजीविका का उपार्जन करते थे। यह उस समय तक श्रम का कार्य करने वाले दासों, भूदासों, कारीगरों आदि से सर्वथा भिन्न था, क्योंकि दास तथा कारीगर अनेक प्रकार के नियमों और बन्धनों से बंधे हुए थे। यह सब प्रकार के प्रतिबन्धों से

---

१. शेपिरो—माडर्न एण्ड कण्टैम्पोरेरी योरोप (१९५३), पृ० ३४

मुक्त और स्वतन्त्र था, यह अपना श्रम जिस मिल-मालिक को चाहे बेच सकता था; उसमें तथा उसके स्वामी में केवल पैसे का ही सम्बन्ध था। मजदूर को यह स्वतन्त्रता थी कि कम मजदूरी देने वाले मिल-मालिक को छोड़कर अधिक मजदूरी देने वाले के पास चला जाए।

औद्योगिक क्रान्ति ने यद्यपि उत्पादन की मात्रा बढ़ा दी, वस्तुओं के दाम कम कर दिए, तथापि आरम्भ में उसने अत्यधिक कष्ट, अशान्ति, उपद्रव उत्पन्न किए और श्रमिकों का भीषण शोषण किया, मजदूरों पर अवर्णनीय अत्याचार हुए। मशीनों द्वारा उत्पन्न माल के सस्ता होने के कारण कारीगरों को गहरा धक्का लगा। वे मिल के माल की प्रतियोगिता में न टिक सकने के कारण बेकार हो गए। उन्होंने तीव्र रोष के आवेश में 'लौह पुरुषों' अथवा मशीनों के विरुद्ध दंगे किए और अपनी रोजी छीनने वाली मशीनों की तोड़-फोड़ की; किन्तु इसमें वे सफल नहीं हो सके। अन्त में उन्हें मजदूरों के रूप में कारखानों में काम करने के लिए विवश होना पड़ा। कारखाने के मजदूरों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। पूँजीपति का प्रधान लक्ष्य मुनाफा कमाना था, अन्त में वह इस बात का प्रयत्न करता था कि मजदूरी कम-से-कम दी जाए, मजदूरों से अधिक-से-अधिक काम लिया जाए, कारखाने में काम करने की अवस्थाओं को न सुधारा जाए, क्योंकि इसमें धन का व्यय होता था। उस समय मशीनों द्वारा काम होने के कारण मजदूरों के लिए विशेष शारीरिक शक्ति का होना आवश्यक नहीं था, अतः कारखानों में स्त्रियों तथा बच्चों को बड़ी संख्या में रखा जाता था, क्योंकि उन्हें कम मजदूरी देनी पड़ती थी। इनसे १२-१४ घण्टे अंधेरे, दुर्गन्धयुक्त, खिड़कियों आदि से रहित गन्दे अस्वास्थ्यजनक स्थानों में काम लिया जाता था और इन्हें इतनी कम मजदूरी दी जाती थी कि इनसे इनका पेट भरना असम्भव था। कुछ कारखानों में यह स्थिति थी कि बहुत छोटी आयु के लड़कों से सवेरे ३ बजे से रात के ९-१० बजे तक काम लिया जाता था। उन्हें सोने के लिए केवल ४-५ घण्टे दिए जाते थे, खाना खाने के लिए बहुत कम समय मिलता था। जिन बच्चों को काम करते हुए नींद आ जाती थी, उनकी फोरमैन द्वारा बुरी तरह से पिटाई की जाती थी। इन भीषण परिस्थितियों को देखते हुए जॉन स्टुअर्ट मिल ने लिखा था—"यह बात बड़ी सन्देहास्पद है कि यान्त्रिक आविष्कारों ने किसी व्यक्ति के दैनिक श्रम को हल्का किया है। जनता की अधिकांश संख्या को उन्होंने अनवरत श्रम का तथा दासता का जीवन बिताने के लिए विवश किया है और बड़े उद्योगपतियों को विशाल धनराशियाँ उपार्जन करने में समर्थ बनाया है।" औद्योगिक क्रान्ति ने महान् लाभदायक प्रभावों तथा परिणामों के साथ-साथ बच्चों को कारखानों में दासों की भाँति काम करने के लिए विवश किया, गन्दी बस्तियों को जन्म दिया, मकानों के किराये बेहद बढ़ा दिए, बहुत व्यक्तियों को इसने लखपति बनाया, किन्तु लाखों व्यक्तियों का जीवन नारकीय बनाया। इसने मिल-मालिकों और मजदूरों के उग्र विवादों और संघर्षों को उत्पन्न किया। इन परिस्थितियों से ही व्यक्तिवाद, समाजवाद, साम्यवाद, संघवाद, समूहवाद आदि नवीन राजनीतिक विचारधाराओं का जन्म हुआ। आगे इनका विस्तृत वर्णन होगा। यहाँ प्रधान विचारधाराओं का संक्षिप्त निर्देशमात्र किया जाएगा।

१६वीं शताब्दी की नवीन विचारधाराएँ— व्यष्टिवाद और मुक्त द्वार की नीति (Individualism and laissez faire)—औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न व्यवस्था का समर्थन एक विचारधारा और दर्शन द्वारा किया जाने लगा। व्यक्ति को असाधारण महत्व देने के कारण इसे व्यष्टिवाद का नाम दिया जाता है। इसके अनुसार आर्थिक क्षेत्र में व्यक्ति को अपना कार्य स्वतन्त्रतापूर्वक करने देना चाहिए, सरकार की ओर से उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए। प्रतियोगिता और संघर्ष समाज के लिए लाभकर हैं। संघर्ष से व्यक्तियों के चरित्र में दृढ़ता, वीरता, निर्भयता, प्रतिकूल परिस्थितियों में अपना रास्ता बनाने की क्षमता आदि उत्कृष्ट गुणों का विकास होता है। यदि व्यक्तियों को आर्थिक क्षेत्र में प्रतियोगिता की खुली छूट दी जाएगी, तो योग्य व्यक्ति अपनी प्रतिभा और योग्यता से उन्हें धन और यश देने वाले साधनों का आविष्कार करेंगे और समाज इससे लाभ उठाएगा। अतः राज्य को इस क्षेत्र में व्यक्तियों पर प्रतिबन्ध नहीं लगाने चाहिएँ। निर्बाध प्रतियोगिता के कारण जीवन-संघर्ष में अयोग्य व्यक्तियों का सफाया हो जाएगा और इसमें बचे रहने वाले योग्य व्यक्ति समाज की उन्नति में सहायक होंगे। व्यष्टिवादी विचारक व्यक्ति की स्वतन्त्रता और समानता पर बहुत बल देते थे। वे राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक आदि सभी क्षेत्रों में सब व्यक्तियों को समानाधिकार देने तथा किसी भी व्यक्ति को विशेषाधिकार न देने के प्रबल पक्षपाती थे। उन्होंने भाषण की स्वतन्त्रता के, कानून की दृष्टि में सब वर्गों की समानता के तथा धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्तों का प्रबल समर्थन किया।

इंगलैण्ड में इस मत के प्रतिपादक और नई औद्योगिक व्यवस्था के प्रबल पक्ष-पोषक थामस राबर्ट माल्थस, डेविड रिकार्डो तथा जॉन स्टुअर्ट मिल थे। इन्हें उस समय की दृष्टि से उच्च कोटि के आर्थिक सिद्धान्त प्रतिपादित करने के कारण 'उच्च-कोटि के अर्थशास्त्री' (Classical Economists) कहा जाता है। इनके सिद्धान्तों को **'मैञ्चेस्टर सम्प्रदाय'** के नाम से प्रसिद्ध होने वाले कुछ नेताओं—जॉन ब्राइट और काब्डन—ने लोकप्रिय बनाया। ये सब एडम स्मिथ के अनुयायी थे। १७७६ में उसकी एक पुस्तक 'राष्ट्रों की सम्पत्ति के स्वरूप और कारणों की गवेषणा' (An Enquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations) प्रकाशित हुई। इसका मौलिक सिद्धान्त यह था कि आर्थिक संस्थाओं का मूल प्रकृति है। ये प्राकृतिक नियमों से शासित होती हैं और स्वयमेव मानव-कल्याण के लिए वैसे ही कार्य करती हैं जैसे सूर्य, वर्षा और प्राकृतिक शक्तियाँ मनुष्यों को लाभ पहुँचाती हैं। इन्हें मानवीय नियमों द्वारा शासित एवं नियन्त्रित नहीं किया जाना चाहिए। यही मुक्त द्वार (Laissez faire, अर्थात् वस्तुओं को खुला अथवा स्वतन्त्र छोड़ दो) की नीति थी। इसके अनुसार आर्थिक क्षेत्र में 'माँग और पूर्ति का नियम, अनुबन्ध की स्वतन्त्रता' आदि के प्राकृतिक नियम कार्य कर रहे थे, प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वाधीनता थी कि वह सस्ती-से-सस्ती मण्डी से माल खरीदे और उसे सबसे महंगी मण्डी में बेचे, वह अपने श्रम के लिए सर्वोत्तम मूल्य प्राप्त करे, किसी भी व्यापार या पेशे को करे, किसी भी देश के साथ व्यापार करे। अतः एडम स्मिथ और

उसके अनुयायी राज्य द्वारा आर्थिक क्षेत्र में किसी प्रकार के प्रतिबन्ध—नियन्त्रण, नियम, चुंगी, कर आदि को लगाना सर्वथा अनुचित समझते थे। श्रमिकों को अपनी रक्षा के लिए श्रमिक संघ नहीं बनाने देना चाहते थे। यदि सरकारी कानूनों अथवा श्रमिक संघों द्वारा श्रमिकों की दशाओं को सुधारने तथा नियन्त्रित करने का कोई प्रयत्न किया जायगा, तो लोग उद्योगों में पूँजी लगाना कम कर देंगे, इससे उद्योग-धन्धों की उन्नति अवरुद्ध हो जाएगी। राज्य को मजदूरों के लिए नियम बनाने की आवश्यकता इसलिए भी नहीं है क्योंकि पूँजीपति अपने 'उन्नतिशील स्वार्थ' (Enlightened selfinterest) के कारण मजदूरों से अधिकतम काम लेने के लिए उनसे उत्तम व्यवहार करेगा। माल्थस और रिकार्डो ने इस विचारधारा को बहुत पुष्ट किया। इसने राज्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध में चिन्तन को एक नई दिशा प्रदान की और हर्बर्ट स्पेन्सर जैसे घोर व्यष्टिवादी विचारकों को उत्पन्न किया।

दूसरी विचारधारा **लोकतन्त्र** (Democracy) की थी। पहले यह बताया जा चुका है कि फ्रेंच राज्यक्रान्ति ने इसे प्रबल प्रोत्साहन प्रदान किया था। १९वीं शताब्दी के योरोप का समूचा राजनीतिक इतिहास लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता के विचारों के संघर्ष का इतिहास है। मैटर्निक आदि अनेक राजनीतिज्ञों ने निरंकुश शासन की पुरानी व्यवस्था को बनाए रखने का प्रबल प्रयास किया, फ्रेंच राज्यक्रान्ति को तथा इसके प्रभाव से अन्य देशों में स्थापित होने वाले लोकतन्त्रीय शासनों को मिटाने की पूरी कोशिश की गई, नैपोलियन के पतन के बाद १८१५ की वियना कांग्रेस ने लोकतन्त्र की व्यवस्था को मलियामेट किया, किन्तु १८३० में फ्रांस में क्रान्ति आरम्भ होने के साथ अनेक योरोपियन देशों में ये क्रान्तियाँ शुरू हुईं। जर्मनी आदि में लोकतन्त्र का दमन करने का भीषण चक्र पुनः चलाया गया, किन्तु कुछ देर शान्ति रहने के बाद १८४८ में फ्रांस में तथा अन्य देशों में लोकतन्त्रीय व्यवस्था स्थापित करने के लिए ऐसी प्रबल क्रान्तियाँ हुईं कि पुरानी व्यवस्था के पक्षपोषक मैटर्निक को अपनी जान बचाकर आस्ट्रिया से इंगलैण्ड भागना पड़ा। लोकतन्त्र के सिद्धान्त की विजय होने लगी, सब देशों में जनता शासन में भाग लेने लगी, उसके अधिकारों के संरक्षण के लिए सर्वत्र संविधान बनाए जाने लगे। १९वीं शताब्दी के अन्त तक योरोप में निरंकुश राजतन्त्र का प्रतिनिधित्व करने वाले केवल रूस, जर्मनी और आस्ट्रिया-हंगरी के ही राज्य थे। प्रथम विश्वयुद्ध ने इन सबकी समाप्ति करके लोकतन्त्र के सिद्धान्त को योरोप में सर्वोच्च, विजयी एवं सफल बनाया।

तीसरी विचारधारा **राष्ट्रीयता** (Nationalism) की थी। यह भी फ्रेंच राज्यक्रान्ति से प्रादुर्भूत हुई, किन्तु इसे औद्योगिक क्रान्ति ने प्रखर एवं पुष्ट बनाया। इस क्रान्ति ने वस्तुओं के उत्पादन की मात्रा में अमित वृद्धि की; इससे विभिन्न वस्तुओं को बनाने के लिए आवश्यक कच्चा माल पाने के लिए तथा तैयार माल बेचने के लिए उपयुक्त क्षेत्रों की तलाश आरम्भ हुई। एशिया और अफ्रीका के पिछड़े हुए देश इसके लिए उपयुक्त थे, क्योंकि यहाँ कच्चा माल प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था और तैयार माल को खपाने के लिए भी उपयुक्त मण्डियाँ थीं। किन्तु यहाँ निर्बाध रीति से अपना कार्य करने के लिए राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करना आवश्यक

प्रतीत होता था। अतः योरोप के विभिन्न राष्ट्रों में नवीन आर्थिक साम्राज्य स्थापित करने के लिए उपयुक्त प्रदेश पाने के लिए होड़ आरम्भ हुई। इंगलैण्ड और फ्रांस इस होड़ में अगुआ थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में ब्रिटिश शासन का विस्तार किया। १९वीं शती के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रीय एकता उत्पन्न हो जाने के बाद जर्मनी और इटली आदि सभी देश एशिया और अफ्रीका में साम्राज्य स्थापित करने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित और लालायित हो उठे। उस समय प्रत्येक राष्ट्र अपने लिए विशाल साम्राज्य स्थापित करना चाहता था। योरोपियन शक्तियों ने अफ्रीका के विशाल महाद्वीप को १८८० के बाद कुछ ही वर्षों में आपस में बाँट लिया, भूमण्डल का कोई भी चप्पा या टापू इन शक्तियों की गृध्रदृष्टि से स्वतन्त्र नहीं रहा। साम्राज्य-निर्माण के इस नवीन उत्साह ने योरोप के सभी देशों में राष्ट्रीयता की एक नई भावना और चेतना को जन्म दिया। यह आर्थिक विषयों में आत्मनिर्भर होने के लिए विशाल साम्राज्यों की प्राप्ति पर बल देती थी। इसने राष्ट्रीयता के क्षेत्र में नवीन विचारों को उत्पन्न किया।

चौथी विचारधारा मजदूरों की दयनीय दुर्दशा का सुधार करने के लिए ऊँची काल्पनिक योजनाओं द्वारा एक नवीन गन्धर्वलोक या **स्वप्नलोक** (utopia) स्थापित करने वाले स्वप्नलोकीय (utopian) विचारकों की थी। मध्यकाल में सर थामस मोर ने अपनी सुप्रसिद्ध कृति **यूटोपिया** (Utopia) में एक ऐसे स्वप्नलोक की कल्पना की थी। १९वीं शताब्दी की यह विशेषता थी कि यह केवल कोरी कल्पनाओं से ही सन्तुष्ट नहीं हुई, बल्कि इसने इन कल्पनाओं को मूर्त्त रूप देने का भी सराहनीय प्रयत्न किया। इस शताब्दी में राबर्ट ओवेन प्रभृति विचारक कोरे आदर्शवादी और सपने लेने वाले ही नहीं थे, अपितु उन्होंने इन सपनों को साकार बनाने का प्रयास किया। ओवेन ने अपनी पूँजी के बल से अमेरिका में तथा स्काटलैण्ड के एक निर्जन स्थान में ऐसे लघु एवं स्वावलम्बी समाज और बस्तियाँ स्थापित कीं जिनमें व्यक्ति सर्वथा स्वतन्त्र रहकर अपने चरित्र का समुचित विकास कर सकें। श्रमिक जिन औद्योगिक संस्थानों में कार्य करें, वे उनमें दुर्दशाग्रस्त दास बनकर न रहें, बल्कि अपने को उसका स्वामी समझें। फ्रांस में ऐसी स्वप्नलोकीय विचारधारा के समर्थक जीन डी० सिसमण्डी तथा कौण्ट हेनरी डी सेण्ट साइमन आदि विचारक हुए। इन विचारकों ने मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद तथा ऐतिहासिक सम्प्रदाय के रूप में कुछ प्रबल प्रतिक्रियाएँ भी उत्पन्न कीं।

पाँचवीं विचारधारा मार्क्स और एंगल्ज़ का **वैज्ञानिक समाजवाद** (Scientific Socialism) था। यह सम्भवतः पिछली शताब्दी की सबसे अधिक प्रभाव उत्पन्न करने वाली विचारधारा है। मार्क्स को स्वप्नलोकवादी विचारकों की कल्पनाओं से और आदर्शवाद से तनिक भी सहानुभूति नहीं थी। उसने कल्पनावादी विचारकों को तिलांजलि देते हुए विज्ञान के अकाट्य सिद्धान्तों के ठोस आधार पर अपनी विचारधारा को सुप्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। उसने मानव-समाज के प्राचीन इतिहास का गम्भीर अध्ययन एवं अनुशीलन किया, इसके आधार पर उसने इतिहास की भौतिक व्याख्या, वर्ग-संघर्ष, अतिरिक्त मूल्य आदि अनेक क्रान्तिकारी सिद्धान्तों का

प्रतिपादन करते हुए वैज्ञानिक समाजवाद को जन्म दिया। ये सिद्धान्त आधुनिक राजनीतिक चिन्तन पर गम्भीर प्रभाव डाल रहे हैं। आगे इनका विस्तृत वर्णन और विवेचन होगा।

छठी विचारधारा **ऐतिहासिक सम्प्रदाय** (Historical School) की थी। १६वीं शताब्दी में होने वाले नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों से समाज में इतनी द्रुत गति से परिवर्तन हो रहे थे कि अतीतकालीन संस्थाएँ बिलकुल विलुप्त हो रही थीं और आदर्शवादी विचारक सर्वथा नवीन एवं कल्पनात्मक समाजों के सृजन एवं निर्माण के सपने ले रहे थे। कुछ विचारकों ने इन कल्पनाओं का उग्र विरोध करते हुए यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया कि समाज एवं राज्य की समस्याओं का समाधान हवाई कल्पनाओं के आधार पर नहीं हो सकता, यह केवल इतिहास की ठोस नींव पर ही सम्भव है। राज्य कृत्रिम रूप से कल्पनाओं द्वारा बनाई जाने वाली वस्तु नहीं है, बल्कि विभिन्न युगों में होने वाली ऐतिहासिक प्रक्रियाओं और घटनाओं का परिणाम है। प्रत्येक देश की परिस्थितियाँ विभिन्न प्रकार की होती हैं, तथा इसकी शासन-प्रणाली यहाँ विकसित होने वाली विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के जटिल जाल से और विविध परिस्थितियों के घात-प्रत्याघात से एवं क्रिया-प्रतिक्रिया से प्रादुर्भूत होती है। अतः प्रत्येक देश की शासन-पद्धति उस देश की विशिष्ट परिस्थितियों के अनुरूप होती है। इसे कोरे दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर परिवर्तित करना खतरे से खाली नहीं है। यह दृष्टिकोण नया नहीं था, अरस्तू और पोलिबियस ने इसका प्रतिपादन किया था, १६वीं शताब्दी में बोदें ने तथा १८वीं शताब्दी में मांतेस्क्यू तथा बर्क ने इसका समर्थन किया था। किन्तु १६वीं शताब्दी में ही इसका प्रबल पक्षपोषण हुआ। इसी के प्रभाव से इस समय विश्लेषणवादी कानून-विद्या-विशारदों (Analytical Jurists) ने कानून की तथा कानूनी संस्थाओं के ऐतिहासिक अध्ययन की नवीन प्रणाली को जन्म दिया। इन विद्वानों ने ऐतिहासिक विश्लेषण तथा तुलनात्मक कानूनशास्त्र के अध्ययन के आधार पर उस समय तक राजनीतिक चिन्तन में अत्यधिक महत्वपूर्ण समझे जाने वाली प्राकृतिक कानून (Natural Law) की धारणा की धज्जियाँ उड़ाईं तथा कानून की सत्ता और औचित्य के सम्बन्ध में उस समय चिरकाल से सर्वमान्य समझे जाने वाले विचारों को भ्रान्त सिद्ध किया।

सातवीं विचारधारा डार्विन के विकासवाद के सिद्धान्त के प्रभाव से राज्य को एक जीवित शरीर (organism) के तुल्य मानने की थी। १८५६ में चार्ल्स डार्विन ने प्राणिशास्त्र में अपने नवीन, मौलिक तथा क्रान्तिकारी सिद्धान्त का अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक Origin of Species में प्रतिपादन किया। यह सिद्धान्त केवल प्राणिशास्त्र तक ही सीमित न रहा, अपितु इसका प्रभाव शीघ्र ही अन्य सभी प्राकृतिक एवं सामाजिक विज्ञानों—ज्योतिष, भूगर्भशास्त्र, पुरावनस्पतिशास्त्र, मानवशास्त्र, नृतत्व-शास्त्र, पुरातत्व, इतिहास और राजनीतिशास्त्र पर भी पड़ा। इन सब का अध्ययन विकासवाद के दृष्टिकोण से किया जाने लगा। राजनीतिशास्त्र में इसका एक अन्य प्रभाव पड़ा। चिरकाल से अनेक राजनीतिशास्त्रविशारद राज्य की तुलना सजीव मानवीय शरीर (organism) से कर रहे थे। डार्विन के आविर्भाव के समय तक ये

तुलनाएँ इतनी कपोलकल्पित और अवास्तविक थीं कि इनका राजनीतिक चिन्तन पर प्रभाव सर्वथा नगण्य था। डार्विन के मत ने इस सिद्धान्त का प्रबल पोषण किया। इसने न केवल राज्य के मानवशरीर होने का समर्थन किया, अपितु उन प्रक्रियाओं का भी प्रतिपादन एवं निर्देश किया जिनके द्वारा राज्य के विभिन्न अंगों तथा संस्थाओं का निर्माण हुआ था। अब राज्य को एक जीवित शरीर माना जाने लगा, कुछ इसे प्राणिशास्त्रीय शरीर (Biological Organism) मानते थे, दूसरे विद्वानों के मत में यह मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय अथवा आर्थिक शरीर था। प्रत्येक दशा में यह अपने कुछ नियमों के अनुसार काम करने वाला शरीर था। राजनीतिक चिन्तन में यह एक नई धारणा थी और इसने राज्यविषयक पुरानी कल्पनाओं और सिद्धान्तों को बहुत प्रभावित एवं परिवर्तित किया।

आठवीं विचारधारा **प्रभुसत्ता** (Sovereignty) का सिद्धान्त था। फ्रेंच विचारक बोदें ने १६वीं शती में इसका प्रतिपादन किया था। १७वीं-१८वीं शताब्दियों में राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के विकास के साथ इसको पोषण मिला। किन्तु उस समय तक यह भावना इंगलैण्ड, फ्रांस, हालैण्ड और स्पेन में ही विकसित हुई थी; योरोप के अधिकांश देश तथा सं० रा० अमेरिका इसके प्रभाव से अछूता था। किन्तु १८वीं शताब्दी के अन्त में होने वाली फ्रेंच राज्यक्रान्ति ने इस भावना के प्रवाह से योरोप को आप्लावित कर दिया। इसके बाद फ्रांस में स्थापित होने वाले नेपोलियन के विशाल साम्राज्य ने इसका अंग बनने वाले विभिन्न राज्यों में राजनीतिक एकता, स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहित किया। १९वीं शताब्दी योरोप के विभिन्न राज्यों द्वारा राष्ट्रीयता के संघर्ष की सुदीर्घ कहानी है। इस शताब्दी में इटली और जर्मनी का एकीकरण हुआ, ये प्रबल राष्ट्र बने। बाल्कान प्रायद्वीप में तुर्क शासन के साथ उग्र संघर्ष के बाद सर्बिया, यूनान, बलगारिया, माण्टीनीग्रो, रूमानिया आदि के राष्ट्र बने। आस्ट्रिया-हंगरी के विशाल साम्राज्य में रहने वाली चैक, स्लोवाक, पोल तथा मगयार जातियाँ अपने स्वतन्त्र राष्ट्र के लिए उग्र आन्दोलन करते रहीं। इससे राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को प्रचण्ड समर्थन मिला, प्रत्येक राष्ट्र की प्रभुसत्ता का प्रबल प्रतिपादन होने लगा। प्रभुसत्ता के सिद्धान्त ने प्रत्येक राष्ट्र को अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने का अधिकार प्रदान किया। औद्योगिक क्रान्ति की आवश्यकताओं के कारण जब योरोपियन राष्ट्र एशिया तथा अफ्रीका में अपने साम्राज्यों का विस्तार करने लगे, तो उनके विरोधी स्वार्थों में टक्कर होने लगी। प्रभुसत्ता के सिद्धान्त के कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अराजकता और अव्यवस्था स्थापित हो गई। इसका परिणाम प्रथम विश्वयुद्ध था। इस सिद्धान्त से अभी तक विश्व में घोर अशान्ति तथा युद्ध की प्रबल सम्भावना बनी हुई है। प्रभुसत्ता के सिद्धान्त पर बल देने के कारण उत्पन्न होने वाली अशान्ति की समस्या का समाधान करने के लिए राष्ट्रसंघ, सं० रा० संघ तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों का जन्म हुआ है।

नवीं विचारधारा **उपयोगितावाद** की थी। यह १८वीं शताब्दी के कल्पना-जगत् में विहार करने वाले आदर्शवाद के सिद्धान्त के विरुद्ध एक प्रबल प्रतिक्रिया थी। १९वीं शताब्दी के कुछ महान् विचारकों ने इसका समर्थन करके मानव-इतिहास के

बहुत बड़े सुधार कराए। यह विचारधारा राजनीतिक सत्ता का आधार कुछ अमूर्त्त अधिकारों को अथवा बुद्धि को न मानकर शासितों को वास्तव में पहुँचाए जाने वाले सुख या आनन्द को मानती थी। इसकी दृष्टि में राज्य का लक्ष्य अधिकतम लोगों का अधिकतम कल्याण करना या इन्हें सुख प्रदान करना था। इस सिद्धान्त ने यह विचार दिया कि मानवीय जीवन की दुःखमय परिस्थितियों को राज्य के कानून द्वारा सुखमय बनाया जा सकता है। उपयोगितावादी विचारक आदर्शवादी विचारकों की भाँति दुनिया से अलग-अलग और तटस्थ रहने वाले नहीं थे, वे मानवीय जीवन की जटिल एवं ज्वलन्त समस्याओं में गहरी दिलचस्पी लेते थे। उन्होंने इंगलैण्ड में कानूनी पद्धति के तथा दण्ड-पद्धति के सुधार के लिए, कारखानों तथा खानों में काम करने वाले मजदूरों की दयनीय दशा एवं दुःखों को दूर करने के लिए, पार्लियामैण्ट की मताधिकार पद्धति में संशोधन के लिए प्रबल आन्दोलन किया। चार्टिस्ट आन्दोलन, दरिद्र व्यक्तियों की सहायता के कानून का संशोधन, अनाज कानूनों की समाप्ति इन्हीं के प्रयत्न से हुई। १९वीं शताब्दी में अत्याचार और अन्याय का प्रबल विरोध करने वाली तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थन करने वाली यह विचारधारा असाधारण महत्व रखती है। इस विचारधारा के प्रधान प्रवर्त्तक और समर्थक जेरेमी बेन्थम (१७४८–१८३२), जेम्स मिल (१७७३–१८३६), जॉन आस्टिन (१७९०–१८५९), जॉन स्टुअर्ट मिल (१८०६-१८७३) थे।

१९वीं शताब्दी की उपर्युक्त राजनीतिक विचारधाराओं ने २०वीं शताब्दी की विचारधाराओं पर प्रभाव डाला है और अनेक नई विचारधाराओं को जन्म दिया है। राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद और अन्तर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के बारे में इस शताब्दी में प्रचुर मात्रा में चिन्तन हुआ है। १९वीं शताब्दी में डार्विन के सिद्धान्त के प्रभाव से पहले तो राजनीतिक चिन्तन पर प्राणिशास्त्र के अध्ययन की पद्धति का गहरा प्रभाव पड़ा, राज्य को शरीर समझा जाने लगा, मानवीय विकास के सम्बन्ध में भौतिक दृष्टिकोण को सत्य माना गया। किन्तु १९वीं शती के अन्त में मनोविज्ञान का विकास होने के कारण इसका राजनीतिशास्त्र पर अधिक प्रभाव पड़ने लगा। मानवीय प्रकृति और व्यवहार के अध्ययन पर बल दिया जाने लगा तथा मनुष्य की सहज बुद्धि, भावनाओं, बुद्धि और इच्छाशक्ति की तथा भीड़ की मनोवृत्ति और लोकमत को अधिक महत्व दिया जाने लगा। इंगलैण्ड में वाल्टर बेगहाट (१८२६–१८७७), ग्राहम वालास (१८५८–१९३२), विलियम मैकडूगल (१८७१–१९३८), फ्रांस में गैब्राइल टार्डे (१८४३–१९०४), एमिले दुरखाइम (१८५८–१९१७) तथा गुस्टाव ली बोन (१८४१–१९३१), संयुक्त राज्य अमेरिका में लैस्टर एफ० वार्ड (१८४१–१९१३), एफ० एच० गिडिंग्स (१८५५–१९३१) राजनीतिक चिन्तन में मनोवैज्ञानिक पक्ष पर बल देने वाले प्रमुख विचारक थे।

१९वीं शताब्दी में राज्य की प्रभुसत्ता का प्रबल समर्थन किया गया था, इसके अनुसार राज्य में सम्पूर्ण प्रभुसत्ता को एक स्थान में केन्द्रित समझा जाता था। किन्तु शीघ्र ही इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया आरम्भ हुई, इस सिद्धान्त की सत्यता में सन्देह प्रकट किया जाने लगा और यह माना जाने लगा कि सत्ता और शक्ति का केन्द्रीकरण अनेक

दोष उत्पन्न करता है, व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा राज्य की शक्तियों के विभाजन और वितरण में निहित है, राज्य अन्य सभी समूहों के ऊपर अधिकार एवं पूर्ण प्रभुसत्ता रखने वाला संगठन नहीं है; इस प्रकार का राज्य लोकतन्त्र तथा स्वतन्त्रता का विध्वंसक है। अतः राज्य की प्रभुसत्ता और शक्ति एक स्थान में केन्द्रित न होकर अनेक अंगों या तत्वों में विभक्त रहनी चाहिए। प्रभुसत्ता के निवास के अनेक या बहुत अधिष्ठान अथवा केन्द्र मानने से इसको प्रभुसत्ता का बहुलवादी या अनेकत्ववादी सिद्धान्त (Pluralistic Theory of Sovereignty) कहते हैं। इसका प्रतिपादन जर्मन विधानशास्त्री ओटो गियर्के (१८४१–१९१३), जे० एन० फिग्गिस, फ्रेंच विचारक लिओन डुगुइट (१८५९-१९२८) तथा हेरल्ड जे० लास्की ने किया है।

उपर्युक्त विचारधाराओं के अतिरिक्त बीसवीं शताब्दी में मार्क्स के समाजवाद के आधार पर रूस में बोल्शेविज़म, लेनिनवाद, स्तालिनवाद और ख्रुश्चेववाद की विचारधाराएँ विकसित हुईं, यूगोस्लाविया में टिटोवाद तथा साम्यवादी चीन में माओवाद का विकास हुआ। हिटलर के नाज़ी जर्मनी में राष्ट्रीय समाजवाद या नाज़ीवाद और मुसोलिनी के इटली में फासिज़्म की विचारधारा का उत्कर्ष हुआ। माइकेल बाकुनिन (१८१४–१८७६) तथा प्रिन्स क्रोपाटकिन (१८४२–१९१९) ने अराजकतावादी विचारों का प्रतिपादन किया। सोरेल ने फ्रांस में श्रमिक संघवाद (Syndicalism) का तथा ए० आर० ओरेंज, एस० जी० हाब्सन तथा जी० डी० एच० कोल ने श्रेणी-समाजवाद (Guild Socialism) की विचारधारा का प्रतिपादन किया। नार्मन एंजेल, जॉन डेवी और बर्ट्रेण्ड रसेल ने अपने विशिष्ट सिद्धान्तों का विवेचन किया। भारत में महात्मा गांधी ने सर्वोदय की तथा विनोबा भावे ने भूदान की विचारधारा पर बल दिया। अगले अध्यायों में राजनीतिक चिन्तन की विभिन्न विचारधाराओं का प्रतिपादन किया जाएगा।

दूसरा अध्याय

उपयोगितावादी विचारधारा के जन्मदाता जेरेमी बेन्थम

उपयोगितावाद का सामान्य परिचय—१९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में इंगलैण्ड की सबसे बड़ी देन उपयोगितावाद का सिद्धान्त था। इसने उस समय की राजनीति पर अत्यधिक प्रभाव डाला। इसका विशद एवं प्रबल प्रतिपादन जेरेमी बेन्थम (१७४८–१८३२ ई०) ने किया, किन्तु इस विचारधारा की परम्परा बेन्थम से बहुत पुरानी थी। जॉन लॉक (१६३२–१७०४) और डेविड ह्यूम (१७११–१७७६ ई०) ने मनोविज्ञान के क्षेत्र में इसके मौलिक सिद्धान्तों का विकास किया था। रिचर्ड कम्बरलैण्ड (१६३२–१७१९) ने अपने लेखों में सामान्य कल्याण को उच्चतम भलाई मानने का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए इस विचारधारा को स्वीकार किया था। फ्रांसिस हचेसन (१६९४-१७४७) ने १७५५ में प्रकाशित अपनी पुस्तक **नैतिक दर्शन पद्धति** (System of Moral Philosophy) में उपयोगितावादियों के मूल मन्त्र 'अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख' (The greatest happiness of the greatest number) के सुप्रसिद्ध वाक्य का पहली बार प्रयोग किया था। बेन्थम का यह कहना था कि उसने फ्रेंच दार्शनिक हैल्वेटियस (१७१५–१७७१) से यह सिद्धान्त सीखा था कि राज्य को 'अधिकतम संख्या के अधिकतम हित' को सम्पन्न कराने तथा बढ़ाने का कार्य करना चाहिए। प्रीस्टले के एक निबन्ध से बेन्थम को इस विषय में पहली प्रेरणा मिली। किन्तु इस पुराने सिद्धान्त को शास्त्रीय एवं व्यवस्थित रूप देने का तथा राजनीति के क्षेत्र में इसे लागू करने की पद्धति का विस्तृत प्रतिपादन करने का तथा लोकप्रिय एवं शक्तिशाली विचारधारा बनाने का श्रेय बेन्थम को ही है, अतः इसे कई बार बेन्थम के नाम से बेन्थमवाद भी कहा जाता है।

उपयोगितावाद के आधारभूत सिद्धान्त बड़े सरल और स्पष्ट हैं। इसका मौलिक मन्तव्य है कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति आनन्द अथवा सुख प्राप्त करने की है। वह सदैव सुख पाने का तथा दुःख से बचने का प्रयत्न करता है। सुख की प्राप्ति और दुःख का निवारण मनुष्य की समूची चेष्टाओं का मूल कारण है। सुख-दुःख का मापदण्ड उपयोगिता है। सुख देने वाली वस्तु उपयोगी है, दुःख देने वाली वस्तु अनुपयोगी है। मनुष्य वही कार्य करता है जिससे उसे सुख प्राप्ति की सम्भावना हो अर्थात् वह वस्तु उपयोगी हो; वह दुःख देने वाला या अनुपयोगी कार्य नहीं करता। मनुष्य के सब भौतिक कार्य उपयोगिता अर्थात् सुख या दुःख देने की सम्भावना से निर्धारित होते हैं। इस प्रकार उपयोगितावाद मानवीय अनुभव के आधार पर प्रतिष्ठित होने के कारण एक क्रियात्मक सिद्धान्त था। वह व्यावहारिक अनुभव पर बल देता था और कोरे तर्क

एवं कल्पना के आधार पर बनाए जाने वाले नैतिक सिद्धान्तों का उग्र विरोधी था। यह निरीक्षण और परीक्षण की वैज्ञानिक पद्धतियों से पुष्ट होने वाले भौतिक तथ्यों को ही स्वीकार करता था।

अतः अपनी निराली, अनुभववादी भौतिक पद्धति के कारण उपयोगितावाद एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त था। यह किसी भी वस्तु को इसलिए स्वीकार करने को तैयार नहीं था कि वह अत्यन्त पुराने जमाने से चली आ रही है, प्राचीन परम्पराओं के कारण समाज में प्रतिष्ठित और पूजित है। इसके अनुसार किसी भी वस्तु को ग्रहण करने की एकमात्र कसौटी उपयोगितावाद—अर्थात् सुख या दुःख देने की मात्रा थी। अनुभववाद पर आश्रित होने से ही यह काल्पनिक तर्कों से पुष्ट किए जाने वाले प्राकृतिक अधिकारों के तथा रूसो के सामाजिक अनुबन्ध या संविदा (Social Contract) के सिद्धान्त को अस्वीकार करता था। यह राज्य को ऐसे अनुबन्ध से बनने वाला कृत्रिम संगठन नहीं समझता था जिसका उद्देश्य इसके नागरिकों के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करना हो। राज्य की सत्ता इसलिए थी कि यह कई कारणों से आवश्यक था। इसका प्रधान उद्देश्य सामान्य हित एवं जन-कल्याण को बढ़ाना था। यदि इसके कानून इस प्रयोजन को पूरा नहीं कर सकते तो इन्हें बदल देना चाहिए। उपयोगितावादियों ने अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख की दृष्टि से इंगलैण्ड की तत्कालीन शासन-व्यवस्था में कई उग्र सुधारों का समर्थन किया। दार्शनिक आधार पर इनका समर्थन करने के कारण उपयोगितावाद को **दार्शनिक उग्र सुधारवाद** (Philosophical Radicalism) भी कहा जाता है।

इंगलैण्ड में इस सिद्धान्त के लोकप्रिय और शक्तिशाली होने का कारण उस समय की कुछ विशेष परिस्थितियाँ थीं। १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति हुई। पहले अध्याय में इसका वर्णन किया जा चुका है। इसने कई महत्वपूर्ण परिणाम उत्पन्न किए। कोयले और लोहे पर तथा बाद में बिजली और फौलाद पर आधारित इस क्रान्ति ने मशीनों द्वारा उत्पादन की प्रक्रिया आरम्भ करके आर्थिक क्षेत्र में वस्तुओं की उत्पत्ति का केन्द्र घर के स्थान पर मिलों तथा कारखानों को बना दिया। सामाजिक दृष्टि से इसके महत्वपूर्ण परिणाम ये थे—पुराने सामाजिक वर्गों में से जमींदारों की कुलीन श्रेणी के स्थान पर मिल-मालिकों, उद्योगपतियों और व्यापारियों के नवीन प्रभावशाली वर्ग की तथा असहाय एवं दुर्दशाग्रस्त मजदूरों के नए वर्ग की सृष्टि, जनसंख्या की वृद्धि और नवीन नगरों का विकास। आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र के इन परिवर्तनों से राजनीतिक विचारधारा में परिवर्तन होना आवश्यक था। किन्तु फ्रेंच राज्यक्रान्ति के भीषण रक्तपात तथा 'आतंक के राज्य' ने इंगलैण्ड को इस विषय में सशंक बना दिया था। वहाँ बर्क[1] जैसे विचारकों ने प्राचीन रूढ़ियों और परम्पराओं पर बल देने वाले अनुदारवाद का समर्थन किया। फ्रेंच क्रान्ति के बाद १७९३ से १८१५ तक इंगलैण्ड के फ्रांस के साथ होने वाले युद्धों ने ब्रिटिश सरकार को लोकतन्त्र के क्रान्तिकारी विचारों को दमन करने का स्वर्ण अवसर प्रदान किया। किन्तु

१. हरिदत्त वेदालंकार—पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० ४९७-५१०

१८१५ के बाद इन विचारों को अधिक देर तक दबाना सम्भव नहीं रहा। इस समय इंगलैण्ड में एक ओर थामस पेन और गाडविन जैसे व्यक्ति उग्र क्रान्तिकारी विचारक थे; दूसरी ओर बर्क जैसे विचारकों के अनुसार जमींदारों की कुलीन श्रेणी का शासन वांछनीय था। औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न होने वाले व्यापारियों और उद्योगपतियों को ये दोनों अतिवादी विचारधाराएँ नापसन्द थीं। वे न तो जमींदारों के हाथ में सम्पूर्ण प्रभुता देने वाली तथा उद्योग एवं व्यापार पर कठोर प्रतिबन्ध लगाने वाली राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था के पक्षपाती थे और न ही फ्रेंच क्रान्ति के समानता और स्वतन्त्रता को स्वीकार करने वाली तथा व्यक्ति के नैसर्गिक अधिकार मानने वाली विचारधारा के समर्थक थे। अतः उन्हें व्यक्ति के हित और सुख पर बल देने वाली तथा शासन में सुधार चाहने वाली उपयोगितावाद की विचारधारा वांछनीय प्रतीत हुई। इसने आर्थिक क्षेत्र में खुली छूट देकर तथा पुराने प्रतिबन्धों का विरोध कर पूँजीपतियों को तथा नवीन मध्यम वर्ग को अमित लाभ पहुँचाया, अतः वे इस विचारधारा के प्रबल समर्थक बने। इसी समय इंगलैण्ड में मजदूरों की दयनीय दशा सुधारने के लिए तथा इन्हें राजनीतिक शक्ति देने तथा इनके संगठन बनाने के लिए प्रबल आन्दोलन आरम्भ हुए। इन सबको वेन्थम की विचारधारा से समर्थन मिला, अतः इस समय इसका लोकप्रिय होना स्वाभाविक था।

वेन्थम की विचारधारा का प्रधान लक्ष्य राज्य द्वारा प्रजा के 'अधिकतम लोगों का अधिकतम हित' करना था। इसके लिए वे राज्य द्वारा नए कानून बनवाकर जनता की दशा में सुधार करवाना चाहते थे। अतः उपयोगितावादी विचारकों का दृष्टिकोण सर्वथा क्रियात्मक और व्यावहारिक था। वे कोरी कल्पनाओं के जगत् में विहार करने वाले तथा जीवन की दैनिक घटनाओं से अलिप्त और तटस्थ रहने वाले दार्शनिक नहीं थे, उन्हें जनसाधारण को प्रभावित करने वाली घटनाओं में गहरी दिलचस्पी थी। उन्होंने इंगलैण्ड के सार्वजनिक जीवन में बड़ा भाग लिया। वेन्थम एवं उसके अनुयायियों के प्रयास से इंगलैण्ड की कानूनी एवं दण्ड-पद्धति में क्रान्तिकारी सुधार हुए, कारखानों और खानों में काम करने की दशाओं के उग्र दोषों को दूर किया गया, पार्लियामैण्ट के लिए प्रतिनिधि चुनने की तथा निर्वाचन क्षेत्रों की पद्धति में मौलिक परिवर्तन हुए। १९वीं शताब्दी में ब्रिटिश राजनीति के अनेक प्रमुख आन्दोलन—चार्टिस्ट आन्दोलन, दरिद्र कानून का संशोधन, अनाज-करों का रद्द होना, मताधिकार को विस्तृत एवं व्यापक बनाना उपयोगितावाद के सिद्धान्तों का परिणाम था। उपयोगितावादी अधिकतम जनता को अधिकतम सुख पहुँचाने की दृष्टि से अत्याचार और अन्याय का उग्र विरोध करते थे। वे व्यक्तिवादी थे, राज्य की सत्ता व्यक्ति के हित के लिए मानते थे। उनके लिए समूची राजनीतिक संस्थाओं और सार्वजनिक नीतियों की अच्छाई या बुराई आँकने की कसौटी कोई काल्पनिक मानवीय अधिकार या सिद्धान्त नहीं थे, वे इसकी एकमात्र कसौटी उपयोगिता का सिद्धान्त मानते थे। वे इन संस्थाओं को इनके परिणामों या फलों से अथवा उपयोगिता के नपैने से नापते थे।

उपयोगितावादी विचारधारा उपर्युक्त परिस्थितियों के कारण १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रबल बनी रही। इसका संस्थापक जेरेमी वेन्थम था। इसने तथा इसके

साथी जेम्स मिल ने इसके विकास में बड़ा भाग लिया। जेम्म मिल के पुत्र जॉन स्टुअर्ट मिल ने भी इसके सिद्धान्तों के प्रचार में बहुत भाग लिया। अन्य विद्वानों ने इसके सिद्धान्तों को ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में लागू किया। जॉन ग्रास्टिन ने विधि-शास्त्र के क्षेत्र में, रिकार्डो ने अर्थशास्त्र के क्षेत्र में, ग्रोट ने इतिहास के तथा एलेक्ज़ेण्डर बेन ने मनोविज्ञान के क्षेत्र में उपयोगितावाद का प्रतिपादन किया। व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र में इसे लागू करने का श्रेय रोमिल्ली, ब्रूम (Brougham) तथा हावहाउस जैसे व्यक्तियों को है। काब्डन और ब्राइट ने इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर 'खुला छोड़ दो या मुक्त व्यापार' (Laissez faire) की नीति का प्रबल समर्थन किया।

उपयोगितावाद का संस्थापक जेरेमी बेन्थम (१७४८-१८३२ ई०)

बेन्थम की जीवनी—उपयोगितावाद के जनक जेरेमी बेन्थम का जन्म १७४८ में एक सम्पन्न वकील घराने में हुआ। यह बचपन से असाधारण प्रतिभाशाली था। तीन वर्ष की आयु में इसने लैटिन और चार वर्ष की आयु में फ्रेंच पढ़ी, तेरह वर्ष की आयु में मैट्रिक की तथा पन्द्रह वर्ष की आयु में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से स्नातक परीक्षा पास की। हमें यह पता नहीं कि आक्सफोर्ड में बेन्थम के शिक्षक उसे क्या समझते थे, किन्तु वह अपनी असाधारण योग्यता के कारण अपने गुरुओं को अयोग्य तथा साथियों को मूर्ख समझता था। उसे आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का धार्मिक कट्टरता और रूढ़िवादिता तथा विद्याध्ययन की अपेक्षा मधुपान और घुड़सवारी पर बल देने वाला वातावरण बिलकुल पसन्द नहीं आया।[1] बाद में उसने अपने कटु अनुभव के आधार पर आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों से निराश होकर नवीन ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन पर बल देने वाले, पुरानी परम्पराओं और धार्मिक बन्धनों से उन्मुक्त वातवरण प्रस्तुत करने वाले लन्दन विश्वविद्यालय की स्थापना में बड़ा भाग लिया। बेन्थम ने यद्यपि आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से बहुत-कुछ नहीं सीखा, किन्तु वहाँ की पुस्तकों की दुकानों से उसे बहुत-कुछ मिला। एक बार १७६८ में जब वह यहाँ विश्वविद्यालय के संसदीय चुनाव में मत देने के लिए आया तो उसे किताबों की एक दुकान में प्रीस्टले की एक पुस्तिका **'शासन पर निबन्ध'** (Essay on Government) मिली, इसके पन्ने उलटते हुए उसे एक पृष्ठ पर हचेसन की पुस्तिका से लिया गया 'अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख' (The greatest happiness of the greatest number) का वाक्यांश मिला। बेन्थम ने लिखा है कि "इस पुस्तिका से तथा इस पृष्ठ से मैंने इस वाक्यांश को ग्रहण किया।...इसे देखते ही आन्तरिक आनन्द से वैसे ही चिल्ला पड़ा, जैसे द्रवस्थिति विज्ञान (Hydrostatistics) के मौलिक सिद्धान्तों का पता

१. बेन्थम १७६० में आक्सफोर्ड के क्वीन्स कालेज में उस समय तक भर्ती होने वाले विद्यार्थियों में सब से कम आयु का था। उन दिनों वहाँ विद्यार्थी खेलने के लिए आया करते थे, पढ़ने के लिए नहीं। परीक्षाएँ ढोंग थीं, उपाधियाँ वहाँ रहने से ही मिल जाती थीं। परीक्षक विद्यार्थियों से शराबों और घोड़ों के बारे में ही अधिक सवाल पूछते थे। (मेरी पी० मैक—जेरेमी बेन्थम, हीनमान क०, १९६२, प्रथम खण्ड, पृ० ४३-४४)

लगने पर आर्शीमीडीस 'योरेका' (मैंने पा लिया) कहते हुए चिल्लाया था।"[1]

बेन्थम का पिता अपने असाधारण प्रतिभाशाली पुत्र को वकालत पढ़ाकर उसे इंगलैण्ड के प्रधान न्यायाधीश पद पर देखने के सपने ले रहा था। उसने १७६६ में उसे **लिंकन्स इन** में वकालत पढ़ने के लिए भेजा। किसी पुराने जमाने में यहाँ पढ़ाई होती थी, किन्तु उस समय यह दावतें खाने और निवास करने का क्लब था।[2] एक विद्यार्थी को तीन वर्ष के पाठ्यक्रम में पाँच भोजों में सम्मिलित होना पड़ता था और प्रत्येक सत्र में एक निबन्ध पढ़ना होता था, शेष समय के लिए उसे पूरी छुट्टी थी। बेन्थम ने इस समय का सदुपयोग कानून-सम्बन्धी पुस्तकों के अध्ययन में लगाया और वह किंग्स बैंच के प्रधान न्यायाधीश लार्ड मैन्सफील्ड के न्यायालय में कानून का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए जाया करता था। यहाँ उसे कानून की वास्तविक स्थिति का, उसकी अपूर्णताओं अनिश्चितताओं, त्रुटियों और दोषों का प्रत्यक्ष अनुभव और अद्भुत ज्ञान हुआ। वह कानून की अव्यवस्था, बेहूदापन तथा अनावश्यक जटिलता को देखकर चकित हो गया, यह ऊपर से कुछ था और भीतर से कुछ और। इसे जैसा कहा जाता था तथा जैसा होना चाहिए था, यह वैसा नहीं था। उस समय का कानून बड़ा क्रूर और पाशविक था।[3] १८०० ई० में २२० से २३० अपराधों के लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था थी, ४० शिलिंग से अधिक मूल्य की वस्तुओं की चोरी के लिए प्राणदण्ड दिया जाता था। कानून तोड़ने वाले दण्ड पाने से बच जाते थे और निरपराध दण्ड पाते थे। इसमें झूठ, धोखे और प्रवंचना का साम्राज्य था। बेन्थम को कानून के दोषों का जितना अधिक ज्ञान हुआ वह उतनी ही अधिक दृढ़ता से इनके सुधार के लिए संकल्प करने लगा। वकालत करने के स्थान पर, उसने अपने जीवन का ध्येय कानूनी पद्धति का संशोधन करना बना लिया।

उस समय इंगलिश कानून का सर्वोत्तम व्याख्याता ब्लैकस्टोन था। उसने इस पर जब आक्सफोर्ड में अपने व्याख्यान दिए तो बेन्थम इन्हें सुनने के लिए बड़ी श्रद्धा से वहाँ गया। किन्तु इनमें जब ब्लैकस्टोन ने इंगलिश कानून की प्रशंसा के पुल बाँधे तो बेन्थम की इनमें अनास्था हो गई और उसने ब्लैकस्टोन की इंगलिश कानून की टीकाओं (commentaries) में प्रतिपादित सिद्धान्तों की धज्जियाँ उड़ाते हुए १७७६ में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक '**शासन पर कुछ विचार**' (Fragments on Government) प्रकाशित की। यह वही वर्ष था जब संयुक्त राज्य अमेरिका में क्रान्ति हुई थी, जेम्स वाट ने स्टीम इंजन का आविष्कार किया था और एडम स्मिथ की अर्थशास्त्र की प्रसिद्ध पुस्तक 'राष्ट्रों की सम्पत्ति' (Wealth of Nations) प्रकाशित हुई थी। वस्तुतः यह युगान्तरकारी वर्ष था और बिना नाम के प्रकाशित की गई बेन्थम की पुस्तक ने उस समय के दिग्गज विधिशास्त्री की आलोचना करके कानूनी क्षेत्रों में हलचल मचा दी थी। लेखक का नाम ज्ञात न होने से उस समय के कानून के धुरन्धर पण्डित लार्ड मैन्सफील्ड के, लार्ड कैम्डन के अथवा डनिंग के इस पुस्तक के लेखक होने की कल्पना

१. पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १०३
२. वही, पृ० ६०
३. वही, पृ० ७२

की जाने लगी। इस पर बेन्थम के पिता ने अपने पुत्र के अगाध कानूनी ज्ञान पर गर्व करते हुए इसके असली लेखक का रहस्योद्‌घाटन किया। यह पुस्तक बेन्थम ने यद्यपि २८ वर्ष की अल्पायु में लिखी थी, किन्तु ८४ वर्ष की आयु तक वह इसमें सूत्र रूप से प्रतिपादित सिद्धान्तों की व्याख्या करता रहा। इसके बाद पिता ने यह समझ लिया कि पुत्र को वकालत के पेशे के लिए बाधित करना बेकार है। उसने उसके लिए १०० पौण्ड की वार्षिक आय की व्यवस्था कर दी और १७९२ में पिता की मृत्यु पर उसे और भी अधिक आय देने वाली सम्पत्ति मिल गई और वह आजीविका की चिन्ता से मुक्त होकर लन्दन के अपने 'तपोवन' (Hermitage) नामक मकान में अविवाहित रहता हुआ मृत्युपर्यन्त अपने राजनीतिक चिन्तन, सुधार और लेखन के कार्यों में लगा रहा।

बेन्थम प्रतिदिन नियमित रूप से लिखने वाला असाधारण व्यक्ति था। ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में उसकी निर्बाध गति थी। १७७० से १८३२ में अपनी मृत्यु-पर्यन्त वह लगभग प्रतिदिन १५ बड़े पृष्ठ (फोलियो) लिखता रहा।[1] उसके द्वारा लिखे गए पृष्ठों की संख्या १ लाख से अधिक है।[2] उसके हस्तलेखों की पांडुलिपियाँ १४८ बक्सों में बन्द हैं[3] और अब तक लन्दन विश्वविद्यालय और ब्रिटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित हैं। वह एक विषय पर लिखना शुरू करता था, किन्तु उसने उठने वाली समस्याओं के समाधान के लिए पहली पुस्तक अधूरी छोड़कर दूसरी पुस्तक लिखना शुरू कर देता था। इस प्रकार उसने कानून, राजनीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र, दण्डशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि बीसियों विषयों पर लिखा, किन्तु एक भी पुस्तक पूरी नहीं की। विल्सन ने उसे लिखा था, "जब से मैं तुम्हें जानता हूँ तुम्हारा इतिहास यही रहा है कि तुम एक अच्छी योजना से अधिक अच्छी योजना की ओर दौड़ते रहे हो। जीवन बीता जा रहा है और तुमने कोई भी वस्तु पूरी नहीं की है।" बेन्थम की अधिकांश रचनाएँ विभिन्न विषयों को समझने के लिए लिखी गई भूमिकाएँ तथा इन पर स्फुट विचार (fragments) थे। बेन्थम को यह कठिनाई थी कि इंगलैण्ड में उसके क्रान्तिकारी विचारों को पसन्द करने वाले और सुनने वाले व्यक्ति नहीं मिल रहे थे। उसने कहा था कि वह "बाजा बजाता है, किन्तु इंगलिश व्यक्ति उसके अनुसार नहीं नाचते हैं; वह आगे बढ़ता है, किन्तु वे उसका अनुसरण नहीं करते हैं।" सौभाग्यवश १७८८ में उसकी भेंट लन्दन में शरण लेने वाली जेनेवावासी कुमारी एतियन्ने द्युमोन्त (Etienne Dumont) से हुई, इसने भक्तिभाव से उसके ग्रन्थों के सम्पादन करने, अनुवाद करने और लोकप्रिय बनाने का कार्य किया; उसने उस समय के सभ्य जगत् की फ्रेंच भाषा में बेन्थम की रचनाओं का अनुवाद किया। इससे फ्रेंच भाषाभाषी प्रदेशों में बेन्थम की ख्याति बढ़ी। उसके इंगलिश ग्रन्थ फ्रेंच पुस्तकों के अनुवाद हैं। उसे अपने जीवन की संध्या में ७३ वर्ष की आयु में १८२१ में २९-वर्षीय बोरिंग (Bowring) नामक

---

१. मेरी पी० मैक—जेरेमी बेन्थम, पृ० ५

२. एबेन्स्टाइन—ग्रेट पोलिटिकल थिंकर्स, पृ० ५०१

३. जार्ज काटलिन—ए हिस्टरी आफ दी पोलिटिकल फिलासफर्स, पृ० ३५८

भक्त नवयुवक का सहयोग मिला, इसने उसके कुछ ग्रंन्थों को ११ खण्डों में प्रकाशित किया; किन्तु उसके लेखों का एक बड़ा भाग अभी तक अप्रकाशित है।

१७८५ में उसने योरोप के विभिन्न देशों की यात्रा की, इसने उसके विचारों पर प्रभाव डाला। १७८८ में वह पार्लियामैण्ट की एक सीट के लिए खड़ा हुआ। किन्तु चुनाव में राजनीतिक सफलता पाना उसके भाग्य में नहीं बदा था। उसकी विफलता राजनीतिक चिन्तन की दृष्टि से बड़ा सौभाग्य बन गई, क्योंकि चुनाव में हारने के बाद उसने विधान निर्माण की समस्याओं पर विचार आरम्भ किया और प्राचीन यूनान के सुप्रसिद्ध विधान-निर्माता सोलन और लाइकरगस की भाँति आदर्श विधानों का निर्माता बनने का संकल्प किया। १७८९ में फ्रेंच राज्यक्रान्ति आरम्भ होने के साथ ही इस विषय में उसकी कृति 'नैतिकता और विधान निर्माण के सिद्धान्त' (Principles of Morals and Legislation) प्रकाशित हुई। इससे उसे विदेशों में बड़ी ख्याति मिली, वह विदेशों में वास्तव में अलौकिक बुद्धिसम्पन्न विधान-निर्माता समझा जाने लगा। किन्तु इंगलैंण्ड में 'घर का जोगी जोगड़ा आन गाँव का सिद्ध' के अनुसार उसकी कोई प्रतिष्ठा या पूछ नहीं थी।

फ्रेंच राज्यक्रान्ति होने पर बेन्थम ने इसे अपने उपयोगितावादी सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देने का स्वर्ण अवसर समझा। इसका लाभ उठाने के लिए उसने क्रान्ति के नेताओं से पत्र-व्यवहार आरम्भ किया, फ्रांस की राष्ट्रीय असेम्बली ने १७९२ में उसे 'फ्रांस का नागरिक' बनाकर अपूर्व सम्मान प्रदान किया, किन्तु उसकी योजनाओं पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। वह इससे हतोत्साहित नहीं हुआ, १८०२ में विधान निर्माण के सम्बन्ध में उसकी रचनाएँ द्युमोन्त द्वारा अनूदित होकर फ्रेंच में **'दीवानी और फौजदारी कानूनों पर निबन्ध'** (Traites de Legislation Civil et penate) के नाम से प्रकाशित हुई, इसने फ्रेंच भाषाभाषी प्रदेशों में उसकी धूम मचा दी। दूसरे देशों के राजाओं ने तथा सरकारों ने इस पुस्तक का स्वागत और सम्मान किया। स्पेन और पुर्तगाल की पार्लियामैण्टों (Cortes) ने यह प्रस्ताव पास किया कि बेन्थम की पुस्तकों को राष्ट्रीय व्यय से प्रकाशित किया जाए। रूसी सम्राट् एलेक्ज़ेण्डर ने अपने देश की कानूनी संहिता के निर्माण में बेन्थम से सहयोग देने की प्रार्थना की। सुदूरवर्ती दक्षिणी अमेरिका पर भी उसका प्रभाव पड़ा, उसकी उपर्युक्त फ्रेंच पुस्तक की चालीस हजार प्रतियाँ इन देशों में बिकीं। वेनेज़ुएला की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने वाला जनरल मिराण्डो बेन्थम को अपने नवीन राज्य का विधान-निर्माता बनाना चाहता था। १८१७ में बेन्थम ने संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति मेडीसन को लिखा कि वह उसके विधानों से वहाँ की जनता को लाभ पहुँचाएँ। १८२२ में उसने सब देशों के उदार लोगों से कानून की स्पष्ट संहिताएँ तैयार करने की अपील की; वह स्वयं किसी भी देश के लिए विधिसंहिता बनाने का कार्य करने को तैयार था। विदेशों में उसकी ख्याति चरम सीमा तक पहुँच गई। हैज़लिट ने उसके बारे में यह सत्य ही लिखा था, "उसका नाम इंगलैण्ड में बहुत कम व्यक्ति जानते हैं, योरोप में इससे अधिक व्यक्ति जानते हैं, किन्तु चिली के मैदानों में और मैक्सिको की खानों में उसका नाम सबसे अधिक लोग जानते हैं।"

बेन्थम को इस बात का क्षोभ था कि ब्रिटिश लोग उसकी योजनाओं और विचारों पर ध्यान नहीं दे रहे थे। अपनी पुस्तकों के कारण इंगलैण्ड के अनेक प्रतिष्ठित एवं कुलीन व्यक्तियों लार्ड शेल्बोर्न आदि से उसका परिचय हुआ। ये सब उसकी बातों को सुन लेते थे, पर उसके सुझावों पर तनिक भी ध्यान नहीं देते थे। इससे बेन्थम को इतना क्षोभ और रोष हुआ कि १८०८ के बाद वह उग्र सुधारों का समर्थक हो गया। दो घटनाओं ने इसमें विशेष सहयोग दिया। पहली घटना का वर्णन करते हुए बेन्थम ने लिखा है कि लार्ड चान्सलर (लार्डसभा के सभापति तथा सर्वोच्च न्यायाधीश) वैडरबर्न से जब एक बार उपयोगितावाद के बारे में सम्मति माँगी गई तो उसने उत्तर दिया कि यह बड़ा खतरनाक सिद्धान्त है। बेन्थम का कहना था—"उपयोगितावाद या अधिकतम संख्या का अधिकतम हित किस प्रकार खतरनाक हो सकता है। यह केवल कुटिल हितों (sinister interests) के लिए ही भयावह है।" दूसरी घटना उसके जेल के सुधार की योजना का राजा द्वारा विरोध था। बेन्थम ने बन्दियों के सुधार के लिए एक नए ढंग का कारागृह बनाने का प्रस्ताव किया। इसमें यह व्यवस्था थी कि सब बन्दियों को किसी उपयोगी कार्य में लगाया जाए, ये सब इस कार्य को एक ओवरसीयर या अध्यक्ष की देखरेख में करें, यह अध्यक्ष एक केन्द्रीय ऊँचे स्थान से सब बन्दियों को देखता रहे। इसी कारण इस योजना को **सर्वद्रष्टा** (Panopticon) का नाम दिया गया; बन्दियों द्वारा तैयार किया गया माल बेचा जाए और यह सारी व्यवस्था चलाने का कार्य एक ठेकेदार को सौंप दिया जाए, ताकि राज्य पर इस योजना को चलाने का कोई आर्थिक भार न पड़े। बेन्थम यह ठेका लेने के लिए तैयार था। इस योजना पर विचार के लिए नियत किए गए सरकारी आयोग ने इस योजना को स्वीकार नहीं किया। बेन्थम इससे बहुत क्षुब्ध और रुष्ट हुआ। लार्ड शेल्बोर्न ने बेन्थम को यह बताया कि इस अस्वीकृति का कारण राजा जार्ज तृतीय का विरोध है।[1] इस पर बेन्थम राजा के विरुद्ध उबल पड़ा और उसने यह लिखा कि राजतन्त्र तथा इससे प्रादुर्भूत व्यक्ति भ्रष्टाचार का विशेष कारण हैं। वह १८०८ के बाद गणतन्त्र प्रणाली का तथा पार्लियामैण्ट के सम्बन्ध में विभिन्न उग्र सुधारों का समर्थक बन गया।

बुढ़ापे में व्यक्ति प्रायः अनुदार, रूढ़िवादी एवं क्रान्ति-विरोधी विचारों वाले बनते हैं, बेन्थम ६० वर्ष की आयु में उग्र क्रान्तिकारी विचारों का प्रबल समर्थक बना। १८२४ में अर्थात् ७६ वर्ष की आयु में उसने इन विचारों के प्रसार के लिए 'वैस्ट मिन्स्टर रिव्यू' (West Minster Review) नामक पत्र निकालने में सहयोग दिया। १८२७ में उसने लन्दन विश्वविद्यालय के मूल यूनिवर्सिटी कालेज को इस उद्देश्य से स्थापित किया कि यह आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज के दूषित वातावरण से मुक्त रहे। बेन्थम का समूचा जीवन ऐसे विरोधाभासों तथा सनकों से भरा हुआ है। उसके बारे में मेरी ने यह ठीक ही लिखा है कि वह अद्भुत बुद्धि लेकर बूढ़ा पैदा हुआ था और आयु बढ़ने के साथ बच्चा बनता चला गया (पृ० ६)। बचपन में पिता ने

---

१. काटलिन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३५८-९

मितव्यय के कारण उसे काले कपड़े ही पहनाए, बुढ़ापे में उसने बढ़िया कपड़े पहने। उसके शब्दों में वह ७२ वर्ष की आयु में १७ वर्ष की आयु की अपेक्षा अधिक रंगीला था। बचपन में वह अनुदार था, आयु बढ़ने के साथ उसके विचारों में उदारता आती गई। वह अपनी प्रेयसी मेरी उन्कली को २० वर्ष के व्यवधान से नियमित रूप से पत्र लिखता रहा और वह नियमित रूप से उसकी प्रणय-प्रार्थनाओं को ठुकराती रही।[1] आनन्द को सब मानव-क्रियाओं का मूल मानने वाला यह विचारक मृत्युपर्यन्त आनन्दी स्वभाव का व्यक्ति बना रहा। सत्तर वर्ष की आयु पार करने के बाद भी उसका बैडमिण्टन खेलने और दौड़ लगाने का उत्साह मन्द नहीं हुआ। बुढ़ापे में उसमें विनोद वृत्ति बड़ी मात्रा में बनी रही। ८० वर्ष की आयु में एक बार बीमार पड़ने पर उसे यह पूरा विश्वास था कि वह रात को सोते हुए मर जाएगा, किन्तु अगले दिन जब उसके सचिव ने उसे उठाया तो वह बोला—"मैं अब भी जीवित हूँ। एक जिन्दा कुत्ता मुर्दा शेर से अच्छा होता है (पृ० ६)।" उसे बिल्लियाँ पालने का बेहद चाव था और रात को सोने से पहले एक घण्टे तक उनके साथ खेलने और अनेक विधि-विधान पूरे करने के बाद ही वह शयन करता था। मृत्यु के समय भी उसने अपनी सनक नहीं छोड़ी। वह आजीवन विज्ञान का परम भक्त था और कानून और राजनीति के क्षेत्रों में उसके सिद्धान्तों को लागू करने का भगीरथ प्रयास करता रहा। मरते समय उसने यह वसीयत की कि मेरा शरीर विज्ञान की उन्नति के लिए मित्रों की उपस्थिति में शवच्छेदन के लिए दे दिया जाए। उसके अस्थिपंजर पर मोम से बनाई गई तथा उसके जीवन-काल में धारण किए जाने वाले वस्त्र पहने, हैट और टाई लगाए हुए तथा हाथ में उसकी डैप्पल नामक प्रिय छड़ी को थामे हुए उसकी मूर्ति अब तक लन्दन विश्वविद्यालय के यूनिवर्सिटी कालेज की एक शीशे की अलमारी में सुरक्षित है और इसमें पैरों के नीचे तश्तरी में उसकी प्रतिभाशाली खोपड़ी पड़ी हुई है। १८३२ में 'महान् सुधार बिल' (Great Reform Bill) पास होने के वर्ष में उसका देहावसान हुआ। वह १८वीं शताब्दी के मध्य में पैदा हुआ था, किन्तु उसका अधिक प्रभाव १९वीं शताब्दी की विचारधारा पर पड़ा।

बेन्थम के प्रमुख सिद्धान्त—(१) उपयोगितावाद—यह उसकी समूची विचार-धारा और चिन्तन का मूलमन्त्र और आधारशिला है। उसके शब्दों में "उपयोगिता एक अमूर्त्त संज्ञा है। इसका अभिप्राय किसी विशेष वस्तु के उस गुण या प्रवृत्ति से है जो किसी बुराई का निवारण करती है और कोई भलाई हमें प्रदान करती है। बुराई का अर्थ दुःख अथवा दुःख का कारण है। भलाई का अर्थ आनन्द अथवा आनन्द का कारण है।···क्योंकि प्रकृति ने मनुष्य को आनन्द और पीड़ा नामक दो सर्वोच्च प्रभुओं के शासन में रखा है। मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति है। अतः उपयोगिता के सिद्धान्त का अर्थ आनन्दों और कष्टों के तुलनात्मक अनुमान की गणना करना या हिसाब लगाना है। कानून बनाने वाले का उद्देश्य जनता को आनन्द देना है। विधान निर्माण में उसका मार्गदर्शक सिद्धान्त सामान्य

१. काटलिन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३५६

उपयोगिता अर्थात् अधिकतम संख्या का अधिकतम हित होना चाहिए।"[1]

बेन्थम के मत में जो वस्तु हमें सुख की अनुभूति देती है, वह अच्छी है, ठीक है और उपयोगी है। "उपयोगिता के सिद्धान्त का अनुयायी भलाई को केवल इसीलिए अच्छा समझता है कि उसके आचरण से आनन्द की प्राप्ति होती है, बुराई इसलिए बुरी है कि इस पर आचरण करने से दुःख मिलता है।"

इस प्रकार उपयोगिता का सिद्धान्त सुख की प्राप्ति और दुःख के निवारण का सिद्धान्त है। किन्तु सुख और दुःख का क्या स्वरूप है ? इसका निर्धारण कैसे किया जाए ? इस विषय में बेन्थम ने विशद वैज्ञानिक विवेचन किया है। उसके मत में सादे या सरल सुख निम्नलिखित पन्द्रह प्रकार के हैं—इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वाले सुख, सम्पत्ति, दक्षता, मित्रता, उत्तम चरित्र अथवा कीर्ति, शक्ति, पवित्रता (piety), परोपकार या सत्कामना, अपरोपकार या असत्कामना (Malevolence) बुद्धि, स्मृति, कल्पना, आशा, सत्संग और दुःख मुक्ति (relief) से प्राप्त होने वाले सुख। सारे दुःख केवल ११ प्रकार के हैं—पीड़ा (privation), इन्द्रियों से होने वाले दुःख, गंवारपन या फूहड़पन (awkwardness), शत्रुता, बदनामी, पवित्रता (piety), सत्कामना, असत्कामना, स्मृति, कल्पना और आशा।

उपर्युक्त सारे सुखों और दुःखों के सम्मिश्रण से नाना प्रकार के जटिल (complex) सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं।

बेन्थम के मतानुसार मनुष्यों के मनों में सब सुख-दुःख कुछ उत्तेजनक कारणों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। मनुष्य में सुख-दुःख के विभिन्न कारणों से पैदा होने वाले सुख-दुःख की मात्रा ग्रहण करने की या अनुभव करने की सामर्थ्य (sensibility) विभिन्न प्रकार की होती है। अतः यह स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह द्वारा अनुभव की जाने वाली सुख-दुःख की मात्रा इनके ग्रहण या अनुभव करने की सामर्थ्य को निश्चित करने वाले तत्वों पर निर्भर है, इन्हें सुख-दुःख की मात्रा की गणना करते हुए ध्यान में रखना चाहिए। ये ३२ तत्व हैं, इनमें उल्लेखनीय तत्व ये हैं—स्वास्थ्य, शक्ति, कठोरता, शारीरिक दोष या कमियाँ, ज्ञान की मात्रा और स्वरूप, बौद्धिक शक्तियों की प्रखरता, मन की दृढ़ता और निश्चलता, मनोवृत्ति, नैतिक अनुभव ग्रहण करने की शक्ति, नैतिक पक्षपात, धार्मिक पक्षपात, आर्थिक अवस्था, लिंग, सामाजिक पद, शिक्षा, जलवायु, वंश-परम्परा और शासन।

उपयोगिता का निर्धारण करने में बेन्थम सुखों की मात्रा पर बल देता है। यदि एक कार्य से सुख की अधिक मात्रा उत्पन्न होती है तो वह अधिक अच्छा सुख है किन्तु इन सुखों की मात्रा कैसे नापी जाए। सुख-दुःख विशुद्ध रूप से मानसिक अनुभूतियाँ हैं, इन्हें इंचों, फुटों अथवा सेंटीमीटरों में नहीं नापा जा सकता, न ही सुख की मात्रा को मन, सेर, छटाँक या किलोग्रामों में तोला जा सकता है। इनकी मात्रा का निर्धारण करने के लिए बेन्थम ने एक निराली पद्धति सुझायी है। इस पद्धति में सुखों और दुःखों को तुलनात्मक रीति से कुछ कसौटियों पर कसा जाता है, इस

---

१. Theory of Legislation (Oxford University Press), पृ० १-५

प्रकार सुख और दुःख का मूल्य नापा जाता है। इस प्रकार सुख-दुःख नापने की गणना पद्धति को **आनन्ददायक गणना पद्धति** (Felicific Calculus) कहा जाता है। एक व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाले सुख-दुःख के मूल्य की मापक या निर्धारक कसौटियाँ निम्नलिखित हैं—प्रगाढ़ता, अवधि, निश्चितता, सामीप्य, उत्पादकता (एक आनन्द द्वारा अपने जैसा दूसरा आनन्द उत्पन्न करना), विशुद्धता (आनन्द का विशुद्ध आनन्द ही उत्पन्न करना, दुःख को न उत्पन्न करना, जैसे रसगुल्ले अधिक मात्रा में खाने से रसना का आनन्द पेट की पीड़ा के कष्ट को उत्पन्न करता है), मात्रा या संख्या अर्थात् एक आनन्द कितने मनुष्यों को सुखी बना सकता है। बेन्थम के कथनानुसार एक कानून बनाने वाले का यह कर्त्तव्य है कि वह उपर्युक्त गणना पद्धति से किसी प्रवृत्ति से उत्पन्न होने वाले सुखों और दुःखों का मूल्यांकन करते हुए उन्हें दो पलड़ों में तोले, एक ओर सुखों के और दूसरी ओर दुःखों के मूल्य रखे जाएँ, इनमें से यदि सुखों वाला पलड़ा भारी हो तो वह प्रवृत्ति उत्तम अथवा उपयोगी है, यदि दुःखों वाला पलड़ा भारी हो तो यह प्रवृत्ति बुरी अथवा निरुपयोगी है। किसी नियम के पालन के साथ सम्बद्ध सुख-दुःख उसे पालन करवाता है और इसका मूल स्रोत, इसकी अनुज्ञप्ति (sanction) या पालन करने वाली शक्ति होती है। ये अनुज्ञप्तियाँ चार प्रकार की होती हैं—भौतिक, नैतिक, राजनीतिक तथा धार्मिक। भौतिक अनुज्ञप्ति में वे सुख या दुःख आते हैं, जो प्रकृति से प्राप्त होते हैं, इनमें कोई मानवीय हस्तक्षेप नहीं होता। नैतिक अनुज्ञप्ति में घृणा या प्रेम की भावनाओं से अनुप्राणित होने वाले पड़ोसियों से प्राप्त होने वाले सुख-दुःख हैं। इसे लोकमत की अनुज्ञप्ति भी कहा जाता है। तीसरी राजकीय अनुज्ञप्ति मैजिस्ट्रेट आदि सरकारी कर्मचारियों से कानून के अनुसार दिए जाने वाले दण्ड हैं। इसे कानूनी अनुज्ञप्ति (Legal Sanction) भी कहा जाता है। चौथी धार्मिक अनुज्ञप्ति धर्मशास्त्र की व्यवस्थाओं के अनुसार मिलने वाले सुख-दुःख हैं। बेन्थम ने इन चारों को मकान के उदाहरण से समझाया है। यदि यह मकान मनुष्य की अपनी असावधानी और अदूरदर्शिता से जलता है तो यह प्रकृति के प्रकोप का परिणाम है। यदि यह आग लगने के समय सहायता न देने वाले पड़ोसियों की दुर्भावना से भस्म हुआ है तो यह लोकमत से प्राप्त होने वाला दुःख या दण्ड है। यदि यह मकान मैजिस्ट्रेट की आज्ञा से जलाया गया है तो यह राजनीतिक स्रोत से मिलने वाला दण्ड है। यदि इसका अन्त किसी देवता के रोष का परिणाम माना जाता है तो यह धार्मिक स्रोत से मिलने वाला दुःख है।

बेन्थम का विश्वास था कि उपयोगिता का सिद्धान्त स्वतः सिद्ध है, इसे अन्य प्रमाणों से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है; इस दुनिया में नैतिक भावना या अन्तःकरण नाम की कोई वस्तु नहीं है। क्योंकि अन्तःकरण का अर्थ यही है कि हम किसी वस्तु को पसन्द या नापसन्द करते हैं। यह हम सुख या दुःख के आधार पर करते हैं, अतः अन्तःकरण को मानने की आवश्यकता नहीं है। सत्-असत्, धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय सब उपयोगिता पर आधारित हैं, ये कोई स्वतन्त्र वस्तुएँ नहीं हैं। सत्-असत् को भगवान् की इच्छा या व्यवस्था स्वीकार करने वालों के लिए बेन्थम का यह उत्तर था कि भगवान् हमें अपनी वाणी द्वारा यह नहीं बताता कि उसे क्या वस्तु आनन्द

देती है। जिस वस्तु को हम अपने-आपको सुख देने वाला समझते हैं, उसे भगवान् की इच्छा बता देते हैं। इसके साथ बेन्थम इरादे या अभिप्राय (motive) को स्वीकार नहीं करता था। सुख और दुःख अपने-आपमें उद्देश्य हैं, इनके होते हुए अच्छे और बुरे इरादों को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार बेन्थम ने सत्-असत्, धर्म-अधर्म की परीक्षा के लिए नैतिकता की सभी पद्धतियों को, ईश्वर की इच्छा को और धर्मशास्त्र को तिलांजलि दे दी, वह नैतिक बुद्धि या कानून के किसी नियम को स्वीकार करने को तत्पर न था। इन सब को वह आत्मगत (subjective) कल्पना मात्र मानता था। उसके विचार में सत्-असत्, भलाई-बुराई नापने का कोई वैज्ञानिक, और बाह्य, मानसिक कल्पनाओं से प्रभावित न होने वाला नपैना होना चाहिए था। यह उपर्युक्त **आनन्दमापक पद्धति** (Felicific Calculus) था। बेन्थम सभी मानवीय भावनाओं को प्राकृतिक एवं स्वाभाविक समझता था। कोई भी भावना अप्राकृतिक नहीं थी। इनका अच्छा या बुरा होना इनके परिणामों पर निर्भर था। सुख या दुःख पैदा करने के कारण ये भावनाएँ अच्छी और बुरी होती हैं। बेन्थम का यह विश्वास था कि मनुष्यों का राज्य या धर्म जैसी अमूर्त्त सत्ताओं या संस्थाओं के प्रति कोई कर्त्तव्य नहीं है, उनके कर्त्तव्य केवल सुख और दुःख की अनुभूति रखने में समर्थ अन्य मनुष्यों के प्रति हैं।

(२) **राज्य की उत्पत्ति**—बेन्थम से पहले राज्य की उत्पत्ति सामाजिक समझौते (Social Contract) का परिणाम समझी जाती थी। रूसो आदि ने इसका प्रवल प्रतिपादन किया था, किन्तु बेन्थम ने इसका उग्र विरोध किया। वह यह नहीं मानता था कि राज्य का जन्म तथा इसके नागरिकों के अधिकार और कर्त्तव्य किसी समझौते या अनुबन्ध से उत्पन्न होते हैं। मनुष्यों द्वारा राज्य के आदेशों और कानूनों का पालन करने का कारण कोई पुराना समझौता नहीं, किन्तु वर्तमान काल में प्राप्त होने वाला लाभ और उपयोगिता है। ब्लैकस्टोन ने कहा था कि मनुष्य एक आदिम सामाजिक समझौते के कारण राज्य के प्रति अपने दायित्वों और कर्त्तव्यों को पूरा करते हैं। बेन्थम के मतानुसार ऐसा कोई समझौता कभी नहीं हुआ था, यदि कोई ऐसा समझौता हुआ भी हो तो वह वर्तमान पीढ़ी को उससे नहीं बाँध सकता था। राज्य के आदेशों का पालन केवल इसलिए होता है कि यह उपयोगी है और सामान्य हित तथा सुख को बढ़ाने वाला है। राज्य के नियमों के आज्ञापालन से होने वाले लाभ आज्ञाभंग के दुष्परिणामों से अधिक हैं। अतः बेन्थम की दृष्टि में राज्य का आधार उपयोगिता से उत्पन्न होने वाली आज्ञापालन की आदत है, सामाजिक अनुबन्ध नहीं है।

(३) **प्राकृतिक अधिकारों का खण्डन**—बेन्थम के समय में थामस पेन तथा गाडविन जैसे विचारकों ने मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों पर बहुत बल दिया था। यह कहा जाता था कि मनुष्य को स्वतन्त्रता और समानता के अधिकार प्रकृति के नियम से मिले हुए हैं। बेन्थम प्रकृति को एक अस्पष्ट शब्द समझता था, इसलिए प्राकृतिक कानून और प्राकृतिक अधिकारों को बिलकुल निरर्थक और बेहूदा समझता था। उसकी दृष्टि में कानून सर्वोच्च सत्ता रखने वाले की इच्छा होती है। यह इच्छा

भगवान् या मनुष्य में ही सम्भव है, प्रकृति में ऐसी कोई इच्छा नहीं होती। अतः प्राकृतिक कानून या अधिकार नाम की कोई वस्तु नहीं है। उसने समानता और स्वतन्त्रता के अधिकारों की खिल्ली उड़ाते हुए लिखा था—"पूर्ण स्वतन्त्रता पूर्ण रूप से असम्भव है। पूर्ण स्वतन्त्रता प्रत्येक प्रकार की सरकार की सत्ता की प्रत्यक्ष विरोधी है। क्या सब मनुष्य स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होते हैं? क्या वे स्वतन्त्र रहते हैं?··· एक भी आदमी ऐसा नहीं है। इसके विपरीत सब मनुष्य पराधीन पैदा होते हैं।" अधिकार प्राकृतिक नहीं हैं, किन्तु उपयोगिता पर आधारित कानून से बनाए जाते हैं।

सर्वोच्च सत्ता तथा अधिकार विषयक सिद्धान्त—बेन्थम के मतानुसार शासक को प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में कानून बनाने के असीम और अनन्त अधिकार थे। सर्वोच्च सत्ता (sovereignty) रखने वाले शासक पर केवल एक ही प्रतिबन्ध की कल्पना की जा सकती है, यह प्रतिबन्ध जनता के हितों और स्वार्थों का था। सामान्यतः प्रजाजनों को अपने राजा का विरोध करने का कोई कानूनी अधिकार नहीं था, उनका यह कर्त्तव्य था कि वे राजा के आदेशों का पूर्ण पालन करें। किन्तु यदि राजा के आदेश का प्रतिरोध करना उसके आदेश के पालन करने की अपेक्षा अधिक उपयोगी तथा सुख देने वाला हो तो प्रजा का यह नैतिक कर्त्तव्य था कि वह राजा का विरोध करे। राजा द्वारा असीम शक्तियों का प्रयोग उपयोगिता के सिद्धान्त पर आधारित था।

बेन्थम के समय के अन्य विचारक नागरिकों के अधिकारों पर बहुत बल देते थे, लिखित संविधानों तथा कानूनों द्वारा इन अधिकारों को सुरक्षित बनाना महत्वपूर्ण समझते थे, इनके अनुसार राजा को अपनी प्रजा को ये अधिकार देने पड़ते थे। किन्तु बेन्थम लिखित संविधानों का समर्थक होते हुए भी यह नहीं मानता था कि सर्वोच्च सत्ता नागरिकों के अधिकारों को सुरक्षित बनाए रखने के लिए सीमित की जा सकती थी। इसका प्रधान कारण उसका अधिकार विषयक सिद्धान्त था। वह इन्हें भी उपयोगिता के आधार पर उत्पन्न होने वाला समझता है। 'क' नामक व्यक्ति के अधिकार के साथ कर्त्तव्य का विचार जुड़ा हुआ है और कर्त्तव्य का आधार उपयोगिता या वैयक्तिक हित के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। 'ख' नामक व्यक्ति 'क' के अधिकारों के सम्बन्ध में अपने कर्त्तव्य का पालन तब तक नहीं करेगा, जब तक कि इसके परिणाम उसके लिए अन्य कोई कार्य करने की अपेक्षा अधिक हितकर न हों अथवा राज्य द्वारा वह ऐसा करने के लिए बाधित न किया जाए। अतः वैयक्तिक अधिकारों का मूल सर्वोच्च शासक है, इसका आधार उपयोगिता का सिद्धान्त है, प्राकृतिक अधिकारों की कल्पना निराधार है।

शासन-पद्धति—शासन के विषय में प्रमुख सिद्धान्त यह होना चाहिए कि वह अधिकतम प्रजाजनों को अधिकतम सुख प्रदान कर सके। इसका लक्ष्य सुख को बढ़ाना होना चाहिए, न कि दुःख को। अतः शासन-विधान इस दृष्टि से व्यवस्थित किया जाना चाहिए कि वह इस उद्देश्य की पूर्ति कर सके। बेन्थम के शब्दों में "सब व्यक्ति इस बात में सहमत हैं कि शासन-सत्ता उन व्यक्तियों को दी जानी चाहिए, जिनमें भगवान् में पाए जाने वाले बुद्धिमत्ता, भलाई और शक्ति के तीन महान् गुण हों। उनमें इस बात

की बुद्धि हो कि वे समुदाय के वास्तविक हितों को समझ सकें, उनमें इतनी भलाई हो कि वे वास्तविक हितों की प्राप्ति के लिए सदैव प्रयत्न करते रहें और उनमें इतनी शक्ति हो कि वे अपने ज्ञान को क्रियात्मक रूप में परिणत कर सकें।" लोकतन्त्र में भलाई का गुण अधिक होता है, कुलीनतन्त्र में बुद्धि के गुण की तथा राजतन्त्र में शक्ति के गुण की प्रधानता होती है। किन्तु इन तीनों में लोकतन्त्र या गणतन्त्र की व्यवस्था श्रेष्ठ है, क्योंकि यह अन्य शासनों की अपेक्षा अधिकतम संख्या के अधिकतम हित को अधिक अच्छी तरह से पूरा करता है। राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र इस उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकते। अतः बेन्थम गण-राज्यों की स्थापना द्वारा इस बुरी दुनिया को अच्छा बनाना चाहता था।

तत्कालीन ब्रिटिश शासन-पद्धति को वह ब्लैकस्टोन की भांति पूर्ण नहीं मानता था और इसमें कई सुधार करना चाहता था। पहला सुधार सार्वभौम पुरुष मताधिकार (Universal Manhood Sufferage) का था। उस समय पार्लियामैण्ट का सदस्य चुनने का अधिकार बहुत ही कम व्यक्तियों को था तथा यह भ्रष्टाचार का प्रधान स्रोत था। बेन्थम प्रत्येक साक्षर बालिग पुरुष को मताधिकार देना चाहता था, शासन में अधिक-से-अधिक व्यक्तियों को मताधिकार देकर ही अधिकतम लोगों के हित को सुरक्षित बनाया जा सकता था। उस समय तक स्त्रियों के मताधिकार की चर्चा और मांग प्रबल नहीं हुई थी। उसका दूसरा सुधार पार्लियामैंण्ट के वार्षिक चुनाव (Annual Parliaments) कराने का था। वह यह समझता था कि यदि प्रतिवर्ष चुनाव होंगे तो सदस्य अधिक क्रियाशील होंगे, उन्हें स्वार्थ सिद्धि का अधिक अवसर नहीं मिल सकेगा, निर्वाचकों को सदस्यों की योग्यता जाँचने के अधिक अवसर मिलेंगे। उसका तीसरा सुधार गुप्त मतदान प्रणाली का था। इससे चुनाव निष्पक्ष रीति से हो सकेंगे, मतदाताओं को डरा-धमकाकर अथवा खिला-पिलाकर उनसे वोट नहीं लिए जा सकेंगे। उसका चौथा सुधार उपरले सदनों का विरोध था, वह लार्डसभा का उग्र विरोधी था, उसके मतानुसार यह विशिष्ट स्वार्थों का अड्डा और प्रगति का विरोधी था। वह इंगलैण्ड में राजतन्त्र को भी समाप्त करना चाहता था, क्योंकि उसके विचार में गणतन्त्रीय शासन-प्रणाली में शासक एवं शासितों के हितों में अभिन्नता होती है और इससे अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख मिलता है।

आर्थिक विचार—बेन्थम इस विषय में कुछ अर्थों में एडम स्मिथ का अनुयायी था। उसके मत में सरकार को आर्थिक मामलों में यथासम्भव कम-से-कम हस्तक्षेप करना चाहिए, किन्तु सूद या ब्याज के सम्बन्ध में वह एडम स्मिथ से सहमत नहीं था; उसके मतानुसार राज्य को सूदखोरी के विरुद्ध कानून नहीं बनाना चाहिए था। उसने १७८७ में प्रकाशित '**सूदखोरी का समर्थन**' (Defence of Usuary) नामक पुस्तक में इस मत का प्रतिपादन किया था। वह व्यापार की सब बाधाओं और प्रतिबन्धों को हटाकर स्वतन्त्र अथवा मुक्त व्यापार की नीति अपनाने का प्रबल समर्थक था। उसके मत में प्रतिबन्धरहित प्रतियोगिता समाज के लिए हितकर थी, वह एकाधिपत्य की तथा सरकारी सहायता देने की प्रणाली का तथा साम्राज्य का विरोधी था। उसे साम्राज्य का विचार तनिक भी पसन्द नहीं था, अतः उसके मत में व्यापार की दृष्टि

से उपनिवेशों को प्राप्त करना ठीक नहीं था, इन कार्यों में लगाया जाने वाला धन अन्य कार्यों में अधिक उपयोगी रूप से व्यय किया जा सकता था। उसने १७९३ में 'उपनिवेशों को मुक्त कीजिए' (Emancipate your Colonies) में अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। उपनिवेशों का ब्रिटिश नियन्त्रण में रहना वह मानव-जाति के हित के लिए समझता था, किन्तु उसके मत के अनुसार इंगलैण्ड के लिए उपनिवेश सम्पत्ति का स्रोत नहीं बन सकते थे। १८२८ में बेन्थम ने कनाडावासियों द्वारा पूर्ण पार्थक्य की माँग करने वाले एक आवेदन-पत्र का मस्विदा या प्रारूप तैयार किया था। उपयोगितावादियों को उपनिवेशों का परित्याग करने में तनिक भी झिझक नहीं थी, किन्तु अपने जीवन के संध्या-काल में बेन्थम साम्राज्य के भीतर उपनिवेशों को स्वायत्त शासन का अधिकार देने के विचार का समर्थन करने लगा था। सम्भवतः भारत का पहला इतिहास लिखने वाले, ईस्ट इंडिया कम्पनी के कर्मचारी तथा अपने भक्त जेम्स मिल के कारण बेन्थम ने भारत के मामलों में दिलचस्पी ली तथा भारत की कानूनी तथा न्यायिक पद्धति के सम्बन्ध में एक योजना बनाई। आस्ट्रेलियन उपनिवेशों के स्वशासन के बारे में भी बेन्थम ने एक योजना तैयार की।

व्यक्तिवाद—बेन्थम अन्य व्यक्तिवादी (Individualist) विचारकों की भाँति राज्यों को एक आवश्यक बुराई मानता था। उपयोगिता की दृष्टि से राज्य के नियम मनुष्य की स्वतन्त्रता में बाधा पहुँचाते हैं, अतः वे नियम बुरे हैं। किन्तु इन नियमों के बिना सभ्य जीवन का यापन करना असम्भव है, अतः राज्य की सत्ता मानना आवश्यक हो जाता है। किन्तु राज्य को नागरिकों की स्वतन्त्रता बनाए रखने के लिए न्यूनतम नियम बनाने चाहिएँ। राज्य के नियम औषधि जैसे हैं, जिस प्रकार सामान्य रूप से स्वस्थ मनुष्य औषधि का प्रयोग कम-से-कम करना चाहता है, वैसे ही मनुष्य यह चाहता है कि राज्य के नियम कम-से-कम हों। अतः राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह कम-से-कम नियम बनाए और व्यक्ति को अधिकाधिक स्वतन्त्र वातावरण में छोड़े। उसके मत में समष्टि या समुदाय काल्पनिक संस्था है, यह इसकी रचना करने वाले व्यक्तियों से बनता है। समष्टि हित क्या है ? यह इसका निर्माण करने वाले व्यक्तियों का हित है। व्यक्ति के हित को समझे बिना समष्टि या समुदाय के हित की कल्पना करना कोरी बकवास है। जो वस्तु व्यक्ति के हित और सुख को बढ़ाने में सहायक होती है, वह समष्टि के हित को भी बढ़ाने वाली होती है। इसका यह भी कारण है कि मनुष्य स्वयं अपने सुख-दुःख का ज्ञाता है, समुदाय या राज्य इनका इतना अच्छा ज्ञाता नहीं हो सकता, अतः राज्य को शान्तिस्थापना और सुरक्षा के क्षेत्र में ही नियमों का निर्माण करना चाहिए, अन्य क्षेत्रों में व्यक्ति को पूरी स्वतन्त्रता देनी चाहिए। राज्य को चिकित्सक की भाँति सोच-समझकर किन्हीं भीषण विकारों (चोरी, हिंसा, विदेशी आक्रमण) को रोकने के लिए नियम बनाने चाहिएँ। राज्य का हस्तक्षेप तभी आवश्यक और उचित है जब वह वैयक्तिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा में सहायक हो।

कानून तथा न्यायव्यवस्था—बेन्थम के जीवन का एक प्रधान लक्ष्य तत्कालीन कानून की पद्धति में सुधार करना था। वह कानून को सर्वोच्च शासक की इच्छा की अभिव्यक्ति मानता था और प्रकृति के कानून की सत्ता को अस्वीकार करता था।

उसके मतानुसार कानून एवं न्याय का उद्देश्य राज्य में सुख की वृद्धि करना था। इस दृष्टि से उस समय के कानून में और न्यायव्यवस्था में कई गम्भीर दोष थे, इनको अविलम्ब दूर किया जाना आवश्यक था। कानून के बड़े दोष इसकी अस्पष्टता, दुर्बोधता, अव्यवस्थितता, संदिग्धता, दुरूहता, दकियानूसीपन, जटिलता, अनावश्यक और अप्रचलित पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग थे। इसके लिए यह आवश्यक था कि कानून को सरल, सुबोध एवं सुगम शब्दों में अभिव्यक्त किया जाए, विभिन्न नियमों और कानूनों को एक विधान-संहिता में सुस्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया जाए ताकि किसी को इसके समझने में कोई कठिनाई या सन्देह न हो। अतः बेन्थम संहिताकरण (Codification) का प्रबल समर्थक था और उसने स्वयमेव अन्तर्राष्ट्रीय कानून की, दीवानी फौजदारी और संवैधानिक कानूनों की ऐसी संहिताएँ तैयार की थीं। उसने विधिशास्त्र (Jurisprudence) को राजनीति से पृथक् करना आरम्भ किया; इस कार्य को उसके शिष्य जॉन आस्टिन ने पूरा किया।

इंगलैण्ड की तत्कालीन न्यायव्यवस्था में कई गम्भीर और भीषण दोष थे। यह बड़ी व्ययसाध्य थी, न्याय प्राप्त करने में बहुत समय लगता था, यह अनिश्चित थी, न्याय का क्रय-विक्रय होता था। बेन्थम के शब्दों में, "इस देश में न्याय बेचा जाता है और बड़े महँगे दामों पर बेचा जाता है, जो व्यक्ति व्यय नहीं कर सकता, वह न्याय नहीं प्राप्त कर सकता।" दण्डविधान बड़ा कठोर था, २०० से अधिक अपराधों के लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था थी। १८०१ में १२ वर्ष के एक बालक को एक चमच चुराने के अपराध में प्राणदण्ड दिया गया था। बेन्थम ने उस समय के जजों और वकीलों की बड़ी तीखी आलोचना की है। उसके मत में उस समय के न्यायाधीश जिन अतीव दुष्ट व्यक्तियों को प्राणदण्ड देते थे उनकी दुष्टता (maleficence) न्यायाधीशों की दुष्टता से कम थी। वकीलों के बारे में उसकी यह सम्मति थी कि "ये आलसी, सत्-असत् का विवेक करने में असमर्थ, अदूरदर्शी, जिद्दी, सार्वजनिक उपयोगिता के सिद्धान्त की परवाह न करने वाले, स्वार्थी तथा अधिकारियों के इशारों पर नाचने वाले होते हैं।" बेन्थम की उग्र आलोचनाओं के कारण १९वीं शताब्दी में इंगलैण्ड की कानून एवं न्याय के प्रशासन की व्यवस्था में अनेक क्रान्तिकारी सुधार और परिवर्तन हुए।

दण्डव्यवस्था—बेन्थम के मतानुसार दण्डव्यवस्था का उद्देश्य समाज में अपराधों को रोकना है, न कि अपराधी से बदला लेना। दण्ड न तो बहुत कठोर होना चाहिए और न अत्यन्त मृदु। यह परिस्थितियों के अनुसार ही दिया जाना चाहिए। जनता की भलाई और समाज का कल्याण ही दण्डव्यवस्था की कसौटी होनी चाहिए। किन्तु इसके साथ ही अपराधी को ऐसा दण्ड दिया जाना चाहिए कि इससे भयभीत होकर अन्य लोग ऐसे अपराध न करें। दण्ड अपराध के अनुरूप और उसका समानुपाती होना चाहिए, चमच जैसी चोरी के लिए प्राणदण्ड का विधान अतीव कठोर व्यवस्था है। दण्ड के समय में अपराधी के सुधार का भी ध्यान रखना चाहिए। दण्ड देते हुए अपराधी के व्यवहार, उसके पहले जीवन, उसके उद्देश्य, उसके द्वारा हानि पहुँचाए जाने वाले व्यक्तियों की तथा अपराध किए जाने की परिस्थितियों पर विचार किया

जाना चाहिए। दण्ड निश्चित और निष्पक्ष होना चाहिए। बेन्थम के ये सभी विचार शनैः-शनैः सभी सभ्य देशों ने स्वीकार कर लिए और इनके अनुसार दण्डपद्धति में सुधार कर दिए गए। बेन्थम के समय इंगलैण्ड में २०० से अधिक अपराधों के लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था थी, बाद में यह केवल राजद्रोह तथा हत्या के दो अपराधों तक ही मर्यादित कर दी गई।

जेलखानों का सुधार—बेन्थम अपने समय के जेलखानों की शोचनीय दशा से बड़ा क्षुब्ध और असन्तुष्ट था। उस समय बन्दियों के साथ पाशविक व्यवहार किया जाता था। उन्हें अंधेरी कोठरियों में ठूँसकर रखा जाता था, खाना रद्दी-से-रद्दी दिया जाता था, बाल-अपराधी और बड़ी आयु के पक्के अपराधी एकसाथ रखे जाते थे। इससे कारावास से बच्चे पक्के अपराधी बनकर निकलते थे। इस समय हावर्ड ने बन्दियों की दशा सुधारने का प्रयास आरम्भ किया, बेन्थम ने उसे पूरा सहयोग दिया और बन्दियों को सुधारने की अपनी **सर्वद्रष्टा** (Panopticon) योजना बनाई। वह इसे दुष्ट अपराधियों को पीसकर ईमानदार व्यक्ति बनाने वाली चक्की समझता था। इस योजना के अनुसार बन्दीगृह के भवन का निर्माण चक्र के रूप में किया जाना था, इसके मध्य में ऊँचे स्थान पर रहने वाले जेलर ने सब कैदियों पर अपने केन्द्रीय स्थान से दृष्टि रखनी थी, अतः इसे सर्वद्रष्टा (Panopticon, pan=सब, optic=आँख) का नाम दिया गया। इस स्थान से, अपराधियों द्वारा अपने कमरों में किए जाने वाले कार्यों को, जेलर देख सकता था। जेलों में कैदियों की दशा सुधारने के लिए प्रयास किया जाना चाहिए, उनसे दण्ड के रूप में कठोर श्रम नहीं लेना चाहिए, अपितु उन्हें यहाँ ऐसा काम सिखा देना चाहिए कि वे कारागृह से मुक्त होने पर स्वतन्त्रतापूर्वक जीवनयापन कर सकें। उन्हें खाली समय में प्राथमिक शिक्षा, नैतिक और धार्मिक शिक्षा दी जानी चाहिए। बेन्थम तनहाई कैद या एकान्त कक्ष में अपराधियों को बन्द करने का विरोधी था : "मन को खाली रखकर मन का सुधार नहीं हो सकता, इसे अच्छे विचारों से भरा जाना चाहिए"। बेन्थम की सर्वद्रष्टा कारागार की योजना यद्यपि पार्लियामैण्ट ने स्वीकार कर ली, किन्तु राजा जार्ज तृतीय के विरोध के कारण यह सफल नहीं हो सकी। बेन्थम ने इस योजना पर २० वर्ष तथा काफी पैसा लगाया था और उसे इसकी क्षतिपूर्ति के लिए २३ हजार पौण्ड भी मिले थे। यद्यपि इंगलैण्ड ने उसकी सर्वद्रष्टा कारागृह योजना को स्वीकार नहीं किया, किन्तु अन्य देशों ने इसका स्वागत किया। संयुक्त राज्य अमेरिका में इलिनाय राज्य में जोलियट का कारागृह बेन्थम के आदर्श के अनुसार बना और बेन्थम के उपर्युक्त विचार सभी देशों में जेलों के सुधारों का एक प्रधान स्रोत थे।

अन्य सुधार—बेन्थम ने शिक्षा और धर्म के क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण सुधारों की योजनाएँ रखीं। सम्भवतः जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं था जो उसकी दृष्टि से अछूता रहा हो। काटलिन के शब्दों में उसने इन क्षेत्रों में सुधार प्रस्तावित किए—फौजदारी कानून, अपराध का सिद्धान्त, आजीवन निर्वासन के दण्ड के लिए उपनिवेशों में भेजा जाना, सूदखोरी तथा कैथोलिक अनर्हता कानूनों को रद्द करना, दरिद्र कानूनों को व्यवस्थित बनाना, पार्लियामैण्ट की प्रतिनिध्यात्मक प्रणाली का सुधार, मुक्त व्यापार,

स्त्रियों का मताधिकार, गुप्त मतदान प्रणाली, स्वास्थ्य और सफाई के नियमों का निर्माण, राष्ट्रीय शिक्षा, एक संगठन द्वारा तथा विश्व न्यायालय द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को बनाए रखना।[1] यह सूची विस्तृत होते हुए भी अपूर्ण है। इसमें उसकी निम्नलिखित कुछ अन्य योजनाएँ भी सम्मिलित की जा सकती हैं—व्यापारी जहाजों के लिए एक संहिता का निर्माण, स्थानीय न्यायालयों का विकास, बचत बैंकों की स्थापना, आविष्कार करने वालों के लिए संरक्षण की व्यवस्था, गरीबों के लिए सार्वजनिक वकीलों और बैंकों की व्यवस्था, सरकारी अधिकारियों को पदों से हटाना, धार्मिक परीक्षा की व्यवस्था का अन्त करना, हट्टे-कट्टे भिखारियों का दमन, समर्थ किन्तु दरिद्र व्यक्तियों की शक्ति का उपयोग, निर्धनों की सन्तान का प्रशिक्षण, ऋण के लिए कारावास के दण्ड की समाप्ति, नगरपालिका पद्धति का सुधार, स्वेज़ और पानामा नहरों की योजना का निर्माण। एबेन्स्टाइन ने यह सत्य ही लिखा है कि "पिछली पाँच पीढ़ियों में ब्रिटेन में कोई ऐसा सुधार नहीं हुआ जिसका मूल प्रेरणा-स्रोत बेन्थम नहीं है। उसी के आन्दोलन से कानूनों की पुरानी पद्धतियों में तथा साक्षी लेने की विधियों में अनेक सुधार हुए; विवाह, तलाक, सम्पत्ति, व्यापार और ट्रेड यूनियनों के कानूनों में अनेक परिवर्तन उसके तथा उसके शिष्यों के आन्दोलन से हुए। फौजदारी कानूनों में बेन्थम तथा रोमिल्ली के प्रयत्न से कई प्रकार के क्रूरतापूर्ण दण्ड—औरतों को कोड़े मारना, अपराधियों को इंगलैण्ड से बाहर आस्ट्रेलिया आदि के उपनिवेशों में निर्वासित करना—बन्द हुए।[2]

बेन्थम के सिद्धान्तों की आलोचना—बेन्थम ने अपने सिद्धान्तों को बड़ा सरल और सुबोध बनाने का प्रयत्न किया था। किन्तु उसने उन्हें इतना अधिक सरल बना दिया कि इनमें कई बड़े-बड़े दोष उत्पन्न हो गए। उसके कथनानुसार उपयोगिता के सिद्धान्त की तीन आवश्यक शर्तें ये हैं—(१) यह स्पष्ट और शुद्ध (Precise) होना चाहिए। (२) मनुष्यों को प्रेरणा देने का यह पर्याप्त और एक मात्र कारण होना चाहिए। (३) नैतिक गणना-पद्धति (Moral Calculus) के अनुसार यह लागू किया जा सकने योग्य होना चाहिए। आलोचकों की दृष्टि में बेन्थम का उपयोगितावाद का सिद्धान्त उसके द्वारा निर्धारित की गई उपर्युक्त तीनों कसौटियों पर खरा नहीं उतरता है और उसमें निम्नलिखित गम्भीर दोष हैं—

(१) इसका पहला दोष यह है कि यह स्पष्ट नहीं है, किन्तु बड़ा अस्पष्ट और संदिग्ध है। उसका यह कथन है कि हमारे सब कार्यों का निर्धारण अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख के आधार पर होना चाहिए। ऊपर से देखने पर यह बड़ी सरल, स्पष्ट और सीधी बात प्रतीत होती है, परन्तु इसमें बड़ा दोष यह है कि इसमें यह नहीं बताया गया कि प्रधानता व्यक्तियों की संख्या को दी जाएगी या सुख की मात्रा को। ऐसी परिस्थिति में बेन्थम का सूत्र हमारी समस्या का समाधान करने में सर्वथा असमर्थ रहता है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। कल्पना

१. काटलिन पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३५८
२. एबेन्स्टाइन—ग्रेट पोलिटिकल थिंकर्स, पृ० ५०३-४

कीजिए कि हमें 'क' और 'ख' नामक दो प्रकार के कार्यों में से यह निश्चय करना है कि हम कौनसा कार्य करें। 'क' नामक कार्य १० व्यक्तियों में से प्रत्येक के लिए आनन्द की सौ मात्राएँ और इस प्रकार आनन्द की कुल एक हजार मात्राएँ (१० × १०० = १०००) उत्पन्न करता है। 'ख' नामक कार्य १०० व्यक्तियों में से प्रत्येक के लिए आनन्द की दस मात्राएँ उत्पन्न करके वही एक हजार मात्राओं (१०० × १० = १०००) का सुख प्रस्तुत करता है। मात्रा की दृष्टि से दोनों कार्य समान हैं, वे सुख की एक हजार मात्राएँ उत्पन्न करते हैं। किन्तु पहला कार्य कम व्यक्तियों को अधिक सुख देता है, दूसरा कार्य अधिक व्यक्तियों को कम सुख देता है। इस दशा में कार्य की उपयोगिता का निर्धारण व्यक्तियों के आधार पर किया जाए या प्रति व्यक्ति को प्राप्त होने वाले सुख की मात्रा के आधार पर, इस विषय पर बेन्थम कोई प्रकाश नहीं डालता।

यह बात एक अन्य उदाहरण से भी स्पष्ट हो जाएगी : यह सम्भव है कि कोई कानून बनाने से १० मिल-मालिकों में से प्रत्येक को ४००० रुपये का लाभ होता है और उन्हें कुल लाभ ४०००० रुपये होता है किन्तु इससे १००० मजदूरों की मजदूरी में दो-दो रुपये की कमी होकर उन्हें २००० रुपये की हानि होती है। अब यदि अधिकतम लाभ की दृष्टि से देखा जाए तो मिल-मालिकों का ४०००० रुपये का लाभ मजदूरों की २००० की हानि से अधिक है, अतः इस कानून का बनाना उपयोगी है। किन्तु यदि अधिकतम लोगों की दृष्टि से देखा जाए तो १० व्यक्तियों के लाभ की अपेक्षा १००० व्यक्तियों की हानि को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए, इस कारण इस कानून का बनाना अधिक उपयोगी प्रतीत होगा। ऐसी अवस्थाओं में अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख में अन्तर्विरोध उत्पन्न हो जाते हैं और इस विरोध के कारण उपयोगितावाद का यह सूत्र व्यावहारिक जीवन में हमारा पथप्रदर्शन नहीं कर सकता।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आरम्भ में बेन्थम का जो सूत्र हमें स्वतःसिद्ध और सरल प्रतीत होता है, वह वास्तव में ऐसा नहीं है। इसमें कई बार सुख और व्यक्तियों की संख्या एक-दूसरे का विरोध करने लगती हैं, यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि कौनसा मार्ग श्रेयस्कर है। बेन्थम का सिद्धान्त इस विषय में हमारा कुछ भी पथप्रदर्शन न करने के कारण अस्पष्ट एवं दूषित है। ऐसे प्रसंगों में बेन्थम की आनन्द-मापक गणना-पद्धति (Felicific Calculus) की वैज्ञानिक विधि विफल हो जाती है और गणित हमारी कोई सहायता नहीं कर सकता। मेक्कून ने सत्य ही लिखा है कि राजनीति में अंकगणित वैसे ही सहायक नहीं हो सकता जैसे अंकगणित में राजनीति सहयोग नहीं दे सकती।

(२) **दूसरा** दोष बेन्थम द्वारा सुख या भौतिक आनन्द को मानव-क्रियाओं और व्यापारों का एकमात्र प्रेरक कारण मान लेना है। क्या मनुष्य केवल सुख के लिए ही सब कार्य करता है? यदि ऐसा होता तो राजसी ठाठबाट और सब प्रकार के सुखों के बीच में रहने वाले सिद्धार्थ को गृह त्याग करने और जंगलों में बोधिज्ञान के लिए भटकने और तपस्या करके भीषण कष्ट उठाने की क्या आवश्यकता थी? देशभक्त क्रान्तिकारी भगतसिंह जैसे व्यक्ति फाँसी के तख्ते पर झूलने में अपूर्व गर्व और उल्लास

का क्यों अनुभव करते हैं, जिससे लगभग सभी व्यक्ति भय खाते हैं और बचते हैं। एक व्यक्ति अपने प्राण संकट में डालकर दूसरे व्यक्ति को डूबने से क्यों बचाता है ? एक चित्रकार, कवि या लेखक भूखा रहते हुए भी चित्र या कविता का निर्माण क्यों करता है ? माता स्वयं भूखी रहकर भी बच्चे को क्यों खिलाती है ? यह स्पष्ट है कि मानव-जीवन सुख-दु:ख की भौतिक भोगपरायण भावना के अतिरिक्त देशभक्ति, परोपकार, स्वार्थत्याग, प्रेम, नैतिकता, समाजसेवा, बौद्धिक और आध्यात्मिक सन्तुष्टि की भावनाओं से भी आन्दोलित होता है, इनसे भी उसके कार्य निर्धारित होते हैं। यदि भौतिक सुख ही मनुष्य का अभीष्ट लक्ष्य हो तो भीषण कष्ट उठाकर और जान जोखिम में डालकर मनुष्य एवरेस्ट आदि के दुर्गम पर्वतशिखरों पर क्यों चढ़ते हैं ? यदि मानव-जाति में कोरे सुख और उपयोगितावाद की ही सत्ता होती तो विश्व में बुद्ध, ईसा और महात्मा गांधी जन्म न लेते। बेन्थम का जीवन स्वयमेव इसका सुन्दर उदाहरण है, यदि उसे केवल भौतिक सुख प्राप्त करना होता तो वह वकालत करके खूब पैसा कमाता और ठाठ से जीवन बिताता, पचास वर्ष तक शुष्क लेखन-कार्य में और चिन्तन में न लगा रहता।

उपयोगितावादी विचारक ऐसा तर्क कर सकते हैं कि देशभक्त को फाँसी के तख्ते पर झूलने में आनन्द अनुभव होता है तथा माँ को स्वयं भूखा रहकर बच्चे को खिलाने में सुख की अनुभूति होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसमें आंशिक सत्य है, किन्तु बेन्थम जिस भौतिक सुख को आनन्द मानता है उसके अनुसार फाँसी पर लटकना या भूखा रहना कभी सुख नहीं माना जा सकता। वस्तुत: इन कष्टों को सुख मानना कुतर्क और वाक्छल मात्र है। देशभक्ति, त्याग और परोपकार को स्वार्थ-प्रधान सुख बताना मानव-प्रकृति की उदात्त भावनाओं को कलंकित करना है। जिस प्रकार सुख की खोज मनुष्य की प्रकृति का एक स्वाभाविक अंग है वैसे ही देशभक्ति, परोपकार आदि की उदात्त भावनाएँ भी उसके स्वभाव का मौलिक अंग हैं।

बेन्थम के मतानुसार यदि सुख को ही प्रेरक कारण मान लिया जाए तो मनुष्य के कर्त्तव्य और स्वार्थ का संघर्ष समाप्त हो जाएगा, बेन्थम ऐसा ही मानता है; किन्तु यह सामान्य अनुभव के प्रतिकूल है। दैनिक जीवन में हमें इस संघर्ष के अनेक उदाहरण मिलते हैं। राज्याभिषेक के दिन १४ वर्ष के लिए वनवास देने वाले पिता की आज्ञा से श्रीरामचन्द्र के सामने ऐसा ही कर्त्तव्य और स्वार्थ का संघर्ष उपस्थित हुआ था। उनका स्वार्थ और भौतिक सुख राजा बनने में था, किन्तु वे पिता की आज्ञा को अपना कर्त्तव्य समझकर वन में चले गए। बेन्थम के मतानुसार उन्हें राजगद्दी पर ही बैठना चाहिए था।

(३) **तीसरा** दोष सुख का मात्रात्मक होना है, गुणात्मक होना नहीं। जोन्स ने लिखा है कि बेन्थम का एक यह भी दोष है कि वह आनन्द को हलवे या केक की भाँति ऐसा भौतिक पदार्थ समझता है जिसे विभिन्न खण्डों में विभक्त किया जा सकता है।[1] उसकी दृष्टि में विभिन्न पदार्थों और कार्यों से प्राप्त होने वाले आनन्द विभिन्न

---

१. जोन्स—मास्टर्स आफ पोलिटिकल थाट, पृ० ३७४

प्रकार के नहीं हैं। उदाहरणार्थ, हमें कुछ आनन्द भ्रमण करने से प्राप्त होता है और कुछ घर पर रहने से। जब हम घूमने के स्थान पर घर पर रहने का निर्णय करते हैं तो बेन्थम के मतानुसार यह इसलिए किया जाता है कि आनन्द की जितनी मात्रा घर पर रहने से मिलती है उतनी घूमने से नहीं मिलती। घर पर रहने की सुख की मात्रा का मूल्य घूमने के आनन्द की मात्रा से अधिक है, किन्तु दोनों आनन्दों में प्रकार अथवा गुण का कोई अन्तर नहीं है। मात्रा पर बल देने के कारण बेन्थम सुख का मात्रात्मक या संख्यात्मक (Quantitative) रूप मानता है, किन्तु वह सुखों के प्रकार या गुण के आधार पर कोई गुणात्मक (Qualitative) भेद नहीं करता। उदाहरणार्थ, उपर्युक्त उदाहरण में हमें घर में रहने से बच्चों के साथ खेलने और मनोरंजन करने के, पत्नी के साथ रहने तथा बातचीत करने के आनन्द प्राप्त होते हैं; ये घूमने में मित्रों से मिलने-जुलने, गपशप करने, खेल-तमाशा देखने के आनन्द से सर्वथा भिन्न प्रकार के आनन्द हैं। हमें अच्छा भोजन खाने से, संगीत सुनने से, कबड्डी खेलने से और कविता का रसास्वादन करने से जो आनन्द मिलते हैं वे एक जैसे नहीं हैं। एक चित्रकार को अपना चित्र बनाने में जो आनन्द मिलता है वह उस चित्र को देखने वाले के आनन्द से भिन्न है। मलाई की बर्फ या रसगुल्ले खाने से मिलने वाला आनन्द कालिदास अथवा शेक्सपीयर की साहित्यिक कृतियों के अनुशीलन से मिलने वाले साहित्यिक आनन्द के समान नहीं है। आनन्दों और सुखों के अनन्त भेद और प्रकार हैं तथा गुणों की दृष्टि से इनमें बड़ा तारतम्य और अन्तर है। उदाहरणार्थ, सर्दियों में रज़ाई ओढ़कर सोने में एक बड़ा आनन्द है तथा भीषण सर्दी को सहते हुए एवरेस्ट पर्वत के शिखर पर चढ़ने में भी एक आनन्द है। इन दोनों सुखों में बेन्थम के अनुसार केवल मात्रा का ही भेद माना जाना चाहिए, किन्तु इनमें गुणात्मक भेद भी है। रज़ाई में लेटे रहना निष्क्रिय एवं आलस्यपूर्ण होने के कारण निकृष्ट कोटि का आनन्द है, एवरेस्ट पर आरोहण सक्रिय, साहसपूर्ण, अद्भुत और असाधारण कार्य होने के कारण एक उत्कृष्ट कोटि का आनन्द है। बेन्थम का सिद्धान्त सुख की मात्रा पर ही बल देने के कारण और सुख के प्रकार या गुणों की उपेक्षा करने के कारण दोषपूर्ण है। बेन्थम के प्रसिद्ध अनुयायी जॉन स्टुअर्ट मिल ने सुख एवं उपयोगिता में गुण के भेद को भी स्वीकार किया है और यह माना है कि सुख को केवल मात्रा के मापदण्ड से ही नहीं परखा जा सकता।

(४) **चौथा** दोष यह है कि बेन्थम द्वारा बताई गई पद्धति से सुखों की मात्रा को सही ढंग से मापना सम्भव नहीं है क्योंकि इसमें विभिन्न विरोधी तत्वों की आपेक्षिक तुलना करने या मूल्यांकन करने की और मापने की निश्चित पद्धति नहीं बताई गई। उदाहरणार्थ बेन्थम ने यह कहा है कि सुख की मात्रा को निश्चित करते हुए हमें प्रगाढ़ता (intensity) और अवधि (duration) को देखना चाहिए। यदि कुछ सुख हमें समान रूप से घनी मात्रा में तथा समान काल के लिए आनन्द देते हैं तो उनकी मात्रा के निर्धारण में कोई कठिनाई नहीं है। किन्तु यदि एक सुख की प्रगाढ़ता कम तथा अवधि अधिक है तथा दूसरे की प्रगाढ़ता अधिक तथा अवधि कम है तो इन दोनों के सुखों की मात्रा और तारतम्य का निर्धारण कैसे हो? प्रगाढ़ता और अवधि के आपेक्षिक

महत्व को किस प्रकार निश्चित किया जाए। इस विषय में मौन रहने के कारण बेन्थम की आनन्दमापक पद्धति हमारे लिए निरुपयोगी है।

सुख और दुःख की मात्रा के निर्धारण में एक बड़ी कठिनाई यह भी है कि व्यक्तियों की रुचि, समय और परिस्थितियों के कारण सुख-दुःख की मात्रा में परिवर्तन आता रहता है। यह आवश्यक नहीं है कि एक व्यक्ति को जो वस्तु सुख देने वाली हो वह दूसरे को भी सुख देने वाली होगी। हिन्दी की एक कहावत है—किसी को बैंगन अच्छे लगते हैं और कोई उनसे चिढ़ता है। 'भिन्नरुचिर्हि लोकः'। किसी को शास्त्रीय संगीत के श्रवण में आनन्द आता है और किसी को फिल्मी गाने सुनने में। किसी को चिल्लाने-शोर मचाने में सुख मिलता है, किसी को चुप रहने में। रुचि-वैचित्र्य के कारण सुख का हिसाब लगाना और अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख का निर्धारण करना बहुत कठिन है। वस्तुतः यह बड़ा अस्पष्ट और अनिश्चित है। ऊपर से देखने में अधिकतम संख्या के अधिकतम हित का विचार जितना आसान एवं स्पष्ट प्रतीत होता है, गम्भीर विचार करने पर यह उतना ही कठिन और दुर्बोध मालूम होता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि इस आनन्दवादी सिद्धान्त में सरलता और स्पष्टता है, किन्तु गम्भीरता नहीं है।

(५) **पाँचवां** दोष नैतिकता के सिद्धान्तों को तिलांजलि देना है। बेन्थम भारतीय चार्वाकों की भाँति केवल भौतिक आनन्दों को महत्व देता है और उनके आधार पर उपयोगिता के सिद्धान्त को स्थापित करता है। उसकी दृष्टि में उच्च नैतिक भावना, अन्तःकरण और सत्-असत् या धर्म-अधर्म का कोई स्थान नहीं है। उदाहरणार्थ, दस गुण्डे एक भले आदमी को लूटते हैं। इस दशा में अधिकतम लोगों का सुख तो इसी में है कि एक सज्जन व्यक्ति को लूट लिया जाए, क्योंकि इसमें दस को लाभ है, केवल एक को ही हानि है। किन्तु क्या ऐसा होना चाहिए? नीतिशास्त्र हमें यह बताता है कि ऐसा नहीं होना चाहिए, दस दुष्टों के सुख की अपेक्षा एक सज्जन का हित-सम्पादन अधिक वांछनीय है। किन्तु बेन्थम के विचार में नैतिकता का कोई स्थान न होने से ऐसा सम्भव नहीं है। बर्ट्रेण्ड रसेल ने ठीक ही लिखा है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति वास्तव में तथा अनिवार्य रूप से अपने लिए आनन्ददायी वस्तु को पाना चाहता है तो यह कहना निरर्थक है कि उसे कोई काम करना चाहिए। यदि हर आदमी को सदैव अपने आनन्द का अनुसरण करना हो तो नीतिशास्त्र दूरदर्शिता के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाता। उपयोगितावाद के मन्तव्यों से आप इसके सिवाय कोई परिणाम नहीं निकाल सकते।"[1]

मर्रे ने इस विषय में सत्य ही लिखा है कि "यदि बेन्थम के मतानुसार हम अन्तःकरण को स्वीकार नहीं करते तो नैतिक और अनैतिक कार्य का कोई भेद नहीं रहेगा, केवल उपयोगी तथा अनुपयोगी कार्य ही रहेंगे। यदि व्यक्ति के अन्तःकरण को अस्वीकार किया जाए तो इन व्यक्तियों से बनने वाले समाज का सामूहिक अन्तःकरण नहीं होगा। अपराधी को समाज की निन्दा की अनुभूति नहीं होगी।"[2] यह समाज में

१. बर्ट्रेण्ड रसेल—हिस्टरी आफ वैस्टर्न पोलिटिकल थाट, पृ० ८०६
२. मर्रे—हिस्टरी आफ पोलिटिकल साइन्स, पृ० ३१४

घोर अनैतिकता और अव्यवस्था को उत्पन्न करने वाली अत्यन्त अवांछनीय और हानिकर स्थिति होगी।

(६) इस सम्बन्ध में एक बड़ा दोष यह है कि यह समाज की बहुसंख्या को अल्पसंख्यकों को कुचलने तथा उन पर अत्याचार करने का अवसर प्रदान करता है। यदि आनन्द मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है तो उसे पाने का अधिकार सब को दिया जाना चाहिए। किन्तु बेन्थम का सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्ति के आनन्द पर नहीं, अपितु बहुसंख्या के आनन्द पर बल देता है। क्या यह उचित है कि बहुसंख्या अल्पसंख्या को कुचलकर तथा उस पर अत्याचार करके आनन्द प्राप्त करे? यदि बहुसंख्या अपने आनन्द के लिए अल्पसंख्या को जेलखानों के सींखचों में बन्द करना या अपने स्वार्थ के लिए उसे दास बनाना आनन्ददायक समझती है तो क्या यह न्यायोचित है? बेन्थम इसे न्यायोचित समझता है। यदि इस बात को मान लिया जाए तो अत्याचारी शासक को प्रजा पर तब तक अन्याय और अत्याचार करने का अधिकार मिल जाएगा जब तक वह अपने इस कार्य को बहुसंख्या को अधिकतम आनन्द देने वाला सिद्ध कर सके। बेन्थम ने न्याय के विचार को तिलांजलि दे दी है, अतः शासक के ऐसे कार्य कभी अन्यायपूर्ण नहीं हो सकते। इस दशा में अल्पसंख्या का सुख बहुसंख्या के सुख से सदैव दबा रहेगा। बेन्थम के सिद्धान्त में अल्पसंख्या के अन्याय और अत्याचार से परित्राण पाने का कोई मार्ग नहीं है। यह बहुमत के अत्याचार को प्रोत्साहित करने वाला तथा स्थायी बनाने वाला है![1]

(७) बेन्थम की एक मौलिक भूल यह भी है कि वह केवल आनन्द की प्राप्ति पर बल देता है और यह भूल जाता है कि मनुष्यों के आनन्दों की इच्छा और सुखों की तृष्णा कभी पूरी नहीं हो सकती। हम अपनी इच्छाओं को जितना पूरा करते हैं, ये उतनी ही बढ़ती चली जाती हैं।[2] अतः बुद्धिमान व्यक्ति सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए इच्छाओं के दमन का और संयम का मार्ग अवलम्बन करना श्रेयस्कर समझते हैं। अपनी इच्छाओं के सुखों को पूरा करने से हम उनके दास बन जाते हैं, अतः बेन्थम का सुख-प्राप्ति का सिद्धान्त मौलिक रूप से मिथ्या है।

(८) उपयोगितावाद की विचारधारा का आधार मनोविज्ञान तथा नीतिशास्त्र की भ्रान्त एवं गलत धारणाएँ हैं। बेन्थम मानव-प्रकृति को कोरा सुखवादी मानता हुआ उसकी मानसिक रचना का सही रूप हमारे सामने नहीं रखता। वह मनुष्य को घोर स्वार्थी तथा केवल अपने सुख के लिए प्रयत्न करने वाला मानता है। किन्तु मनुष्य स्वार्थी ही नहीं, अपितु परोपकारी भी है; वह अपने लिए नहीं, किन्तु दूसरों के लिए भी जीता है। वह केवल सुख की भावना से नहीं, अपितु परोपकार, देश-प्रेम, बलिदान, त्याग और तपस्या की भावनाओं से भी प्रेरित होकर कार्य करता है।

---

१. हैलोवैल—मेन करेण्ट्स इन माडर्न पोलिटिकल थाट, पृ० २१७

२. मनुस्मृति २।६४, मिलाइये महाभारत आदिपर्व ७५।४६

न जातु कामः कामानामुपभोगेन प्रशाम्यति।

हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

(९) बेन्थम समाज और समुदाय की पृथक् सत्ता नहीं मानता है, वह इसे व्यक्तियों का समूह मात्र मानता है। जिस प्रकार विभिन्न अणुओं से किसी वस्तु का निर्माण होता है, इनसे पृथक् उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, वैसे ही बेन्थम समाज को व्यक्तियों के समूह से भिन्न नहीं मानता। किन्तु समाज केवल व्यक्तियों का पुँज मात्र नहीं है, अपितु वह विकसित होने वाली एक संस्था है।

(१०) उपयोगितावाद का ध्येय अधिकतम व्यक्तियों के लिए अधिकतम सुख प्राप्त करना है। किन्तु यह सम्भव नहीं प्रतीत होता। सुख व्यक्तिगत अनुभव की वस्तु है, वह सबके लिए एक जैसा नहीं हो सकता। इस दशा में एक सामान्य सुख और सामान्य आनन्द की कल्पना कैसे की जा सकती है? सुख वैयक्तिक है, अतः एक सामान्य सुख या आनन्द की कल्पना ठीक प्रतीत नहीं होती है।

(११) बेन्थम का सिद्धान्त तार्किक दृष्टि से भी दोषपूर्ण है। जेम्स मिल ने बेन्थम का समर्थन करते हुए कहा है कि आनन्द ही एकमात्र वांछित या चाही जाने वाली वस्तु है, अतः आनन्द एकमात्र **वांछनीय** (Desirable) वस्तु है। उसका यह तर्क है क्योंकि देखी और सुनी जाने वाली वस्तुएँ एकमात्र दर्शनीय और श्रवणीय वस्तुएँ हैं, इसी प्रकार चाही जाने वाली वस्तुएँ वांछनीय हैं। यदि खाद्य वस्तु वही है जो खाई जाए तो वांछनीय वस्तु वही है जो चाही जाए। वस्तुतः यह तर्क भ्रान्त है और मिथ्या सादृश्य पर आधारित है, क्योंकि दर्शनीय तथा खाद्य का अर्थ है जो देखा जा सके तथा खाया जा सके। यह विशुद्ध रूप से भौतिक विचार है, किन्तु वांछनीय का अर्थ है जो चाहा जाने योग्य हो, अतः वांछनीय शब्द में नीतिशास्त्र का विचार निहित है। चाही जाने योग्य वस्तु केवल वही नहीं है जिसके लिए हम इच्छा करते हों, वह खाद्य और दर्शनीय वस्तुओं से भिन्न है। हमारी इच्छाएँ नाना प्रकार की होती हैं, इनमें परस्पर संघर्ष होता है। नीतिशास्त्र की आवश्यकता इसीलिए है कि वह हमें दो प्रकार का ज्ञान करा सके। पहला तो यह कि वह हमें ऐसी कसौटी दे सके जिससे अच्छी-बुरी इच्छाओं का निर्धारण किया जा सके तथा दूसरा यह कि प्रशंसा एवं निन्दा के साधनों से अच्छी इच्छाओं को प्रोत्साहित एवं बुरी इच्छाओं को निरुत्साहित किया जा सके। मनुष्य प्रायः स्वार्थी, अज्ञानी, अदूरदर्शी होते हैं। उनकी अपनी वैयक्तिक इच्छाओं में तथा सामाजिक हित में विरोध हो सकता है, इसका निराकरण नीतिशास्त्र से होता है। उपयोगितावाद इसकी उपेक्षा करता है।

इस सिद्धान्त में यह मान लिया जाता है कि जब मैं किसी वस्तु की इच्छा करता हूँ तो यह इसलिए करता हूँ कि इससे मुझे सुख मिलेगा। यह बात सर्वांश में सत्य नहीं है। भूखा होने पर मैं खाने की वस्तु चाहता हूँ, यह मुझे तभी तक सुख देगी जब तक मैं भूखा हूँ। इसमें भूख या खाने की इच्छा मुझमें पहले पैदा होती है, पेट भर जाने के बाद तृप्ति अथवा क्षुधानिवृत्ति से मिलने वाला आनन्द इसका परिणाम है और भूख के बाद उत्पन्न होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शाम को आनन्द पाने के लिए जब हम सिनेमा जाने की इच्छा करते हैं तो यहाँ आनन्द पहले है और हम उससे प्रेरित होकर कार्य करते हैं। किन्तु मनुष्य के अधिकांश कार्य भूख वाले उपर्युक्त

उदाहरण की भाँति हैं, ये ऐसी इच्छाओं से उत्पन्न होते हैं जो सुख से पहले बनी हैं।'[1]

(१२) बेन्थम के मत का एक बड़ा दोष यह है कि वह समाज को केवल व्यक्तियों का समूह मात्र मानता है और इस विषय में घोर व्यक्तिवादी (Individualistic) है। इसके अनुसार जिस प्रकार पदार्थ अणुओं के संयोग से बनते हैं, उसी प्रकार समाज व्यक्तियों के संयोग से बनता है। व्यक्तियों के अतिरिक्त समाज की कोई पृथक् सत्ता या व्यक्तित्व नहीं है। इसे समाज तथा राज्य का अणुवादी (Atomistic) विचार कहा जाता है। इसके अनुसार समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियों के जीवनों, उद्देश्यों तथा प्रयोजनों से पृथक् समाज का कोई जीवन, उद्देश्य या प्रयोजन नहीं है, समष्टि की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, वह इसको बनाने वाले व्यक्तियों का योगफल मात्र है। अतः यह कहा जाता है कि उपयोगितावादियों का दृष्टिकोण यह है कि जंगल पेड़ों का समूह मात्र है, उससे पृथक् नहीं है। ये सावयव (Organic) सिद्धान्त मानने वालों की भाँति राज्य और समाज का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मानते। इसका यह परिणाम हुआ है कि वे व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों का यथार्थ निरूपण नहीं कर सके, इनमें एक झूठा उग्र विरोध समझते रहे। उनका यह मत था कि राज्य के कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता को मर्यादित करने वाले हैं, अतः व्यक्ति की स्वाधीनता की रक्षा के लिए वे मुक्त द्वार (Laissez faire) की या राज्य द्वारा न्यूनतम हस्तक्षेप की नीति को आदर्श मानते थे। उनकी दृष्टि में, फ्रीमैन में शब्दों में सबसे अच्छी सरकार वही है जो कम-से-कम शासन करती है (That government is the best which governs least)। बार्कर ने यह ठीक ही लिखा है कि "बेन्थम ने यह सिद्धान्त उस समय प्रतिपादित किया था जब योरोप की विभिन्न सरकारें अपने अत्यधिक प्रतिबन्धों और नियमों से व्यापार एवं उद्योग का गला घोंट रही थीं, कानून सामन्तवादी व्यवस्था के प्रबल पोषक थे और योरोप की सरकारों पर कुटिल स्वार्थ रखने वाले व्यक्तियों का प्रभुत्व था।'[2] उस समय बेन्थम ने राज्य के अत्यधिक हस्तक्षेप और नियमों का विरोध करके वास्तव में एक महान् सेवा की। किन्तु १९वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति की प्रगति बढ़ने से परिस्थितियाँ बदल गईं, उस समय समाज का हित इसी में प्रतीत होता था कि वह मजदूरों का शोषण करने वाले तथा उनसे पशुओं की भाँति काम लेने वाले पूँजीपतियों की स्वतन्त्रता पर कठोर प्रतिबन्ध लगाए। उस समय राज्य और व्यक्ति की स्वतन्त्रता में विरोध का बेन्थम का उपर्युक्त सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या और भ्रान्तिपूर्ण प्रतीत होने लगा। इसके स्थान पर ग्रीन ने नवीन परिस्थितियों के अनुरूप आदर्शवाद के नूतन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

(१३) बेन्थम के उपयोगितावाद का एक यह भी दोष है कि यह केवल शासन (Government) विषयक सिद्धान्त है, राज्य के सम्बन्ध में यह सर्वथा मौन है। बेन्थम ने राज्य और सरकार में कोई अन्तर नहीं माना, क्योंकि उपयोगितावाद प्रधान रूप से व्यक्ति द्वारा सुख की प्राप्ति के लक्ष्य पर ही बल देता है, वह मनुष्य के और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों का कोई विश्लेषण या विवेचन नहीं करता, वह केवल इतना ही

---

१. रसेल—हिस्टरी आफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० ८०६

२. बार्कर—पोलिटिकल थाट इन इंगलैण्ड, पृ० ९

कहता है कि राज्य को न्यूनतम हस्तक्षेप करना चाहिए। इसके अतिरिक्त वह राज्य के सम्बन्ध में विस्तृत सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं करता। राजनीतिक चिन्तन की दृष्टि से राज्य के सिद्धान्त का विवेचन न करना उसकी एक बड़ी कमी है।

(१४) बेन्थम की विचारधारा का एक बड़ा दोष यह है कि वह स्वतन्त्रता या समानता को कोई महत्व नहीं देता। उसके मतानुसार कानून का प्रधान लक्ष्य सुरक्षा (security) प्रदान करना है। सुरक्षा सामाजिक जीवन तथा मानवीय सुख के लिए परम आवश्यक है। समानता के सिद्धान्त का पालन उसी हद तक होना चाहिए जहाँ तक इससे सुरक्षा को कोई बाधा नहीं पहुँचती है। स्वतन्त्रता कानून का प्रधान विषय नहीं है; उसे सुरक्षा का ही अंग समझना चाहिए। वह समानता और स्वतन्त्रता का नारा बुलन्द करने वाली फ्रेंच क्रान्ति से पूर्व होने वाले योरोप के लोकोपकारी (Benevolent) निरंकुश राजा—सम्राट् फ्रांसिस और रूस की रानी कैथेराइन का प्रशंसक था। फ्रांस के क्रान्तिकारियों ने जब 'मानवीय अधिकारों का घोषणापत्र' प्रकाशित किया तो बेन्थम ने यह कहा कि इन अधिकारों को केवल तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—(१) पहली श्रेणी के अधिकार दुर्बोध और अबुद्धिगम्य हैं। (२) दूसरी श्रेणी के अधिकार मिथ्या हैं। (३) तीसरी श्रेणी के अधिकार अबुद्धिगम्य और मिथ्या दोनों हैं। समानता के बारे में उसका विचार था कि यह हिंसा से ही स्थापित की जा सकती है और इसे हिंसा से ही समाज में बनाए रखा जा सकता है। बेन्थम के ये विचार वर्तमान युग में किसी को भी ग्राह्य और उचित नहीं प्रतीत हो सकते।

उपर्युक्त आलोचनाओं से स्पष्ट है कि बेन्थम के उपयोगितावाद का दार्शनिक आधार और मनोविज्ञान अपर्याप्त, अयथार्थ और भ्रान्तिपूर्ण था।[1] इसमें मानवीय कार्यों के एकमात्र मूल प्रेरक हेतु सुख की प्राप्ति तथा दुःख के निवारण की कामना को मानना बड़ा स्थूल, भ्रान्त, भौतिक तथा एकांगी दृष्टिकोण था। इसकी सुखों की मात्रा को नापने की पद्धति अत्यन्त दोषपूर्ण थी। इसमें सुखों के स्वरूप पर और व्यक्तियों की रुचियों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया था। इससे राज्य में बहुमत को अल्पमत पर मनमाना अत्याचार करने की खुली छूट मिल गई थी। इसमें व्यक्ति की समानता और स्वतन्त्रता के मौलिक अधिकारों की उपेक्षा की गई थी तथा व्यक्ति और समष्टि के हित के समन्वय की कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। यह सिद्धान्त बड़ा अस्पष्ट, अपूर्ण, गड़बड़, अव्यवस्था तथा भ्रान्ति उत्पन्न करने वाला था।

बेन्थम की देन और महत्व—किन्तु इन दोषों के होते हुए भी राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में बेन्थम की विचारधारा का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। बेन्थम मौलिक अथवा उत्कृष्ट कोटि का विचारक नहीं था। वेपर[2] के शब्दों में "उसने ज्ञान का सिद्धान्त लॉक तथा ह्यू म से ग्रहण किया, सुख-दुःख का सिद्धान्त हैल्वेटियस से लिया, सहानुभूति और प्रतिकूल भावना का सिद्धान्त ह्यू म से लिया, उपयोगिता का विचार

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० ४६७
२. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० ९९

कई अन्य लेखकों से लिया। उसमें मौलिकता का अभाव था।" फिर भी राजनीतिक चिन्तन के इतिहास के क्षेत्र में अपनी विशिष्ट देनों तथा प्रभाव के कारण वह विशिष्ट स्थान रखता है। वह एक क्रियात्मक सुधारक था, उसने उस समय की सामाजिक बुराइयों की ओर ध्यान खींचा। जनता के हित के लिए विभिन्न प्रकार के सुधारों के लिए प्रबल आन्दोलन किया और उसके तथा उसके शिष्यों के प्रयास से अनेक क्षेत्रों में सुधार हुए। उसके विचार भले ही परस्पर विरोधी और अस्पष्ट हों, किन्तु इनसे राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में नवीनता, स्पष्टता और मौलिकता आई। अतः बेन्थम के विचारों में मौलिकता तथा स्पष्टता न होने पर भी, उसने राजनीतिक चिन्तन में कई नई देनें तथा मौलिक प्रवृत्तियाँ आरम्भ कीं। विभिन्न क्षेत्रों में उसका असाधारण प्रभाव उल्लेखनीय है। उसकी महत्वपूर्ण देनें निम्नलिखित हैं—

उसकी **पहली** देन उपयोगितावाद के दार्शनिक सम्प्रदाय की स्थापना और इसे वैज्ञानिक रूप प्रदान करना है। यह सत्य है कि बेन्थम ने इसके मूल सिद्धान्त स्काच विचारक ह्यूम, इटालियन दार्शनिक बेकारियो, फ्रेंच विद्वान् हैल्वेटियस, ब्रिटिश विचारक हचेसन और प्रीस्टले आदि से ग्रहण किए किन्तु इसे व्यवस्थित रूप देने का, इन्हें राजनीतिक क्षेत्र में लागू किए जाने के लिए वैज्ञानिक पद्धति का प्रतिपादन करने का श्रेय बेन्थम को ही है। उसी के प्रयत्नों से इसने एक शास्त्रीय और ब्रिटिश राजनीति पर प्रभाव डालने वाले दार्शनिक उग्र सुधारवाद का रूप धारण किया। बेन्थम ने पुराने सिद्धान्तों का अद्भुत सम्मिश्रण करते हुए इससे समाज-सुधार को सम्पन्न करने वाले प्रभावशाली साधन का आविष्कार किया। यह बेन्थम की सर्वथा नवीन और मौलिक देन थी। इसका पूर्ण श्रेय उसी को प्राप्त है। मैक्सी ने इस पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि उपयोगिता का विचार बहुत पुराना और सुपरिचित था। बेन्थम ने इसकी खोज नहीं की, इसके तार्किक आधारों को पुष्ट करने के लिए बहुत-कुछ नहीं किया। उसने तथा उसके अनुयायियों ने इसे विज्ञान के उपकरणों से सुसज्जित किया और इससे उपयोगिता को विलक्षण वेग प्रदान किया। सब वैज्ञानिक विचारकों को बाधित होकर उसका खण्डन करने के लिए ही इस पर ध्यान देना पड़ा। अनेक व्यक्तियों को यह ऐसे मौलिक विचारों का आश्रय स्रोत जान पड़ा जो विचार अन्य उद्देश्यों और दर्शनों के लिए उपयोगी हो सकते थे।[1]

उसकी **दूसरी** देन राज्य के कार्य और उद्देश्य के सम्बन्ध में एक नए सिद्धान्त का विकास था। उसके मतानुसार राज्य का लक्ष्य अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख पहुँचाना है। भले ही इस सुख को निश्चित करने में अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ हों, किन्तु यह अपने-आपमें एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त था। इसने यह घोषणा की कि राज्य मनुष्य के लिए है, न कि मनुष्य राज्य के लिए है। इसने इस बात पर बल दिया कि केवल उसी राज्य को उत्तम माना जा सकता है जो अपने प्रजाजनों का हित सम्पादित करे। बेन्थम ने कहा था कि समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियों का हित ही समाज का हित है। वेपर ने राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र में बेन्थम की सबसे बड़ी

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० ४८७

देन यह मानी है कि यह प्रत्येक राजनीतिक प्रश्न को इस व्यावहारिक कसौटी पर कसता है कि यह समाज का निर्माण करने वाले नर-नारियों के जीवन को किस प्रकार प्रभावित करेगा तथा यह उन्हें कितना सुख प्रदान करेगा। बेन्थम इन प्रश्नों को किन्हीं काल्पनिक, अमूर्त्त विचारों की कसौटी पर नहीं कसता। उसका सिद्धान्त किसी ऐसे उच्च एवं श्रेष्ठ व्यक्ति की निर्भ्रान्तता में विश्वास नहीं रखता जो अपनी नैतिकता को या अपने आनन्द को प्रजाजनों पर जबर्दस्ती थोपने का प्रयत्न करता है।[1] इसकी एकमात्र कसौटी प्रजाजनों का हित, कल्याण, सुख और आनन्द है। राज्य व्यक्ति के हितों को सुरक्षित रखने वाला ट्रस्टी है। जेम्स मिल के मतानुसार उस समय इंगलैण्ड की शासन-व्यवस्था तथा पालियामैण्ट पर दो-तीन सौ परिवारों का नियन्त्रण था। राज्य का संचालन इनके स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से होता था। इनकी सत्ता तोड़ने के लिए मताधिकार का विस्तार आवश्यक था।[2] बेन्थम का यह दृढ़ मत था कि राज्य मुट्ठी-भर लोगों की स्वार्थसिद्धि का साधन नहीं होना चाहिए, उसे सामान्य जनहित तथा सार्वजनिक कल्याण का साधन बनाया जाना चाहिए। मैक्सी ने यह सत्य ही लिखा है कि उपयोगितावाद की बेन्थम द्वारा प्रतिपादित सुख-दुःख की कसौटी को अस्वीकार करने वाले तथा उसकी खिल्ली उड़ाने वाले व्यक्ति भी उसके इस सिद्धान्त की उपेक्षा नहीं कर सकते थे कि सरकार का और इसके अधिकारों का औचित्य केवल इसी बात से निश्चित होता है कि वह प्रजा को कितना प्रत्यक्ष और स्पष्ट सुख पहुँचा रही है और उसकी कितनी सेवा कर रही है।[3]

बेन्थम की **तीसरी** बड़ी देन कानूनों के सुधार के क्षेत्र में थी। वह प्रधान रूप से तत्कालीन कानूनों के व्यावहारिक सुधार का प्रचण्ड आन्दोलन करने वाला था, यह उसके जीवन का प्रधान लक्ष्य था। इस क्षेत्र में उसके अमिट प्रभाव का उल्लेख करते हुए सर हेनरी मेन ने लिखा था कि "बेन्थम के समय से होने वाले मुझे किसी एक भी ऐसे कानूनी सुधार का ज्ञान नहीं है जिसका मूल स्रोत उसे न बताया जा सकता हो।" बेन्थम यद्यपि इंगलिश कानूनों की संहिता (Code) बनाने के उद्देश्य में सफल नहीं हुआ, किन्तु उसने इनके भीषण दोषों को प्रदर्शित करके कानूनी सुधार की महत्वपूर्ण प्रक्रिया का श्रीगणेश किया। उससे पहले पालियामैण्ट बहुत कम कानून बनाती थी, उसके आन्दोलन ने इसकी निष्क्रियता को समाप्त किया और सभी क्षेत्रों में सुधार के लिए कानून बनाने के उस नवयुग का आरम्भ किया जो अब तक चल रहा है। फौजदारी कानून और क्रूर दण्डविधान को मानवीय बनाने तथा संशोधित करने के क्षेत्र में तथा जेलों की दशा सुधारने के सम्बन्ध में उसके स्मरणीय कार्य का पहले उल्लेख किया जा चुका है। इस क्षेत्र में इतना अधिक कार्य अब तक किसी अन्य व्यक्ति ने नहीं किया था। उसके प्रयत्न से कानून में सरलता, सुबोधता और स्पष्टता आई। उसने कानून के मौलिक सिद्धान्तों के चिन्तन में तथा न्याय के प्रशासन के सुधार में बहुत बड़ा कार्य किया। कानूनों के संहिताकरण पर बेन्थम द्वारा बल दिए जाने के कारण

---

१. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० १०६
२. लैंकास्टर—मास्टर्स आफ पोलिटिकल थाट, खण्ड ३, पृ० १११
३. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० ४६८

१९वीं शताब्दी में अनेक देशों में कानूनी संहिताएँ बनाई गईं। उसने पार्लियामैण्ट के सुधार पर बल दिया और १८३२ में उसकी मृत्यु के वर्ष में पार्लियामैण्ट का पहला सुधार कानून पास हुआ। इसके बाद ब्रिटिश संसद् के सुधार के लिए आन्दोलन करने वाले सभी व्यक्ति उससे प्रेरणा पाते रहे। चार्टिस्ट आन्दोलन ने बेन्थम द्वारा प्रस्तावित गुप्त मतदान प्रणाली और पार्लियामैण्ट के वार्षिक चुनावों पर बल दिया। बेन्थम के इस क्षेत्र में कई सुधार—स्त्रियों का मताधिकार, प्रतियोगिता परीक्षाओं द्वारा सरकारी पदों पर नियुक्ति, गुप्त मतदान प्रणाली क्रियात्मक रूप धारण कर चुके हैं। किन्तु पार्लियामैण्ट के वार्षिक निर्वाचन, राजतन्त्र की तथा लार्डसभा की समाप्ति तथा संसद् द्वारा प्रधानमन्त्री के चुनाव के सुधार स्वीकार नहीं हुए। दरिद्र कानून (Poor Law) के सुधार तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई की व्यवस्था के कानूनों को बनवाने का श्रेय बेन्थम को है। इन कानूनों का निर्माता एडविन चैडविक उसका पट्ट शिष्य था। उसने बच्चों और पशुओं की रक्षा के लिए कानून बनवाए, नौचालन कानूनों और सूदखोरी के विरुद्ध कानून को रद्द कराया, ट्रेड यूनियनों को वैध बनाने वाले १८२४-२५ के संघ बनाने के कानूनों (Combination Acts) में उसका बड़ा भाग था। उसके प्रयत्न से ही सीमित दायित्व के तथा धार्मिक अनर्हताओं के निवारण के कानून बने। उसने इस सिद्धान्त को सर्वमान्य बनाया कि राज्य को नवीन कानूनों के निर्माण से तथा पुराने कानूनों के संशोधन से जनता को अधिकतम सुख पहुँचाने का साधन बनना चाहिए।

सुधारों के क्षेत्र में बेन्थम के उपयोगितावाद का न केवल इंगलैण्ड पर अपितु भारत पर भी बड़ा प्रभाव पड़ा। सुप्रसिद्ध भारतीय गवर्नर-जनरल लार्ड विलियम बैंटिंक बेन्थम का परम प्रशंसक तथा कट्टर भक्त था। बैंटिंक ने बेन्थम को लिखा था कि "वास्तव में भारत का गवर्नर-जनरल होकर मैं नहीं जा रहा हूँ, किन्तु आप जा रहे हैं"। उसने बेन्थम के विचारों से ओत-प्रोत तथा प्रभावित होकर भारत में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में महत्वपूर्ण सुधार किए, सती-प्रथा का उन्मूलन किया, ठगी बन्द की, अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति का श्रीगणेश किया तथा भारतीय कानूनों के संहिताकरण का प्रयत्न आरम्भ किया।

राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में बेन्थम की **चौथी** देन कानून और प्रभुसत्ता के विचार थे। बेन्थम से पहले कानून को 'बुद्धि' (Reason) अथवा प्रकृति (Nature) का रहस्यपरिपूर्ण आदेश माना जाता था। किन्तु बुद्धि और प्रकृति दोनों का स्वरूप अनिश्चित और अस्पष्ट था। बेन्थम ने कानून के इस गहन और अस्पष्ट स्वरूप के स्थान पर एक अत्यन्त सरल और स्पष्ट मत का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार कानून एक ऐसी सत्ता का आदेश है, जिसकी आज्ञाओं का पालन समाज स्वाभाविक रूप से करता रहता है। ऐसी आज्ञाओं को प्रसारित करने और पालन कराने की शक्ति अथवा अधिकार प्रजा द्वारा स्वाभाविक रूप से आज्ञापालन का परिणाम था।[1] अतः कानून आज्ञापालन को स्वाभाविक रूप से कराने वाली शक्ति की इच्छा की

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० ४६९

अभिव्यक्ति मात्र है और प्रभुसत्ता इस सर्वोच्च इच्छा का सामर्थ्य, गुण एवं योग्यता है। यह सर्वोच्च इसलिए है कि इसके आदेशों का पालन अन्य व्यक्तियों के आदेशों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक रूप से होता है। बेन्थम के मतानुसार मानवीय मामलों में केवल मनुष्यों की ही इच्छाओं का निर्धारण किया जा सकता है, अतः प्रभुसत्ता केवल ऐसे निश्चित मानवीय उच्च व्यक्ति में ही रह सकती है जिसके आदेशों का निरन्तर स्वाभाविक रूप से पालन होता रहे। इस दृष्टिकोण के अनुसार शासन करने के अधिकार का तथा वशवर्त्ती बने रहने के कर्त्तव्य का मूल स्रोत बुद्धि या प्रकृति के नियम नहीं थे, अपितु मानव के संगठन बनाकर रहने का सरल एवं सामान्य लक्ष्य था। राज्य के आदेश का पालन कोई नैतिक या धार्मिक कर्त्तव्य नहीं था। बेन्थम ने मेकियावेली की भाँति राजनीति और नैतिकता का सम्बन्ध-विच्छेद किया। वह प्रजा के आज्ञापालन के कर्त्तव्य और विद्रोह के अधिकार का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं मानता था। प्रभुसत्ता एक प्राकृतिक घटना थी। प्रजा को राजा की आज्ञा का पालन कब तक करना चाहिए और कब विद्रोह करना चाहिए, इसका आधार उपयोगिता का सिद्धान्त था।

बेन्थम को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उसने कानून और प्रभुसत्ता पर विचार करके सर्वप्रथम विधिशास्त्र (Jurisprudence) के मौलिक सिद्धान्तों की मीमांसा और विवेचना आरम्भ की। सेबाइन ने लिखा है कि बेन्थम का विधिशास्त्र केवल उसकी ही सबसे बड़ी कृति नहीं है, अपितु यह १९वीं शताब्दी की एक अधिकतम उल्लेखनीय बौद्धिक उपलब्धि है।[1]

उपयोगितावाद की **पाँचवीं** देन अनेक महत्वपूर्ण मध्यकालीन राजनीतिक विचारों की कड़ी आलोचना और प्रबल खण्डन था। बेन्थम से पहले राजनीतिक क्षेत्र में सामाजिक अनुबन्ध (Social Contract) के सिद्धान्त का साम्राज्य था। राज्य सुदूर स्मरणातीत समय में, इतिहास के उषाकाल में हुए एक समझौते का परिणाम समझा जाता था। बेन्थम ऐसे किसी काल्पनिक भूतकालीन समझौते को नहीं, अपितु प्रजाजनों द्वारा स्वाभाविक रूप से वर्तमान समय में आज्ञापालन को राज्य का आधार मानता था। मनुष्य आज्ञा का पालन उपयोगिता के आधार पर करते हैं, उन्हें इससे जो सुख और लाभ प्राप्त होते हैं वे आज्ञाभंग के दुष्परिणामों की अपेक्षा अधिक उपयोगी तथा लाभप्रद हैं। इसके अतिरिक्त उसने उस समय प्रचलित सभी प्रकार के अधिकारों का खण्डन करके मध्यकालीन राजनीतिक विचारधारा के जाल को छिन्न-भिन्न किया। उस समय एक ओर रूढ़िवादी दैवी अधिकार का, सामन्ती अधिकार का, ऐतिहासिक परम्पराओं द्वारा प्राप्त होने वाले अधिकार का, सामाजिक समझौते से प्राप्त होने वाले अधिकार का समर्थन कर रहे थे; दूसरी ओर क्रान्तिकारी एवं उग्र विचारक मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों पर बल दे रहे थे। उसने इन दोनों विचार-धाराओं को समान रूप से बेहूदा और भ्रान्तिपूर्ण बताया। उसने कहा कि किसी को न तो शासन करने का अधिकार है और न ही किसी को स्वतन्त्र होने का अधिकार

१. सेबाइन—ए हिस्टरी आफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० ५७३

है। वास्तविक तथ्य तो राज्य की शक्ति का है, हमें इसे शक्तिशाली बनाने वाले कारणों और परिस्थितियों पर विचार करना चाहिए। समझदार राजनीतिज्ञों का कार्य इस शक्ति के स्वरूप एवं नियमों के रहस्यों को समझते हुए इसका प्रयोग मानवीय सुख की वृद्धि के लिए करना चाहिए। उसका वास्तववाद (Realism) एवं अनुभववाद पर आधारित राजनीतिक शक्ति का सूक्ष्म विश्लेषण और विवेचन मध्यकालीन रहस्य-वाद के अन्धकार में उलझी विचारधारा में एक नए आलोक की किरण था। डनिंग ने यह सत्य ही लिखा है कि क्रान्ति के समय का समूचा दर्शन अस्पष्टता और गड़बड़ी से भरा हुआ है, बेन्थम ने इस स्थिति पर तीव्र प्रकाश डाला।[1] उसने क्रान्तिकारी तथा रूढ़िवादी विचारधाराओं की धज्जियाँ उड़ाईं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बेन्थम के उपयोगितावाद पर भी प्रबल आक्रमण किए गए हैं, किन्तु यह बात निर्विवाद है कि यह सिद्धान्त एक भीषण बाढ़ की तरह था। यह अपने साथ अठारहवीं शताब्दी के राजनीतिक चिन्तन के कूड़ा-करकट को तथा वैज्ञानिक चिन्तन की अनेक बाधाओं को बहाकर ले गया।

बेन्थम की **छठी** देन इंगलिश राजनीतिक जीवन में स्थिरता की प्रवृत्ति को बढ़ाना था।[2] फ्रेंच राज्यक्रान्ति के बाद से योरोप में क्रान्तियों की बाढ़ आ गई थी, १६वीं शताब्दी में अधिकांश देशों में क्रान्तियों द्वारा समाज में मौलिक, उग्र एवं क्रान्ति-कारी परिवर्तन किए गए। किन्तु बेन्थम ने शनैः-शनैः सुधार करके ब्रिटिश राजनीति को क्रान्तियों से सुरक्षित बनाया, इंगलिश लोगों को इस बात का विश्वास कराया कि सुधार क्रान्ति की अपेक्षा अधिक वांछनीय और स्पृहणीय है। यद्यपि उस समय ग्लैडस्टन कहा करता था कि कोई भी महान् उद्देश्य भावावेश के बिना पूरा नहीं हो सकता। उन दिनों ब्रिटिश कामन्स सभा में ऐसे पाशविक कोलाहलपूर्ण संघर्ष होते थे कि इन्हें ५० गज की दूरी से सुना जा सकता था (वेपर—पृ० १०४), किन्तु बेन्थम के सुधारों के कारण अंग्रेज यह समझ गए कि सभी विवादास्पद प्रश्नों का समाधान शान्तिपूर्ण रीति से होना चाहिए, सिरों को फोड़ने के स्थान पर इन्हें गिन लेना कहीं अधिक अच्छा है।

बेन्थम की **सातवीं** महत्वपूर्ण देन राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में अनुसन्धान और गवेषणा की प्रवृत्ति को महत्व देना था। आजकल यह प्रवृत्ति सब राज्यों के लिए आवश्यक मानी जाती है। एबेन्स्टाइन ने इसे विधानपालिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका के तीन अंगों के समान महत्व रखने वाला चौथा अंग बताया है।[3] राज्य सभी योजनाओं, कार्यों और नीतियों का निर्धारण करने से पहले इनके सम्बन्ध में सब प्रकार का आवश्यक अनुसन्धान और विचार-विमर्श करते हैं, विवादास्पद प्रश्नों की जाँच के लिए समितियाँ और आयोग नियत किए जाते हैं, इनके द्वारा सम्बद्ध समस्याओं की पूरी जाँच और अनुसन्धान के बाद ही नीति निश्चित की जाती

---

१. डनिंग—पोलिटिकल थियोरीज़, पृ० २२१

२. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० १०४

३. एबेन्स्टाइन—ग्रेट पोलिटिकल थिंकर्स, पृ० ५०५

है। आजकल यह पद्धति सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होती है, किन्तु बेन्थम से पहले ऐसी कोई पद्धति नहीं थी। उस समय उत्तम शासन पुरानी परम्परा, सामान्य बुद्धि और अन्तःप्रेरणा के आधार पर किया जाता था, किन्तु बेन्थम ने इस बात पर बल दिया कि सोच-विचारकर सम्बद्ध विषय पर सामग्री एकत्र करके, उसका अनुसन्धान करके, उसके आधार पर ही राज्य की नीति निश्चित होनी चाहिए। वह सार्वजनिक नीति के प्रश्नों के सम्बन्ध में गवेषणात्मक पद्धति लागू करने वाला पहला आधुनिक लेखक था।

इस पद्धति को लागू करते हुए बेन्थम ने जिस अनुभववादी (Empirical) तथा आलोचनात्मक पद्धति का श्रीगणेश किया, वह भी उसकी अपूर्व देन है। राजनीतिशास्त्र में उपयोगिता का सिद्धान्त नई वस्तु न थी, पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के सोफिस्ट यूनानी विचारक इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर चुके थे। अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख के सिद्धान्त का आविष्कार उससे पहले हचेसन द्वारा हो चुका था। बेन्थम की नवीनता दर्शनशास्त्र के अनुभववाद को तथा आलोचनात्मक पद्धति को राजनीति, शासन और कानून के क्षेत्र में लागू करना था। उसने अपने कार्य के सम्बन्ध में यह ठीक ही कहा था कि यह "तर्क करने की प्रयोगात्मक पद्धति को भौतिक क्षेत्र से विस्तीर्ण करने का प्रयास" है।

बेन्थम के दार्शनिक उग्र सुधारवाद ने इसकी अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण विचार-धाराओं को उत्पन्न करने में सहायता प्रदान की।[1] पहली विचारधारा समाजवाद की है। यह बेन्थम के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री अनुयायी रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित आर्थिक सिद्धान्तों के विरोध में प्रादुर्भूत हुई। रिकार्डो ने १८१७ में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि किसी वस्तु का विनिमय मूल्य इसे उत्पन्न करने में किए गए श्रम पर पूर्ण रूप से अवलम्बित है। १८२५ में एक नौसैनिक कर्मचारी थामस हागस्किन (Thomas Hodgskin) ने इसका पहला समाजवादी उत्तर 'पूँजी के दावों से श्रम की रक्षा' (Labour defended against the Claims of Capital) नामक पुस्तक द्वारा दिया। उसका यह कहना था कि यदि सारे मूल्य का मूल कारण श्रम है तो इसका पूरा हिस्सा श्रमिक को मिलना चाहिए, जमींदार तथा पूंजीपति द्वारा लिया जाने वाला हिस्सा जबर्दस्ती वसूल की जाने वाली धनराशि है। इसी समय राबर्ट ओवन ने मजदूरों की दशा सुधारने के लिए कुछ प्रयास किए। ये आधुनिक समाज-वाद का आरम्भिक रूप है। बेन्थम ओवन का मित्र था, उसने ओवन के व्यवसाय में अपनी काफी पूँजी लगाई थी। उसने ओवन द्वारा मजदूरों के लिए बसाई गई एक नई बस्ती के बसाने में सहयोग दिया था। किन्तु जेम्स मिल ने हागस्किन की उपर्युक्त पुस्तक में दिए गए सम्पत्तिविषयक समाजवादी विचारों का उग्र विरोध किया और इन्हें बिलकुल निरर्थक और बेहूदा बताया। इससे दोनों विचारधाराओं में उग्र संघर्ष हुआ और समाजवाद का विकास आरम्भ हुआ। बेन्थम के बाद की दूसरी पीढ़ी यद्यपि पूंजीवाद को प्रश्रय देने वाली 'खुला छोड़ दो' की नीति का अनुसरण करते हुए पूंजीपतियों को मजदूरों के शोषण का स्वर्ण अवसर देती रही, किन्तु तीसरी पीढ़ी

१. बर्ट्रेण्ड रसेल—हिस्टरी आफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० ८०७-९

में जॉन स्टुअर्ट मिल जैसे विचारकों ने यह अनुभव किया कि यदि राज्य हत्या और चोरी का विरोध कर सकता है तो उसे वैयक्तिक स्वतन्त्रता और सुख में बाधक बनने वाले आर्थिक उत्पीड़न का भी निराकरण करना चाहिए। इस प्रकार जॉन स्टुअर्ट मिल की पीढ़ी उपयोगितावाद और ब्रिटिश समाजवाद के एक रूप—फेबियनवाद का संगमस्थल बनी।[1]

दूसरी विचारधारा डार्विनवाद की थी। डार्विन ने बेन्थम और माल्थस के आर्थिक सिद्धान्तों को प्राणिशास्त्र के क्षेत्र में लागू किया। 'खुला छोड़ दो' (Laissez faire) की नीति तथा उन्मुक्त प्रतियोगिता का सिद्धान्त बेन्थमवादियों को बहुत प्रिय था। डार्विन ने इसका अनुसरण करते हुए प्राणिजगत् में उग्र एवं भीषण जीवन-संघर्ष का तथा इसमें योग्यतम की विजय (Survival of the fittest) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

जेरेमी बेन्थम के बाद उपयोगितावाद के सिद्धान्त का विवेचन जेम्स मिल ने किया। इसके पुत्र जॉन स्टुअर्ट मिल ने इसका संशोधन करते हुए इसे नवीन रूप प्रदान किया, आस्टिन ने विधिशास्त्र के क्षेत्र में और बेन ने मनोविज्ञान के क्षेत्र में इसका विकास किया। अब इनका प्रतिपादन किया जाएगा।

१. एबेन्स्टाइन—ग्रेट पोलिटिकल थिंकर्स, पृ० ५०६

तीसरा अध्याय

अन्य उपयोगितावादी विचारक

जेम्स मिल (१७७३-१८३६ ई०)

बेन्थम की मृत्यु के बाद, उपयोगितावाद का प्रधान समर्थक और प्रतिपादक उसका प्रमुख शिष्य एवं भक्त जेम्स मिल था। स्काटलैण्ड के एक दरिद्र मोची और नौकरानी की सन्तान इस व्यक्ति ने अपने कठोर परिश्रम और प्रतिभा से समाज में प्रतिष्ठा और कीर्ति प्राप्त की। एडिनबरा विश्वविद्यालय में यशस्वी विद्यार्थी जीवन बिताने के बाद यह आरम्भ में धर्म प्रचारक बना, किन्तु इस कार्य में रुचि न होने के कारण यह अपने संरक्षक सर जॉन स्टुअर्ट के साथ १८०२ में लन्दन आ गया। यहाँ यह उसकी कन्या को पढ़ाता रहा, १८०३ में उसने एक पत्रिका 'दी लिटरेरी जर्नल' की स्थापना में सहयोग दिया और इसमें लेख लिखने आरम्भ किए। इनसे इसकी ख्याति बढ़ने लगी। १८०४ में हेरियट बरो से इसका विवाह हुआ और जनसंख्या-नियन्त्रण के सिद्धान्त को सर्वप्रथम प्रतिपादित करने वाले माल्थस का मित्र होते हुए भी इसने नौ सन्तानें उत्पन्न कीं, इनमें सबसे बड़ी सन्तान जॉन स्टुअर्ट मिल था। १८०६ से १८१७ तक यह 'भारत का इतिहास' लिखने में लगा रहा। १८१८ में इसके प्रकाशन से न केवल इसे यश मिला, अपितु इसकी आर्थिक समस्या भी हल हो गई। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने इसे इण्डिया आफिस में भारत के साथ होने वाले पत्र-व्यवहार-विभाग में ऊँचे वेतन पर नियुक्त कर लिया। १८३० में यह इस विभाग का अध्यक्ष हो गया, मृत्युपर्यन्त १८३६ तक यह इस पद पर बना रहा।

जेम्स मिल १८०८ में बेन्थम के सम्पर्क में आया। १८१४ से १७ तक यह सपत्नीक उसके घर में भी रहा। दोनों के घनिष्ठ संसर्ग का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ा। बेन्थम की रुचि उस समय तक प्रधान रूप से कानूनी क्षेत्र में सुधार एवं संशोधन करने की थी। जेम्स मिल ने इसे पहले राजनीतिक क्षेत्र में सुधार करने की ओर आकृष्ट किया तथा उग्र सुधारवादी बनाया। मिल बेन्थम के प्रभाव से उपयोगितावाद का प्रबल समर्थक बना और इसका प्रचार उसने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। उसने आजीवन इस आन्दोलन को सफल बनाने का प्रयास किया और अपने ज्येष्ठ पुत्र जॉन स्टुअर्ट मिल को बचपन से ही इसके आदर्शों के अनुरूप ढालने का पूरा प्रयत्न किया।

जेम्स मिल ने एक लेखक, सम्पादक, ऐतिहासिक, अर्थशास्त्री और मनोविज्ञान-वेत्ता के रूप में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उसने अपने गुरु के मौलिक विचारों में कोई उल्लेखनीय नवीन वृद्धि की, किन्तु उसने उन विचारों को नवीन ज्ञान-विज्ञान से ऐसा परिष्कृत और परिमार्जित किया कि ये विचार सर्वमान्य होने लगे। मिल सम्भवतः बेन्थम का सर्वोत्तम भाष्यकार और विचारों को लोकप्रिय

बनाने वाला था। उसने इन विचारों को मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र और इतिहास के नवीन प्रमाणों के आधार पर पुष्ट किया। उपयोगितावाद के दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आधार को सुदृढ़ बनाने के लिए उसने १८२९ में 'मानवीय मन की घटनाओं का विश्लेषण' (Analysis of the Phenomena of the Human Mind) नामक पुस्तक प्रकाशित की, इसमें आधुनिक मनोविज्ञान के साहचर्य नियम (Law of Association) का विस्तृत प्रतिपादन था। उपयोगितावाद की आर्थिक नींव को पुष्ट करने के लिए उसने 'अर्थशास्त्र के मूलतत्व' नामक पुस्तक १८२१ में प्रकाशित की, यह इंगलिश भाषा में अर्थशास्त्र की पहली पाठ्य पुस्तक मानी जाती है। किन्तु उसका इससे भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य 'ब्रिटानिका विश्वकोष' (Encyclopaedia Britannica) के पंचम संस्करण के परिशिष्ट के लिए लिखे गए **शासन, अन्तर्राष्ट्रीय कानून** तथा **विधिशास्त्र** विषयक निबन्ध थे। उसने उपयोगितावाद के अपने निबन्ध में सर्वप्रथम इसका विशद, युक्तियुक्त और प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया, चिरकाल तक यह निबन्ध उपयोगितावादियों का प्रधान आदर्श और प्रेरणा का प्रमुख स्रोत बना रहा। १८३५ में उसकी अन्तिम पुस्तक **'मैकिन्तोष पर स्फुट विचार'** (Fragments on Mackintosh) छपी। सर जेम्स मैकिन्तोष एक सुप्रसिद्ध स्काटलैण्डवासी ऐतिहासिक तथा दार्शनिक विद्वान् एवं पार्लियामैण्ट का सदस्य था। इसने पहले १७९१ में फ्रेंच राज्यक्रान्ति के समर्थन में तथा बाद में फ्रांस में आतंक राज्य स्थापित होने पर क्रान्ति के विरोध में तथा अन्त में उपयोगितावाद के विरुद्ध पुस्तकें लिखी थीं। जेम्स मिल ने अपनी उपर्युक्त पुस्तक में इसके उपयोगितावाद पर किए गए आक्षेपों का निराकरण करते हुए इस सिद्धान्त का प्रबल समर्थन किया। मिल के उपर्युक्त ग्रन्थों में प्रतिपादित प्रधान विचार निम्नलिखित हैं—

शिक्षा—मिल बेन्थम की भाँति शिक्षा पर बहुत बल देता था। वह फ्रेंच विचारक हेल्वेटियस के इस सिद्धान्त से सहमत था कि सभी मनुष्य उन्नति की समान योग्यता लेकर उत्पन्न होते हैं; समाज के विभिन्न व्यक्तियों की योग्यता में दिखाई देने वाली विषमताएँ और अन्तर शिक्षा एवं परिस्थिति का परिणाम होते हैं। जिन्हें अच्छी शिक्षा मिलती है, वे उन्नति करके आगे बढ़ जाते हैं। शिक्षा उन्नति का मूल एवं सबसे अधिक प्रभावशाली तत्व है। यदि "शिक्षा हर बात को नहीं कर सकती तो शायद ही कोई ऐसी बात हो जिसे यह नहीं कर सकती।" उसके मतानुसार शिक्षा का ध्येय व्यक्तियों को तथा समाज को आनन्द प्रदान करना है। शिक्षा को असाधारण महत्व देने के कारण ही, उसने अपने बड़े लड़के जॉन स्टुअर्ट मिल की शिक्षा पर अत्यधिक ध्यान दिया।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून—बेन्थम ने इंगलिश में 'इंटरनेशनल' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया था, उसके शिष्य मिल ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों का पहली बार सुस्पष्ट प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया। उसके मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम उपयोगी होने के कारण महत्वपूर्ण थे। वे राष्ट्रों को नियमों के बन्धन में वैसा ही बाँध देते हैं जैसे सम्मानपूर्ण शिष्टाचार के नियम सज्जन पुरुषों को बाँधकर रखते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की एक बड़ी कमी यह थी कि राष्ट्रों के बीच में विवाद होने पर इसका निपटारा करके अन्तिम निर्णय देने वाली और इसे लागू करने वाली कोई

शक्ति नहीं थी। उसका यह विचार था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन कराने वाली शक्ति लोकमत ही हो सकती है, अधिकतम शक्तिशाली राष्ट्र भी लोकमत की उपेक्षा या निरादर नहीं कर सकते, यह स्थिति विशेष रूप से लोकतन्त्रीय राष्ट्रों में ही होती है। मिल ने इस बात पर बल दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की संहिता बनाई जानी चाहिए, एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय स्थापित किया जाना चाहिए। उसका यह विश्वास था कि राष्ट्रों का समुचित प्रतिनिधित्व करने वाला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय कोई निष्पक्ष निर्णय दे तो लोकमत के दबाव से इसका पालन बाधित रूप के किया जाएगा। इस विषय में लोकमत को प्रबल बनाने के लिए उसका यह सुझाव था कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों का अध्ययन प्रत्येक व्यक्ति की शिक्षा का आवश्यक अंग बना दिया जाना चाहिए।

शासन-पद्धति—जेम्स मिल के अनुसार जनता के हितों की दृष्टि से राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र उपयोगी नहीं थे, किन्तु प्रतिनिधि शासन प्रणाली सर्वोत्तम थी। शासन का लक्ष्य सार्वजनिक हित अथवा अधिकतम लोगों का अधिकतम कल्याण है। यह तभी सम्भव है जब हमें मानवीय स्वभाव का ज्ञान हो, अतः शासन-विज्ञान मानव-प्रकृति के विज्ञान पर आधारित है। मानव-प्रकृति यह है कि वह अपने लिए अधिक-से-अधिक आनन्द प्राप्त करना चाहती है, इसे प्राप्त करने के लिए वह दूसरों के आनन्द को क्षति पहुँचाने में संकोच नहीं करती। मानवीय प्रकृति का एक स्वाभाविक नियम यह है कि यदि उसे दूसरे व्यक्ति पर कुछ अधिकार दिया जाए तो वह इसका दुरुपयोग करता है, इससे अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए दूसरों को क्षति पहुँचाता है। अतः इस दुष्प्रवृत्ति को रोकने के लिए, उसकी इच्छाओं के निरोध के लिए और दूसरों को हानि पहुँचाने की उसकी प्रकृति को नियन्त्रित करने के लिए कोई निरोधक शक्ति होनी चाहिए। इसी से शासन का विचार उत्पन्न होता है, शासन का उद्देश्य व्यक्ति के हितों को सुरक्षित बनाना है। "सरकार की सत्ता का कारण यह है कि यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा शक्तिशाली होगा तो वह निर्बल व्यक्ति से उसकी सम्पत्ति और वांछित वस्तु छीन लेगा।" अतः "सरकार शक्तिशाली व्यक्तियों के अत्याचार से बचने के लिए निर्बल व्यक्तियों का संगठन है।"[1] किन्तु सरकार भी अत्याचारी हो सकती है, अतः उसकी शक्ति को बहुत अधिक नहीं बढ़ने देना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब प्रधान शक्ति समुदाय का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था में निहित हो। राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र में विशिष्ट वर्गों द्वारा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए साधारण जनता के हितों के कुचले जाने की अधिक सम्भावना है, प्रतिनिधिमूलक शासन-पद्धत्ति में जनता के तथा उनके प्रतिनिधियों के हित समान होने के कारण इसकी सम्भावना बहुत कम है, अतः यह शासन-पद्धत्ति राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र से श्रेष्ठ है। उस समय इंगलैण्ड के शासन पर दो-तीन सौ परिवारों का कुटिल (sinister) प्रभाव था। इसे मिटाने का सर्वोत्तम उपाय समूचे समुदाय को मताधिकार देना अथवा कम-से-कम समुदाय के 'सबसे अधिक बुद्धिमान् भाग'—औद्योगिक मध्यम वर्ग को मताधिकार

१. जार्ज काटलिन—ए हिस्टरी आफ दी पोलिटिकल फिलासफर्स, पृ० ३८७

देना आवश्यक था ताकि ब्रिटिश राजसत्ता पर इन परिवारों के एकाधिकार को तोड़ा जा सके। विशिष्ट हितों के प्रभाव को कम करने का एकमात्र साधन—मताधिकार के विस्तार से राजनीतिक सत्ता के आधार को विशाल बनाना था।[1]

तत्कालीन ब्रिटिश शासन-पद्धति के बारे में यह समझा जाता था कि इसके तीन तत्व—राजा, लार्ड सभा तथा कामन्स सभा एक-दूसरे के विरोधी होने के कारण लोकहित के लिए आवश्यक परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं। राजा के स्वार्थ और स्वेच्छाचार का विरोध लार्ड करते हैं और लार्डों की स्वार्थ-सिद्धि कामन्स सभा के विरोध के कारण नहीं हो पाती, इस प्रकार समाज के प्रमुख तत्वों के निजी स्वार्थों का नियन्त्रण होने के कारण जनहित की अभीष्ट सिद्धि होती है। किन्तु मिल इस विचार से सहमत न था, उसका यह कहना था कि अपने सामान्य स्वार्थों के कारण राजा और लार्ड कामन्स सभा के विरुद्ध एक हो जाते हैं। इस दशा में राजा प्रजा के लिए अभिशाप बन जाता है। इन दोनों की सम्मिलित शक्ति को भंग करने के लिए तथा कामन्स सभा को शक्तिशाली बनाने के लिए यह व्यवस्था करना आवश्यक है कि यदि लार्ड सभा किसी विधेयक को रद्द कर दे और कामन्स सभा उसे तीन बार पास कर दे तो इसे कानून समझा जाए। उसकी यह व्यवस्था १९११ में लार्ड सभा का अधिकार कम करने के लिए पास किए गए कानून से मिलती है। मिल प्रतिनिधि-मूलक शासन-व्यवस्था में जनता के हितों को सुरक्षित बनाने के लिए तथा प्रतिनिधियों का जनता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बनाए रखने की दृष्टि से यह आवश्यक समझता था कि चुनाव जल्दी-जल्दी होने चाहिएँ। मतदाताओं के सम्बन्ध में उसका यह सुझाव था कि मताधिकार केवल ४० वर्ष से अधिक आयु वाले पुरुषों को दिया जाना चाहिए। स्त्रियों को यह अधिकार देना इसलिए ठीक नहीं है कि पत्नी तथा कन्या के रूप में उनके हितों की सुरक्षा पति और पिता के रूप में पुरुष पहले से ही कर रहे हैं। मतदाता के लिए चालीस वर्ष की आयु का बन्धन लगाने का कारण उसने यह बताया है कि इस अवस्था तक उनमें नौजवान व्यक्तियों की भाँति उन्नति एवं कल्याण में गहरी दिलचस्पी लेने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। मिल के इन विचारों और लेखों ने इंगलैण्ड पर गहरा प्रभाव डाला और १८३२ के महान् सुधार बिल के लिए पथ प्रशस्त करने में बड़ा भाग लिया।

जॉन आस्टिन (१७९०-१८५९)

विधिशास्त्र (Jurisprudence) के क्षेत्र में बेन्थम की विचारधारा को विकसित करने वाला तथा १९वीं और २०वीं शताब्दी के विधिशास्त्रियों के चिन्तन पर गहरा प्रभाव डालने वाला तथा विध्यात्मक कानून (Positive Law) का तथा सुनिश्चित व्यक्ति (Determinate) से प्रादुर्भूत होने वाली प्रभुसत्ता या सर्वोच्च सत्ता की कल्पना का जन्मदाता जॉन आस्टिन था। फ्रेंच राज्यक्रान्ति के एक वर्ष बाद जन्म लेने वाला आस्टिन अपनी शिक्षा पूरी किए बिना १७ वर्ष की आयु में सेना में भरती हो गया

१. लैंकास्टर—मास्टर्स आफ पोलिटिकल थाट, पृ० १११

किन्तु पाँच वर्ष सेना में काम करने के बाद इसका जी ऊब गया और इसने सेना की नौकरी छोड़कर बैरिस्टरी के लिए अध्ययन किया और १८१८ में इसकी परीक्षा पास करके वकालत शुरू की। किन्तु इसमें भी इसे कोई सफलता नहीं मिली। अपने समूचे जीवन में यह १५०० रुपये से अधिक नहीं कमा सका, उसका निर्वाह छोटे भाई की कमाई से और पत्नी की सम्पत्ति से हुआ। १८२९ में इसका विवाह सारा टेलर नामक उच्च कुलोत्पन्न साहित्यिक प्रतिभासम्पन्न महिला से हुआ। उस समय के सुप्रसिद्ध बुद्धिजीवी लोगों से सारा का परिचय था, वह बेन्थम, जेम्स मिल और ग्रोट को घर पर बुलाया करती थी। इनके साथ सम्पर्क में आने से आस्टिन को उपयोगितावाद के सिद्धान्तों का प्रगाढ़ परिचय हुआ।

लन्दन विश्वविद्यालय का महाविद्यालय स्थापित होने पर आस्टिन को इसमें विधिशास्त्र पढ़ाने का कार्य सौंपा गया। इस पद के लिए विशेष योग्यता प्राप्त करने की दृष्टि से आस्टिन ने जर्मनी जाकर दो वर्ष हाइडलबर्ग और बोन के विश्वविद्यालयों में अध्ययन किया। यहाँ वह सैविग्नी जैसे धुरन्धर जर्मन विधिशास्त्रियों (Jurists) और विद्वानों के सम्पर्क में आया। उस पर गुस्टाव वान ह्यूगों का प्रभाव पड़ा, उसने उससे भावात्मक कानून (Positive Law) के दर्शन का विचार ग्रहण किया। १८२२ से उसने लन्दन विश्वविद्यालय में विधिशास्त्र पर व्याख्यान देने आरम्भ किए, उसके शिष्यों में जॉन स्टुअर्ट मिल, सर सैमुअल रोमिल्ली तथा बाद में सार्वजनिक जीवन में महत्वपूर्ण भाग लेने वाले अनेक व्यक्ति थे। किन्तु विधिशास्त्र के शुष्क विषय को पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या निरन्तर कम हो रही थी; १८३२ में यह पाँच ही रह गई। उन दिनों अध्यापकों का वेतन विद्यार्थियों की फीस से दिया जाता था। आस्टिन के शिष्यों की संख्या घटने पर उसे अपना कार्य छोड़ना पड़ा। इसके बाद विधिशास्त्र का पण्डित होने के कारण उसे दो सरकारी कमीशनों का भी सदस्य बनाया गया। १८३२ में उसने 'विधिशास्त्र का क्षेत्र' (Province of Jurisprudence) नामक पुस्तक प्रकाशित की। १८५९ में आस्टिन की मृत्यु के बाद उसकी पत्नी ने इसमें अपने पति की कुछ अन्य रचनाओं को जोड़कर इन्हें 'विधिशास्त्र पर व्याख्यान' (Lectures on Jurisprudence) के नाम से प्रकाशित किया।

इसी एक पुस्तक के आधार पर आस्टिन का विधिशास्त्र (Jurisprudence) के क्षेत्र में असाधारण स्थान है और विधिशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी से यह आशा रखी जाती है कि वह जॉन आस्टिन के सिद्धान्त से अवश्य परिचित होगा। इस शताब्दी के आरम्भ से विद्यार्थियों को उसके सिद्धान्त इसलिए पढ़ाए जाते हैं कि उन्हें इनका खण्डन करना सिखाया जाए। यह अपने-आपमें एक महत्वपूर्ण बात है और आस्टिन के सिद्धान्तों की प्रखरता को प्रदर्शित करती है। आस्टिन की यह पुस्तक बड़ी नीरस और शुष्क है। लार्ड मेलबोर्न ने इसे पढ़ने के बाद कहा था कि उसने ऐसी नीरस कोई दूसरी पुस्तक नहीं पढ़ी। किन्तु १८६१ में हेनरी मेन ने इसमें प्रतिपादित प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का खण्डन करके आस्टिन को अमर बना दिया। यदि उसने इसकी आलोचना न की होती तो शायद विद्वान् आस्टिन का नाम भी न जानते। मेन की आलोचना के बाद इसके सिद्धान्तों का निराकरण करने के लिए ही इसे पढ़ा जाने लगा।

मैक्सी ने लिखा है कि ग्रास्टिन के सैनिक प्रशिक्षण ग्रौर ग्रनुभव ने उसे ऐसा तैयार कर दिया था कि बेन्थम के कानून के वास्तववादी सिद्धान्त के साथ सम्पर्क में ग्राते ही उसे यह एक महान् सत्य प्रतीत हुग्रा ग्रौर उसने जर्मन गुरुग्रों के सम्पर्क में प्रखर एवं निर्मल बनी हुई बुद्धि से सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए विधिविषयक नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, बेन्थम के कानून सम्बन्धी विचारों को ग्रागे बढ़ाते हुए विधिशास्त्र के क्षेत्र में एक नवीन क्रान्ति की। इस विषय में उसके कानून ग्रौर प्रभुसत्ताविषयक विचार उल्लेखनीय हैं।[1]

कानून की परिभाषा—ग्रास्टिन कानून का ऐसा लक्षण करना चाहता था जो सब प्रकार की ग्रस्पष्टता ग्रौर सन्देह से रहित हो। उसने इस विषय में बेन्थम के इस मौलिक सिद्धान्त को मान लिया था कि किसी नियम को कानून का रूप इस विशेषता से मिलता है कि उसका सदैव स्वाभाविक रूप से पालन किया जाए। बेन्थम का ग्रनुसरण करते हुए ग्रास्टिन ने कानून की परिभाषा इस प्रकार की है—"यह एक निश्चित सर्वोच्च व्यक्ति (Determinate Superior) की इच्छा की ऐसी ग्रभिव्यक्ति है जिसके ग्रनुसार एक निश्चित कार्य किया जाना चाहिए, जो व्यक्ति ऐसा नहीं करेंगे वे राजदण्ड के भागी होंगे।" इस लक्षण के ग्रनुसार कानून प्रभुसत्ता के ग्रादेश हैं ग्रौर ग्रौर न्यायालयों द्वारा लागू किए जाते हैं। जो नियम न्यायालयों द्वारा लागू नहीं किए जा सकते, वे ग्रास्टिन के मत में कानून नहीं हैं; उदाहरणार्थ, ईश्वरीय नियम ग्रथवा सामाजिक प्रथाग्रों के नियम। बाइबल, वेदों, पुराणों, धर्मशास्त्रों में ग्रनेक दैवी विधानों का प्रतिपादन किया गया है, ये सभी नियम न्यायालयों में लागू नहीं किए जा सकते, ग्रतः ये कानून नहीं हो सकते। प्रत्येक समाज में ग्रनेक प्रकार की रूढ़ियाँ, रिवाज ग्रौर परम्पराएँ प्रचलित होती हैं, हिन्दू समाज में दहेज, ग्रन्तर्जातीय विवाह, विधवा-विवाह निषेध की रूढ़ियाँ प्रचलित हैं; किन्तु ग्रास्टिन के लक्षण के ग्रनुसार ये कानून नहीं हैं। ग्रास्टिन के मतानुसार कानून वही हो सकता है जो प्रभुसत्ता रखने वाले उत्कृष्ट व्यक्ति का निश्चित ग्रादेश हो ग्रौर उसका उल्लंघन करने पर निश्चित दण्ड मिले। इसका स्वरूप निश्चित होने के कारण वह इसे **विध्यात्मक या भावात्मक कानून** (Positive Law) कहता है, ग्रन्य सभी मानवीय ग्रादेशों या ग्राज्ञाग्रों को वह कानून नहीं, किन्तु नैतिकता के नियम समझता है, क्योंकि इनका उल्लंघन करने वाले किसी व्यक्ति को न्यायालय द्वारा दण्ड नहीं दिया जाता है।

ग्रास्टिन के समय में कानून के ग्रनेक प्रकार माने जाते थे : ईश्वरीय कानून, प्राकृतिक कानून, ग्रन्तर्राष्ट्रीय कानून ग्रौर वैज्ञानिक कानून की सत्ता स्वीकार की जाती थी। ग्रास्टिन ने उपर्युक्त परिभाषा को कठोरतापूर्वक लागू करते हुए बड़ी स्पष्टता ग्रौर सुबोधता के साथ कानून का स्वरूप स्पष्ट किया। उसने विभिन्न प्रकार के कानूनों को तीन बड़े वर्गों में बाँटा : पहला वर्ग ग्रनिश्चित विधियों या कानूनों (Improper Laws) का है, इसके दो बड़े भेद सामाजिक रीति-रिवाज ग्रौर ग्रन्तर्राष्ट्रीय कानून हैं। दूसरा वर्ग निश्चित विधियों (Proper Laws) का है, इसके तीन उपभेद दैवी

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० ४७१

(Divine) विधियाँ, राजकीय (Civil) विधियाँ तथा विभिन्न संघों और समुदायों (Associations) के कानून हैं। तीसरे वर्ग के नियम वास्तव में कानून न होने पर भी प्रतीकात्मक रूप से कानून माने जाते हैं, अतः इन्हें प्रतीकात्मक विधि (Metaphorical Laws) कहा जाता है, जैसे भौतिकशास्त्र आदि विभिन्न विज्ञानों के नियम तथा राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि के नियम।

आस्टिन ने उपर्युक्त सूक्ष्म विश्लेषण से कानून के विशाल क्षेत्र को बड़ा संकुचित और संकीर्ण बना दिया, उसके मतानुसार वास्तविक कानून के क्षेत्र में ईश्वरीय कानून, प्राकृतिक कानून, अन्तर्राष्ट्रीय और वैधानिक कानून का कोई स्थान नहीं है। इससे विधिशास्त्र के क्षेत्र के संकुचित होने पर भी, उसमें अभूतपूर्व स्पष्टता, सरलता और शुद्धता आई। यह आस्टिन की बहुत बड़ी देन थी।

प्रभुसत्ता का स्वरूप—कानून का लक्षण करने के बाद उसने इसके मूल स्रोत प्रभुसत्ता (Sovereignty) का प्रतिपादन किया। उसके मतानुसार इसकी परिभाषा निम्नलिखित है—"यदि कोई ऐसा निश्चित मानव, जो उच्च और श्रेष्ठ है, जो इस प्रकार के किसी अन्य श्रेष्ठ व्यक्ति से आदेश प्राप्त करने का आदी नहीं है; एक निश्चित समाज के एक बड़े भाग से आम तौर पर अपने आदेशों का पालन करवाने का अभ्यस्त है, तो वह उस समाज में प्रभु है और वह समाज उस श्रेष्ठतम मानव सहित राजनीतिक तथा स्वतन्त्र समाज है।"[1] आस्टिन ने इस लक्षण में वैज्ञानिक शुद्धता और स्पष्टता लाने का प्रयास किया है। उसके मतानुसार राज्य के सभी प्रकार के नियमों और कानूनों का मूल स्रोत प्रभु है। पार्लियामैण्ट द्वारा बनाए गए कानून (statutes) स्पष्ट रूप से प्रभु की इच्छा हैं, न्यायालयों के निर्णयों के रूप में विद्यमान कानूनों का मूल स्रोत भी प्रभु को ही माना जाना चाहिए, क्योंकि न्यायाधीश उसके प्रतिनिधि के रूप में काम करते हैं। जहाँ तक रिवाजों और परम्पराओं का सम्बन्ध है, वे भी प्रभु की इच्छा का परिणाम हैं, उनका पालन इसलिए होता है कि वह उनको अनुमति देता है। उसकी अनुमति को आदेश समझा जाना चाहिए, वह जब चाहे तब निश्चित कानून द्वारा इन परम्पराओं को समाप्त कर सकता है। आस्टिन का दृष्टिकोण बड़ा स्पष्ट और तथ्यमूलक है। बोदैं (Bodin) के समय से किसी विचारक ने इतनी स्पष्टता से प्रभुसत्ता के सिद्धान्त की व्याख्या नहीं की थी। वह केवल ऐसे "निश्चित उच्च मानव को ही प्रभुसत्ता मानने को तैयार था जिसके आदेशों का स्वाभाविक रूप से समाज के अधिकांश भाग द्वारा पालन" किया जाता हो। इसके अतिरिक्त समाज में अन्य सभी नियमों की सत्ता काल्पनिक थी। आस्टिन के मतानुसार प्रभुसत्ता की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित थीं।

प्रभुसत्ता की **पहली** विशेषता प्रत्येक राज्य में इसका एक निश्चित व्यक्ति में या व्यक्ति-समुदाय में निहित होना है। दूसरे शब्दों में यह रूसो की सामान्य इच्छा

१. *Jurisprudence*, Vol. I, p. 226. If a determinate human superior not in a habit of obedience to a like superior receives habitual obedience from the bulk of a given society, that determinate superior is sovereing in that society and the society (including the superior) is a society political and independent.

(General Will) में, दैवी इच्छा (Divine Will) में या लोकमत में नहीं रह सकती, क्योंकि ये सभी अनिश्चित और अस्पष्ट हैं। **दूसरी** विशेषता प्रभुसत्ता के गुणों की है। निश्चित व्यक्ति में अवस्थित प्रभुसत्ता किसी अन्य भौतिक या दैवी शक्ति द्वारा नियन्त्रित नहीं की जा सकती। यह सब नियमों और प्रतिबन्धों से मुक्त, सब कानूनी बन्धनों, अधिकारों तथा कर्त्तव्यों से ऊपर है। प्रभुसत्ता का अर्थ ही यह है कि इससे ऊँची या बड़ी या इसका नियन्त्रण करने वाली कोई सत्ता नहीं है। यह सर्वोच्च, असीम, अमर्यादित, पूर्ण, निरपेक्ष और निर्बाध होती है। इसकी **तीसरी** विशेषता इसकी अखण्डता और अविभाज्यता है। सर्वोच्च होने के साथ-साथ यह एक एवं अखण्ड होनी चाहिए। यदि एक से अधिक सत्ताएँ होंगी तो उनमें संघर्ष अनिवार्य है। उसके सर्वोच्च होने के लिए यह आवश्यक है कि सत्ता का अन्तिम स्रोत अविभाज्य और अखण्ड हो। यह आस्टिन की सर्वथा नवीन कल्पना थी, क्योंकि वेन्थम इसे अविभाज्य नहीं मानता था।[1] आस्टिन के सम्मुख यह कठिनाई थी कि सं० रा० अमेरिका जैसे संघीय विधान वाले देशों में इस प्रभुसत्ता को संघ एवं राज्यों में विभक्त होने वाला माने या अविभाज्य माने। उसने इसे अविभाज्य मानते हुए इसका अन्तिम अधिष्ठान मतदाता नागरिकों को माना है। **चौथी** विशेषता प्रभुसत्ता का ऐसे व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय में निहित होना है जिसकी ओर स्पष्ट रूप से संकेत किया जा सके।

आलोचना—आस्टिन के प्रभुसत्ता और कानूनविषयक सिद्धान्तों का जितना उग्र खण्डन किया जाता है उतना शायद ही किसी अन्य सिद्धान्त का किया जाता हो। पिछले सौ वर्षों में सर हेनरी मेन से हैरल्ड लास्की तक, १९वीं तथा २०वीं शताब्दी के अनेक प्रमुख राजनीतिक विचारकों ने इसका प्रबल खण्डन किया है। इसका प्रधान विरोध निम्नलिखित कारणों के आधार पर है।

(१) आस्टिन की यह धारणा ठीक नहीं है कि प्रत्येक राज्य में प्रभुसत्ता की शक्ति निर्बाध, अमर्यादित और असीम होती है। सर हेनरी मेन ने इसका खण्डन करने के लिए सिख राजा रणजीत सिंह का उदाहरण दिया है, वह निरंकुश शासक था, उसके आदेश की अवहेलना का अर्थ मृत्यु-दण्ड या अंग-भंग था, फिर भी वह आस्टिन की धारणा के अनुसार असीम, अबाध और अमर्यादित शक्ति नहीं रखता था। उसकी प्रजा का आचरण उसके आदेशों के अनुसार नहीं, अपितु परम्परागत रीति-रिवाजों के अनुसार होता था, वह स्वयं भी उनके विरुद्ध नहीं जा सकता था। प्राचीन भारत के स्वेच्छाचारी राजा निरंकुश होते हुए भी धार्मिक नियमों की अवहेलना नहीं कर सकते थे। लास्की ने वास्तविक ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर यह सिद्ध किया है कि कहीं किसी भी शासक या प्रभु ने असीम अधिकारों वाली शक्ति का प्रयोग नहीं किया, जब कभी ऐसी शक्ति का प्रयोग करने का प्रयत्न किया गया है तो उसका परिणाम इस शक्ति को नियन्त्रित करने वाले संरक्षणों की व्यवस्था करना हुआ है। इंगलैण्ड में कानूनी दृष्टि से सम्राट् सहित पार्लियामैण्ट जनमत की अवहेलना कर सकती है, किन्तु यह इन्हीं शर्तों पर किया जा सकता है कि सम्राट् या पार्लियामैण्ट दोनों समाप्त हो जाएँगे।

१. डनिंग—ए हिस्टरी आफ पोलिटिकल थियोरीज़, पृ० २३१

(२) ग्रास्टिन के सिद्धान्त पर दूसरा ग्राक्षेप यह है कि प्रभुसत्ता ग्रविभाज्य नहीं है। ब्रिटिश शासन-व्यवस्था में प्रभुसत्ता सम्राट्, लार्ड सभा तथा कामन्स सभा नामक राज्य के तीन ग्रंगों में बँटी हुई है। सं० रा० ग्रमेरिका जैसे संघीय संविधान वाले देशों में प्रभुसत्ता संघीय कांग्रेस तथा राज्यों की विधानपालिकाग्रों में बँटी रहती है, वहाँ संविधान द्वारा शक्तियों का बँटवारा इस ढंग से किया गया है कि संघीय सरकार ग्रौर राज्य सरकारें ग्रपने-ग्रपने क्षेत्र में स्वतन्त्र हैं। वर्तमान समय में बहु-समुदायवादी (Pluralists) लास्की, मैकाइवर, कोल ग्रादि विचारक राज्य की ग्रसीम, ग्रविभाज्य शक्ति का खण्डन करते हुए उसे राज्य के विभिन्न धार्मिक, सांस्कृतिक एवं ग्रार्थिक समुदायों में बँटा हुग्रा मानते हैं, इनमें से प्रत्येक समुदाय का ग्रपना व्यक्तित्व, ग्रपनी इच्छा ग्रौर ग्रपने नियम हैं; ये नियम राज्य द्वारा नहीं बनाए गए हैं। बहुसमुदाय-वादी प्रभुसत्ता को राज्य में तथा इन समुदायों में बँटा हुग्रा मानते हैं। ग्रतः किसी भी राज्य में प्रभुसत्ता ग्रखण्ड ग्रौर ग्रविभाज्य नहीं है।

(३) तीसरा ग्राक्षेप प्रभुसत्ता के निश्चित स्वरूप वाला होने के सम्बन्ध में है। ग्रास्टिन के मतानुसार प्रभुसत्ता किसी एक निश्चित व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय में होनी चाहिए, जैसे इंगलैण्ड में यह सत्ता पार्लियामैण्ट सहित सम्राट् में निहित है। किन्तु यह स्थिति सं० रा० ग्रमेरिका जैसे संघीय विधान वाले देशों में नहीं है, यहाँ प्रभुसत्ता रखने वाले निश्चित व्यक्ति का पता लगाना सुगम कार्य नहीं है। लास्की ने इसे एक ग्रसम्भव साहसिक कार्य बताया है, क्योंकि यहाँ संविधान का संशोधन विभिन्न समयों पर विभिन्न प्रकार के समूहों द्वारा होता है। स्विट्ज़रलैण्ड में संविधान के संशोधन के लिए जनमतसंग्रह होता है ग्रौर जनता द्वारा स्वीकृत होने पर संशोधन कानून का रूप धारण कर लेता है। ग्रतः यहाँ प्रभुसत्ता का ग्रन्तिम स्रोत जनता को स्वीकार किया जाएगा, किन्तु ग्रास्टिन के मतानुसार जनता प्रभु नहीं हो सकती, क्योंकि न तो वह एक निश्चित समुदाय है ग्रौर न ही उसका कोई निश्चित संगठन है। वस्तुतः इंगलैण्ड के ग्रतिरिक्त ग्रन्य देशों में प्रभुसत्ता के ग्रधिष्ठान का कोई निश्चित ग्राधार नहीं मिलता। इस विषय में यह कथन सर्वथा यथार्थ है कि ग्रास्टिन के प्रभुसत्तासम्पन्न व्यक्ति की सत्ता उसके ग्रन्थों के ग्रतिरिक्त वास्तविक जगत् में कहीं नहीं है। ज्यामितिशास्त्र के जन्मदाता यूक्लिड ने बिन्दु का लक्षण करते हुए कहा है कि इसकी लम्बाई-चौड़ाई नहीं होती; जिस प्रकार ऐसा बिन्दु सर्वथा काल्पनिक है ग्रौर वास्तविक जगत् में नहीं पाया जाता, इसी प्रकार ग्रास्टिन का प्रभु भी राजनीतिशास्त्र की पुस्तकों में ही मिलता है, व्यावहारिक जगत् में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता।

प्रभुसत्ता की भाँति, ग्रास्टिन के कानून के लक्षण पर भी कई प्रबल ग्राक्षेप किए गए हैं। ग्रास्टिन के मतानुसार उच्चसत्ताधारी व्यक्ति का ग्रपने से हीन सत्ता रखने वाले व्यक्ति को दिया गया ग्रादेश कानून है ग्रौर इसका उल्लंघन दण्डनीय ग्रपराध होता है। इस लक्षण पर प्रबल ग्राक्षेप करते हुए सर हेनरी मेन ने कहा है कि कानून को किसी भी प्रकार से सर्वोच्च सत्ता का ग्रादेश नहीं माना जा सकता। प्रत्येक समाज में ग्रनादि काल से कई ऐसी प्रथाएँ ग्रौर परम्पराएँ चली ग्रा रही होती

हैं जो किसी राजा या प्रभु के आदेश से जारी नहीं की गईं। ये नियम उस समाज के आर्थिक और नैतिक आदर्शों के अनुरूप होते हैं। जनता इनका पालन अपनी इच्छा से करती है, दण्ड के भय से नहीं। कोई भी शासक अपनी इच्छा मात्र से इनमें परिवर्तन नहीं कर सकता। प्राचीन काल के किसी भी समाज में आस्टिन के सिद्धान्त के अनुसार कानून की सत्ता नहीं सिद्ध की जा सकती, इन सब में प्रथा और परम्परा का शासन था, राजा भी इन प्रथाओं की अवहेलना नहीं कर सकते थे। सर हेनरी मेन ने इस सम्बन्ध में सत्य ही लिखा है कि कानून जनता के साथ ही बढ़ता और विकसित होता है। यह किसी कानून-निर्माता की निरंकुश इच्छा का परिणाम नहीं है, अपितु समाज की एक प्रगतिशील, मन्द एवं दीर्घ विकास वाली प्रक्रिया का परिणाम है। **दूसरा** आक्षेप आस्टिन द्वारा कानून के दण्ड के तत्व पर अनावश्यक बल देने के सम्बन्ध में है। आस्टिन के मतानुसार कानून का पालन इसके दण्ड के भय से किया जाता है। किन्तु वस्तुतः कानून का पालन केवल भय से नहीं, अपितु अभ्यास से, आदत से तथा अन्य कारणों से भी होता है। फ्रेंच समाजशास्त्री ड्युग्वी (Duguit) ने कहा है कि हम कानून का पालन इसलिए करते हैं कि वह समाज के हित में है, उसके बिना सामाजिक व्यवस्था का कायम रह सकना असम्भव है।

आस्टिन का महत्व और प्रभाव—आस्टिन के प्रभुसत्ता के सिद्धान्त पर सौ वर्ष से प्रबल आक्षेप हो रहे हैं, फिर भी यह राष्ट्रीयता का प्रमुख आधार बना हुआ है और राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उसकी सबसे महत्वपूर्ण देन है। मैक्सी के शब्दों में राजनीतिक बहुसमुदायवाद के पक्षपोषकों की आलोचना के झंझावात के बावजूद यह सिद्धान्त सुप्रतिष्ठित है।[1] इसकी आलोचना का कारण स्पष्ट था। यह इतना क्रान्तिकारी और नवीन सिद्धान्त था कि इसका स्वीकार किया जाना सम्भव न था। इसने पुराने विधिशास्त्र के चिरपोषित सिद्धान्तों पर कुठाराघात करते हुए संविधान के अधिकतम पवित्र समझे जाने वाले सिद्धान्तों को तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों को कानून मानने से इनकार किया, उन्हें भावात्मक नैतिकता (Positive morality) कहा। यह पुराने विधिशास्त्रियों को सह्य न था, अतः उसके विचारों और सिद्धान्तों का विधिशास्त्रियों द्वारा स्वागत बहुत कम हुआ, किन्तु विरोध बहुत अधिक हुआ। योरोप पर उसके सिद्धान्तों का बहुत कम प्रभाव पड़ा। फिर भी आस्टिन का प्रभुसत्ता का सिद्धान्त इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि उसने इस विषय में वैज्ञानिक शुद्धता, स्पष्टता और सुबोधता लाने का प्रयत्न किया है, उसके सिद्धान्त पर की गई प्रबल आलोचनाओं ने राजनीतिक चिन्तन की प्रगति में बड़ा सहयोग दिया, उसने विधिशास्त्र को निश्चित परिभाषाएँ और शब्द प्रदान किए, विश्लेषणवादी विधिशास्त्र (Analytical Jurisprudence) को जन्म दिया। आस्टिन के सिद्धान्त का अनुसरण इंगलैण्ड में डायसी, जेम्स ब्राइस और हालैण्ड जैसे विधिशास्त्रियों ने तथा अमेरिका में कैलहून तथा विलोबी जैसे विद्वानों ने किया।

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० ४७४

चौथा अध्याय

उपयोगितावादी विचारक

जॉन स्टुअर्ट मिल (१८०६-१८७३ ई०)

उपयोगितावाद का अन्तिम प्रबल समर्थक और पक्षपोषक जेम्स मिल का बड़ा पुत्र जॉन स्टुअर्ट मिल था। डनिंग ने यह ठीक ही लिखा है कि जेम्स मिल का जन्म १७७३ ई० में हुआ था और उसके बेटे जॉन मिल का देहान्त १८७३ में। इन दोनों के जन्म और अवसान के बीच की एक शताब्दी उपयोगितावाद के प्रादुर्भाव, विकास और ह्रास की शती है।[1] जेम्स मिल वेन्थम का घनिष्ठ मित्र और प्रधान शिष्य था, उसने अपने पुत्र को बचपन से ही वेन्थम के आदर्शों के अनुसार ढालने का पूरा प्रयत्न किया, उसकी शिक्षा की ओर अत्यधिक ध्यान दिया। जेम्स मिल को शिक्षा के विषय में बड़ी अभिरुचि थी, उसने उस पर बहुत-कुछ लिखा था। वह संसार को यह प्रदर्शित करना चाहता था कि बुद्धिमत्तापूर्ण रीति से दी गई शिक्षा मनुष्य को कितना योग्य बना सकती है, अतः जॉन की शिक्षा उसने अपने हाथ में ली, तीन वर्ष की आयु में उसे यूनानी भाषा सिखाई, आठ वर्ष की अवस्था में उसे लैटिन, बीजगणित और ज्यामिति का अध्ययन कराया। जब अधिकांश बालक स्कूल की पढ़ाई आरम्भ करते हैं, उस समय तक जॉन यूनानी भाषा में प्लेटो के सब संवाद, हिरोडोटस की तथा जेनोफन की रचनाएँ पढ़ चुका था। यद्यपि उसे राबिन्सन क्रूसो के पढ़ने का शौक था, किन्तु उसका पिता उसे असाधारण विद्वान् बनाने पर तुला हुआ था। जॉन मिल ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि उसे बच्चों की कहानियों की पुस्तकें और खिलौने कभी नहीं दिए गए, ये उसे कभी-कभी सम्बन्धियों या परिचित व्यक्तियों से भेंट के रूप में ही मिलते थे।[2] ११ वर्ष की आयु में उसे लिवी द्वारा लैटिन में लिखित 'रोमन शासन का इतिहास' पढ़ने के लिए दिया गया। १३ वर्ष की आयु होने पर पिता ने एडम स्मिथ और रिकार्डो की अर्थशास्त्रविषयक पुस्तकें तथा तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान आदि के गम्भीर एवं जटिल विषय उसे पढ़ाने शुरू किए। इस समय तक पिता ही उसका एकमात्र शिक्षक था, वह सुकरात की शैली से उससे प्रश्न पूछकर तथा उस पर कठोर नियन्त्रण और अनुशासन रखकर उसे अधिक-से-अधिक योग्य बनाने का प्रयत्न कर रहा था।

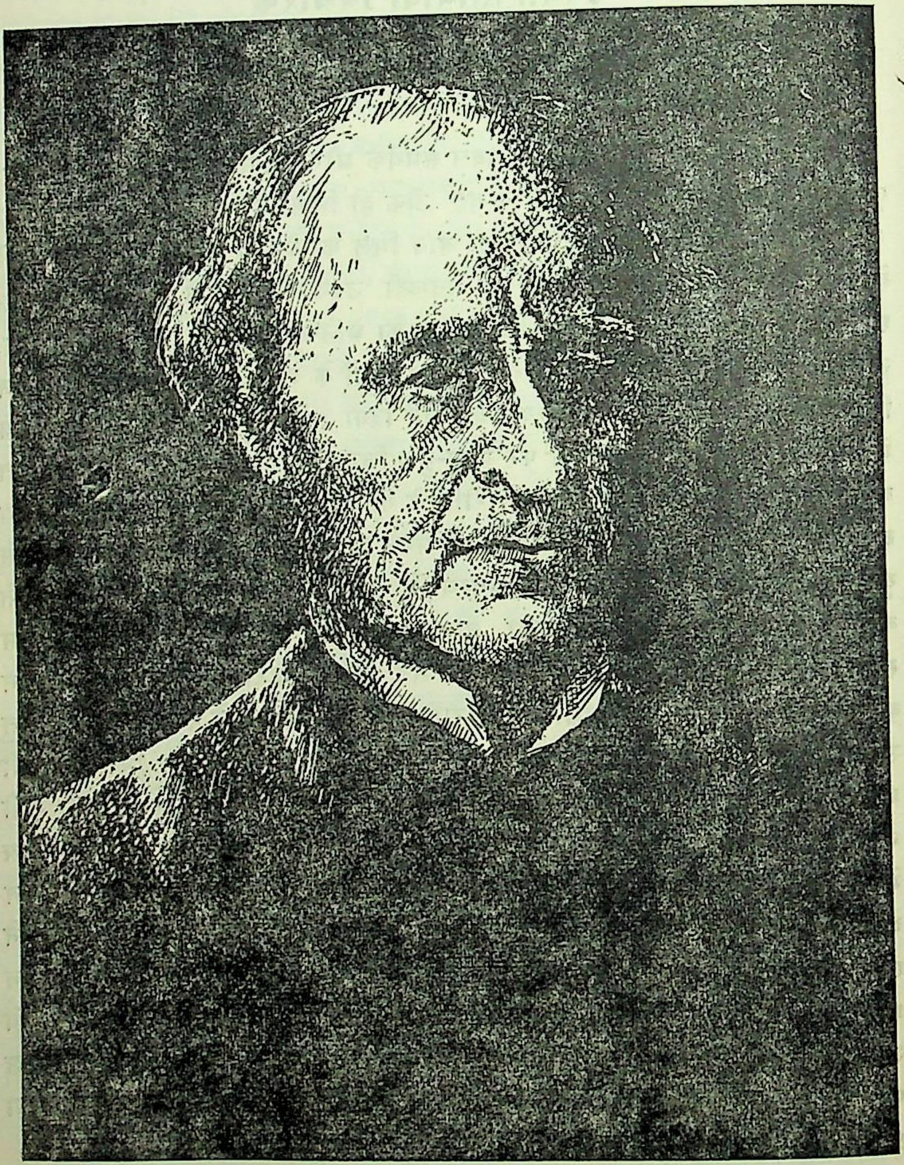
१४ वर्ष की आयु में उसे बेन्थम के छोटे भाई सर सैमुअल बेन्थम के साथ एक वर्ष के लिए फ्रांस भेजा गया, यहाँ उसे फ्रेंच भाषा, साहित्य और संस्कृति का ज्ञान कराया गया, दक्षिणी फ्रांस में उसे पिरेनीज़ पर्वतमाला में तथा अन्य स्थानों पर

---

१. डनिंग—ए हिस्टरी आफ पोलिटिकल थियोरीज, खण्ड ३, पृ० २३५

२. काटलिन—ए हिस्टरी आफ पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० ३६०

घुमाया गया । इसका उस पर गहरा प्रभाव पड़ा, उसे वनस्पतिशास्त्र और प्राणिशास्त्र के अध्ययन में अभिरुचि उत्पन्न हुई, उसमें घूमने का ऐसा शौक पैदा हुआ कि मृत्यु-पर्यन्त वह भ्रमण का शौकीन बना रहा । इंगलैण्ड वापिस लौटने पर उसे बेन्थम की



जॉन स्टुअर्ट मिल

'कानून के सिद्धान्त' की ड्युमोन्त द्वारा सम्पादित फ्रेंच पुस्तक पढ़ने को दी गई । उसने आत्मकथा में लिखा है कि "इस पुस्तक के अध्ययन से मेरे जीवन में और मानसिक विकास में नवयुग का श्रीगणेश हुआ ।" इसी समय जॉन आस्टिन से उसे रोमन कानून

का अध्ययन कराया गया। १६ वर्ष की अवस्था में बेन्थम के सिद्धान्तों के अनुसार राजनीतिक और नैतिक प्रश्नों पर वादविवाद करने के लिए बनाई गई उपयोगितावादी सोसायटी (Utilitarian Society) का वह सदस्थ बना और ३½ वर्ष तक वह अन्य तरुणों के साथ इसके वादविवादों में प्रमुख भाग लेता रहा। बाद में वह इस प्रकार की दो अन्य वादविवाद सभाओं The Speculative Debating Society में तथा The Political Economy Club में भाग लेता रहा, इससे उसकी बौद्धिक तथा मानसिक प्रखरता का बहुत विकास हुआ।

१७ वर्ष की छोटी आयु में, अपने पिता के प्रभाव से उसे १८२३ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भारत के साथ होने वाले पत्र-व्यवहार विभाग के निरीक्षक कार्यालय (Office of the Examiner of India Correspondence) में अपने पिता के नीचे नौकरी मिल गई। उसका कार्य भारत भेजे जाने वाले पत्रों के मस्विदे या प्रारूप तैयार करना था, वह इस कला में अत्यन्त कुशल था। इण्डिया आफिस में कार्य करने से उसे शासन की वास्तविक समस्याओं का गहरा और क्रियात्मक अनुभव हुआ। १८५६ में वह इस विभाग का अध्यक्ष बना और १८५७ में जब भारतीय विद्रोह के बाद कम्पनी की समाप्ति का निश्चय किया जाने लगा तो उसे कम्पनी की ओर से इस निश्चय के विरुद्ध संसद् को दिए जाने वाले आवेदनपत्र को तैयार करने का काम सौंपा गया। उसने इसे इतने प्रभावशाली ढंग से लिखा कि अर्ल ग्रे ने यह घोषणा की थी कि उसने उस समय तक इससे अधिक अच्छे राजकीय पत्र को नहीं पढ़ा था।

मिल के विचारों पर प्रभाव डालने वाली दो बड़ी घटनाएँ उल्लेखनीय हैं : पहली घटना २० वर्ष की आयु में उसका तीव्र मानसिक अवसाद (Mental depression) था। पिता द्वारा अत्यधिक एवं कठोर अध्ययन के बोझ से तथा एक वर्ष तक बेन्थम की पांडुलिपियों से 'साक्षी की युक्तियुक्तता' (Rationale of Evidence) नामक ग्रन्थ के सम्पादन के लिए किए गए कठोर परिश्रम से १८२६ में उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया और उसमें प्रबल निराशा की भावना उत्पन्न हुई। इसमें उसे यह अनुभूति हुई कि बेन्थम का आनन्दवाद का सिद्धान्त ठीक नहीं है। उसने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं अब तक जिन विचारों और परिवर्तनों को मूर्त्तरूप देने का प्रयास करता रहा हूँ वे सब विचार यदि इस समय क्रियात्मक रूप धारण कर लें तो भी मैं महान् आनन्द और सुख को कभी प्राप्त नहीं कर सकूँगा। उस समय मेरी मानसिक स्थिति ऐसी थी कि मैं सुखी नहीं हो सकता था, अतः मुझे अपने जीवन का समूचा उद्देश्य विफल प्रतीत होने लगा। ऐसा होते ही मेरा दिल बैठ गया, मेरे जीवन का निर्माण करने वाली नींव ढह गई। उसे इस बात का विश्वास हुआ कि सुख के बारे में यह निराली बात है कि वह उसके पीछे दौड़ने से नहीं मिलता। उसे यह अनुभव हुआ कि अब तक उसने कोरा शुष्क ज्ञान प्राप्त करके बड़ी भूल की है, उसे अपनी भावनाओं, कल्पनाओं और अनुभूतियों को सन्तुष्ट एवं पुष्ट करना चाहिए। वर्डस्वर्थ की कविताओं तथा कोलरिज के दर्शन ने उसका इस मानसिक अवसाद से उद्धार किया, इससे उसके विचारों में तथा मानसिक

चिन्तन में एक महान् क्रान्ति हुई, उसमें बुद्धि के विकास के साथ मानसिक भावनाओं के विकास की प्रखर चेतनता तथा गहरी सहानुभूति तथा अन्य व्यक्तियों की अनुभूतियों को समझने की विलक्षण क्षमता उत्पन्न हुई। वह इसे स्वयं अपना मानसिक परिवर्तन कहा करता था और इसके बाद उसके विचारों में बेन्थम के विचारों से इतना परिवर्तन आने लगा कि जब एक बार बेन्थम के अनुयायियों की एक सभा में सम्मिलित होने के लिए उसे कहा गया तो उसने कहा—"मैं ईसा को धोखा देने वाले उसके शिष्य पीटर की भाँति हूँ।"

उसके जीवन और विचारों को परिवर्तित करने वाली दूसरी घटना उसका श्रीमती टेलर के साथ सम्बन्ध था। लन्दन में उसके पड़ोस में एक दवाफरोश जॉन टेलर रहा करता था। १८३० में २५-वर्षीय जॉन मिल का उसकी २३-वर्षीय तरुण पत्नी हेलेन टेलर से परिचय हुआ। यह एक सुप्रतिष्ठित उच्च कुल की गुणवती कन्या थी। कहा जाता था कि "विचार और बुद्धि की दृष्टि से सुप्रसिद्ध कवि शैले इसकी तुलना में बच्चा था।"[1] मिल इसे बुद्धिमत्ता तथा पाण्डित्य का अवतार और चरित्र की देवी समझता था। उसका पति जॉन टेलर ईमानदार, बहादुर और सम्मानीय व्यक्ति होते हुए भी उन "बौद्धिक गुणों तथा कलात्मक अभिरुचियों से रहित था जिनके कारण वह उसका जीवनसंगी बन सकता।" श्रीमती टेलर के साथ मिल की घनिष्ठता बढ़ती गई। २१ वर्ष तक दोनों का निष्काम (platonic) प्रेम सम्बन्ध चलता रहा। १८५१ में जॉन टेलर की मृत्यु होने पर मिल ने अपने सगे-सम्बन्धियों को रुष्ट कर श्रीमती टेलर से विवाह कर लिया। इससे उसकी बड़ी तीव्र लोकनिन्दा हुई, किन्तु उसने इसकी परवाह नहीं की। उसका विश्वास था कि "वह उससे अधिक बड़ी विचारक, कार्लाइल से बड़ी कवयित्री और लगभग निर्भ्रान्त है, मानव-जाति का उद्धार उसके विचारों को क्रियात्मक रूप देने से होगा।" उसने 'स्वतन्त्रता पर' (On Liberty) नामक अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक को पत्नी के साथ मिलकर कई बार संशोधित और परिष्कृत किया था। १८५८ में दक्षिणी फ्रांस के आविन्योन नामक स्थान में पत्नी के दिवंगत होने पर इस पुस्तक का समर्पण प्रियतमा को अत्यन्त भावपूर्ण शब्दों में किया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मिल के विचारों को मानवीय एवं उदार बनाने में श्रीमती टेलर ने बहुत बड़ा भाग लिया।

१८५८ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समाप्त होने पर मिल को अच्छी पेन्शन मिली। वह अपनी पत्नी के साथ घूमने के लिए दक्षिणी फ्रांस गया, यहाँ आविन्योन (Avignon) में आकस्मिक बीमारी से पत्नी की मृत्यु हो गई और वहीं उसकी समाधि बनाई गई। मिल ने अपने जीवन का शेष बड़ा भाग आविन्योन में ही बिताया ताकि वह उसकी समाधि के पास रहता हुआ दिवंगत आत्मा से घनिष्ठ सम्बन्ध बनाए रख सके। ५९ वर्ष की आयु में यह दार्शनिक उग्र सुधार दल वालों का प्रतिनिधि बनकर वैस्ट मिन्स्टर के निर्वाचन क्षेत्र से १८६६ से ६८ तक पार्लियामैण्ट का सदस्य रहा। पार्लियामैण्ट के कार्य में उसे बहुत सफलता नहीं मिली। इसका कारण मिल के अपने

१. काटलिन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३९२

विचार-स्वातन्त्र्य के कारण कुछ निराले काम थे। उसका यह कहना था कि मैं वोट माँगने नहीं जाऊँगा, मतदाताओं को स्वयमेव योग्य व्यक्तियों का चुनाव करना चाहिए, मैं चुनाव पर खर्च नहीं करूँगा, चुनाव के लिए प्रचार नहीं करूँगा। उसने यह भी घोषणा की कि वह पार्टी के कोष में चन्दा नहीं देगा, मतदाताओं के स्थानीय कार्यों में सहायता नहीं करेगा; उसने अपने मजदूर मतदाताओं के लिए कहा था कि वे झूठे हैं। पार्लियामैण्ट का सदस्य बनने के बाद मिल ने गुप्त मतदान प्रणाली का विरोध किया और अपनी विचार-स्वतन्त्रता से अपनी पार्टी को रुष्ट किया। पार्लियामैण्ट में उसने स्त्रियों के मताधिकार, मजदूरों की दशा सुधारने पर तथा आयर्लैण्ड के भूमि सुधार पर बहुत बल दिया। मिल अपने निराले विचारों से अपने को अप्रिय बनाने का भरसक प्रयत्न करता रहा, अतः वह १८६८ में अगले चुनाव में नहीं चुना जा सका और उसने इसे अपना सौभाग्य समझा। पार्लियामैण्ट में उसके भाषण बड़े ओजस्वी तथा प्रभावशाली होते थे। ग्लैडस्टन ने लिखा था—"जब जॉन मिल बोलता था तो मुझे यह अनुभूति होती थी कि मैं एक सन्त की वाणी सुन रहा हूँ।" १८७३ में आविन्योन में अपनी पत्नी की समाधि वाले नगर में उसका देहावसान हो गया।

जॉन स्टुअर्ट की प्रधान रचनाओं को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है। पहले वर्ग में उसके जीवनकाल में प्रकाशित होने वाली रचनाएँ आती हैं, ये कालक्रम से निम्नलिखित हैं—'तर्कशास्त्र की पद्धति' (System of Logic, 1843), 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त' (Principles of Political Economy, 1848), १८५९ में उसकी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'स्वतन्त्रता पर निबन्ध' (Essay on Liberty) प्रकाशित हुई। इसी वर्ष 'संसदीय सुधार पर विचार' (Thoughts on Parliamentary Reform) नामक पुस्तक छपी। १८६० में उसने 'प्रतिनिध्यात्मक शासन पर विचार' (Consideration on Representative Government) नामक पुस्तक लिखी। १८६१ में फ्रेज़र मैगज़ीन में उपयोगितावाद पर उसका प्रसिद्ध निबन्ध छपा। १८६९ में 'स्त्रियों की पराधीनता' (The Subjection of Women) नामक सुप्रसिद्ध पुस्तक मुद्रित हुई। १८७३ में उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित होने वाली पुस्तकें उसकी 'आत्मकथा' (१८७३) तथा 'धर्म पर तीन निबन्ध' (Three Essays on Religion, 1874) तथा एच० एस० आर० इलियट द्वारा १९१० में प्रकाशित पत्रों का संग्रह (Letters) हैं।

मिल के स्वतन्त्रताविषयक विचार—राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में जॉन स्टुअर्ट की सबसे बड़ी देन व्यक्ति की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का प्रबल समर्थन है। उसने इसका अत्यन्त ओजस्वी शब्दों में 'स्वतन्त्रता पर निबन्ध' में जैसा प्रतिपादन किया है वैसा सम्भवतः मिल्टन के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा के किसी अन्य लेखक ने नहीं किया। अतः इसे मिल्टन की सुप्रसिद्ध कृति *Aeropagitica* के समान स्वाधीनता का अमर महाकाव्य और इस विषय की सर्वोत्तम रचना समझा जाता है। मिल ने इस छोटे-से निबन्ध के प्रणयन में और पत्नी के साथ मिलकर इसका बार-बार संशोधन करने में पाँच वर्ष लगाए थे और उसका यह कहना था कि मैंने अपनी किसी अन्य रचना का इससे अधिक सावधानी से सृजन अथवा इससे अधिक सावधानी से

संशोधन नहीं किया। उसने इसे दो बार लिखा और अपनी पत्नी के साथ मिलकर इसे कई बार पढ़ा, इसके एक-एक वाक्य को तोला और परखा।[1] उसका यह विश्वास था कि समय बीतने के साथ इसका महत्व बढ़ता जाएगा और १०० वर्ष बीत जाने के बाद आज भी उसकी यह भविष्यवाणी सर्वथा सत्य प्रतीत होती है।

उपयोगितावाद के आरम्भिक प्रवर्त्तकों और विचारकों ने स्वतन्त्रता को जॉन मिल के समान महत्व नहीं दिया था। दूसरे अध्याय में यह बताया जा चुका है कि बेन्थम इसे सुरक्षा के बाद दूसरा महत्वपूर्ण स्थान देता था। उसकी दृष्टि में अन्य वस्तुओं का महत्व अधिक था, किन्तु मिल ने इसे सर्वोच्च महत्व प्रदान किया। इसका कारण तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों में परिवर्तन आ जाना था। बेन्थम और जेम्स मिल के समय में राजनीति के क्षेत्र में सत्ता मुट्ठी-भर कुलीन परिवारों के हाथ में थी, उस समय अधिकांश जनता के हित के लिए यदि कुलीनों की स्वतन्त्रता पर कुछ सामाजिक अंकुश लगाया जाता तो पुराने उपयोगितावादियों को यह सर्वथा स्वाभाविक प्रतीत होता था, अतः उनके लिए स्वाधीनता कोई विशेष महत्व नहीं रखती थी। किन्तु जॉन मिल की पुस्तक लिखे जाने के समय १८५४ तक राजनीतिक परिस्थिति बिलकुल बदल चुकी थी। १८३२ के सुधार कानून ने मताधिकार व्यापक कर दिया था, चार्टिस्ट आन्दोलनकारी पार्लियामेण्ट के सुधार के लिए क्रान्तिकारी प्रस्तावों पर बल दे रहे थे। उस समय तक यह स्पष्ट हो चुका था कि जिस प्रकार पुराना सत्ताधारी अल्पसंख्यक कुलीन वर्ग समाज पर अत्याचार करता था उसी प्रकार लोकतन्त्र में सत्ता हस्तगत करने वाला बहुसंख्यक वर्ग सामान्य हित को हानि पहुँचाते हुए भीषण अत्याचार का साधन बन सकता है। सुधार कानून पास होने के बाद पार्लियामेण्ट ने बड़ी तेजी से अनेक कानून पास किए।

नवीन कानूनों से व्यक्ति की स्वतन्त्रता सीमित एवं मर्यादित हो रही थी। मध्यम-वर्गीय बुद्धिजीवी के आगे इस समय यह एक बड़ी समस्या थी कि वह अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा किस प्रकार करे। एक ओर पूंजीवाद के एकाधिकार से तथा दूसरी ओर श्रमिक अथवा सर्वहारा वर्ग के आधिपत्य की सम्भावना से उसकी स्वतन्त्रता खतरे में पड़ गई थी। जॉन मिल को इस बात का श्रेय है कि उसने ऐसी विषम परिस्थितियों में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का उग्र एवं शक्तिशाली समर्थन किया। मिल इसका समर्थन पुराने उपयोगितावादियों द्वारा रद्दी की टोकरी में डाले गए प्राकृतिक अधिकारों के आधार पर नहीं कर सकता था। अतः उसने इसका पक्षपोषण उपयोगिता के आधार पर किया। स्वतन्त्रता उच्चतम उपयोग की वस्तु है, क्योंकि वह समाज और व्यक्ति दोनों को लाभ पहुँचाने वाली है, अतः इसकी रक्षा प्राणपण से की जानी चाहिए। व्यक्ति को मानसिक और शारीरिक—विचार, भाषण और कार्य करने की पूरी स्वाधीनता होनी चाहिए।

मिल ने स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का समर्थन दो प्रकार के दार्शनिक आधारों पर किया है : पहला व्यक्ति की दृष्टि से है तथा दूसरा समाज की दृष्टि से। जर्मन दार्शनिक

---

१. ऑन लिबर्टी, दी सब्जेक्शन आफ वुमैन (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५४), भूमिका, पृ० ८

विल्हैल्म वान हम्बोल्ड का अनुसरण करते हुए मिल ने यह माना था कि मनुष्य का उद्देश्य अपनी शक्तियों का उच्चतम तथा अधिकतम सामंजस्यपूर्ण विकास करना है। यह विकास स्वाधीनता के वातावरण में ही सम्भव है, यदि यह स्वाधीनता न दी जाए तो मानव-जीवन का मूल एवं प्रधान उद्देश्य ही विफल हो जाएगा। दूसरा दार्शनिक आधार समाज की उन्नति और विकास का है। उसने अपने स्वाधीनता के निबन्ध में इस पर अत्यधिक बल दिया है कि मानव-समाज की प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि उसमें सभी प्रकार के चिन्तन का और सब प्रकार के व्यक्तियों को विकास का अवसर दिया जाए ताकि वे सब दिशाओं में उन्नति कर सकें। मिल का यह विचार था कि इन दिनों सरकार की शक्ति निरन्तर बढ़ रही है और वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कुचल रही है। यदि इस प्रवृत्ति का विरोध न किया गया और उसकी स्वतन्त्रता सुरक्षित न की गई तो मानव-समाज के विकास में बड़ी बाधा पड़ जाएगी। इसका विकास एवं प्रगति नवीन विचारों और नूतन आविष्कारों से होती है। ये सदैव विशेष व्यक्तियों के कारण होते हैं। आजकल हमें जो विलक्षण प्रगति और उन्नति दिखाई देती है वह १९वीं, २०वीं शताब्दी के विस्मयावह आविष्कारों से और नई विचारधाराओं से हुई है। इसका श्रेय जेम्स वाट, जार्ज स्टीवन्सन, कार्ल मार्क्स, लेनिन, महात्मा गांधी जैसे व्यक्तियों को है। समाज में अधिकांश व्यक्ति रूढ़िवादी होते हैं; वे परम्परागत विचारों और जीवन-पद्धतियों को उत्कृष्ट एवं आदर्श समझते हैं, नवीन विचारधाराओं और प्रवृत्तियों का विरोध करते हैं, इनके प्रवर्त्तकों को सनकी समझते हैं, इनकी खिल्ली उड़ाते हैं। आजकल डार्विन के विकासवाद का सिद्धान्त सर्वमान्य समझा जाता है, किन्तु १०० वर्ष पहले जब उसने सर्वप्रथम इसका प्रतिपादन किया था तो इसका उग्र विरोध किया गया था। १९२० में गांधी जी ने जब सत्य, अहिंसा और चर्खे तथा असहयोग से भारत को स्वराज्य दिलाने की बात कही थी तो आरम्भ में अधिकांश भारतीयों ने उन पर विश्वास नहीं किया था। ऐसे नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले व्यक्ति समाज में पागल, झक्की, दीवाने या सनकी समझे जाते हैं। मिल का यह दृढ़ मत था कि मानव-समाज की समूची प्रगति और उन्नति ऐसे दीवाना समझे जाने वाले व्यक्तियों के कारण होती है। समाज प्रायः रूढ़िवादी होने के कारण बहुमत के बल से ऐसे व्यक्तियों का दमन करता है, उन्हें अपने अनुकूल मत रखने के लिए विवश करता है। इस प्रकार समाज की उन्नति में बड़ी बाधाएँ पड़ जाती हैं, उसकी प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। उसके निर्बाध विकास और उन्नति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि सब व्यक्तियों को—विशेषतः सनकियों तथा दीवाने लोगों तक को—अपने विकास के लिए पूर्ण स्वाधीनता और स्वतन्त्रता दी जाए।

मिल ने स्वाधीनता के दो लक्षण किए हैं: पहला लक्षण व्यक्ति का अपने ऊपर सर्वोच्च सत्ता रखना है। यह स्वाधीनता शब्द के इस अर्थ से भलीभाँति सूचित होता है कि वह स्व के अर्थात् अपने अधीन है, उस पर किसी दूसरे का प्रभुत्व या नियन्त्रण नहीं है, वह सर्वथा स्वतन्त्र है, वह जैसा चाहे, जो चाहे, काम कर सकता है। उसके मतानुसार सब प्रकार का नियन्त्रण या बन्धन अपने-आपमें बुरा है। उसे सब कार्य करने की तब तक पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए, जब तक वह दूसरों को हानि

नहीं पहुँचाता। इस विषय में यह कहना सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को उस हद तक अपनी छड़ी घुमाने की स्वतन्त्रता है जहाँ तक वह दूसरे व्यक्ति की नाक से या सिर से न टकराए। मिल की स्वाधीनता का दूसरा लक्षण यह है कि "यह अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता है।" यह पहले लक्षण से कुछ भिन्न है। इसके अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्रता कुछ अधिक मात्रा में नियन्त्रित की जा सकती है। मिल ने यह कहा है कि यदि कोई व्यक्ति ऐसे पुल से गुजर रहा है जिसके टूट जाने का भय है तो आपका उसे ऐसे पुल पर जाने से रोकना सर्वथा न्यायोचित है। इस विषय में उसे अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती, क्योंकि "स्वतन्त्रता का अर्थ अपनी इच्छानुसार कार्य करना है और किसी व्यक्ति की यह इच्छा नहीं हो सकती कि वह नदी में गिर पड़े"। मनुष्य की इच्छा पुल पार करने की है, किन्तु इसका नियन्त्रण करना इसलिए न्यायोचित है कि उसकी इससे भी बड़ी—जीवित रहने की इच्छा को—नदी में गिरने से बचाकर पूरा किया जाए।

मिल ने स्वाधीनता के दो बड़े प्रकार माने हैं—पहला विचार और भाषण की स्वतन्त्रता तथा दूसरा कार्य करने की स्वतन्त्रता। पहले प्रकार में मिल व्यक्ति को पूर्ण रूप से निर्बाध तथा सब प्रकार के प्रतिबन्धों से मुक्त स्वतन्त्रता देने का पक्षपाती है, और दूसरे प्रकार में वह कुछ मर्यादाएँ या बन्धन मानता है। उसने दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता का समर्थन निम्नलिखित रूप में किया है।

विचार और भाषण की स्वाधीनता—मिल के अनुसार मानव-समाज की उन्नति और प्रगति के लिए प्रत्येक व्यक्ति को विचार और भाषण की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। इस विषय में वह इतना उदार है कि सभी प्रकार के पागल, झक्की और सनकी व्यक्तियों को भी उसने विचार की पूरी स्वतन्त्रता देने का प्रबल समर्थन किया है, क्योंकि यह सम्भव है कि दस सनकियों में एक सनकी समाज को नवीन क्रान्तिकारी विचारधारा प्रदान करे। यदि ऐसी स्वतन्त्रता न दी जाए तो समाज की प्रगति में बाधा पहुँचेगी। मिल ने निम्नलिखित युक्तियों के आधार पर विचार और भाषण की स्वतन्त्रता को न्यायसंगत एवं तर्कानुकूल सिद्ध करने का प्रयत्न किया है—

(१) इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब कोई व्यक्ति प्रचलित विचारधारा के प्रतिकूल एक नई विचारधारा प्रस्तुत करता है तो उसका दमन नहीं किया जाना चाहिए, ऐसे व्यक्ति को समाज-विरोधी, सनकी, पागल कहकर उसे उसकी स्वतन्त्रता से वंचित नहीं करना चाहिए; क्योंकि यदि उसे स्वतन्त्रता नहीं दी जाएगी तो नई विचारधारा का प्रचार नहीं होगा। ऐसा न होना समाज के लिए घातक एवं हानिकर है, क्योंकि यह सम्भव है कि समाज में प्रचलित विचारधारा असत्य हो तथा नवीन विचारधारा सत्य हो। अतः मिल ने कहा है कि "यदि केवल एक व्यक्ति को छोड़कर समूची मानव-जाति एक विचार को मानने वाली हो तो भी मानव-जाति के लिए यह न्यायसंगत नहीं है कि वह विरोधी मत रखने वाले एक व्यक्ति का दमन करे अथवा शक्तिसम्पन्न होने पर वह एक व्यक्ति मानव-जाति के विचार का दमन करे।"[1]

---

१. ऑन लिबर्टी (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दी वर्ल्डस क्लासिक्स), पृ० २३

मिल ने इस बात को सुकरात और ईसा के ऐतिहासिक दृष्टान्तों से समझाया है। ये दोनों उदाहरण मानव-जाति द्वारा नवीन सत्यों के दमन किए जाने के महान् अपराध और भारी भूलें हैं। मिल ने बड़े हृदयस्पर्शी शब्दों में कहा है[1] कि मानव-जाति को इस बात का स्मरण कराने की आवश्यकता नहीं है कि कभी सुकरात नाम का एक व्यक्ति हुआ था, उसमें तथा उसके समय के कानूनी अधिकारियों एवं लोकमत के बीच में एक स्मरणीय संघर्ष हुआ था। सुकरात प्लेटो तथा अरस्तू के विचारों का मूल स्रोत होने के कारण २००० से अधिक वर्ष बीत जाने पर आज भी अमर है, उसे उसके देशवासियों ने अधार्मिकता और अनैतिकता के अपराधों के कारण प्राणदण्ड दिया था। वह राज्य द्वारा स्वीकार किए जाने वाले देवी-देवताओं को न मानने के कारण अधार्मिक था, अपनी शिक्षाओं और सिद्धान्तों द्वारा युवकों के मनों को दूषित करने के कारण वह अनैतिक था। न्यायालय ने उसे इन दोनों बातों में अपराधी पाया और ईमानदारी से ऐसे व्यक्ति को दण्ड दिया जो उस समय तक उत्पन्न हुआ सर्वश्रेष्ठ मानव था। ऐसे व्यक्ति को अपराधी की तरह मरवाना अत्यन्त क्रूरतापूर्ण था। दूसरा उदाहरण जेरूसलेम के निकट कैलवेरी नामक पहाड़ी पर सूली पर लटकाए जाने वाले ईसामसीह का है। आज दो हजार वर्ष बीतने के बाद भी जिसे करोड़ों व्यक्ति भगवान् समझते हैं उस भगवान् का निन्दक होने के कारण ईसामसीह को प्राणदण्ड दिया गया था। सनकी और पागल कहकर प्राणदण्ड से दण्डित किए जाने वाले ये दोनों महापुरुष योरोप में दर्शन और धर्म के जन्मदाता हैं। इन ऐतिहासिक उदाहरणों को प्रस्तुत करते हुए मिल ने कहा कि आज मानव-जाति जिन व्यक्तियों को सनकी समझते हुए उनकी विचारधारा का दमन करती है वही भविष्य में अपूर्व एवं अनोखे तथा समाज को अधिक लाभ पहुँचाने वाले विचारों के जन्मदाता हो सकते हैं। इनके दमन से मानव-समाज का घोर अहित होता है।

इन प्रसंग में मिल ने डॉ० जानसन के एक कथन का खण्डन किया है। जानसन का मत था कि सचाई छिप नहीं सकती, अतः उसका दमन हानिकर नहीं है, अपितु सत्य का रूप निखारने के लिए यह आवश्यक है। मिल ने ईसाइयत के इतिहास से जानसन का खण्डन करते हुए कहा है कि ऐसे दमन से मानव-प्रगति को हानि पहुँचती है। मार्टिन लूथर (१४८३–१५४६) के धर्मसुधार आन्दोलन से पहले लगभग २० बार अनेक धर्मसुधारकों ने ऐसा आन्दोलन चलाने का प्रयत्न किया, किन्तु सदैव कठोर एवं क्रूर दमनचक्र द्वारा सुधार का प्रयास विफल बनाया गया। ब्रेसिया का आर्नोल्ड, फ्रोडोल्सिनो, सावोनारोला, थिविलफ और जॉन हस इसी प्रकार के सुधारक थे। यदि इनका दमन न किया जाता तो धर्मसुधार आन्दोलन बहुत पहले शुरू हो जाता और इस कारण आधुनिक युग को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ पहले ही उत्पन्न हो जातीं, मानव-जाति की १६वीं शती के बाद होने वाली प्रगति इससे पूर्व ही सम्पन्न हो जाती। इन दमनों से सत्य का निखार नहीं हुआ, किन्तु मानव-जाति की प्रगति के विकास में भारी बाधा पहुँची। वस्तुतः इस प्रकार के दमन से किसी विचारधारा का

---

१. वही, पृ० ३२-३३

उन्मूलन नहीं किया जा सकता, क्योंकि सत्य अमर है। दमन से केवल इसके प्रचार और प्रसार में विलम्ब होता है, यह सामाजिक प्रगति में बाधक होता है। अतः समाज की प्रगति के लिए किसी विचारधारा का दमन नहीं किया जाना चाहिए। व्यक्ति को विचारों के प्रकाशन तथा अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वाधीनता होनी चाहिए, इससे सत्य को पुष्टि मिलती है तथा सामाजिक प्रगति सम्भव होती है।[1]

(२) विचारों की स्वतन्त्रता न देने का एक दुष्परिणाम सत्य का दमन है, इसे न होने देने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को विचार-स्वातन्त्र्य का अधिकार दिया जाना चाहिए। जब हम कानूनी दण्डविधान द्वारा अथवा सार्वजनिक निन्दा के द्वारा किसी विचार को दबाते हैं तो यह सम्भव है कि हम सत्य का दमन कर रहे हैं, क्योंकि यह विचार सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है कि जिस बात को समाज में अधिकांश व्यक्ति स्वीकार करते हैं, वह सत्य हो। उदाहरणार्थ, १७वीं शताब्दी तक योरोप के अधिकांश व्यक्ति यह मानते थे कि पृथ्वी ब्रह्माण्ड का केन्द्र है, और सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। ब्रूनो तथा गैलिलियो जैसे व्यक्तियों को इसलिए दण्डित होना पड़ा कि वे अधिकांश व्यक्तियों द्वारा स्वीकार किए जाने वाले उपर्युक्त भ्रान्त मत के प्रतिकूल यह मानते थे कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। कोई विचार इसलिए सत्य नहीं होता कि वह अधिकांश व्यक्तियों द्वारा चिरकाल से माना जा रहा है। प्रायः परम्परा और रिवाज से माने जाने वाले विचार गलत होते हैं, इन्हें ठीक करने के लिए और बहुमत का अत्याचार दूर करने के लिए व्यक्तियों द्वारा किए जाने वाले प्रयत्न अत्यावश्यक हैं। यह बात विचार और भावना के सभी क्षेत्रों में—धर्म, नीतिशास्त्र, राजनीतिक तथा सामाजिक रीति-रिवाजों में समान रूप से लागू होती है। अतः व्यक्ति को भाषण और विचार की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(३) सचाई किसी एक व्यक्ति या पक्ष की बपौती नहीं है। वस्तुतः सत्य का विराट् रूप है, उसके अनेक पहलू होते हैं। विवाद में कोई एक पहलू पर बल देता है और कोई दूसरे पहलू पर। चार अंधों तथा हाथी की सुप्रसिद्ध कथा के दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो जाएगा। एक गाँव के चार अंधे जब हाथी को देखने गए तो उसके विभिन्न अंगों को स्पर्श से टटोलकर वे उसके सम्बन्ध में सर्वथा विभिन्न परिणामों पर पहुँचे। हाथी के पैर को टटोलने वाले ने उसे खम्भे की तरह बताया, उसका कान छूने वाले को उसका स्वरूप सूप या छाज जैसा प्रतीत हुआ। तीसरे ने उसकी सूँड पकड़कर उसे छड़ी की तरह बताया और चौथे ने उसकी बगल को छूकर यह कहा कि हाथी दीवार की तरह होता है। सत्य की खोज में हम सबकी दशा इन अंधों जैसी है। हम सचाई के समग्र रूप का दर्शन नहीं कर पाते, किन्तु अपने अनुभव के आधार पर आंशिक सत्य को ही पूर्ण समझने का आग्रह करते हैं। अतः सत्य के पूर्ण एवं वास्तविक रूप को समझने के लिए उसे जितने अधिक दृष्टिकोणों से देखने की व्यक्तियों को स्वतन्त्रता दी जाएगी हम सत्य को उतना ही अधिक अच्छे रूप में समझने में समर्थ होंगे। ये विभिन्न दृष्टिकोण एक-दूसरे के विरोधी नहीं, किन्तु पूरक हैं। इन सबके

---

१. वही, पृ० ३७

समन्वय से हमें पूर्ण सत्य का बोध हो सकता है। अतः सचाई के यथार्थ ज्ञान के लिए व्यक्ति को भाषण एवं विचार की स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(४) सत्य के समुचित स्पष्टीकरण के लिए तथा उसे सुदृढ़ बनाने के लिए भी विचार की स्वाधीनता आवश्यक है। 'वादे वादे जायते तत्वबोधः', विचार-विमर्श, वाद-विवाद और संघर्ष से सत्य का स्वरूप अधिकाधिक निखरता है और स्पष्ट होता है। विरोधी का प्रत्युत्तर देने के लिए हम अपने सिद्धान्तों का गम्भीर चिन्तन और मन्थन करते हैं, उसका स्वरूप स्पष्ट करते हैं, अपने पक्ष की निर्बलताओं और दोषों को दूर करते हैं और उसे सुदृढ़ प्रमाणों से पुष्ट करते हैं। कुछ समय के लिए विरोध भले ही बुरा प्रतीत हो, किन्तु अन्ततोगत्वा यह लाभकर होता है। वाद-विवाद में तर्क की कसौटी पर सत्य की परख होती है। तर्क द्वारा सत्य और असत्य के संघर्ष में सत्य की विजय होती है, इसका रूप अधिक प्रस्फुटित और विकसित होता है। इसे मानने वालों के विचारों में अधिक स्पष्टता आती है, वे अपने सिद्धान्तों पर अधिक दृढ़ता से आस्था रखते हैं और उनके प्रचार में तत्पर होते हैं। मिल ने इसे प्राचीन एवं आधुनिक ईसाई धर्म के दृष्टान्त से समझाया है। प्राचीन काल में ईसाई मत पर दूसरे धर्मों के प्रबल आक्षेप और आक्रमण होते थे। इनका उत्तर देने के लिए उस समय के ईसाई अपने धर्म के सिद्धान्तों का गहरा अध्ययन करते थे, उसके विषय में विरोधियों से तर्क करते थे। इस तर्क से उन्हें ज्ञात होता था कि उनका धर्म सत्य है और उसके सिद्धान्तों का उन्हें पालन करना चाहिए। किन्तु आधुनिक ईसाई को विधर्मियों के साथ अपने धर्म के बारे में कोई तर्क नहीं करना पड़ता, अतः उसे इसका पूरा ज्ञान नहीं है, उसका ईसाई धर्म में केवल अन्धविश्वास मात्र है। अन्धविश्वास मानव-समाज की प्रगति के लिए घातक होते हैं। अतः निरन्तर स्वतन्त्र विचार तथा तर्क द्वारा सत्य को सुदृढ़ बनाना चाहिए और उसमें गहरी आस्था रखते हुए उसके अनुसार आचरण करना चाहिए। मिल सत्य के विषय में डार्विन के जीवशास्त्र के इस नियम को लागू करता है कि योग्यतम की विजय होती है। उसका यह मत था कि वही विचार सत्य का रूप धारण करेगा जो तर्क रूपी संघर्ष में विजयी होगा। अतः राज्य को विचार एवं भाषण की पूर्ण स्वतन्त्रता देनी चाहिए, इस दशा में समाज प्रगति के पथ पर अग्रसर होगा।

मिल द्वारा विचार की स्वतन्त्रता के उग्र समर्थन का प्रधान कारण यह था कि उसे इस बात की आशंका थी कि मनुष्य समाज के अत्याचार का शिकार बन रहा है। उसका यह कहना था कि अनादि काल से इतिहास में स्वतन्त्रता के प्रेमियों ने समाज में शक्तिशाली एवं अत्याचारी शासक बनने वाले व्यक्तियों के अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा है। १९वीं शताब्दी के उदारतावादी राजनीतिक विचारकों का यह मत था कि यदि जनता को नवीन अधिकार प्रदान करने वाले संविधान बना दिए जाएँ और जनता को ही अपना स्वामी बना दिया जाए तो शक्तिशाली के अत्याचार का निराकरण हो सकता है। अत्याचारी शासक से सुरक्षा पाने के दो साधन हैं—पहला तो यह कि जनता के अधिकारों का सुस्पष्ट प्रतिपादन किया जाए, इनका उल्लंघन होने पर जनता को विद्रोह करने का अधिकार हो। दूसरा, राज्य के संविधान

में ऐसे नियन्त्रण स्थापित किये जाएँ कि राजनीतिक अत्याचार न हो सके। किन्तु मिल इस विचारधारा से सहमत नहीं था, उसका कहना था कि लोकतन्त्र के विकास के साथ बहुमत के शासन और अत्याचार की सम्भावना बढ़ती चली जा रही है। 'बहुमत के अत्याचार' से व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सुरक्षित बनाने की आवश्यकता है। 'बहुमत का अत्याचार' केवल राजनीतिक सत्ता ही नहीं करती, इसे समाज भी बहुत बड़ी मात्रा में करता है। समाज का अत्याचार राज्य के अनेक प्रकार के अत्याचारों से अधिक प्रबल होता है। यद्यपि समाज राज्य की भाँति भीषण दण्डों की व्यवस्था नहीं करता, तथापि इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। यह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, समाज में प्रचलित विचारों, विश्वासों और आचरण एवं जीवनयापन की पद्धति की ऐसी सुदृढ़ लौह श्रृंखलाओं का निर्माण करता है कि इनमें लोकापवाद और निन्दा के कारण परम्परागत रीति-रिवाजों का पालन करने वाला जन-समुदाय बुरी तरह जकड़ा रहता है। मानव-समाज की प्रगति के लिए इन लौह श्रृंखलाओं से मुक्ति पाना अत्यावश्यक है। इसीलिए मिल ने व्यक्ति के लिए विचार और भाषण की पूर्ण स्वतन्त्रता का पूरी शक्ति के साथ उग्रतम समर्थन किया है।

कार्य करने की स्वतन्त्रता—विचारों के प्रकाशन तथा भाषण के क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता का पक्षपाती होते हुए भी, मिल व्यक्ति को कार्य करने के क्षेत्र में पूरी स्वाधीनता देने का समर्थक नहीं था। इस विषय में उसने बड़ी अनिच्छा से और काफी शर्तों के साथ कुछ प्रतिबन्धों का प्रतिपादन किया है। वह व्यक्ति के कार्यों को दो भागों में बाँटता है—(१) व्यक्तिगत या आत्मविषयक (self-regarding) कार्य—ये ऐसे कार्य हैं जिनका प्रभाव केवल इन कार्यों को करने वाले पर ही पड़ता है, दूसरे व्यक्तियों पर नहीं पड़ता। खाना, पीना, सोना, घूमने जाना, नहाना, कपड़े पहनना, अध्ययन करना इसी प्रकार के व्यक्तिगत कार्य हैं; मिल के मतानुसार शराब पीना, जुआ खेलना भी इसी श्रेणी में आते हैं। (२) सामाजिक अथवा दूसरे व्यक्तियों पर प्रभाव डालने वाले (other-regarding) कार्य—हमारे जिन कार्यों का प्रभाव समाज के दूसरे व्यक्तियों पर पड़ता है उन्हें सामाजिक कार्य कहा जाता है, जैसे चोरी करना, शोर मचाना, सार्वजनिक स्थानों को गन्दा करना, सार्वजनिक पद स्वीकार करके उसके कार्य को समुचित रीति से न करना, शान्ति भंग करना। मिल का यह मत है कि व्यक्तिगत अथवा आत्मविषयक कार्यों में व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। इसमें राज्य का कोई हस्तक्षेप करना ठीक नहीं है। व्यक्ति अपनी इच्छानुसार जैसा चाहे, वैसा आचरण करे। यह सम्भव है कि किसी का आहार, वेशभूषा, रहन-सहन समाज में प्रचलित पद्धति से भिन्न हो, कोई व्यक्ति प्रचलित परम्परा के प्रतिकूल नमक न खाए, दाढ़ी या लम्बे बाल रखे, ऊँची धोती या चुस्त पोशाक पहने, इन मामलों में उसे पूरी स्वाधीनता होनी चाहिए तथा इसके लिए किसी प्रकार का उत्पीड़न नहीं होना चाहिए। यह सम्भव है कि उस व्यक्ति के आहारविषयक अथवा वेशभूषा के नवीन प्रयोग से समाज को भविष्य में लाभ पहुँचे, अतः व्यक्तिगत कार्यों के क्षेत्र में राज्य का हस्तक्षेप नितान्त अनुचित है।

किन्तु सामाजिक अथवा दूसरों पर प्रभाव डालने वाले कार्यों के सम्बन्ध में उसे यह स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति को अपने घर में शराब पीने की पूरी स्वाधीनता है, किन्तु यदि वह शराब पीकर हल्ला-गुल्ला मचाता है और रात के बारह बजे पड़ोसियों की नींद हराम करता है तो उसे इस कार्य के लिए खुली छुट्टी नहीं दी जा सकती, क्योंकि इससे दूसरे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में बाधा पड़ती है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने घर में गाना गाने का अधिकार है, किन्तु यदि वह रात को गर्दभ स्वर से रेंकते हुए पड़ोसियों को न सोने दे तो उसके इस कार्य पर प्रतिबन्ध लगाया जाना आवश्यक है, क्योंकि ऐसे कार्य से उसके पड़ोसी चैन से नहीं सो पाएँगे, उनकी अपने मकानों में सोने की स्वतन्त्रता पर आघात होगा। अतः ऐसे कार्यों में राज्य का हस्तक्षेप न केवल उचित, अपितु आवश्यक है। इस विषय में राज्य के हस्तक्षेप के मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए मिल ने लिखा है—"किसी व्यक्ति को अपने-आपको दूसरों के लिए दुःखदायी (nuisance) नहीं बनाना चाहिए। यदि वह अपने से सम्बन्ध रखने वाली बातों में दूसरों को परेशान नहीं करता और अपने से संबद्ध विषयों में अपनी इच्छा और निर्णय के अनुसार कार्य करता है, तो जिन कारणों के आधारों पर उसे अपनी स्वतन्त्र सम्मति रखनी चाहिए वही कारण इस बात को भी सिद्ध करते हैं कि उसे अपनी सम्मतियों को क्रियात्मक रूप देने की अनुमति दी जानी चाहिए।"[1] यही बात अपने से सम्बन्ध रखने वाले मामलों में व्यक्तियों द्वारा समुदाय अथवा संघ बनाने के विषय में लागू होती है।

इस विषय में महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मनुष्य अपने से सम्बन्ध रखने वाले कार्य किन्हें माने। इस बारे में मिल का मत है कि मनुष्य के विचार और सम्मतियाँ ऐसे कार्य नहीं हैं। मिल का यह कहना है कोई व्यक्ति एथनेसियस (Athnasius) की भाँति समूचे विश्व के प्रतिकूल अपनी एक सम्मति रखता हो तो भी मानव-जाति को उसकी सम्मति को दबाने का अधिकार नहीं है, क्योंकि "एक सम्मति के भी दमन से मानव-जाति की भावी एवं वर्तमान पीढ़ी का अहित होता है। इसमें इस सम्मति को मानने वालों का तथा न मानने वालों का भी अहित है। यदि यह सम्मति ठीक है तो इसका दमन होने पर व्यक्ति अपनी गलती को छोड़कर सत्य ग्रहण करने के अवसर से वंचित हो जाते हैं और यदि यह सम्मति ठीक नहीं है तो भी इसके दमन से व्यक्ति सत्य और असत्य के संघर्ष से प्रस्फुटित होने वाले सत्य के अधिक स्पष्ट और सजीव स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लाभ से वंचित हो जाएँगे।" किन्तु मनुष्यों के कार्यों के सम्बन्ध में यह स्थिति नहीं है। वहाँ पूरी स्वाधीनता नहीं दी जा सकती, दूसरों को हानि पहुँचाने वाले कार्यों में राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिए।

फिर भी कार्य करने के क्षेत्र में मिल यथासम्भव अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता देने का समर्थन करता है। उसका यह विचार है कि व्यक्ति के कार्यों पर इस दृष्टि से कोई पाबन्दी नहीं लगानी चाहिए कि ये समाज के अधिकांश व्यक्तियों की रुचि या इच्छा के अथवा समाज में प्रचलित रूढ़ियों के प्रतिकूल हैं। लोगों की अरुचि या सामान्य

---

१. डेविडसन—पोलिटिकल थाट इन इंगलैण्ड, पृ० १५२

आचरण किसी विशेष व्यवहार के निर्भ्रान्त अथवा सच्चा होने की कसौटी नहीं हो सकता। यदि किसी व्यक्ति का कोई आचरण उस समय समाज में प्रचलित नैतिकता के प्रतिकूल हो तो भी इसका दमन करना उचित नहीं है क्योंकि प्रचलित नैतिकता के साथ इसका संघर्ष नैतिकता के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए अत्यन्त हितकर होता है। व्यक्ति के व्यवहार और आचरण की स्वतन्त्रता का समर्थन मिल ने इस तर्क के आधार पर किया है कि समाज के लिए तथा मानव-जाति के लिए यह वांछनीय है कि जीवनयापन की विभिन्न प्रकार की अधिक-से-अधिक पद्धतियों के परीक्षण किए जाएँ, इस विषय में सब व्यक्तियों को स्वाधीनता दी जाए। व्यक्तित्व के विकास का यही अभिप्राय है कि सब व्यक्तियों को अपनी प्रकृति के अनुसार प्रस्फुटित होने का अवसर दिया जाए, उन्हें सामान्य रूप से प्रचलित परम्पराओं, परिपाटियों तथा रीति-रिवाजों के बन्धनों में न बाँधा जाए। यदि ऐसा होगा तो मनुष्यों को अपने विचारों के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं होगी। इसका परिणाम यह होगा कि "मानवीय सुख को बढ़ाने वाले—एक प्रधान तत्व का तथा वैयक्तिक और सामाजिक प्रगति में सहायक एक प्रमुख तत्व का अभाव हो जाएगा, क्योंकि प्रकृति ने मनुष्यों के विभिन्न प्रकार के स्वभाव बनाए हैं। एक के लिए अनुकूल वस्तु दूसरे के लिए प्रतिकूल हो सकती है और यदि समाज में एकरूपता पर आग्रह करते हुए सब व्यक्तियों को अपनी प्रकृति और इच्छा के अनुकूल विकास करने की स्वतन्त्रता नहीं दी जाती तो कुछ व्यक्तियों का विकास अवरुद्ध हो जाएगा, इससे मानव को क्षति पहुँचेगी, अभीष्ट मात्रा में उसकी प्रगति नहीं हो सकेगी।"

मिल अन्य नागरिकों को हानि न पहुँचाते हुए व्यक्ति के कार्यों की अधिकतम स्वतन्त्रता का समर्थन तीन प्रकार की युक्तियों के आधार पर करता है : **पहली** युक्ति वैयक्तिक अनुभव द्वारा चरित्र निर्माण और व्यक्तित्व के विकास की है। इसे मद्यपान के उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। कोई व्यक्ति मद्यपान दो प्रकार से छोड़ सकता है, अपने वैयक्तिक अनुभव से अथवा राज्य के नियम से। पहले प्रकार में व्यक्ति जब यह अनुभव करता है कि शराब पीने से उसका, उसकी पत्नी और बच्चों का घोर अहित एवं अनिष्ट हो रहा है, इसके आधार पर वह मद्यपान को छोड़ने का संकल्प करता है। दूसरा प्रकार राज्य द्वारा शराब बनाने और बेचने पर प्रतिबन्ध लगाना है ताकि शराब पीने वाले मजदूरों के स्त्री तथा बाल-बच्चों का अहित न हो। मिल के मतानुसार इन दोनों में पहला प्रकार अधिक श्रेयस्कर एवं उत्कृष्ट है क्योंकि शराब को छोड़ने का निश्चय व्यक्ति जब स्वयमेव अपने ठोस अनुभव के आधार पर करता है, तब इसमें उसे अपनी अच्छी-बुरी इच्छाओं, सत् एवं असत् संकल्पों से संघर्ष करना पड़ता है; इस संघर्ष के परिणामस्वरूप उसके चरित्र में दृढ़ता आती है। किन्तु राज्य के प्रतिबन्ध से ऐसा नहीं हो सकता, उसमें वह मद्यपान केवल दण्ड के भय से छोड़ता है, किन्तु उसे हानिकर समझते हुए नहीं छोड़ता है। इस दशा में यह सम्भव है कि अपनी आदत न छोड़ सकने के कारण वह चोरी-छिपे शराब पीना जारी रखे। व्यक्ति के निजी अनुभव के आधार पर आन्तरिक सुधार करने का पहला ढंग अधिक अच्छा है। दूसरे ढंग से शराब रोकने के दुष्परिणाम होते हैं। सं० रा० अमेरिका में शराबबन्दी

करने से तथा भारत के विभिन्न प्रान्तों में काँग्रेसी सरकारों द्वारा मद्यपान पर प्रतिबन्ध लगाने से शराब पीना बन्द नहीं हुआ, अपितु उसका अवैध रीति से पीना और विक्रय करना खूब बढ़ गया। अतः राज्य को व्यक्ति की स्वतन्त्रता में बाधा डालने वाले ऐसे कार्य नहीं करने चाहिएँ। हाँ, वह परोक्ष या अप्रत्यक्ष उपायों से इन्हें रोकने का कार्य कर सकता है। उदाहरणार्थ, राज्य का मद्यपान की बुराइयों को उग्र रूप में प्रदर्शित करने वाले पोस्टरों, चित्रों, चलचित्रों तथा समुचित शिक्षा द्वारा लोगों के मनों पर इसके विरुद्ध प्रभाव डालने की या इसे छोड़ने की प्रेरणा देने का प्रयत्न करना चाहिए। किन्तु उसे इसको कानून द्वारा नहीं रोकना चाहिए, क्योंकि जब तक मनुष्य अपनी आत्मा में होने वाले संघर्ष के आधार पर शराबखोरी की लत नहीं छोड़ता, तब तक समाज में स्थायी रूप से मद्यपान की बुराई का अन्त नहीं होगा, लोग अवैध रूप से शराब पीते रहेंगे। यही स्थिति जुआ खेलने के सम्बन्ध में है। मिल इस पर राज्य द्वारा प्रतिबन्ध लगाने के विरुद्ध था। व्यक्ति स्वयमेव इसकी बुराई को अनुभव करके इसका त्याग करे—यह विधि मिल को श्रेयस्कर प्रतीत होती थी, क्योंकि इसमें आत्मसंघर्ष द्वारा व्यक्ति के चरित्र का निर्माण होता है।

(२) मिल मनुष्यों को सामाजिक रीति-रिवाजों से और परम्पराओं से इसलिए भी मुक्त रखना चाहता था कि ये सामाजिक विकास में बाधक हैं। उसके मतानुसार प्राचीन काल में भारतवर्ष एक सभ्य देश था, किन्तु आजकल उसकी अधोगति का कारण परम्पराओं तथा सामाजिक रूढ़ियों से बंधा होना था। सामाजिक रूढ़ि व्यक्ति के आचरण को वैसे ही जकड़ देती है जैसे चीनी स्त्री के पैर को बचपन से ही लकड़ी के जूते में रखकर उसका बढ़ना रोक दिया जाता है, अतः व्यक्तित्व के विकास के लिए राज्य द्वारा व्यक्ति के कार्यों में न्यूनतम हस्तक्षेप होना चाहिए।

(३) व्यक्तियों को पूर्ण स्वतन्त्रता देने का एक प्रबल तर्क नवीनता और आविष्कार का है। साधारण जनता प्रायः रूढ़िवादी और लकीर की फकीर होती है। किन्तु समाज की उन्नति प्रायः नवीन आविष्कारों से होती है। प्रतिभाशाली व्यक्ति अपनी नई विचारधाराओं और आविष्कारों द्वारा नूतन पथों का प्रदर्शन करते हैं। इसके लिए अभिनव एवं अपूर्व बुद्धि आवश्यक है। यह रूढ़िवाद से तथा दकियानूसी परम्पराओं और पद्धतियों से नहीं आ सकती। इसके लिए व्यक्तियों को नवीन परीक्षण करने की पूरी स्वतन्त्रता देनी चाहिए। मिल के मतानुसार समाज की प्रगति पागल, दीवाने या झक्की व्यक्तियों के कार्यों से ही होती है। अधिक झक्कियों का होना समाज की उन्नति का सूचक है, क्योंकि इनकी अधिकता का अर्थ है रुचियों तथा प्रयोगों की विभिन्नता। यह स्वतन्त्रता के वातावरण में ही सम्भव है।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप की परिस्थितियाँ—मिल के मतानुसार राज्य को व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर केवल तीन ही परिस्थितियों में प्रतिबन्ध लगाना उचित था: **पहली** परिस्थिति व्यक्ति की स्वतन्त्रता के दुरुपयोग से दूसरे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता पर आघात पहुँचाने की सम्भावना थी। उदाहरणार्थ, सड़क पर मोटर चलाने के सम्बन्ध में राज्य का यह प्रतिबन्ध सर्वथा उचित है कि इसे चलाने के लाइसेन्स को प्राप्त न करने वाले व्यक्ति मोटर न चलाएँ, क्योंकि यदि ऐसे अनाड़ी व्यक्ति मोटर

चलाने लगेंगे तो वे दुर्घटनाएँ करेंगे, सड़क पर चलने वाले अन्य व्यक्तियों को टक्कर लगाकर हानि पहुँचाएँगे। चोरों तथा डकैतों को भी स्वतन्त्रता से वंचित करना चाहिए, क्योंकि इनके कार्य अन्य नागरिकों की स्वतन्त्रता में बाधक होते हैं। अतः राज्य को सामाजिक प्रगति की दृष्टि से व्यक्ति के अहितकर कार्यों में ही हस्तक्षेप करना चाहिए। **दूसरी** परिस्थिति समाज तथा राज्य की सुरक्षा की है। जब राज्य पर संकट हो तो व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्रता का कुछ अंश छोड़ने के लिए बाधित किया जा सकता है। राज्य पर आक्रमण के समय में सब नागरिकों से अनिवार्य सैनिक सेवा की आशा की जा सकती है। यदि किसी मुहल्ले में चोरों का संकट बढ़ जाए तो इसकी सुरक्षा के लिए सब नागरिकों को पहरा देने के कार्य के लिए सप्ताह में एक रात की नींद का बलिदान करना पड़ता है। किन्तु ऐसे प्रतिबन्ध केवल विशेष संकटों के अवसर पर लगाए जाने चाहिएँ और अस्थायी होने चाहिएँ। **तीसरी** परिस्थिति वह है जब किसी नागरिक द्वारा अपनी स्वतन्त्रता का ऐसा दुरुपयोग हो जिससे उसके कर्त्तव्यपालन में क्षति पहुँचने की सम्भावना हो। मिल प्रत्येक व्यक्ति को मद्यपान का पूरा अधिकार प्रदान करता है, किन्तु वह एक पुलिस कर्मचारी को अपने कार्य के समय में मद्यपान करके घूमने की स्वतन्त्रता नहीं देता, क्योंकि इससे उसके शान्ति स्थापित रखने के कर्त्तव्य-कार्य में बाधा पड़ने की आशंका है। अपने कार्य के समय में शराब पीना उसका वैयक्तिक नहीं, किन्तु सामाजिक कार्य है। राज्य को इस पर प्रतिबन्ध लगाना सर्वथा उचित है।

मिल वैयक्तिक कार्यों में पूर्ण स्वतन्त्रता का इतना अधिक समर्थक था कि वह राज्य द्वारा शिक्षा की व्यवस्था किए जाने का विरोधी था। राज्य का कर्त्तव्य यहीं तक मर्यादित होना चाहिए कि वह सब नागरिकों को अपने बच्चे स्कूल में भेजने के लिए बाधित करे, किन्तु शिक्षा नागरिक की अपनी अभिरुचि के अनुसार दी जानी चाहिए, इस विषय में विभिन्न प्रयोग और परीक्षण होने चाहिएँ, इनके वैविध्य से शिक्षा-पद्धति विकसित और समृद्ध होगी।

व्यक्ति के आचरण और कार्य करने की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में मिल के सिद्धान्तों को संक्षेप में डेविडसन के मतानुसार निम्नलिखित तीन बातों के रूप में प्रकट किया जा सकता है[1]: (१) व्यक्ति के जीवन में भावना और इच्छा के स्थान और महत्व को समुचित रीति से स्वीकार किया जाए, बुद्धितत्व को प्रधानता देते हुए इनकी उपेक्षा न की जाए। मानव-प्रकृति की क्रियाशीलता और पौरुष की आवश्यकता स्वीकार की जाए तथा इन्हें प्रोत्साहित किया जाए। (२) आनन्द प्राप्ति अथवा मानवीय कल्याण के सम्पादन के लिए व्यक्तित्व के तत्व को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाए, व्यक्तियों को कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए, इन्हें अपने विशिष्ट कार्य करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, इससे विभिन्न दृष्टिकोण सामने आने से जीवन में विविधता आएगी और मौलिकता को प्रोत्साहन मिलेगा। यह मानव-समाज की प्रगति में महत्वपूर्ण सहयोग देगा। (३) व्यक्तित्व के विकास को अवरुद्ध

---

१. डेविडसन—पोलिटिकल थाट इन इंगलैण्ड—दी यूटिलिटेरियन्स, पृ० १५४

करने वाली तथा स्वतन्त्रता में बाधा डालने वाली सामाजिक रूढ़ियों और परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह किया जाना चाहिए। वह समाज की परम्परागत परिपाटियों के निरंकुश शासन का उग्र विरोधी था। उसने अपने जीवन में स्वयमेव ऐसे अनेक विद्रोह किए थे और इन विषयों में सामाजिक तिरस्कार या लोकनिन्दा की परवाह नहीं की थी। इस विषय में उसका पहला काम श्रीमती टेलर के साथ सम्बन्ध था। उसने २१ वर्ष तक अपने पिता तथा अन्य सम्बन्धियों का विरोध होते हुए विवाहिता परकीया स्त्री के साथ उसके शब्दों में विशुद्ध प्रेम (platonic love) रखा, यद्यपि वह न तो सुन्दरी थी और न ही विशेष बुद्धिमती, समाज इस सम्बन्ध पर उँगली उठाता रहा और उसकी निन्दा करता रहा। १८५१ में श्रीमती टेलर का पति दिवंगत होने पर उसने अपने सम्बन्धियों के विरोध की परवाह न करते हुए उससे विवाह किया। १८६५ में पार्लियामैण्ट का सदस्य चुने जाने पर उस समय पार्लियामैण्ट के सदस्यों के लिए आवश्यक समझे जाने वाले पार्टी के नियमों के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा करते हुए मिल ने सदस्यों के अपनी बुद्धि से किए जाने वाले स्वतन्त्र आचरण पर बल दिया। उसका यह मत था कि जनता द्वारा चुना जाने वाला प्रतिनिधि जनता के विचारों की प्रतिध्वनि या गूँजमात्र नहीं होना चाहिए, अपितु अपनी स्वतन्त्र सम्मति और विचारों से उसका पथ-प्रदर्शन करने में समर्थ होना चाहिए। इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हुए उसने उस समय साधारण जनता द्वारा स्वीकृत की जाने वाली गुप्त मतदान प्रणाली (Secret Ballot) का उग्र विरोध किया और जनता द्वारा नापसन्द किए जाने वाले स्वतन्त्र विचारक चार्ल्स ब्रैडला का प्रबल समर्थन किया।

स्वतन्त्रताविषयक सिद्धान्त की आलोचना—मिल के स्वतन्त्रताविषयक विचारों का राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में असाधारण महत्व है। इस विषय में मैक्सी ने यह सत्य ही लिखा है कि "राजनीतिक साहित्य के इतिहास में मिल का 'विचार और विवाद की स्वतन्त्रता' पर लिखा गया अध्याय इस विषय की एक सुन्दरतम रचना है। इसमें वैसी ही उदात्त और उच्च भावनाएँ प्रकट की गई हैं जैसी मिल्टन, स्पिनोज़ा, वाल्तेयर, रूसो, पेन, जेफरसन तथा विचार एवं भाषण की स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थन करने वाले अन्य व्यक्तियों की रचनाओं में मिलती हैं।"[१] फिर भी मिल के उपर्युक्त विचारों में कुछ मौलिक भ्रान्तियाँ और दोष हैं। अतः बार्कर, डेविडसन, ब्रिण्टन आदि विचारकों ने मिल के इस सिद्धान्त की प्रबल आलोचना की है। बार्कर के शब्दों में, "मिल ने 'स्वाधीनता पर' अपने निबन्ध में स्वतन्त्रता के विचार को अधिक गम्भीर और आध्यात्मिक अर्थ प्रदान किया। पुराने विचारकों के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति के कार्यों को बाह्य नियन्त्रण और हस्तक्षेप से इसलिए मुक्ति प्रदान करना था कि यह प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने भौतिक हितों के ज्ञान के लिए तथा इनका अनुसरण करने के लिए आवश्यक था। मिल ने इस दृष्टिकोण से ऊपर उठते हुए स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति के पौरुष को और अनेक प्रकार के वैविध्य को उद्बुद्ध एवं उत्पन्न करने वाली आध्यात्मिक मौलिकता तथा नवीनता की उन्मुक्त क्रीड़ा माना है। इसके मत में स्वतन्त्रता इसलिए आवश्यक थी कि यह व्यक्तियों के पुरुषार्थ एवं उत्साह

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० ४८२

द्वारा समाज की प्रगति एवं समृद्धि के लिए अभीष्ट वैविध्य एवं नवीनता प्रादुर्भूत कर सके।"...किन्तु स्वतन्त्रता के इस उदात्त विचार के बावजूद मिल "एक खोखली स्वाधीनता का तथा काल्पनिक या अमूर्त्त व्यक्ति (abstract individual) का प्रतिपादन करने वाला पैगम्बर था। उसके पास अधिकारों के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट दर्शन नहीं था, इन्हीं अधिकारों से स्वतन्त्रता के विचार का एक ठोस अर्थ प्राप्त होता है। उसे ऐसे पूर्ण समाज का कोई स्पष्ट विचार नहीं था जिसमें राज्य और समाज का भ्रान्त विरोध लुप्त हो जाता है।"[1] मिल द्वारा प्रतिपादित विचार और कार्य की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं—

(१) मिल की स्वतन्त्रता खोखली और नकारात्मक है। वह केवल यही प्रतिपादित करती है कि व्यक्ति की स्वाधीनता पर राज्य का अंकुश या प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। उसकी यह मान्यता है कि राज्य या समाज के जितने कम प्रतिबन्ध होंगे, वैयक्तिक स्वतन्त्रता उतनी ही अधिक होगी; राज्य के प्रतिबन्ध जितने अधिक होंगे, स्वाधीनता उतनी कम होगी। व्यक्ति की स्वतन्त्रता और राज्य का नियन्त्रण परस्पर-विरोधी वस्तुएं हैं। इस धारणा का आधार सम्भवतः रूसो का यह क्रान्तिकारी कथन है कि व्यक्ति स्वतन्त्र पैदा होता है किन्तु वह सभी ओर से अपने को दासता की बेड़ियों से जकड़ा हुआ पाता है। मिल इन बेड़ियों को काटने पर बल देकर स्वतन्त्रता के अभावात्मक रूप का ही प्रतिपादन करता है और यह भूल जाता है कि स्वतन्त्रता का भावात्मक पक्ष भी है और वास्तविक स्वाधीनता तथा राज्य के नियन्त्रण में पारस्परिक विरोध नहीं है, सुव्यवस्था और स्वतन्त्रता एक-दूसरे के सहायक तथा पूरक हैं। यदि राज्य का नियन्त्रण समाप्त हो जाए तो अराजकता, उच्छृंखलता की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी, उसमें न तो शान्ति सम्भव होगी और न स्वतन्त्रता। अतः स्वतन्त्रता की सत्ता के लिए राज्य का नियन्त्रण आवश्यक है।

नकारात्मक अथवा अभावात्मक स्वतन्त्रता कितनी निरर्थक और खोखली है, यह इस बात से स्पष्ट हो जाएगा कि किसी व्यक्ति को निर्जन टापू में छोड़ दिया जाए तो वहाँ उसे मिल की आदर्श स्वाधीनता प्राप्त होगी, क्योंकि वहाँ उसके कार्यों में हस्तक्षेप करने वाला कोई दूसरा व्यक्ति न होगा। किन्तु ऐसी स्वतन्त्रता क्या वांछनीय है? क्या इसे कोई पसन्द करेगा? सम्भवतः ऐसी स्वतन्त्रता कोई पसन्द नहीं करेगा। इसका यह कारण है कि स्वतन्त्रता का अभिप्राय उत्तम जीवनयापन के लिए अभीष्ट एवं वांछनीय सुविधाएँ प्राप्त करना है; राज्य अपने कार्यों तथा नियन्त्रणों द्वारा हमारे लिए ये सुविधाएँ उत्पन्न करता है, अतः उसके नियन्त्रण में रहना निर्जन टापू की स्वतन्त्रता से अधिक अच्छा तथा वरणीय है। राज्य हमारे कुछ कार्यों में हस्तक्षेप अवश्य करता है, इससे एक दिशा में हमारी स्वतन्त्रता अवश्य मर्यादित होती है, किन्तु इसके साथ ही दूसरी दिशाओं में इसका विस्तार भी होता है। उदाहरणार्थ, जब बालक को राज्य के नियम के द्वारा जबर्दस्ती पाठशाला में पढ़ने के लिए भेजा जाता है तो उसके खेलने की तात्कालिक स्वतन्त्रता में अवश्य हस्तक्षेप होता है, किन्तु जब शिक्षा द्वारा बच्चा पढ़-लिखकर अपनी आजीविका का उपार्जन करने में समर्थ होता है तो

१. बार्कर—पोलिटिकल थाट इन इंगलैण्ड फ्राम स्पेन्सर टु दी प्रेज़ेण्ट-डे, पृ० ९-१०

उसकी आर्थिक स्वतन्त्रता की क्षमता बहुत बढ़ जाती है। अतः मिल की नकारात्मक स्वतन्त्रता की धारणा बड़ी भ्रान्तिपूर्ण खोखली कल्पना है। सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग राज्य के हस्तक्षेप के बिना सम्भव नहीं है। स्वतन्त्रता में तथा राज्य के कार्यों में पारस्परिक विरोध आवश्यक नहीं है।

(२) मिल का कार्य करने की स्वतन्त्रता के विषय में मानवीय कार्यों को आत्मविषयक या वैयक्तिक (self-regarding) तथा पर-विषयक या सामाजिक (other-regarding) नामक दो वर्गों में बाँटना भ्रान्तिपूर्ण और असम्भव है। वास्तव में व्यक्ति के कार्यों में ऐसा भेद नहीं किया जा सकता। मिल द्वारा दिए गए मद्यपान के सुप्रसिद्ध उदाहरण में यह सर्वथा आत्मविषयक या वैयक्तिक कार्य है; यह तभी सामाजिक रूप धारण करता है जब शराब पीकर कोई व्यक्ति सड़क पर शोर मचाए या दंगा करे। किन्तु ऐसे व्यक्ति का अपने घर में शराब पीना भी विशुद्ध वैयक्तिक कार्य नहीं है, इसका उसकी पत्नी पर और बच्चों पर गहरा प्रभाव पड़ता है; यदि वह शराब में अन्धाधुन्ध पैसा न बरबाद करे तो वह यह धन अपनी पत्नी तथा बच्चों की शारीरिक तथा बौद्धिक उन्नति में लगा सकेगा और समाज को इससे लाभ पहुँचेगा। शराबी के बच्चे उसकी देखा-देखी उस दुर्व्यसन में फँस सकते हैं और इससे समाज को हानि होगी। वस्तुतः व्यक्ति का कोई भी ऐसा कार्य नहीं है जिसका समाज पर साक्षात् अथवा परोक्ष रीति से प्रभाव न पड़ता हो। यहाँ तक कि आत्म-हत्या को भी वैयक्तिक कार्य नहीं माना जाता; राज्य इसे रोकने के लिए दण्डविधान की व्यवस्था करता है, क्योंकि व्यक्ति का शरीर केवल उसका अपना ही नहीं है; इसके पालन-पोषण और विकास में समाज ने भाग लिया है, यह समाज की देन है, अतः इस पर उसका अधिकार है, वह इसका मनमाने ढंग से दुरुपयोग नहीं कर सकता। वस्तुतः व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है, वह समाज में रहते हुए ही अपना जीवनयापन कर सकता है, उसका कोई भी कार्य उसके बाहर नहीं हो सकता। मिल की व्यक्ति और समाज के अन्तर्द्वन्द्व और विरोध की कल्पना युक्तियुक्त नहीं है, इसीलिए बार्कर ने मिल की आलोचना करते हुए कहा है कि व्यक्ति और समाज के विरोध की कल्पना करने के कारण उसका स्वतन्त्रता का विचार सही नहीं है।

(३) मिल के मतानुसार राज्य को प्रत्यक्ष रूप से मद्यपान, जुए आदि पर प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए, क्योंकि शराबी या जुआरी को अपने मानसिक संघर्ष या अनुभव के आधार पर मद्यपान या जुए के दुष्परिणामों को समझ लेना अधिक श्रेयष्कर है, किन्तु यह मार्ग बड़ा जटिल और श्रमसाध्य है। यदि मद्यपान पर प्रति-बन्ध लगा दिया जाए तो शराबी का आत्मसंघर्ष में लगने वाला समय उसकी उन्नति में लग सकता है। इसी प्रकार यदि शिक्षा, जलपूर्ति, सफाई आदि का प्रबन्ध राज्य करे तो नागरिकों के श्रम और समय की भारी बचत हो सकती है और उन्हें मिल द्वारा महत्वपूर्ण समझे जाने वाले चरित्र-निर्माण के कार्यों के लिए पर्याप्त समय मिल सकता है।

(४) मिल ने विचार की स्वतन्त्रता पर बल देते हुए इसे हास्यास्पद सीमा तक पहुँचा दिया है। उसका यह कहना है कि सनकी या झक्की व्यक्तियों को भाषण

और विचार की पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए, क्योंकि यह सम्भव है कि दस सनकी व्यक्तियों में से एक अलौकिक प्रतिभासम्पन्न 'गुदड़ी का लाल' हो और वह समाज को नवीन क्रान्तिकारी विचारधारा तथा मौलिकता प्रदान करे। किन्तु यह तर्क ठीक प्रतीत नहीं होता है। डेविडसन ने लिखा है कि मिल यह भूल जाता है कि सनक या झक्कीपन चरित्र की उत्कृष्टता का नहीं, अपितु निर्बलता का परिणाम है; इसको प्रोत्साहित करने की नहीं, किन्तु दमन करने की आवश्यकता है। एक अपूर्ण बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति की आड़ में नौ सनकी लोगों को स्वतन्त्रता क्यों दी जाए।[1] सर लेस्ली स्टीफेन ने लिखा है कि एक सनकी आदमी लकड़ी का ऐसा रद्दी टुकड़ा (crossgrained) होता है कि इसका राज्य में उपयोग नहीं किया जा सकता। प्रोफेसर मैकन्न का मत है कि "सनकीपन व्यक्तित्व का विकार है।" ऐसे विकृत मस्तिष्क वाले व्यक्तियों को स्वतन्त्रता देना समाज के लिए हितकर नहीं है।

(५) मिल ने वादविवाद और विचार की स्वतन्त्रता पर बल देते हुए यह कहा है कि व्यक्ति को बिना तर्क किए किसी विचारधारा को स्वीकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि तर्कहीन विश्वास अन्धविश्वास का रूप धारण कर लेता है। किन्तु तर्क की कोई मर्यादा होनी चाहिए, समाज के कुछ सिद्धान्त तर्क और विवाद से परे होने चाहिएँ; हत्या, सत्य, राजद्रोह आदि के बारे में जितना कम तर्क हो वह समाज के लिए हितकर है। यदि राजद्रोह के सिद्धान्तों की चर्चा चौराहों पर होने लगे तो राज्य का भविष्य संकटापन्न हो जाएगा। तर्क को प्रधानता देने से समाज में निरर्थक वादविवाद या वितण्डा में समय नष्ट करने की प्रवृत्ति बढ़ेगी। यदि प्रत्येक व्यक्ति छोटी-छोटी बातों पर तर्क करने लगे और तर्क के बिना उन्हें स्वीकार न करे तो बड़ी विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। कोरा तर्क और शुष्क वितण्डा समाज के लिए हितकर नहीं है।

(६) मिल के मतानुसार झक्कियों तथा सनकी व्यक्तियों को नवीन परीक्षण करने की खुली छूट देने से समाज में मानवीय चरित्र के विविध रूप उत्पन्न होंगे और यह वैविध्य समाज की प्रगति और वृद्धि में सहायक होगा। किन्तु डेविडसन ने इस विषय में सत्य ही लिखा है कि चरित्र का मूल्यांकन गुणों के आधार पर किया जाना चाहिए, न कि वैविध्य के आधार पर। यदि वैविध्य ही प्रगतिशीलता का मानदण्ड हो तो "वह समाज अधिक प्रगतिशील कहलाएगा जिसमें प्रत्येक सदस्य के कोट के बटन कंधे, पीठ आदि विभिन्न स्थानों में लगे हुए हों।" वस्तुतः पोशाक का सौन्दर्य उसकी अच्छी सिलाई पर है, न कि उसके वैविध्य पर। इसी प्रकार समाज का हित उसके सदस्यों के चरित्र की उत्कृष्टता पर अवलम्बित है, न कि भिन्नता पर। सनकियों की स्वतन्त्रता से भिन्नता या वैविध्य ही बढ़ेगा, चरित्र में उन्नति और समाज की प्रगति सम्भव न होगी, अतः इस विषय में मिल का मत दूषित तथा अप्रामाणिक है।[2]

---

१. डेविडसन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १५५

२. मिल के स्वतन्त्रता के विचार की अन्य आलोचनाओं के लिए देखिए, क्रेन ब्रिण्टन—इंगलिश पोलिटिकल थाट इन दी नाइण्टीन्थ सेन्चुरी, हार्पर टार्च बुक्स, पृ० ९१, ९२, ९५

शासनविषयक विचार : प्रतिनिधि शासन-प्रणाली—मिल ने अपने शासन-सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन 'प्रतिनिधि शासन' (Representative Government) नाम की पुस्तक में किया है। इसमें उसने उत्तम शासन की कसौटी या लक्ष्य का वर्णन करते हुए कहा है कि आदर्श की दृष्टि से शासन का सर्वोत्तम प्रकार वह है "जिसमें प्रभुसत्ता अथवा सर्वोच्च नियन्त्रक शक्ति समुदाय के समूचे व्यक्तियों में निहित है, प्रत्येक नागरिक को न केवल इस अन्तिम प्रभुसत्ता का प्रयोग करने का अधिकार है, अपितु वह स्थानीय अथवा सामान्य सार्वजनिक कार्य को व्यक्तिगत रूप से करके शासन में वास्तविक भाग लेता है।" उसकी दृष्टि में व्यक्ति का लक्ष्य मानव की शक्तियों का सर्वांगीण विकास करना है और वही शासन-प्रणाली श्रेष्ठ है जिसमें इनका अधिकतम विकास सम्भव हो। उसने लिखा है—"अन्ततोगत्वा राज्य का महत्व और योग्यता इसका निर्णय करने वाले व्यक्तियों के महत्व और योग्यता पर निर्भर है। जिस राज्य में नागरिकों के मानसिक विस्तार और उन्नति की अपेक्षा प्रशासन में कुशलता को अधिक महत्व दिया जाता है, जहाँ मनुष्यों को इसलिए छोटा बना रहने दिया जाता है कि वे लाभदायक प्रयोजनों के लिए शासकों के हाथ में कठपुतली बने रहें, ऐसे राज्य में छोटे आदमियों की सहायता से वास्तव में कोई बड़ा कार्य पूरा नहीं किया जा सकता। अन्त में यह पता लगेगा कि राज्य के जिस शासन-यन्त्र को पूर्ण बनाने के लिए व्यक्तियों के विकास का बलिदान दिया गया था, उस यन्त्र को इससे कोई लाभ नहीं पहुँचेगा, क्योंकि इसने उस यन्त्र को अधिक उत्तम रीति से कार्य करने के लिए उसे उसका संचालन करने वाली शक्ति से वंचित कर दिया है।"

मिल का यह अभिप्राय है कि राज्य की प्राणशक्ति उसके चरित्रवान् व्यक्ति हैं, जिस शासन-प्रणाली में इनके विकास के अवसर नहीं हैं वह शासन-प्रणाली ठीक नहीं है, भले ही उसमें कितनी अधिक क्षमता और प्रशासनिक कुशलता क्यों न हो। निरंकुश राजतन्त्र शक्तिशाली और क्षमतापूर्ण होने पर भी आदर्श नहीं हैं, क्योंकि उनमें व्यक्तियों को शासन में भाग लेकर अपने चरित्र के विकास का अवसर नहीं मिलता। उसने प्रतिनिधि शासन वाले लोकतन्त्र को इसीलिए श्रेष्ठ शासन-प्रणाली बताया है कि इसमें व्यक्ति के बौद्धिक और नैतिक गुणों का विकास जिस मात्रा तक सम्भव होता है वैसा अन्य किसी शासन-पद्धति में या निरंकुश राजतन्त्र में सम्भव नहीं है। वह यहाँ तक कहता है कि एक बुरा निरंकुश शासन (Malevolent Despotism) लोकोपकारी निरंकुश शासन (Benevolent Despotism) से अधिक अच्छा है, क्योंकि यह नागरिकों में बुरे शासन के विरुद्ध प्रतिरोध और विद्रोह की भावना उत्पन्न करके उनके द्वारा सार्वजनिक मामलों में बुद्धिमत्तापूर्वक भाग लेने की, तथा शासन में उत्तरदायित्व की अनुभूति की भावना को उत्पन्न करने में अधिक सहायक है। लोकतन्त्र प्रणाली इसलिए उत्तम है कि इसमें अधिकांश जनता को मतदाता के रूप में शासन में भाग लेने का अधिकार मिलता है, स्थानीय स्वशासन में तथा जूरी आदि के कार्यों में भाग लेने से उसके बौद्धिक गुणों का विकास होता है। किन्तु जिन जातियों में सार्वजनिक भावना का तथा लोकतन्त्रीय शासन के कर्त्तव्यों के पालन का अभाव है, जिन्हें सार्वजनिक कार्यों में दिलचस्पी नहीं है, उनके लिए प्रजातन्त्र की व्यवस्था ठीक

नहीं है। इस विषय में मिल ने भारत का उदाहरण दिया है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी में कार्य करने से उसे भारत का कुछ अधकचरा ज्ञान था। इसके आधार पर उसने भ्रान्तिपूर्ण कपोलकल्पना करते हुए यह कहा है कि हिन्दुओं में यह प्रवृत्ति है कि वे अपराधियों से सहानुभूति रखते हैं, उन्हें पकड़वाने में राजकर्मचारियों की सहायता नहीं करते, वे चोर के विरुद्ध गवाही देकर उसे पकड़वाने की अपेक्षा झूठी गवाही देकर उसे छुड़ाने का प्रयत्न करते हैं।[1] सार्वजनिक कर्त्तव्यपालन की भावना न रखने वाली ऐसी जातियों के लिए लोकतन्त्र की प्रणाली उपयुक्त नहीं है।

लोकतन्त्र प्रणाली को सर्वोत्तम मानते हुए भी, इसे सब जातियों के लिए उपयुक्त न मानने के कारण मिल बेन्थम से एक महत्वपूर्ण भेद रखता है। बेन्थम परम्परा और इतिहास को कोई महत्व न देते हुए अपने सिद्धान्तों को सार्वभौम रूप से सब देशों में और समयों में लागू होने योग्य मानता है, किन्तु मिल इससे सहमत नहीं है। वह यह समझता है कि किसी देश की शासन-प्रणाली वहाँ के अतीत इतिहास में पाई जाने वाली परिस्थितियों में विकसित होती है, सब देशों की परिस्थितियाँ भिन्न होने से शासन-पद्धतियाँ भी भिन्न प्रकार की होती हैं। मिल पर डार्विन के विकासवाद का तथा कोम्ते आदि फ्रेंच विचारकों का प्रभाव पड़ा था। वह राज्य को अन्य सजीव शरीरों की भाँति स्वयमेव विकसित होने वाली संस्था नहीं, अपितु मनुष्य द्वारा अपने प्रयत्नों से विकसित होने वाली संस्था मानता था। इस विषय में बेन्थम और मिल के दृष्टिकोण की तुलना मनोरंजक है। बेन्थम लोकतन्त्र प्रणाली को मनुष्य की प्रकृति या स्वभाव के कारण श्रेष्ठ समझता था। मनुष्य स्वभाव से इतने स्वार्थी हैं कि इनके स्वार्थों का नियन्त्रण लोकतन्त्र के अतिरिक्त किसी अन्य शासन-व्यवस्था में सम्भव नहीं। राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और अन्य सभी शासन-प्रणालियाँ विशेष वर्गों के स्वार्थों की सिद्धि का साधन होती हैं। मिल यद्यपि यह मानता है कि लोकतन्त्र ही ऐसी प्रणाली है जिसमें सब वर्गों के हित सुरक्षित रहते हैं; किन्तु इसके साथ ही वह यह भी मानता है कि सभी जातियाँ लोकतन्त्र के लिए उपयुक्त नहीं हैं। जिन व्यक्तियों में सार्वजनिक कर्त्तव्यों का पालन करने वाली उपयुक्त भावना और चरित्र न हो उनके लिए लोकतन्त्र की व्यवस्था हितकर नहीं हो सकती। अतः बेन्थम लोकतन्त्र को **मनुष्य की प्रकृति** के आधार पर श्रेष्ठ समझता है और मिल **मनुष्य की परिस्थिति** के आधार पर।

मिल लोकतन्त्र का समर्थक इसीलिए नहीं है कि यह शासन-पद्धति मनुष्य को अधिक सुखी बनाती है, वह इसका पक्षपोषण इसलिए भी करता है कि वह उन्हें **अधिक अच्छा** बनाती है, उनके चरित्र के विकास के सुअवसर प्रदान करती है। उसकी दृष्टि में हमारे जीवन के लिए जिस प्रकार हवा जरूरी है वैसे ही राजनीतिक प्राणी के लिए अपना वोट डालना, जूरी पद्धति में काम करना तथा अन्य सार्वजनिक कार्य करना आवश्यक है। मत देने के महत्व पर उसने जो विचार प्रकट किए हैं, सम्भवतः इस विषय पर इससे अधिक उदात्त विचार कभी अभिव्यक्त नहीं किए गए—"किसी

---

१. जार्ज काटलिन—ए हिस्टरी आफ दी पोलिटिकल फिलासफर्स, पृ० ३९८

भी राजनीतिक निर्वाचन में, सार्वभौम मताधिकार द्वारा होने वाले चुनाव में भी मतदाता का यह पूर्ण नैतिक कर्त्तव्य है कि वह अपने वैयक्तिक हित के स्थान पर जनता के हितों का ध्यान रखे और अपना वोट अपनी सर्वोत्तम सम्मति के अनुसार इस प्रकार दे जैसे वही एकमात्र वोटर हो तथा सारा चुनाव उस पर निर्भर हो। उसके वोट में विकल्प का स्थान नहीं है, जूरी के निर्णय की भाँति उसे अपनी वैयक्तिक इच्छाओं का ध्यान नहीं रखना है। वोट देना उसका कर्त्तव्य है, उसे इसका पालन सार्वजनिक हित के सर्वोत्तम विचार के अनुसार करना चाहिए।"[1]

किन्तु लोकतन्त्र का परम प्रशंसक और उपासक होते हुए भी, वह इसके दोषों को भली-भाँति जानता था। उसने जहाँ एक ओर लोकतन्त्र पर इंगलिश भाषा में एक अधिकतम प्रभावशाली रचना लिखी है वहाँ दूसरी ओर इसकी बुराइयों का प्रतिपादन अत्यन्त ओजस्वी शब्दों में किया है और इन बुराइयों के प्रतिकार के अनेक उपायों का वर्णन किया है। ये उपाय प्रधान रूप से निम्नलिखित हैं—

(क) आनुपातिक प्रतिनिधित्व (ख) शैक्षणिक योग्यताएँ
(ग) साम्पत्तिक योग्यताएँ (घ) सार्वजनिक मतदान प्रणाली
(ङ) बहुल मतदान (च) विधि आयोग की व्यवस्था।

(क) **आनुपातिक प्रतिनिधित्व** (Proportional Representation)—मिल के मतानुसार लोकतन्त्रात्मक प्रतिनिधि शासन का सबसे बड़ा दोष बहुमत का अत्याचार और उत्पीड़न तथा अल्पसंख्यकों की घोर उपेक्षा है। इसमें जिसे ५१ प्रतिशत वोट मिल जाते हैं वह चुना जाता है और ४९ प्रतिशत वोटरों का प्रतिनिधि नहीं चुना जाता। चुनाव में अल्पसंख्यकों के सफल होने की आशा कभी नहीं की जा सकती, उनका प्रतिनिधित्व न होने से उनके हित सदैव उपेक्षित रहते हैं। इस दोष के प्रतिकार के लिए मिल ने आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली का समर्थन किया। इसका सर्वप्रथम प्रतिपादन लन्दन के बैरिस्टर थामस हेयर ने मिल के 'प्रतिनिधि शासन' के प्रकाशन से दो वर्ष पहले किया था। अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने के लिए हेयर ने यह व्यवस्था की कि इसमें एक उम्मीदवार को निर्वाचित होने के लिए वोटों की एक निश्चित संख्या प्राप्त करनी होती है, यह संख्या वोटों की पूरी संख्या को चुनी जाने वाली सीटों की कुल संख्या से भाग देकर प्राप्त की जाती है। इसमें वोटर अपने मत-पत्र पर अनेक उम्मीदवारों के नाम अपनी इच्छानुसार क्रम से लिखता है, सबसे पहले उस उम्मीदवार का नाम लिखता है जिसे वह सबसे अधिक पसन्द करता है, इसके बाद अपनी पसन्दगी के क्रम से अन्य उम्मीदवारों का नाम लिखता है। जब एक उम्मीदवार को निश्चित संख्या में वोट मिल जाते हैं तब उसके अन्य वोट वोटरों द्वारा दिए गए क्रम के अनुसार अन्य उम्मीदवारों को दिए जाते हैं। इस पद्धति के कुशलतापूर्वक प्रयोग से बहुत कम वोट बरबाद होते हैं और अल्पमतों को उनकी संख्या के अनुपात से प्रतिनिधित्व मिल जाता है। मिल ने हेयर की योजना का स्वागत और प्रबल समर्थन किया, वह इसे अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व के लिए आदर्श

१. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० ११८

मानता था। मिल द्वारा इस व्यवस्था के समर्थन से यह लोकतन्त्रीय शासन-प्रणाली का एक आवश्यक अंग बन गई है। हमारे देश में भी पार्लियामैण्ट में और विधान-सभाओं में विभिन्न समितियों के सदस्यों के चुनाव में इस पद्धति को अपनाया जाता है और इससे विरोधी दलों को समुचित प्रतिनिधित्व मिल जाता है।

(ख) **शैक्षणिक योग्यताएँ**—मिल प्रजातन्त्र का एक और बड़ा खतरा यह समझता था कि बहुसंख्या का शासन होने के कारण यह अज्ञानी और निरक्षर व्यक्तियों का शासन बन जाएगा, क्योंकि देश में अधिकतर संख्या ऐसे ही व्यक्तियों की होती है। उसे यह आशंका थी कि यदि वोटरों की योग्यता और गुणों के बढ़ाने पर ध्यान नहीं दिया गया तो लोकतन्त्र में कम बुद्धि और योग्यता वाले लोग हावी हो जाएँगे, अतः लोकतन्त्र के भविष्य को उज्ज्वल और सुरक्षित बनाने के लिए आवश्यक है कि ऐसे लोगों को मताधिकार से वंचित किया जाए। इसलिए उसने निरक्षर व्यक्तियों को वोट का अधिकार देने का विरोध करते हुए कहा कि "मैं इस बात को पूर्ण रूप से अस्वीकार करता हूँ कि जो व्यक्ति पढ़ने-लिखने में और गणित के सामान्य सवाल निकालने में समर्थ नहीं है उसे मतदान में हिस्सा न लेने दिया जाए।" उसके मत में वोट के लिए नाम दर्ज कराने से पहले वोटर बनने के इच्छुक व्यक्ति को अपनी योग्यता का परिचय देने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपना नाम वोटरों की सूची में दर्ज करने वाले अधिकारी के सम्मुख इंगलिश पुस्तक से एक वाक्य की प्रतिलिपि करके तथा सवाल करके अपनी वोटर बनने की योग्यता को प्रमाणित करे।

(ग) **साम्पत्तिक योग्यताएँ**—शैक्षणिक योग्यता के अतिरिक्त मिल वोटर के लिए साम्पत्तिक योग्यता भी आवश्यक मानता था। उसका यह विश्वास था कि जिनके पास सम्पत्ति होती है वे सम्पत्ति न रखने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा उत्तरदायित्व की भावना अधिक मात्रा में रखते हैं। उसने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि "यह बात महत्वपूर्ण है कि जो असेम्बली या विधानसभा सामान्य अथवा स्थानीय कर लगाती है उसका चुनाव ऐसे मतदाताओं द्वारा ही हो जो इस प्रकार लगाए जाने वाले टैक्सों का कुछ भाग देते हों। कर बिलकुल न देने वाले व्यक्तियों को यदि अपने मतों द्वारा दूसरे व्यक्तियों की सम्पत्ति पर कर लगाने का अधिकार दिया गया तो इस बात की सम्भावना है कि वे आर्थिक मामलों में खूब खर्च करने वाले तथा कोई बचत न करने वाले होंगे। उन्हें इस बात का अधिकार मिल जाता है कि वे जिस किसी बात को सार्वजनिक प्रयोजन समझते हैं उसके लिए दूसरे व्यक्तियों की जेबों में हाथ डालें।" अतः मिल सम्पत्ति रखने वाले तथा कर देने वाले व्यक्तियों तक ही वोट का अधिकार सीमित रखना चाहता था।

(घ) **सार्वजनिक मतदान** (Public Voting)—मिल के समय में अन्य सभी विचारक प्रजातन्त्र की सफलता के लिए गुप्त मतदान प्रणाली (Secret Ballot) के समर्थक थे, उनका यह मत था कि इससे चुनाव में घूसखोरी और भ्रष्टाचार कम होता है। बेन्थम और जेम्स मिल इसी मत के थे, किन्तु जॉन मिल मांतेस्क्यू की भाँति यह मानता था कि सार्वजनिक मतदान द्वारा जनता को लोकतन्त्र की प्रणाली के लिए समुचित रूप से प्रशिक्षित किया जा सकता है। मिल इस प्रणाली का समर्थन इस तर्क

के आधार पर करता था कि "मतदान का अधिकार सार्वजनिक कर्त्तव्य है, इसे अन्य सार्वजनिक कर्त्तव्यों की भाँति जनता की देख-रेख में और उसकी आलोचना को सहते हुए खुले रूप में करना चाहिए।" यह ऐसा कर्त्तव्य है जिसके समुचित पालन में सब लोगों का हित निहित है, अतः सब व्यक्तियों को यह देखने का अधिकार है कि इसका पालन ठीक ढंग से हो रहा है या नहीं हो रहा है। यदि गुप्त मतदान प्रणाली अपनायी गई तो इससे स्वार्थ-सिद्धि को प्रोत्साहन मिलेगा, सबकी निगाहों में रहते हुए वोट देते समय प्रतिकूल आलोचना के भय से मनुष्य अपने कर्त्तव्य का समुचित रीति से पालन करता है, गुप्त मतदान में यह भय न रहने से कर्त्तव्य का ठीक ढंग से पालन नहीं होगा।

(ङ) **बहुल मतदान** (Plural Voting)—मिल लोकतन्त्र की एक बड़ी बुराई यह समझता था कि इसमें समानता के सिद्धान्त के आधार पर सब व्यक्तियों को एक वोट का अधिकार दिया जाता है, किन्तु सब व्यक्तियों के वोटों का महत्व और मूल्य एक जैसा नहीं होता। वस्तुतः समाज में बुद्धिमत्ता, शिक्षा और उत्कृष्ट गुण अज्ञान, मूर्खता और निकृष्ट चरित्र से अधिक महत्व रखते हैं, अतः बुद्धिमान्, शिक्षित तथा उत्कृष्ट गुण रखने वालों को मूर्खों तथा अशिक्षितों से अधिक वोट देने का अधिकार होना चाहिए। उदाहरणार्थ, विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त करने वालों को दो वोट दिए जाने चाहिएँ। वह लोकतन्त्र के दो भेद करता था—सच्चा (True) लोकतन्त्र और झूठा (False) लोकतन्त्र। झूठा लोकतन्त्र संख्याओं को, तथा वोटों को गिनने का लोकतन्त्र है, इसका मूल सिद्धान्त है कि एक व्यक्ति का एक वोट होना चाहिए, एक व्यक्ति का एक से अधिक वोट नहीं होना चाहिए। इस सिद्धान्त का मतलब ऐसा शासन स्थापित करना है जो सबसे कम शिक्षित लोगों का तथा हाथ से काम करने वाले मजदूरों का शासन होगा। यह झूठा लोकतन्त्र है। इसके विपरीत सच्चे लोकतन्त्र में सब व्यक्तियों के वोट बराबर नहीं, किन्तु उनकी योग्यता के आधार पर होते हैं। इसमें शिक्षा, नैतिकता आदि की दृष्टि से योग्य व्यक्तियों को सामान्य व्यक्तियों से अधिक संख्या में वोट दिए जाते हैं। मिल ने इस विषय में एक विस्तृत योजना बनाई थी कि समाज के किन वर्गों को कितने वोट दिये जाने चाहिएँ, यह वर्गीकरण मानसिक और नैतिक गुणों के आधार पर किया गया था। यह सब लोकतन्त्र को अधःपतन के गर्त में गिरने से बचाने के लिए किया गया था, क्योंकि राज्य की रक्षा बुद्धि और चरित्र से ही हो सकती है। शिक्षित और बुद्धिमान् लोगों को अधिक संख्या में वोट देने का एक दुष्परिणाम यह हो सकता है कि शासन पर उनका आधिपत्य न स्थापित हो जाए, अतः मिल इस दुष्परिणाम से बचने के लिए यह व्यवस्था करता है कि वोटों की यह बहुसंख्या समाज में ऐसे दरिद्रतम व्यक्ति को भी प्राप्त होगी जो यह सिद्ध कर सके कि सब कठिनाइयों के बावजूद, बुद्धि की दृष्टि से वह अधिक वोट पाने का अधिकारी है। इस बात को 'स्वेच्छापूर्वक दी जाने वाली परीक्षाओं' से प्रमाणित किया जाना था।

(च) विधि आयोग तथा लोकतन्त्रविषयक अन्य विचार—पार्लियामैण्ट या प्रतिनिधिसभा के कार्य के सम्बन्ध में उसके विचार विलक्षण थे। इसका कार्य "शासन

करना नहीं है, इस कार्य के लिए उसमें कोई योग्यता नहीं है, प्रतिनिधिसभा का समुचित कार्य सरकार का निरीक्षण और नियन्त्रण करना, इसके कार्यों पर प्रकाश डालना, इसके गर्हणीय कार्यों की निन्दा करना, सरकारी कर्मचारियों में निहित किए जाने वाले विश्वास का दुरुपयोग करने वाले अधिकारियों को पदच्युत करना है।" चूंकि "सार्वजनिक प्रशासन की प्रत्येक शाखा का कार्य निष्णात एवं चतुर व्यक्तियों द्वारा किया जाने वाला होता है; अतः प्रतिनिधिसभा द्वारा प्रशासन के कार्य किए जाने का अर्थ यह होगा कि अयोग्यता तथा अनुभवशून्यता को योग्यता तथा अनुभव से अधिक महत्व दिया जा रहा है। इसलिए कानून बनाने का वास्तविक कार्य एक विशेष विधि आयोग (Special Commission on Legislation) को करना चाहिए, इसके सदस्य सिविल सर्विस के व्यक्ति होने चाहिएँ। इन कानूनों को पास करने का कार्य पार्लियामैण्ट का होना चाहिए। विधि आयोग द्वारा कानूनों का प्रारूप तैयार होने पर पार्लियामैण्ट को इसमें संशोधन का कोई अधिकार नहीं होगा, वह इन्हें या तो पास करेगी या रद्द करेगी।"

मिल ने इस व्यवस्था द्वारा संख्या के तथा गुण के सिद्धान्तों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। जनता की प्रभुसत्ता संख्या का सिद्धान्त है, शासन के कार्यों का वास्तविक संचालन योग्य व्यक्तियों द्वारा किया जाना तथा कानूनवेत्ताओं के आयोग द्वारा कानूनों का बनाया जाना गुण अथवा योग्यता का सिद्धान्त है। उसने इन दोनों का सामंजस्य करते हुए लोकतन्त्र के स्वरूप को विशुद्ध बनाने काप्रयत्न किया है।

सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना के लिए मिल कुछ अन्य सुधार भी करना चाहता है। उच्च अथवा द्वितीय सदन में वह ऐसे हितों का प्रतिनिधित्व करना चाहता है जिनका प्रतिनिधित्व सामान्य मताधिकार द्वारा निर्वाचित निम्न सदन में नहीं होता था। इसका कार्य निम्न सदन की गलतियों और दोषों के विरुद्ध प्रबल प्रतिवाद करना था। मिराबो ने कहा था कि प्रतिनिधिसभाएँ नक्शों जैसी होती हैं; जिस प्रकार इनमें देश की सब भौगोलिक विशेषताएँ उचित अनुपातों के साथ लघु रूप में दिखाई जाती हैं, उसी प्रकार विधानसभाओं में देश के विभिन्न स्वार्थों और दलों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। मिल के मतानुसार निम्न सदन में यह प्रतिनिधित्व संख्या के आधार पर होता था, किन्तु उच्च सदन में विभिन्न स्वार्थों और हितों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। १८३२ के सुधार कानून से पहले इंगलैण्ड में विभिन्न हितों का ही प्रतिनिधित्व होता था। मिल ने स्वयमेव इस व्यवस्था के उन्मूलन के लिए प्रयत्न किया था, किन्तु तीस वर्ष के अनुभव से उसे विशेष हितों का प्रतिनिधित्व भी आवश्यक प्रतीत हुआ।

उसका दूसरा सुधार पार्लियामैण्ट के सदस्यों को वेतन या भत्ता न दिए जाने के बारे में था। उस समय इसके लिए प्रबल आन्दोलन हो रहा था, किन्तु मिल इसका घोर विरोधी था। उसका यह कहना था कि इससे लोग आर्थिक प्रलोभन के कारण इसके सदस्य बनने लगेंगे, लोगों को अपने भाषणों से प्रभावित करने में समर्थ लोग (Demagogue) इस दिशा में आकृष्ट होने लगेंगे, चालाक और शासन करने में नालायक आदमी पार्लियामैण्ट के सदस्य बन जाएँगे, इसकी पवित्रता और क्षमता नष्ट हो जाएगी। लोगों की निष्काम सेवा की तथा कर्त्तव्य की भावना से पार्लियामैण्ट के

सदस्य बनने की प्रवृत्ति समाप्त हो जाएगी। सदस्यों को वेतन देने का विरोधी होने के साथ वह सदस्यों पर चुनावों का अनावश्यक और अनुचित बोझ भी नहीं डालना चाहता था। उसका मत था कि चुनाव के खर्च का भार उम्मीदवार पर नहीं पड़ना चाहिए।

मिल लोकतन्त्र के महान् विचारकों में गिना जाता है। लोकतन्त्रविषयक उसके उपर्युक्त सुझावों में कई इस समय सर्वसम्मति से स्वीकार किए जा चुके हैं और कई सुझाव रद्द कर दिए गए हैं। उसके सर्वत्र माने जाने वाले सुझाव आनुपातिक प्रतिनिधित्व और स्त्रियों का मताधिकार है। स्विट्ज़रलैण्ड में उसका विशेषज्ञ लोगों द्वारा कानूनों के निर्माण का सुझाव स्वीकार किया गया है, अन्य देशों में भी इस कार्य को विशेषज्ञों को सौंपने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। बहुल मतदान (Plural Voting) का तथा उपरले सदन में विशेष हितों के प्रतिनिधित्व के विचार भी अनेक लोकतन्त्रों में माने जाते हैं। उदाहरणार्थ, भारतीय संविधान के अनुसार कुछ राज्यों में शिक्षकों और विश्वविद्यालयों के स्नातकों को अपने सामान्य वोट के अतिरिक्त दो अन्य मत देने का अधिकार है और विधानपरिषदों में शिक्षकों, स्नातकों, नगरपालिकाओं आदि के विशेष हितों का प्रतिनिधित्व होता है। मिल के स्वीकार न किए जाने वाले सुझावों में पार्लियामैण्ट के सदस्यों को वेतन न देने की तथा खुले मतदान की व्यवस्था है।

स्त्रियों की स्वतन्त्रता—मिल के समय में इंगलैण्ड में नारियों की दशा बड़ी दयनीय थी, पुरुषों की तुलना में उन्हें बहुत कम अधिकार प्राप्त थे, उनके पास सम्मानित जीवन बिताने का एकमात्र साधन विवाह था और इसमें भी कानून ने उन्हें पतियों की दासता के बन्धन में जकड़ रखा था। स्त्रियों को विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा पाने, पार्लियामैण्ट का वोटर या सदस्य बनने तथा अन्य सार्वजनिक पदों पर कार्य करने का अधिकार नहीं था। सामाजिक रूढ़ियों और कानूनों ने उन्हें दासता के पाश में बाँध रखा था। जॉन स्टुअर्ट मिल ने १८६९ में प्रकाशित होने वाली **स्त्रियों की पराधीनता** (The Subjection of Women) नामक पुस्तक में इस स्थिति के विरुद्ध प्रबल आवाज उठाई, नर-नारी के अधिकारों में विषमता के उन्मूलन पर बल दिया, स्त्रियों को वोटर बनाने तथा अन्यायपूर्ण कानूनी बन्धनों से उन्मुक्त करते हुए पुरुषों के तुल्य समान अवसर देने का प्रबल समर्थन अकाट्य तर्कों के आधार पर किया। मिल स्त्रियों के मताधिकार तथा मुक्ति के लिए पार्लियामैण्ट में तथा इसके बाहर उग्र आन्दोलन करने वाला पहला व्यक्ति था। उसकी **स्त्रियों की पराधीनता** इस विषय में एक अमर कृति है, इसके अधिकांश विचार उसके अपनी पत्नी टेलर के साथ वार्त्तालापों और संवादों का परिणाम हैं, इस पुस्तक को उसने अपनी लड़की हेलेन टेलर के साथ मिलकर १८६१ में लिखा था और आठ वर्ष बाद छापा था। इसका युक्तिक्रम और प्रमुख विचार निम्नलिखित हैं।

इस पुस्तक के आरम्भ में ही घोषणा की गई है कि "नर-नारी के सामाजिक सम्बन्धों का नियन्त्रण करने वाला वर्तमान सिद्धान्त यह है कि 'नारी नर की कानूनी वश्यता में रहे', यह सिद्धान्त अपने-आपमें गलत है और इस समय मानव-समाज की प्रगति में एक बड़ी बाधा है।" इस समय कानून एवं लोकमत के अनुसार स्त्रियों के

लिए सम्मानपूर्ण जीवन का एकमात्र क्षेत्र विवाह करके जीवनयापन करना, गृहस्थी की देख-भाल, सन्तान का उत्पादन और पालन-पोषण थे। किन्तु इस क्षेत्र में कानून ने नारी को हीन स्थिति प्रदान करते हुए उसे पति के संरक्षण और पराधीनता में रखा था। इस क्षेत्र के अतिरिक्त नारियों के लिए सभी क्षेत्रों के द्वार बन्द थे। मिल इस स्थिति को नारी के प्रति घोर अन्याय समझता था और उसे इन न्यायपूर्ण बन्धनों से मुक्त कराना चाहता था। उस समय इस स्थिति का समर्थन करने के लिए सबसे बड़ा तर्क यह दिया जाता था कि नर-नारी में कुछ महत्वपूर्ण भेद हैं, इनके आधार पर नारियों की हीन स्थिति सर्वथा समुचित है। मिल ने इस तर्क का खण्डन करते हुए कहा कि कुछ शारीरिक भेदों के अपवाद को छोड़कर नर-नारी की विषम स्थिति का समर्थन करने के पक्ष में बताए जाने वाले सभी अन्तर कृत्रिम तथा बाह्य परिस्थितियों का परिणाम हैं, वे मौलिक तथा अनिवार्य नही हैं, किन्तु निरन्तर चिरकाल तक नारी को एक निश्चित दिशा में बनाए रखने का परिणाम हैं। यदि स्त्रियों को राजनीतिक और सामाजिक स्वतन्त्रता प्रदान की जाए तो ये अन्तर लुप्त हो जाएँगे। ये अन्तर किसी न्यायपूर्ण कानून का परिणाम नहीं हैं, किन्तु पुरुषों की **शक्ति के कानून** से प्रादुर्भूत हुए हैं, जब यह दबाव या शक्ति हटा ली जाएगी तो ये अन्तर समाप्त हो जाएँगे, उस समय समाज में न्याय और समता का साम्राज्य स्थापित हो जाएगा।

मिल के मतानुसार स्त्रियों को राजकीय सेवा के उच्च पदों से वंचित किया जाना अन्यायपूर्ण था। अनुभव के आधार पर ऐसा नहीं किया गया था। वस्तुतः स्त्रियों को कभी इस बात का अवसर ही नहीं दिया गया था कि वे इन पदों पर अपनी योग्यता प्रदर्शित करें। यदि उन्हें अवसर दिया जाए तो वे भी पुरुषों के तुल्य अपनी योग्यता का प्रदर्शन कर सकती हैं। किन्तु वर्तमान व्यवस्था बड़ी अन्यायपूर्ण है तथा सामाजिक प्रगति में बाधक है, क्योंकि यह जन्म के आधार पर नारियों के लिए प्रगति के द्वार बन्द कर देती है। मनुष्य स्वतन्त्र रूप में पैदा होता है, उसे सब पेशों और कार्यों के लिए योग्यता प्राप्त करने की और इन पेशों को करने की स्वतन्त्रता होती है। नारियों को भी यह स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए, केवल नारी के रूप में जन्म लेने के ही कारण उन्हें उन्नति और प्रगति के अवसरों से वंचित नहीं किया जाना चाहिए। उन्नति और प्रगति की आवश्यक शर्त यह है कि सबको आगे बढ़ने के समान अवसर दिए जाएँ, किसी के साथ कोई पक्षपात न किया जाए। स्त्रियों को ये अवसर नहीं दिए जाते। इसका कारण कोई न्यायसंगत तर्क या युक्ति नहीं, अपितु सामाजिक रूढ़ियाँ और अन्धविश्वास हैं। सामाजिक रूढ़ियों को समय बदलने के साथ परिवर्तित कर देना चाहिए, उनके साथ चिपके रहने तथा उनके पालन करने का कोई युक्तिसंगत आधार नहीं हैं। यह कहा जाता है कि वर्तमान सामाजिक रूढ़ियाँ स्त्रियों की प्रकृति पर आधारित हैं, यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि स्त्रियों की वर्तमान दशा उन्हें चिरकाल से चौके-चूल्हे के संकुचित क्षेत्र में उनके स्वामी के सुख और लाभ के लिए बन्द करके रखने का परिणाम है। यदि उन्हें स्वतन्त्रता दी जाए तो उनकी प्रकृति में परिवर्तन आ जाएगा।

मिल ने स्त्रियों की मुक्ति से उत्पन्न होने वाले सुखद परिणामों का विशद वर्णन किया है, इससे स्त्रियाँ अपने नवीन वातावरण में आनन्दित और प्रसन्न होंगी, इसमें उन्हें अपने विकास के अवसर मिलेंगे, उनके सार्वजनिक पदों पर काम करने से इनकी कार्यक्षमता का स्तर उन्नत होगा, स्त्रियों के सार्वजनिक क्षेत्र में पदार्पण करने से साधारण जनता के सामान्य विश्वासों और भावनाओं पर उदात्त प्रभाव पड़ेगा। समाज को स्त्रियों की मानसिक योग्यताओं से लाभ उठाने का अवसर मिलेगा। अतः स्त्रियों तथा पुरुषों के मताधिकार में तथा कानूनी अधिकारों में कोई विषमता नहीं होनी चाहिए, उन्हें सब क्षेत्रों में पुरुषों के समान उन्नति के अवसर मिलने चाहिएँ।

मिल की इन प्रबल युक्तियों का तत्कालीन इंगलैण्ड पर बड़ा प्रभाव पड़ा। डेविडसन ने लिखा है कि इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है कि इस समय ग्रेट ब्रिटेन में स्त्रियों को उच्च शिक्षा की जो सुविधा प्राप्त है तथा सामाजिक एवं अन्य क्षेत्र में विकास के जो अवसर उन्हें मिल रहे हैं, उसका श्रेय मिल द्वारा स्त्रियों के अधिकारों के प्रबल समर्थन को तथा इस विषय में उसके नेतृत्व को है।[1]

मिल द्वारा उपयोगितावाद का संशोधन—बेन्थम और मिल के सिद्धान्तों के भेद—जॉन स्टुअर्ट मिल को उसके पिता ने बचपन से ऐसी शिक्षा दी थी कि वह उपयोगितावाद के साँचे में ढल सके, बेन्थम के सिद्धान्तों का प्रबल प्रचारक बन सके। किन्तु समय बीतने के साथ कई कारणों से जॉन मिल के विचारों में बड़ा परिवर्तन आने लगा। इसका पहला कारण २० वर्ष की आयु में मिल का मानसिक अवसाद का दौरा था (देखिये ऊपर पृष्ठ ६३)। इससे उपयोगितावाद के सिद्धान्त में उसकी आस्था शिथिल होने लगी। दूसरा कारण मिल द्वारा वर्ड्सवर्थ और कोलरिज की कविता का अध्ययन तथा उस पर डार्विन, कोम्ते, स्पेन्सर आदि की रचनाओं का प्रभाव था। तीसरा कारण इंगलैण्ड की परिवर्तित परिस्थितियाँ थीं। बेन्थम और जेम्स मिल ने ब्रिटिश समाज की जिन बुराइयों के संशोधन पर बल दिया था, वे लुप्त हो रही थीं। अब इनकी आलोचना पर बल देने की आवश्यकता नहीं थी। इस समय इनके स्थान पर उत्पन्न होने वाली नई बुराइयों के निराकरण के लिए नवीन चिन्तन की आवश्यकता थी। अतः इन कारणों से जॉन मिल के विचारों में शनैः-शनैः एक क्रान्ति हुई और उसने नवीन सिद्धान्तों पर बल देना शुरू किया। इनसे उपयोगितावाद का आमूलचूल संशोधन हुआ, उसके स्वरूप में बहुत अन्तर आ गया। मिल ने उपयोगितावाद के स्थान पर व्यक्तिवाद (Individualism) पर अधिक बल दिया, अतः उसे **अन्तिम उपयोगितावादी** तथा **प्रथम व्यक्तिवादी** दार्शनिक कहा जाता है। मिल ने उपयोगितावाद के सम्बन्ध में अपने विचारों का विशद प्रतिपादन १८६१ में इस विषय पर लिखे Utilitarianism नामक निबन्ध में किया। इसके आरम्भ में तो उसने इसके सिद्धान्तों को स्वीकार किया है, किन्तु आगे चलकर इसके प्रधान सिद्धान्तों का परित्याग कर दिया है। यहाँ इसके आधार पर बेन्थम के उपयोगितावाद से उसके प्रधान मतभेदों का वर्णन किया जाएगा।

---

१. डेविडसन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १४५

बेन्थम से उसका **पहला भेद** सुख के स्वरूप के सम्बन्ध में था। पहले (पृ० २७-२८) यह बताया जा चुका है कि बेन्थम सुखों में मात्रात्मक (Quantiative) भेद मानता था, किन्तु मिल ने उनमें गुणात्मक (Qualitative) भेद भी माना। बेन्थम के मतानुसार सुख की मात्रा एक-सी होने पर रसगुल्ले खाने में आनन्द या कालिदास के काव्य का रसपान करने में कोई अन्तर नहीं है। मिल को यह बात मान्य नहीं थी। उपर्युक्त निबन्ध में बेन्थम के अधिकतम सुख के सिद्धान्त को मानने के बाद उसने यह लिखा है कि यह बात उपयोगिता के सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है कि इस बात को मान लिया जाए कि आनन्द के कुछ प्रकार अन्य प्रकारों की अपेक्षा अधिक वांछनीय और अधिक मूल्यवान् होते हैं। यह **बड़ी बेहूदा बात** होगी कि सब आनन्दों का मूल्यांकन करते समय **केवल मात्रा** पर ही विचार किया जाए।[1] मिल के मतानुसार रसना के आनन्दों से बुद्धि के आनन्द अधिक उत्कृष्ट थे। उसने लिखा था कि सभी उपयोगितावादी लेखक इस बात को स्वीकार करते हैं कि शारीरिक सुखों की तुलना में मानसिक सुख अधिक उत्कृष्ट होते हैं क्योंकि ये अधिक स्थायी एवं सुरक्षित होते हैं।

मिल ने सुखों में गुण की दृष्टि से उच्चतम तथा निम्नतम सुखों का भेद स्वीकार किया। उसका यह कहना था कि सुसंस्कृत एवं परिमार्जित रुचि वाले विद्वान् पुरुषों को जिन बातों में सुख मिलता है वह मूढ़ लोगों के इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने वाले निरन्तर आनन्दों से कहीं अधिक उत्कृष्ट है। यदि विद्वान् और मनीषी अपनी स्थिति से सन्तुष्ट न हो तो भी उसकी यह अवस्था पूर्ण रूप से सन्तुष्ट निम्न कोटि वाले व्यक्ति से कहीं अधिक अच्छी है। उसने लिखा था कि "असन्तुष्ट मानव सन्तुष्ट सूअर की अपेक्षा अच्छा है, असन्तुष्ट सुकरात पूर्णतया सन्तुष्ट मूर्ख की अपेक्षा उत्कृष्ट है।"[2] इसका यह अभिप्राय है कि सुकरात जैसे व्यक्तियों का सुख सूअर या मूर्ख के सुख की अपेक्षा मात्रा में न्यूनतर होने पर भी गुणात्मक दृष्टि से उच्चतर होने के कारण अधिक वांछनीय है। मिल का यह कहना था कि इस विषय में उन विद्वानों और आप्त पुरुषों का वचन प्रमाण मानना चाहिए जिन्हें उच्चतम तथा निम्नतम दोनों प्रकार के सुखों का अनुभव है। उनकी साक्षी के आधार पर ही हमें इस गुणात्मक भेद को स्वीकार करना चाहिए। यदि सुखों में यह भेद मान लिया जाए तो इसका यह अर्थ होगा कि हम यह भी मानेंगे कि हमें उच्चतर सुख पाने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे उपयोगितावाद का आधार ही खण्डित हो जाता है, क्योंकि उपयोगितावाद सुखवादी होने से सुखों में मात्रा का ही भेद मानता है, गुणों का नहीं। अतः मिल ने सुखों को गुणात्मक मानकर उपयोगितावाद के एक बड़े आधारस्तम्भ को तिलांजलि दे दी।

दूसरा भेद सुखों की गणना-पद्धति (Felicific Calculus) के बारे में है। सुखों में गुणात्मक भेद मान लेने से उनको नापने या निष्पक्ष रीति से मूल्यांकन करने के सभी प्रयत्न निरर्थक हो जाते हैं क्योंकि रसगुल्ला खाने से रसना को सुख देने वाले

---

१. यूटिलिटेरियनिज़्म, लिबर्टी, रिप्रैज़ेण्टेटिव गवर्नमैण्ट (एवरीमैन्स लाइब्रेरी, १९१०), पृ० ७

२. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० ११५

निम्नस्तर के ऐन्द्रियक सुख की तुलना कालिदास के काव्यरसास्वादन के उत्कृष्ट सुख से नहीं हो सकती। तुलसीदास ने कहा है कि स्वर्गादि के भोगों से प्राप्त होने वाले सुख यदि एक पलड़े में रखे जाएँ और सत्संग का क्षण-भर का आध्यात्मिक सुख दूसरे पलड़े में रखा जाए तो स्वर्ग के सुख सत्संगति के सुख की तुलना नहीं कर सकते। भारतीय धर्मशास्त्रों में इसलिए आध्यात्मिक सुखों को भौतिक सुखों से उत्कृष्ट बताया गया है। महाभारत में कहा गया है[1] कि सांसारिक काम या वासना की तृप्ति होने से जो सुख होता है और जो सुख स्वर्ग में मिलता है, ये दोनों सुख मिलकर तृष्णा के क्षय से होने वाले सुख के सोलहवें हिस्से के भी बराबर नहीं हैं। विभिन्न सुखों की यह तुलना विद्वानों द्वारा की जाती है। बेन्थम सुखों की मात्रा को आनन्ददायक गणना-पद्धति से नापना चाहता था। किन्तु इस विषय में मिल का नपैना सर्वथा भिन्न है, यह इसके सम्बन्ध में विद्वानों को ही प्रमाण मानता है क्योंकि इनके सिवाय इनकी जाँच या निर्णय किसी अन्य प्रकार से नहीं हो सकता। "दो सुख देने वाली अनुभूतियों की प्रगाढ़ता का निर्णय वही लोग कर सकते हैं जिन्हें दोनों अनुभूतियों का ज्ञान हो।" अतः मिल का मत इस विषय में सर्वथा सत्य प्रतीत होता है कि सुखों का नापने का कार्य बेन्थम की आनन्दमापक पद्धति से सम्भव नहीं है। यह मिल का बेन्थम से एक मौलिक भेद तथा उपयोगितावाद के एक महान् मन्तव्य का परित्याग था।

तीसरा भेद इतिहास एवं परम्पराओं के महत्व के सम्बन्ध में था। बेन्थम इनकी घोर उपेक्षा करता था, उसके मतानुसार उसके द्वारा तैयार किए गए संविधान और शासन-प्रणालियाँ दुनिया के किसी भाग में, असभ्यतम देशों में तथा सभ्यतम देशों में सर्वत्र समान रूप से लागू की जा सकती थीं। किन्तु मिल ऐसा नहीं मानता था, उसके मतानुसार प्रत्येक देश और जाति का अपना इतिहास, परम्पराएँ, रूढ़ियाँ और नियम होते हैं, इनका उस देश की विशिष्ट परिस्थितियों में विकास होता है; प्रत्येक देश की शासन-प्रणाली वहाँ की परम्पराओं और परिस्थितियों के अनुसार होनी चाहिए। कोई भी शासन-प्रणाली ऐसी आदर्श या उन्नत नहीं हो सकती जो सर्वत्र समान रूप से लागू की जा सके। पहले (पृ० ८१-८२) यह बताया जा चुका है कि लोकतन्त्र की व्यवस्था को उत्कृष्ट मानते हुए भी मिल इसे भारत जैसे देशों के उपयुक्त नहीं मानता था। अतः उसे ऐतिहासिक सापेक्षतावादी (historical relativist) कहा जाता है। इसलिए लोकतन्त्र को जहाँ बेन्थम मानव प्रकृति (nature of man) के आधार पर उत्कृष्ट मानता है, वहाँ मिल इसे मनुष्य की परिस्थिति के आधार पर श्रेष्ठ समझता है (ऊपर पृ० ८२)।

चौथा भेद मिल द्वारा व्यक्ति और राज्य के उद्देश्यों को ऊँचा बनाना तथा उपयोगितावाद में उच्च नैतिक सिद्धान्तों का समावेश करना है। बेन्थम मानव-जीवन का लक्ष्य अपने सुख की प्राप्ति और राज्य का लक्ष्य अपने नागरिकों को इसकी प्राप्ति में सहायता देना मानता है, वह अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख के सिद्धान्त

१. महाभारत, शान्तिपर्व, १७४।४८

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्।

पर बल देता है, वह नैतिकता के विचार को तनिक भी महत्व नहीं देता (देखिए ऊपर पृ० २८)। मिल का मत इसके सर्वथा प्रतिकूल है। व्यक्ति का लक्ष्य केवल सुख की खोज नहीं, अपितु जर्मन विद्वान् विल्हैल्म वान हम्बोल्ड के मतानुसार "अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का उच्चतम तथा अधिकतम सामंजस्यपूर्ण विकास" करना है। राज्य का लक्ष्य अपने नागरिकों का सुख बढ़ाना नहीं, किन्तु उनके मानसिक गुणों को बढ़ाना है। मिल के मत में राज्य एक नैतिक संस्था है, उसका एक नैतिक उद्देश्य है। उसका लक्ष्य वैयक्तिक सुख या उपयोगिता को ही बढ़ाना नहीं, अपितु व्यक्तियों के गुणों का विकास और वृद्धि करना है। इस पर वेपर ने यह टिप्पणी की है कि मिल ने इस प्रकार उपयोगितावाद का समर्थन उसका पूर्ण परित्याग करके किया।

यह बात उसके अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख के सिद्धान्त की व्याख्या से स्पष्ट हो जाती है। उपयोगितावाद की एक बड़ी समस्या यह थी कि जब सब व्यक्ति स्वार्थी होने के कारण अपने वैयक्तिक सुखों पर बल देते हैं तो समष्टि का या "अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख" का लक्ष्य कैसे पूरा हो सकता है, क्योंकि विभिन्न सुखों और स्वार्थों के संघर्ष के कारण अधिकतम सुख का निर्धारण या प्राप्ति बहुत कठिन है। मिल इसे ईसा के स्वर्णिम नियम—उपयोगितावाद की नैतिकता के आधार पर स्पष्ट करता है। "ईसा का उपदेश है कि तुम दूसरे के साथ वैसा व्यवहार करो जैसा तुम अपने साथ चाहते हो, अपने पड़ोसी से वैसा प्यार करो जैसा तुम अपने साथ करते हो। यही उपयोगितावादी नैतिकता का आधार है। तुम अपना सुख और हित उसी बात में समझो जिसमें दूसरे का सुख और हित हो।"[1] मिल यह समझता है कि समुचित शिक्षा द्वारा मनुष्य का ऐसा विकास हो सकता है कि वह समष्टि के या अधिकतम व्यक्तियों के सुख को अपना सुख समझे, वह अपना आचरण ऐसा बनाए कि उससे इसको तथा अधिकतम व्यक्तियों को आनन्द प्राप्त हो।

मिल की उपयोगितावाद की यह व्याख्या बेन्थम के मत के सर्वथा प्रतिकूल है। उसके मतानुसार मानवीय आचरण और व्यवहार में हमारा चरम लक्ष्य भौतिक सुख की प्राप्ति है। उसमें नैतिकता के प्रश्नों का तथा व्यक्ति के सुख के उपर्युक्त रीति से समष्टि के सुख में रूपान्तरित होने का कोई प्रश्न नहीं है। बेन्थम के मतानुसार मनुष्य सभ्यता की जिस दशा में हो, उसे सुख मिलना चाहिए, मिल मनुष्य की दशा को उन्नत करके उसमें सुख के स्वरूप को उत्कृष्ट बनाना चाहता था। मैक्सी ने दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है—"बेन्थम का उपयोगितावाद का सिद्धान्त भेड़ियों के समाज में स्वार्थ को महत्व देता है और सन्तों के समाज में साधुता को। मिल का यह संकल्प था कि चाहे कोई भी समाज हो, उसमें उपयोगिता की कसौटी साधुता (saintliness) ही होनी चाहिए।"[2]

पाँचवां भेद राजनीतिक संस्थाओं के स्वरूप के बारे में है। मिल बेन्थम की भाँति इन्हें मनुष्यों की कृति मानता है, किन्तु वह इस बात पर बेन्थम की अपेक्षा अधिक बल देता है कि राज्य आदि सभी संस्थाओं का आधार इच्छा (Will) है।

१. मिल—यूटिलिटेरियनिज़्म, पृ० १६
२. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० ४८०

यह इच्छा केवल संख्या पर ही आधारित नहीं है, अपितु गुणों पर टिकी हुई है। संस्थाओं का निर्माण करने वाली इच्छा धर्म जैसे सुदृढ़ धार्मिक विश्वास का रूप धारण कर सकती है। अतएव मिल का यह कहना था कि "सुदृढ़ विश्वास रखने वाला एक व्यक्ति केवल अपना स्वार्थ या हित रखने वाले ९९ व्यक्तियों के समान सामाजिक शक्ति रखता है।" बेन्थम इससे बिलकुल सहमत नहीं था, वह राज्य को इच्छा के स्थान पर हितों (interests) का परिणाम या कार्य मानता है। मिल राज्य से मानवीय इच्छा या व्यक्तित्व की उपेक्षा करने वाले किसी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता, यह बेन्थम के मत के सर्वथा प्रतिकूल था।

छठा भेद राज्य के आर्थिक कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में है। पुराने उपयोगितावादियों की यह धारणा थी कि व्यक्तियों द्वारा अपने सुखों की प्राप्ति के प्रयत्न से समाज को सुख प्राप्त होगा। मिल ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' (Political Economy) में इसका खण्डन किया है। इस विचार में इस बात की सर्वथा उपेक्षा कर दी गई है कि सब व्यक्तियों की शक्ति में बड़ा अन्तर होता है और ऐतिहासिक परिस्थितियाँ सर्वत्र एक जैसी नहीं हैं। यदि भूतकालीन परिस्थितियों के कारण कुछ व्यक्तियों के पास अधिक साधन सम्पत्ति है तो उन्हें आर्थिक प्रतियोगिता में कम साधन-सम्पन्न व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक लाभ रहेगा। भूसम्पत्ति पर, कारखानों पर तथा ज्ञान पर थोड़े से व्यक्तियों का एकाधिकार है, शासनसत्ता भी इन्हीं के हाथ में है, इन्होंने सब कानूनों का निर्माण अपने स्वार्थों की सिद्धि के उद्देश्य से किया है। अतः ये लोग इन कानूनों से साधारण जनता के जीवन को दयनीय बना रहे हैं और लाखों व्यक्तियों के सर्वांगीण विकास में बाधाएँ डाल रहे हैं। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह इन बाधाओं का निराकरण करे और सार्वजनिक कल्याण और सुख की वृद्धि करे। यद्यपि मिल कट्टर व्यक्तिवादी होने के कारण राज्य के कार्य-क्षेत्र को संकुचित करने पर तथा उसके कार्य कम करने पर बल देता था, फिर भी वह व्यक्ति के विकास को और मानव-जाति की प्रगति को अवरुद्ध करने वाले कार्यों को रोकना चाहता था। इस दृष्टि से उसने भूसम्पत्ति का विरोध किया, वह भूमि पर वैयक्तिक अधिकार को समाज के लिए उपयोगी या हितकारी नहीं मानता था। यह बेन्थम के सम्पत्ति को पवित्र और महत्वपूर्ण मानने के विचार से सर्वथा प्रतिकूल था। वह नागरिकों के विकास के लिए अनिवार्य शिक्षा-पद्धति का समर्थक था, यद्यपि वह राज्य द्वारा शिक्षा का पाठ्यक्रम निर्धारित किए जाने का विरोधी था। वह उत्तराधिकार द्वारा पुत्रों के विशाल सम्पत्ति प्राप्त करने का विरोध करता था, उसका यह मत था कि किसी व्यक्ति को एक निश्चित मात्रा से अधिक सम्पत्ति प्राप्त नहीं होनी चाहिए। वह कारखानों की दशाओं में सुधार करने वाले, विशेषतः बच्चों की स्थिति सुधारने वाले कानून बनाने के पक्ष में था। उसके मतानुसार काम करने के घण्टे नियन्त्रित होने चाहिएँ। वह राज्य को आर्थिक मामलों में मजदूरों के कल्याण और हित की दृष्टि से हस्तक्षेप करने का पूरा अधिकार प्रदान करता था और इस दृष्टि से समाजवादी था। अतः एबेन्स्टाइन ने यह सत्य ही लिखा है कि मिल ने अपने जीवन का आरम्भ

उपयोगितावादी के रूप में तथा अन्त समाजवादी के रूप में किया।[1] बेन्थम आर्थिक क्षेत्र में एडम स्मिथ की अहस्तक्षेप (Laissez faire) की नीति का समर्थक था, मिल ने इसका विरोध उपयोगितावाद के प्रधान आधार—अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख एवं सार्वजनिक कल्याण के आधार पर किया।

सातवाँ भेद स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में है। बेन्थम ने इसे विशेष महत्व नहीं दिया था, इसका स्थान सुरक्षा के बाद माना था (पृ० ३२), किन्तु मिल के मतानुसार राजनीतिक और सामाजिक जीवन में इसका सर्वोच्च स्थान था (देखिए ऊपर पृ० ६८—७७)।

आठवाँ भेद गुप्त मतदान प्रणाली के बारे में था। बेन्थम इसका कट्टर समर्थक और मिल उग्र विरोधी था (ऊपर पृ० ८४)।

नवाँ भेद स्त्रियों के मताधिकार के बारे में था। मिल ने इसका जैसा उग्र समर्थन किया था वह हमें बेन्थम और जेम्स मिल की रचनाओं में नहीं मिलता।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि जॉन स्टुअर्ट मिल ने उपयोगितावाद में अनेक महत्वपूर्ण संशोधन किए। वेपर (पृ० ८६)ने तो यहाँ तक लिखा है कि उपयोगितावाद पर किए जाने वाले आक्षेपों से इसकी रक्षा करने के लिए मिल इतनी दूर तक चला गया कि उसने उपयोगितावाद के समूचे सिद्धान्त का परित्याग कर दिया। उसका संशोधन कार्य इतना अधिक था कि मिल द्वारा इसकी पुनर्व्याख्या के बाद इसमें उपयोगितावाद का कुछ भी अंश नहीं रह गया। वेपर ने इसकी तुलना के लिए मनोरंजक दृष्टान्त देते हुए कहा है कि यदि किसी गम्भीर दार्शनिक के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वह बच्चे को नहलाने-धुलाने के बाद उसे उठाना भूल गया था तो यह बात मिल के बारे में ही पूर्ण रूप से कही जा सकती है। उसने उपयोगितावाद की इतनी सफाई की कि उसका नाम-निशान बाकी नहीं रहा। किन्तु लैंकास्टर आदि अन्य विद्वान् वेपर की इस **अतिरंजित** आलोचना से सहमत नहीं हैं। मिल ने उपयोगितावाद में महत्वपूर्ण संशोधन किए। उसने इसे नवीन दिशाओं में विस्तीर्ण करके इसकी नींवों को खोखला बनाया, किन्तु वह इस दृष्टि से अन्तिम समय तक "बेन्थम का अनुयायी बना रहा कि वह एक प्रकार के समाजशास्त्र में विश्वास रखता था और यह मानता था कि मनुष्य का ज्ञान बढ़ने के साथ मानवीय मामलों का संचालन अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण रीति से हो सकता है।"[2]

मिल का महत्व और अनुदान—मिल के राजनीतिक चिन्तन की बड़ी कड़ी आलोचना की गई है और अनेक विद्वानों ने इसके दोषों को प्रदर्शित किया है। इसका

---

१. एबेन्स्टाइन—ग्रेट पोलिटिकल थिंकर्स, पृ० ५३४ : मिल ने समाजवाद पर एक पुस्तक भी लिखना आरम्भ किया था, वह इसे पूरा नहीं कर सका। इस सम्पूर्ण पुस्तक को उसकी लड़की ने 'चैप्टर्स ऑन सोशलिज्म' के नाम से छापा है। मिल ने समाजवाद के सिद्धान्तों के बारे में मार्क्स और एंगल्ज की उपेक्षा की है, वह इस विषय में ओवन, फूरये, सेण्ट साइमन तथा लुई ब्लांक आदि फ्रेंच विचारकों का अनुयायी है। उसने अपनी अन्तर्दृष्टि से यह पहले ही देख लिया था कि मार्क्स का समाजवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कुचल देगा, अतः उसका झुकाव इसे सुरक्षित रखने वाले ब्रिटिश तथा फ्रेंच समाजवादी विचारकों की ओर था।

२. लैंकास्टर—मास्टर्स आफ पोलिटिकल थाट, खण्ड ३, पृ० ११६

सबसे बड़ा दोष यह है कि उसने उपयोगितागाद का समर्थन करते हुए उसकी नींव खोखली कर दी, उसके मौलिक सिद्धान्तों को तिलांजलि दे दी। उसकी रचनाओं और विचारों में विरोध, असंगति और अस्पष्टता है, उसके कई तर्क थोथे और हेत्वाभासपूर्ण हैं।[1] मिल की स्वतन्त्रता के विचार की आलोचना पहले ही की जा चुकी है (पृ० ७७)। उसने विचार-विमर्श और विवाद की स्वतन्त्रता पर इतना अधिक बल दिया है कि यह समाज में अस्थिरता और निर्बलता उत्पन्न करने वाली है। बर्क ने यह सत्य ही कहा था कि वादविवाद की प्रवृत्ति अधिक बढ़ जाने पर हम अपने कर्त्तव्यों के बारे में भी सन्देह करने लगते हैं।

किन्तु मिल की इन आलोचनाओं के बावजूद हमें यह मानना पड़ता है कि वह उपयोगितावादी दार्शनिकों में सर्वश्रेष्ठ और अधिकतम सन्तोषजनक है। उसने उपयोगितावाद के सिद्धान्तों को बेन्थम की तथा अपने पिता की अपेक्षा अधिक गहराई, ऊँचाई और उदारता प्रदान की है। उसने उस समय लोकतन्त्र की निर्बलताओं और दोषों का प्रतिपादन किया जब सर्वत्र इसका गुणगान हो रहा था। स्वतन्त्रता पर अत्यधिक बल देने के कारण वह राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में सदैव चिरस्मरणीय रहेगा। बीसवीं शताब्दी में हिटलर, मुसोलिनी और स्टालिन जैसे तानाशाहों के अभ्युत्थान से व्यक्ति की स्वतन्त्रता को जो भीषण संकट उत्पन्न हो गया था, उसे देखते हुए मिल के व्यक्ति की स्वतन्त्रता के विचारों को असाधारण महत्व प्राप्त हो जाता है। बहुमत और लोकमत के अत्याचार से व्यक्ति की स्वाधीनता के कुचले जाने का संकट १९वीं शताब्दी की अपेक्षा बीसवीं शताब्दी में अधिक बढ़ गया है। रेडियो, सिनेमा, टेलीविज़न, और नीट्शे के शब्दों में प्रातःकालीन प्रार्थना का स्थान लेने वाला समाचार-पत्र प्रचार के इतने प्रबल साधन बन गए हैं कि कोई भी तानाशाह इनकी सहायता से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पूर्ण दमन कर सकता है। ऐसे समय में मिल जैसे सनकी और झक्की आदमी मानव-समाज की स्वतन्त्रता सुरक्षित बनाए रखने के लिए परम आवश्यक हैं। जब तक मानव-जीवन में स्वतन्त्रता को महत्व दिया जाएगा तब तक इसके प्रबल पोषक जॉन स्टुअर्ट मिल को इस समर्थन के लिए सदैव स्मरण किया जाएगा। स्त्रियाँ अपने मताधिकार का और पुरुषों के तुल्य समानाधिकार पाने के आन्दोलनों का श्रीगणेश करने के लिए मिल के प्रति अत्यन्त आभारी हैं। व्यक्तिवाद और उदारवाद की विचारधाराएँ आज भी मिल को अपना मूल स्रोत मानती हैं।

उपयोगितावाद का सिंहावलोकन—प्रभाव और देन—१८७३ में जॉन स्टुअर्ट मिल की मृत्यु के साथ राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उपयोगितावाद के प्रभाव का अन्त हो गया। इसके बाद इसका स्थान लेने वाली आदर्शवाद और समाजवाद की विचारधाराएँ प्रबल होने लगीं। किन्तु उपयोगितावाद के सिद्धान्तों की समाप्ति हो जाने के बाद भी उसने पिछली एक शताब्दी में राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में जो प्रभाव डाला था, वह अमिट और चिरस्मरणीय है। दार्शनिक दृष्टि से यह बहुत उदात्त और

---

१. सी० ई० एम० जोड—गाइड टु दी फिलासफी आफ मारल्स एण्ड पालिटिक्स, पृ० ३३४-३५

उच्च सिद्धान्त नहीं था, इसका सुखवादी दृष्टिकोण कोरा भौतिकवादी होने के कारण दोषपूर्ण था। इसका मनोविज्ञान भ्रान्तिपूर्ण था। इसने व्यक्तियों को अत्यधिक प्रधानता देकर सामाजिक दृष्टिकोण की शोचनीय उपेक्षा की थी। फिर भी इसने अपनी कई नई देनों के कारण राजनीतिक चिन्तन को समृद्ध किया।

उसकी **पहली** देन राजनीति में स्पष्टता और सुबोधता लाने की थी। उपयोगितावादियों से पहले राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में प्राकृतिक अधिकारों के समर्थकों का और आदर्शवादियों (Idealists) का साम्राज्य था। ये दोनों कल्पनालोक में विहार करने वाले थे। पहला वर्ग सामाजिक अनुबन्ध, प्राकृतिक अधिकार, प्राकृतिक कानून जैसे कल्पनाप्रसूत विचारों पर बल दे रहा था और दूसरा वर्ग रहस्यवादी विचारों पर। उन दिनों राजनीति शब्दाडम्बरपूर्ण वाग्जाल के तिमिरावरण के कारण बड़ी अस्पष्ट और दुर्बोध थी। उपयोगितावादियों ने इस आवरण को छिन्न-भिन्न करते हुए इसमें नवीन आलोक, स्पष्टता और सुबोधता लाने का यत्न किया। यह बात हेगल और बेन्थम द्वारा किए गए राज्य के लक्षणों से स्पष्ट हो जाएगी। हेगल के मतानुसार, "राज्य एक ऐसी सामाजिक—नैतिक भावना है, जो स्वयं चिन्तन करने वाली तथा आत्मज्ञान रखने वाली ठोस इच्छा है, यह समाज में प्रकट होती है और स्वयमेव देखी जाती है।" इस लक्षण से हमें राज्य की कोई स्पष्ट बात नहीं ज्ञात होती। बेन्थम ने राज्य का लक्षण करते हुए कहा था कि राज्य सामान्य सुख की प्राप्ति के लिए प्रयास करने वाले व्यक्तियों का समुदाय है। दोनों लक्षणों की तुलना से स्पष्ट है कि बेन्थम का लक्षण बहुत अधिक सरल, सुगम, सुबोध तथा स्पष्ट है। आस्टिन ने विधिशास्त्र के क्षेत्र में कानून का स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट करके एक महान् सेवा की थी और इससे विधिशास्त्र के अध्ययन में एक नवीन युग का श्रीगणेश हुआ था।

उपयोगितावाद की **दूसरी** देन यह थी कि इसने इस बात पर बल दिया कि राजनीतिक चिन्तन का आधार काल्पनिक तथ्य नहीं, किन्तु वैज्ञानिक सामग्री और मानवीय स्वभाव का ज्ञान होना चाहिए। उसकी **तीसरी** देन राज्य के सम्मुख लोकहित के लिए अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख का एक ठोस और निश्चित आदर्श रखना था। इससे पहले के विचारकों ने राज्य का इतना स्पष्ट, लोकप्रिय लक्ष्य कभी नहीं रखा था। इस लक्ष्य ने राजनीतिज्ञों और विचारकों को सामाजिक कानूनों और संस्थाओं को परखने की तथा उन्हें संशोधित करने की एक उत्तम कसौटी प्रदान की, इससे इंगलैण्ड में तथा अन्य देशों में अमिट प्रभाव रखने वाले दीवानी, फौजदारी कानूनों का संशोधन, जेलों की व्यवस्था का सुधार, दरिद्रगृहों के आयोजन का और शिक्षा-सम्बन्धी, चुनावविषयक तथा पार्लियामैण्टविषयक सुधारों का श्रीगणेश हुआ। १९वीं शताब्दी के सभी सुधारों का आदिस्रोत या गंगोत्री उपयोगितावाद ही था। इस विषय में ग्रीन ने यह सत्य ही लिखा है कि "उपयोगितावाद के सुखवादी दर्शन से भले ही कितनी अधिक भ्रान्तियों का प्रादुर्भाव हुआ हो, किन्तु कोई भी अन्य सिद्धान्त इस बात में इसकी तुलना नहीं कर सकता कि उसने इतने अधिक सामाजिक और राजनीतिक सुधार किए हों।"

उपयोगितावादी विचारकों की संख्या अत्यल्प थी; किन्तु इंगलैण्ड के सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर उपर्युक्त सुधारों के कारण उनका अमिट प्रभाव पड़ा। डेविडसन ने इसका विवेचन करते हुए लिखा है कि "१९वीं शताब्दी के अधिकांश भाग में उनके विचारों का प्रभुत्व बना रहा। इसके परिणामस्वरूप विद्यालयों में, मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान में तथा नैतिक प्रश्नों के विवाद में अभिरुचि ली जाने लगी, क्रियात्मक राजनीति के क्षेत्र में अश्रुतपूर्व रीति से बहुत बड़ी मात्रा में सामाजिक सुधार किए गए, लोकोपकारी कानून बनाए गए। उपयोगितावादियों के प्रभाव का आज तक अनुभव किया जा रहा है। उनको प्रेरणा देने वाली भावना अब तक कार्य कर रही है। इस समय के राजनीतिक और सामाजिक सुधारों की दिशा प्रधान रूप से उन विचारकों द्वारा निश्चित की गई थी। समय ने इसमें बहुत संशोधन किया है, किन्तु निर्धनों तथा पीड़ितों के प्रति उनकी सदैव क्रियाशील रहने वाली भावना तथा मानवीय कल्याण के प्रति उनका उत्साह अब तक भी जीवित एवं जागृत है। विश्व इस बात को नहीं भुला सकता कि उन्होंने इस बात पर बल दिया था कि राजनीतिक विश्वास को वैज्ञानिक ज्ञान पर तथा मानवीय प्रकृति के विश्लेषण पर सुप्रतिष्ठित किया जाना चाहिए। आर्थिक क्षेत्र में अनुसन्धान के प्रति उनकी आस्था को तथा विधिशास्त्र में उनकी क्रियात्मक अभिरुचि को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। उन्होंने अपने सिद्धान्तों को शनैः-शनैः आगे बढ़ाया, प्रत्येक विचारक स्थायी महत्व रखने वाली कुछ बातें बढ़ाता चला गया। उनका मूल मन्त्र प्रगति था, उनकी प्रेरक शक्ति स्वाधीनता तथा सार्वजनिक हित के प्रति उत्साह था। यही उनकी विरासत है। उन्होंने विश्व को कोई पूर्ण दार्शनिक पद्धति प्रदान नहीं की, किन्तु ऐसे सुनिश्चित सिद्धान्त दिए जो परिणामों की कड़ी परीक्षा में खरे सिद्ध हुए हैं और जिनको अब भी लोकोपकारी दृष्टि से अमित रूप में लागू किया जा सकता है।......उनके कई दोष और विफलताएँ थीं, किन्तु उन्होंने सदैव भविष्य पर ध्यान रखा और उनका मार्ग सम्मतियों की प्रगति के समान था। इस विषय में जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी डायरी में लिखा था—"किसी सम्मति की प्रगति किसी व्यक्ति के पर्वतारोहण के चक्राकार (spiral) मार्ग की भाँति होती है, यह मार्ग पहाड़ के चारों ओर घूमता है, कभी यह मार्ग पहाड़ की सीधी दिशा में होता है और कभी उल्टी दिशा में, किन्तु यह सदैव ऊपर चढ़ता चला जाता है।"[1] उपयोगितावादियों का लक्ष्य भी सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में निरन्तर आदर्श के उच्च शिखर की ओर चढ़ना तथा आगे बढ़ना था। इसीलिए १९वीं शताब्दी के इंगलैण्ड के राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में लगभग अधिकांश सुधार उनके प्रयत्नों से हुए और यह उनकी सबसे बड़ी और स्थायी देन है।

---

१. डेविडसन—पोलिटिकल थाट इन इंगलैण्ड-यूटिलिटेरियन्स, पृ० १७२-७३

पाँचवाँ अध्याय

आदर्शवादी जर्मन विचारक

काण्ट तथा हेगल

आदर्शवाद (Idealism) **का सामान्य परिचय तथा महत्व**—आदर्शवाद की राजनीतिक विचारधारा का प्रादुर्भाव १८वीं शताब्दी के अन्त में तथा १९वीं शताब्दी के आरम्भ में जर्मनी में हुआ। पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इंगलैण्ड में उपयोगितावादी विचारधारा की प्रतिक्रिया के रूप में यह बड़ी लोकप्रिय हुई। सुप्रसिद्ध इंगलिश विचारक ग्रीन अपने शिष्यों को कहा करता था—"मिल और स्पेन्सर की पुस्तकें पढ़ना बन्द कर दो, काण्ट और हेगल के ग्रन्थों का अध्ययन आरम्भ करो।" जर्मनी में रूसो से प्रेरणा ग्रहण करने वाला इम्मेनुएल काण्ट (१७२४–१८०४) इसका प्रवर्तक था। इस विचारधारा का पोषण करने वाले अन्य विद्वान् फिक्टे (१७६२–१८१४) तथा हेगल (१७७०–१८३१) थे। इंगलैण्ड में हेगल के सिद्धान्तों का प्रसार ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर थामस हिल ग्रीन (१८३६–१८८२), फ्रांसिस एच० ब्रैडलो (१८४६–१९२४) तथा बर्नार्ड बोसांके (१८४८–१९२३) ने अपनी रचनाओं द्वारा किया।

इस विचारधारा की यह विशेषता थी कि इसने राज्य के महत्व पर बल दिया, व्यक्ति के अधिकारों को ही महत्वपूर्ण मानने वाले व्यष्टिवादी (Individualist) दृष्टिकोण का खण्डन किया, व्यक्ति को राज्य का वशवर्ती बना दिया। इस विचारधारा के जर्मन लेखकों—हेगल आदि ने राज्य को सर्वोच्च, पूर्ण, पूज्य, दैवीय एवं निरंकुश सत्ता बनाया। १९वीं शती के आरम्भ में जर्मनी अनेक छोटी रियासतों में बँटा हुआ एक निर्बल राज्य था, २०वीं शती के प्रारम्भ तक वह इस विचारधारा के प्रभाव से एक संगठित और समूचे विश्व को चुनौती देने वाला शक्तिशाली राष्ट्र बन गया। बीसवीं शताब्दी के दो प्रसिद्ध तानाशाहों—हिटलर तथा मुसोलिनी की नाज़ीवाद और फासिज़्म की विचारधाराओं पर आदर्शवाद का स्पष्ट प्रभाव है, अतः यह वर्तमान राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में विशेष महत्व रखती है।

आदर्शवाद का अभिप्राय—आदर्शवाद शब्द का प्रयोग हिन्दी में Idealism के लिए होता है, क्योंकि आइडियल (Ideal) को आदर्श कहा जाता है। आइडियल शब्द का मूल अर्थ है केवल विचार (Idea) के जगत् में रहने वाला। पूर्णता केवल विचार के जगत् में ही सम्भव है, अतः ऐसी पूर्णता रखने वाली वस्तु को आदर्श (Ideal) कहा जाता है। हम अपने चारों ओर जो भी वस्तुएँ देखते हैं, वे पूर्ण नहीं हैं, उनमें कोई-न-कोई कमी अवश्य है। यह कहावत प्रसिद्ध है कि कोई वस्तु सर्वथा दोषशून्य नहीं हो सकती। सुन्दर-से-सुन्दर वस्तु में भी कोई-न-कोई कमी होती है। चन्द्रमा के

अतीव मनोरम होने पर भी उसमें कलंक है, मोर की पूंछ सुन्दर होते हुए भी उसके पैर भद्दे होते हैं। प्रकृति में कहीं भी सब गुण एक साथ नहीं दिखाई देते (नैकत्र सर्वो गुणसंनिपातः)। अतः प्लेटो ने पश्चिमी जगत् में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि पूर्णता केवल विचार (Idea) में, कल्पना में या आदर्श में ही सम्भव है। सौन्दर्य के उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाएगा : किसी व्यक्ति के बहुत सुन्दर होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें कोई दोष नहीं है या उससे अधिक सुन्दर व्यक्ति नहीं हो सकता। सुन्दरता केवल शारीरिक नहीं है, वह मानसिक एवं बौद्धिक गुणों से तथा चरित्र से भी सम्बन्ध रखती है, ऐसा पूर्ण सौन्दर्य इस जगत् में कहीं नहीं दिखाई देता। सोने में सुगन्ध नहीं होती, अतः सौन्दर्य की चरम अवस्था केवल विचार, कल्पना या आदर्श में ही हो सकती है। इसलिए आदर्श का अर्थ है—पूर्ण या सर्वोत्कृष्ट। अतः आदर्शवाद का सम्बन्ध इस दिखाई देने वाली दुनिया से न होकर, विचारों के आन्तरिक जगत् में पाई जाने वाली पूर्णता से है। आदर्शवाद की विचारधारा का अभिप्राय उस विचारधारा से है जो इस दृश्य जगत् में पाई जाने वाली वास्तविकता से आगे किसी विषय के पूर्ण अथवा उत्कृष्टतम स्वरूप की गवेषणा, अनुसन्धान या विवेचना करती है। राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में यह विचारधारा इस संसार में पाए जाने वाले राज्यों की विवेचना से सन्तुष्ट नहीं होती, किन्तु इनसे आगे बढ़कर आदर्श राज्य के स्वरूप का वर्णन करती है, अतः इसे राज्य का आदर्शवादी सिद्धान्त (Idealist Theory of State) कहते हैं।

इस विचारधारा के अन्य नाम—दार्शनिक सिद्धान्त (Philosophical Theory) **तथा इसकी पृष्ठभूमि**—इस विचारधारा का दूसरा नाम दार्शनिक सिद्धान्त भी है। इसे यह नाम दिए जाने के कई कारण हैं : **पहला** कारण यह है कि बोसांके के मतानुसार यह राज्य के समग्र रूप का दार्शनिक दृष्टि से अध्ययन करती है।[1] किसी भी वस्तु का अध्ययन कई प्रकार से हो सकता है। एक सुन्दर फूल को वनस्पतिशास्त्री, रसायनशास्त्री और कलाकार अपने विशेष दृष्टिकोणों से देखते हैं, किन्तु दार्शनिक समग्र विश्व की दृष्टि से उसके स्थान और महत्व पर विचार करता है। राज्य के सम्बन्ध में भी वह इसी दृष्टिकोण को अपनाता है। **दूसरा** कारण यह है कि यह सिद्धान्त प्रधान रूप से दार्शनिकों की देन है। बर्ट्रेण्ड रसेल के कथनानुसार इस सिद्धान्त के प्रधान व्याख्याता—काण्ट, हेगल और ग्रीन विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक और बौद्धिक व्यक्ति थे, इनका व्यावहारिक राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था।

इसे दार्शनिक सिद्धान्त का नाम देने का **तीसरा** कारण इस सिद्धान्त का विशेष दार्शनिक आधार (philosophical base) पर प्रतिष्ठित होना है। यह आधार चेतना के अद्वैतवाद (Spiritual Monism) का है। भारतीय वेदान्त की भाँति यह अद्वैतवाद जगत् में दिखाई देने वाली वस्तुओं का अन्तिम मूलतत्व एक ही चेतनतत्व (spirit) को मानता है, जगत् में दिखाई देने वाली विभिन्न वस्तुएँ उसी की चेतना से बने हुए विभिन्न रूप हैं। यह सारा विश्व उसी चेतनतत्व का प्रपंच है, अतः इसे चेतनाद्वैतवाद

---

१. बोसांके—दी फिलासोफिकल थियोरी आफ दी स्टेट, पृ० १-२

का नाम दिया जाता है। किन्तु कार्ल मार्क्स जैसे अनेक विचारक इस विश्व का अन्तिम मूलतत्व किसी एक चेतन सत्ता को न मानकर जड़पदार्थ (Matter) को मानते हैं; अतः इनको जड़ाद्वैतवादी (Materialistic Monists) कहा जाता है। आगे यह बताया जाएगा कि कार्ल मार्क्स का हेगल से यह एक मौलिक मतभेद है।

आदर्शवाद के अन्य तीन नाम क्रमशः राज्य का **आध्यात्मिक सिद्धान्त** (Metaphysical Theory), **निरंकुशतावादी सिद्धान्त** (Absolutist Theory) तथा **आदर्शवादी-नैतिक सिद्धान्त** (Idealist-ethical School) हैं। इनमें से पहले नाम का प्रयोग श्री हाबहाउस ने किया है। इसे यह नाम इसलिए दिया जाता है कि यह राज्य के दृश्यमान भौतिक तत्वों पर बल न देकर उसके भौतिक जगत् से ऊपर उठे हुए आध्यात्मिक स्वरूप पर बल देता है, अतः यह आध्यात्मिक सिद्धान्त कहलाता है। इसे जोड (Joad) ने निरंकुशतावादी सिद्धान्त कहा है क्योंकि यह राज्य को पूर्ण एवं सर्वोत्कृष्ट सत्ता मानने के कारण उसे व्यक्तियों पर असीम, निर्बाध और निरंकुश (Absolute) अधिकार प्रदान करता है। इसे गैटल ने नैतिक (Ethical) सिद्धान्त कहा है, क्योंकि यह नैतिकता पर अत्यधिक बल देता है। हमारी आत्मा परमात्मा का अंश होने के कारण पूर्ण, निर्दोष और निष्कलंक है, किन्तु भौतिक देह के आवरण में सीमित और बद्ध होने के कारण उसमें मलिनता आ जाती है। उसके अन्तःकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति उसे इस मलिनता को दूर करके पूर्णता पाने के लिए प्रेरित करती है, पूर्णता की ओर अग्रसर होने वाली इस आन्तरिक प्रेरणा को नैतिकता या कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विवेक कहते हैं। इस पर बल देने के कारण इसे नैतिक सिद्धान्त कहा जाता है।

इसका उद्गम तथा विकास—आदर्शवाद के सिद्धान्त का प्राचीनतम रूप हमें पश्चिमी जगत् में सर्वप्रथम प्लेटो तथा अरस्तू की रचनाओं में उपलब्ध होता है। प्लेटो ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में आदर्श राज्य की एक रूपरेखा प्रस्तुत की थी और इस बात पर बल दिया था कि राज्य का निर्माण भूमि आदि भौतिक वस्तुओं से न होकर, मनुष्यों की आत्माओं से होता है। प्लेटो के शब्दों में राज्य किसी बाँझ (Oak) के वृक्ष से या चट्टान से नहीं, किन्तु उनमें निवास करने वाले व्यक्तियों से बनते हैं।[1] राज्य की सभी संस्थाएँ मानसिक विचारों का परिणाम हैं, इनकी वास्तविक सत्ता मन में ही है। उदाहरणार्थ, राज्य की न्यायव्यवस्था को स्थूल रूप से राजदण्ड में और न्यायालयों में देखा जा सकता है, किन्तु वस्तुतः यह आध्यात्मिक और मानसिक चिन्तन का परिणाम है। बार्कर के मतानुसार राज्यविषयक चिन्तन में प्लेटो तथा अरिस्टॉटल की एक बड़ी देन इसे बाह्य तथा भौतिक सत्ता न समझकर, एक आन्तरिक तथा आध्यात्मिक सत्ता मानना है।[2] यह आदर्शवादी विचारधारा का एक मौलिक तत्व है। इसका दूसरा तत्व, अरस्तू का यह विचार है कि राज्य एक प्राकृतिक संगठन है, क्योंकि राज्य में ही मनुष्य अपने स्वभाव की प्रकृति के चरम विकास को प्राप्त कर सकता है। राज्य में मनुष्य को पशुओं से पृथक् करने वाले बौद्धिक एवं

---

१. हरिदत्त वेदालंकार—पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, द्वितीय संस्करण पृ० ६१
२. वही पुस्तक, पृ० १५३

नैतिक गुणों के विकास का अवसर मिलता है, अतः राज्य प्राकृतिक (Natural) है। राज्य के प्राकृतिक होने के ही कारण अरस्तू मनुष्य को राजनीतिक प्राणी (Political animal) मानता है, क्योंकि उसकी प्रकृति का सर्वोत्तम विकास राज्य में ही सम्भव है। कोई व्यक्ति राज्य से पृथक् रहते हुए अपना विकास नहीं कर सकता, इस दशा में न तो उसकी भौतिक आवश्यकताएँ पूरी होंगी और न उसकी बौद्धिक और नैतिक शक्तियाँ विकसित हो पाएँगी। राज्य के अभाव में मनुष्य अपनी किसी प्रकार की कोई उन्नति नहीं कर सकता। राज्य मानवीय उन्नति का अनिवार्य साधन है।

आदर्शवादी विचारधारा के उपर्युक्त मूलभूत यूनानी विचार अरस्तू के बाद लगभग दो हजार वर्ष तक दबे पड़े रहे। १८वीं शताब्दी के मध्य में रूसो के समय से इनका पुनरुत्थान हुआ और काण्ट ने आधुनिक आदर्शवादी विचारधारा का प्रवर्तन किया। यह विचारधारा तत्कालीन परिस्थितियों का परिणाम थी और जर्मनी में इसका प्रादुर्भाव १८वीं शती के उत्तरार्द्ध में भौतिक बुद्धिवाद (Rationalism) पर बल देने वाले प्रबोध आन्दोलन (Enlightenment) की विचारधारा[1] के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ। उस समय विज्ञान के विकास के कारण यह समझा जाने लगा था कि बुद्धि द्वारा प्रकृति के सब रहस्यों का पता लगाना, प्राकृतिक शक्तियों पर नियन्त्रण करना तथा इससे अमित उन्नति करना सम्भव है। उस समय यह माना जाता था कि राज्य मनुष्यों के समझौते द्वारा बनाया गया एक संगठन है, बुद्धि एवं तर्क-शक्ति के समुचित प्रयोग से इसकी कमियाँ दूर करके इसे सर्वथा पूर्ण और निर्दोष संस्था बनाया जा सकता है।

रूसो ने इस विचारधारा पर प्रबल आक्रमण करते हुए कहा कि विज्ञान की उन्नति से मनुष्य का नैतिक अधःपतन हुआ है, उसे अपने उत्थान के लिए आरम्भिक प्राकृतिक दशा की ओर लौट जाना चाहिए, मनुष्य की गरिमा उसके बुद्धिमान् (Rational) होने में नहीं, किन्तु नैतिक (Moral) प्राणी होने में है। मनुष्य को बुद्धि की अपेक्षा भावनाओं को अधिक महत्व देना चाहिए। उस समय विज्ञान की उन्नति के कारण जड़ जगत् को सृष्टि का अन्तिम मूलतत्व मानने वाले भौतिकवाद (Materialism) का प्राधान्य था, रूसो ने इसका विरोध करते हुए धर्म को ऊँचा स्थान दिया तथा सामान्य इच्छा (General Will) की प्राप्ति को राज्य का लक्ष्य बताया। रूसो के इन सिद्धान्तों का काण्ट पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसने यह स्वीकार किया था कि रूसो ने उसे मार्ग दिखाया है। इस प्रकार जर्मनी में तर्कवाद (Rationalism) और बुद्धिवाद का विरोध करने वाली आदर्शवादी विचारधारा का जन्म हुआ। इसने वैज्ञानिक बुद्धि द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले सत्य की अपेक्षा अधिक ऊँचे प्रकार के सत्य को प्रतिपादित किया। प्राकृतिक घटनाओं के निरीक्षण से उपलब्ध होने वाले सत्य में तथा सूक्ष्म विचार की प्रक्रिया से प्राप्त होने वाले सत्य में अन्तर को स्पष्ट किया गया। राजनीतिक चिन्तन को आध्यात्मिक विचारधारा का अंग बनाया गया। काण्ट, फिक्टे, वान हम्बोल्ड तथा हेगल में इस आदर्शवादी विचारधारा का चरम विकास हुआ।

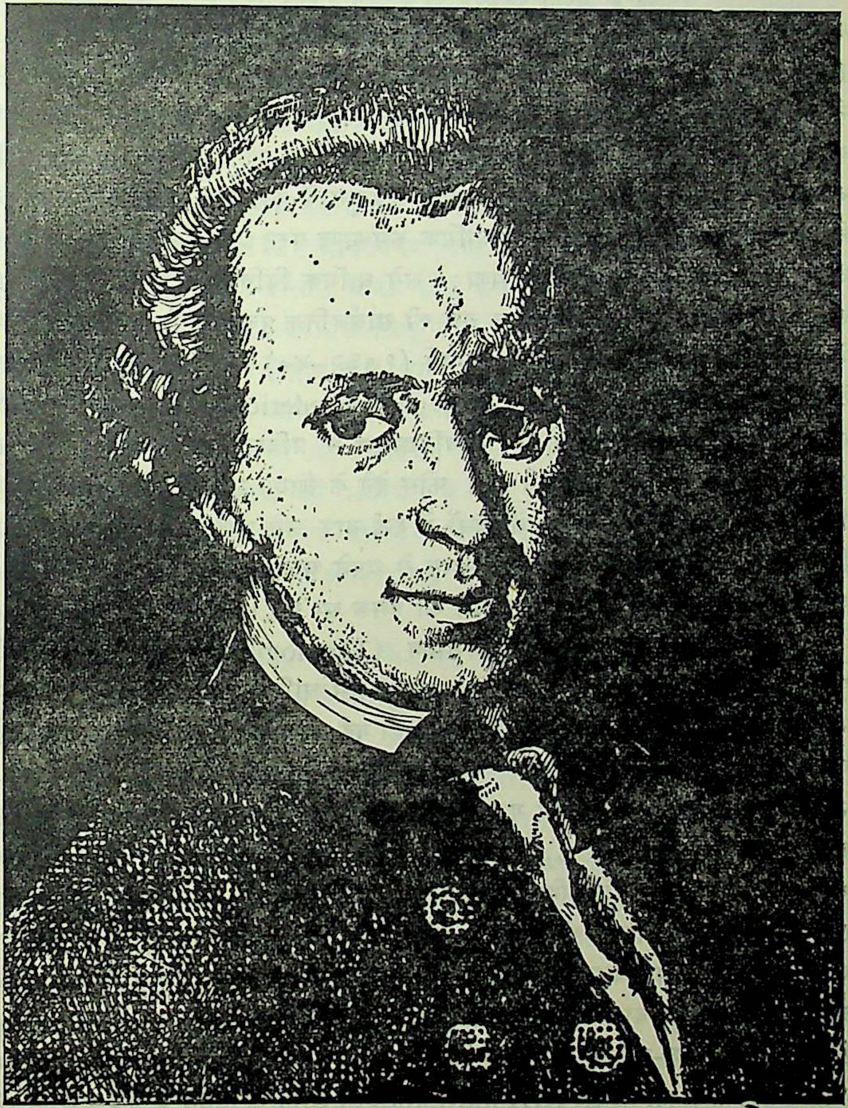
---

१. देखिए ऊपर, पृ० ४

आदर्शवाद के दो रूप—आधुनिक आदर्शवादी विचारधारा दो रूपों में प्रवाहित हुई है : इसका पहला रूप उपर्युक्त जर्मन दार्शनिकों की रचनाओं में दिखाई देता है, अतः इसे जर्मन विचारधारा कहते हैं। यूनान की पुरानी विचारधारा में व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर तथा इसके साथ ही व्यक्ति द्वारा राज्य में किए जाने वाले उसके कर्त्तव्यों पर समान रूप से बल दिया गया था। किन्तु जर्मन विचारधारा ने दूसरे तत्व पर बल देते हुए राज्य को अत्यधिक महत्व दिया तथा व्यक्ति की घोर उपेक्षा की; अतः उसके मतानुसार राज्य स्वयमेव एक लक्ष्य है, व्यक्ति उस लक्ष्य को पूरा करने का साधन मात्र है, व्यक्ति को पूर्ण रूप से राज्य के अधीन होना चाहिए। राज्य सर्वशक्तिमान्, निर्दोष एवं ईश्वरीय है, अतः प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह राज्य के आदेशों का पालन करे। इस प्रकार राज्य को पूर्णरूप से निरंकुश अधिकार प्रदान करने के कारण जर्मन आदर्शवाद को उग्र या अतिवादी (Extreme) कहा जाता है। किन्तु ग्रीन आदि ब्रिटिश विचारकों ने जर्मन दार्शनिकों से प्रेरणा ग्रहण करते हुए भी, इसमें व्यक्ति के कुछ अधिकार स्वीकार किए, उसे राज्य के हितों की वेदी पर बलिदान नहीं किया, अपितु उसको मनुष्य की उन्नति का साधन माना। राज्य को व्यक्ति के लिए नहीं, अपितु व्यक्ति को राज्य के लिए माना। इंगलैण्ड में उदारवाद (Liberalism) की परम्परा बड़ी सुदृढ़ थी जिसके अनुसार जनता की स्वीकृति द्वारा शासन, शासक का पार्लियामैण्ट या विधानसभा के अधीन होना, लोकतन्त्र की व्यवस्था, व्यक्ति के अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की महत्ता, विधि या नियम के अनुसार शासन (Rule of Law), व्यक्ति के जन्मजात अधिकारों की राज्य द्वारा सुरक्षा तथा राज्य के आर्थिक क्षेत्र में न्यूनतम हस्तक्षेप को वांछनीय समझा जाता था। ग्रीन ने इन सब बातों को स्वीकार करते हुए आदर्शवाद का विकास किया, अतः उसका आदर्शवाद जर्मन आदर्शवाद की भाँति उग्र न होने के कारण संयत या मध्यममार्गी (Moderate) आदर्शवाद कहलाता है। ग्रीन, बोसांके तथा ब्रैडली आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रोफेसर थे, अतः यहाँ विकसित होने के कारण इसे **आक्सफोर्ड सम्प्रदाय** (Oxford School) भी कहा जाता है। ग्रीन के विचारों में उदारवाद तथा आदर्शवाद का सम्मिश्रण था, अतः उसे **नवीन व्यक्तिवादी और नवीन आदर्शवादी** भी कहते हैं। ब्रैडली के विचारों में आदर्शवाद की मात्रा बढ़ी और बोसांके के विचारों में यह पराकाष्ठा तक पहुँच गई। वस्तुतः सभी आदर्शवादी विचारक महान् दार्शनिक थे। उनकी शब्दावली तथा विचार अत्यन्त दुरूह, कठिन एवं क्लिष्ट थे, उन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा से राज्य की दासता को वास्तविक स्वतन्त्रता तथा अपनी इच्छानुसार कार्य करने को परतन्त्रता सिद्ध किया। यह वैसा ही है जैसे अंधेरे को प्रकाश तथा प्रकाश को अंधेरा सिद्ध करना। यहाँ इन दुरूह दार्शनिकों के जटिल विचारों को यथासम्भव सरल एवं सुबोध रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाएगा।

काण्ट (१७२४-१८०४)

जीवन-कथा—योरोप के आधुनिक तत्वचिन्तन पर गहरा प्रभाव डालने वाले इम्मेनुएल काण्ट (Immanuel Kant) का जन्म पूर्वी जर्मनी के एक नगर कानिग्ज़बर्ग[1] (Konigsberg) में घोड़ों की काठियाँ और ज़ीनें बनाने वाले अत्यन्त निर्धन कारीगर



काण्ट

१. उस समय यह पूर्वी प्रशिया की राजधानी थी। आजकल यह रूस में है और इसका नाम लेनिनग्राद है।

के घर में २२ अप्रैल १७२४ को हुआ। काण्ट अपने दस भाई-बहिनों के साथ बड़ी गरीबी में पला। उसकी माता अत्यधिक धर्मनिष्ठ महिला थी और धार्मिक विधि-विधानों के विशुद्ध एवं कठोर पालन पर बल देने वाले एक जर्मन धार्मिक सम्प्रदाय की अनुयायी (Pietist) थी। काण्ट को तथा उसके भाई-बहिनों को अपनी माता से खाने के लिए उत्तम अन्न कम मिलता था, किन्तु धार्मिक उपदेश प्रचुर मात्रा में मिलते थे। काण्ट का लालन-पालन धार्मिक कर्मकाण्ड के कठोर पालन पर अत्यधिक बल देने वाले वातावरण में हुआ, उसे शिक्षा पाने के लिए एक धार्मिक विद्यालय (Collegium Fredericianum) में भेजा गया। उसके विद्यालय में बौद्धिक शिक्षा के स्थान पर नैतिक एवं धार्मिक प्रशिक्षण पर अधिक बल दिया जाता था। उसका एक गुरु कहा करता था कि "मैं सौ विद्वान् उत्पन्न करने के स्थान पर एक धार्मिक पुरुष का निर्माण करना अधिक अच्छा समझता हूँ।" काण्ट के स्कूल में कोई भी कार्य धार्मिक प्रार्थना के बिना नहीं शुरू हो सकता था। धार्मिक कर्मकाण्ड पर अत्यधिक बल देने के वातावरण का काण्ट पर प्रबल प्रभाव पड़ा; उसे धार्मिक विधि-विधानों से इतनी अधिक अरुचि हो गई कि बड़ा होने पर वह चर्च की सार्वजनिक पूजाओं और धार्मिक विधियों में बहुत कम सम्मिलित होता था। ८ वर्ष (१७३२–४०) तक चरित्र-निर्माण पर बल देने वाले एक धार्मिक विद्यालय (Collegium Fredericianum) में शिक्षा प्राप्त करने के बाद वह कानिग्ज़बर्ग के विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुआ। यहाँ छः वर्ष तक (१७४०–४६) अपना पेट भरने तथा फीस देने के लिए उसे ट्यूशन करने के लिए विवश होना पड़ा। फीस देने वाले दिनों में कई बार उसे भूखा भी रहना पड़ता था। फिर भी वह बड़े पुरुषार्थ और अध्यवसाय से अपने अध्ययन में लगा रहा। गरीबी के कष्टों में तपकर उसके चरित्र में कुन्दन की दमक आ गई।

काण्ट के माता-पिता उसे धर्मशास्त्र (Theology) का प्रकाण्ड पण्डित और पुरोहित बनाना चाहते थे। किन्तु विद्यालय में उसे धार्मिक विषय इतने अधिक पढ़ाए गए थे कि काण्ट को इनसे बिलकुल अरुचि हो गई थी। उसने विश्वविद्यालय में दर्शन का, प्राकृतिक विज्ञानों का और गणितशास्त्र का अध्ययन किया। गणितशास्त्र ने उसकी परवर्ती विचारधारा पर गहरा प्रभाव डाला, इसी अध्ययन के आधार पर उसने अनुभव निरपेक्ष (a priori), परम सत्य (Absolute truth) की सत्ता सिद्ध की थी। काण्ट का दूसरा प्रिय विषय प्राकृतिक विज्ञान थे, उसे अपने जीवन में चिरकाल तक आध्यात्मिक विषयों की अपेक्षा भौतिक विषयों में—भूगोल, ज्योतिष आदि के पढ़ने-पढ़ाने में अधिक आनन्द आता था, उसने ग्रहों के सम्बन्ध में एक नवीन मत का प्रतिपादन करते हुए बाद में एक पुस्तक 'थियोरी आफ हैवन्स' (Theory of Heavens) लिखी, उसके शोध-प्रबन्ध का विषय 'अग्नि' था; उसने भूचालों, हवाओं, ज्वालामुखी पर्वतों, ग्रहों तथा मानवशास्त्र (Anthropology) आदि के विषय मे कई पुस्तकें और ग्रन्थ लिखे। ये विश्वविद्यालय में किए गए उसके वैज्ञानिक विषयों के अध्ययन और अनुसन्धान के परिणाम थे।

किन्तु १७४७ में उसे विश्वविद्यालय छोड़ना पड़ा। इसका एक कारण उसके पिता की मृत्यु थी, उस समय वह इतना निर्धन था कि पिता का अन्तिम धार्मिक

संस्कार करने के लिए उसके पास पैसा नहीं था, अतः उसे गरीब (Pauper) घोषित करते हुए उसका संस्कार राज्य के व्यय से किया गया। अगले सात वर्ष तक काण्ट को अपना जीवनयापन करने के लिए धनी व्यक्तियों के छोटे बच्चों को पढ़ाने का कार्य करना पड़ा, यह कार्य करते हुए भी उसने अपना अध्ययन जारी रखा। १७५५ में उसने कानिग्ज़बर्ग के विश्वविद्यालय में 'अग्नि' पर लैटिन में लिखा हुआ अपना शोध-निबन्ध प्रस्तुत करके, ३३ वर्ष की आयु में आचार्य अथवा मैजिस्टर (Majister) की उपाधि प्राप्त की। गरीबी और कठिनाई में विद्याभ्यास का यह अनुपम उदाहरण था।

डॉक्टर बन जाने पर भी उसे विश्वविद्यालय में प्राध्यापक का पद पाने के लिए अगले पन्द्रह वर्ष तक (१७५५–७०) सुदीर्घ प्रतीक्षा और तपस्या करनी पड़ी। इस समय वह कानिग्ज़बर्ग विश्वविद्यालय में ही प्राइवेट लेक्चरर का काम करता रहा, दो बार उसने प्राध्यापक पद के लिए आवेदनपत्र दिए, किन्तु वे रद्दी की टोकरी में डाल दिए गए। इस समय उसकी प्रसिद्धि चारों ओर फैलने लगी, उसे अन्य जर्मन राज्यों के विश्वविद्यालयों से प्रोफेसर बनने के लिए निमन्त्रण आने लगे थे। किन्तु भूगोल और पर्यटन की पुस्तकों का शौकीन होने पर भी उसे अपनी जन्मभूमि कानिग्ज़बर्ग का शान्त वातावरण छोड़कर अन्य किसी स्थान पर जाना पसन्द नहीं था, अतः वह यहीं जमा रहा, अपने दृढ़ संकल्प और अविरल प्रयत्न के कारण, अन्त में १७७० में उसे सफलता मिली। ४६ वर्ष की अवस्था में वह कानिग्ज़बर्ग विश्वविद्यालय में तर्कशास्त्र तथा अध्यात्मशास्त्र का प्रोफेसर नियत किया गया। अपनी मृत्युपर्यन्त (२२ फरवरी १८०४) ८० वर्ष की अवस्था तक वह यहाँ अपने अध्ययन, अध्यापन और लेखन-कार्य में लगा रहा।

काण्ट अपने सरल एवं अत्यधिक नियमित जीवन के लिए सुप्रसिद्ध है। उसके जीवनी-लेखक हाइन (Heine) ने लिखा है कि उसके उठने, काफी पीने, लिखने, लैक्चर देने, खाने और घूमने का समय बिलकुल निश्चित था। सर्दी हो या गर्मी, उसका नियम था कि वह प्रातःकाल पाँच बजे उठ जाता था। उसने अपने सेवक को यह निर्देश दे रखा था कि वह ठीक पौने पाँच बजे शयनकक्ष में आकर उसे जगा दे; वह कमरे से तब तक बाहर न जाए जब तक स्वामी बिस्तर से न उठ जाए।[1] इसी प्रकार उसका घूमने का समय निश्चित था। इसमें वह तनिक भी व्यतिक्रम या देरी नहीं होने देता था। जब दोपहर को काण्ट अपने घर से भ्रमण के लिए निकलता था तो लोग अपनी घड़ियाँ मिलाते थे कि अब ठीक साढ़े तीन बज गए हैं। गर्मी हो या सर्दी, काण्ट के इस कार्यक्रम में कोई व्यतिक्रम नहीं होता था। जब आकाश में बादल छाए हों तथा वर्षा की सम्भावना हो तो भी काण्ट घूमना बन्द नहीं करता था, उस समय दूरदर्शिता के दृष्टिकोण से उसका बूढ़ा नौकर लाम्पे छाता लेकर उसके पीछे चला करता था। उसके भ्रमण करने का पथ भी निश्चित था। यह प्रेगल नदी के नीचे तट के साथ-साथ नींबू (Linden) के पेड़ों वाला मार्ग था तथा इसे बाद में काण्ट के

1. विल्लीबाल्ड क्लिन्के—काण्ट फार एवरीमैन, कोलियर बुक्स संस्करण, १९६२, पृ० ४८

साथ सम्बन्ध होने के कारण 'दार्शनिक भ्रमणपथ' (Philosophic Walk) का नाम दिया गया। काण्ट घूमने के समय किसी से बातचीत नहीं करता था, क्योंकि उसकी यह धारणा थी कि बातचीत करते समय मुँह से साँस लेना पड़ता है और इससे जुकाम होने की सम्भावना बनी रहती। अतः जुकाम से पीड़ित होने की अपेक्षा चुपचाप घूमना अधिक लाभप्रद है। इससे भी बड़ा लाभ यह था कि काण्ट के कथनानुसार 'शुद्ध बुद्धि मीमांसा' (Critique of Pure Reason) में प्रतिपादित सभी प्रमुख विचार उसे भ्रमण करने के समय में ही सूझे थे।

काण्ट अपने सब कार्य अत्यन्त सोच-विचारकर किया करता था। यही कारण है कि वह आजीवन अविवाहित रहा : उसने दो बार विवाह करने की बात सोची, किन्तु इसके सोचने में और शादी के बाद होने वाले आय-व्यय का हिसाब करने में उसने इतनी देर लगा दी कि पहली स्त्री ने एक अन्य पुरुष के साथ विवाह कर लिया तथा दूसरी स्त्री अपनी मालकिन के साथ कानिग्ज़बर्ग छोड़कर अन्यत्र चली गई।[1] ७५ वर्ष की आयु में काण्ट ने एक व्यक्ति को मजाक में यह कहा था कि "जब मेरी विवाह करने की आयु थी उस समय मैं पत्नी का भरण-पोषण करने में असमर्थ था; जब आर्थिक स्थिति अच्छी हो जाने से मैं इसमें समर्थ हुआ तब विवाह योग्य आयु न रहने के कारण पत्नी का उपयोग नहीं था।" अतः काण्ट पश्चिम के अनेक प्रसिद्ध दार्शनिकों—प्लेटो, ज़ेनो, देकार्त, स्पिनोज़ा, लॉक, ह्यूम तथा शोपनहार की भाँति अविवाहित ही रहा।

काण्ट एक आदर्श अध्यापक था। उससे नौ वर्ष तक शिक्षा ग्रहण करने वाले उसके एक शिष्य जाखमान (Jachmann) ने लिखा है कि इन नौ वर्षों में उसे एक भी ऐसा अवसर स्मरण नहीं है जब काण्ट ने अपने अन्तर में न पढ़ाया हो अथवा वह कभी भी पन्द्रह मिनट से अधिक लेट हुआ हो।[2] उसने पढ़ाने की विधियों पर एक पुस्तक भी लिखी थी, यद्यपि वह मजाक में यह कहा करता था कि उसने इसमें वर्णित विधियों में से किसी एक का भी कभी प्रयोग नहीं किया था; किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह लेखक की अपेक्षा अधिक सफल शिक्षक था। उसके ग्रन्थों की दुरूहता एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगी : उसने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'शुद्ध बुद्धि मीमांसा' (Critique of Pure Reason) की पाण्डुलिपि अपने एक दार्शनिक मित्र हर्ट्ज़ (Hertz) को पढ़ने के लिए भेजी, उसने इसे इतना क्लिष्ट और दुरूह पाया कि इसे आधा पढ़कर ही यह कहते हुए लौटा दिया कि उसे यह आशंका है कि यदि उसने इसे पूरा पढ़ लिया तो वह पागल हो जाएगा।[3] किन्तु काण्ट अपने व्याख्यानों को विद्यार्थियों के लिए इतना सरल, सुबोध, स्पष्ट और चुटकुलों आदि से रोचक बनाता था कि दर्शनशास्त्र जैसे दुरूह और क्लिष्ट विषय भी सजीव और सुगम बन जाते थे। वह विद्यार्थियों को कहा करता था कि मैं तुम्हें दर्शनशास्त्र के

---

१. पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३८-३६

२. वही, पृ० ३०

३. विल डयूरैंण्ट—स्टोरी आफ फिलासफी, पृ० २७८

सिद्धान्त नहीं पढ़ा रहा हूँ, किन्तु मेरा उद्देश्य तुम्हें दार्शनिक चिन्तन करने की पद्धति सिखाना है। मेरा काम दूसरे दार्शनिकों के विचारों को बताना नहीं है, किन्तु तुम्हें विचार करने के ढंग की शिक्षा देना है। वह विद्यार्थियों की कठिनाइयों, सन्देहों और शंकाओं को दूर करने पर बहुत ध्यान देता था, सदैव पूरी तैयारी और परिश्रम के साथ पढ़ाता था, अतः वह अपने विद्यार्थियों में अत्यधिक प्रिय था।

काण्ट केवल पाँच फुट लम्बा और अत्यन्त नाजुक स्वास्थ्य रखने वाला व्यक्ति था, किन्तु फिर भी वह ८० वर्ष तक जीवित रहा। उसकी दीर्घायु का रहस्य अत्यधिक नियमित जीवन, संयत आहार-विहार और स्वास्थ्य के नियमों का कठोरता से पालन करना था। वह दवाएँ लेकर स्वास्थ्य ठीक रखने का घोर विरोधी था। ७९ वर्ष की अवस्था में ८ अक्टूबर १८०३ को जब वह जीवन में पहली बार सख्त बीमार पड़ा और उसे बचाने के लिए दवाएँ दी जाने लगीं तो उसने कहा कि "मुझे मृत्यु से भय नहीं है, किन्तु दवाइयाँ देकर मुझे मत मारिए।" वह अपने अनुभव से यह समझता था कि मानसिक शक्ति द्वारा रोगों पर विजय पाई जा सकती है, इस विषय में उसने एक पुस्तक 'On the Power of Mind to master the Feeling of Illness by Force of Resolution' भी लिखी थी। उत्तम स्वास्थ्य बनाए रखने का उसका एक सिद्धान्त नाक से गहरा श्वास लेना या प्राणायाम करना था, इसीलिए वह घूमने के समय किसी व्यक्ति के साथ वार्तालाप करना पसन्द नहीं करता था।

काण्ट की कृतियाँ—काण्ट ने १७४५ से अपनी मृत्युपर्यन्त चालीस से अधिक ग्रन्थ और निबन्ध लिखे। इनमें अधिकांश विभिन्न वैज्ञानिक विषयों के सम्बन्ध में हैं। उदाहरणार्थ, १७५४ में उसने पृथ्वी के अपने अक्षपरिभ्रमण में होने वाले परिवर्तन के तथा इसकी आयु के सम्बन्ध में, १७५५ में ग्रह-नक्षत्रों तथा आकाशीय पिण्डों के बारे में एक नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए निबन्ध लिखे थे। १७५६ में उसने भूचालों का इतिहास लिखा था। इस समय उसे वैज्ञानिक विषयों में इतना अधिक अनुराग था कि उसने ४२ वर्ष की अवस्था में अध्यात्मशास्त्र की खिल्ली उड़ाते हुए लिखा था कि यह "तटरहित तथा प्रकाशस्तम्भों से शून्य अन्धकारपूर्ण महासागर है।" किन्तु उसे उस समय यह ज्ञात नहीं था कि उसने भविष्य में इसी क्षेत्र में अपनी महत्वपूर्ण देन देकर दार्शनिक जगत् में अमरत्व प्राप्त करना है। आज काण्ट की वैज्ञानिक रचनाएँ विस्मृति के गर्भ में विलीन हो चुकी हैं, किन्तु उसकी दार्शनिक कृतियाँ अब भी बड़े आदर के साथ पढ़ी जाती हैं।

काण्ट की प्रमुख दार्शनिक कृतियाँ निम्नलिखित हैं—(१) **शुद्ध बुद्धि मीमांसा** (Critique of Pure Reason)—यह जर्मन दार्शनिक की सम्भवतः सर्वोत्तम तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचना है, इसे उसने १५ वर्ष के कठोर परिश्रम के बाद ५७ वर्ष की आयु में १७८१ में प्रकाशित किया और इसके प्रकाशित होते ही दार्शनिक जगत् में हलचल मच गई। इसमें उसने यह सिद्ध किया था कि इन्द्रियों से प्रतीत होने वाले इस दृश्य जगत् (Phenomenon) के अतिरिक्त एक वास्तविक जगत् है, इसको इन्द्रियों से नहीं, किन्तु शुद्ध बुद्धि (Pure Reason) से ही समझा जा सकता है। मनुष्य, प्रकृति, ईश्वर, आत्मा, स्वतन्त्र इच्छा आदि सभी विचार हमारी इन्द्रियों से उत्पन्न

होने वाले ज्ञान का परिणाम हैं, अतः ये विचार वास्तविक जगत् से सम्बन्ध नहीं रखते, हम शुद्ध बुद्धि से ईश्वर की सत्ता नहीं सिद्ध कर सकते। इस प्रकार उसने इस पुस्तक में ईश्वर तथा धर्म सम्बन्धी सभी प्रचलित मान्यताओं का खण्डन करते हुए पादरियों को इतना रुष्ट कर दिया कि वे काण्ट को कुत्ते की गाली देने लगे तथा अपने कुत्तों का नाम काण्ट रखने लगे।

(२) **व्यावहारिक बुद्धि मीमांसा** (The Critique of Practical Reason)—अपनी पहली कृति में ईश्वर का खण्डन करने के बाद उसने इस कृति में इसे व्यावहारिक आवश्यकता के आधार पर सिद्ध करने का प्रयास किया। हाइन (Heine) ने परिहासपूर्ण शब्दों में यह लिखा है कि "जब काण्ट ने ईश्वर का खण्डन किया तो छाता लेकर चलने वाले काण्ट के सेवक लाम्पे (Lampe) को इससे गहरी व्यथा हुई, वह रोने लगा, उसे रोते देखकर काण्ट को उस पर बहुत तरस आया, उसने सोचा कि लाम्पे को ईश्वर अवश्य मिलना चाहिए, यदि उसे यह न मिला तो वह सुखी नहीं रह सकता। उसकी भाँति, अन्य मनुष्यों को भी सुखी रहना चाहिए, अतः व्यावहारिक सामान्य बुद्धि की दृष्टि से भगवान् का होना आवश्यक है, इसे सिद्ध करने के लिए उसने अपनी दूसरी पुस्तक लिखी।" इसमें उसने यह प्रतिपादित किया कि धर्म और ईश्वर की सत्ता का आधार बुद्धि नहीं, किन्तु नैतिक भावना (Morals) है। इस जगत् में यदि कोई वास्तविक सत्ता है तो वह हमारी नैतिक भावना और कर्त्तव्य की सत्ता है, इसी को उसने **निरपवाद नैतिक कर्त्तव्यादेश** (Categorical Imperative) का नाम दिया है। यह भावना अथवा अन्तःकरण हमें सत् और असत् का विवेक करने में समर्थ बनाता है। हमारा यह अन्तःकरण या नैतिक भावना विशुद्ध बुद्धि (Pure Reason) का विषय नहीं है, अपितु व्यावहारिक बुद्धि का विषय है। हमारी यह भावना हमारे अन्तःकरण के पथप्रदर्शक भगवान् का हमें बोध कराती है, यह भावना स्वतन्त्र इच्छा (Free Will) की सत्ता भी सिद्ध करती है, क्योंकि यदि हममें स्वतन्त्र इच्छा न हो तो नैतिक कर्त्तव्य को करने का अर्थात् सत् का अनुसरण करने तथा असत् का परित्याग करने का कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। हमारी नैतिक भावना यह भी सिद्ध करती है कि मरने के बाद जीवन की सत्ता बनी रहती है, क्योंकि हम अपने अन्तःकरण की प्रेरणा से ऐसे कार्य भी करते हैं जिनका फल इहलोक में पाने की हमें कोई आशा नहीं होती।

(३) **निर्णय की मीमांसा** (The Critique of Judgment)—काण्ट ने अपनी पहली कृति में ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार किया था, दूसरी कृति में इसे स्वीकार किया, तीसरी कृति में उसने प्रकृति की सुन्दर योजना में ईश्वर के दर्शन किए हैं। किसी भी कलाकृति के लिए यह आवश्यक है कि उसका निर्माण करने वाला कोई कलाकार हो। प्रकृति की सुन्दर कृति इसके निर्माता भगवान् की सत्ता का प्रबल प्रमाण है। काण्ट के एक सुप्रसिद्ध वाक्य के अनुसार भगवान् की सत्ता विश्व की दो महान् वस्तुओं से स्पष्ट सिद्ध हो रही है—पहली वस्तु ताराजटित गगनमण्डल (starry heavens above) तथा दूसरी वस्तु मनुष्य के अन्तःकरण के भीतर पाए जाने वाले नैतिक नियम (moral law within) हैं। इन ग्रन्थों में प्रतिपादित काण्ट के

विचारों का महत्व समझने के लिए उससे पहले की दार्शनिक विचारधाराओं को समझना आवश्यक है।

काण्ट से पूर्ववर्त्ती विचारधारा—काण्ट से पहले की कई प्रकार की परस्पर-विरोधी विचारधाराएँ दार्शनिक जगत् में बड़ी अव्यवस्था और व्यामोह उत्पन्न कर रही थीं। इनमें पाँच विचारधाराएँ उल्लेखनीय हैं—लॉक का अनुभववाद (Empericism), बर्कले का आदर्शवाद या अध्यात्मवाद (Idealism), ह्यूम का भौतिकवाद (Materialism), वाल्तेयर का बुद्धिवाद (Rationalism) तथा रूसो का मनोभाववाद (Emotionalism)। इन सब दार्शनिकों के सम्मुख यह समस्या थी कि ज्ञान की उत्पत्ति किस प्रकार होती है तथा संसार में वास्तविक सत्ता क्या है और उसका स्वरूप किस प्रकार का है। ब्रिटिश विचारक लॉक (१६३२–१७०४) अनुभववाद का समर्थक था, उसका मत था कि हमारा सारा ज्ञान इन्द्रियों द्वारा हमें प्राप्त होने वाले अनुभवों पर आश्रित है। आरम्भ में हमारा मन बिलकुल कोरी स्लेट (Tabula Rasa) की भाँति होता है, इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले अनुभव इस पर हजारों बातें लिखते चले जाते हैं, इससे स्मृति विचारों को पैदा करती है। चूंकि हमारी इन्द्रियों पर ये प्रभाव प्रकृति की जड़वस्तु (Matter) से पड़ते हैं, अतः मन की पट्टी या स्लेट पर अंकित होने वाले सभी विचारों का मूल जड़प्रकृति (Matter) है। यह प्रकृति ही वस्तुतः मन के भावों को विविध रूप प्रदान करती है, अतः अनुभववाद के आधार पर इसी को वास्तविक मानना चाहिए।

दूसरी विचारधारा आयरलैंण्ड के बिशप जार्ज बर्कले (१६८४–१७५३) की थी। इसने लॉक के अनुभववाद को स्वीकार करते हुए भी उससे सर्वथा भिन्न और विरोधी दार्शनिक मत प्रतिपादित किया। लॉक की यह बात सही है कि वस्तु का ज्ञान हमें उसके सम्बन्ध में होने वाले अनुभवों से होता है, कोई भी वस्तु अनुभूतियों का समूह मात्र होती है। उदाहरणार्थ, खाने को या हथौड़े को लीजिए, खाना वस्तुतः नेत्र, नाक और रसना की इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाली विभिन्न अनुभूतियों का समूह मात्र है; हथौड़ा भी रूप, रंग, भार, स्पर्श आदि अनुभूतियों का समुदाय है। इनकी वास्तविकता इन पदार्थों में नहीं, किन्तु इनसे होने वाली अनुभूतियों में निहित है। यदि आप प्रज्ञाचक्षु हैं तो आपको रूप और रंग की कोई अनुभूति नहीं हो सकती। कहा जाता है कि जब एक सूरदास ने खीर की बहुत प्रशंसा सुनी तो उसने उसका रूप जानना चाहा, जब इसका ज्ञान कराने के लिए उसका हाथ बगुले के शरीर पर घुमाया गया तो उसने कहा कि यह बड़ी टेढ़ी खीर है। इससे यह स्पष्ट है कि ज्ञान का मूल स्रोत बाहर का जड़ जगत् नहीं, अपितु इसका ज्ञान करने वाला हमारा आन्तरिक मन है, हम मन के बिना किसी पदार्थ को नहीं समझ सकते, अतः बाह्य पदार्थ या जड़प्रकृति नहीं, अपितु मन ही वास्तविक सत्ता है। बर्कले का यह मत उन भारतीय बौद्ध विचारकों से मिलता है जो बाह्य पदार्थ को न मानकर केवल प्रत्यय या विज्ञान की सत्ता मानते हैं।

तीसरी विचारधारा स्काटलैण्ड के विचारक डेविड ह्यूम (१७११–१७७६) की थी। बर्कले ने जड़प्रकृति (Matter) का खण्डन करते हुए मन (Mind) का

समर्थन किया था, ह्यूम ने बर्कले का अनुसरण करते हुए मन का भी खण्डन किया। उसने कहा कि मन भी हमारे विचारों, स्मृतियों तथा अनुभवों से पृथक् कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता है, मन कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, अपितु विचार रखने वाली एक कल्पित सत्ता है; हमारे विचार, स्मृतियाँ और अनुभव ही मन हैं, इनसे पृथक् सत्ता रखने वाली कोई आत्मा नहीं है। बर्कले ने जिस प्रबलता के साथ जड़प्रकृति का खण्डन किया था, ह्यूम ने उतनी ही दृढ़ता के साथ मन का प्रत्याख्यान किया। अब न तो मन, आत्मा या ईश्वर रहा और न ही जड़प्रकृति रही। इसके साथ ही ह्यूम ने विज्ञान पर भी कुठाराघात किया। उन दिनों न्यूटन आदि वैज्ञानिक प्राकृतिक नियमों (Natural Laws) की खोज पर बहुत बल दे रहे थे, इनका आधार कार्य-कारण का नियम था। न्यूटन ने सेव को गिरते देखा, यह कार्य था, उसने इसका कारण गुरुत्वाकर्षण का नियम (Law of Gravitation) ढूंढ़ा। विज्ञान के सभी नियम निरीक्षण के आधार पर इसी प्रकार बन रहे थे। किन्तु ह्यूम का यह कहना था कि हम कारणों या नियमों को कभी नहीं देखते, हम केवल घटनाओं को तथा उनके क्रम को देखते हैं और उससे कारण का अनुमान कर लेते हैं। अतः वैज्ञानिक नियम कोई शाश्वत सत्य नहीं हैं, वह केवल हमारे मानसिक अनुभवों का संक्षिप्त रूपमात्र है। केवल गणितशास्त्रीय नियम और सूत्र शाश्वत रूप में सत्य हैं, दो और दो सदैव चार होंगे। इसके अतिरिक्त हमारा सारा ज्ञान अनिश्चित है, अतः हम किसी वस्तु के बारे में कोई बात निश्चित रूप से नहीं कह सकते। इस प्रकार ह्यूम ने उग्र संशयवाद (Agnosticism) का प्रतिपादन किया और न केवल धर्म के, अपितु विज्ञान के मौलिक आधारों पर कुठाराघात करके दार्शनिक जगत् में बड़ी हलचल मचा दी। काण्ट ने १७७५ में जब ह्यूम की पुस्तक 'Treatise on Human Nature' का जर्मन अनुवाद पढ़ा तो वह स्तब्ध रह गया, उसने धर्म और विज्ञान के सम्बन्ध में जिन धारणाओं को स्वतः सिद्ध मान रखा था उन्हें धराशायी होते देखकर उसकी मोह-निद्रा भंग हुई, उसने यह अनुभव किया कि ह्यूम द्वारा सर्वथा विध्वस्त किए गए धर्म और विज्ञान की पुनः स्थापना परम आवश्यक है।

चौथी विचारधारा वाल्तेयर द्वारा प्रबल रूप से समर्थित किए जाने वाले बुद्धिवाद (Rationalism) की तथा नास्तिकता की थी। इसके अनुसार फ्रांसिस वेकन के समय से योरोप में यह धारणा बल पकड़ रही थी कि मनुष्य बुद्धि और विज्ञान द्वारा सभी समस्याओं का समाधान करते हुए अनन्त प्रगति कर सकता है। फ्रांस में कान्दोर्से (Condorcet) ने तथा जर्मनी में बुद्धिवादी क्रिश्चियन वोल्फ लेसिंग ने इसका प्रबल समर्थन किया था। उस समय बुद्धिवाद पर बल देने वाली प्रबोधवाद (Enlightenment) की विचारधारा योरोप में बड़े वेग से फैल रही थी। फ्रेंच राज्यक्रान्ति होने पर, यह उस समय अपनी पूरी पराकाष्ठा पर पहुँच गई जब पेरिस के क्रान्तिकारियों ने बुद्धि को देवता बनाकर पुराने देवी-देवताओं के स्थान पर इसकी पूजा आरम्भ कर दी। इसके साथ ही वाल्तेयर ने धर्म की खिल्ली उड़ाते हुए नास्तिकता का प्रचार किया, फ्रेंच दार्शनिक हैल्वेटियस तथा जर्मन विद्वान् होल्बाख (Holbach) ने इसे अत्यन्त लोकप्रिय बनाया।

पाँचवीं विचारधारा रूसो का मनोभाववाद (Emotionalism) था। उसने बुद्धिवाद के प्रबल प्रवाह का प्रखर विरोध किया। उसका यह कहना था कि बुद्धि को ही अन्तिम प्रमाण और प्रथप्रदर्शक मान लेना ठीक नहीं है। हमारे जीवन में ऐसे महान् संकट आते हैं जब बुद्धि किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाती है, उस समय हम अपनी भावनाओं से ही पथप्रदर्शन पाते हैं और अपने मार्ग का निर्धारण करते हैं। सन्देह के ऐसे अवसरों पर महाकवि कालिदास के कथनानुसार अन्तःकरण के मनोभाव ही परम प्रमाण होते हैं।[1] रूसो ने प्रबोध आन्दोलन द्वारा प्रवर्तित बुद्धिवाद और नास्तिकता का प्रबल खण्डन किया। उसने एक पुरस्कार प्राप्त करने वाले अपने प्रसिद्ध निबन्ध में यह प्रदर्शित किया था कि विद्या और बुद्धि की उन्नति के साथ-साथ मनुष्य का पतन होने लगता है। इस निबन्ध में उसने यह लिखा था कि विद्वानों में यह कहावत प्रचलित है कि "विद्या का प्रसार बढ़ने के साथ-साथ ईमानदारी का लोप हो गया है।" "शिक्षा मनुष्य को नैतिक दृष्टि से उत्तम (Good) नहीं बनाती, किन्तु वह उसे शरारत करने के लिए चतुर बना देती है।" बुद्धिवाद के आधार पर धर्म का विरोध करने वाले विचारकों को चुनौती देते हुए उसने अपने शिक्षाविषयक एमिली (Emile-1762) नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में कहा था—"भले ही बुद्धि ईश्वर और अमरता के विचारों का खण्डन करे, किन्तु अनुभूति (feeling) इनका प्रबल समर्थन करती है; हमें इस विषय में बुद्धि पर नहीं, किन्तु अपनी अनुभूति पर अधिक विश्वास करना चाहिए।"

काण्ट पर रूसो की इस कृति का गहरा प्रभाव पड़ा। पहले यह बताया जा चुका है कि काण्ट प्रतिदिन नियमित रूप से ३½ बजे भ्रमण के लिए जाया करता था और इसमें कभी कोई व्यतिक्रम नहीं होने देता था। किन्तु रूसो की पुस्तक को जल्दी समाप्त करने के उद्देश्य से उसने कुछ समय के लिए अपना घूमना भी छोड़ दिया। इसमें उसे अपने सन्देहों और शंकाओं का उत्तर मिला कि बुद्धि की अपेक्षा अनुभूति को अधिक महत्व देते हुए नास्तिकता के प्रवाह में डूबते हुए धर्म की रक्षा किस प्रकार की जा सकती है। काण्ट से पहले बर्कले प्रकृति (Matter) को तथा ह्यूम मन और विज्ञान को समाप्त कर चुका था। बुद्धिवाद ने धर्म की धारणा को खोखला कर दिया था। बुद्धिवाद से धर्म की रक्षा करने के लिए, सन्देहवाद से विज्ञान को बचाने के लिए तथा बर्कले और ह्यूम के विचारों का रूसो के विचारों से समन्वय करने के लिए काण्ट ने अपने क्रान्तिकारी दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन किया। यहाँ संक्षेप में तथा सरल रूप में इनका परिचय दिया जाएगा।

काण्ट के दार्शनिक विचार—काण्ट से पहले लॉक ने सारे ज्ञान का स्रोत इन्द्रियों द्वारा होने वाले अनुभवों को माना था और ह्यूम ने मन, आत्मा और विज्ञान का खण्डन किया था। काण्ट ने अपनी 'शुद्ध बुद्धि मीमांसा' के आरम्भ में इन्हें चुनौती देते हुए यह लिखा कि इनके परिणाम भ्रान्त कल्पनाओं पर आश्रित होने के कारण अमान्य हैं। हमें वस्तुतः ज्ञानप्राप्ति के साधनों का और स्वरूप का यथार्थ परिचय प्राप्त करना चाहिए। 'शुद्ध बुद्धि मीमांसा' में इसी का विवेचन है। शुद्ध बुद्धि (Pure

१. अभिज्ञानशाकुन्तलं १।१६, सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु।
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥

Reason) का अभिप्राय ऐसे ज्ञान से है जो हमें इन्द्रियों द्वारा होने वाले अनुभवों से प्राप्त नहीं होता, अपितु मन की स्वाभाविक प्रकृति के कारण प्राप्त होता है। अनुभवों से दूषित न होने के कारण ही इसे शुद्ध बुद्धि कहा जाता है। इस शुद्ध बुद्धि का आलोचनात्मक विश्लेषण (Critique) या मीमांसा करने के कारण उसने अपनी पुस्तक का नाम **शुद्ध बुद्धि मीमांसा** रखा है। इसमें उसने ज्ञान प्राप्त करने के दो साधन माने हैं—इन्द्रियाँ तथा मन (Mind) या बुद्धि। इन्द्रियों का काम विभिन्न प्रकार के संवेदन (Sensation) प्रस्तुत करना है तथा मन इनमें विभिन्न सम्बन्ध स्थापित तथा व्यवस्थित करता है। सेव के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी : हमारी विभिन्न इन्द्रियाँ सेव के रूप, रंग, गन्ध, स्वाद के बारे में हमें कुछ संवेदन या अनुभव प्रस्तुत करती हैं, मन इन सबका समन्वय करके हमारे सेव सम्बन्धी ज्ञान को व्यवस्थित करता है। काण्ट ने इसे सेनापति के उदाहरण से समझाया है : रणक्षेत्र में युद्ध होने पर विभिन्न स्थानों से विभिन्न प्रकार की खबरें सेनापति के पास आती रहती हैं, वह इन सबको मिलाकर इनमें समन्वय स्थापित करता है और अपने आदेश जारी करता है। इसी प्रकार इन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले विभिन्न अनुभवों में समन्वय स्थापित करना मन का काम है। मन हमारे विभिन्न अनुभवों को विशेष उद्देश्य के साथ व्यवस्थित करता है, अनन्त अनुभवों में व्यवस्था इसी उद्देश्य के कारण होती है। उदाहरणार्थ, माँ बच्चे को अपनी गोद में सुलाकर सो रही है, इस समय उसका उद्देश्य बच्चे को आराम देना है, सोते समय उस पर विभिन्न अनुभूतियों का प्रभाव पड़ सकता है, किन्तु वह केवल उसी अनुभूति को ग्रहण करती है जो बच्चे को प्रभावित करती है। बच्चे की हल्की-से-हल्की आह उसे जगा देती है, किन्तु अन्य प्रबल आवाजों के होते हुए भी वह सोती रहती है।

हमारी बुद्धि कुछ मर्यादाओं से सीमित है, हम प्रत्येक वस्तु का ज्ञान देश और काल तथा कारण-कार्य की मर्यादाओं में रहते हुए करते हैं, अतः देश (Space), काल (Time), कारण-कार्य सम्बन्ध (Causation) हमारे लिए नित्य सत्य हैं, इन्द्रिय-जन्य ज्ञान से उनकी पुष्टि आवश्यक नहीं है। जैसे लोटे में रखे पानी का लोटे का आकार धारण कर लेना अवश्यम्भावी है, वैसे ही हमारी बुद्धि में आए विचारों में कारण-कार्य आदि के तत्वों का सम्मिलित होना आवश्यक है, इनके आधार पर हमारा ज्ञान सत्य और नित्य होता है, इसे ह्यूम की भाँति संशयात्मक मानना ठीक नहीं है। इन्द्रियों के अनुभवों के आधार पर हमें प्राप्त होने वाला वस्तुसत्ता का ज्ञान **अनुभवसापेक्ष** (a posteriori) कहलाता है। दूसरे प्रकार का ज्ञान **अनुभवनिरपेक्ष** (a priori) है, इसमें किसी प्रकार के अनुभव की आवश्यकता नहीं होती।

काण्ट के मतानुसार हम इस दृश्य जगत् (phenomenon) के इन्द्रियगोचर बाह्य रूप को ही जान सकते हैं, किन्तु मूल अथवा वास्तविक रूप (Thing in itself) का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते, क्योंकि यह हमारे अनुभव का विषय नहीं बन सकता। उदाहरणार्थ, मनुष्य वास्तव में क्या है, यह हम नहीं जानते; हम उसके बारे में केवल यही बात जानते हैं कि उसके सम्बन्ध में हमारी इन्द्रियों को प्राप्त होने वाले अनुभवों के आधार पर हमारे मन ने उसके बारे में क्या कल्पना की है। काण्ट ह्यूम की भाँति

बाह्य जगत् की सत्ता अस्वीकार नहीं करता, किन्तु यह मानता है कि हम उसके सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ नहीं जानते कि उसकी सत्ता है। प्रायः यह समझा जाता है कि काण्ट के अध्यात्मवाद या आदर्शवाद (Idealism) का अर्थ बाह्य जगत् की सत्ता को अस्वीकार करना है, वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। उसके आदर्शवाद का यह अभिप्राय है कि बाह्य जगत् की वास्तविक सत्ता के बारे में हम कुछ नहीं जानते, हम उसका वही रूप जानते हैं जो उसके द्वारा डाले गए अनुभवों से हमारे मन पर पड़ा है। उदाहरणार्थ, एक पुस्तक का ज्ञान हमें उसकी वास्तविक बनावट से नहीं होता वरन् उस प्रतिबिम्ब या विचार (Idea) से होता है जो उस पुस्तक को देखकर हमारे मन में बनता है। किसी वस्तु को हम पुस्तक इसलिए कहते हैं कि हमारे मस्तिष्क के विचार के अनुसार वह पुस्तक है, इसीलिए नहीं कि वह पुस्तक है। यह काण्ट के आदर्शवाद का मौलिक सिद्धान्त है।

काण्ट यह मानता है कि बुद्धि में इस बाह्य दृश्य जगत् के मूल तत्व को प्रकट करने का सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि यह उसी बात को प्रकट करती है जिसका अनुभव करती है। कुछ पदार्थ अनुभव से बाहर के हैं जैसे ईश्वर, आत्मा, भावी जीवन। बुद्धि अनुभवजन्य ज्ञान तक सीमित होने के कारण उनके सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकती। उस समय वाल्तेयर जैसे जो व्यक्ति बुद्धिवाद के आधार पर धर्म और ईश्वर का खण्डन कर रहे थे, काण्ट का उनको यह करारा जवाब था कि ईश्वर का खण्डन बुद्धि से हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह बुद्धि से परे की वस्तु है, वह बुद्धिगम्य नहीं, किन्तु श्रद्धा-गम्य है।[1] ईश्वर को बुद्धि से कभी सिद्ध नहीं किया जा सकता। काण्ट के इस परिणाम ने उस समय ईश्वर की सिद्धि के लिए दी जाने वाली युक्तियों को निराधार सिद्ध करके पादरियों और पुरोहितों को इतना रुष्ट कर दिया कि वे अपने कुत्तों को काण्ट का नाम देने लगे। हाइन (Heine) ने यह लिखा था कि "फ्रेंच राज्यक्रान्ति में दुरात्मा रोबेस्पियर ने केवल राजा की तथा कई हजार फ्रांसवासियों की हत्या की है, एक जर्मन इस अपराध को क्षमा कर सकता है। किन्तु काण्ट ने ईश्वर की हत्या की है, धर्मशास्त्र द्वारा ईश्वर की सिद्धि के लिए प्रस्तुत की जाने वाली प्रबलतम युक्तियों को खोखला सिद्ध कर दिया है।"

१. काण्ट के इस सिद्धान्त की तुलना वेदान्त दर्शन के इस विचार से की जा सकती है कि तर्क द्वारा ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि तर्क में अनवस्था दोष है, इससे हम किसी यथार्थ स्थिति पर नहीं पहुँच सकचे। उदाहरणार्थ, हम जब यह तर्क देते हैं कि इस जगत् का कारण या बनाने वाला कोई व्यक्ति होना चाहिए और वही ईश्वर है तो कोई व्यक्ति इसके विरुद्ध यह तर्क उपस्थित कर सकता है कि ईश्वर का बनाने वाला कौन है? अतः तर्क द्वारा हम किसी अन्तिम या निश्चित निर्णय पर नहीं पहुँच सकते। इसी का प्रतिपादन वेदान्त दर्शन के निम्नलिखित सूत्र (१।१।१२) में किया गया है—

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमितिचेदेवमप्यविमोक्षप्रसंगः ॥

शंकराचार्य ने इसका भाष्य करते हुए लिखा है कि तर्कों का कोई अन्त नहीं है। यदि आज कोई विद्वान् अपने पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा दिए गए सब तर्कों का खण्डन कर देता है तो यह सम्भव है कि भविष्य में कोई अन्य बड़ा तार्किक इन युक्तियों का भी खण्डन कर दे, अतः तर्कों का का कोई अन्त नहीं है, तर्क से ईश्वर की सिद्धि नहीं की जा सकती है।

काण्ट ईश्वर को बुद्धिगम्य न मानने पर भी उसे बड़े सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित करता है। यह आधार गणितशास्त्र के नियमों की भाँति पूर्ण (Absolute) शाश्वत सत्य बने रहने वाले नैतिक नियमों का है। सभी मनुष्यों में जन्म से ही नैतिक कर्त्तव्यों की भावना पाई जाती है, यह हमारे अन्तःकरण में सुदृढ़ रूप से निहित है, इसे सिद्ध करने के लिए तर्क या बुद्धि की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सब व्यक्तियों को इसका प्रत्यक्ष अनुभव है। यह हमें सदैव कर्त्तव्यपालन के लिए प्रेरित करती है, सत् और असत् का, अच्छे तथा बुरे का बोध कराती है। यह सम्भव है कि कभी हम अन्तःकरण के आदेश की अवहेलना करते हुए बुरा काम करें, किन्तु ऐसा करने पर अन्तरात्मा हमें धिक्कारती है और कहती है कि ऐसा कार्य अनुचित था, इसे नहीं करना चाहिए था। हम दूसरों को धोखा दे सकते हैं, किन्तु अपने-आपको धोखा नहीं दे सकते। काण्ट ने इस नैतिक भावना के बारे में यह माना है कि यह हमें सदैव अपने कर्त्तव्य के बारे में आदेश देती रहती है, हमारे अन्तःकरण को यह आदेश पूर्ण, निरपेक्ष अथवा परम (Absolute) होता है, यह सब परिस्थितियों में सुख या दुख में एक जैसा होता है, सभी दशाओं में निरपवाद रूप से (Categorically) इसका पालन करने का हमें आदेश दिया जाता है। उदाहरणार्थ, अन्तःकरण हमें सभी परिस्थितियों में निरपवाद रूप से सत्य बोलने का आदेश देता है। यह सम्भव है कि मैं झूठ बोलने की इच्छा करूँ या झूठ बोलूँ, किन्तु मैं कभी यह इच्छा नहीं कर सकता हूँ कि झूठ बोलना एक सार्वभौम नियम बन जाए; क्योंकि यदि संसार में यह व्यवस्था बन जाए तो वचन का कोई मूल्य नहीं रहेगा। अतः इस नियम का पालन न करने पर भी मैं इसे स्वीकार करता हूँ, क्योंकि यह नैतिक नियम हमारे हृदयों में इस रूप में अंकित है कि इसका सभी अवस्थाओं में सार्वभौम नियम के रूप में बिना किसी अपवाद के एवं पूर्ण रूप से पालन होना चाहिए, अतः इसे **निरपवाद नैतिक कर्त्तव्यादेश या परमादेश** (Categorical Imperative) कहा जाता है। इस आदेश को तथा नैतिक भावना को हमारे अन्तःकरण में उत्पन्न करने वाला भगवान् है, यह आदेश ईश्वर की सिद्धि और धर्म की सत्ता का अकाट्य प्रमाण और सुदृढ़ आधार है।

इस नैतिक भावना द्वारा दिए गए आदेशों और कर्त्तव्यों की एक बड़ी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इस प्रकार कर्त्तव्य बुद्धि से किया जाने वाला कोई भी कार्य इसलिए अच्छा नहीं होता कि इससे अच्छे परिणाम उत्पन्न होंगे,[1] किन्तु इसलिए अच्छा होता है क्योंकि वह अन्तःकरण की नैतिक भावना द्वारा दिए गए आदेश के अनुसार किया जाता है। यह नैतिक भावना हमारे किसी वैज्ञानिक अनुभव का परिणाम नहीं है, किन्तु यह अनुभवनिरपेक्ष (a priori) है तथा वर्तमान, भूत और भविष्य के तीनों कालों में समान रूप से हमें आदेश देती है, और हमारे कर्त्तव्य का प्रतिपादन

---

१. काण्ट का यह विचार गीता के निष्काम कर्मयोग से गहरा सादृश्य रखता है। गीता में कहा गया है कि फल की इच्छा या आसक्ति न रखते हुए काम करना चाहिए (३।१९)—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

करती है। संसार में विशुद्ध रूप से उत्तम वस्तु यह है कि हम हानि या लाभ की परवाह किए बिना इस नैतिक भावना का अनुसरण करें। हमें अपने सुख-दुख की अथवा फल की आशा न रखते हुए नैतिक कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। वस्तुत: यह कार्य बड़ा कठिन है कि हम फल छोड़कर तथा अपने आनन्दों को तिलांजलि देकर नैतिक भावना द्वारा निर्दिष्ट कर्त्तव्यों का पालन करें, किन्तु इसी पथ का अनुसरण करके हम पशुओं के धरातल से ऊपर उठकर देवताओं की श्रेणी में पहुँच सकते हैं।

यह नैतिक भावना इस बात को भी सिद्ध करती है कि हम में स्वतन्त्र इच्छा (Freedom of Will) की सत्ता है। यदि हम में यह न होती तो हम कर्त्तव्य की भावना की कल्पना नहीं कर सकते थे। इसकी सिद्धि बुद्धि के तर्क से नहीं, अपितु व्यावहारिक अनुभव से की जा सकती है। जब हम किंकर्त्तव्यविमूढ़ होते हैं, हमें यह नहीं समझ आ रहा होता है कि अब हमें क्या करना चाहिए, उस समय हमारे सामने कई मार्ग खुले होते हैं, हमें इस बात की स्वतन्त्रता होती है कि हम किसी भी मार्ग का वरण कर सकें, उस समय हमें अपने कर्त्तव्यों का बोध बुद्धि या मस्तिष्क द्वारा नहीं होता, अपितु हृदय से या अन्त:करण में निहित नैतिक भावना से होता है। यहाँ काण्ट ने रूसो का अनुसरण करते हुए यह कहा है कि हृदय मस्तिष्क से ऊँचा है और वही हमारा सच्चा मार्गदर्शक है।

काण्ट के राजनीतिक विचार—अध्यात्मशास्त्र और दर्शन की समस्याओं पर चिन्तन करने के साथ-साथ, काण्ट राजनीतिक प्रश्नों और घटनाओं में भी गहरी दिलचस्पी लेता था। उसने मांतेस्क्यू और रूसो के ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया था, इनका उसके राजनीतिक विचारों पर काफी प्रभाव पड़ा था। अमेरिकन उपनिवेशों द्वारा स्वतन्त्रता की घोषणा और ब्रिटेन के युद्ध (१७७६-८३) तथा फ्रेंच राज्यक्रान्ति (१७८९) की महत्वपूर्ण घटनाएँ उसके जीवनकाल में हुई थीं, वह अमेरिकन उपनिवेशों की स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक था, इसी कारण ग्रीन नामक एक ब्रिटिश नागरिक से उसका उग्र वादविवाद हुआ था।[1] फ्रेंच राज्यक्रान्ति की खबरों को वह समाचारपत्रों में बड़े ध्यान से पढ़ता था। वह इस क्रान्ति का प्रबल समर्थक था। कहा जाता है कि ६५ वर्ष की आयु में जब उसने इस क्रान्ति का समाचार सुना तो उसकी आँखें आनन्दाश्रुओं से भर आईं और उसने अपने एक मित्र को कहा—अब मैं सिमियन की भाँति यह कह सकता हूँ कि "हे भगवान्, अब आपका सेवक शान्तिपूर्वक इस संसार से प्रस्थान कर सकता है, क्योंकि उसने अपनी आँखों से आप द्वारा की जाने वाली मानवता की मुक्ति को देख लिया है।" फ्रेंच राज्यक्रान्ति में आतंकराज्य (Reign of Terror) के समय की जाने वाली भीषण हत्याओं और नृशंसताओं से भी इस क्रान्ति के प्रति काण्ट के विचारों में कोई परिवर्तन नहीं आया, उसके मतानुसार ये सब नृशंसताएँ फ्रांस में पहले विद्यमान निरंकुश राजतन्त्र द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों की तुलना में नगण्य थीं। जिस समय योरोप में अधिकांश व्यक्ति फ्रेंच क्रान्ति में होने वाले रक्तपात में उद्विग्न होकर इसका विरोध करने लगे थे, उस समय १७९८ में ७४ वर्ष की

१. क्लिन्के—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४१

आयु में उसने अपनी पुस्तक 'The Conflict of Faculties' में इस क्रान्ति का तथा गणराज्यपद्धति का अत्यधिक उग्र समर्थन किया। इस विषय में विल ड्यूरैण्ट ने यह सत्य ही लिखा है कि "सम्भवतः किसी वृद्ध व्यक्ति ने कभी उद्दाम यौवन की ऐसी भावना से परिपूर्ण विचार अभिव्यक्त नहीं किए हैं।"[1]

काण्ट ने अपने राजनीतिक विचार निम्नलिखित निबन्धों में और पुस्तकों में प्रतिपादित किए हैं—On the Proverbial saying : All Very Well in Theory but no Good in Practice (1793), Perpetual Peace (1795), Metaphysical First Principles of Jurisprudence (1797), The Conflict of Faculties (Part 2, 1798)। उसके प्रमुख राजनीतिक विचार इस प्रकार हैं—

राज्यविषयक सिद्धान्त—काण्ट की दृष्टि में राज्य के विषय में पहली प्रधान समस्या यह थी कि राज्य में रहने वाले सभी व्यक्तियों की पृथक्-पृथक् रूप में विद्यमान स्वतन्त्र इच्छाओं का समन्वय एक सामान्य इच्छा (General Will) द्वारा इस प्रकार किस ढंग से किया जाए कि प्रत्येक व्यक्ति की निजी इच्छा की स्वतन्त्रता पर कोई आँच नहीं आए; क्योंकि काण्ट व्यक्ति की स्वतन्त्रता और समानता का प्रबल समर्थक था। उसका यह कहना था कि "सबकी सामान्य इच्छा राज्य में समूची न्यायपद्धति का मूल स्रोत है और इस न्यायपद्धति में सबकी स्वतन्त्रता को सुरक्षित बनाए रखने की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता को मर्यादित किया जाता है।" इस विषय में काण्ट की मुख्य कसौटी उसका निरपवाद नैतिक परमादेश (Categorical Imperative) का सिद्धान्त है। उसका यह कहना है कि एक पृथक् व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा जुआ खेलने या शराब पीने की हो सकती है, किन्तु उसकी इस स्वतन्त्र इच्छा को सब व्यक्तियों की सामान्य इच्छा (General Will) नहीं माना जा सकता, क्योंकि ये दोनों कार्य नैतिक भावना तथा निरपवाद परमादेश के प्रतिकूल हैं। राज्य के सभी कानून इस परमादेश के अनुकूल होने चाहिएँ, सामान्य इच्छा इसके प्रतिकूल नहीं हो सकती। अतः जुआ खेलने या शराब पीने की वैयक्तिक स्वतन्त्रता सामान्य इच्छा तथा नैतिक परमादेश की विरोधी होने से नियन्त्रित की जानी चाहिए। इस विषय में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि काण्ट का यह दृष्टिकोण व्यष्टिवादी (Individualist) मिल के स्वतन्त्रता के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है जिसके अनुसार व्यक्ति को तब तक जुआ खेलने और शराब पीने की पूरी स्वतन्त्रता है। जब तक उसका यह कार्य दूसरों की स्वतन्त्रता अथवा शान्ति को भंग न करे। किन्तु काण्ट यह मानता है कि व्यक्ति समाज का मूल है, जब उसमें बुराई आएगी तो इसको समाज में फैलने से कोई नहीं रोक सकता। अतः व्यक्ति को अनैतिक कार्य करने की कोई स्वतन्त्रता नहीं दी जानी चाहिए। उसके मत में राज्य के सभी नियम नैतिक परमादेश तथा नैतिक भावना के अनुकूल होने चाहिएँ, सामान्य इच्छा भी इसी को प्रतिबिम्बित करती है, अतः सामान्य इच्छा का विरोध करने वाले अनैतिक कार्य करने की स्वतन्त्रता किसी व्यक्ति को नहीं दी जा सकती।

---

१. विल ड्यूरैण्ट—स्टोरी आफ फिलासफी, पृ० ३११

दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न व्यक्ति के मौलिक अधिकारों का है। काण्ट का यह दृढ़ विश्वास था कि प्रकृति ने सब मनुष्यों को समान अधिकार प्रदान किए हैं, प्रत्येक नागरिक को स्वतन्त्रता और समानता के अधिकार प्राप्त होने चाहिएँ। स्वतन्त्रता का आशय सर्वथा बन्धनमुक्त उच्छृंखलता नहीं है। काण्ट का यह कहना है कि राज्य का निर्माण करते समय मनुष्य ने जंगली जानवरों वाली तथा किसी कानून का पालन न करने वाली अपनी स्वाधीनता का परित्याग इसलिए किया था कि वह कानून की वश्यता में रहते हुए एक अधिक उत्तम प्रकार की स्वतन्त्रता का उपभोग कर सके। काण्ट ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता का लक्षण करते हुए लिखा है कि "कोई भी व्यक्ति मुझे ऐसे ढंग से रहने के लिए वाधित नहीं कर सकता जो वह दूसरे व्यक्तियों की भलाई के लिए उपयुक्त समझता है; किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह जिस विधि को अपनी सुख प्राप्ति के लिए आवश्यक समझे, उस विधि का अनुसरण करने में उसे तब तक पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त हो, जब तक दूसरे व्यक्तियों द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति में वह बाधक नहीं बनता है।"

व्यक्ति का दूसरा अधिकार समानता है। यह स्वतन्त्रता का ही परिणाम है। काण्ट के अनुसार समानता का आशय प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी स्वतन्त्रता देना है कि वह अपनी योग्यता, परिश्रम और भाग्य से समाज में यथोचित स्थान प्राप्त कर सके।

तीसरा प्रश्न **स्वतन्त्र इच्छा** (Free Will) का है। इस विषय में काण्ट पर रूसो का बहुत प्रभाव पड़ा है, यह उसके राजनीतिक विचारों में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। पहले यह बताया जा चुका है कि काण्ट कर्त्तव्यपालन के लिए स्वतन्त्रता को आवश्यक मानता है क्योंकि यदि मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है तो उस पर किसी उचित अथवा अनुचित कार्य को करने का दायित्व नहीं डाला जा सकता। सभी व्यक्ति स्वतन्त्रता चाहते हैं, इससे समाज में संघर्ष अनिवार्य है। किन्तु विभिन्न व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में संघर्ष न हो तथा उनमें सामंजस्य बना रहे, इस दृष्टि से राज्य का निर्माण होता है।

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में काण्ट का मत कुछ अंशों में रूसो के मत से भिन्न है। रूसो राज्य के उद्गम के बारे में यह मानता था कि आरम्भ में इसे बनाने के लिए मनुष्यों में एक सामाजिक समझौता या अनुबन्ध (Social Contract) हुआ। यह एक ऐतिहासिक सत्य था। काण्ट इसे वास्तविक तथ्य (Actual fact) न मानकर 'बुद्धि का एक विचार' (Idea of a Reason) मानता है। यह एक आवश्यक और तर्कसंगत पूर्वकल्पना (Presupposition) मात्र है, एक ऐतिहासिक घटना नहीं है। यह वास्तव में किसी देश के लोगों की सभी निजी और विशिष्ट इच्छाओं का मिलकर एक सामान्य और सार्वजनिक इच्छा बनना तथा राज्य में न्याय के लिए बनाई जाने वाली कानूनी पद्धति का आधार बनना था। यह इच्छा प्रत्येक कानून-निर्माता को इस बात के लिए बाध्य करती है कि वह अपने कानूनों को इस ढंग से बनाए कि वे समूची जनता की संयुक्त इच्छा से प्रादुर्भूत हों तथा प्रत्येक व्यक्ति अपना यह कर्त्तव्य समझे कि वह कानून को अपनी निजी इच्छा की सहमति से बनाया जाने वाला समझे तथा उसका पालन करे, क्योंकि यह कानून सामान्य इच्छा से बना है, और सब व्यक्तियों

की सामान्य इच्छा में उसकी इच्छा भी सम्मिलित है। राज्य के सभी कानून बेन्थम के मतानुसार सुख तथा उपयोगिता (Utility) के सिद्धान्त के आधार पर बनने चाहिएँ, किन्तु काण्ट इसका आधार सामान्य इच्छा और बुद्धि (Reason) को बताता है। उसके कथनानुसार "जिस राज्य में राजा अपनी दृष्टि के अनुसार प्रजा के लिए सुख बढ़ाने वाले कानून बनाता है, उन्हें अपने दृष्टिकोण से सुखी बनाने का प्रयत्न करता है, वह शीघ्र ही अत्याचारी शासक का रूप आरम्भ कर लेता है, क्योंकि प्रजाजन अपने इस दावे या अधिकार को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं कि उन्हें अपने लिए सुख देने वाली बातों का स्वयमेव निर्धारण करने का अधिकार होना चाहिए।" यह बात तभी हो सकती है जब राजा अपनी इच्छा के अनुसार नहीं, किन्तु सामान्य इच्छा के अनुसार कानून बनाए।

चौथा प्रश्न राज्य के स्वरूप का है। राज्य की स्थापना मनुष्य ने जंगली जानवरों की स्वतन्त्रता से अधिक उत्कृष्ट प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए की थी। अतः राज्य को एक प्रकार के अनुबन्ध या समझौते पर बना हुआ समझा जा सकता है। इसमें कानून बनाने की शक्ति जनता की संयुक्त इच्छा (United Will) में निहित है, यही समूची न्यायपद्धति का मूल स्रोत है। कानून निर्माण की शक्ति तथा प्रभुसत्ता जनता में ही निहित है, क्योंकि जनता की सामान्य इच्छा ही कानून का आदिस्रोत है। संविधान सामान्य इच्छा का वह निर्णय है जिसके द्वारा जनसमूह सुसंगठित जनता का रूप धारण कर लेता है। राज्य में तीन शक्तियाँ होती हैं—प्रभुसत्तासम्पन्न विधानमण्डल, कार्यपालिका और न्यायपालिका। स्वतन्त्रता के लिए यह आवश्यक है कि विधानमण्डल और कार्यपालिका एक-दूसरे से पृथक् रहें। यदि विधानमण्डल और कार्यपालिका पृथक् हों तो शासन गणराज्यात्मक (Republican) होता है, अन्यथा इन दोनों के पृथक् न रहने से वह निरंकुश हो जाता है।

काण्ट राज्य के तीन प्रकार मानता है—(१) निरंकुश राजतन्त्र (Autocracy), (२) कुलीनतन्त्र (Aristocracy), (३) लोकतन्त्र (Democracy)। वह इस बात पर बहुत बल देता है कि राज्य का संविधान न्याय के सिद्धान्तों के अनुकूल होना चाहिए। इन सिद्धान्तों का निर्णय नैतिक परमादेश (Categorical Imperative) से, नैतिक इच्छा से और व्यावहारिक बुद्धि से किया जाना चाहिए। काण्ट का आदर्श राज्य नैतिक परमादेश के अनुसार होना चाहिए।

काण्ट गणराज्य की शासन-पद्धति को आदर्श समझता था। उसके मतानुसार विश्व में शान्ति बनाए रखने के लिए प्रत्येक राज्य का संविधान लोकतन्त्रीय होना चाहिए। सच्चा गणराज्य राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने वाली पद्धति के बिना स्थापित नहीं हो सकता। सरकार जनता की प्रतिनिधि होनी चाहिए, अन्यथा वह बुद्धि-विरुद्ध है। रूसो से उसका इस बात में मतभेद है कि रूसो प्रत्यक्ष लोकतन्त्र (Direct Democracy) का समर्थक है, किन्तु काण्ट प्रतिनिधि लोकतन्त्र (Representative Democracy) का प्रबल पोषक है। किन्तु काण्ट का प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र वर्तमान लोकतन्त्र के विचार से भिन्न है। आजकल ऐसे लोकतन्त्र में सब प्रतिनिधियों का जनता द्वारा निर्वाचित होना आवश्यक समझा जाता है, किन्तु काण्ट ऐसा नहीं

मानता। उसके मतानुसार राजा या उच्चवर्ग के कुलीन व्यक्ति जनता के प्रतिनिधि हो सकते हैं, बशर्ते कि वे जनता की सामान्य इच्छा तथा नैतिक परमादेश (Categorical Imperative) के अनुसार शासन करें। काण्ट ने ऐसी व्यवस्था सम्भवतः अपने देश में विद्यमान परिस्थितियों के आधार पर की थी, क्योंकि उस समय जर्मनी के किसी भी राज्य में लोकतन्त्र की प्रणाली प्रचलित नहीं थी, सर्वत्र निरंकुश राजतन्त्र का साम्राज्य था।

जनता द्वारा विद्रोह के अधिकार का विरोध—डनिंग ने यह लिखा है कि काण्ट ने रूसो तथा मांतेस्क्यू के विचारों का सम्मिश्रण करके अपने राजनीतिक सिद्धान्तों के निर्माण का प्रयत्न किया; इनका सम्मिश्रण करना एक असम्भव कार्य था, इसे काण्ट की सूक्ष्म बुद्धि ही सम्पन्न कर सकती थी। किन्तु इस कार्य में बड़ी कठिनाइयाँ थीं और इस कारण काण्ट के राजनीतिक विचारों में बड़ी असंगति और विरोध उत्पन्न हो गया। यह प्रभुसत्ता (Sovereignty) के अधिष्ठान के सम्बन्ध में था। रूसो के मतानुसार यह प्रभुसत्ता जनता में तथा उसकी सामान्य इच्छा में निहित थी, किसी राजा या कुलीन वर्ग में यह नहीं रह सकती थी। किन्तु काण्ट यह मानता था कि यह प्रभुसत्ता एक व्यक्ति में, कुछ व्यक्तियों में तथा अनेक व्यक्तियों में रह सकती है। यद्यपि वह यह मानता है कि कानून बनाने की शक्ति केवल जनता में रह सकती है, किन्तु इसके साथ ही वह यह भी मानता है कि जनता का एक शासक (Beherrscherdes Volks) होता है, यह कानून बनाने वाला होता है, जनता के प्रति इसके कोई कर्त्तव्य नहीं होते, किन्तु अधिकार ही होते हैं; इसके द्वारा किए जाने वाले संविधान के उल्लंघनों या अतिक्रमणों का नियन्त्रण करने के लिए जनता के पास कोई अधिकार नहीं था। प्रजा राज्य के कानूनों का निर्माण करने वाले शासक के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार नहीं रखती। काण्ट ने जनता द्वारा राजा के विरुद्ध विद्रोह करने का प्रबल खण्डन करते हुए कहा है—"यदि संविधान दोषपूर्ण है तो इसमें परिवर्तन केवल राजा द्वारा स्वयमेव सुधार करके किए जा सकते हैं, जनता द्वारा विद्रोह करके नहीं किए जा सकते।"

यह वस्तुतः आश्चर्यजनक बात है कि फ्रेंच राज्यक्रान्ति का उग्र समर्थक काण्ट जनता द्वारा विद्रोह के अधिकार का प्रबल विरोध करे! डनिंग ने इसके दो कारण बताए हैं। पहला कारण तो जर्मनी की तात्कालिक परिस्थिति थी। "वह प्रशिया के राज्य में एक राजकीय विश्वविद्यालय में बूढ़ा प्रोफेसर था। महान् फ्रेडरिक के तथा उसके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में कोई भी राजभक्त प्रजाजन जनता द्वारा विद्रोह की कल्पना नहीं कर सकता था। जनता तथा राष्ट्र अथवा राज्य की सर्वोच्च सत्ता का प्रबल समर्थन करने वाले दार्शनिक भी अपने को इस विचार से सर्वथा मुक्त नहीं कर सकते थे कि प्रभुसत्ता राजा में ही रहती है।"[1] दूसरा कारण काण्ट की उपद्रवों तथा अव्यवस्था के प्रति स्वाभाविक घृणा थी।

---

१. डनिंग—ए हिस्टरी आफ पोलिटिकल थियोरीज, तीसरा खण्ड, पृ० १३४-५

युद्धविषयक विचार—काण्ट ने ७१ वर्ष की आयु में प्रकाशित **शाश्वत शान्ति** (Eternal Peace) नामक अपनी पुस्तक में युद्ध और शान्ति के विषय में बड़े क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किए हैं तथा राष्ट्रसंघ की स्थापना पर बल दिया है। उसका यह कहना है कि यह "व्यावहारिक बुद्धि (Practical Reason) का आदेश और प्रकृति की आज्ञा है कि मनुष्य को शाश्वत शान्ति बनाए रखने के लिए प्रयत्न करना चाहिए तथा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक राष्ट्रसंघ की स्थापना करनी चाहिए।" युद्धों के दुष्परिणाम का भीषण चित्र खींचते हुए उसने लिखा है कि "हमारे शासकों के पास सब लोगों को शिक्षा देने वाली पद्धति की व्यवस्था करने के लिए पैसा नहीं है, क्योंकि वे अपनी सारी आय भावी युद्धों की तैयारी में लगा देते हैं।" उसका यह मत था कि राष्ट्र तब तक वास्तव में सभ्य नहीं होंगे जब तक स्थायी सेनाएँ (Standing Armies) रखने की प्रणाली समाप्त नहीं हो जाएगी। एक देश की सेनाएँ दूसरे देश को उससे अधिक सेनाएँ रखने के लिए प्रेरित करती हैं, इस प्रकार सैनिक व्यय निरन्तर बढ़ता चला जाता है। काण्ट का यह मत था कि इस सैनिकवाद का एक प्रधान कारण अमेरिका, अफ्रीका तथा एशिया के देशों में योरोप का साम्राज्य विस्तार था। जिस प्रकार लूट का माल बाँटने के लिए चोरों में संघर्ष होता है, वैसे ही उपनिवेशों को प्राप्त करने के लिए योरोप के राज्यों में संघर्ष हो रहा है। ये संघर्ष वे राज्य कर रहे हैं जो धर्मप्राण तथा सभ्य होने का ढिंढोरा पीटते हैं।

काण्ट साम्राज्य प्राप्त करने के प्रलोभन से किए जाने वाले इन संघर्षों का मूल कारण योरोपियन राज्यों की अल्पतन्त्रीय (Oligarchical) शासन-व्यवस्था को समझता था तथा इसके प्रतिकार का उपाय लोकतन्त्र और गणतन्त्र की व्यवस्था को मानता था। उसका यह कहना था कि इन राज्यों में शासन-सत्ता मुट्ठी-भर लोगों के हाथ में रहती है, साम्राज्य से इन्हीं को प्रभूत मात्रा में अधिक लाभ मिलता है। यदि योरोप में लोकतन्त्र की व्यवस्था स्थापित हो जाए, सब व्यक्तियों को राजनीतिक शासन-सत्ता में हाथ बँटाने का अवसर मिले तो अन्तर्राष्ट्रीय चोरी और डकैती से प्राप्त होने वाले लाभ इतने अधिक छोटे भागों में विभक्त हो जाएँगे कि लड़ाई छेड़ने में किसी को कोई आकर्षण या लाभ प्रतीत नहीं होगा। अतः विश्व में शाश्वत शान्ति स्थापित करने के लिए पहली आवश्यक शर्त यह है कि "प्रत्येक राज्य में गणराज्य की शासन-पद्धति स्थापित होनी चाहिए और यह व्यवस्था होनी चाहिए कि तब तक किसी युद्ध की घोषणा न की जाए जब तक सभी नागरिक जनमत संग्रह द्वारा इस युद्ध को लड़ने के लिए अपनी सहमति न प्रदान करें। जब रणक्षेत्र में लड़ने वाले व्यक्ति इस बात का निश्चय करेंगे कि युद्ध छेड़ा जाना चाहिए या नहीं, तो इतिहास में खून की नदियाँ बहना बन्द हो जाएँगी। दुर्भाग्य से इस समय बिलकुल उल्टी स्थिति है, लड़ाई में कोई भाग न लेने वाले राजा और मन्त्री युद्ध करने का निश्चय करते हैं, इन्हें वैयक्तिक रूप से लड़ाई में कोई हानि नहीं उठानी पड़ती। राजा के वैयक्तिक आनन्दों पर, स्वादिष्ट भोजन पर और दरबार में होने वाले महोत्सवों पर लड़ाई का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। अतः इस समय राजा अतीव क्षुद्र कारणों से लड़ाई छेड़ देता है, मानो यह शिकार खेलने जैसा एक मामूली कार्य हो। यदि सब देशों में गणराज्य

का संविधान हो तथा जनता से पूछकर लड़ाई छेड़ी जाए तो इन लड़ाइयों के कारण भीषण कष्ट झेलने वाली जनता इन युद्धों का कभी समर्थन नहीं करेगी और युद्ध बिलकुल बन्द हो जाएँगे।" काण्ट के ये विचार अपने समय से बहुत आगे बढ़े हुए तथा दो शताब्दी बाद के विचार प्रतीत होते हैं। इन्हें पढ़ते हुए यह नहीं प्रतीत होता कि हम १८वीं शताब्दी के किसी लेखक के विचार पढ़ रहे हैं, अपितु यह प्रतीत होता है कि हम बीसवीं शताब्दी के किसी राजनीतिज्ञ के विचारों का स्वाध्याय कर रहे हैं।

शान्तिविषयक विचार—काण्ट के राजनीतिक विचारों की यही दूरदर्शिता तथा आधुनिकता शान्तिस्थापना के लिए उसके द्वारा बताई गई छः शर्तों में तथा राष्ट्रसंघ के सुझाव में प्रतीत होती हैं। उसके मतानुसार शाश्वत एवं स्थायी शान्ति बनाए रखने के लिए निम्नलिखित छः बातों का होना आवश्यक था—(१) ऐसी किसी भी शान्ति-सन्धि को स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए जिसके साथ भावी युद्ध को छेड़ने के लिए कुछ गुप्त धाराएँ या व्यवस्थाएँ जुड़ी हुई हों। (२) कोई भी छोटा या बड़ा स्वतन्त्र राज्य उत्तराधिकार, विनिमय, विक्रय या दान द्वारा किसी दूसरे राज्य को नहीं दिया जाएगा। (३) स्थायी सेनाओं (Standing Armies) के रखने की व्यवस्था को शनैः-शनैः बिलकुल समाप्त कर दिया जाएगा। (४) किसी राज्य के वैदेशिक मामलों के लिए कोई ऋण नहीं लिए जाएँगे। (५) कोई भी राज्य किसी दूसरे राज्य के संविधान में या शासन में बलपूर्वक हस्तक्षेप नहीं करेगा। (६) दूसरे राज्यों के साथ युद्ध के समय में कोई भी राज्य ऐसे कार्य नहीं करेगा जिनसे भविष्य में शान्ति स्थापित होने पर राज्यों का एक-दूसरे से विश्वास उठ जाए। ऐसे कार्य दूसरे राज्य के राजा, मन्त्री आदि को मारने के लिए हत्यारों तथा विष देने वालों का प्रयोग करना, आत्मसमर्पण की शर्तों का भंग करना तथा शत्रु के देश में राजद्रोह को भड़काना है।

इन छः शर्तों के अतिरिक्त काण्ट ने शान्ति स्थापित करने के लिए तीन अन्य 'अन्तिम व्यवस्थाओं' (Final Articles) पर बहुत बल दिया है—(१) प्रत्येक राज्य में गणराज्यात्मक संविधान होना चाहिए। (२) स्वतन्त्र राज्यों का संघ बनाया जाना चाहिए और इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पालन की व्यवस्था की जानी चाहिए। (३) विश्व नागरिकता (World Citizenship) के अधिकार सभी व्यक्तियों को मिलने चाहिएँ और सभी को दूसरे देशों में निर्बाध रूप से प्रवेश का अधिकार (Hospitality) मिलना चाहिए। विभिन्न देशों में रहने वाले सभी व्यक्ति इस भूमण्डल के निवासी होने से विश्वबन्धुत्व के बन्धन में बँधे हुए हैं, वे विश्व के महान् अन्तर्राष्ट्रीय संघ के सदस्य हैं। इस समय सब देशों ने एक देश से दूसरे देश में जाने पर बड़ी पाबन्दियाँ लगाई हुई हैं, जर्मन नागरिकों को फ्रांस में जाने के लिए पासपोर्ट लेने पड़ते हैं। काण्ट के मतानुसार जब तक व्यक्ति शान्तिपूर्वक रहता है तब तक विश्व का नागरिक होने के नाते उसे किसी भी देश में बिना पासपोर्ट के निर्बाध रूप से प्रवेश करने का अधिकार दिया जाना चाहिए।

काण्ट की उपर्युक्त व्यवस्थाएँ अपने समय से बहुत आगे बढ़ी हुई थीं। उसके द्वारा प्रस्तावित राष्ट्रसंघ युद्धपीड़ित विश्व में पहली बार १९१९ में, उसका ग्रन्थ 'शाश्वत शान्ति' प्रकाशित होने के सवा सौ वर्ष बाद ही बन सका और इसी समय योरोप में लोकतन्त्र की विजय हुई। यद्यपि उसका विश्वास था कि १७९५ में फ्रेंच राज्यक्रान्ति की सेनाओं को प्रतिक्रियावादी निरंकुश राजाओं की सेनाओं पर जो सफलता मिली है उसके बाद योरोप में शीघ्र ही ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित होगा; यह संगठन लोकतन्त्र पर आधारित होगा, यह दासता और शोषण के सभी रूपों से मुक्त होगा, क्योंकि राज्य का कार्य व्यक्ति को अपना विकास करने में सहायता प्रदान करना है, न कि अपने स्वार्थ के लिए उसका दुरुपयोग करना। "प्रत्येक को साध्य (End) मानते हुए उसका पूरा सम्मान किया जाना चाहिए, मनुष्य होने के नाते किसी व्यक्ति को प्राप्त होने वाली गरिमा (Dignity) बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि उसे किसी अन्य बाहरी प्रयोजन की सिद्धि करने का साधन न बनाया जाए।" काण्ट व्यक्ति की गरिमा और महत्व को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए उसकी स्वतन्त्रता और समानता के अधिकारों पर बड़ा बल देता है। वह वंशपरम्परा तथा जन्म के कारण प्राप्त होने वाले तथा समाज में विषमता उत्पन्न करने वाले सभी विशेषाधिकारों का प्रबल विरोधी है, वह इन्हें अतीतकाल में अन्यायपूर्ण रीति से बलपूर्वक की गई विजयों का दुष्परिणाम समझता है। जिस समय योरोप के सभी राजा फ्रांस की राज्यक्रान्ति को कुचलने के लिए कटिबद्ध हो गए, सर्वत्र क्रान्ति-विरोधी प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियाँ और शक्तियां प्रबल हो गईं, उस समय ऐसे वातावरण में तथा ७१ वर्ष की वृद्धावस्था में काण्ट ने अपनी अमर लेखनी द्वारा व्यक्ति की समानता और स्वतन्त्रता के अधिकारों पर बल दिया, उदारवाद का उग्र समर्थन किया तथा युद्धों की समाप्ति के लिए राष्ट्रसंघ का प्रस्ताव रखा। वास्तव में यह बड़ा अद्भुत कार्य था।

काण्ट का मूल्यांकन तथा देन—पश्चिमी दर्शन के क्षेत्र में काण्ट एक अत्युच्च स्थान रखने वाला दार्शनिक है। मैक्समूलर ने उसे भूमण्डल का सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक कहा है, रूपर्ट लाज ने उसे पश्चिमी जगत् में प्लेटो के बाद द्वितीय स्थान दिया है। काण्ट की 'शुद्ध बुद्धि मीमांसा' ने आधुनिक तत्वचिन्तन को सबसे अधिक प्रभावित किया है। यह कहा जाता है कि बाइबल को छोड़कर किसी अन्य पुस्तक पर इतना लिखा और कहा नहीं गया जितना 'शुद्ध बुद्धि मीमांसा' पर लिखा और कहा गया है। शोपनहार ने कहा था, "जब तक कोई व्यक्ति काण्ट के ग्रन्थ नहीं पढ़ लेता, तब तक वह बच्चा ही बना रहता है।" यद्यपि काण्ट के राजनीतिक विचारों ने उसके दार्शनिक विचारों जैसा प्रभाव नहीं डाला, फिर भी ये विचार इतने क्रान्तिकारी तथा अपने समय से आगे बढ़े हुए थे कि राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उन्हें सदैव बहुत ऊँचा स्थान दिया जाता है। मनुष्य की स्वतन्त्रता और समानता के अधिकारों का प्रबल समर्थन, विशेषाधिकारों का विरोध, युद्ध की समाप्ति और राष्ट्रसंघ की स्थापना के विचार उदारवाद के उग्र समर्थक काण्ट के महत्वपूर्ण राजनीतिक विचार हैं। वह इन विचारों के लिए चिरस्मरणीय है। डनिंग ने इस विषय में सत्य ही लिखा है कि

"अध्यात्मशास्त्र की सूक्ष्म चर्चाओं के मरुस्थल में की जाने वाली काण्ट की यात्राओं में उसका मार्ग प्रदर्शन करने वाली ज्योति बुद्धिसम्पन्न मानव के महत्व और गरिमा में अगाध विश्वास रखना था। उसके ग्रन्थों एवं विचारों के दुर्बोधतम घनान्धकार में भी मानव की स्वतन्त्रता और समानता का विचार प्रखर प्रकाश से चमक रहा है। यद्यपि उसने सामूहिक सत्ताओं (collective entities) के रूप में समाज, राज्य और जनता को पर्याप्त महत्व दिया था, तथापि उसके दर्शन में प्रधान स्थान स्वतन्त्र इच्छा रखने वाले बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति को ही प्राप्त है। राजनीतिक चिन्तन में काण्ट का प्रयास व्यक्तिवाद पर बल देना था, इस विषय में यह एक बड़ा मनोरंजक तथ्य है कि १९वीं शताब्दी के सबसे बड़े व्यक्तिवादी हर्बर्ट स्पेन्सर को यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ था कि उसने घोर परिश्रम से व्यष्टिवाद के जिस नवीन सिद्धान्त का आविष्कार किया है उसका प्रतिपादन उससे पहले ही एक जर्मन दार्शनिक कर चुका है।"[1]

हेगल (१७७०–१८३१)

जर्मनी में आदर्शवाद के सिद्धान्त को चरम शिखर तक पहुँचाने वाले तथा राज्य की सर्वोच्च सत्ता का प्रबलतम प्रतिपादन करने वाले जार्ज विल्हैल्म फ्रीडरिख हेगल का जन्म स्टटगार्ट में १७७० में उस समय हुआ जब काण्ट ४६ वर्ष की आयु में कानिग्ज़बर्ग के विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र का प्रोफेसर नियत हुआ था। हेगल के पिता वुर्टमबर्ग नामक एक छोटे जर्मन राज्य में सरकारी कर्मचारी थे। वे अपने पुत्र को धार्मिक शिक्षा दिलाकर चर्च में अच्छा पद दिलाना चाहते थे, अतः उन्होंने अपने पुत्र को ट्यूबिजन (Tubingen) के धार्मिक विद्यालय में भेजा। यहाँ हेगल ने यद्यपि पढ़ने-लिखने में कठोर परिश्रम का परिचय दिया, किन्तु उसे धार्मिक विषयों की अपेक्षा यूनानी साहित्य का अध्ययन करने में अधिक अभिरुचि थी। उसका कहना था कि "यूनान का नाम सुनते ही सुसंस्कृत जर्मन प्रफुल्लित हो उठता है, योरोपियन संस्कृति में धर्म के अतिरिक्त, विज्ञान का, कला का तथा जीवन को उन्नत बनाने वाली सभी कलाओं का आदिस्रोत यूनान है।" ट्यूबिजन में उसके अध्ययन-काल में ही फ्रांस में राज्यक्रान्ति हुई, उस समय वह इसका परम प्रशंसक तथा प्रबल समर्थक था। उसने इसकी स्मृति को सुरक्षित बनाने के लिए ट्यूबिजन की मण्डी में 'स्वतन्त्रता का वृक्ष' भी लगाया था। १७९३ में अपनी शिक्षा समाप्त करने पर उसने स्नातक की पदवी प्राप्त की। किन्तु जिस व्यक्ति ने बाद में अपने विलक्षण दार्शनिक चिन्तन से पश्चिमी जगत् पर गहरा प्रभाव डालना था, दर्शनशास्त्र का प्रसिद्ध प्रोफेसर बनना था, उसके स्नातक परीक्षा के प्रमाणपत्र में यह लिखा गया था कि वह उत्तम चरित्रसम्पन्न है तथा अर्थशास्त्र और भाषाशास्त्र में निष्णात है, किन्तु दर्शनशास्त्र में उसकी कोई योग्यता नहीं है। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' वाली कहावत हेगल पर लागू नहीं होती थी।

---

1. डनिंग—ए हिस्टरी आफ पोलिटिकल थियोरीज, तीसरा खण्ड, पृ० १३६

बाद में असाधारण दार्शनिक की प्रसिद्धि का उपार्जन करने वाले हेगल का जीवन अत्यन्त साधारण था। शिक्षा समाप्त करने के बाद उसे छः वर्ष (१७९३–९९) तक बर्न और फ्रैंकफोर्ट में ट्यूशन करके अपना निर्वाह करना पड़ा। इस समय उसके



हेगल

सामने बाइबल का यह वाक्य था—"तुम पहले भोजन और कपड़े की तलाश करो, स्वर्ग का राज्य इसके बाद तुम्हें स्वयमेव मिल जाएगा।" किन्तु हेगल को इसकी तलाश में अधिक देर तक नहीं भटकना पड़ा। १७९९ में उसके पिता का स्वर्गवास हुआ और उसे विरासत में १५०० डालर की सम्पत्ति मिली। अब उसने अपने को

धनी समझा और आराम का जीवन बिताने का निश्चय किया। उसने अपने मित्र शेलिंग को लिखा कि वह उसे यह परामर्श दे कि "इस विरासत का आनन्दपूर्वक उपभोग करने के लिए उसे जर्मनी में कहाँ बसना चाहिए, यह स्थान ऐसा अवश्य होना चाहिए जहाँ पढ़ने के लिए अच्छी पुस्तकें और पीने के लिए बढ़िया शराब मिल सके।" शेलिंग ने उसे उत्तर दिया—"जेना चले जाओ।"

जेना (Jena) उन दिनों जर्मनी के सांस्कृतिक पुनरुत्थान और पुनरुज्जीवन का केन्द्र बना हुआ था। समूचे जर्मनी के विभिन्न प्रदेशों से तरुण बुद्धिवादी यहाँ एकत्र हो रहे थे, यहाँ के विश्वविद्यालय में उस समय के अनेक प्रसिद्ध विद्वान् और दार्शनिक—फिक्टे, शिलर, शेलिंग, श्लेगल—पढ़ा रहे थे। हेगल १८०१ में यहाँ आया तथा १८०३ में उसे विश्वविद्यालय में स्थान मिल गया। किन्तु यहाँ देर तक रहना उसके भाग्य में नहीं बदा था। १८०६ में, नैपोलियन की सेनाओं ने जेना में प्रशिया की जर्मन सेनाओं को बुरी तरह हराया, फ्रेंच सैनिक हेगल के घर में घुसे और उसे अपनी पुस्तक **'आत्मा के दृश्यवस्तुशास्त्र'** (Phenomenology of Spirit) की पाण्डुलिपि लेकर वहाँ से जान बचाकर भागना पड़ा। इसके बाद कुछ समय तक उसकी आर्थिक दशा बहुत ही खराब रही। प्रसिद्ध जर्मन महाकवि गेटे ने उसे निर्धनता के कष्ट से उबारने के लिए अपने एक मित्र नेबल से उसे कुछ उधार भी दिलाया। १८१२ में कुछ समय तक उसने एक पत्र का सम्पादन किया। इसके बाद वह न्यूरेम्बर्ग में एक विद्यालय (Gymnasium) का प्रधानाध्यपक बना। यहाँ रहते हुए चार वर्ष तक परिश्रम करके (१८१२–१६) उसने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ **'लाजिक'** (Logic) लिखा। इसके प्रकाशित होते ही उसकी ख्याति चारों ओर फैल गई, जर्मन लोग इस ग्रन्थ की दुर्बोधता और जटिलता पर मुग्ध हो गए। उसे हाइडलबर्ग विश्वविद्यालय में दर्शन के प्राध्यापक की गद्दी मिली। यहाँ १८१७ में उसने एक विशाल ग्रन्थ **'दार्शनिक विज्ञानों का विश्वकोश'** (Encyclopaedia of the Philosophical Sciences) लिखा। इसके आधार पर उसकी पदोन्नति की गई तथा उसे बर्लिन विश्वविद्यालय में दर्शन के प्रोफेसर का पद मिला (१८१८)। अगले तेरह वर्ष (१८१८–१८३१) अपनी मृत्युपर्यन्त वह बर्लिन में अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या करता रहा। उसने यहाँ **'अधिकार का दर्शन'** (Philosophy of Right) नामक पुस्तक लिखी तथा इस समय विद्यार्थियों को दिए गए उसके व्याख्यान उसकी मृत्यु के बाद **'इतिहास का दर्शन'** (Philosophy of History) के नाम से प्रकाशित हुए। बर्लिन में उसे पूरा राजकीय सम्मान मिला, वह बाद में बर्लिन विश्वविद्यालय का अध्यक्ष भी बना। उसने प्रशिया के निरंकुश राजतन्त्र का दार्शनिक दृष्टि से उग्र समर्थन किया। हेगल उन इने-गिने सौभाग्यशाली प्रोफेसरों में से है जिन्हें अपने जीवन में महान् कीर्ति और सम्पत्ति प्राप्त हुई तथा जिन्होंने अपने देश के इतिहास एवं विचारधारा पर गहरा प्रभाव डाला है। इस समय उसने क्रान्तिकारी विचारकों की खिल्ली उड़ाई, फ्रेंच क्रान्ति का समर्थन करने वाले अपने आरम्भिक निबन्ध छिपा दिए, प्रशिया की सरकार का गुणगान किया, इस शासन को सर्वोत्तम बताते हुए यह घोषणा की कि यह विश्व में भगवान् (Absolute)

की अभिव्यक्ति का उत्कृष्टतम रूप है।[1] इसीलिए हेगल के आलोचकों ने उसे प्रशिया की सरकार का समर्थन करने वाला **सरकारी दार्शनिक** (Official Philosopher) कहा है।

महान् सुख, शान्ति एवं कीर्ति का उपभोग करने के साथ-साथ हेगल बड़ी जल्दी बूढ़ा होने लगा। अन्तिम दिनों में वह बहुत भुलक्कड़ हो गया था। यह कहा जाता है कि एक बार विद्यार्थियों को पढ़ाने जाते समय उसका जूता रास्ते के कीचड़ में फँसकर उसके पैर से निकल गया, किन्तु उसे इसका कोई ध्यान नहीं रहा और वह एक पैर में जूता पहने हुए ही विद्यार्थियों को पढ़ाने चला गया। १८३१ में, बर्लिन में हैज़े की महामारी फैली, हेगल इसका शिकार हुआ, केवल एक दिन की बीमारी के बाद इस महान् दार्शनिक का देहावसान हो गया।

हेगल के दर्शन की दुर्बोधता—हेगल के राजनीतिक विचारों को समझने के लिए उसके दार्शनिक सिद्धान्तों का यथार्थ ज्ञान आवश्यक है, किन्तु ये विचार अतीव दुर्बोध और क्लिष्ट हैं, इनका समझना बड़ा कठिन कार्य है। स्वयमेव यह दन्तकथा प्रसिद्ध है कि हेगल ने अपने जीवनकाल में इस बात की शिकायत करते हुए कहा था—"केवल एक ही व्यक्ति ने मेरे सिद्धान्तों को समझा है, यह भी सम्भव है कि उसने भी इन्हें न समझा हो।" यह दन्तकथा भले ही सत्य न हो, किन्तु इसे उसकी कृतियों के सम्बन्ध में बार-बार दोहराया जाता है और आलोचक यहाँ तक कहते हैं कि इसमें भी सन्देह है कि हेगल अपने दर्शन को स्वयमेव भी अच्छी तरह समझता था। पन्द्रह-बीस वर्ष तक उसकी कृतियों का गम्भीर अध्ययन करने वाले विद्यार्थी भी उसके दर्शन को पूरी तरह नहीं समझ पाते। पहली बार हेगल का अध्ययन करने वाले पाठक उसके दर्शन के दस पृष्ठ पढ़ जाने पर एक पृष्ठ भी भली-भाँति नहीं समझ सकते। वेपर ने इस विषय में सत्य ही लिखा है—"दुर्भाग्यवश हेगल जितना महत्वपूर्ण दार्शनिक है, उसका समझना उतना ही अधिक क्लिष्ट कार्य है।"[2] इसका कारण शायद यह था कि उन दिनों जर्मनी में विद्वत्ता का लक्षण दुर्बोधता, जटिलता और अस्पष्टता था। जो व्यक्ति जितना अधिक अस्पष्ट लिखता था, वह उतना ही अधिक पण्डित समझा जाता था। हेगल की रचनाओं के क्लिष्ट होने के अनेक कारण हैं। उसकी अधिकांश कृतियां अरिस्टॉटल के ग्रन्थों की भाँति उसके विद्यार्थियों द्वारा लिखे गए उसके व्याख्यानों के नोटों का संकलन मात्र हैं। केवल तर्कशास्त्र (Logic) तथा दृश्यवस्तुविज्ञान (Phenomenology) ही उसके द्वारा लिखे गए हैं। किन्तु इनके विचार इतने सूक्ष्म और अस्पष्ट हैं, इनकी शब्दावली इतनी जटिल है, लेखन शैली इतनी छायावादी और संक्षिप्त है कि इनका समझना अत्यन्त कठिन कार्य है। शोपनहार ने यह लिखा था कि "जर्मन जनता काण्ट की रचनाओं से यह मानने को बाधित हो गई थी कि जो ग्रन्थ दुर्बोध होता है, वह महत्वपूर्ण होता है। काण्ट के बाद के विचारकों—फिक्टे और शेलिंग ने इसका लाभ उठाया और हेगल की रचनाओं में "बिलकुल बेहूदा और निरर्थक,

---

१. ड्यूरैण्ट—स्टोरी आफ फिलासफी, पृ० ३२५
२. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० १५५

आडम्बरपूर्ण शब्द-जाल का ताना-बाना बुनने की प्रवृत्ति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई, पहले ऐसे शब्द-जाल की प्रवृत्ति पागलखानों में ही दृष्टिगोचर होती थी, किन्तु अब यह दार्शनिकों की रचनाओं में पाई जाने लगी है, हेगल की रचनाएँ सदैव 'जर्मन मूर्खता का स्मारक' बनी रहेंगी।"[1] किन्तु इस कटु आलोचना के बावजूद हेगल के महत्व और प्रभाव को न मानना भी एक मूर्खता होगी। उसके प्रभाव को समझने के लिए यहाँ उसके प्रमुख दार्शनिक और राजनीतिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त एवं सुबोध परिचय देने का प्रयत्न किया जाएगा।

हेगल के प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त—(क) विश्वात्मा (Weltgeist) **का विचार**—हेगल शंकराचार्य की भाँति विशुद्ध अद्वैतवादी विचारक है। इस जगत् में दिखाई देने वाली जड़ एवं चेतन सभी प्रकार की वस्तुएँ और सत्ताएँ इस समूचे जगत् में ओतप्रोत एवं इसके मूल कारण—विश्वात्मा (World Spirit) का प्रपंच अथवा विस्तार हैं। जिस प्रकार भारतीय वेदान्त दर्शन में यह माना जाता है कि यह दृश्यमान जगत् ब्रह्म का विवर्त है, इसकी सब वस्तुएँ ब्रह्म से ही विकसित होती हैं, उसी प्रकार हेगल यह मानता है कि जगत् की सभी वस्तुएँ इस विश्वात्मा से प्रादुर्भूत हुई हैं, वह सबका आदि स्रोत है। वेदान्तियों के 'तत्वमसि' तथा 'अयमात्मा ब्रह्म' के महावाक्यों जैसा हेगल का महावाक्य या दार्शनिक सूत्र है—"जो कुछ वास्तविक या तात्विक है वह बुद्धिमय है और जो कुछ बुद्धिमय या बुद्धिगम्य है वह वास्तविक है (The real is rational and the rational is real)। इसका यह तात्पर्य है कि अनुभव जगत् के समग्र क्षेत्रों में बुद्धि एवं चेतना का साम्राज्य है। उसकी दृष्टि में मानव-बुद्धि तथा विश्व-प्रक्रिया में व्याप्त बुद्धितत्व एक ही है। विश्वात्मा का यही बुद्धितत्व प्रत्येक निर्जीव पदार्थ में और सजीव प्रकृति के रूप में विकसित होता हुआ अन्त में मनुष्य के रूप में विकसित होता है। जिस प्रकार शंकर से पहले सांख्य का दर्शन द्वैतवादी था, दृश्यमान जगत् का मूल कारण द्वैतवाद अथवा प्रकृति और पुरुष की दो सत्ताएँ मानता था, उसी प्रकार हेगल से पहले के विचारक द्वैतवादी थे, वे जड़ प्रकृति (Matter) और मन (Mind) की दो सत्ताएँ स्वीकार करते थे। काण्ट ने द्वैतवाद को स्वीकार करते हुए कहा था—केवल दृश्य जगत् (Phenomenal World) ही बुद्धिगम्य है, किन्तु इसके मूल में जो मूल वस्तु तत्व (Thing in itself) है उसे हम नहीं जान सकते, हमें इसका आभासमात्र ही व्यावहारिक बुद्धि से मिलता है। हेगल ने इसका खण्डन करते हुए कहा कि मूल वस्तु को अज्ञेय कहना ही यह सूचित करता है कि हम उसके बारे में कुछ जानते हैं, जब हम उसके बारे में कुछ जानते हैं तो उसे अज्ञेय नहीं कहा जा सकता। जड़ और चेतन में अथवा आत्मा और प्रकृति में भेद मानना ठीक नहीं है। ये सब विश्वात्मा के विभिन्न रूप हैं। वस्तुतः इस विश्व में जितनी भी वस्तुएँ हैं वे सब विश्वात्मा के विशाल विस्तार में समा जाती हैं, वे उसी के विभिन्न अंश या अंग हैं, इनमें किसी प्रकार की पृथक्ता, भेद या द्वित्व नहीं है। यह सारा विश्व एक ही समष्टि (Whole) है, इसकी सभी वस्तुओं में विश्वात्मा

१. बर्ट्रेण्ड रसेल ने लिखा है—"दर्शनशास्त्र के समूचे साहित्य में हेगल की रचनाएँ सबसे अधिक क्लिष्ट हैं।"—विज़डम आफ दी वैस्ट, पृ० २४६

ओतप्रोत है। इस विश्वात्मा (Weltgeist) को हेगल ने पूर्ण विचार (Absolute Idea), आत्मा (Spirit), विवेक (Reason) अथवा दिव्य मन (Divine Mind) भी कहा है।

विश्व की वास्तविक एवं मूल सत्ता मानी जाने वाली इस विश्वात्मा का विकास इस विश्व में विभिन्न रूपों में दिखाई देता है। सबसे निचले स्तर पर भौतिक अथवा जड़ जगत् है, रसायनशास्त्र और भौतिक विज्ञान में इसका अध्ययन किया जाता है। हमें यह जड़ जगत् वास्तविक प्रतीत होता है, किन्तु यह भी विश्वात्मा का एक रूप है और इसमें भावी विकास की शक्ति छिपी हुई है, यह इसे विकास के लिए बाधित करती है और विश्वात्मा जड़ जगत् से अगली दशा में—वनस्पतियों और प्राणियों के रूप में प्रकट होती है। यह अपना उच्चतम रूप मनुष्य में प्राप्त करती है, क्योंकि इसमें चेतन आत्मा पाई जाती है। किन्तु फिर भी विश्वात्मा का विकास रुकता नहीं है, अपितु अविराम गति से निरन्तर आगे बढ़ता चला जाता है। विभिन्न प्रकार की सामाजिक संस्थाएँ इसके बाह्य विकास (Objective Evolution) के विभिन्न स्तर हैं। इनमें राज्य सबसे ऊँचा स्थान रखता है, क्योंकि यह अन्य सभी संस्थाओं का नियन्त्रण एवं रक्षा करने वाला है। इसीलिए हेगल राज्य को विश्वात्मा का पार्थिव रूप अथवा भूमण्डल पर विद्यमान भगवान् (God on Earth) मानता है। सभी नैतिक नियम और कानून राज्य के अन्तर्गत हैं, राज्य इन सबसे ऊपर है और राज्य से ऊपर कोई संगठन नहीं है, अतः राज्य सर्वथा स्वतन्त्र और स्वयमेव अपना नियन्त्रण करने वाला है, उसके कार्यों को सामान्य :नैतिकता के नपैने या कसौटी से नहीं आँका जा सकता। इसका एक सुन्दर उदाहरण यह है कि सामान्य रूप से मनुष्य की हत्या करना जघन्य नैतिक अपराध है, किन्तु राज्य द्वारा युद्ध में बड़े पैमाने पर किया जाने वाला हजारों व्यक्तियों का वध नैतिक दृष्टि से अपराध नहीं माना जाता है।

हेगल के विश्वात्मा की विशेषताएँ वेदान्त के ब्रह्म से बहुत-कुछ मिलती हैं। यह शाश्वत—भूत, वर्तमान और भविष्य के तीनों कालों में बनी रहने वाली, जगत् की सब वस्तुओं को अपने में ओतप्रोत करने वाली स्वतः पूर्ण सत्ता है। इसकी एक बड़ी विशेषता सतत क्रियाशील और गतिशील (dynamic) बने रहना है, इससे संसार में निरन्तर परिवर्तन आते रहते हैं और दृश्यमान जगत् के विभिन्न रूपों का विकास होता रहता है।[1] हेगल ने इस विश्वात्मा के विकास की एक विशेष पद्धति बताई है।

---

१. इस प्रसंग में हेगल के विचारों की तुलना भारतीय दर्शन के विचारों से करना समीचीन प्रतीत होता है। हेगल नवीन वेदान्तियों की भाँति इस दृश्यमान जगत् का अन्तिम तथा मूल कारण एक चेतन सत्ता—विश्वात्मा को मानता है, इसे वेदान्तियों का ब्रह्म समझा जा सकता है। वेदान्ती यह मानते हैं कि यह संसार ब्रह्म द्वारा किया गया प्रपंच या विस्तार है। मुण्डकोपनिषद् (१।१।७) में कहा गया है—'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' अर्थात् मकड़ी जैसे अपने में से ही तन्तु निकालकर जाला बनाती और उसमें खेलती है, और बाहर से कुछ वस्तु नहीं लेती है, इसी प्रकार ब्रह्म अपने में से जगत् को बनाकर उसमें क्रीड़ा करता है। हेगल भी जगत् को विश्वात्मा द्वारा अपने में से किया जाने वाला विस्तार समझता है किन्तु वेदान्त के ब्रह्म तथा उसकी विश्वात्मा में एक बड़ा भेद है। ब्रह्म से सृष्टि

इसे द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया (Dialectic Process) का नाम दिया जाता है। यह हेगल का प्रमुख सिद्धान्त है।

(ख) **द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया** (Dialectic Process)—**इसका प्राचीन रूप**—हेगल ने विश्वात्मा के विकास एवं प्रगति को सूचित करने वाली पद्धति को द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का नाम दिया है। उसने यह शब्द प्राचीन यूनानी भाषा से ग्रहण किया है, किन्तु इसका प्रयोग बहुत भिन्न अर्थ में किया है। यूनानी भाषा का 'डायलैक्टिक' (Dialectic) शब्द वस्तुतः 'डायलेगो' (Dialego) से निकला है, 'डायलेगो' का अर्थ है—वादविवाद या तर्क-वितर्क करना। प्राचीन यूनान में वादविवाद द्वारा सत्य का अन्वेषण करने की प्रवृत्ति बहुत प्रचलित थी। सुकरात इस पद्धति का परम भक्त था और अत्यधिक प्रयोग किया करता था। इस पद्धति के अनुसार वह अपने प्रतिवादी या विरोधी द्वारा प्रस्तुत किए गए तर्कों और युक्तियों में विरोधों (contradictions) और असगतियों को बताकर तथा इनका समाधान करके अन्तिम 'सत्य' तक पहुँचने का प्रयास किया करता था। उदाहरणार्थ, सुकरात किसी व्यक्ति से यह पूछता था कि वह न्याय का क्या अर्थ समझता है। वह जब अपनी समझ के अनुसार इसका कोई लक्षण करता था तो सुकरात इसमें असंगतियाँ और विरोध दिखाते हुए न्याय के वास्तविक अर्थ तक पहुँचने का प्रयत्न किया करता था।[1] उस समय विद्वानों का यह विश्वास था कि इस प्रकार वादविवाद द्वारा तथा विपरीत मतों में होने वाले संघर्ष द्वारा हम सत्य तक पहुँच सकते हैं। भारतीय दर्शन में भी पूर्व पक्ष, उत्तर पक्ष तथा सिद्धान्त पक्ष के रूप में यह विधि अपनायी जाती थी और यह कहा जाता था कि इस प्रकार वादविवाद करने से ही वास्तविक सत्य या तत्व का ज्ञान होता है (वादे वादे जायते तत्वबोधः)।

माया अथवा अज्ञान का परिणाम है, उसका अन्तिम रूप अपने-आपसे कूटस्थ या निश्चल होना है। इस प्रकार वेदान्त का ब्रह्म निष्क्रिय (static) या जड़ है। किन्तु हेगल की विश्वात्मा अनन्त शक्ति का रूप है, वह सदैव सक्रिय और गतिशील (dynamic) बनी रहती है। हेगल आध्यात्मिक जगत् में विश्वात्मा के विकास का चरम रूप मनुष्य को मानता है और यह कहता है कि इससे ऊंचा कोई विकास नहीं हो सकता है। किन्तु सुप्रसिद्ध भारतीय महायोगी और दार्शनिक श्री अरविन्द ने अपनी अनुभूतियों के आधार पर प्रतिपादित किया है कि मनुष्य से भी एक अधिक ऊँचा विकास अतिमानस सत्ताओं (supramental beings) के रूप में होगा, "सिद्धि की अन्तिम दशा अतिमानसिक परिवर्तन है और यह सम्भव नहीं है कि यह परिवर्तन शीघ्र ही घटित हो" (ऑन योग, प्रथम खण्ड, पृ० २०, पाण्डिचेरी, १९५८)। मन से ऊपर की स्थिति होने के कारण हम इसके बारे में बहुत-कुछ नहीं जान सकते, यह आनन्दरूपा स्थिति अनुभूति की वस्तु है, फिर भी इसके सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि अतिमानस सत्ता के शरीर सूक्ष्म होंगे, इनकी भौतिक देह आध्यात्मिक बन जाएगी, अतः ऐसी सत्ताएँ मृत्यु के भय से मुक्त और अमर होंगी।

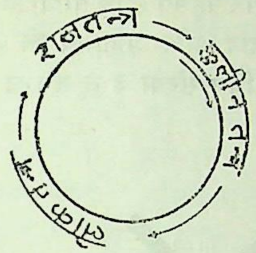
१. इसका सुन्दर दृष्टान्त प्लेटो की 'रिपब्लिक' के आरम्भ में न्याय के स्वरूप के सम्बन्ध में किया जाने वाला विचार है। इसके लिए देखिए : हरिदत्त वेदालंकार—पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० ८५-८६।

किन्तु हेगल ने डायलैक्टिक का प्रयोग सुकरात द्वारा प्रदर्शित वादविवाद की प्रक्रिया में नहीं, अपितु पिछले यूनानी विचारकों द्वारा प्रतिपादित एक त्रैतवादी प्रक्रिया के अर्थ में किया। यूनानियों का यह विचार था कि प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है, हर वस्तु अति मात्रा में पहुँचकर स्वयमेव अपनी विरोधी वस्तु को उत्पन्न करती है। उदाहरणार्थ, राजतन्त्र (Monarchy) को ही लीजिए। यह जब अपने उग्रतम रूप निरंकुश शासन (Despotism) के रूप में पहुँचता है तो इसके विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया होकर लोकतन्त्र की स्थापना होती है। इसी प्रकार लोकतन्त्र जब अपने उग्रतम रूप— भीड़ द्वारा शासन के रूप में पहुँचता है तो इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया होती है और एक अधिनायक का निरंकुश शासन स्थापित होता है। कुछ परवर्ती यूनानी विचारक इसे दोहरी प्रक्रिया के स्थान पर तिहरी या **त्रैतवादी** (Triadic) प्रक्रिया मानते थे। उनका यह कहना था कि राजतन्त्र पहले कुलीनतन्त्र में तथा इसके बाद लोकतन्त्र में परिवर्तित हो जाता था। लोकतन्त्र पहले अधिनायकतन्त्र में तथा बाद में यह अधिनायकतन्त्र राजतन्त्र में बदल जाता था।

हेगल की पद्धति का स्वरूप—हेगल ने यूनानियों से त्रैतवादी विकास की प्रक्रिया का विचार ग्रहण करते हुए इसमें कई मौलिक परिवर्तन किए : पहला परिवर्तन यह था कि उसने इसे विश्व की सार्वभौम और सर्वव्यापक प्रक्रिया बताते हुए इसे जीवन के सभी क्षेत्रों में लागू किया, जबकि यूनानी इसे केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही लागू करते थे। दूसरा परिवर्तन यह था कि उसने इसके तीन तत्वों को नया नाम देते हुए इनके निरन्तर विकास पर बल दिया। हेगल के त्रैत के तीन तत्व—वाद (Thesis), प्रतिवाद (Antithesis) और संवाद (Synthesis) थे। उसका यह कहना था कि प्रत्येक विचार और घटना दो विरोधी विचारों—वाद और प्रतिवाद के संघर्ष से उत्पन्न होती है। वाद और प्रतिवाद की सचाइयों को ग्रहण करके इसका एक नवीन समन्वय होता है, यह समन्वय नया वाद बन जाता है, फिर इसका विरोधी प्रतिवाद उत्पन्न होता है। इसके बाद इन दोनों के विरोध के समाधान से नया समन्वय पैदा होता है, किन्तु आगे चलकर यही वाद (Thesis) बन जाता है। इस प्रकार प्रत्येक समन्वय (Synthesis) या समाधान अस्थायी है, क्योंकि जब इसमें माने जाने वाले सिद्धान्त पर बल दिया जाता है तो इसका विरोध (Antithesis) होता है, इस कारण इन दोनों का सामंजस्य स्थापित करने की आवश्यकता होती है, इस प्रकार वाद, प्रतिवाद और संवाद की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।

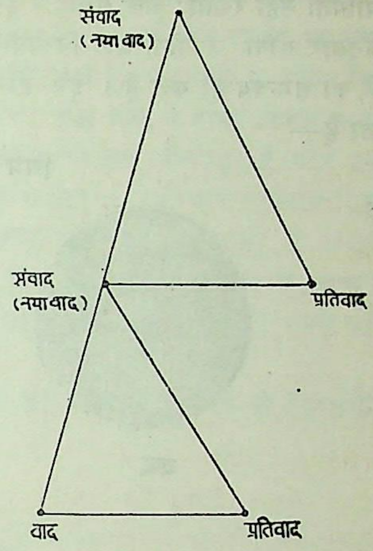
यूनानी प्रक्रिया में तथा हेगल की प्रक्रिया में एक बड़ा अन्तर यह है कि यूनानी विचारकों की प्रक्रिया वृत्तात्मक थी और हेगल की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया सदैव ऊपर की ओर चढ़ने वाली तथा आगे बढ़ने वाली प्रक्रिया है। अगले पृष्ठ के चित्रों से यह स्पष्ट हो जाएगा—

यूनानी द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया



चित्र संख्या - १

हेगल की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया



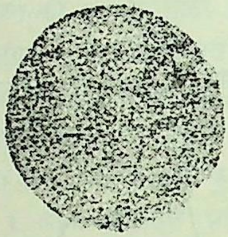
चित्र संख्या - 2

चित्र संख्या १ तथा २ की तुलना करने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि यूनानी प्रक्रिया तो एक वृत्त में ही चक्कर काटती रहती है, किन्तु हेगल की प्रक्रिया सदैव ऊपर की ओर, उच्चतर विकास की ओर अग्रसर होने वाली है। इसमें प्रत्येक वाद-प्रतिवाद-संवाद का त्रैत क्रमशः ऊपर चढ़ने वाली सीढ़ी का एक डण्डा है, हम इन पर पैर रखते हुए सत्यान्वेषण के तथा विकास के ऊँचे स्तरों पर चढ़ते चले जाते हैं। प्रत्येक संवाद नए उच्चतर नवीन त्रैत का वाद बन जाता है, इसका प्रतिवाद होकर फिर एक अन्य उच्चतर नवीन संवाद प्रकट होता है, यह एक अन्य त्रैत का वाद बनता है; यह क्रम अखण्ड रूप से चलता रहता है। इस प्रकार विकास की प्रक्रिया सरल या सीधी रेखा में नहीं होती, यह पहले आगे बढ़ती है, फिर कुछ पीछे हटती है, पुनः आगे बढ़ती है; किन्तु आगे बढ़ने और पीछे हटकर आगे बढ़ने में हम उस स्थान पर कभी नहीं आते जहाँ से हम चले थे, किन्तु हम सदैव उससे अधिक ऊँचे स्थान पर ही रहते हैं, जैसा कि ऊपर के चित्रों से स्पष्ट है।

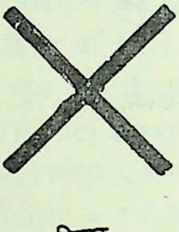
हेगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति को हम एक अन्य उदाहरण तथा चित्र से भली-भाँति समझ सकते हैं। कोई व्यक्ति वाद के रूप में यह मत उपस्थित करता है कि सोना उपयोगी है, दूसरा व्यक्ति प्रतिवाद (Antithesis) के रूप में यह कह सकता है कि सोना उपयोगी नहीं है। तीसरा व्यक्ति इन दोनों का समन्वय करते हुए यह संवाद (Synthesis) प्रस्तुत कर सकता है कि सोने की उपयोगिता परिस्थितियों पर निर्भर है; कुछ परिस्थितियों में यह उपयोगी होता है जैसे दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता आदि महानगरों में आप इसे बेचकर इससे अपनी आवश्यकताएँ पूरी कर सकते हैं; अतः सोना उपयोगी है। किन्तु राजस्थान के मरुस्थल में यदि आप प्यास से तड़प रहे हैं

और सोने के बदले में पानी नहीं प्राप्त कर सकते हैं तो सोना आपके लिए कोई उपयोगिता नहीं रखता; अतः संवाद में हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि परिस्थितियों के अनुसार सोना उपयोगी और निरुपयोगी है, इसमें वाद और प्रतिवाद की दोनों बातों का समन्वय हो गया है। इसे तीन वृत्तों वाले चित्र संख्या ३ से समझा जा सकता है—

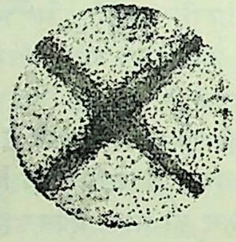
चित्र संख्या ३



वाद



प्रतिवाद



संवाद

इसके पहले वृत्त में वाद का प्रतिपादन है, दूसरे में इसके विरोध प्रतिवाद को दिखाया गया है, तीसरे वृत्त में यह बताया गया है कि संवाद में वाद और प्रतिवाद का समन्वय किस प्रकार होता है।

द्वन्द्वात्मक विकास के उदाहरण—हेगल के अनुसार जड़ और चेतन जगत् में, हमारी सामाजिक संस्थाओं में और विचार के क्षेत्र में तथा अन्य सभी क्षेत्रों में विकास की यह प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है। उसकी एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लागू होने वाली इस प्रक्रिया को बड़े विस्तृत एवं अद्भुत ढंग से प्रतिपादित किया है। यहाँ कुछ उदाहरणों से इसे स्पष्ट किया जाएगा।

वनस्पतिजगत् में इसे बीज के तथा प्राणिजगत् में अण्डे के उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है: गेहूँ के एक दाने को खेत में बोना वाद (Thesis) हुआ, धरती में इस दाने का रूपान्तर होकर अंकुर बनना प्रतिवाद (Antithesis) हुआ, प्रतिवाद में वाद का विरोध इस रूप में है कि अब उसका दाने के रूप में अस्तित्व नहीं रहा। पौधे के रूप में विकसित होने की तीसरी दशा संवाद (Synthesis) हुई। इसमें वाद और प्रतिवाद के आवश्यक तत्वों ने मिलकर एक नई स्थिति का निर्माण किया। किन्तु यह पहली दोनों दशाओं से अधिक उत्कृष्ट थी, जहाँ पहले की स्थिति 'वाद' में

गेहूँ का एक दाना था, संवाद की तीसरी दशा में उससे बीसियों दाने उत्पन्न हो गए। इसी प्रकार ग्रण्डे में वाद उसका वीर्याणु (Germ) है; प्रतिवाद उसका रज:कण है, वीर्य तथा रज के संयोग से उसमें जीव उत्पन्न होता है, यह ग्रण्डे के भीतर निहित ग्राहार को लेकर पुष्ट होता है तथा समय पाकर चूज़ा ग्रण्डे से बाहर निकल ग्राता है, यही संवाद है। इसमें वाद (वीर्य) तथा प्रतिवाद (रज:कण) मिले हुए हैं, ग्रौर उन्होंने मिलकर दोनों से ग्रधिक उत्कृष्ट रूप को उत्पन्न किया। यही बात मानवीय शिशु के सम्बन्ध में कही जा सकती है, यह वीर्य (वाद) ग्रौर रज (प्रतिवाद) के संयोग से गर्भाशय में विकसित होकर नौ मास बाद शिशु का रूप (संवाद) धारण करता है। यह संवाद वाद एवं प्रतिवाद के मूल तत्वों को सुरक्षित रखते हुए भी उनसे ग्रधिक उत्कृष्ट है।

हेगल ने तर्क, प्रकृति ग्रौर ग्रात्मा के क्षेत्र में इसके विकास को निम्नलिखित त्रैतों (Triads) के रूप में स्पष्ट किया है—

तर्क (Logic)	सत्ता (Being) सार (Essence) विचार (Notion)
प्रकृति (Nature)	यन्त्रविज्ञान (Mechanics) भौतिकविज्ञान (Physics) प्राणिशास्त्र (Organics)
ग्रात्मा	ग्रन्तरात्मा (Subjective Spirit) बाह्यात्मा (Objective Spirit) निरपेक्षात्मा (Absolute Spirit)

तर्क या विचार के क्षेत्र में जब हम चिन्तन करना ग्रारम्भ करते हैं तो हमें सर्वप्रथम केवल वस्तुग्रों की सत्ता (Being) का ही बोध होता है, किन्तु जब यह चिन्तन की प्रक्रिया ग्रागे बढ़ती है तो हमें वस्तुग्रों के सार (Essence) का ग्राभास मिलता है, इसके पश्चात् इस क्षेत्र में ग्रागे बढ़ने पर हमें उन वस्तुग्रों के बारे में ग्रधिक विचार मिलने लगते हैं। प्रकृति के क्षेत्र में भी यही त्रैतवादी प्रक्रिया दृष्टि-गोचर होती है। प्रकृति चिन्तन का विलोम या प्रतिवाद है क्योंकि चिन्तन ग्रान्तरिक (Subjective) है ग्रौर प्रकृति बाह्य (Objective); चिन्तन चेतन है, प्रकृति जड़। प्रकृति में हमें सबसे पहले स्थूल बातों का—वस्तुग्रों की एक-दूसरे से दूरी, निकटता तथा इनसे देश-काल (Space and Time) के यान्त्रिक सम्बन्धों (mechanical relations) का ज्ञान होता है। इसके बाद हम प्रकृति की सूक्ष्म भौतिक शक्तियों—ताप, ध्वनि, प्रकाश ग्रादि—का ज्ञान प्राप्त करते हैं ग्रौर इसके बाद पेड़-पौधों जैसी जैव ग्रथवा सावयव (Organic) सृष्टि का। जड़ प्रकृति के बाद हम ग्रात्मा के क्षेत्र में पहुँचते हैं। ग्रात्मा के विकास की भी तीन दशाएँ हैं : सर्वप्रथम ग्रात्मा का स्वगत रूप (Subjective) है, इसमें यह ग्रपने तक ही सीमित है; इसके बाद दूसरे रूप में यह बहिर्मुख होकर बाह्य जगत् के नियमों ग्रौर संस्थाग्रों के रूप में ग्रभिव्यक्त होती है। यह इसकी बाह्यात्मा (Objective Spirit) है। ग्रन्तरात्मा (Subjective Spirit)

का अध्ययन मानवशास्त्र तथा मनोविज्ञान द्वारा किया जाता है तथा बाह्यात्मा का आचारशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और विधिशास्त्र द्वारा। आत्मा का तीसरा सर्वोच्च रूप पूर्ण या निरपेक्ष आत्मा (Absolute Spirit) है, इसका अध्ययन कला, धर्म और दर्शन द्वारा किया जाता है।

राज्य बाह्यात्मा के विकास की अन्तिम कड़ी है। आत्मा अपने मानसिक जगत् से निकलकर बाह्य जगत् के विभिन्न नियमों तथा संस्थाओं के रूप में प्रकट होती हुई अन्त में राज्य के रूप में विकसित होती है। पहले यह बताया जा चुका है कि हेगल आत्मा से भिन्न बाह्य, दृश्यमान जड़ जगत् की कोई स्वतन्त्र सत्ता न मानते हुए इसे चेतन विश्वात्मा द्वारा अपने में से ही किया गया प्रपंच या विस्तार मानता है, अतः उसके अनुसार सामाजिक संस्थाएँ आत्मा का ही बाह्य रूप या प्रक्षेपण मात्र है, आत्मा ने इन वस्तुओं में प्रविष्ट होकर अनेक प्रकार के मूर्तिमान् रूप धारण किए हैं। हेगल के मतानुसार बाह्य आत्मा के विभिन्न रूपों का विकास निम्नलिखित त्रैतवादी क्रम से होता है—

१. सूक्ष्म अधिकार या कानून (Abstract Law or Right	सम्पत्ति (Property) अनुबन्ध (Contract) अपराध (Wrong)
२. आन्तरिक नैतिकता (Subjective Morality)	अभिप्राय (Purpose) निश्चय (Intention) अच्छाई और बुराई (Goodness or Wickedness)
३. सामाजिक नैतिकता (Social Ethics)	परिवार (Family) सुव्यवस्थित समाज (Civil Society) राज्य (State)

बाह्यात्मा का पहला रूप सूक्ष्म अधिकार है, इसका अभिप्राय केवल इतनी ही भावना से है कि मैं हूँ। ममत्व की इस भावना का संयोग जब बाह्य जगत् की वस्तुओं—जमीन-जायदाद, रुपये-पैसे—से होता है तो समाज में सम्पत्ति का प्रादुर्भाव होता है। व्यक्ति अपने से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं को अपनी सम्पत्ति समझने लगता है। इससे अनुबन्ध (Contract) का विचार उत्पन्न होता है, क्योंकि 'मैं अपनी भूमि, बगीचे आदि को ठेके पर उठा सकता हूँ, निश्चित शर्तों पर आमदनी प्राप्त करने के लिए उन्हें किसी दूसरे व्यक्ति को दे सकता हूँ'—यही अनुबन्ध है, यह वाद अर्थात् ममत्व की भावना वाली सम्पत्ति का विलोम या प्रतिवाद है, क्योंकि 'मैं अपनी सम्पत्ति दूसरे को देता हूँ'। किन्तु इसकी भी विरोधी दशा उस समय पैदा होती है जब हम अनुबन्ध द्वारा स्वीकार की गई व्यवस्था को अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए तोड़ देते हैं, इसे भंग करना ही अपराध (Wrong) है।

किन्तु अनुबन्ध आदि के कानून बाह्य नियम हैं। इनमें आन्तरिक विरोध उत्पन्न होने पर यह समस्या उठ खड़ी होती है कि विरोध की दशा में किस नियम का पालन होना चाहिए। यह 'चाहिए' का विचार नैतिकता (Morality) का क्षेत्र है।

नैतिकता आन्तरिक होती है, क्योंकि इसमें अपने कर्त्तव्य का निश्चय मन से किया जाता है। इसमें सबसे पहले हम अपना अभिप्राय देखते हैं, अभिप्राय के आधार पर निश्चय होता है तथा कार्यों की अच्छाई और बुराई का निर्धारण किया जाता है।

किन्तु मन के आधार पर आश्रित आन्तरिक नैतिकता एकांगी होती है, क्योंकि इसका किसी बाह्य आदर्श या नियम से कोई नियन्त्रण नहीं होता, अतः इसके उच्छृंखल होने का भय बना रहता है। आन्तरिक नैतिकता की इस कमी को दूर करने के लिए सामाजिक आचार या नैतिकता के क्षेत्र में नई संस्थाओं का विकास होता है। इन संस्थाओं में पहली संस्था परिवार (Family) है। इसका मौलिक तत्व स्नेह या प्रेम है। प्रेम का तात्पर्य है एकत्व की भावना का अनुभव करना। पति-पत्नी और बच्चे प्रेम के वशीभूत होकर एकत्व का अनुभव करते हैं, उनके हित परस्पर-विरोधी नहीं होते हैं। अतः परिवार में समूची आय और सम्पत्ति का सब प्राणी मिलकर उपभोग करते हैं, यह सम्भव है कि परिवार का कोई सदस्य अधिक उपार्जन करे और कोई कम उपार्जन करे और कोई बिलकुल उपार्जन न करे। किन्तु इस कारण परिवार में सदस्यों द्वारा सम्पत्ति के उपभोग में कोई भेदभाव नहीं रखा जाता, अपितु बच्चे, बीमार और वृद्धों जैसे सर्वथा अनुत्पादक सदस्यों को भी परिवार में सबसे अधिक आराम से रखा जाता है। किन्तु परिवार की यह व्यवस्था व्यक्ति के विकास में बाधक हो जाती है।[1] कोई व्यक्ति यदि परिवार पर आश्रित रहने का आदी हो जाए तो उसकी शक्तियों का विकास अवरुद्ध हो जाएगा। अतः परिवार के बाद व्यक्ति की शक्तियों के विकास की दृष्टि से व्यवस्थित समाज (Civil Society) की व्यवस्था का अभ्युत्थान होता है, इसमें सब व्यक्तियों में प्रबल संघर्ष चलता है, इससे व्यक्तियों को अपने पैरों पर खड़ा होना पड़ता है और उनमें पुरुषार्थ, पराक्रम, मितव्यय, दूरदर्शिता, बुद्धिमत्ता, चतुराई आदि के नाना गुणों का विकास होता है। इस प्रकार व्यवस्थित समाज परिवार का प्रतिवाद या विरोधी स्थिति है।

किन्तु सुव्यवस्थित समाज में भी कई दोष हैं : यदि समाज में सब व्यक्तियों को मनमानी स्वतन्त्रता करने का अवसर दिया जाए तो समाज में उच्छृंखलता और अराजकता छा जाएगी, शक्तिशाली निर्बलों के अधिकारों का अपहरण करने लगेंगे, बड़ी मछली छोटी मछली को निगलने लगेगी, 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का नियम प्रचलित हो जाएगा। अतः अराजकता और मात्स्य न्याय की इस दशा को रोकने के लिए, संघर्ष को मर्यादित करने के लिए समाज में राज्य का प्रादुर्भाव होता है। राज्य परिवार और व्यवस्थित समाज में समन्वय और सामंजस्य स्थापित करने के कारण संवाद की तीसरी स्थिति को सूचित करता है, इसमें वाद-प्रतिवाद के गुण हैं तथा इन दोनों के दोषों का निस्सारण भी है, वह व्यक्तियों को पारस्परिक संघर्ष करके उनके गुणों के विकास का अवसर भी देता है तथा अमर्यादित संघर्ष से होने वाले दुष्परिणामों से निर्बल व्यक्तियों की रक्षा भी करता है। इस प्रकार बाह्यात्मा के संस्थात्मक विकास की चरम परिणति राज्य के रूप में होती है।

---

१. हरिदत्त वेदालंकार—हिन्दू परिवार मीमांसा, द्वितीय संस्करण, पृ० ६१-६२

धर्म के क्षेत्र में हेगल द्वारा माने गए विकास का क्रम निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होगा—

१. प्राकृतिक धर्म (Natural Religion)
- (क) प्रकाश पर बल देने वाला धर्म (जरथुस्त्री धर्म)
- (ख) पेड़-पौधों तथा पशुओं का पूजक धर्म (हिन्दू धर्म)
- (ग) कारीगरों (Artificer) का धर्म (मिश्री धर्म)

२. कलात्मक धर्म (Religion of Art)
- (क) सूक्ष्म कलापूजक धर्म (धार्मिक गीत तथा मूर्तिकला)
- (ख) कला के सजीव रूप की उपासना (Athletes)
- (ग) आध्यात्मिक (Spiritual) कलाकृतियों की पूजा (जैसे महाकाव्य, दुःखान्त तथा हास्यरस की कविता)

३. भगवान् द्वारा दिए गए इलहाम से प्राप्त होने वाला (Revealed) धर्म जैसे ईसाइयत।[1]

विशेषताएँ—हेगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति की कई **विशेषताएँ** उल्लेखनीय हैं: **पहली विशेषता** इसका स्वतःप्रेरित (self-propelling) होते हुए निरन्तर अग्रसर होते रहना है। इसे आगे बढ़ने के लिए किसी दूसरी शक्ति से प्रेरणा ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु यह विश्वात्मा में स्वयमेव निहित है और इससे प्रेरणा लेते हुए यह अग्रसर होती रहती है। वस्तुतः आत्मा स्वयं अपनी अन्तःविरोधी प्रवृत्ति से संघर्ष करती है। किन्तु यह प्रश्न हो सकता है कि यह संघर्ष आत्मप्रेरित होने पर निरन्तर क्यों चलता रहता है? इसका उत्तर हेगल के मतानुसार यह है कि आत्मा अपने आदर्शों की प्राप्ति के लिए आगे बढ़ने का यत्न करती है और विरोधी प्रवृत्ति इस प्रगति को रोकने का प्रयास करती है, यह प्रतिवाद (Antithesis) की दशा होती है, इसमें दोनों प्रवृत्तियों का संघर्ष होता है और इस संघर्ष के समन्वय से संवाद की तीसरी दशा पैदा होती है, इसमें वाद और प्रतिवाद की विशेषताओं का समन्वय होता है, किन्तु कालान्तर में यही वाद बनकर अपना प्रतिवाद उत्पन्न करता है। इस प्रकार प्रत्येक वाद में प्रतिवाद को पैदा करने की शक्ति निहित है और इसी कारण यह संघर्ष शाश्वत रूप से चलता है।[2] इसी बात को दूसरे शब्दों में **ऐतिहासिक आवश्यकता** (Historical Necessity) भी कहा जाता है। इसका यह तात्पर्य है कि वाद-प्रतिवाद-संवाद का स्वरूप ही ऐसा है कि संवाद नया वाद बनकर प्रतिवाद को पैदा करने के लिए बाधित होता है। परिवार से व्यवस्थित समाज का तथा व्यवस्थित समाज से राज्य का विकास होना अवश्यम्भावी है, यह हो ही नहीं सकता कि परिवार से

---

१. विभिन्न क्षेत्रों में द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा त्रित्वात्मक विकास के लिए हेगल द्वारा मानी अवस्थाओं के परिचय के लिए देखिए : जॉन नीमेयर फिण्डले—हेगल, ए रिएक्ज़ामिनेशन, कोलियर बुक्स संस्करण, न्यूयार्क, १९६२, पृ० ३६१—७३।

२. भारतीय साहित्य में देवासुर संग्राम का वर्णन है, इसे आध्यात्मिक रूप से मनुष्य की उत्कृष्ट एवं दैवी प्रवृत्तियों के साथ निकृष्ट अथवा आसुरी प्रवृत्तियों का संघर्ष समझा जाता है। यह संघर्ष भी हेगल के द्वन्द्वात्मक संघर्ष की भाँति शाश्वत है। किन्तु दोनों में यह अन्तर है कि यह केवल द्वित्वात्मक (Dual) संघर्ष है, किन्तु हेगल का संघर्ष त्रित्वात्मक (Triple) है।

व्यवस्थित समाज (Civil Society) तथा इससे राज्य उत्पन्न न हो। ऐतिहासिक आवश्यकता का एक सुन्दर उदाहरण हेगल का जर्मनी के सम्बन्ध में एक विशेष विश्वास था। आगे इतिहास के दर्शन में इसका विस्तृत प्रतिपादन किया जाएगा। यहाँ इतना ही उल्लेख करना पर्याप्त है कि उसके अनुसार उस समय अनेक छोटी रियासतों में विभक्त जर्मनी का एक राज्य बनना अवश्यम्भावी था क्योंकि सभ्यता की उन्नति और राष्ट्रीय जीवन की परिस्थितियाँ उसे ऐसा बनने के लिए बाधित कर रही थीं। अतः जर्मनी का सुदृढ़ राज्य बनना उसकी ऐतिहासिक आवश्यकता थी।

दूसरी विशेषता द्वन्द्वात्मक पद्धति से विश्व में व्यवस्थित प्रगति का होना है। **प्रगति** (Progress) **के विचार** का योरोप में प्रतिपादन सर्वप्रथम बोदँ (Bodin) नामक फ्रेंच विचारक ने किया था। उसका यह मत था कि मनुष्य का इतिहास निरन्तर प्रगति का, आगे बढ़ने और उन्नति करने का इतिहास है। उससे पहले मध्यकाल में चर्च यह मानता था कि आदम और हव्वा के स्वर्ग से बहिष्कार के बाद मनुष्य पतन की ओर जा रहा है। इसके विपरीत बोदँ ने तथा उसके बाद अठारहवीं शताब्दी में तूर्जो (Turgot) और कान्दोर्से (Condorcet) आदि फ्रेंच विद्वानों ने और काण्ट ने प्रगति के सिद्धान्त का समर्थन किया। इस सिद्धान्त के अनुसार विश्व में इसकी सब गतिविधियों पर नियन्त्रण करने वाली तथा इसे एक विशिष्ट उन्नति की दिशा में ले जाने वाली एक विशेष शक्ति है। इस शक्ति को ईश्वर, प्रकृति, विधाता (Providence) आदि के अनेक नामों से कहा जाता है। यह शक्ति इस बात की व्यवस्था करती है कि सब व्यक्तियों की शक्तियों का शनैः-शनैः विकास हो तथा मानव-जाति उच्च दशा से उच्चतर और उच्चतम दशा को प्राप्त करे। मनुष्य का पिछला इतिहास इस बात का साक्षी है, पहले आदिम मनुष्य पशु-तुल्य जीवन बिताता था, वह उग्र मनोवेगों, भावनाओं और इच्छाओं के वशीभूत होकर कार्य करता था, उसमें बुद्धि और नैतिक भावना का विकास बहुत कम हुआ था; उस समय समाज में हिंसा, हत्या और मात्स्य न्याय का साम्राज्य था। बाद में मनुष्यों में विवेक, बुद्धि और नैतिक भावना का शनैः-शनैः विकास हुआ और राज्य के रूप में मानव-समाज संगठित हुआ। मनुष्य ने धर्म एवं ललित कलाओं का विकास किया, विलक्षण वैज्ञानिक उन्नति की। हेगल ने मानव की प्रगति के इस सिद्धान्त को अपनी द्वन्द्वात्मक पद्धति से पुष्ट किया। हेगल से पहले के विचारक यह मानते थे कि मानव की यह प्रगति कुछ विशेष कारणों से ही निर्धारित होती है, अकस्मात् अथवा संयोगवश (Chance) ही नहीं होती है। उदाहरणार्थ, फ्रंच विचारक मांतेस्क्यू ने भौतिक तत्वों पर बल देते हुए यह कहा था कि यह प्रगति जलवायु अथवा भूमि से निश्चित होती है। हेगल के बाद मार्क्स ने इसे आर्थिक परिस्थितियों से निश्चित होने वाला माना था। किन्तु हेगल के मतानुसार इस प्रक्रिया को निर्धारित करने वाला तत्व विश्वात्मा का विवेक या बुद्धि (Reason) है। यह अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रयोजनों से अनेक रूप धारण करती है। किन्तु प्रयोजन पूर्ण होने पर वह इन रूपों को छोड़ देती है। उसका लक्ष्य पूर्ण आत्मोपलब्धि (Self-realization) प्राप्त करना है। यह उसे मनुष्य के रूप में प्राप्त होती है।

इसके बाद कोई नया उच्चतम विकास नहीं होता, किन्तु अन्य क्षेत्रों में द्वन्द्वात्मक पद्धति द्वारा विकास की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।

द्वन्द्वात्मक पद्धति के गुण-दोष—हेगल की इस पद्धति में निम्नलिखित कई बड़े गुण हैं : (१) यह हमें वस्तुओं के स्वरूप को यथार्थ रूप में समझने में बड़ी सहायता करती है। वस्तुतः हम प्रकाश, सुख और समृद्धि का उस समय तक यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते जब तक हमें अँधेरे, दुःख और निर्धनता का पूरा परिचय न हो। शूद्रक ने 'मृच्छकटिक' में यह सत्य ही कहा है—सुखं हिदुःखान्यनुभूय शोभते। सुख का यथार्थ अनुभव हमें दुःख पाने के बाद ही होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हम किसी वस्तु के विरोधी तत्वों को अच्छी तरह देखने के बाद ही सत्य के अधिक निकट पहुँचते हैं। यह बात सत्य है कि वास्तविक जीवन के विविध संघर्षों में समन्वय और सामंजस्य का बड़ा महत्व है तथा हेगल ने इस ओर हमारा ध्यान आकर्षित करके बड़ा उपयोगी कार्य किया है। (२) द्वन्द्वात्मक पद्धति प्रगतिविषयक पुराने सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट थी। प्राचीन सिद्धान्त के अनुसार मानव सरल रेखा में निरन्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा था। हेगल ने इसका खण्डन करते हुए कहा कि इस प्रगति में अनेक उतार-चढ़ाव आते हैं प्रगति की रेखा सरल न होकर वक्र, सर्पाकार, ऊपर-नीचे चढ़ने-उतरने वाली है, किन्तु इसकी दिशा सदैव ऊर्ध्वमुखी रहती है। (३) बर्ट्रेण्ड रसेल ने लिखा है कि हेगल ने द्वन्द्वात्मक पद्धति से मानवीय मन के कार्य करने की प्रणाली पर सुन्दर प्रकाश डाला है, क्योंकि कई बार हमारा मन इसी प्रकार के विरोधों से ही आगे बढ़ता है।[1] बौद्धिक प्रक्रियाओं के मनोविज्ञान को समझने की दृष्टि से हेगल की यह पद्धति बड़ी महत्वपूर्ण है।

किन्तु इन गुणों के साथ-साथ इस पद्धति में अनेक गम्भीर दोष भी हैं : **पहला दोष** यह है कि इसमें हेगल ने बड़े मनमाने ढंग से काम लिया है और इतनी अधिक खींचतान की है कि यह पद्धति हमें सचाई का ज्ञान कराने के स्थान पर भ्रान्तियों के जाल में उलझा देती है। हेगल को तीन की संख्या बहुत प्रिय थी, वह इसके आधार पर संसार की सभी वस्तुओं को मनमाने ढंग से तीन भागों में विभक्त करके अपनी इस पद्धति के साथ उनका जबर्दस्ती तालमेल बिठाना चाहता है।[2] उदाहरणार्थ, तीन की संख्या के प्रति अपने अगाध प्रेम के कारण वह समूचे इतिहास को तीन हिस्सों में विभक्त करता है—(१) पूर्वी जगत, (२) यूनानियों तथा रोमन लोगों की दुनिया, (३) जर्मन जगत्। इन तीन के अतिरिक्त इतिहास के रंगमंच पर वह किसी अन्य जाति के इतिहास को महत्वपूर्ण नही मानता। यह उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति के त्रित्व या त्रयी से मेल बिठाने के लिए तो ठीक है, किन्तु इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण, एकांगी और दूषित दृष्टिकोण है। **दूसरा दोष** इस पद्धति में विभिन्न वस्तुओं में विरोध की निराधार और अनावश्यक कल्पना का किया जाना है, यह सर्वथा तर्क-विरुद्ध और असंगत है। हेगल जहाँ-कहीं अस्पष्ट रूप में कोई विरोध या भिन्नता देखता है

---

१. रसेल—विज़डम आफ दा वैस्ट, पृ० २५१

२. वहा

वहाँ झटपट द्वन्द्वात्मक विरोध की कल्पना करके वाद-प्रतिवाद-संवाद के त्रित्व की कल्पना कर लेता है। उदाहरणार्थ, रसेल ने लिखा है कि दरिद्रता और सम्पन्नता दो विरोधी (contrary) नहीं, अपितु विभिन्न (different) स्थितियाँ हैं। किन्तु यह उन्हें विरोधी मान लेता है। हेगल ने अपनी '**आत्मदर्शन**' (Philosophy of Spirit) नामक पुस्तक में यह विचार प्रतिपादित किया है कि कला, धर्म और दर्शन क्रमशः वाद, प्रतिवाद और संवाद हैं, किन्तु यह सिद्ध करना बड़ा कठिन है कि कला और धर्म का विरोध है और इनके समन्वय से दर्शन उत्पन्न होता है। **तीसरा दोष** हेगल की पद्धति में वैज्ञानिक यथार्थता (scientific accuracy) का अभाव है। इसमें किसी भी स्थिति को मनमाने ढंग से वाद और किसी को प्रतिवाद मान लिया जाता है और मनमाने तर्कों से उसका पोषण किया जाता है। इस प्रकार यह पद्धति किसी भी व्यवस्था को न्यायपूर्ण एवं उत्कृष्ट बताने का साधन बन सकती है। उदाहरणार्थ, हेगल ने इस पद्धति से जर्मनी के निरंकुश राजतन्त्र को विश्व की सर्वश्रेष्ठ शासन-व्यवस्था प्रमाणित किया है। इससे किसी भी हार को जीत तथा जीत को हार सिद्ध किया जा सकता है। इस पद्धति की अवैज्ञानिकता इसी बात से स्पष्ट है कि इससे जहाँ एक ओर हेगल ने राज्य को इस भूमण्डल पर भगवान् का प्रतिनिधि सिद्ध किया, वहाँ दूसरी ओर मार्क्स ने इस पद्धति से राज्य को इसके सर्वथा विपरीत प्रबल शोषण, भीषण अन्याय और प्रचण्ड अत्याचार का साधन बताया। यह इस बात का प्रमाण है कि इससे कुछ भी सिद्ध किया जा सकता था। वेपर ने इस विषय में सत्य ही लिखा है कि "जिस प्रकार १८वीं शताब्दी में प्राकृतिक कानून (Natural Law) का सिद्धान्त इसलिए लोकप्रिय था कि इससे सब मनुष्य अपनी कल्पना के अनुसार पहले ही स्वीकार किए गए न्याय सम्बन्धी सिद्धान्तों को सत्य सिद्ध कर सकते थे, उसी प्रकार १९वीं तथा २०वीं शताब्दी में द्वन्द्वात्मक पद्धति ने विचारकों को इस बात की सुविधा प्रदान की कि वे इसके आधार पर राज्य के सम्बन्ध में मनचाहे सिद्धान्त निकाल सकें।"[1] आँकड़ों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे मोम की नाक हैं, उन्हें किसी भी तरफ मोड़कर कुछ भी सिद्ध किया जा सकता है, यही स्थिति हेगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति की है। इसके आधार पर निरंकुश राजतन्त्र और साम्यवाद जैसे विरोधी सिद्धान्तों की पुष्टि की जा सकती है। काटलिन ने इस पद्धति का मूल्यांकन करते हुए कहा है कि अपने विभिन्न अनुभवों को वाद-प्रतिवाद-संवाद की त्रयी के रूप में विभक्त करना एक मनोरंजक बौद्धिक व्यायाम है। इस रूप में यह सर्वथा महत्वशून्य हो, ऐसी बात नहीं है, अपितु विभिन्न घटनाओं की व्याख्या करने वाले सिद्धान्त के रूप में यह पद्धति बहुत भ्रान्तिजनक है।

(ग) **इतिहास की दार्शनिक व्याख्या** (Philosophy of History)—यह हेगल का एक महत्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्त है। उसने इतिहास को द्वन्द्वात्मक पद्धति के आधार पर होने वाला विश्वात्मा का विकास माना है। वह इतिहास में घटित होने वाली सभी घटनाओं को विश्वात्मा की निरन्तर विकासोन्मुख क्रियाशीलता के विभिन्न रूप मानता है। इसमें अन्तिम परमतत्व (Absolute) या भगवान् की इच्छा

१. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० १७२

द्वन्द्वात्मक पद्धति से अभिव्यक्त हो रही है। उसके शब्दों में विश्वात्मा का विवेक या बुद्धि (Reason) इस विश्व का न केवल सारतत्व है, अपितु वह विश्व की असीम शक्ति भी है। यह शक्ति अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए इतिहास में नाना रूपों में प्रकट होती है। इस प्रकार इतिहास विश्वात्मा के द्वारा अपना अन्तिम स्वरूप प्राप्त करने के उद्देश्य से की जाने वाली महायात्रा है। यह विश्व उस विश्वात्मा की शक्ति से ही संचालित हो रहा है। मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह विश्वात्मा के विवेक, उद्देश्य और प्रयोजन को समझे। मनुष्य अपनी संकीर्ण इच्छाओं, वासनाओं और तृष्णाओं से बंधा होने के कारण उसके प्रयोजन को नहीं समझ पाता है। इन तृष्णाओं और वासनाओं से मुक्त होकर विश्वात्मा के प्रयोजन के अनुसार कार्य करना ही सच्ची स्वतन्त्रता (freedom) है।

हेगल का यह विचार ईसाइयत के इस विचार से कुछ सादृश्य रखता है कि इस संसार की सभी घटनाएँ ईश्वर की इच्छा से एक निश्चित योजना के अनुसार हो रही हैं। हेगल स्वयमेव इस बात को स्वीकार करता है। किन्तु उसके कथनानुसार ईसाई यह विश्वास रखते हैं कि भगवान् की जिस महान् योजना के अनुसार इस विश्व का संचालन हो रहा है, यह योजना मनुष्य को ज्ञात नहीं है, उसे उसका ज्ञान इतिहास का अवसान होने पर कयामत के दिन ही होगा, उस समय तक यह रहस्य मनुष्यों के लिए अज्ञेय बना रहेगा। किन्तु हेगल ऐसा नहीं मानता, वह समझता है कि इस रहस्य को अच्छी तरह समझा जा सकता है। उसके सिद्धान्त में ईसाइयत से दूसरा बड़ा अन्तर यह है कि एक कट्टर ईसाई की दृष्टि में इस सृष्टि में भगवान् की इच्छा मात्र ही अभिव्यक्त होती है, भगवान् स्वयं इससे पृथक्, तटस्थ और इसके ऊपर विराजमान बने रहते हैं। किन्तु हेगल इस विश्व को **भगवान् की इच्छा की अभिव्यक्ति** नहीं, अपितु **भगवान् की इच्छा** मानता है। ईसाइयत में भगवान् तटस्थ बने रहते हैं, हेगल के दर्शन में वे इस इतिहास के रंगमंच पर स्वयं अवतीर्ण होते हैं। सभी मनुष्य इस जगत् में विश्वात्मा का प्रयोजन पूरा करने के लिए साधन के रूप में कार्य कर रहे हैं। मनुष्यों तथा राष्ट्रों की दृष्टि से बहुत-सी घटनाएँ दुःखदायी, निराशापूर्ण और विपत्तिजनक हो सकती हैं, किन्तु सर्वज्ञ और सर्वव्यापी ईश्वर अथवा विश्वात्मा के प्रयोजन की दृष्टि से ये महत्वपूर्ण, उपयोगी एवं लाभदायक हैं। वस्तुतः हम अपनी संकीर्ण दृष्टि से सत् और असत् का, उचित और अनुचित का, न्यायपूर्ण अथवा अन्यायपूर्ण बातों का कोई निर्णय नहीं कर सकते। इनके निर्णय का अन्तिम एवं सर्वोच्च न्यायालय इतिहास है। "इसमें विश्वात्मा सीमित दृष्टि रखने वाले राष्ट्रों के बारे में अन्तिम निर्णय करती है।"[1] यह निर्णय विश्वात्मा एक राष्ट्र की विजय के और दूसरे राष्ट्र की पराजय के रूप में देती है। विजय इस बात का प्रबल प्रमाण है कि विश्वात्मा ने एक राष्ट्र को छोड़कर दूसरे राष्ट्र का वरण किया है।

विश्वात्मा इतिहास में अपने विकास के लिए नाना रूप ग्रहण करती है, इनमें द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुसार प्रत्येक अगले रूप में पिछले रूप बीजरूप में सुरक्षित रहते

१. हैलोवैल—मेन करेण्टस इन मॉडर्न पोलिटिकल थाट, पृ० २६३

हैं और इन रूपों में मौलिक एकता और सातत्य (continuity) बना रहता है। किन्तु कई बार विकास का यह शान्तिपूर्ण क्रम भंग हो जाता है और विश्वात्मा शनैः-शनैः नवीन रूप न ग्रहण करके सहसा उद्दाम, प्रचण्ड एवं रौद्र ढग से नया रूप ग्रहण करती है। यह ठीक वैसे ही है, जैसे शनैः-शनैः गर्म किया जाने वाला पानी सहसा वाष्प बनकर उड़ने लगता है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति जैसे भीषण परिवर्तनों में पुरानी व्यवस्था के बदलने पर मनुष्यों को इतना घोर कष्ट, दुःख और यातनाएँ सहनी पड़ी हैं कि ऐसा प्रतीत होता है कि यह परिवर्तन मानव-जाति के कल्याण और सुख को बढ़ाने के लिए नहीं हुआ है। ऐसे समय में प्रायः मनुष्यों में दुःख की मात्रा बढ़ जाती है। किन्तु यदि हम एक विशाल एवं व्यापक दृष्टि से देखें तो हमें यह प्रतीत होगा कि ये परिवर्तन विश्वात्मा के महान् प्रयोजन को पूर्ण करने की दृष्टि से हुए हैं, इन परिवर्तनों के बाद भी द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुसार पुरानी व्यवस्था की अच्छी बातें नवीन व्यवस्था के साथ सामंजस्य स्थापित करके यथापूर्व बनी रहेंगी तथा यह अव्यवस्था और अराजकता भविष्य में एक अधिक उत्कृष्ट व्यवस्था को स्थापित करेगी।

हेगल ने मानव-इतिहास में विश्वात्मा के विकास को तीन वस्तुओं के प्रति अपने प्रेम के आधार पर **तीन दशाओं** (Stages) में विभक्त किया है : **पहली** दशा पूर्वी जगत् की है, इसमें चीन, भारत और मध्यपूर्व के देश आते हैं, इनमें सभ्यता का श्रीगणेश हुआ था। **दूसरी** दशा यूनान के राष्ट्रों की है। **तीसरी** दशा रोमन साम्राज्य की है। इनके बाद अगली दशा जर्मन राष्ट्र की है; यह विश्वात्मा के विकास की चरम अभिव्यक्ति होगी। उसने इन तीनों दशाओं का विस्तृत विवेचन किया है : पहली दशा मानव-जाति की बाल्यावस्था को सूचित करती थी। चीन में समाज का आधार परिवार और राज्य था, धर्म में मुख्य रूप से पितरों या पूर्वपुरुषों की पूजा होती थी। शासन-पद्धति पितृतन्त्रात्मक थी, राजा पिता की भाँति प्रजा पर अत्यन्त कठोर रीति से शासन करता था। चीन की आत्मा की तुलना जर्मन दार्शनिक ने जागरूक (Alert) शिशु से की है और भारत की आत्मा को वह स्वप्नदर्शी (Dreaming) शिशु की आत्मा समझता है। भारत का धर्म सूक्ष्म एवं सर्वेश्वरवादी है, इसमें निर्वाण पर बल दिया गया है, हिन्दू-जीवन में गतिशीलता का अभाव है, सामाजिक दृष्टि से भारतीय अप्रगतिशील हैं। ईरान की स्थिति इससे भिन्न है, ईरानवासियों का धर्म प्रकाश का और सबको क्रियाशील बनाने वाले सूर्य की उपासना का धर्म है। यहाँ सत् और असत् की शक्तियों में संघर्ष की कल्पना मानी जाती है और हेगल के अनुसार यही जीवन का सारतत्व है। मिस्र में सत् और असत् का संघर्ष और भी अधिक उग्र रूप में पाया जाता है। मिस्रवासियों ने इसे अपनी कला के एक सुप्रसिद्ध प्रतीक स्फिक्स (Sphinx) या नृसिंह से अभिव्यक्त किया था। इसका धड़ बैठे हुए शेर जैसा तथा सिर मनुष्य जैसा होता था, इसका यह अभिप्राय था कि इसमें मनुष्यत्व और पशुत्व दोनों मिले हुए हैं। इन दोनों में संघर्ष चल रहा है। यह कहना कठिन है कि इसमें पशुतत्व की विजय होगी या मानवतत्व की। इसके बाद यहूदियों ने हमें नैतिकता का आध्यात्मिक तथा उच्च विचार दिया। अब तक मनुष्य तारों की तथा पशुओं की पूजा किया करते थे, यहूदियों ने जेहोवा (Jehova) नामक एक पूर्ण भगवान् की उपासना आरम्भ की।

मानव-इतिहास के विकास की **दूसरी** दशा यूनानी राज्यों की थी। इनमें मानव-जाति ने शशव दशा से युवावस्था में प्रवेश किया। यूनान की कला, धर्म, दर्शन और राजनीति तरुणाई की भावना का परिचय देते हैं। यूनानियों के देवता शाश्वत रूप से सुन्दर बने रहने वाले युवा पुरुष हैं। यूनानी सभ्यता में कई दोष थे। एथेन्स में यद्यपि लोकतन्त्र की प्रणाली प्रचलित थी, तथापि वहाँ अधिकांश व्यक्ति दास थे, सब मनुष्यों के समान रूप से स्वतन्त्र बने रहने का कोई विचार यूनान में नहीं पाया जाता था। फिर भी यूनानी जाति भगवान् का दैवी अंश रखने वाली एक जाति थी।

इतिहास में **तीसरी** दशा रोमन साम्राज्य की थी। यह मानव-समाज की प्रौढ़ता के आरम्भ (Early manhood) को सूचित करती है, इस समय मानव ने जवानी के मोहक सपनों की उपेक्षा करनी शुरू की। आरम्भिक रोमन समाज चोरों या लुटेरों का संगठन था। रोम के इतिहास का विकास यह प्रदर्शित करता है कि रोमन चोर किस प्रकार रोमन सिपाही बना। रोमन साम्राज्य के विस्तार के साथ मानव-समाज के कल्याण के लिए कई नवीन शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय रोमन कानून की व्यवस्था थी। अब रोमन लोग लूट के माल (Booty) के साथ कर्त्तव्य (Duty) की ओर भी ध्यान देने लगे। पहली बार व्यक्ति को कानून की दृष्टि से अपने अधिकारों का ज्ञान हुआ, किन्तु अभी तक अधिकांश जनता दास थी और उनके लिए कानून का कोई महत्व नहीं था। इसी समय ईसाइयत का प्रादुर्भाव हुआ। इसने पददलित, पीड़ित एवं निर्धन जनता को बड़ी शान्ति प्रदान की, उन्हें भगवान् का पुत्र और ईसामसीह का भाई बताते हुए प्रेम का सन्देश दिया। रोम ने कानूनी समानता के विचार का प्रतिपादन किया था। ईसाइयत ने मनुष्यों की आन्तरिक समानता पर बल दिया, मनुष्य की स्वाभाविक गरिमा की महत्ता का प्रतिपादन किया। इसने मानव द्वारा किए जाने वाले स्वतन्त्रता के ऐतिहासिक संघर्ष में न्याय को विजयी बनाया। रोमन लोगों के कानून का उद्देश्य निर्बल के विरुद्ध बलवान् की रक्षा करना था ; ईसाइयत के प्रभाव से एक सर्वथा नवीन कानूनी पद्धति का विकास हुआ, इसका उद्देश्य बलवान् के विरुद्ध निर्बल के अधिकारों का संरक्षण करना था। इसके प्रभाव से निरंकुश राजतन्त्र का स्थान वैधानिक राजतन्त्र ने ले लिया, लोगों को कानूनी अधिकारों के साथ-साथ राजनीतिक अधिकार प्राप्त हुए, स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के सिद्धान्तों की विजय हुई।

किन्तु विश्वात्मा के चरम विकास की अन्तिम दशा अभी आने वाली है, यह प्रशिया में उत्पन्न होगी, यहाँ स्वतन्त्रता का सर्वोच्च विकास होगा। "प्रशिया शीघ्र ही एक प्रबल शक्तिशाली राज्य के रूप में विकसित होगा, वह योरोप के समूचे महाद्वीप का अधीश्वर बनेगा।"

हेगल के दार्शनिक विचारों का ,परिचय देने के बाद उसके प्रमुख राजनीतिक विचारों का प्रतिपादन किया जाएगा।

राजनीतिक विचार—राज्य की उत्पत्ति तथा विशेषताएँ—हेगल राज्य के सम्बन्ध में रूसो का अनुसरण करने वाले फ्रेंच क्रान्तिकारियों का यह विचार नहीं मानता था कि राज्य की उत्पत्ति किसी सामाजिक समझौते (Social Contract) से

हुई है। इसके सर्वथा विपरीत उसका यह मत था कि राज्य विश्वात्मा के आध्यात्मिक पक्ष का द्वन्द्वात्मक पद्धति से होने वाला चरम विकास था, यह अन्य देहधारी प्राणियों की भाँति अपना पृथक् शरीर (Organism) रखता था। हेगल से पहले के क्रान्तिकारी विचारक राज्य को विभिन्न व्यक्तियों के समूह से बनने वाली एक सत्ता समझते थे, इसमें प्रत्येक व्यक्ति के अपने नैसर्गिक अधिकार (Natural rights) बने रहते थे। किन्तु हेगल इसे व्यक्तियों के कोरे समूह के स्थान पर एक वास्तविक व्यक्तित्व रखने वाली सत्ता एवं विश्वात्मा की अभिव्यक्ति मानता था। हेगल के विचार में राज्य के सदस्य के रूप में ही व्यक्ति को वास्तविक सत्ता और महत्ता प्राप्त होती है। यूनानी विचारों के प्रभाव के कारण वह अरस्तू की भाँति यह मानता था कि व्यक्ति का उच्चतम विकास राज्य में ही सम्भव है, अत: व्यक्ति राज्य के लिए है, न कि राज्य व्यक्ति के लिए है। इसीलिए उसने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि व्यक्ति तभी पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है जब वह राज्य के आदेशों का पालन करे। राज्य विश्वात्मा का सर्वोच्च रूप है, इसलिए आदर्श नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह राज्य की इच्छानुसार अपना जीवनयापन करे।

हेगल ने द्वन्द्वात्मक पद्धति से राज्य की उत्पत्ति की प्रक्रिया का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। उसने लिखा है कि इसका निर्माण दो प्रकार के तत्वों से होता है: एक ओर विश्वात्मा अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती हुई इसके विकास में सहयोग देती है, दूसरी ओर मनुष्य इसके द्वारा अपने को पूर्ण बनाने का यत्न करते हुए इसका निर्माण करते हैं। "अत: विश्व-इतिहास के विशाल जाल की रचना करने वाला ताना तो विश्वात्मा का विचार है और बाना मनुष्यों की इच्छाएँ और भावनाएँ हैं।" पहले यह बताया जा चुका है कि हेगल के मतानुसार विश्वात्मा अपने अन्तिम लक्ष्य को पूर्ण करने के लिए नाना रूपों में से होकर गुजरती है। जड़ जगत् से चेतन जगत् तक के असीम विस्तार में इसके अनन्त रूप दृष्टिगोचर होते हैं। यह जड़ वस्तुओं, वनस्पतियों, पशुओं की नाना योनियों में होकर, ऊपर उठते हुए मनुष्य की अपूर्ण चेतना के रूप में विकसित होती है। हेगल का मत था कि भौतिक क्षेत्र में मनुष्य विश्वात्मा का सर्वोत्तम रूप है, इसके बाद इस क्षेत्र में इसका इससे अधिक उत्कृष्टतर रूप कभी विकसित नहीं होगा।

किन्तु मनुष्य एकाकी रहते हुए अपना विकास कभी नहीं कर सकता है, वह सामाजिक प्राणी है, वह दूसरों के साथ मिलकर रहता है और उसकी आवश्यकता पूरी करने के लिए अनेक संस्थाओं का विकास होता है। ये विश्वात्मा की बाह्यात्मा (Objective Spirit) के विभिन्न रूप हैं। पहले यह बताया जा चुका है कि सामाजिक आचार (Ethics) के क्षेत्र में परिवार (Family) का प्रादुर्भाव उसकी भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए होता है, परिवार में रहते हुए बच्चों को माता-पिता का संरक्षण मिलता है, पति-पत्नी को दाम्पत्य आनन्द और काम-सुख की प्राप्ति होती है, इससे उनकी विभिन्न आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। परिवार का मौलिक तत्व प्रेम की भावना है, राज्य की उत्पत्ति के लिए हेगल परिवार को पहली सीढ़ी या वाद (Thesis) समझता है।

किन्तु परिवार मनुष्य की सभी आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर सकता। बच्चे बड़े होने पर परिवार से निकलकर अधिक विस्तीर्ण क्षेत्र में आते हैं। हेगल ने इसे सुव्यवस्थित (Civil) अथवा नगरवासी[1] (Bourgeois) समाज का नाम दिया है। यह परिवार का प्रतिवाद (Antithesis) है। परिवार के सदस्य स्नेह के सूत्र में बँधे रहते हैं, इस नगरवासी समाज के सदस्यों को एक सूत्र में पिरोने वाले तत्व स्वार्थ और अनुबन्ध (Contract) थे। परिवार की विशेषता इसके सदस्यों का एक-दूसरे से प्रेम था, किन्तु नगरवासी समाज की विशेषता प्रतिस्पर्द्धा की भावना थी। इस समाज में संघर्ष और प्रतिस्पर्द्धा के होने के कारण यह समाज परिवार की अपेक्षा कम आकर्षक प्रतीत होता था, किन्तु इसकी एक विशेष उपयोगिता थी। इसने व्यापार और उद्योग के क्षेत्र में मानव-समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण किया। इस समाज ने अपने कानूनों का विकास किया और पुलिस की व्यवस्था की। इसका और अधिक विकास होने पर इसने व्यापारिक श्रेणियों (Guilds) तथा निगमों (Corporations) को उत्पन्न किया। ये नवीन संगठन अपने सदस्यों को यह पाठ पढ़ाते हैं कि उन्हें केवल अपने हितों का ही नहीं, अपितु अपने सम्पूर्ण समाज के हितों का ध्यान रखना है। इस कारण उनमें न केवल अपने समाज की स्पर्द्धा और प्रतियोगिता की विशिष्ट भावना प्रकट होती है, अपितु राज्य की एक विशेष भावना—सहयोग का भी प्रकटीकरण होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्नेह की भावना से एकता के सूत्र में आबद्ध परिवार का वाद (Thesis) अपने विरोधी एवं एकताशून्य ऐसे नगरसमाज के प्रतिवाद (Antithesis) को उत्पन्न करता है जिसके सदस्य स्पर्द्धा के कारण विभक्त हैं। किन्तु शीघ्र ही इन दोनों में समन्वय स्थापित करने वाले राज्य का संगठन उत्पन्न होता है, यह इन दोनों से ऊँचा और उत्कृष्ट संगठन होने के कारण इनमें एकता और सामंजस्य स्थापित करता है और ये दोनों संस्थाएँ समष्टि के हितों को अपना समझते हुए उनको बढ़ाने का प्रयत्न करती हैं।

इस प्रकार प्रादुर्भूत होने वाले राज्य की हेगल ने कुछ विशेषताएँ प्रतिपादित की हैं: इसकी **पहली विशेषता** इसका दैवी (Divine) सत्ता होना है। अनन्त युगों से असीम रूपों में विकसित होने वाली विश्वात्मा (Weltgeist) या भगवान् का चरम रूप होने के कारण इसका दिव्य होना स्वतःसिद्ध और स्पष्ट है। यह "भूमण्डल पर दैवी विचार के रूप में अवस्थित" है। इसे पृथ्वी पर भगवान् की महायात्रा का अन्तिम पड़ाव कहा जा सकता है। **दूसरी विशेषता** राज्य का साध्य और व्यक्ति का साधन होना है। चूँकि राज्य इस पृथ्वी पर विश्वात्मा का अन्तिम रूप है, अतः वह अपने-आपमें साध्य (End) ही हो सकता है, साधन कभी नहीं बन सकता। राज्य के ऐसा

---

१. इस शब्द का इतिहास बड़ा मनोरंजक है। यह एक फ्रेंच शब्द है और नगरवाचक बूर्ज (Bourg) शब्द से निकला है। इसका आरम्भिक अर्थ नगर में निवास करने वाला स्वतन्त्र व्यक्ति तथा दुकानदार था। इसके बाद इसका प्रयोग मध्यमवर्ग के लिए होने लगा। कार्ल मार्क्स ने इसे मजदूरों की तुलना में छोटे मध्यमवर्गीय पूँजीपति के अर्थ में निन्दात्मक रूप में प्रयुक्त किया और उस समय से साम्यवादी शब्दावली में यह मध्यमवर्ग के लिए प्रयुक्त होने लगा। इसका शुद्ध उच्चारण बूर्ज्वा है, पर हिन्दी में इसका बूर्जुआ रूप अधिक प्रचलित हो गया है।

होने का एक कारण यह भी है कि वह समष्टि (Whole) है और समष्टि अपने अंगों या अवयवों से सदैव अधिक बड़ा और महत्वपूर्ण होता है, इनकी सार्थकता समष्टि का अंग बने रहने में ही है। हेगल ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ **'इतिहास के दर्शन'** (Philosophy of History) में लिखा है, "मनुष्य का सारा मूल्य और महत्व—उसकी समूची आध्यात्मिक सत्ता केवल राज्य में ही सम्भव है"। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि व्यक्ति राज्य का अंग होने के कारण ही अपना नैतिक महत्व रखता है। अतः व्यक्तियों को पूर्णरूप से राज्य के प्रभुत्व में रहना चाहिए। राज्य उसका सर्वेसर्वा तथा देवाधिदेव है, उन्हें उसके सभी आदेशों का पालन करने में गौरव और गर्व का अनुभव करना चाहिए। इस बात का प्रबल प्रतिपादन करने के कारण ही, हेगल को अधिनायकवादी अथवा सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) विचारधारा के आधुनिक सभी रूपों—फासिज़्म, नाज़ीवाद, सैनिकवाद—का प्रवर्त्तक या जन्मदाता कहा जाता है।

हेगल के राज्य की **तीसरी विशेषता** इसका सब प्रकार के नैतिक बन्धनों से मुक्त होना है। इसका कारण यह है कि राज्य सर्वोच्च संस्था है, अतः इसको नैतिकता का पाठ पढ़ाने वाली कोई दूसरी सत्ता नहीं हो सकती। राज्य स्वयमेव नैतिकता के सिद्धान्तों का सृजन करने वाला है। यह बात राज्य के अपने प्रदेश में किए जाने वाले कार्यों से तथा उसके वैदेशिक सम्बन्धों से पुष्ट होती है। प्रत्येक राज्य अपने अधिकार-क्षेत्र में रहने वाले नागरिकों के लिए कानूनों का निर्माण करते हुए उनके द्वारा पालन की जाने वाली नैतिकता के मानदण्डों का निर्धारण करता है। राज्य में उसके द्वारा की जाने वाली नैतिक व्यवस्था सर्वोच्च होती है, इसके आधार पर बनाए गए उसके कानूनों की अवहेलना करके कोई भी नागरिक इस युक्ति के आधार पर राज्य का दण्ड पाने से नहीं बच सकता कि ये कानून उसके अन्तःकरण के अथवा नैतिक भावना के प्रतिकूल हैं। काण्ट का यह विश्वास था कि व्यक्ति का अन्तःकरण (conscience) नैतिक प्रश्नों का निर्णय कर सकता है; किन्तु हेगल ने रूसो की भाँति इस बात पर बल दिया[1] कि अन्तःकरण हमें केवल अच्छा (right) कार्य करने को कहता है, किन्तु इस बात का निश्चय नहीं करता है कि कौनसा काम किन कारणों से अच्छा है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण का निर्णय उसके समाज में प्रचलित परम्पराओं, धारणाओं और विश्वासों से होता है। समाज में जिन विचारों को अच्छा माना जाता है, हमारा अन्तःकरण उनके ही अनुसार हमें कार्य करने की प्रेरणा प्रदान करता है। वह स्वयमेव अच्छे-बुरे का अथवा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निर्धारण नहीं कर सकता है। किन्तु हेगल का यह कहना है कि राज्य विश्वात्मा का रूप है, वह जो आवश्यक समझता है तथा जो कार्य करता है वह सब कुछ सत्-असत् के विचार से ऊँचे धरातल की वस्तु है, अतः राज्य नैतिकता के बन्धनों से ऊपर उठा हुआ है। राज्य जो भी कार्य करता है वह सर्वथा न्यायोचित है।

राज्य की **चौथी विशेषता** यह है कि वह अपनी आत्मरक्षा के लिए अन्य राज्यों के साथ कोई भी कार्य करने में सर्वथा स्वतन्त्र है। हेगल राज्य के कल्याण को 'उच्चतम

१. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० १६४

कानून' समझता है। **'अधिकार के दर्शन'** (Philosophy of Right) नामक पुस्तक में उसने घोषणा की है कि सामान्य रूप से यह स्वीकार किया जाता है और यह एक सुप्रसिद्ध सिद्धान्त है कि राज्य का अपना विशेष हित सबसे अधिक महत्व रखता है। अपने नीतिशास्त्र (Ethics) में उसने इस बात का समर्थन करते हुए यह लिखा है कि राज्य स्वयमेव अपने कर्त्तव्य निश्चित करने वाला एक ऐसा पूर्ण मन (Absolute Mind) है जो सत् और असत् के नियमों को, लज्जापूर्ण, जघन्य, चालाकी (Craft) तथा धोखाधड़ी वाले किन्हीं नियमों को स्वीकार नहीं करता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में राज्य दूसरे देशों के साथ अपने हितों की रक्षा के लिए जो भी कार्यवाही करे वह सर्वथा एवं सर्वदा न्यायोचित है। इस प्रकार हेगल ने राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मनमाने कार्य करने की खुली छूट दे दी और सन्धियों की पवित्रता को समाप्त कर दिया। उसके सिद्धान्तों के प्रचार का ही यह परिणाम था कि १९१४ के प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी ने अपने हितों की रक्षा के लिए बेल्जियम पर आक्रमण करने में कोई संकोच नहीं किया, यद्यपि उसने एक सन्धि द्वारा इसकी तटस्थता की रक्षा करने का पहले वचन दिया हुआ था। जब ब्रिटेन ने उसे सन्धि का स्मरण कराया तो उसने यह उत्तर दिया कि यह सन्धि तो रद्दी कागज का टुकड़ा है। हेगल से पहले काण्ट ने स्थायी शान्ति बनाए रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की मर्यादा का पालन करने तथा राष्ट्रसंघ की स्थापना करने पर बल दिया था। किन्तु हेगल ने इन सबका विरोध करते हुए शान्ति की खिल्ली उड़ाई, युद्ध का प्रबल समर्थन किया और यह कहा कि "राज्य एक-दूसरे के साथ जो सन्धियाँ करते हैं वे अस्थायी होती हैं। जब विभिन्न राज्यों की विशिष्ट इच्छाओं में कोई समझौता नहीं हो सकता तो इस विवाद का निर्णय केवल युद्ध द्वारा ही किया जा सकता है।" राज्य की **पाँचवीं विशेषता** यह है कि यह मनुष्य की स्वतन्त्रता को विकसित करने और बढ़ाने का साधन है। व्यक्ति केवल राज्य में रहते हुए ही पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है, इसके बिना मनुष्य पराधीन ही बना रहता है। हेगल ने यूनान का परम भक्त होते हुए भी उसकी आलोचना इसी दृष्टि से की है कि यूनानी दासप्रथा को स्वीकार करते थे और इस बात का अनुभव नहीं करते थे कि राज्य को मनुष्य के व्यक्तित्व का पूरा सम्मान करना चाहिए। उसका यह दावा है कि केवल आधुनिक राज्यों में स्वतन्त्रता के महत्व को समझा गया है, जर्मनी में ही मनुष्य को पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है। वह विश्व के इतिहास को स्वतन्त्रता की भावना की प्रगति के अतिरिक्त कुछ नहीं समझता था। उसने राज्य को स्वतन्त्रता की भावना का मूर्त्त रूप (Actualization of freedom) समझा है। अतः इस प्रसंग में उसके स्वतन्त्रता के विचार को अच्छी तरह समझ लेना समुचित प्रतीत होता है।

स्वतन्त्रता का विचार—हेगल इसे मनुष्य का एक मौलिक तत्व समझता है। उसका यह कहना है कि "मनुष्य का एक विशेष गुण स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता को छोड़ने का अर्थ मानवता का परित्याग करना है। अतः स्वतन्त्र न होना मनुष्य द्वारा अपने मानवीय अधिकारों का तथा कर्त्तव्यों का परित्याग करना है।" किन्तु हेगल का स्वतन्त्रता का विचार फ्रेंच राज्यक्रान्ति द्वारा प्रतिपादित किए गए स्वतन्त्रता के

विचार से सर्वथा भिन्न था। वस्तुतः उसका उद्देश्य फ्रेंच क्रान्ति द्वारा इस विषय में उत्पन्न की गई भ्रान्त धारणाओं और मिथ्या विश्वासों का खण्डन करना था। फ्रेंच क्रान्ति के विचारकों का स्वतन्त्रता का विचार व्यक्तिवादी (Individualistic) था, वे इसका यह अर्थ समझते थे कि मनुष्य को अपनी इच्छानुसार अपना जीवन बिताने, आजादी से रहने, घूमने-फिरने, विचार प्रकट करने की तथा अपना धर्म पालन करने की स्वाधीनता होनी चाहिए; जहाँ तक वह दूसरों की स्वतन्त्रता पर आघात नहीं पहुँचाता है वहाँ तक उस पर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। इस प्रकार स्वाधीनतापूर्वक जीवन बिताना उसका जन्मसिद्ध अधिकार है और राज्य को उस पर यथासम्भव कम-से-कम प्रतिबन्ध लगाने चाहिएँ।

हेगल का स्वतन्त्रता का विचार न केवल स्वाधीनता के उपर्युक्त विचार से भिन्न है, अपितु इसका सर्वथा विरोधी है। उसके मतानुसार स्वतन्त्रता व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वाधीनता नहीं है, अपितु राज्य की इच्छानुसार कार्य करना है; स्वतन्त्रता का अर्थ अपनी इच्छा के प्रतिकूल राजकीय आदेशों को अपना कर्त्तव्य समझते हुए उनका पालन करना है। सामान्य रूप से यह समझा जाता है कि व्यक्ति की अपनी इच्छा में और राज्य की इच्छा में कई बार विरोध हो सकता है, राज्य निरंकुश होने पर व्यक्ति की स्वतन्त्रता को बुरी तरह कुचल सकता है, जैसा १७८९ की राज्यक्रान्ति होने से पहले फ्रांस में हुआ करता था। किन्तु हेगल व्यक्ति की सच्ची स्वतन्त्रता राज्य के सभी आदेशों का आँख मूँदकर पालन करने में समझता है। इस प्रकार अन्य व्यक्ति जिसे परतन्त्रता समझते हैं, हेगल उसे स्वतन्त्रता समझता है। उसका स्वतन्त्रता का यह विचार बड़ा निराला और सामान्य व्यक्तियों को बड़ा अटपटा, विचित्र तथा अयुक्तियुक्त प्रतीत होता है। किन्तु हेगल ने इसे निम्नलिखित दार्शनिक तर्कों के आधार पर युक्तिसंगत सिद्ध किया है।

इस विषय में हेगल का पहला तर्क यह है कि प्राकृतिक दशा (State of Nature) के बाद सुव्यवस्थित नागरिक राज्य की दशा मनुष्यों में बड़ा परिवर्तन पैदा कर देती है। पहली प्राकृतिक दशा में मनुष्य जंगली पशुओं की भाँति स्वच्छन्द और उच्छृंखल होता है, किन्तु दूसरी दशा में वह समाज में व्यवस्था और न्याय की स्थापना करने के लिए अपने-आप पर अनेक अंकुश लगाना स्वीकार करता है, क्योंकि इसी से उसकी स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सकती है। अब वह पशु-समाज के धरातल से ऊँचा उठकर नैतिक समाज का निर्माण आरम्भ करता है, उसके कार्य अब नैतिक रूप धारण करते हैं। पहले वह भूखा होने पर किसी को मारने में अथवा किसी को लूट-पाट करने में कोई दोष नहीं समझता था, अब उसमें यह नैतिक भावना उत्पन्न होती है कि उसका कर्त्तव्य है कि वह ऐसा पशु-तुल्य कार्य न करे, अपितु न्यायोचित मार्गों से ही अपनी क्षुधा शान्त करे; वह कोई भी कार्य करने से पहले केवल अपनी इच्छाओं का दास न बने, अपितु अपनी बुद्धि और विवेक से परामर्श लेकर कार्य करे। इससे यह स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता का अभिप्राय अपनी वैयक्तिक इच्छा के अनुसार कार्य करना नहीं है, किन्तु राज्य और बुद्धि के विवेक से तथा उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करना है। मनुष्य स्वार्थी है, वह संकीर्ण दृष्टि रखता है, उसमें काम, क्रोध,

रागद्वेष और मोह की भावनाएँ उसकी इच्छा को दूषित बनाने वाली हैं, इन वासनाओं तथा इच्छाओं से प्रेरित होकर कार्य करना स्वतन्त्रता नहीं, किन्तु दासता है। राज्य विश्वात्मा के विकास का चरम रूप है, वह विभिन्न व्यक्तियों की क्षुद्र वासनाओं और संकीर्ण दृष्टि से ऊपर उठा हुआ है, अतः उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करना ही सच्ची स्वतन्त्रता है। इसमें वस्तुतः वह अपनी इच्छाओं और वासनाओं की दासता से मुक्ति पाकर स्वाधीनता का उपभोग करता है।

हेगल एक अन्य दार्शनिक तर्क से भी राज्य के आदेशों के पालन को ही स्वतन्त्रता सिद्ध करता है। उसका यह कहना है कि स्वतन्त्रता केवल आत्मा का ही विशिष्ट गुण या धर्म हो सकता है, यह जड़ अथवा भौतिक जगत् की विशेषता नहीं हो सकती है क्योंकि स्वतन्त्रता का अर्थ अपने-आपमें पूर्ण होना, दूसरे पर किसी भी प्रकार से निर्भर न रहना, दूसरे की ओर कोई प्रवृत्ति न रखते हुए आत्मनिष्ठ (self-contained) बने रहना है। यह विशेषता केवल आत्मा में है, जड़ जगत् में नहीं है। क्योंकि जड़ जगत् में आत्मनिष्ठा (self-containedness) की विशेषता नहीं पाई जाती है। एक मोटे उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी : जड़ जगत् की सभी वस्तुएँ गुरुत्वाकर्षण के नियम से शासित होती हैं, उनकी प्रवृत्ति सदैव अपने स्वरूप से बाहर अवस्थित गुरुत्वाकर्षण के केन्द्र की ओर जाने की होती है, अतः उन्हें स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर आत्मा अपने ही स्वरूप में अवस्थित है, वह अपने से बाहर कहीं नहीं जाती। अतः वह स्वतन्त्र है, इसलिए दूसरे शब्दों में आत्मा का विकास स्वतन्त्रता का विकास है. इसलिए मानव-जाति के विकास का इतिहास स्वतन्त्रता के विकास का सूचक है। मानव-इतिहास का उच्चतम विकास राज्य के रूप में होता है, इसमें विश्वात्मा अपना अन्तिम साकार रूप ग्रहण करती है। अतः पूर्ण आदर्श राज्य ही वास्तव में स्वतन्त्र राज्य है और जो नागरिक आदर्श राज्य के आदर्श कानून का स्वेच्छापूर्वक पालन करता है वह आदर्श स्वतन्त्रता का उपभोग करता है।

किन्तु कई बार ऐसी स्थिति आ सकती है कि व्यक्ति यह सोचे कि राज्य के कानून उस पर उसकी इच्छा के विरुद्ध थोपे जा रहे हैं, इस दशा में वह अपने को किस प्रकार स्वतन्त्र अनुभव कर सकता है। हेगल इस युक्ति का बड़ा सुन्दर उत्तर देता है। उसका यह कहना है कि राज्य का कोई भी कानून किसी व्यक्ति पर बाहर से थोपा हुआ नहीं हो सकता, यह वास्तव में उसकी अपनी ही इच्छा का परिणाम है, क्योंकि व्यक्ति भी विश्वात्मा का साकार या मूर्त्त रूप (Embodiment) है, यद्यपि उसमें उतनी पूर्णता नहीं है जितनी पूर्णता राज्य में पाई जाती है ; किन्तु फिर भी उसमें इतना आत्मतत्व अवश्य है कि वह अपने को राज्य से पूर्ण रूप से अभिन्न समझे, क्योंकि दोनों में एक ही आत्मतत्व की सत्ता पाई जाती है। किन्तु अभिन्न होते हुए भी दोनों में कुछ अन्तर हैं। व्यक्ति कई बार दूसरों का कोई भी ध्यान न रखते हुए स्वार्थ-बुद्धि से एवं पाशविक भावनाओं से प्रेरित होकर कार्य कर सकता है। किन्तु जब वह ऐसा कार्य करता है तो उस समय उसका यह कार्य विश्वात्मा की व्यापक योजना के प्रतिकूल होता है। उस समय विश्वात्मा का आत्मतत्व उसमें दब जाता है और स्वार्थपूर्ण वासनाओं का दास बन जाने के कारण उसकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। वह केवल

उसी समय स्वतन्त्र रहते हुए कार्य करता है जबकि वह अपने को विश्वात्मा से अभिन्न बनाते हुए अपनी क्षणिक स्वार्थपूर्ण वासनाओं के अनुसार नहीं, अपितु विश्वात्मा की इच्छा के अनुसार कार्य करता है। वस्तुत: यह उसका वास्तविक इच्छा (Real Will) के अनुसार कार्य करना है। वह विश्वात्मा के प्रयोजनों को जितनी अधिक मात्रा में समझता है उतनी ही अधिक मात्रा में वह स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। वस्तुत: स्वतन्त्रता का अर्थ अपनी वैयक्तिक इच्छा के अनुसार कार्य करना नहीं है, अपितु विश्वात्मा के प्रतीक— राज्य—की इच्छा के अनुसार कार्य करना है।

किन्तु एक व्यक्ति राज्य की इच्छा का अथवा उसके कानूनों का पालन दण्ड के भय से भी कर सकता है। हेगल को दृष्टि में ऐसा व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि वह स्वेच्छापूर्वक नहीं, अपितु दण्ड के भय से विवश होकर ऐसा कार्य कर रहा है, दण्ड के वशीभूत होने से अथवा उसके आधीन होने के कारण उसे किसी भी प्रकार से स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। किन्तु यदि वह अपनी इच्छा से और प्रसन्नता से राज्य के आदेशों का पालन करता है और इनका इस दृष्टि से पालन करता है कि इससे वह विश्वात्मा की इच्छा के अनुकूल कार्य कर रहा है और उसकी वास्तविक इच्छा भी यही है तो इस दशा में ही उसे वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। स्वतन्त्रता के इस रूप का प्रतिपादन करने के बाद हेगल ने यह ठीक ही लिखा है कि लोग प्राय: स्वतन्त्रता का यह अर्थ समझते हैं कि जनता को अपने शासक चुनने का अधिकार हो, उन्हें अपने कानून बनाने का अधिकार हो, उन्हें अपने विचारों को प्रकट करने की, बोलने की और लिखने की स्वाधीनता हो। हेगल इसे स्वतन्त्रता न मानता हुआ, उपर्युक्त रीति से राज्य के आदेशों को आँख मूंदकर पालन करने के कर्त्तव्य को ही स्वाधीनता समझता है। चूंकि हेगल के मतानुसार राज्य की आज्ञा का पालन ही स्वतन्त्रता है, अत: नागरिक राज्य के किसी कार्य को कभी अन्यायपूर्ण नहीं समझ सकते और उन्हें राज्य की किसी बात का विरोध करने का अथवा उसके विरुद्ध विद्रोह करने का कोई अधिकार नहीं है।

हेगल की स्वतन्त्रता की यह कल्पना बड़ी स्पष्ट है और भावात्मक (Positive) है। यह काण्ट की स्वतन्त्रता की कल्पना का विलोम है। काण्ट यह कहा करता था कि प्रत्येक व्यक्ति को सदैव अपने व्यक्तित्व की रक्षा करनी चाहिए, राज्य पर अधिक निर्भर नहीं रहना चाहिए। अत: काण्ट का स्वतन्त्रता का यह विचार अपने पर बल देने के कारण आत्मगत अथवा आन्तरिक (Subjective) था। इसकी दूसरी विशेषता नकारात्मक (Negative) होना था, क्योंकि वह स्वतन्त्रता का अर्थ मनुष्य की स्वाधीनता को प्रधान रूप से कई प्रकार के प्रतिबन्धों से मुक्त करने पर, उसकी गति-विधि, विचारों की अभिव्यक्ति आदि पर कोई पाबन्दियाँ न लगाने पर बल देता था; किन्तु हेगल का स्वतन्त्रता का विचार इन दोनों बातों में काण्ट के विचार से भिन्न था। वह स्वतन्त्रता को नकारात्मक न मानकर भावात्मक (Positive) अर्थात् राज्य के आदेशों का पालन करना मानता था। इसके साथ ही उसका स्वतन्त्रता का विचार व्यक्ति तक ही सीमित न होने से आत्मगत (Subjective) नहीं था, वह इसे राज्य की विशेषता मानता था, अत: उसका यह विचार वस्तुगत (Objective) था। दोनों में

इस विषय में एक अन्य भेद यह था कि काण्ट व्यक्तिवाद (Individualism) का पोषक है, वह व्यक्ति को साध्य मानता है, अतः वह अपना स्वतन्त्रता का विचार व्यक्ति तक ही सीमित (Limited) रखता है। किन्तु हेगल व्यक्ति को साधन और राज्य को साध्य मानता है। अतः उसका स्वतन्त्रता का विचार व्यक्ति तक ही सीमित नहीं है। इसलिए बार्कर ने यह सत्य ही लिखा है कि हेगल ने काण्ट की स्वतन्त्रता के उस विचार की आलोचना की जो नकारात्मक, सीमित एवं आत्मगत (Subjective) था; इसके स्थान पर उसने स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में ऐसे विचार का प्रतिपादन किया जो अधिक भावात्मक और वस्तुगत (Objective) था तथा उसकी अपेक्षा कम व्यक्तिवादी था।[1] वस्तुतः हेगल व्यक्ति की निजी स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं मानता था, उसका यह कहना है कि व्यक्ति राज्य की इच्छा में अपने को जितना अधिक विलीन करेगा उसकी स्वतन्त्रता उतनी ही अधिक पूर्ण होगी। इस विषय में वह प्लेटो, अरस्तू आदि प्राचीन यूनानियों द्वारा प्रतिपादित इन सिद्धान्तों में आस्था रखता था कि व्यक्ति अपने जीवन का पूर्ण विकास समुदाय के जीवन में या राज्य में ही कर सकता है तथा कोई भी व्यक्ति अपने पर पूर्ण अधिकार नहीं रखता क्योंकि सब पर राज्य का अधिकार है।

युद्धविषयक विचार—पहले यह बताया जा चुका है कि हेगल के मतानुसार विभिन्न राज्यों के पारस्परिक विवादों के निर्णय का एकमात्र हल युद्ध है। वह काण्ट की भाँति स्थायी शान्ति का उपासक नहीं था और न ही राष्ट्रों के किसी अन्तर्राष्ट्रीय संघ का समर्थक था। उसे राष्ट्रसंघ का विचार बड़ा बेहूदा प्रतीत होता था। उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति राष्ट्रीय राज्य (Nation-State) को राजनीतिक संगठन का चरम रूप समझती थी। उसका यह मत था कि राष्ट्रीय राज्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता को बनाए रखने के लिए जब चाहे तब युद्ध के उपाय का अवलम्बन कर सकता है; क्योंकि यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो राज्य के रूप में उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा; चूँकि राज्य का जीवन और उद्देश्य व्यक्ति के जीवन एवं उद्देश्य से अधिक ऊँचे हैं अतः व्यक्ति को, राज्य की रक्षा के लिए किए जाने वाले युद्ध में, सब प्रकार का बलिदान करने के लिए तैयार रहना चाहिए, ताकि राज्य की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी रह सके। हेगल काण्ट की स्थायी शान्ति को कोरा सपना समझता था, वह युद्ध का प्रबल प्रशंसक और समर्थक था! उसका यह मत था कि युद्ध एक अतीव उपयोगी तथा लाभदायक कार्य है। वेपर ने लिखा है कि एक्टन के वाक्य को कुछ बदलते हुए हेगल के बारे में यह कहा जा सकता है कि उसके कथनानुसार शान्ति मनुष्य के चरित्र को भ्रष्ट करने वाली थी और स्थायी शान्ति मानव-चरित्र का शाश्वत रूप से पतन करने वाली थी।[2] युद्ध मनुष्यों में विभिन्न सद्गुणों का विकास करता है, उनमें साहस, देशभक्ति, एकता, शूरवीरता और बलिदान की भावनाओं को जागृत एवं पुष्ट करता है, राष्ट्रों के अहंकार की भावना को नष्ट करता है। लड़ाई मानव-जाति के नैतिक

---

१. बार्कर—पोलिटिकल फिलासफी इन इंगलैण्ड १८४८-१९१४, पृ० १९

२. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० १६५

विकास के लिए तथा उसका मानसिक स्वास्थ्य बनाए रखने के लिए अत्यावश्यक है। जिस प्रकार समुद्र में शान्ति के समय उत्पन्न होने वाली गन्दगी प्रबल तूफान से नष्ट हो जाती है उसी प्रकार मानव-समाज की गन्दगी तथा भ्रष्टाचार की शुद्धि युद्ध से हो जाती है। "सफलता पाने वाले युद्धों ने गृहयुद्धों की सम्भावना को समाप्त किया है तथा राज्य की आन्तरिक शक्ति को सुदृढ़ बनाया है।"

युद्ध में होने वाले नवीन आविष्कार विश्वात्मा द्वारा अपनी प्रगति के महान् यात्रा में विचारपूर्वक किए जाने वाले बड़े परिवर्तन हैं। बन्दूक और बारूद सभ्यता को उन्नत करने वाले आविष्कार थे।

हेगल द्वारा युद्ध की स्तुति करने का कारण उसके कुछ दार्शनिक सिद्धान्त थे। उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति का मौलिक तत्व वाद और प्रतिवाद का संघर्ष था। उसका यह भी विश्वास था कि प्रत्येक राज्य और राष्ट्र एक विचार (Idea) का मूर्त्त रूप होता है, वस्तुतः 'प्रत्येक राज्य विश्वात्मा के एक विशिष्ट विचार की साकार प्रतिमा' थी। कोई भी राज्य विश्वात्मा के समूचे विचार को मूर्त्त रूप नहीं दे सकता। इतिहास में विश्वात्मा अपने को नाना रूपों में प्रकट करती है, किन्तु किसी भी युग का प्रधान रूप उस समय सर्वाधिक शक्ति रखने वाले किसी राज्य के रूप में प्रकट होता है। राज्यों में होने वाले विभिन्न युद्धों से ऐसे शक्तिशाली राज्यों का प्रादुर्भाव होता है तथा विश्वात्मा अधिक पूर्ण विकास को प्राप्त करती है। युद्ध में ही विश्वात्मा (Weltgeist) इस बात का निर्णय करती है कि कौनसा राष्ट्र इसके विचार का अधिक सच्चा मूर्त्त रूप है, इसी राष्ट्र को विश्वात्मा विजय प्रदान करती है। युद्ध में विजय प्राप्त करना इस बात का प्रबल प्रमाण है कि विजेता राष्ट्र विजित राष्ट्र की अपेक्षा अधिक सचाई के साथ विश्वात्मा के किसी विचार की साकार प्रतिमा है। इस विषय में हेगल का यह कथन उल्लेखनीय है कि विश्वात्मा द्वारा विजय के लिए चुने जाने वाले राष्ट्र को कभी भी पहले से ही अपनी इस महत्वपूर्ण भूमिका या कार्य का ज्ञान नहीं होता है। अतः कोई राष्ट्र युद्ध छेड़ते समय इस बात का दावा नहीं कर सकता कि वह इस लड़ाई को विश्वात्मा के आदेश पर उसके प्रयोजन को पूरा करने के लिए लड़ रहा है। वह इस दावे को तभी कर सकता है जब वह युद्ध में सफलता प्राप्त कर ले। उदाहरणार्थ, हिटलर द्वितीय विश्वयुद्ध छेड़ते हुए १९३९ में यह दावा नहीं कर सकता था कि वह विश्वात्मा के आदेश का पालन करने के लिए इस लड़ाई को शुरू कर रहा है। यदि वह १९४५ में विजयी होता तो उसे यह दावा करने का अधिकार होता कि जर्मनी विश्वात्मा के प्रयोजन को सफल बनाने के लिए यह लड़ाई लड़ रहा है।

शासनविषयक विचार—मौलिक सिद्धान्त - हेगल के शासनविषयक विचारों को उसके दार्शनिक सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में ही समझा जा सकता है। इस विषय में हेगल के दो दार्शनिक सूत्र स्मरणीय हैं : पहला सूत्र है कि "वास्तविक तत्व बुद्धिसंगत है" (The actual is the rational) तथा दूसरा सूत्र है कि "समष्टि ही वास्तविक है" (The Whole is real)। पहले सूत्र से यह परिणाम निकलता है कि मानव-समाज में इसे नियन्त्रण में रखने वाली जो भी शक्तियाँ हैं वे कुछ अंशों में बुद्धिसम्पन्न

हैं, अर्थात् विचार एवं बुद्धि की साकार प्रतिमा विश्वात्मा का आंशिक रूप हैं। दूसरे सूत्र से यह परिणाम निकलता है कि सत्ता को अपना पूर्ण रूप तभी प्राप्त होता है जब सत्ता के निम्न स्तरों पर पाए जाने वाले विरोधों का समाधान एक अन्तिम समन्वय द्वारा किया जाता है। यह अन्तिम समन्वय राज्य है, यह पूर्ण समष्टि (Organic Whole) है। पूर्ण रूप से विकसित राज्य का शासन अपने स्वरूप और विशेषताओं को इस समन्वय से ग्रहण करता है। यह विशेष हितों का नहीं, अपितु सार्वभौम (Universal) हितों का संरक्षण करता है। इसके विकास से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुसार विकसित होने वाले राज्य के समन्वय (Synthesis) का वाद (Thesis) परिवार तथा प्रतिवाद (Antithesis) व्यवस्थित नागरिक समाज (Civil Society) हैं। परिवार पति-पत्नी और बच्चों की एकता (Unity) का प्रतिनिधि है. इसका विरोध स्पर्द्धा के तत्व पर बल देने वाले नागरिक समाज से होता है। किन्तु विरोध की स्थिति अधिक देर तक नहीं रह सकती, अतः दोनों में समन्वय होकर राज्य की स्थापना होती है।

संविधान—राज्य के संविधान (Constitution) के बारे में हेगल का यह विचार था कि यह समानता रखने वाली सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं के भीतर कई पीढ़ियों तक निवास करने वाले जन-समूहों द्वारा पालन की जाने वाली आदतों से बनता है। संविधान में राज्य की शक्तियों को उसने यद्यपि तीन भागों में बाँटा है, किन्तु उसका यह विभाजन मांतेस्क्यू आदि विचारकों द्वारा किए गए शक्तियों के विभाजन (Separation of Powers) से दो बातों में मौलिक भेद रखता है: पहला भेद यह है कि वह इन तीनों शक्तियों को एक-दूसरे से स्वतन्त्र तथा एक-दूसरे का नियन्त्रण करने वाला नहीं मानता है, प्रत्येक शक्ति अपने में पूर्ण और दूसरी शक्ति का विरोध करके सन्तुलन स्थापित करने वाली नहीं है, किन्तु तीनों शक्तियाँ एक-दूसरे की पूरक तथा एक महान् समष्टि के विभिन्न अंग हैं। हेगल का यह विचार था कि फ्रांस में राज्यक्रान्ति होने का तथा प्राचीन राजतन्त्र के पतन होने का एक बड़ा कारण यह था कि वहाँ शासन करने वाली (Executive) तथा कानून बनाने वाली (Legislative) शक्तियाँ पृथक्-पृथक् थीं। दूसरा बड़ा भेद यह था कि उसने मांतेस्क्यू की कार्यपालिका, विधानपालिका, न्यायपालिका की तीन शक्तियों के स्थान पर विधानपालिका, कार्यपालिका तथा राजतन्त्र (Monarchy) की तीन शक्तियों को माना था। उसने अपनी व्यवस्था में न्यायपालिका को स्वतन्त्र नहीं माना, किन्तु इसे कार्यपालिका की शाखा स्वीकार किया; इसके स्थान पर उसने राजतन्त्र की तीसरी शक्ति मानी।[1] अपनी शासन-पद्धति में हेगल ने राजा को विशेष स्थान इसलिए दिया है कि राजा विधानपालिका और कार्यपालिका में समन्वय स्थापित करके उन्हें एक बनाता है। इस प्रकार राजा राज्य की एकता और सर्वोच्च सत्ता का प्रतीक है। उसके मतानुसार प्रभुसत्ता जनता में नहीं, किन्तु राजा में निहित है। वही राज्य की इच्छा (Will) का निर्धारण करता है। हेगल वैध राजतन्त्र (Constitutional

१. लैंकास्टर—मास्टर्स आफ पोलिटिकल थाट, तीसरा खण्ड, पृ ५४

Monarchy) का समर्थक है। शासन का कार्य सामान्य रूप से मन्त्री और राजकीय कर्मचारी (Civil Servants) करते रहते हैं, केवल संकट के विशेष अवसरों पर ही राजा महत्वपूर्ण निर्णय करता है। वैध राजतन्त्र का पोषक होते हुए जर्मन दार्शनिक ब्रिटेन के वैध राजतन्त्र को पसन्द नहीं करता था। उसका आदर्श प्रशिया का राजा था। यहाँ इंगलैण्ड की भाँति लोकसभा में बहुमत रखने वाले दल के व्यक्ति मन्त्री नहीं बनाए जाते थे, किन्तु राजा अपनी इच्छा से व्यक्तियों को मन्त्री बनाता था। वह यद्यपि उनके परामर्श से कार्य करता था, किन्तु उसे स्वतन्त्र रूप से निर्णय करने का तथा मन्त्रियों को पदच्युत करने का अधिकार था ; प्रशिया का प्रधानमन्त्री ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की भाँति अपने को विधानसभा या पार्लियामैण्ट के प्रति उत्तरदायी न समझकर प्रशिया के सम्राट् के प्रति उत्तरदायी समझता था, १९१२ में जर्मन पार्लियामैण्ट द्वारा विरोधी रवैया अपनाने पर जर्मन प्रधानमन्त्री ने इसी प्रकार की घोषणा की थी।[1] हेगल के राजतन्त्र की एक अन्य विशेषता ध्यान देने योग्य है : वह वैध राजतन्त्र का प्रबल समर्थक होते हुए भी इसे वंशपरम्परागत (Hereditary) मानता था।

शासन के अन्य दो अंगों विधानपालिका और कार्यपालिका के विषय में हेगल के विशिष्ट सिद्धान्त उल्लेखनीय हैं। आजकल प्रायः सभी विधानसभाओं के सदस्य विभिन्न प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्र से जनता द्वारा वोट डालकर चुने जाते हैं। हेगल इस प्रणाली को पसन्द नहीं करता था। उसका यह कहना था कि मतदान द्वारा विधायकों के चुने जाने की यह पद्धति मौलिक रूप से दोषपूर्ण है, क्योंकि राज्य व्यक्तियों का समूह (aggregate of individuals) नहीं है, अपितु विभिन्न प्रकार के समुदायों का समूह (collection of groups) है। समाज में नाना प्रकार के वर्ग रहते हैं, विधानसभा में इन वर्गों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। हेगल अपनी विधानसभा के दो सदनों में से एक सदन का निर्माण तो जमींदारों के वर्ग से करता है तथा दूसरे सदन में वह राजा के आदेश से विभिन्न व्यवसायों, पेशों और सांस्कृतिक संगठनों द्वारा चुने हुए व्यक्तियों को सम्मिलित करता है। लैंकास्टर ने लिखा है कि उसकी यह व्यवस्था मध्ययुग की ब्रिटिश पार्लियामैण्ट की व्यवस्था से मिलती है, क्योंकि इसकी लार्डसभा में बड़े जमींदार और पादरी सम्मिलित होते थे तथा कामन्स सभा में नगरों के व्यापारी, अन्य नगरवासी (Burgesses) तथा जिलों और देहाती प्रदेशों में रहने वाले नाइट (Knight) सम्मिलित होते थे।[2] हेगल अपनी विधानसभा के सदस्यों को उच्च जमींदार वर्ग से तथा मध्यम वर्ग से सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न पेशों के प्रतिनिधि समझता था। समाज के विभिन्न वर्गों के स्वार्थों को प्रतिनिधित्व देने की प्रणाली को कार्यमूलक प्रतिनिधित्व (Functional Representation) की व्यवस्था कहते हैं। मध्ययुग में समूचे योरोप में यह व्यवस्था सार्वभौम थी। वर्तमान समय में मुसोलिनी ने इटली में इसे क्रियात्मक रूप दिया था। यह बात उल्लेखनीय है कि यह व्यवस्था हेगल द्वारा बहुप्रशंसित प्रशिया की शासन-पद्धति में

१. लैंकास्टर— मास्टर्स आफ पोलिटिकल थाट, पृ० ६३
२. वही, पृ० ५६

भी नहीं थी। विधानपालिका के विषय में हेगल का दूसरा विशेष विचार यह था कि यह सरकारी कर्मचारियों को विशुद्ध रूप से परामर्श देने वाली संस्था थी, इसे इन पर नियन्त्रण का कोई अधिकार नहीं था। आजकल संसदीय शासन-प्रणाली में सर्वत्र विधानपालिका शासन-व्यवस्था पर पूरा अंकुश रखती है। हेगल इस व्यवस्था से सहमत नहीं है।

कार्यपालिका (Executive) पर हेगल ने बहुत बल दिया है, क्योंकि वस्तुतः शासन का संचालन करने की प्रधान शक्ति इसी में निहित है। शासन चलाने का सामान्य कार्य सरकारी कर्मचारी (Civil Servants) या नौकरशाही (Bureaucracy) करती है। उसने समाज की तीन श्रेणियों में इस श्रेणी को सर्वोच्च स्थान दिया है। ये तीन श्रेणियाँ क्रमशः (१) कृषक, (२) व्यापारी, कारीगर और व्यवसायी तथा (३) सरकारी कर्मचारी हैं। कृषक और व्यापारी अपने संकीर्ण क्षेत्रों में कार्य करते हैं, किन्तु सरकारी कर्मचारी शासन-संचालक का सार्वभौम (Universal) कार्य करता है। वह पहली दोनों श्रेणियों की तुलना में समाज की सामान्य इच्छा तथा विवेक (Reason) का प्रतिनिधित्व करता है; किन्तु कृषक और कारीगर अपने विशिष्ट क्षेत्रों के संकीर्ण स्वार्थों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। हेगल यह भी मानता था कि "राज्य के संगठन और आवश्यकताओं को समझने के लिए उच्चतम सरकारी कर्मचारियों में अधिक गम्भीर और व्यापक दृष्टि होती है।[1] वे विधानपालिका की सहायता के बिना ही सर्वोत्तम शासन कर सकते हैं। इसी आधार पर हेगल ने यह भी कहा है कि सामान्य रूप से कानूनों को प्रस्तावित करने का कार्य उच्च सरकारी कर्मचारियों का ही होना चाहिए। इस विषय में विधानपालिकाओं के दो कार्य होने चाहिएँ—(१) इनके सम्मुख समाज की ऐसी आवश्यकताओं को प्रस्तुत करना जो सरकारी कर्मचारियों की दृष्टि में आने से चूक जाएँ। (२) शासन-प्रबन्ध के विषय में जनता द्वारा की जाने वाली आलोचना की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करना। उसके मतानुसार कानूनों में सामान्य सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन होना चाहिए था, इनको विस्तृत रूप से लागू करने तथा इस विषय में व्यवस्थाएँ बनाने का कार्य सरकारी कर्मचारियों पर ही छोड़ देना चाहिए।

लैंकास्टर ने यह मत प्रकट किया है कि हेगल वास्तव में कुलीनतन्त्र (Aristocracy) की पुरानी शासक श्रेणी के स्थान पर योग्यता के आधार पर चुनी जाने वाली नई शासक श्रेणी का निर्माण करना चाहता था। पुराना कुलीनतन्त्र जन्म-मूलक था, उसे अपनी कुलीनता का अभिमान था, वह राज्य के पदों को अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति समझता था। इस श्रेणी का स्थान हेगल "अपने वैयक्तिक स्वार्थ न रखने वाली, सार्वजनिक कार्यों को कर्त्तव्य बुद्धि से करने वाली तथा अपने कार्य के लिए उत्तम रूप से प्रशिक्षित इस श्रेणी को देना चाहता था।" उसने तत्कालीन ब्रिटिश सरकार के कुलीनतन्त्र की आलोचना इसी आधार पर की थी कि इस श्रेणी के लोग बड़े स्वार्थी और सार्वजनिक कर्त्तव्य की भावना से शून्य थे। जर्मनी में महान् फ्रेडरिक ने पुराने

१. लैंकास्टर—मास्टर्स आफ पोलिटिकल थाट, पृ० ६५

सामन्तवाद के साथ संघर्ष में प्रशिया में सरकारी कर्मचारियों की इस श्रेणी का विकास किया था। हेगल की सूक्ष्म दृष्टि ने इस श्रेणी के महत्व को सही रूप में पहचान लिया था, इसका कुछ कारण शायद यह भी था कि उसने स्वयमेव इस श्रेणी में जन्म लिया था। यह वास्तव में राजनीतिक क्षेत्र में उसका एक उदात्त विचार था कि वह ऐसे सरकारी कर्मचारियों की श्रेणी का प्रबल समर्थन करे जो राज्य में चल रहे क्षुद्र झगड़ों से ऊपर उठकर विशाल दृष्टि से, अद्भुत योग्यता और क्षमता के साथ, सार्वजनिक कर्त्तव्य की भावना से ओतप्रोत होकर, केवल राजा के प्रति अपने को उत्तरदायी समझते हुए शासन के सभी कार्यों का संचालन करे।

शासन के प्रकार– हेगल ने शासन के तीन प्रकार माने हैं—(१) निरंकुश शासन (Despotism), (२) लोकतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र, (३) राजतन्त्र। पहले (पृ० १४१) यह बताया जा चुका है कि विश्वात्मा ने इतिहास में तीन दशाएँ ग्रहण की थीं : पहली दशा चीन, भारत, मिस्र आदि पूर्वी देशों की थी। इनमें निरंकुश राजतन्त्र की पद्धति प्रचलित थी, यहाँ केवल एक ही व्यक्ति को अर्थात् निरंकुश शासक को स्वतन्त्रता प्राप्त थी। दूसरी दशा यूनानी नगर-राज्यों की थी। इनमें लोकतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र की शासन-पद्धतियाँ प्रचलित थीं और कुछ व्यक्तियों को स्वतन्त्रता मिली। हुई थी। किन्तु अन्त में जर्मन लोगों ने ईसाइयत के प्रभाव से यह ज्ञान प्राप्त किया कि मनुष्य स्वतन्त्र है, अब सब मनुष्यों को स्वतन्त्रता मिली। यहाँ राजतन्त्र की शासन-प्रणाली प्रचलित है, वैध राजतन्त्र सर्वोत्तम शासन-प्रणाली है। हेगल के कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि पूर्वी जगत् में केवल निरंकुश राजतन्त्र की और यूनान में केवल लोकतन्त्र की शासन-प्रणाली प्रचलित थी, उसके कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि पूर्वी देशों की भौतिक तथा बौद्धिक परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि निरंकुश राजतन्त्र उनके लिए अधिक अनुकूल था। हेगल का यह सिद्धान्त है कि प्रत्येक राज्य की अपनी विशिष्ट संस्कृति होती है, यह भौगोलिक परिस्थितियों से तथा राष्ट्रवासियों के स्वाभाविक एवं सामाजिक गुणों से निश्चित होती है। इसे उसने विश्वात्मा (Weltgeist) की तुलना में राष्ट्रीय मानस या राष्ट्रात्मा (Volksgeist) का नाम दिया है। प्रत्येक राज्य अपनी विशिष्ट राष्ट्रात्मा के साथ मानव-जाति की प्रगति में तथा विश्वात्मा के विकास में सहयोग देता है।

काण्ट तथा हेगल की तुलना—दोनों जर्मन दार्शनिक आदर्शवादी हैं। काण्ट ने ह्यूम का अनुसरण करते हुए अपने दर्शन का आधार आध्यात्मिक सत्ता को प्रधानता देते हुए भी इससे भिन्न दृश्यमान (Phenomenal) जड़ जगत् के मूलतत्व (Thing in itself) को माना था। किन्तु हेगल विशुद्ध अद्वैतवादी है, जड़ जगत् की पृथक् सत्ता न मानते हुए जड़-चेतन सभी वस्तुओं को विश्वात्मा का रूप मानता है, यह विश्वात्मा वेदान्तियों के ब्रह्म की भाँति निर्जीव और सजीव प्रकृति में विकसित होते हुए अन्त में मनुष्य के रूप में विकसित होता है। **दूसरा भेद** दोनों दार्शनिकों की पद्धति में है। काण्ट ने विश्लेषणात्मक (Analytic) तथा निगमनीय (Deductive) पद्धति द्वारा ज्ञान प्राप्ति पर बल दिया था, हेगल ने इसके स्थान पर ऐतिहासिक, विकासवादी (Evolutionary) तथा द्वन्द्वात्मक पद्धति का अनुसरण किया। **तीसरा भेद** व्यक्तिवाद-

विषयक है। काण्ट व्यक्तिवादी (Individualist) है, वह व्यक्ति के विकास पर बल देता है। किन्तु हेगल ने इसे बिलकुल अस्वीकार करते हुए राज्य को साध्य तथा व्यक्ति को उसका साधन बना दिया, उसकी दृष्टि में स्वतन्त्रता का अर्थ राज्य के आदेशों का पालन करना है। **चौथा भेद** काण्ट का स्थायी शान्ति का समर्थन तथा युद्धों को बन्द करने के लिए राष्ट्रसंघ बनाने की विचारधारा का है। हेगल शान्ति को कोरा सपना तथा युद्ध को मानव-विकास के लिए अतीव आवश्यक समझता है। **पाँचवाँ भेद** काण्ट द्वारा राज्य के सामाजिक अनुबन्ध (Social Contract) के सिद्धान्त को मानना है, हेगल इसे स्वीकार नहीं करता है। **छठा भेद** स्वतन्त्रता के विचार का है, पहले (पृ० १४९-५०) यह बताया जा चुका है कि काण्ट का स्वतन्त्रता का विचार नकारात्मक, आत्मगत (Subjective) तथा सीमित (Limited) है, हेगल की स्वतन्त्रता भावात्मक (Positive), वस्तुगत (Objective) तथा अमर्यादित है। **सातवाँ भेद** राज्य के बारे में है, काण्ट राज्य को नैतिकता के बन्धनों में बँधा हुआ तथा इससे ऊपर अन्तर्राष्ट्रीय कानून की तथा राष्ट्रसंघ की सत्ता का समर्थन करता है, किन्तु हेगल राज्य को नैतिकता के किसी बन्धन से न बँधी हुई पूर्ण रूप से स्वतन्त्र सत्ता मानता है। अतः दोनों दार्शनिक आदर्शवादी होते हुए भी गम्भीर मतभेद रखते हैं।

हेगल के विचारों की आलोचना—हेगल द्वारा दुरूह दार्शनिक शब्दों में प्रतिपादित उपर्युक्त विचारों की बड़ी कड़ी आलोचना की गई है। उसे बीसवीं शताब्दी की दो बड़ी सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) विचारधाराओं—फासिज़्म और साम्यवाद—का मूल स्रोत माना गया है। एबेन्स्टाइन ने लिखा है कि "यद्यपि उसने अपने राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन बड़ी शब्दाडम्बरपूर्ण दार्शनिक परिभाषाओं में किया है, किन्तु उसमें फासिज़्म के सभी तत्व मिलते हैं। ये तत्व इस प्रकार हैं—अपनी जाति का उग्र अभिमान (Racialism), राष्ट्रीयता, विश्व के नेतृत्व का दावा, जनता की सहमति के स्थान पर शक्ति द्वारा शासन और शक्ति को अत्यधिक गौरव प्रदान करना (Idolization of Power)। हेगल ने १८०२ में लिखा था कि मनुष्य इतने मूर्ख हैं कि वे नहीं जानते कि सचाई शक्ति में निवास करती है—क्योंकि शक्ति प्रकृति द्वारा किए जाने वाले न्याय का प्रधान साधन है।......मेकियावेली ने भी शक्ति और नैतिकता को भिन्न माना था और यह कहा था कि ये दोनों सर्वथा पृथक् स्वरूप रखने वाली व्यवहार-पद्धतियाँ हैं। इनमें से प्रत्येक के अपने नियम हैं और दोनों एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं। किन्तु हेगल इस बात में मेकियावेली से भी आगे बढ़ गया, उसने शक्ति और नैतिकता को अभिन्न बना दिया,[1] उसने यह प्रतिपादन किया कि राज्य नैतिकता के नियमों से बँधा हुआ नहीं है, वह जैसा चाहे वैसा व्यवहार कर सकता है। इसने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भीषण अराजकता उत्पन्न की है, हेगल की विचारधारा से अनुप्राणित होकर जर्मनी ने २०वीं शताब्दी में दो बार विश्वयुद्ध छेड़कर भीषण विध्वंस और विनाश की ताण्डव लीला की। इसके अतिरिक्त हेगल के सिद्धान्तों के अन्य प्रधान दोष निम्नलिखित हैं—

पहला तथा सबसे बड़ा दोष हेगल द्वारा व्यक्ति को राज्य की वेदी पर बलिदान

१. एबेन्स्टाइन—ग्रेट पोलिटिकल थिंकर्स, पृ० ५९५

कर देना है। वह व्यक्ति को साधन तथा राज्य को साध्य मानते हुए यह घोषणा करता है कि राज्य की सत्ता को बनाए रखने के लिए व्यक्ति को अपना सर्वस्व देने के लिए तैयार रहना चाहिए, उसका अस्तित्व राज्य के लिए है, वह उसे राज्य की तुलना में कोई अधिकार नहीं देता। उसने राज्य को सर्वथा निरंकुश, पूर्ण, प्रभुतासम्पन्न तथा व्यक्ति के अधिकारों को रौंदने वाला बना दिया है। इसका यह परिणाम हुआ है कि ब्राउन के शब्दों में व्यक्ति राज्य का दास बन गया है, वह उसके लिए सैनिक सेवा करने और युद्धों में खून बहाने के लिए विवश हो गया है। उसने हिटलर और मुसोलिनी जैसे सर्वाधिकारवादी अधिनायकों की परम्पराओं को जन्म दिया है आधुनिक युग की अधिनायकवादी विचारधाराओं का श्रीगणेश करने का तथा इनके कारण होने वाले व्यक्ति के भीषण दमन का दोष हेगल को ही दिया जाना चाहिए। वेपर के शब्दों में उसने मानव के चरम उत्कर्ष पर बल दिया, किन्तु इसके साथ-साथ व्यक्ति के अधिकारों को रौंदने वाले भीषण अत्याचारों वाले युग को आरम्भ किया।[1] वह बुद्धि (Reason) तत्व का परम उपासक था, किन्तु सम्भवतः उसने बुद्धिशून्यता (Unreason) के वर्तमान युग का पथ प्रशस्त करने में सबसे अधिक भाग लिया है। राज्य की निरंकुशता तथा व्यक्ति के अधिकारों के हनन की जिस बुराई को उसने उत्पन्न किया है उसके दुष्परिणाम हम आज भी भोग रहे हैं।

उसका **दूसरा दोष** राज्य को देवता बताना और उसे भगवान् का रूप समझना है। इस बात को सभी मानते हैं कि राज्य ने व्यक्ति के बौद्धिक एवं मानसिक विकास में बहुत बड़ा भाग लिया है, किन्तु अन्य संस्थाओं ने भी इसमें बहुत सहायता की है। इस सम्बन्ध में धर्म और चर्च का कार्य उल्लेखनीय है तथा उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। **तीसरा दोष** उसकी स्वतन्त्रता का दूषित विचार है। ग्रीन ने इसकी आलोचना करते हुए लिखा है कि एथेन्सवासी दास को उसका स्वामी अपनी वासनाओं की पूर्ति का साधन बना सकता था, इस दशा में यह कहना क्रूर व्यंग्य होगा कि दासों पर अत्याचार करने की खुली छूट देने वाले राज्य को स्वतन्त्रता की साकार प्रतिमा स्वीकार किया जाए। हेगल ने स्वतन्त्रता के जिस विचार का प्रतिपादन किया है वह वर्तमान समाज की परिस्थितियों में सत्य प्रतीत नहीं होता है। **चौथा दोष** हेगल द्वारा राज्य के कार्यों पर किसी प्रकार के नैतिक बन्धन को न मानना है। यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में राज्यों को स्वच्छन्द आचरण की खुली छूट देकर अराजकता उत्पन्न करने वाला तथा सभ्यता की प्रगति को पीछे की ओर धकेलने वाला है।

पाँचवाँ दोष यह था कि यद्यपि हेगल ने अपने दार्शनिक विचारों में ऐसे आदर्श राज्य का प्रतिपादन किया था जो वास्तविक जगत् में अपनी सत्ता नहीं रखता था, फिर भी उसने इस आदर्श राज्य को प्रशिया के तत्कालीन जर्मन राज्य से अभिन्न माना था। अतः उसका आदर्श राज्य प्रशिया की भाँति निरंकुश राजतन्त्र में पाए जाने वाले दोषों वाला था। उसने अपनी तर्क-पद्धति से तत्कालीन परिस्थितियों को न्यायोचित सिद्ध करने का प्रयत्न किया। सुप्रसिद्ध राजनीतिशास्त्री वाघन (Vaughan) के

---

१. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० १७५

मतानुसार उसके इस प्रकार के दार्शनिक चिन्तन का यह परिणाम हुआ कि उसने प्रशिया के तत्कालीन राज्य की व्यवस्था एवं संस्थाओं के प्रति अन्धविश्वासपूर्ण भक्ति और निष्ठा का प्रदर्शन किया तथा इसे खतरे में डालने वाली अथवा उसका संशोधन करने वाली किसी भी व्यवस्था के प्रति घोर अविश्वास और सन्देह प्रकट किया। यह प्रवृत्ति मानव-समाज की प्रगति को अवरुद्ध करने वाली तथा उसके विकास पर कुठाराघात करने वाली थी। **छठा दोष** उसकी द्वन्द्वात्मक (Dialectic) पद्धति की दूषित तर्क-प्रणाली थी। उसका यह दावा था कि उसने तर्कशास्त्र की दोषपूर्ण पद्धति के स्थान पर नवीन द्वन्द्वात्मक पद्धति का आविष्कार किया है, किन्तु उसकी यह पद्धति बिलकुल मनमानी, अस्पष्ट और सर्वथा अवैज्ञानिक थी। इसके दोषों का प्रतिपादन पहले किया जा चुका है।

सातवाँ दोष यह था कि उसने अपनी तर्क-प्रणाली और शब्दाडम्बर से कुछ प्रसिद्ध राजनीतिक शब्दों का ऐसा अर्थपरिवर्तन किया कि इससे अर्थ का अनर्थ हो गया। वस्तुतः हम उस समय आश्चर्यचकित हो जाते हैं जब हम यह देखते हैं कि उसने स्वतन्त्रता का अर्थ राज्य के आदेशों का पालन करना बताया है; सरल शब्दों में इसका यह अभिप्राय है कि राज्य की पराधीनता में व्यक्ति स्वाधीनता का उपभोग कर सकता हैं। वस्तुतः परतन्त्रता को अपने तर्क से स्वतन्त्रता सिद्ध कर देना हेगल की बुद्धि का एक महान् चमत्कार है। **आठवाँ दोष** हेगल का राज्य को विश्वात्मा के विकास का चरम रूप मानते हुए यह भ्रान्त कल्पना कर लेना है कि किसी व्यक्ति का समूचा विकास राज्य में ही सम्भव हो सकता है। प्लेटो तथा अरस्तू आदि पुराने यूनानी विचारकों का यह दृढ़ विश्वास था कि मनुष्य का विकास राज्य या समाज के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं हो सकता। हेगल ने इसी का अनुसरण करते हुए अपने उपर्युक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। किन्तु उसने यह नहीं प्रदर्शित किया कि वर्तमान राज्य किस प्रकार मनुष्य का सर्वांगीण विकास कर सकता है। पुराने यूनान में भले ही यह सम्भव रहा हो, किन्तु आधुनिक राज्य में यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। सेबाइन ने यह प्रदर्शित किया है कि आजकल मनुष्य के राजनीतिक जीवन के अतिरिक्त उसके आर्थिक, धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के अनेक पक्षों का विकास हो गया है, इन पक्षों में उसके विकास के लिए तथा उसकी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए विभिन्न संस्थाओं का विकास हुआ है और ये उसके सर्वांगीण विकास के लिए राज्य की भाँति आवश्यक हैं। इन संस्थाओं में विभिन्न प्रकार के धार्मिक संगठन—प्रोटैस्टैण्ट और रोमन कैथोलिक चर्च, आर्य समाज, सनातन धर्म सभाएँ, अरविन्द आश्रम, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, सं० रा० संघ की विभिन्न संस्थाएँ, विभिन्न वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संगठन हैं। वर्तमान समय में मनुष्य के जीवन का बड़ा विकास इन संगठनों द्वारा होता है, अतः यह कहना सत्य नहीं है कि राज्य मनुष्य के विकास का चरम रूप है।[1]

नवाँ दोष हेगल द्वारा व्यक्ति को किसी भी दशा में राज्य के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार प्रदान न करना है। इसका कारण यह हैं कि वह राज्य को भूतल पर भगवान्

१. सेबाइन—ए हिस्टरी आफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० ६४०

का अवतार समझता है, अतः व्यक्ति को उसकी आलोचना या विरोध करने का कोई अधिकार नहीं है। वस्तुतः हेगल ने राज्य को दिव्य बताकर १७वीं शताब्दी के राजा के दैवी अधिकार वाले सिद्धान्त (Divine Right Theory of Kings) का ही पुनरुज्जीवन किया था। इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें यह मान लिया जाता है कि व्यक्ति को राज्य की आलोचना करने का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि राज्य भगवान् का अंश होने के कारण सदैव सच्चाई पर होता है। यह स्थिति किसी आदर्श राज्य के बारे में भले ही सत्य हो, किन्तु इस पृथ्वी पर पाए जाने वाले वास्तविक राज्यों के बारे में सही नहीं हो सकती है। यदि राज्य वस्तुतः ऐसे होते तो उनका कभी विरोध न होता, उनके विरुद्ध विद्रोह न हुए होते। कई बार राज्य ऐसे कार्य करते हैं जो विशुद्ध रूप से स्वार्थपूर्ण तथा किसी विशेष वर्ग का प्रभुत्व स्थापित करने वाले तथा किसी अन्य वर्ग पर घोर अन्याय करने वाले होते हैं। इस प्रकार का भेद-भाव बढ़ाने वाले तथा अन्यायों का पोषण करने वाले राजकीय कार्यों को भगवान् का कार्य नहीं कहा जा सकता और उनका प्रतिरोध करना आवश्यक हो जाता है। उदाहरणार्थ, दक्षिण अफ्रीका के राज्य में अल्पसंख्यक गोरी जातियों ने अपना प्रभुत्व बनाए रखने के लिए भारतीयों तथा नीग्रो लोगों को मताधिकार से वंचित कर दिया था। महात्मा गांधी ने इस अन्याय के विरुद्ध दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह किया था। हेगल की दृष्टि से उन्हें इस अन्याय का प्रतिकार नहीं करना चाहिए था, क्योंकि यह राज्य की इच्छा के विरुद्ध था। सम्भवतः बहुत कम व्यक्ति इस विषय में हेगल के दृष्टिकोण को सही मानेंगे। अगले अध्याय में यह बताया जाएगा कि हेगल के सिद्धान्तों का सामान्य रूप से समर्थन करने वाले ब्रिटिश दार्शनिक ग्रीन ने इस विषय में उसके मत को अस्वीकार करते हुए कुछ विशेष अवस्थाओं में व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार दिया था।

दसवाँ दोष उसकी यह मान्यता है कि राष्ट्रीय राज्य (Nation State) के आविर्भाव के साथ विश्वात्मा के विकास की समाप्ति हो जाती है। हेगल इसे सामाजिक संगठन का पूर्णतम और चरम रूप स्वीकार करता है। किन्तु यह इतिहास से पुष्ट न होने के कारण सत्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि राष्ट्रों के उग्र संघर्ष मनुष्यों को यह अनुभव कराने लगे हैं कि राष्ट्रों के ऊपर इनके पारस्परिक विवादों का समाधान करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और सं० रा० संघ जैसे कुछ अन्तर्राष्ट्रीय संगठन होने चाहिएँ; अणुबमों द्वारा मानव-जाति के सर्वनाश की विभीषिका से आतंकित और संत्रस्त व्यक्ति अब अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की उपयोगिता और महत्व समझने लगे हैं। नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों से तथा व्यापार के विकास के कारण सब राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से एक-दूसरे पर निर्भर होने लगे हैं। अतः जोड ने यहाँ तक कहा है कि मानव-जाति में आर्थिक निर्भरता की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण राष्ट्रीय राज्य का विचार अब अतीत काल की वस्तु प्रतीत होने लगा है।

ग्यारहवाँ दोष हेगल का **ऐतिहासिक आवश्यकता** (Historic necessity) का भ्रान्त सिद्धान्त है। पहले यह बताया जा चुका है कि हेगल के मतानुसार विश्वात्मा अपने विकास के लिए विभिन्न राज्यों या राष्ट्रों के रूप में अवतरित होती है। यह

विकास उसकी दैवी योजना के अनुसार अनिवार्य रूप से स्वयमेव होता रहा है, यही ऐतिहासिक आवश्यकता है। इस विकास पर मनुष्यों की इच्छा या कार्यों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आस्तिकता की दृष्टि से यह सिद्धान्त भले ही अभीष्ट प्रतीत हो, किन्तु सामान्य दृष्टि से यह सर्वथा असत्य और अनाकर्षक प्रतीत होता है। इतिहास मानवीय प्रयत्नों से बनाए गए राज्यों और राष्ट्रों के उदाहरणों से भरा पड़ा है। यदि इस विश्व में सभी घटनाएँ दैवी योजना के अनुसार होती हैं और मनुष्यों के प्रयास निरर्थक हैं तो उद्योगी एवं साहसी पुरुषों को ऐसे जगत् में निवास करना सर्वथा अरुचिकर प्रतीत होगा।

बारहवाँ दोष विश्वात्मा के विकास में व्यक्तियों की तुलना में राष्ट्रों को अनुचित महत्व देना है। हेगल यह मानता है कि विश्वात्मा अपने विकास में विभिन्न राष्ट्रों का रूप धारण करती है, यह सब कार्य दैवी योजना के अनुसार होता है और इतिहास का निर्माण करता है, इसमें महापुरुष कोई बड़ा भाग नहीं लेते हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि इतिहास में कई बार दैवी योजना काम करती है, मनुष्यों की योजनाओं को विफल बनाती है। किन्तु हेगल की यह बात सही नहीं है कि इतिहास पर महापुरुषों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, सुकरात, प्लेटो, सेण्ट आगस्टाइन, लूथर, नेपोलियन, मार्क्स, लेनिन, गांधी जैसे महापुरुष इतिहास पर गहरा प्रभाव डालते हैं।

हेगल की देन—किन्तु उपर्युक्त गम्भीर दोष होते हुए भी राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में हेगल की कुछ विशिष्ट देनें हैं और इनके कारण वह सदैव स्मरणीय बना रहेगा। उसे इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उसने राजनीतिक चिन्तन को एक नई दिशा और नया वेग प्रदान किया। उसकी पहली बड़ी देन द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectic method) थी। सदोष होते हुए भी इसने योरोपियन दर्शन के क्षेत्र में एक महान् क्रान्ति उत्पन्न की, विज्ञान और धर्म के विरोध को समाप्त किया, विकासवादी प्रक्रिया पर बल देते हुए भौतिक जगत् को समझने की तथा वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को जानने की अधिक अच्छी दृष्टि प्रदान की। धार्मिक लोगों का विश्व के विषय में पुराना विचार यह था कि सृष्टि का निर्माण भगवान् ने एक निश्चित क्षण में किया था और अनन्तकाल से यह विश्व विधाता के नियमों के अनुसार इसी प्रकार चला आ रहा है, इसके नियम अपरिवर्तनशील (Immutable) और जड़ (Static) हैं, पुराने दर्शनशास्त्र ने तर्कशास्त्र द्वारा इस जड़ जगत् के नियमों को समझने की एक पद्धति का आविष्कार किया। किन्तु १६वीं-१७वीं शताब्दी में विज्ञान की प्रगति ने विश्व के जड़ नियमों से संचालित होने के विश्वास को भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध करते हुए यह प्रतिपादित किया था कि विश्व निरन्तर परिवर्तनशील और गतिशील (Dynamic) है, इसमें होने वाले परिवर्तन बेकन के मतानुसार विनाश और मृत्यु की ओर ले जाने वाले नहीं हैं, अपितु वे नवीन रूपों का निर्माण करने वाले हैं। इस प्रकार होने वाले वैज्ञानिक आविष्कारों ने धर्म और दर्शन की विश्वविषयक पुरानी मान्यताओं को असत्य सिद्ध कर दिया। निरन्तर गतिशील जगत् के लिए पुराने दार्शनिकों की विचारधारा और तर्क-पद्धति काम नहीं दे सकती थी। इसके लिए नवीन पद्धति की आवश्यकता थी। हेगल ने इसे अपनी

द्वन्द्वात्मक पद्धति के रूप में प्रस्तुत करते हुए विश्व में होने वाले महान् परिवर्तनों को समझने के लिए एक नवीन दार्शनिक साधन प्रस्तुत किया,[१] विकासवादी प्रक्रिया से उन्नति होने पर बल दिया तथा यह प्रतिपादित किया कि हम किसी वस्तु के मूलतत्व या यथार्थ स्वरूप को विरोधी वस्तुओं से उसकी तुलना करके ही समझ सकते हैं। हेगल की इस देन ने राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में एक महान् क्रान्ति उत्पन्न की; वर्तमान विश्व को आन्दोलित करने वाली समाजवादी विचारधारा के प्रवर्तक—कार्ल मार्क्स ने अपने सिद्धान्त का आधार इसी पद्धति को बनाया है।

हेगल की **दूसरी** देन राष्ट्रीय राज्य (Nation State) का विचार है। उसे राष्ट्रीयता का अग्रदूत, व्याख्याता और प्रबल प्रचारक कहा जा सकता है। उसने अपनी रचनाएँ उस समय लिखी थीं जब नेपोलियन की सेनाएँ विभिन्न जर्मन राज्यों को अपने पैरों तले रौंद रही थीं। उसे स्वयमेव १८०६ में फ्रेंच सेनाओं की विजय के बाद जेना से भागना पड़ा था। उस समय जर्मनी पराजित, पददलित और निराश था। ऐसे समय में हेगल का यह उद्देश्य था कि वह अपनी मातृभूमि में गौरव की भावना को उत्पन्न करे, उसे उसके स्वर्णिम अतीत में किए गए कार्यों का स्मरण कराए और उसकी भावी गरिमा के गीत गाकर उसमें आत्मविश्वास उत्पन्न करे।[२] उसने यह कार्य राष्ट्रीय राज्य के महत्व पर बल देते हुए तथा जर्मनी को विश्वात्मा के विकास का अन्तिम रूप मानते हुए किया। उसकी रचनाओं से न केवल जर्मनी में, अपितु अन्य देशों में राष्ट्रीयता की उग्र भावना का विकास हुआ। मैक्सी ने लिखा है[3] कि "वर्तमान युग में पाए जाने वाले राष्ट्रीयता के अतीव उत्कट सिद्धान्तों का पोषण हेगल के विचारों से हुआ है। उस समय उसका तात्कालिक प्रयोजन जर्मनी के राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में आने वाली बौद्धिक बाधाओं का निराकरण करना था, किन्तु उसने इससे भी अधिक बड़ा कार्य किया। उसने अपनी रचनाओं में ऐसे सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया जिनसे न केवल जर्मनी में, अपितु अन्य सभी देशों में राष्ट्रीयता को धर्म का रूप दिया जा सकता था।" हैलोवैल ने इसका समर्थन करते हुए लिखा है कि "हेगल की अपेक्षा किसी अन्य व्यक्ति ने राष्ट्रीयता का अधिक उदात्त रूप में वर्णन नहीं किया है। इसका उद्देश्य स्वतन्त्रता को तथा इतिहास में भगवान् की इच्छा को मूर्त्तरूप प्रदान करना है।"[४]

उसकी **तीसरी** देन प्रगति का विचार है। पहले (पृ० १३७) इसका प्रतिपादन किया जा चुका है। इसके अनुसार राज्य का एवं अन्य सभी वस्तुओं का निरन्तर विकास हो रहा है, इस विकास से ये अधिक उत्कृष्ट रूप ग्रहण कर रहे हैं। अत: राज्य के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण बड़ा अग्रगामी और गतिशील (Dynamic) है। उसने इसके इतिहास को निरन्तर होने वाले विकास की प्रक्रिया माना है। इसने विधिशास्त्र

---

१. फिलिस डायल—ए हिस्टरी आफ पोलिटिकल थाट, पृ० २४४-५
२. लैंकास्टर पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ६६-६७
३. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० ५०३-४
४. हैलोवैल—मेन करेण्ट्स इन माडर्न पोलिटिकल थाट, पृ० २७५

और इतिहास के क्षेत्र में नवीन विचारधाराओं को जन्म दिया। विधिशास्त्र (Jurisprudence) के ऐतिहासिक सम्प्रदाय का जन्मदाता सैविग्नी बर्लिन विश्वविद्यालय में हेगल का सहयोगी था तथा उसने हेगल से अनेक विचार ग्रहण किए हैं। हेगल की **चौथी** देन व्यक्तिवाद (Individualism) के दोषों का निराकरण करना है। १७वीं-१८वीं शताब्दी में योरोप में व्यक्तिवादी सिद्धान्तों का प्राधान्य था। इसके समर्थक व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों पर बहुत बल देते थे, वे राज्य को मनुष्यों का समूह मात्र समझते थे, उसके सामाजिक स्वरूप को तथा मनुष्य के विकास में उसके द्वारा किए जाने वाले महत्वपूर्ण कार्य की वे उपेक्षा करते थे, वे राज्य और व्यक्ति के हितों में उग्र विरोध और घोर संघर्ष की कल्पना करते थे। हेगल ने इस विषय में समन्वय स्थापित करते हुए इस बात पर बल दिया कि राज्य और व्यक्ति में कोई विरोध नहीं है, यूनानी विचारकों का अनुसरण करते हुए उसने यह कहा कि राज्य के बिना व्यक्ति की कल्पना ही नहीं की जा सकती, व्यक्ति का विकास राज्य में ही हो सकता है। राज्य के सावयवी सिद्धान्त (Organic Theory) पर उसने बल देते हुए इस बात का प्रतिपादन किया कि व्यक्ति के केवल अधिकार ही नहीं होते हैं, उसके कर्तव्य भी होते हैं।

पाँचवीं देन स्वाभाविक एवं ऐतिहासिक विकास के विचार पर बल देना है। फ्रांस के क्रान्तिकारियों का यह विश्वास था कि वे अपने देश का नया शासन-विधान विधाननिर्मात्री परिषद् द्वारा बड़ी सुगमता से तैयार कर सकते हैं, अन्य देशों के विधानों को भी इसी प्रकार आसानी से परिवर्तित किया जा सकता है। किन्तु हेगल ने स्वाभाविक विकास की प्रक्रिया पर बल देते हुए कहा कि नवीन संविधान इस प्रकार नए कानून पास करके किसी देश पर बलपूर्वक नहीं थोपे जा सकते, इस प्रकार थोपे जाने वाले विधान चिरस्थायी नहीं होते। इस विषय में उसकी यह उक्ति एक महान् ऐतिहासिक तथ्य का प्रतिपादन करती है कि "संविधान को बनाने जैसी बात इतिहास में कभी घटित नहीं हुई, संविधान राष्ट्रीय भावना के विकास का परिणाम होता है।" **छठी** देन हेगल का यह विचार था कि राजनीति और नैतिकता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। उससे पहले राज्य का नैतिकता के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं माना जाता था, उसने राज्य को विश्वात्मा एवं नैतिकता का सर्वोच्च रूप माना था। उसकी अन्य देनों का उल्लेख करते हुए वेपर ने कहा है—"उसके सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि उसने राजनीति को विभिन्न हितों के समन्वय से ऊँचा उठाया, उसने कानून को कोरी आज्ञा से अधिक उत्कृष्ट वस्तु बनाया। उसका यह सिद्धान्त कम महत्व नहीं रखता है कि राज्य को शान्ति बनाए रखने में पुलिस का कार्य करने वाले संगठन से अधिक उच्च तथा मनुष्य का नैतिक विकास करने का साधन समझा जाना चाहिए।"[1]

हेगल का प्रभाव—प्रायः दार्शनिक व्यावहारिक राजनीति की घटनाओं पर कोई बड़ा तात्कालिक प्रभाव नहीं डालते हैं। उनका काम नई दुनिया का निर्माण करना नहीं, अपितु विद्यमान जगत् की व्याख्या करना होता है। हेगल स्वयमेव यह कहा करता था कि दर्शन का कार्य नूतन सृजन करना नहीं है, किन्तु विश्व की समुचित

---

१. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० १७०-१

व्याख्या करना है। फिर भी विश्व की क्रियात्मक राजनीति पर जितना गहरा प्रभाव हेगल का पड़ा है उतना बहुत ही कम दार्शनिकों का पड़ा है। उसका **पहला** प्रभाव अपने देश जर्मनी पर पड़ा था। उसके सिद्धान्तों ने विभक्त और पराजित जर्मन राज्यों में एकता की, राष्ट्रीयता की तथा अपने ऐतिहासिक कार्य को पूरा करने की भावना उत्पन्न की। जर्मनी के एकीकरण को पूर्ण रूप प्रदान करने वाले सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ विस्मार्क ने हेगल के सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप दिया, उसकी सभी नीतियों की प्रेरणा का प्रधान स्रोत हेगल था।[1] उसने इस महान् दार्शनिक के विचारों का अनुसरण करते हुए शक्ति पर आधारित राष्ट्रीय राज्य का निर्माण करना अपना लक्ष्य बनाया तथा लोकतन्त्र की तुलना में सर्वशक्तिशाली राजतन्त्र और नौकरशाही का समर्थन किया। १९वीं शताब्दी के दार्शनिक जगत् में हेगल का एकछत्र साम्राज्य था, वह सबसे बड़ा दार्शनिक माना जाता था। उसने ट्रीट्श्के, ड्रायसन, सैविग्नी जैसे ऐतिहासिकों और विधिशास्त्रियों पर गहरा प्रभाव डाला था।

उसका **दूसरा** प्रभाव इंगलैण्ड, अमेरिका आदि में पड़ा। हेगल की यह विशेषता है कि उसका प्रभाव केवल स्वदेश में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी व्यापक रूप से पड़ा। लोकतन्त्र के प्रवल उपासक ग्रेट ब्रिटेन में थामस हिल ग्रीन, बोसांके और ब्रैडली जैसे विद्वानों ने हेगल के सिद्धान्तों का समर्थन किया और आक्सफोर्ड में एक आदर्शवादी विचारधारा (Oxford Idealist School) का विकास हुआ। इसका अगले अध्याय में प्रतिपादन किया जाएगा। इटली में आगस्टो वेरा (Augusto Vera), बेनेदेत्तो क्रोचे (Benedetto Croce) ने इसके सिद्धान्तों को लोकप्रिय बनाया। सं० रा० अमेरिका में मारिस, पामर और रायस तथा जान ड्युई (John Dewy) हेगल के अनुयायी थे। ड्युई का कहना था कि उसे हेगल के विचारों से बड़ी प्रेरणा मिली है।

उसका **तीसरा** प्रभाव समाजवाद और साम्यवाद के विकास पर पड़ा है। इस विचारधारा के जन्मदाता कार्ल मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति का विचार हेगल से ग्रहण करते हुए इसके आधार पर अपनी क्रान्तिकारी विचारधारा का निर्माण किया। किन्तु उसने हेगल की कुछ मान्यताओं को अस्वीकार करते हुए द्वन्द्वात्मक पद्धति से हेगल की अपेक्षा कुछ भिन्न परिणाम निकाले। उसने आदर्शवाद (Idealism) के स्थान पर भौतिकवाद (Materialism) को, विश्वात्मा (Weltgeist) के स्थान पर उत्पादन की शक्तियों (Forces of Production) को तथा राष्ट्रीय राज्यों के स्थान पर श्रेणियों (Classes) को माना। मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति से समाज के विकास की तथा इतिहास की भौतिक व्याख्या की, और यह माना कि इसके विकास की अन्तिम दशा में राज्य की संस्था समाप्त हो जाएगी, जबकि हेगल राज्य को विश्वात्मा के विकास का चरम रूप मानता था। **चौथा** प्रभाव राज्य की निरंकुश सत्ता का समर्थन करने वाली, तानाशाही और अधिनायकतन्त्र पर बल देने वाली बीसवीं शताब्दी की दो प्रधान विचारधाराओं—फासिज्म तथा नाजीवाद—को हेगल द्वारा राज्य को दैवी संस्था बनाने का परिणाम समझा जाता है। यह कहा जाता

---

१. मैकगवर्न—फ्राम लूथर टु हिटलर, पृ० २६५

है कि मुसोलिनी और हिटलर हेगल के मानस पुत्र हैं, इन्होंने उसके विचारों को इटली तथा जर्मनी में मूर्त्तरूप प्रदान किया है।

हेगल का महत्व और मूल्यांकन—दार्शनिक जगत् में हेगल के स्थान और महत्व पर बड़ा मतभेद है। उसके प्रशंसकों तथा शिष्यों का यह मत है कि वह अरस्तू तथा सन्त थामस एक्विनास की भाँति अपने युग का एकमात्र महान् द्वार्शनिक (The Philosopher) था, उसने अपने युग के समूचे ज्ञान-विज्ञान का समन्वय करके जगत् की अन्तिम सत्ता द्वारा इस विश्व को संचालित करने वाले मौलिक नियमों का आविष्कार किया था। हेगल को स्वयमेव यह दृढ़ विश्वास था कि उसने विश्व की सब जटिल समस्याओं के समाधान ढूंढ़ लिए हैं। उसके शिष्यों की यह मान्यता थी कि जिस प्रकार सिकन्दर द्वारा विश्व विजय कर लेने के बाद भूमण्डल का कोई भी स्थान जीतने के लिए शेष नहीं रहा था, उसी प्रकार हेगल के बाद दर्शन की कोई भी विचारणीय समस्या बाकी नहीं रही थी। किन्तु दूसरी ओर शोपनहार जैसे आलोचकों की भी कमी नहीं थी जो उसके दुरूह शब्दजाल को पागल व्यक्ति का प्रलाप मात्र समझते थे। इनके अनुसार उसे 'उन्मतत्ता से परिपूर्ण रहस्यवादी बेहूदा बकवास' लिखने में कमाल हासिल था। उसके राज्यविषयक सिद्धान्तों के बारे में यह कहा जाता है कि उसने इसका सृजन "विज्ञान के उद्यान में बैठकर नहीं किया, अपितु (प्रशिया के राजा की) दासता रूपी कूड़े के ढेर पर बैठकर किया है।"[1] आजकल हेगल के बारे में ये दोनों दृष्टिकोण सही नहीं माने जाते हैं। उसे उपर्युक्त आलोचकों के मतानुसार उन्मत्त प्रलाप करने वाला रहस्यवादी दार्शनिक नहीं माना जाता, किन्तु इसके साथ ही उसे १९वीं शताब्दी का एकमात्र दार्शनिक भी नहीं माना जाता। उसकी गणना योरोप के कुछ बड़े दार्शनिकों में अवश्य की जाती है, किन्तु उसे पहले की भाँति अधिक महत्व नहीं दिया जाता है। उसकी मृत्यु के बाद की एक शताब्दी में उसके अनुयायी प्रशंसकों और शिष्यों की संख्या निरन्तर घटती चली गई है, अब उसके भक्त बहुत कम रह गए हैं। उसके अधिकांश विचारों को उसके कार्ल मार्क्स जैसे विरोधियों ने पचाकर अपने सिद्धान्तों का अंग बना लिया है।[2] बर्ट्रेण्ड रसेल ने हेगल का मूल्यांकन करते हुए लिखा है—"१९वीं शताब्दी के अन्त में अमेरिका में तथा ग्रेट ब्रिटेन में सभी प्रमुख दार्शनिक हेगल के अनुयायी थे।... उसके 'इतिहास के दर्शन' ने राजनीतिक सिद्धान्त के विकास पर गम्भीर प्रभाव डाला था। मार्क्स अपनी जवानी में हेगल का शिष्य था, उसने अपने परिपक्व सिद्धान्तों में हेगल की कुछ बातों को स्थान दिया। मेरा विश्वास है कि हेगल के लगभग सभी सिद्धान्त असत्य हैं, फिर भी उसका न केवल ऐतिहासिक महत्व है, अपितु इस कारण भी उसका महत्व बना हुआ है कि वह एक विशेष प्रकार के दर्शन का सर्वोत्तम प्रतिनिधि है।"[3]

---

१. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० १५३-५४

२. कन्साइज इन्साइक्लोपीडिया आफ वैस्टर्न फिलासफी एण्ड फिलास्फर्स, लन्दन, १९६०, पृ० १५७

३. रसेल—हिस्टरी आफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० ७५७

छठा अध्याय

आदर्शवादी ब्रिटिश विचारक

ग्रीन, बोसांके तथा ब्रैडले

ब्रिटेन की आदर्शवादी विचारधारा का स्वरूप और विशेषताएँ—आदर्शवादी विचारधारा का प्रादुर्भाव और विकास जर्मनी में काण्ट तथा हेगल की रचनाओं से हुआ था, शनैः-शनैः इसका प्रभाव दूसरे देशों में फैलने लगा। इसके कई प्रमुख सिद्धान्त यद्यपि इंगलैण्ड की लोकतन्त्र एवं उदारवादी मान्यताओं के प्रतिकूल थे, फिर भी १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आदर्शवादी विचारधारा यहाँ लोकप्रिय होने लगी। इसे लोकप्रिय बनाने का कार्य प्रधान रूप से आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में अध्यापन कराने वाले कुछ प्रोफेसरों—टी० एच० ग्रीन (१८३६–८२), ब्रैडली (१८४६–१९२४) तथा बोसांके (१८४८–१९२३) ने किया, अतः इसे **आक्सफोर्ड की विचारधारा** (Oxford School) भी कहते हैं। इसका प्रचार १८७० के बाद कई कारणों से अधिक प्रबलता से हुआ। यह वस्तुतः भौतिक सुखों पर तथा व्यष्टिवाद पर बल देने वाले उपयोगितावाद के विरुद्ध प्रबल प्रतिक्रिया थी। इस समय इंगलैण्ड में व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता देने वाले, राज्य के हस्तक्षेप को न्यूनतम मात्रा में किए जाने का समर्थन करने वाले व्यष्टिवादी (Individualist) सिद्धान्त के दुष्परिणाम उग्र रूप में प्रकट होने लगे थे, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नाम पर अधिकांश व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का हनन हो रहा था, कारखानों में मजदूरों के साथ इतने भीषण अन्याय हो रहे थे कि सरकार को इन मामलों में हस्तक्षेप करने के लिए विवश होकर 'कारखाना कानून' (Factory Acts) बनाने पड़ रहे थे। अब पुलिस का कार्य करने वाले राज्य (Police State) की कल्पना के स्थान पर 'जनकल्याणकारी राज्य' (Welfare State) की कल्पना की जाने लगी थी। ऐसे समय में, नवीन परिस्थितियों के लिए इंगलैण्ड में नए दर्शन की आवश्यकता थी। यह आक्सफोर्ड में विकसित होने वाली आदर्शवादी विचारधारा से पूरी हुई। इसने व्यष्टिवाद के उग्र मौलिक सिद्धान्तों को तिलांजलि दी, राज्य को व्यक्तियों का समूह मात्र न मानते हुए स्वाभाविक रूप से विकसित होने वाली एक सजीव (Organic) संस्था माना, राज्य को व्यक्ति के अधिकारों का विरोधी समझने के स्थान पर उसे इनका संरक्षक समझा, व्यक्ति और राज्य के हितों का समन्वय किया तथा इस बात का प्रतिपादन किया कि राजनीति का और नैतिकता का गहरा सम्बन्ध है, राज्य का उद्देश्य उपयोगितावादियों की भाँति भौतिक सुख को बढ़ाना नहीं है, अपितु मनुष्य का नैतिक विकास करना है।

आदर्शवाद के दो स्रोत—इस विचारधारा के प्रधान मूल स्रोत यूनानी और जर्मन विचारक थे। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय यूनानी साहित्य के अध्ययन का प्राचीन

और प्रसिद्ध केन्द्र था, यहाँ प्लेटो की सुप्रसिद्ध कृति **रिपब्लिक** (Republic) के तथा अरस्तू की अमर रचना **पालिटिक्स** (Politics) के अध्ययन पर बड़ा बल दिया जाता था। इस विचारधारा ने इन ग्रन्थों से निम्नलिखित विचार ग्रहण किए—(क) मनुष्य स्वाभाविक रूप से एक सामाजिक और राजनीतिक प्राणी है, उसका पूर्ण विकास राज्य में ही हो सकता है। (ख) राज्य की एक सजीव सत्ता (Organism) है, उसकी अपनी इच्छा है और उसका प्रयोजन व्यक्तियों के उत्तम जीवन का विकास करना है। (ग) समुदाय अथवा राज्य के जीवन में एवं कार्यों में प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने निश्चित कर्त्तव्य का पालन करना ही भलाई (Righteousness), साधुता अथवा न्यायपरायणता है। (घ) कानून विशुद्ध एवं रागद्वेषादि की भावनाओं से मुक्त बुद्धि की अभिव्यक्ति है।

इस विचारधारा का दूसरा स्रोत जर्मन विचारक थे। पहले (पृ० ११५) बताया जा चुका है कि काण्ट ने रूसो से सामान्य इच्छा और नैतिक स्वतन्त्रता के विचार ग्रहण किए थे। जर्मन विचारक राज्य को स्वाभाविक रूप से विकसित होने वाली सजीव सत्ता और सब प्रकार के अधिकारों का मूल स्रोत मानते थे। ब्रिटिश विचारकों ने काण्ट और हेगल से ये सब विचार ग्रहण किए। किन्तु उनके लिए यह सम्भव नहीं था कि वे उनके सभी विचारों को ग्रहण करते, क्योंकि लोकतन्त्र एवं उदारवाद के उन्मुक्त वातावरण में पोषण पाने के कारण ब्रिटिश दार्शनिक को जर्मन विचारकों के निम्नलिखित सिद्धान्त अमान्य थे—(क) वे इनके निरंकुश राजतन्त्र के विचार से असहमत थे। (ख) हेगल ने यह प्रतिपादन किया था (पृ० १४५) कि राज्य पर कोई नैतिक बन्धन नहीं होते हैं, वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी इच्छा से कोई भी कार्य करने में स्वतन्त्र है। यह सिद्धान्त ब्रिटेन की परम्परा के प्रतिकूल था। (ग) काण्ट और हेगल पार्लियामैंण्ट आदि जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्थाओं पर विश्वास नहीं रखते थे और ब्रिटेन की शासन-पद्धति के घोर आलोचक थे। (घ) हेगल ने राज्य के आदेशों का पालन करने में व्यक्ति की स्वतन्त्रता मानी थी, स्वाधीनता के इस विचार से कोई भी ब्रिटिश विचारक सहमत नहीं हो सकता था। अतः गैटल के शब्दों में, "ब्रिटिश आदर्शवादी दार्शनिकों ने जर्मन आदर्शवाद के विचारों को समग्र रूप में नहीं, किन्तु कतिपय महत्वपूर्ण संशोधनों के साथ ही स्वीकार किया, उन्होंने हेगल की अपेक्षा काण्ट का अधिक अनुसरण किया।"[1]

इन विचारकों ने जर्मन आदर्शवाद को ब्रिटेन में ग्राह्य और मान्य बनाने के लिए इसमें निम्नलिखित संशोधन किए—(क) इन्होंने राज्य को हेगल की भाँति पूर्ण रूप से निरंकुश होने के अधिकार नहीं प्रदान किए। (ख) जर्मन दार्शनिक व्यक्ति को साधन और राज्य को साध्य मानते थे, ब्रिटिश विचारकों ने व्यक्ति को भी साध्य माना। (ग) इन्होंने राज्य की तुलना में व्यक्ति के अधिकारों को नगण्य नहीं माना। (घ) इन्होंने कुछ विशेष अवस्थाओं में व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का भी अधिकार प्रदान किया। इस प्रकार इन्होंने जर्मन आदर्शवाद को ग्रहण करते हुए ब्रिटेन

१. गैटल—हिस्टरी आफ पोलिटिकल थाट, पृ० ३२२

की उदारवाद (Liberalism) की पुरानी परम्परा को नहीं छोड़ा, अपितु उसके साथ इसका समन्वय किया। एक ओर तो इन विचारकों ने जर्मन आदर्शवाद के दोषों को दूर करके नवीन आदर्शवाद की स्थापना की, दूसरी ओर ब्रिटेन की उदारवाद (Liberalism) की परम्परागत विचारधारा में जो दोष आ गए थे उन्हें दूर किया तथा इस प्रकार ब्रिटिश आदर्शवाद की विचारधारा को जन्म दिया। इसका प्रवर्त्तक थामस हिल ग्रीन (Thomas Hill Green) था। यहाँ पहले उसके विचारों का प्रतिपादन किया जाएगा।

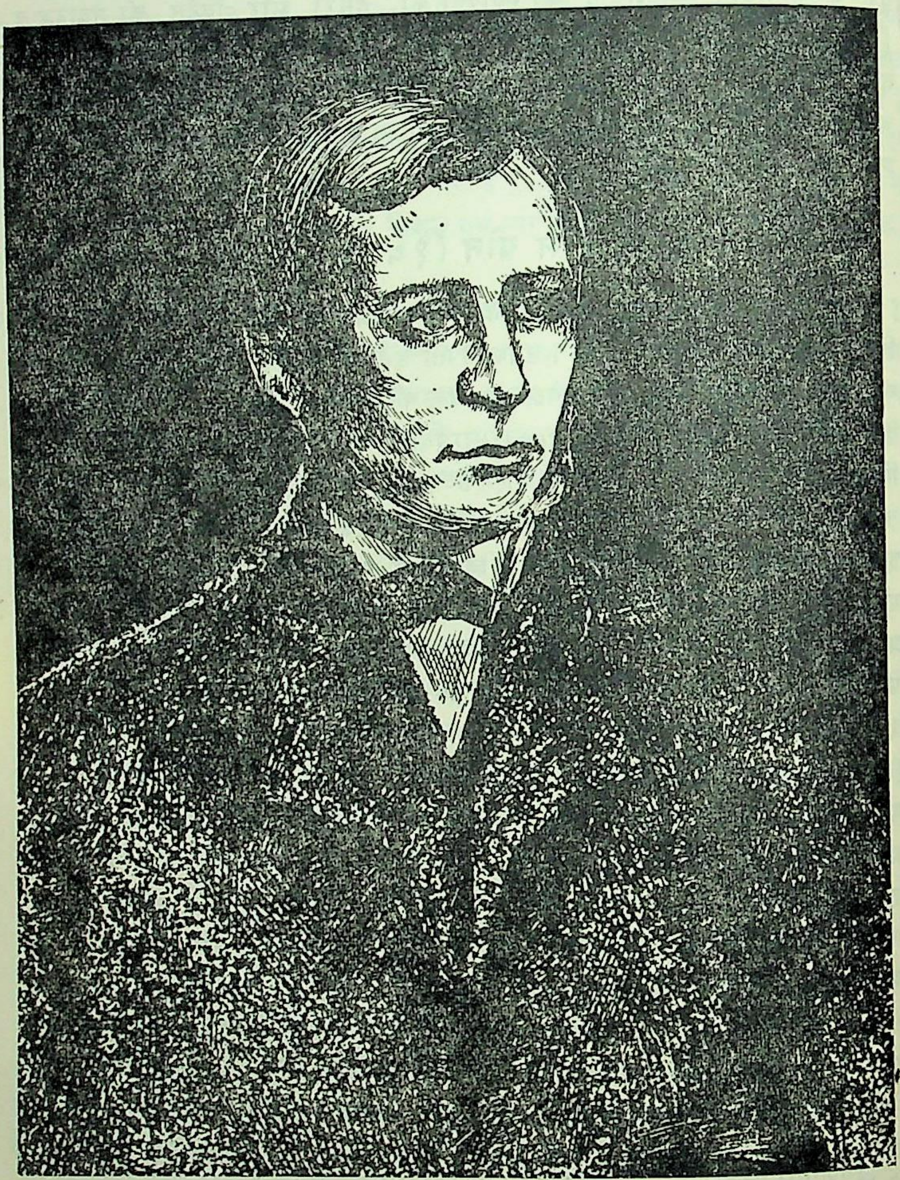
थामस हिल ग्रीन (१८३६-१८८२)

जीवन तथा रचनाएँ—ग्रीन का जन्म ६ अप्रैल १८३६ को यार्कशायर ज़िले के बिरकिन नामक स्थान पर हुआ। उसका पिता इंगलैण्ड के चर्च का एक सुप्रसिद्ध पादरी था, वह धार्मिक कर्मकाण्ड की अपेक्षा बाइबल की शिक्षाओं पर आचरण करने पर बल देने वाले इन्जीलवादी (Evanglical) सम्प्रदाय का अनुयायी था। ग्रीन पर अपने पिता की नैतिकता का और प्रचण्ड धार्मिक उत्साह का गहरा प्रभाव पड़ा। १४ वर्ष तक यहाँ शिक्षा पाने के बाद वह १८५५ में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुआ, इसके पश्चात् उसने अपना शेष सारा जीवन यहीं व्यतीत किया। विद्यार्थी जीवन में, ग्रीन ने हेगल की भाँति पाठ्यक्रम में निर्धारित पुस्तकों के अध्ययन में विशेष अभिरुचि प्रदर्शित नहीं की, किन्तु वह स्वयमेव विभिन्न विषयों का व्यापक अध्ययन करता रहा। महाविद्यालय के जीवन में उसके गुरु बेंजमिन जोवेट का ग्रीन पर गहरा प्रभाव पड़ा। १८६० में वह बेलियोल कालिज में अनुसन्धान तथा अध्यापन कार्य करने के लिए फेलो (Fellow) चुना गया और १८७८ में उसे नैतिक दर्शन (Moral Philosophy) का प्रोफेसर बनाया गया। ग्रीन ने आक्सफोर्ड में इतिहास, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र, शिक्षा तथा दर्शन का इतिहास आदि विभिन्न विषय पढ़ाए। वह अन्य दार्शनिकों की भाँति केवल अपने अध्ययन-अध्यापन में ही रत नहीं रहता था, अपितु सार्वजनिक मामलों में तथा व्यावहारिक राजनीति में काफी भाग लेता था। वह कई वर्ष तक आक्सफोर्ड की नगर परिषद् (Town Council) का सदस्य रहा, वह पार्टी के चुनाव-आन्दोलनों में भाषण दिया करता था, वह कई सरकारी आयोगों का सदस्य रहा था। उसका भाई बहुत पियक्कड़ था, इससे उसे शराब के दुष्परिणाम भली-भाँति विदित हो गए, इसलिए उसने मद्यनिषेध आन्दोलन में बड़ा भाग लिया, वह शराब के व्यापार पर सरकार की ओर से नियन्त्रण स्थापित करने के लिए बल देता रहा, लोगों को शराब की आदत छुड़वाने के लिए उसने आक्सफोर्ड में कॉफी पिलाने की एक दुकान खोली थी।[1]

ग्रीन बहुत गम्भीर स्वभाव का व्यक्ति था, वह ४६ वर्ष की अल्पायु में ही दिवंगत हुआ। हेगल का प्रभाव और प्रतिष्ठा उसके जीवनकाल में ही बढ़ने लगी थी, किन्तु ग्रीन के साथ ऐसा नहीं हुआ। वह अपने जीवन में कोई बड़ा स्पष्ट और प्रत्यक्ष

१. लैंकास्टर—मास्टर्स आफ पोलिटिकल थाट, पृ० २०३

प्रभाव नहीं डाल सका, किन्तु उसने अपने शिष्यों पर अमिट प्रभाव डाला और इन शिष्यों ने गुरु की कीर्ति और प्रभाव को उसकी मृत्यु के बाद चरम शिखर पर



थामस हिल ग्रीन

पहुंचाया। जिस समय वह आक्सफोर्ड में था, उसी समय वहाँ भविष्य में इंगलैण्ड की राजनीति में महत्वपूर्ण भाग लेने वाले तथा प्रसिद्धि प्राप्त करने वाले राजनीतिज्ञ एस्क्विथ, मिलनर और कर्ज़न शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। ये सब ग्रीन से प्रभावित हुए। सर अर्नेस्ट बार्कर तथा ए० डी० लिंडसे पर भी ग्रीन का गहरा प्रभाव पड़ा।

ग्रीन के जीवनकाल में उसकी कोई कृति प्रकाशित नहीं हुई। उसके शिष्य आर० एल० नेटलशिप ने उसकी सब कृतियों को तीन खण्डों में उसकी मृत्यु के बाद प्रकाशित किया। ये सब उसके व्याख्यानों के विद्यार्थियों द्वारा लिए गए नोटों के आधार पर हैं। उसकी अधिकांश रचनाएँ दर्शनशास्त्र और नीतिशास्त्रविषयक हैं। राजनीतिशास्त्रविषयक उल्लेखनीय रचनाएँ केवल दो हैं। पहली रचना १८८० में आयरिश जमींदारों और असामियों के बीच में हुए अनुबन्धों को नियन्त्रित करने के सम्बन्ध में ग्लैडस्टन द्वारा प्रस्तुत किए गए एक प्रस्ताव के विषय में दिया गया भाषण है। इसका शीर्षक **'लिबरल कानून निर्माण तथा अनुबन्ध की स्वतन्त्रता'** (Liberal Legislation and Freedom of Contract) है। उसने अपने राजनीतिक सिद्धान्तों का व्यवस्थित प्रतिपादन **राजनीतिक दायित्व के सिद्धान्तों पर व्याख्यान** (Lectures on the Principles of Political Obligation) में किया है। इसे नेटलशिप ने ग्रीन के नोटों पर तथा उसके शिष्यों के द्वारा लिए गए नोटों के आधार पर तैयार किया है। ग्रीन के राजनीतिक विचार उसके दार्शनिक विचारों पर आधारित हैं, अतः यहाँ पहले इनका वर्णन किया जाएगा।

दार्शनिक विचार—ग्रीन हेगल की भाँति अद्वैतवादी है। वह इस विश्व के मूल में एक ही अध्यात्म तत्व मानता है। हेगल ने इसे पूर्ण बुद्धि या विचार (Absolute Reason, Idea) का नाम दिया था। ग्रीन इसे शाश्वत चैतन्य (Eternal Consciousness) का नाम देता है। इसे ईश्वर भी कहा जा सकता है। यही समूचे विश्व में अथवा ब्रह्माण्ड की जड़ एवं चेतन वस्तुओं में ओत-प्रोत है, संसार में इससे पृथक् कोई अन्य तत्व नहीं हो सकता है। हमारी आत्मा भी ब्रह्माण्ड में व्याप्त इसी शाश्वत चैतन्य का अंश है। आत्मा के शाश्वत चैतन्य या ईश्वर का अंग होने से ग्रीन ने कई महत्वपूर्ण परिणाम निकाले हैं। **पहला** परिणाम यह है कि मनुष्य केवल जड़ प्रकृति का अंश न होकर अपना चेतन-स्वरूप रखता है, उसके कार्यों को स्थूल प्राकृतिक दृष्टि से देखना उचित नहीं है। **दूसरा** परिणाम यह है कि उसके उद्देश्य की पूर्ति केवल भौतिक आवश्यकताओं से ही नहीं हो सकती, शाश्वत चैतन्य का अंश रखने वाला प्राणी क्षुद्र भौतिक सुखों से सन्तुष्ट नहीं हो सकता, उसका वास्तविक उद्देश्य इससे बहुत ऊँचा और महान् है, वह अपने भीतर विद्यमान दैवी अंश की अनुभूति करना चाहता है तथा अपने को पूर्ण बनाने (Self-perfection) का प्रयास करता है। अतः मनुष्य का लक्ष्य कोरे भौतिक सुख को प्राप्त करना नहीं, किन्तु उच्च नैतिक जीवन को बिताना है। **तीसरा** परिणाम ग्रीन का यह विचार है कि शाश्वत चैतन्य की एक विशेषता स्वतन्त्रता है, अतः इसका एक अंश होने से मनुष्य की भी एक विशिष्टता स्वाधीनता का गुण है। ग्रीन का स्वतन्त्रता का विचार विशेष महत्व रखता है। वह यह जानता था कि सामान्य रूप से स्वतन्त्रता का अर्थ यही समझा जाता है कि मनुष्य को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वाधीनता हो। किन्तु वह इस विचार से सहमत नहीं था, प्लेटो और सेण्ट पाल की भाँति वह यह मानता था कि यदि मनुष्य को अपनी इच्छाओं के अनुसार काम करने की स्वतन्त्रता मिल जाए तो वह स्वतन्त्र नहीं रहेगा, अपितु अपनी इच्छाओं का दास बन जाएगा। मनुष्य तभी स्वतन्त्र

माना जा सकता है जब वह अपनी अच्छी इच्छाओं के अनुसार काम करे। ग्रीन का यह मत है कि मनुष्य दिव्य चेतना का अंश है, अतः वह एक नैतिक प्राणी है, उसमें स्वाभाविक रूप से विद्यमान उत्तम दैवी भावनाएँ उसे सत्कर्मों द्वारा आत्मसिद्धि के या आत्मा के स्वाभाविक रूप को पाने के लिए प्रेरित करती रहती हैं। यह सम्भव है कि उसकी उच्च नैतिक इच्छाओं में तथा क्षुद्र स्वार्थपूर्ण वासनाओं में संघर्ष हो, इनमें देवासुर संग्राम चले, किन्तु इनमें विजय सदैव दैवी अथवा उत्तम भावनाओं की ही होती है। **चौथा** परिणाम यह है, चूँकि मनुष्य की आत्मा इस संसार में व्याप्त दैवी तत्व का अंश है, अतः उसका लक्ष्य केवल अपना हित साधना ही नहीं, अपितु समूचे समाज का कल्याण करना और उसे लाभ पहुँचाना है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, उसे अपने वैयक्तिक हितों के साथ-साथ सामाजिक हितों का भी ध्यान रखना चाहिए। **पाँचवाँ** परिणाम ग्रीन द्वारा व्यक्ति को विशिष्ट महत्व दिया जाना है। शाश्वत चैतन्य या भगवान् का अंश होने से मनुष्य में दैवी तत्व हैं, अतः उसका अपना महत्व है, इसके उत्कृष्टतम विकास पर पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए। हेगल ने यह माना था कि व्यक्ति नगण्य है, राज्य सब कुछ है, राज्य साध्य है तथा व्यक्ति साधन है। ग्रीन ने हेगल से असहमति प्रकट करते हुए व्यक्ति का महत्व और गरिमा स्वीकार की, व्यक्ति को साधन नहीं, अपितु साध्य माना; इस विषय में हेगल और अरस्तू के मत को न मानते हुए उसने काण्ट और प्लेटो का अनुसरण किया। **छठा** परिणाम मनुष्यों की समानता और भ्रातृभाव का विचार था। यदि हम ग्रीन की इस बात को मान लेते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना विशिष्ट महत्व और गौरव है, उसका पूरा सम्मान किया जाना चाहिए, तो हमें इसके स्वाभाविक परिणामों को भी स्वीकार कर लेना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति का विशिष्ट महत्व है, अतः इस दृष्टि से सभी व्यक्ति समान हैं और भ्रातृभाव के बन्धन में बँधे हुए हैं, कोई भी व्यक्ति अपने स्वार्थपूर्ण विकास के लिए किसी दूसरे व्यक्ति का शोषण करने का अधिकार नहीं रखता है। **सातवाँ** परिणाम ग्रीन का यह विचार है कि दैवी सत्ता का अंश होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति का यह लक्ष्य होना चाहिए कि वह अपने नैतिक विकास के लिए दैवी गुणों को अपने चरित्र में ढालकर अपने को दिव्य बनाने का यत्न करे, इसके लिए अच्छे काम करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उसे स्वयमेव अच्छा बनना चाहिए। व्यक्ति का आन्तरिक सुधार उत्तम कानून बनाने की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। राज्य व्यक्तियों को अच्छे कानून बनाकर अच्छा नहीं बना सकता। वह उन्हें अपनी आत्मा का विकास करके ही अच्छा बना सकता है। राज्य केवल ऐसी परिस्थितियाँ ही उत्पन्न कर सकता है जिनमें व्यक्ति अपना पूर्ण विकास कर सके। ग्रीन के विचारों की इस दार्शनिक पृष्ठ-भूमि का परिचय[1] देने के बाद उसके प्रधान राजनीतिक विचारों का प्रतिपादन किया जाएगा।

---

१. ग्रीन के विचार भारतीय दर्शन के तथा गीता के विचारों से विलक्षण साम्य रखते हैं। लोकमान्य तिलक ने 'गीतारहस्य' (पृ० ५०७) में इनकी मनोरंजक तुलना की है। गीता तथा ग्रीन के निम्नलिखित सिद्धान्त मिलते हैं—(१) पिण्ड अर्थात् देह में तथा ब्रह्माण्ड अथवा सृष्टि में एक ही आत्वतत्व ओतप्रोत है : (गीता, ७, ७, मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव)। (२) गीता के अनुसार

ग्रीन के राजनीतिक विचार—स्वतन्त्रता—ग्रीन अपने विचारों का श्रीगणेश स्वतन्त्रता के विचार से करता है और इसी के आधार पर अधिकारों का तथा राज्य का प्रतिपादन करता है। बार्कर ने ग्रीन की इस युक्ति-परम्परा का संक्षिप्त और सारगर्भित विवेचन करते हुए लिखा है—"मानवीय चेतना के लिए स्वतन्त्रता आवश्यक है, स्वतन्त्रता में अधिकारों का विचार निहित है, अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य आवश्यक है।"[1] इसका यह तात्पर्य है कि ग्रीन स्वतन्त्रता को शाश्वत चैतन्य (Eternal Consciousness) या ईश्वर के एक अंश—मानवीय आत्मा—का आवश्यक गुण मानता है, मनुष्य की आत्मा सदैव स्वतन्त्रता चाहती है, यदि उसे स्वतन्त्रता न रहे तो वह किसी अन्य शक्ति द्वारा संचालित किए जाने वाला यन्त्र मात्र ही रह जाती है। अतः स्वतन्त्रता मनुष्य का आवश्यक तत्व और प्राण है। यह स्वतन्त्रता दो प्रकार की—आन्तरिक तथा बाह्य होती है। आन्तरिक स्वतन्त्रता नीतिशास्त्र का विषय है, इसका प्रधान तात्पर्य अपनी इन्द्रियों, वासनाओं, बुरी मनोवृत्तियों की कठपुतली और दास न बनना, किन्तु उन्हें अपने वश में बनाकर स्वतन्त्र बने रहना है। बाह्य स्वतन्त्रता राजनीतिशास्त्र का विषय है, उसका अभिप्राय ऐसी बाह्य परिस्थितियों का निर्माण करना है जिनमें प्रत्येक व्यक्ति अपने वास्तविक हित के कार्यों को पूरा कर सके और उसे अपनी आत्मा का विकास करने में किसी बाधा का सामना न करना पड़े। ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करने की शर्तों को ही अधिकार कहा जाता है; इनसे ही हमें स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है। किन्तु इन अधिकारों को सुरक्षित बनाए जाने की आवश्यकता है; जिन अधिकारों की रक्षा नहीं की जा सकती उन्हें अधिकार कहना ठीक नहीं है। इन अधिकारों की रक्षा के लिए ही राज्य का निर्माण होता है। अतः ग्रीन के राजनीतिक दर्शन का सारांश बार्कर के उपर्युक्त वाक्य के अनुसार तीन सूत्रों में कहा जा सकता है—(१) मनुष्य की आत्मा का आवश्यक गुण स्वतन्त्रता है।

देहान्तर्गत आत्मा अपने में शुद्ध और पूर्णस्वरूप (मोक्ष) को प्राप्त करने के लिए सदैव उत्सुक एवं प्रयत्नशील रहती है। ग्रीन यह मानता है कि मनुष्य-शरीर में एक नित्य और स्वतन्त्र तत्व है, इसमें यह उत्कट इच्छा होती है कि वह सर्वभूतान्तर्गत अपने सामाजिक पूर्णस्वरूप को अवश्य प्राप्त करे, यही इच्छा मनुष्य को सदाचार की दिशा में प्रवृत्त करती है। इसी में मनुष्य का चिरस्थायी कल्याण है। (३) गीता (३।४२) में इन्द्रियों से मन को, मन से बुद्धि को तथा बुद्धि से आत्मा को उत्कृष्ट मानते हुए आत्मतत्व की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है, ग्रीन भी इसी प्रकार का सिद्धान्त मानते हुए ब्रह्म जैसी सत्ता—शाश्वत चैतन्य—को सर्वश्रेष्ठ मानता है (गीतारहस्य, पृ० २३५-६)। (४) सत्य के स्वरूप में भी विलक्षण साम्य है। गीता का यह सिद्धान्त है कि ब्रह्म एकमात्र सत्य है, क्योंकि सब वस्तुओं का नाश हो जाने पर भी उसकी सत्ता बनी रहती है (गीता, ८।२०, २३।२७, यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति)। महाभारत में भी इसका समर्थन करते हुए कहा गया है कि सत्य वही है जिसका कभी नाश नहीं होता है, जो सर्वदा बना रहता है और जिसका स्वरूप कभी बदलता नहीं है (महाभारत, शान्तिपर्व १६२।१०, सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च)। ग्रीन ने सत् (Real) की व्याख्या करते हुए कहा है कि जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है वही सत् है। इस विषय में ग्रीन और महाभारत एकमत हैं।

१. बार्कर—पोलिटिकल थाट इन इंगलैण्ड, पृ० ३२—"Human Consciousness postulates liberty; Liberty involves rights, rights demand State."

(२) स्वतन्त्रता के लिए अधिकार आवश्यक हैं। (३) अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य आवश्यक है। यहाँ इसी क्रम से इन तीनों का प्रतिपादन किया जाएगा।

ग्रीन की स्वतन्त्रता के विचार की दो विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं और ये दोनों ग्रीन से पहले प्रचलित स्वतन्त्रता की धारणा का खण्डन करती हैं। पहली विशेषता स्वतन्त्रता का अर्थ अपनी इच्छानुसार मनमाना काम करने की स्वाधीनता नहीं, अपितु एक निश्चित प्रकार (Determinate) के कार्य करना है जिसके द्वारा मनुष्य उस वस्तु या सुख को प्राप्त कर सके जो सामाजिक एवं नैतिक दृष्टिकोण से प्राप्त करने योग्य हो। दूसरी विशेषता स्वतन्त्रता का नकारात्मक या अभावात्मक (Negative) न होकर सकारात्मक या भावात्मक (Positive) होना है। इन दोनों विशेषताओं को अब क्रमशः स्पष्ट किया जाएगा।

पहली विशेषता निश्चित प्रकार (Determinate) **के काम करने की स्वाधीनता है।** ग्रीन से पहले उपयोगितावादी और व्यक्तिवादी विचारक व्यक्ति के अधिकारों का उग्र समर्थन करते हुए इस बात पर बल देते थे कि स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार सभी प्रकार के कार्य करने की स्वाधीनता देना है। कुछ कार्य नैतिक और धार्मिक दृष्टि से निन्दनीय हो सकते थे, जैसे शराब पीना, जुआ खेलना। व्यक्तिवादी यह मानते थे कि मनुष्य को इन्हें करने में भी पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। पहले (पृ० ७४–५) में यह बताया जा चुका है कि मद्यपान और द्यूत मिल की दृष्टि में विशुद्ध वैयक्तिक कार्य हैं, इनके विषय में उसे पूरी स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। किन्तु ग्रीन इससे सहमत नहीं है। वह मनुष्य की आत्मा को शाश्वत चैतन्य या ईश्वर का अंश मानता है, अतः मनुष्य एक नैतिक प्राणी है, उसका चरम लक्ष्य न केवल आत्मविकास करना, अपितु ईश्वर के अंशस्वरूप अन्य प्राणियों का तथा समाज का हित सम्पादन करना है। जो कार्य इस उद्देश्य को पूरा करें, मनुष्य का नैतिक विकास तथा सामाजिक उन्नति करने में सहायक हों, उन्हीं कार्यों को करना स्वतन्त्रता है। इससे मनुष्य को सच्चा सन्तोष, सुख और शान्ति मिलती है तथा समाज का कल्याण होता है।[1] मनुष्य को बुरे काम करने में भी क्षणिक आत्मसन्तोष मिल सकता

---

१. इस प्रसंग में हमें ग्रीन के इस विचार की तुलना गीता (१८।३७-३८) में प्रतिपादित सात्विक, राजसी तथा तामसी सुखों से करनी चाहिए। इनमें सबसे निकृष्ट कोटि के सुख तामस हैं, ये निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न होते हैं और मनुष्य के चित्त को मोह में डाल देते हैं, शराब, अफीम आदि के सेवन से उत्पन्न होने वाले सुख, इसी प्रकार के हैं। जो सुख इन्द्रियों से तथा इन्द्रियों के विषयों से प्राप्त होते हैं वे राजसी सुख होते हैं, ये आधिभौतिक सुख भी कहलाते हैं। तीसरे प्रकार के आध्यात्मिक सुख आत्मनिष्ठ बुद्धि से अथवा सब भूतों में एक ही आत्मा को जानकर, उसके सच्चे स्वरूप में रत रहने वाली बुद्धि से प्राप्त होते हैं, ये सात्विक सुख कहलाते हैं और सर्वोच्च समझे जाते हैं। गीता में ही अन्यत्र (६।२१ में) इसका लक्षण करते हुए कहा गया है कि "जो केवल बुद्धि से ग्राह्य हो और इन्द्रियों से परे हो" उसे आत्यन्तिक सुख कहते हैं (सुखमात्यन्तिकं यत्तत् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्)। ग्रीन इसी सुख को पाना, अपनी आत्मा की उपलब्धि करना ही सबसे बड़ा सुख समझता है। भारतीय दृष्टि से सुख-दुःख के प्रश्न की मीमांसा के लिए देखिए लोकमान्य तिलक का 'गीतारहस्य', पृ० ७८-१२८।

है, किन्तु ये कार्य उसकी आत्मा के विकास एवं उन्नति में बाधक होते हैं, अतः इन कार्यों को उसे न करने देना ही स्वतन्त्रता है; वस्तुतः ऐसे समय में इन कार्यों को करते हुए मनुष्य स्वतन्त्र नहीं, अपितु परतन्त्र हो जाता है। स्वतन्त्र का अर्थ है—स्व अर्थात् अपनी आत्मा के विकास में सहायक शुभ एवं सामाजिक हित को सम्पादन करने वाली दैवी प्रवृत्तियाँ। किन्तु जब मनुष्य शराब पीता है या जुआ खेलता है तो वह परतन्त्र हो जाता है, क्योंकि वह वस्तुतः अपने आत्मविकास में बाधक इन अनैतिक कार्यों को आसुरी प्रवृत्तियों और बुरी भावनाओं के वशीभूत होकर करता है। इस समय वह इन दुष्ट विचारों का दास हो जाता है, अतः उसे स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। स्वतन्त्रता केवल ऐसे कार्य करने का नाम है जब मनुष्य अपनी इन्द्रियों और वासनाओं के वशीभूत होकर काम न करे, अपितु आत्मा को तथा समाज को उन्नत करने वाले कार्य करे। ग्रीन ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—"यह सम्भव है कि किसी कार्य से प्राप्त किया जा सकने वाला आत्मसन्तोष ऐसा हो कि वह इसे पाने वाले व्यक्ति की आत्मा के पूर्णता तक पहुँचने वाले विकास के मार्ग में बाधक हो। यह आत्मसन्तोष ऐसे आत्मसन्तोष से सर्वथा भिन्न है जो व्यक्ति के विकास में सहायक हो।" ग्रीन इस निश्चित उद्देश्य को पूरा करने वाले कार्यों के करने को ही स्वतन्त्रता कहता है। बार्कर ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—"अच्छे काम करने की प्रेरणा देने वाली, भली इच्छा के आदेशों का पालन करने की स्वतन्त्रता ही सच्ची स्वाधीनता हो सकती है।"[1]

ग्रीन का यह विचार काण्ट के मत से कुछ साम्य रखता है। दोनों यह मानते हैं कि मनुष्य जब अपनी इन्द्रियों का सुख पाने में और विषयोपभोग में रत होता है, उस पर आसुरी प्रवृत्तियाँ अपना शासन स्थापित करती हैं तो वह स्वतन्त्र न रहकर इनका दास हो जाता है। किन्तु काण्ट नैतिक कर्त्तव्यादेश (Categorical Imperative) के अनुसार काम करने को स्वतन्त्रता मानता है; ग्रीन की दृष्टि में आत्मविकास में और सामाजिक कल्याण में सहायक होने वाले कार्यों का करना ही स्वतन्त्रता है। इससे दोनों के दृष्टिकोण में बड़ा अन्तर हो जाता है। काण्ट की स्वतन्त्रता विशुद्ध रूप से वैयक्तिक है, उसका समाज के अथवा राज्य के हित से कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः उसका कार्य-क्षेत्र सीमित (Limited) है और वह आत्मगत (Subjective) है, एक व्यक्ति की आत्मा से ही सम्बन्ध रखता है, अन्य व्यक्तियों से या राज्य के कार्यों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु ग्रीन की 'स्वतन्त्रता' व्यक्ति तक सीमित न रहकर समूचे समाज और राज्य के कल्याण का सम्पादन करना चाहती है, और राज्य का यह कर्त्तव्य मानती है कि वह उस उद्देश्य की पूर्ति में आने वाली सभी बाधाओं को दूर करे। अतः ग्रीन का स्वतन्त्रता का विचार अधिक व्यापक और विशाल तथा वस्तुगत (Objective) है। यह विचार हेगल के इस दृष्टिकोण से कुछ सादृश्य रखता है कि राज्य विश्वात्मा के विकास का चरम रूप है और स्वतन्त्रता का अर्थ इसके आदेशों का पालन करना है।

---

१. बार्कर—पोलिटिकल थाट इन इंगलैण्ड, पृ० २४

ग्रीन के स्वतन्त्रता के विचार की **दूसरी विशेषता इसका सकारात्मक या भावात्मक** (Positive) होना है। उससे पूर्ववर्ती उपयोगितवादी विचारक राज्य द्वारा बनाए गए सभी कानूनों को व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कुचलने वाला समझते थे, उनका यह दृढ़ मत था कि पार्लियामैण्ट को ऐसे सभी कानून रद्द कर देने चाहिएँ जिनसे व्यक्ति पर किसी प्रकार की कोई पाबन्दी या बन्धन लगता हो। एडम स्मिथ ने इस मत का प्रतिपादन किया था कि राज्य को आर्थिक क्षेत्र में किसी प्रकार के कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाने चाहिएँ, सब मामलों में 'खुला छोड़ दो' (Laissez faire) की नीति अपनानी चाहिए। व्यक्ति पर राज्य द्वारा किसी प्रकार का कोई नियन्त्रण, बन्धन या प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए; इनके मतानुसार राज्य के प्रतिबन्धों या हस्तक्षेप का अभाव ही स्वतन्त्रता है। इसमें सब प्रकार के प्रतिबन्धों या कानूनों के अभाव पर या हटाए जाने पर बल दिया जाता था, अतः इसे अभावात्मक स्वतन्त्रता (Negative Freedom) कहा जाता था। इस विचार ने इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति के आरम्भिक दिनों में पूँजीपतियों को कारखानों में मजदूरों का भीषण शोषण करने की खुली छूट देकर भयंकर दुष्परिणाम उत्पन्न किए। इनके कारण लिबरल या उदार दल ने इन दुष्परिणामों को दूर करने के लिए 'कारखाना कानूनों' (Factory Acts) द्वारा काम करने के घण्टों को नियन्त्रण करने की, कारखानों के निरीक्षण करने की, उनमें स्वास्थ्यजनक परिस्थितियाँ बनाए रखने की व्यवस्था करने वाले कानूनों का निर्माण करना आरम्भ किया, इस प्रकार राज्य द्वारा हस्तक्षेप न किए जाने के पुराने सिद्धान्त को खण्डित करना शुरू कर दिया। किन्तु अभी तक यह केवल व्यावहारिक राजनीति में हुआ था, सैद्धान्तिक दृष्टि से इस समय मिल व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर पूरा बल दे रहा था, अभावात्मक स्वतन्त्रता का पूर्ण समर्थन कर रहा था। उस समय यद्यपि सब लोगों को यह विदित हो चुका था कि राज्य द्वारा अहस्तक्षेप (Laissez faire) की नीति का अनुसरण करने का परिणाम अधिकांश व्यक्तियों को निर्धनता, अज्ञान और बीमारी के पाश में बांधे रखना है, तथापि दूसरी ओर मिल जैसे विचारकों को यह भय बना हुआ था कि यदि राज्य को सभी मामलों में हस्तक्षेप करने की पूरी स्वतन्त्रता दी गई तो व्यक्ति की स्वाधीनता का एवं व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध हो जाएगा।

ग्रीन ने इस आशंका को दूर करने के लिए उपयोगितावादियों की 'नकारात्मक या अभावात्मक (Negative) स्वतन्त्रता' के स्थान पर 'सकारात्मक या भावात्मक स्वतन्त्रता' (Positive Liberty) के विचार का समर्थन किया।[1] इसका यह अभिप्राय था कि व्यक्ति द्वारा अपनी योग्यताओं तथा गुणों के विकास के लिए राज्य की शक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, राज्य द्वारा शिक्षा की व्यवस्था से, आर्थिक एवं औद्योगिक उन्नति के कानूनों से, स्वास्थ्यजनक परिस्थितियों को उत्पन्न करने से व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कोई आँच नहीं आती है, अपितु शिक्षा द्वारा तथा अन्य साधनों से व्यक्ति की आत्मोन्नति के अवसर बढ़ जाते हैं। अतः राज्य द्वारा ऐसे कार्य करने से व्यक्ति का एवं समाज का हित सिद्ध होता है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता

१. लैंकास्टर—मास्टर्स आफ पोलिटिकल थाट, पृ० २०५

में तथा राज्य के कार्यों में कोई विरोध नहीं रहता है, राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता का शोषक नहीं, किन्तु पोषक है।

अतः ग्रीन के मतानुसार स्वतन्त्रता का यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति पर राज्य द्वारा किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध न लगाया जाए, उसे मनमाने काम करने, शराब पीने, जुआ खेलने आदि की स्वतन्त्रता हो, अपितु स्वतन्त्रता का अभिप्राय ऐसे कार्यों को किए जाने से है जो हमारी आत्मोन्नति में तथा समाज की उन्नति में सहायक हों।[1] इसका अभिप्राय आत्मा एवं समाज के लिए आदर्श एवं हितकर समझे जाने वाले कार्य करने की स्वाधीनता है। शराबी को शराब पीने की स्वतन्त्रता न दिया जाना सच्ची स्वाधीनता है, क्योंकि शराब उसकी आत्मा के और समाज के विकास में बाधक है। हमारे मनों में दैवी और आसुरी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं, स्वतन्त्रता का अभिप्राय आसुरी प्रवृत्तियों को खुली छूट न देकर उनका दमन करना है, क्योंकि इसी से व्यक्ति और समाज का वास्तविक हित सम्पन्न हो सकता है और उन्हें सच्ची शान्ति मिल सकती है। इस सच्ची शान्ति को पाने के लिए हमारे मन को इन्द्रियों के विषयों और भोगों से ऊँचा उठना पड़ता है, अपनी आसुरी प्रवृत्तियों का दमन करके वैयक्तिक और सामाजिक कल्याण करने वाली दैवी प्रवृत्तियों का पोषण करना पड़ता है। इसी प्रकार हम पूर्णता को प्राप्त कर सकते हैं और सच्चे अर्थों में स्वतन्त्र हो सकते हैं, अन्यथा हम अपनी वासनाओं और इन्द्रियों के दास बने रहते हैं। स्वतन्त्रता का अर्थ वासनाओं की पूर्ति नहीं, अपितु उच्च भावनाओं द्वारा आत्म-कल्याण और सामाजिक हित का सम्पादन करना है। यह तभी हो सकता है जब हम अपनी उत्तम और स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार कार्य करें, न कि अपनी बुरी इच्छा और वासनाओं के वशीभूत होकर कार्य करें। ग्रीन के शब्दों में, एक व्यक्ति उसी दशा में स्वतन्त्र कहला सकता है "जब वह आत्मा की उन्नति के आदर्श को प्राप्त करे तथा उस नियम का पालन करना अपना कर्त्तव्य समझे जिसके बारे में उसका यह विचार है कि उसे इसका पालन करना चाहिए।"[2] अतः ग्रीन का दृष्टिकोण व्यक्तिवादियों के इस नकारात्मक स्वतन्त्रता के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न था कि राज्य का हस्तक्षेप न होना ही स्वतन्त्रता है। इसके विपरीत उसका यह कहना था कि व्यक्ति एवं समाज के विकास के लिए आवश्यक सभी कार्य राज्य को करने चाहिएँ—शिक्षा का

---

१. ग्रीन समाज के हित की कसौटी को बहुत महत्वपूर्ण मानता है। महाभारत में कहा गया है कि सत्य वही है जिससे अधिकांश प्राणियों का कल्याण हो, (वनपर्व २०८।४, यद्भूतहित-मत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा)। नारदजी ने शुकदेवजी से ऐसा ही कहा है—यद्भूतहितमत्यन्तमेत-त्सत्यं मतं मम। वनपर्व (२०६।७३) में एक स्थान पर सब प्राणियों के लिए हितकर बात पर बल दिया गया है—अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतहितं परम्। यद्यपि पश्चिम में ग्रीन से पहले उपयोगितावादियों ने अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख का प्रतिपादन किया था (देखिए ऊपर पृ० २७), किन्तु उनकी दृष्टि केवल भौतिक सुख पर ही केन्द्रित थी। ग्रीन ने भौतिक गुणों की अपेक्षा आध्यात्मिक सुख को अधिक महत्व प्रदान किया और प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक समझा कि वह न केवल अपनी भलाई करे, अपितु अन्य लोगों की तथा समाज की भी भलाई करने का प्रयत्न करे।

२. ग्रीन—लैक्चर्स ऑन दी प्रिन्सिपल्ज आफ पोलिटिकल आब्लिगेशन, पृ० २

प्रसार, कारखानों में काम करने की परिस्थितियों का नियन्त्रण, मद्य-निषेध आदि में पूरी दिलचस्पी लेनी चाहिए। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह उन सभी रुकावटों को रोके (Hindering Hinderances to good life) जो व्यक्ति के उत्तम जीवन का लक्ष्य पूरा करने में तथा आत्मा के विकास में बाधक हैं। यही ग्रीन का 'भावात्मक स्वतन्त्रता' का विचार है। उसके जीवनकाल में व्यक्तिवाद के प्रबल प्रचारक हर्बर्ट स्पेन्सर ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि राज्य को निर्धन लोगों को आर्थिक सहायता देने (Poor relief), सार्वजनिक शिक्षा प्रदान करने, 'कारखाना कानून' बनाने तथा डाक व तार की व्यवस्था करने वाले कार्य नहीं करने चाहिएँ, पहले (पृ० ७६) में यह बताया जा चुका है कि जॉन स्टुअर्ट मिल राज्य द्वारा विद्यालय खोलकर शिक्षा देने का उग्र विरोधी था। ग्रीन ने इन अतिवादी एवं उग्र व्यक्तिवादी धारणाओं का खण्डन करते हुए यह प्रतिपादित किया कि इनसे व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कोई आघात नहीं पहुँचता, अपितु मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास होता है। रूसो और काण्ट की भाँति वह यह मानता था कि व्यक्तित्व का विकास राज्य में रहते हुए हो सकता है, इससे पृथक् रहते हुए नहीं; अतः राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह व्यक्ति के विकास की सभी परिस्थितियों को उत्पन्न करे तथा इसके मार्ग में आने वाली सभी बाधाओं को दूर करे। इसी प्रकार मनुष्य को सच्ची स्वतन्त्रता मिल सकती है।

ग्रीन का स्वतन्त्रता का विचार हेगल की स्वाधीनता की धारणा से गहरा सादृश्य रखता है। दोनों ही मनुष्य को तभी स्वतन्त्र मानते हैं जब वह दिव्य भावना (Divine Spirit) के साथ अभेद स्थापित करता है। हेगल के मतानुसार राज्य विश्वात्मा का सर्वोत्तम रूप है और उसके आदेशों का पालन करना ही स्वतन्त्रता है। ग्रीन व्यक्ति को तभी स्वतन्त्र मानता है जब वह आत्मविकास एवं सामाजिक विकास के लिए आवश्यक कार्यों को करता है, न कि अपनी क्षुद्र वासनाओं और भावनाओं का दास होकर कार्य करता है। मनुष्य तभी स्वाधीन होता है जब वह अपनी "सच्ची भलाई के लिए कार्य करता है और यह भलाई केवल अपना ही भला करने में नहीं, अपितु समाज का और सब लोगों का भला करने में निहित है।" उसके शब्दों में स्वतन्त्रता "समाज के हित के लिए मनुष्यों की सभी शक्ति का उन्मुक्त रूप से प्रयोग करना है। किन्तु मनुष्य इस सामाजिक हित को सम्पादित करने का प्रयत्न इसलिए करते हैं कि उनमें दैवी भावना निहित है और वह उन्हें प्रेरणा प्रदान करती है, अतः स्वतन्त्रता वास्तव में दैवी भावना के अनुसार कार्य करना है और इन दोनों में अभिन्नता है। अतः वेपर ने यह सत्य ही लिखा है कि ग्रीन इस बात से सहमत है कि दैवी भावना (Divine Spirit) राज्य में मूर्त्त रूप धारण करती है और ग्रीन हेगल के इस मत का अनुयायी है कि सच्ची स्वतन्त्रता राज्य में ही प्राप्त हो सकती है।"[1]

अधिकार—स्वतन्त्रता को प्रतिपादन करने के बाद ग्रीन अधिकारों का विवेचन करता है। उसका 'अधिकारों का विचार' जॉन लॉक द्वारा प्रतिपादित 'प्राकृतिक

१. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० १७७

अधिकारों' (Natural Rights) के विचार से बहुत भिन्न है। लॉक व्यक्ति को जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति-रक्षा के तीन अधिकार प्रदान करता है; इन्हें वह व्यक्ति के जन्मसिद्ध स्वाभाविक और प्राकृतिक अधिकार मानता है तथा राज्य का प्रादुर्भाव इन्हीं की रक्षा के लिए मानता है।[1] किन्तु ग्रीन इस परम्परागत ब्रिटिश दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न मत का प्रतिपादन करता है। वह अधिकारों को प्राकृतिक और स्वाभाविक न मानकर समाज द्वारा व्यक्ति को समाज के हित को भली-भाँति सम्पादित करने की दृष्टि से दी गई ऐसी सुविधाएँ मानता है जिन्हें समाज ने अपने कल्याण की दृष्टि से स्वीकार किया हुआ है। वह अधिकार को दो प्रकार के रूप अथवा पक्ष रखने वाला समझता है। उसका **पहला वैयक्तिक पक्ष** या रूप तो यह है कि यह एक व्यक्ति द्वारा अपने किसी गुण या योग्यता को स्वतन्त्रतापूर्वक क्रिया रूप में परिणत करने की माँग है, जैसे व्यक्ति का स्वाधीन रहते हुए जीवन को बिताने की माँग करना। इसका **दूसरा सामाजिक पक्ष** समाज द्वारा इस माँग को मान लेना तथा व्यक्ति को वैसा करने की स्वाधीनता देना है। उसका यह कहना था कि "अधिकारों का निर्माण समाज द्वारा इन्हें मान्यता देने से होता है।" कोई भी बात तब तक अधिकार का रूप धारण नहीं करती जब तक इसे मान्यता न दी जाए। मेरी यह इच्छा हो सकती है कि मैं भारत का राष्ट्रपति बनूँ, किन्तु समाज ने भारतीय संविधान में राष्ट्रपति के चुनाव की एक विधि निश्चित की है, उस विधि के अनुसार चुने जाने वाले व्यक्ति को ही भारतीय समाज राष्ट्रपति स्वीकार करेगा। अतः राष्ट्रपति बनने के लिए मेरा इच्छा करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु संविधान द्वारा निश्चित मान्य विधि के अनुसार निर्वाचित होना भी आवश्यक है।

अधिकार के इन दोनों पक्षों को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है। हम ऐसे अधिकारों को इसी अर्थ में **'प्राकृतिक'** (Natural) कह सकते हैं कि ये माँगें (Claims) राज्य द्वारा इस कारण स्वीकार की जानी चाहिएँ कि समाज में सब व्यक्ति समान रूप से इस बात को अनुभव करते हैं या यह सामान्य चेतना (Common consciousness) रखते हैं कि व्यक्तियों को ऐसे अधिकार दिए जाने चाहिएँ। ये अधिकार प्राकृतिक तथ्य (Natural facts) न होकर, विचार जगत् में रहने वाले आदर्श (Ideals) हैं। अतः समाज की नैतिक चेतना में परिवर्तन आने के साथ-साथ इन अधिकारों में भी परिवर्तन आता है। ग्रीन का विश्वास है कि नैतिक चेतना (Moral consciousness) उन्नत होने पर 'प्राकृतिक' समझे जाने वाले अनेक अधिकारों को ऐसा नहीं समझा जाएगा तथा अन्य अधिकार प्राकृतिक माने जाने लगेंगे। इस प्रकार व्यक्ति द्वारा रखे जाने वाले प्रत्येक अधिकार की सत्ता इस बात पर निर्भर है कि समाज इसे अपने सामान्य कल्याण के लिए कहाँ तक उपयोगी मानता है। अधिकार की अन्तिम कसौटी समाज के कल्याण में सहायक होना तथा सहयोग देना है, इसमें सहयोग देने वाली व्यक्ति की प्रत्येक माँग को अधिकार माना जाता है और इस कसौटी पर खरी न उतरने वाली माँग को समाज अधिकार के रूप में मान्यता नहीं प्रदान करता है।

---

१. हरिदत्त वेदालंकार—पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० ४४०-४६

इसी कसौटी को अधिक स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित करते हुए ग्रीन ने यह घोषणा की है कि "अधिकार व्यक्ति द्वारा अपने ऐसे उद्देश्यों को पूर्ण करने की शक्ति है जिन उद्देश्यों को वह अपने लिए हितकर समझता है तथा समाज यह अधिकार व्यक्ति को इस आधार पर प्रदान करता है कि इस अधिकार के प्रयोग से समाज को लाभ पहुँचेगा।"[१] अतः ग्रीन की दृष्टि में व्यक्ति को कोई ऐसे प्राकृतिक तथा अविच्छेद्य (inalienable) अधिकार नहीं प्राप्त हैं जो उससे छीने न जा सकें तथा सर्वत्र एवं सर्वथा उसे प्राप्त रहें। यह लॉक द्वारा स्वीकृत व्यक्ति के अधिकारों की धारणा से सर्वथा भिन्न धारणा थी। हैलोवैल ने इस विषय में सत्य ही लिखा है कि ग्रीन ने व्यक्ति के सभी अविच्छेद्य और प्राकृतिक अधिकारों को एक ही अधिकार में परिणत कर दिया है, यह समाज के सब व्यक्तियों के हित के साथ सामंजस्य रखते हुए अपने वैयक्तिक हित का सम्पादन करना है।[२] मनुष्य को स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने का अधिकार तभी तक है जब तक वह समाज द्वारा समस्त रीति से और समाज के हित को बढ़ाने में सहायक बनते हुए कार्य करता है। ग्रीन ने इस दृष्टि से व्यक्ति का सम्पत्ति रखने का, उत्तराधिकार का तथा व्यापार की स्वतन्त्रता का अधिकार स्वीकार किया है। वह एक व्यक्ति द्वारा असीम पूँजी एकत्र करने का अधिकार मानता है और इस बात का खण्डन करता है कि पूँजीवाद निर्धनता का प्रधान उत्पादक कारण है, किन्तु वह भू-सम्पत्ति एवं जमींदारी के अधिकार का उग्र विरोधी है क्योंकि उसका यह मत है कि भूमि पर व्यक्ति को अधिकार उसके परिश्रम से नहीं, किन्तु लूट से मिला है। उसके मतानुसार "आरम्भिक जमींदार विजेता थे।"[३]

ग्रीन द्वारा प्रतिपादित अधिकारों की उपर्युक्त धारणा से यह स्पष्ट है—इस विषय में उसका सिद्धान्त उस समय प्रचलित दो प्रकार के सिद्धान्तों से भिन्न है। पहला सिद्धान्त लॉक तथा उसके अनुयायी एवं सामाजिक समझौते (Social Contract) में विश्वास रखने वालों का था। ये व्यक्ति के अधिकार को जन्मसिद्ध, स्वाभाविक, प्राकृतिक और अविच्छेद्य मानते थे। उनका यह मत था कि ये अधिकार मनुष्य को राज्य निर्माण से पहले की प्राकृतिक दशा (natural state) में से उसे प्राप्त हैं। बेन्थम आदि उपयोगितावादी विचारकों ने इसे सर्वथा काल्पनिक मानते हुए इसका खण्डन किया था तथा इसे बेहूदा बकवास बताया था (पृ० २९-३०)। ग्रीन उनकी इस आलोचना से सहमत था। उसके मतानुसार अधिकार मनुष्य को समाज का तथा राज्य का सदस्य होने के कारण तथा इसके द्वारा मान्यता दिए जाने से ही मिलते हैं, अतः इन्हें राज्य से पहले की प्राकृतिक दशा में उत्पन्न हुआ नहीं माना जा सकता है। मनुष्य के अधिकार की उत्पत्ति सर्वथा भिन्न प्रकार से होती है। मनुष्य में इच्छा-शक्ति है, वह विभिन्न वस्तुओं को पाने की इच्छाएँ रखता है, किन्तु इनमें से केवल उन्हीं इच्छाओं को बुद्धिमत्तापूर्ण इच्छा (Reasoned Will) कहा जा सकता

१. ग्रीन—लैक्चर्स ऑन प्रिन्सिपल्ज़ आफ पोलिटिकल आब्लिगेशन, पृ० २०७
२. ग्रीन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २२४
३. वही, पृ० २२६

है जो मनुष्य के नैतिक विकास में तथा समाज का सामान्य हित बढ़ाने में सहायक सिद्ध हों। किन्तु यहाँ यह जटिल समस्या उत्पन्न होती है कि मनुष्य को इस बात का कैसे ज्ञान होता है कि कोई कार्य उसके नैतिक विकास में तथा समाज के सब व्यक्तियों का सामान्य कल्याण करने में सहायक है और करने योग्य है। ग्रीन ने इस ज्ञान के उत्पन्न होने के दो कारण माने हैं : **पहला** कारण तो मनुष्य का नैतिक प्राणी होने से उसे इसका स्वाभाविक ज्ञान होना है। उसके शब्दों में, "प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का स्पष्ट ज्ञान होता है कि उसके तथा उसके पड़ोसियों के सामान्य हितों की वृद्धि में सहायक कुछ विशिष्ट स्वार्थ हैं, जैसे मजदूरों को सप्ताह समाप्त हो जाने पर वेतन मिलना चाहिए, दुकान से कोई वस्तु खरीदने पर उसके लिए व्यय की जाने वाली राशि के बदले में पूरा माल मिलना चाहिए, उसको तथा उसकी पत्नी को सुरक्षित एवं अक्षत रूप से जीवन बिताने का अवसर मिलना चाहिए।[1] उसकी ये सब माँगें स्वतःसिद्ध और समुचित प्रतीत होती हैं, समाज द्वारा इनको स्वीकार कर लिए जाने से ये माँगें अधिकार का रूप धारण करती हैं। हमें अपने कर्त्तव्य का बोध कराने वाला **दूसरा** कारण हमारे समाज की वे नागरिक संस्थाएँ (Civil Institutions) हैं जिनमें समाज की नैतिकता के मानदण्ड निहित हैं तथा जो व्यक्तियों को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करने में पथ-प्रदर्शक का काम करती हैं। ये संस्थाएँ भी आरम्भ में मनुष्य के विवेक अथवा बुद्धि से बनती हैं तथा मानव-जाति के नैतिक विकास के बाह्य रूप को अभिव्यक्त करती हैं।

प्राकृतिक अधिकारों के स्थान पर उपयोगितावादियों ने यह सिद्धान्त निश्चित किया था कि सभी अधिकारों का मूल स्रोत एक प्रभु (Sovereign) या सर्वोच्च सत्तासम्पन्न शक्ति होती है, मनुष्य को ऐसा कोई भी अधिकार नहीं मिल सकता जिसे प्रभु उसे देने से इनकार करे। ग्रीन इसे स्वीकार नहीं करता है, वह उपयोगितावादियों की भाँति यह नहीं मानता है कि राज्य किसी शक्तिशाली सत्ता द्वारा स्थापित व्यवस्था है, वह इसे समाज के सामान्य हित के लिए तथा अधिकारों की रक्षा के लिए बनाया गया संगठन समझता है, इसमें व्यक्तियों की निजी इच्छाओं में तथा समाज की आवश्यकताओं में सामंजस्य और सन्तुलन बना रहता है। इस समाज द्वारा स्वीकृत की जाने वाली माँगें ही अधिकार कहलाती हैं। यहाँ ग्रीन हेगल के इस सिद्धान्त से बहुत सादृश्य रखता है कि राज्य में ही 'स्वतन्त्रता' का चरम विकास होता है।

लैंकास्टर ने ग्रीन के अधिकार सम्बन्धी सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा है कि उसने इसमें दो विरोधी सिद्धान्तों का समन्वय करने का विफल प्रयास किया है।[2] एक ओर तो वह प्रबल व्यष्टिवादी (Individualist) है, वह राज्य द्वारा किए जाने वाले कार्यों का समर्थन इसी आधार पर करता है कि वे व्यक्ति के विकास में सहायक होंगे। वह यह मानता है कि व्यक्तियों के चरित्र की उच्चता से राज्य उच्च होगा। किन्तु वह इसका समर्थन मानव-प्रकृति के सम्बन्ध में जिस प्रकार के

१. ग्रीन—पोलिटिकल आब्लिगेशन, पृ० १२९
२. लैंकास्टर—मास्टर्स आफ पोलिटिकल थाट, पृ० २२३

सिद्धान्त से करता है वह सर्वथा अमान्य है। उसने मनुष्य की प्रकृति को आदर्श, बहुत ऊँचा और अच्छा माना है, उसमें आसुरी तत्वों के स्थान पर दैवी तत्वों की प्रधानता मानी है; इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्तिम विजय दैवी तत्वों की होती है, किन्तु यह बड़े लम्बे संघर्ष के बाद होती है। सामान्य रूप से देवासुर संग्राम में देवता हारते रहते हैं, संसार में भी आसुरी वृत्तियों का साम्राज्य दिखाई देता है। ग्रीन ने इस स्पष्ट तथ्य की उपेक्षा की है, मानव-प्रकृति का एक अतीव उज्ज्वल पक्ष सत्य माना है, अतः उसका अधिकारों का सिद्धान्त सच्चाई से दूर, अव्यवस्थित (confused) और असंगत (inconsistent) प्रतीत होता है।

अधिकार, नैतिकता तथा कानून—ग्रीन अधिकारों का नैतिकता और कानून से गहरा सम्बन्ध और भेद मानता है। अधिकारों का नैतिक जीवन के साथ यह सम्बन्ध है कि इनके बिना नैतिक जीवन को बिताना सम्भव नहीं है। किन्तु दोनों में एक मौलिक भेद यह है कि अधिकारों का पालन बलपूर्वक कराया जाना सम्भव है, किन्तु नैतिक कर्त्तव्यों का पालन स्वेच्छापूर्वक ही होना चाहिए, अन्यथा वे महत्वशून्य हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, बच्चों की शिक्षा के प्रश्न को लिया जा सकता है, अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करने वाले देशों में बालक को शिक्षा पाने का अधिकार है, यदि बच्चे का पिता इसमें बाधा डालता है तो राज्य उसे अपने बच्चे को स्कूल भेजने के लिए बाधित कर सकता है, यह अधिकार का बलपूर्वक पालन कराना है। किन्तु नैतिक कर्त्तव्यों में ऐसा बल-प्रयोग या जोर-जबर्दस्ती नहीं की जा सकती; जैसे एक बालक का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि वह अपने माता-पिता का सम्मान करे। यदि उसमें यह भावना नहीं है, वह स्वेच्छापूर्वक माता-पिता का सम्मान नहीं करता तो उसे यदि इस कार्य के लिए बलपूर्वक बाध्य किया जाएगा तो वह वास्तविक सम्मान न होकर उसका बाह्य प्रदर्शन मात्र होगा, उस दशा में यह कोरा ढोंग होगा। अतः अधिकार और नैतिक कर्त्तव्य में यह भेद है कि पहले का सम्बन्ध केवल भौतिक अथवा शारीरिक कार्य मात्र से है, अतः उसका बलपूर्वक पालन कराना सम्भव है, किन्तु नैतिकता का सम्बन्ध आन्तरिक मनोभावना से है, उसका पालन शक्ति के प्रयोग से नहीं कराया जा सकता है।

अधिकार और कानून में परस्पर गहरा सम्बन्ध भी है। किसी भी अधिकार को कानूनी रूप देकर उसका पालन राज्य द्वारा बलपूर्वक कराया जा सकता है। अधिकार आरम्भ में नैतिक या स्वाभाविक माँगें होती हैं, बाद में उन्हें कानूनी रूप देकर अधिकार बनाया जाता है। उदाहरणार्थ व्यक्ति की मानसिक, आध्यात्मिक तथा बौद्धिक योग्यताओं के विकास के लिए उसे शिक्षा दिया जाना आवश्यक है, अतः शिक्षा प्राप्त करना व्यक्ति का नैतिक कर्त्तव्य है, किन्तु जब राज्य अनिवार्य रूप से शिक्षा देने का कानून बनाता है तो यह नैतिक कर्त्तव्य अधिकार बन जाता है। किन्तु अधिकार और कानून में एक महत्वपूर्ण भेद भी है। सभी कानून अथवा विधि-सम्मत अधिकार नैतिक और न्यायपूर्ण नहीं हो सकते; राज्य द्वारा अन्यायपूर्ण कानून भी बनाए जा सकते हैं। प्राचीन समय में और मध्यकाल में दास-प्रथा का प्रचलन था, अरस्तू तथा सन्त थामस एक्विनास ने इसका समर्थन किया था। यह कानून-सम्मत प्रथा थी, उस

समय मनुष्यों को दास रखने, उन्हें खरीदने और मार डालने तक के कानूनी अधिकार थे, किन्तु इन्हें सच्चे नैतिक या न्यायपूर्ण अधिकार नहीं कहा जा सकता है।

हिन्दू समाज में अस्पृश्यता की अन्यायमूलक व्यवस्था चिरकाल तक विधि-सम्मत थी, यद्यपि यह नैतिक दृष्टि से अनुचित और अन्यायपूर्ण थी। स्वामी दयानन्द और महात्मा गांधी जैसे महापुरुषों ने इसका घोर विरोध किया था। इस व्यवस्था को **अस्पृश्यता उन्मूलन कानून** से ही अवैध बनाया गया है। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि समाज की सभी व्यवस्थाएँ और कानून नैतिक नहीं होते हैं।

अधिकार दो प्रकार के हैं : कुछ अधिकार तो अभी नैतिक कर्त्तव्य मात्र हैं, इन्हें कानून द्वारा स्वीकार नहीं किया गया है। इनमें अनेक ऐसी व्यवस्थाएँ आती हैं जिनको समाज में कानूनी रूप नहीं दिया गया है, किन्तु नैतिक दृष्टि से इन्हें आवश्यक समझा जाता है और भविष्य में नैतिक उन्नति होने से इन्हें कानूनी रूप दिया जाना सम्भव है। भारत के संविधान में राज्य की नीति के निर्देशक तत्वों (Directive Principles) में ऐसी ही बातों का निर्देश है। एक उदाहरण से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाएगी : राज्य का यह नैतिक कर्त्तव्य है और भारत में सभी इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक नागरिक को भरपेट भोजन, पर्याप्त वस्त्र, मकान, शिक्षा आदि की सुविधा मिलनी चाहिए, बेकारी दूर होनी चाहिए, प्रत्येक व्यक्ति को काम पाने का अधिकार होना चाहिए। किन्तु अभी तक हमारे देश में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह सबको भरपेट भोजन या काम देने के आदर्श को क्रियात्मक रूप दे सके। अतः उसने इसे कानूनी रूप नहीं दिया है, इस समय कोई भूखा व्यक्ति भारत की सरकार से रोटी या रोजी पाने का दावा नहीं कर सकता है। ये वस्तुतः ग्रीन के आदर्श (Ideal) या प्राकृतिक अधिकार हैं। ये कानून द्वारा स्वीकृत वास्तविक अधिकारों (Actual Rights) की अपेक्षा अधिक व्यापक और गम्भीर होते हैं। किन्तु दूसरी ओर दासता आदि कुछ ऐसे भी अधिकार हैं जिन्हें कानून स्वीकार करता रहा है ; फिर भी इन्हें नैतिक नहीं कहा जा सकता है। इसके सुप्रसिद्ध उदाहरण दास-प्रथा तथा अस्पृश्यता हैं। अधिकारों की सुरक्षा राज्य द्वारा की जाती है। अतः अधिकारों के बाद ग्रीन ने राज्य का प्रतिपादन किया है।

राज्य का निर्माण तथा सामान्य इच्छा (General Will)—राज्य का निर्माण अधिकारों की रक्षा के लिए होता है। जब हम शान्त चित्त से तथा बुद्धिपूर्वक विचार करते हैं तो हमें यह प्रतीत होता है कि हमें अपने अधिकारों के समान ही अन्य व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा करनी चाहिए। किन्तु स्वार्थ, घृणा या क्रोध के आवेश में हम दूसरों के अधिकारों की अवहेलना करते हैं; ऐसे अवसरों पर अन्य व्यक्तियों के अधिकारों को कोई हानि न पहुँचे, इस बात की आवश्यकता सब लोगों द्वारा अनुभव की जाती है। अतः सभी लोगों की यह **सामान्य इच्छा** (General Will) है कि सभी दशाओं में अधिकारों की रक्षा करने वाली कोई संस्था होनी चाहिए। यह संस्था राज्य है। रूसो की भाँति ग्रीन भी दो इच्छाओं का सिद्धान्त मानता है। फ्रेंच विचारक के मतानुसार, ये इच्छाएँ मनुष्य के वैयक्तिक हित को ध्यान में रखने वाली **स्वार्थपूर्ण इच्छा** (Actual Will) तथा व्यक्ति और समाज के हित में समन्वय करने वाली

सामाजिक इच्छा (Real Will) हैं।[1] ग्रीन ने इसका अनुसरण करते हुए कहा है कि प्रत्येक मनुष्य में रूसो की सामाजिक इच्छा जैसी एक सद्इच्छा (Good Will) होती है, यह उसे कुछ निश्चित कार्यों को करने की प्रेरणाएँ देती है, ये प्रेरणाएँ ग्रीन के शब्दों में नैतिक आदेश (Moral Imperatives) हैं, इन आदेशों के अनुसार कार्य करने वाला व्यक्ति नैतिक व्यक्ति है। वह नैतिकता के अपने मार्ग पर दृढ़तापूर्वक चलते हुए एक दिन अवश्य पूर्णता प्राप्त करेगा, ब्रह्माण्ड में व्याप्त शाश्वत चेतना का अंग बन जाएगा। सब मनुष्यों की सद्इच्छाएँ एक ऐसी सामान्य इच्छा को उत्पन्न करती हैं जिनका प्रधान उद्देश्य समाज के सामान्य हित में सहायक हो सकने वाले सभी कार्यों को करना है। समाज के सभी व्यक्तियों की यह एक सामान्य इच्छा है कि समाज में सभी के हित सुरक्षित हों तथा सबकी उन्नति हो। यही सामान्य इच्छा राज्य का मूल प्रेरणा स्रोत है तथा सब प्रकार के कानूनों और विधियों को उत्पन्न करती है; क्योंकि यद्यपि समाज में रहने वाले सभी व्यक्तियों का लक्ष्य समाज के हित में सहयोग देना होता है, फिर भी समाज में अनेक ऐसे व्यक्ति होते हैं जो नैतिक चेतना के आदेशों के विरुद्ध स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनेक कार्य करते हैं, ऐसे व्यक्तियों को समाज-विरोधी कार्यों से रोकने के लिए कानून बनाने की आवश्यकता होती है। इनसे राज्य का काम आसान हो जाता है, वह 'अन्य लोगों की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए बल का प्रयोग करता है'।

इस प्रसंग में राज्य का निर्माण करने वाली **सामान्य इच्छा** (General Will) के सम्बन्ध में एक प्रश्न विचारणीय है। क्या यह सामान्य इच्छा राज्य के सभी सामान्य नागरिकों में पाई जाती है? रूसो की भाँति ग्रीन का यह विश्वास था कि "सार्वजनिक एवं सामान्य हित के कार्यों को करने की तथा इनमें सहयोग देने की भावना सुव्यवस्थित शासन को चलाने के लिए आवश्यक है। यह भावना अधिकांश व्यक्तियों में पाई जाती है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि "शराब की दुकानों से घिरे हुए लन्दन के अनपढ़ एवं दरिद्र व्यक्तियों जैसे नागरिकों में यह भावना बहुत ही कम मात्रा में है।" वे अपनी रोजी कमाने की चिन्ता में इतने अधिक व्यस्त हैं तथा इतने अधिक अशिक्षित हैं कि वे अपने समाज के सामान्य हित के प्रश्नों पर विचार करने का अवकाश या सामर्थ्य नहीं रखते हैं। किन्तु फिर भी सूक्ष्म रूप से उनमें राज्य के 'सामान्य हित' को उन्नत करने की कुछ भावना अवश्य है। ग्रीन का मत है कि यदि उनमें यह भावना सूक्ष्म रूप से न हो और वे राज्य को उपयोगी एवं महत्वपूर्ण न समझें तो उन्हें राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने में कोई संकोच नहीं होगा, वे राज्य के नियमों का पालन नहीं करेंगे तथा राज्य के प्रधान आधारस्तम्भ—सामान्य इच्छा की नींव खोखली हो जाएगी।[2]

राज्य का वास्तविक आधार बल नहीं, किन्तु इच्छा है—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि राज्य के निर्माण का मौलिक तत्व सामान्य इच्छा (General Will)

१. हरिदत्त वेदालंकार—पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० ४६२
२. ग्रीन—पोलिटिकल आब्लिगेशन, पृ० १२६

है, यह इच्छा किसी भी राज्य के सभी व्यक्तियों में समान रूप से पाई जाती है और यह सभी को राज्य की उन्नति के सामान्य उद्देश्य के लिए प्रेरित करती है। अतः बार्कर ने इसे "समान उद्देश्य से प्रेरित होने वाले सब नागरिकों में पाई जाने वाली चेतना तथा उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने वाली एक सामान्य इच्छा कहा है।"[1] ग्रीन के मतानुसार यही इच्छा राज्य का आधार है, न कि बल इसका आधार है (Will, not force is the basis of the State)। उसके इस सूत्र को भली-भाँति समझने के लिए ग्रीन से पहले की राजनीतिक विचारधारा पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। उससे पूर्ववर्ती विचारक राज्य के मौलिक आधार के विषय में यह धारणा रखते थे कि राज्य राजा एवं प्रजा, शासक एवं शासित के दो मौलिक तत्वों से मिलकर बनता है और इसका आधार शक्ति या बल-प्रयोग है। वे प्रजाजनों अथवा शासितों को कुछ जन्मसिद्ध प्राकृतिक अधिकारों से सम्पन्न तथा राजा या शासक को उन्हें अपने वश में या दबाव में रखने वाली तथा अपने आदेशों का पालन कराने वाली शक्ति से सम्पन्न समझते थे। राज्य की सैनिक शक्ति और राजदण्ड के भय से नागरिक राज्य के कानून की अवहेलना नहीं करते हैं, अतः राज्य का आधार शक्ति है। किन्तु यह 'जिसकी लाठी उसी की भैंस' का सिद्धान्त है। यदि उसे पूर्ण रूप से सत्य मान लिया जाए तो राज्य को अपनी शक्ति के अनुसार प्रजाजनों पर यथेच्छ रूप से शासन करने का अधिकार मिल जाएगा, नागरिक पूर्ण रूप से उसकी कृपा पर जीवित रहने वाले तथा सब प्रकार के अधिकारों से वंचित हो जाएँगे। इस अवांछनीय स्थिति से बचने के लिए लॉक, रूसो आदि दार्शनिकों ने सामाजिक समझौते (Social Contract) के सिद्धान्त की कल्पना करते हुए यह माना था कि इसके अनुसार मनुष्यों को कुछ प्राकृतिक या स्वाभाविक अधिकार प्राप्त हैं, राज्य को इन्हें सुरक्षित रखना चाहिए। इस अपवाद के अतिरिक्त, वे राज्य को शक्ति पर ही टिका हुआ मानते हैं, क्योंकि उसके दण्ड देने की शक्ति (Coercive Authority) के भय से ही नागरिक राज्य के नियमों और कानूनों का पालन करते हैं। यदि राजदण्ड की शक्ति का भय न रहे तो नागरिक राजकीय आदेशों की अवहेलना करने लगेंगे और राज्य की संस्था ही समाप्त हो जाएगी।[2]

---

१. बार्कर— पोलिटिकल थाट इन इंगलैण्ड, द्वितीय संस्करण, पृ० २८

२. भारतीय राजशास्त्र में भी राज्य का एक प्रधान आधार दण्ड की शक्ति को माना गया है। महाभारत में (शान्तिपर्व १५।१० के अनुसार) दण्ड उस मर्यादा का नाम है जो मनुष्यों में अव्यवस्था के निवारण (असंमोह) तथा धन-सम्पत्ति के संरक्षण के लिए स्थापित की गई है। दण्ड द्वारा ही प्रजा का शासन होता है, दण्ड द्वारा ही सबकी रक्षा होती है। जब सब सो रहे होते हैं, तब दण्ड ही जाग रहा होता है, अतः समझदार व्यक्ति दण्ड को ही धर्म समझते हैं (महाभारत, शान्तिपर्व १५।२)—

असंमोहाय मर्त्यानामर्थसंरक्षणाय च।
मर्यादा स्थापिता लाके दण्डसंज्ञा विशाम्यते॥
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥

ग्रीन ने इस विचारधारा का प्रबल खण्डन करते हुए यह बताया है कि राज्य के कानूनों का पालन हम दण्ड के भय से नहीं करते हैं, अपितु इसलिए करते हैं कि इनका पालन करना हमारे लिए तथा समाज के लिए हितकर है, यदि हम इनका पालन नहीं करेंगे तो उस दशा में हमारा और समाज का नैतिक विकास अवरुद्ध हो जाएगा, हम अपनी आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति के लिए आवश्यक स्वतन्त्रता के वातावरण को और अनुकूल परिस्थितियों को नहीं प्राप्त कर सकेंगे। हमारा हित और भलाई राज्य के कानूनों का पालन करने में है, अतः हम इनका पालन स्वेच्छापूर्वक करते हैं, न कि राज्य की दण्डशक्ति के भय से। अतः राज्य का आधार इच्छा है, न कि शक्ति। राज्य के सब व्यक्तियों के हितों को सुरक्षित रखने की हमारी इस इच्छा की और समान हितों को उन्नत करने की आकांक्षा और सामान्य चेतना से ही नागरिकों के अधिकारों और कर्त्तव्यों का, तथा इन्हें बनाए रखने वाले कानूनों का, सामाजिक संस्थाओं का तथा राज्य की शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। इसे स्पष्ट करते हुए ग्रीन ने लिखा है—"नैतिकता का तथा राज्य के अधीन रहने की व्यवस्था का मूल स्रोत एक ही है। यह कुछ मनुष्यों द्वारा बुद्धिपूर्वक इस बात को मान लेना है कि सबकी सामान्य भलाई में ही उनकी उन्नति निहित है।"[१] इस प्रकार ग्रीन यह मानता है कि प्रत्येक समाज और राज्य का आधार उसके नागरिकों द्वारा इस बात को मान लेना है कि सबकी भलाई और उन्नति की दृष्टि से राज्य के नियमों का पालन करना आवश्यक है।

किन्तु राज्य में ऐसे अवांछनीय तत्वों की भी कमी नहीं होती जो सबकी भलाई में अपनी भलाई नहीं समझते हैं, समाज के हित का ध्यान न रखते हुए वैयक्तिक हितों का अधिक ध्यान रखते हैं, स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से दूसरों को तथा समाज को हानि पहुँचाने वाले काम करते हैं। इस दशा में राज्य को ऐसे समाज-विरोधी तत्वों और कार्यों का दण्ड की शक्ति से दमन करना आवश्यक हो जाता है। वस्तुतः अधिकांश मनुष्यों की प्रवृत्ति ऐसी होती है, इसका विरोध करने के लिए राज्य को पुलिस, न्यायालय, जेलखाना और सेना की शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। किन्तु ग्रीन इस शक्ति के प्रयोग को भी सामान्य इच्छा का ही दूसरा रूप समझता है। यह बात चोरी के उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगी : जब मनुष्य स्वार्थपूर्ण उद्देश्य से दूसरे की सम्पत्ति चुराता है तो वस्तुतः वह अपनी नैतिक चेतना के तथा समाज की सामान्य इच्छा के प्रतिकूल कार्य करता है। उसकी अन्तरात्मा उसको इस चोरी के लिए धिक्कारती है, क्योंकि समाज में यदि चोरी की व्यवस्था सामान्य रूप से प्रचलित हो जाए तो किसी की सम्पत्ति सुरक्षित न रह सके। अतः समाज की सामान्य इच्छा चोरी करने का विरोध करने वाली भावना है, पुलिस और न्यायालय के रूप में समाज ने इस भावना या इच्छा को सुरक्षित करने की व्यवस्था की है, इसमें चोर की वास्तविक इच्छा भी सम्मिलित है, भले ही कुछ समय के लिए वह वैयक्तिक लाभ से प्रेरित होकर स्वार्थपूर्ण इच्छा (Actual Will) से चोरी करे। अतः जब पुलिस चोर को पकड़ती है और

---

१. हैलोवैल—मेन करेण्ट्स इन माडर्न पोलिटिकल थाट, पृ० २८०

न्यायालय उसे दण्ड देते हैं तो वे किसी शक्ति का प्रदर्शन नहीं करते, अपितु चोर की अपनी यथार्थ नैतिक इच्छा का तथा समाज की इस सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व करते हैं कि चोर को दण्ड दिया जाना चाहिए। इसलिए चोर को चोरी के लिए दिया जाने वाला दण्ड किसी शक्ति का नहीं, किन्तु उसकी इच्छा का परिणाम है। इस दण्ड से चोर को अपनी स्वार्थपूर्ण वासना की दासता से मुक्ति मिलती है। इससे यह स्पष्ट है कि राज्य के जिन कार्यों में हमें शक्ति का प्रयोग दिखाई देता है वह भी वस्तुतः उसकी सामान्य इच्छा से ही प्रादुर्भूत होते हैं। अतः राज्य का आधार इच्छा है, शक्ति नहीं है।

राज्य की आधारभूत इस इच्छा के स्वरूप का ग्रीन ने कोई स्पष्ट प्रतिपादन या लक्षण नहीं किया है। उसके शब्दों में यह "समान स्वार्थों और सहानुभूति के बन्धन से बंधी हुई जनता की आशाओं तथा आकांक्षाओं के अतिसूक्ष्म समूह (Impalpable Congeries) हैं"; अन्यत्र उसने इसे एक "सामान्य हित की सिद्धि के लिए सब लोगों में समान रूप से पाई जाने वाली चेतना या भावना (Common Consciousness of a Common Good), समान हितों को रखने की भावना या 'जनता द्वारा सामान्य हितों की प्राप्ति की आकांक्षा' कहा है।"[1] इसका स्वरूप अस्पष्ट होने पर ग्रीन इस बात पर स्पष्ट और निश्चित रूप से बल देता है कि यह इच्छा **राज्य की नहीं है, अपितु राज्य के हित के लिए है।** सभी व्यक्ति समूचे विश्व में ओतप्रोत शाश्वत चेतना का या दैवी सत्ता का अंश हैं, इनके वैयक्तिक विकास में और राज्य के सामान्य हित में कोई विरोध नहीं है, व्यक्ति की भलाई समाज और राज्य की भलाई के साथ सम्बद्ध है। अतः सामान्य इच्छा सदैव सब व्यक्तियों के लिए तथा राज्य के लिए हितकारी सिद्ध होने वाली इच्छा ही रखती है। इस स्थिति में राज्य की कोई ऐसी इच्छा नहीं हो सकती जो व्यक्तियों के नैतिक विकास एवं आत्मोन्नति में बाधक हो। हेगल ने राज्य को विश्वात्मा के विकास का चरम रूप स्वीकार करते हुए उसकी इच्छा का पालन करने को ही स्वतन्त्रता माना था और इस प्रकार राज्य की निरंकुश सत्ता का और राज्य द्वारा व्यक्तियों पर भीषण अत्याचार करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया था, किन्तु ग्रीन ने सामान्य इच्छा की उपर्युक्त धारणा से इस मार्ग को सर्वथा अवरुद्ध कर दिया है। यह ग्रीन और हेगल का एक महत्वपूर्ण भेद है।

प्रभुसत्ता का विचार—ग्रीन का प्रभुसत्ता (Sovereignty) का विचार 'सामान्य इच्छा' से सम्बद्ध तथा अन्य राजनीतिक विचारकों से कुछ भिन्न है। ग्रीन से पहले इस विषय में दो परस्पर विरोधी विचार प्रचलित थे: पहला विचार रूसो का था, इसके अनुसार प्रभुसत्ता या राज्य के नियमों का बाधित रूप से पालन कराने वाली सर्वोच्च शक्ति 'सामान्य इच्छा' (General Will) में रहती है, किन्तु आस्टिन यह मानता था (देखिए ऊपर पृष्ठ ५७) कि यह प्रभुसत्ता सदैव किसी ऐसे निश्चित सर्वोच्च मानव अधिकारी (determinate human superior) में निहित होती है जिसके आदेशों का पालन समाज के अधिकांश भाग द्वारा स्वाभाविक रूप से किया जाता है

---

१. बार्कर—पोलिटिकल थाट इन इंग्लैण्ड, पृ० २८

और जो स्वयमेव किसी अन्य सत्ता के आदेशों का पालन नहीं करता है। ये दोनों दृष्टिकोण विरोधी प्रतीत होते हैं क्योंकि रूसो की 'सामान्य इच्छा' रखने वाला कोई निश्चित व्यक्ति या व्यक्तिसमूह नहीं हो सकता है, क्योंकि यह जनता में निहित होती है। जनता अपने-आपमें अस्पष्ट और अनिश्चित सत्ता है।

किन्तु ग्रीन प्रभुसत्ता के उपर्युक्त दोनों विचारों को विरोधी न मानता हुआ इनमें समन्वय करने का तथा संगति बिठाने का प्रयत्न करता है। वह आस्टिन के प्रभुसत्ता के लक्षण को यहाँ तक तो सही मानता है कि कानूनों के निर्माण और पालन के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें बनाने वाला तथा पालन कराने वाला एक निश्चित मानव या मानवसमूह हो। ग्रेट ब्रिटेन में ऐसी सर्वोच्च प्रभुसत्ता पार्लियामेण्ट तथा राजा हैं, इंगलिश जनता सदैव स्वाभाविक रूप से उनकी आज्ञा का पालन करती है और ये किसी शक्ति के आदेशों का पालन नहीं करते हैं। किन्तु हम यदि इससे अधिक गहराई में जाएँ तो हमें ग्रीन के मतानुसार आस्टिन की प्रभुसत्ता की परिभाषा दोषपूर्ण प्रतीत होती है, क्योंकि वह इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर नहीं दे सकता कि प्रभुसत्ता के आदेशों का पालन स्वाभाविक रूप से क्यों किया जाता है। आस्टिन का तथा उसके अनुयायियों का यह विश्वास है कि प्रजा द्वारा सर्वोच्च सत्ता के आदेशों और कानूनों के पालन का कारण राजकीय शक्ति और दण्ड का भय है, इनसे प्रेरित होकर राज्य के कानूनों का पालन किया जाता है। किन्तु ग्रीन इससे असहमति रखता है, उसके मतानुसार प्रजा द्वारा राज्य के कानूनों के पालन करने का प्रधान कारण राजकीय शक्ति के दण्ड का भय नहीं, अपितु जनता का यह विश्वास है कि ये कानून उनके हित के लिए बनाए गए हैं, उसके मतानुसार सर्वोच्च प्रभुसत्ता में समाज की सामान्य इच्छा मूर्त्त रूप धारण करती है और अपने को अभिव्यक्त करती है। आस्टिन के लक्षण की आलोचना करने के बाद ग्रीन ने इस विषय में लिखा है कि प्रजा द्वारा स्वाभाविक रूप से राज्य के कानूनों का पालन कराने वाली शक्ति एक-दूसरे के हित में अभिरुचि रखने वाले तथा सामान्य हितों के लिए मिलकर कार्य करने वाले मनुष्यों की सामान्य इच्छा और बुद्धि है।[1] **सार्वभौम बुद्धिपूर्ण इच्छा** (Universal Rational Will) मनुष्यों की प्रवृत्तियों पर गहरा प्रभाव डालने वाली शक्ति है, किन्तु कभी-कभी असाधारण दशाओं में मनुष्यों की समाज-विरोधी प्रवृत्तियों का दमन करने के लिए राजकीय दण्ड की शक्ति का भी प्रयोग करना पड़ता है। इस प्रकार ग्रीन आंशिक रूप से आस्टिन से सहमत होता हुआ भी अन्त में रूसो की सामान्य इच्छा को प्रभुसत्ता मानने का सिद्धान्त स्वीकार करता है, आस्टिन तथा रूसो के प्रभुसत्ता के लक्षणों का समन्वय करते हुए यह कहता है कि प्रभुसत्ता का अन्तिम अधिष्ठान या निवास-स्थान तो सामान्य इच्छा है, किन्तु विभिन्न राज्यों में इसका वास्तविक उपभोग करने वाले कुछ निश्चित उच्च मानव अधिकारी हैं। यदि गम्भीर दृष्टि से विचार किया जाए तो प्रभुसत्ता का उपभोग करने वाले इन मानव अधिकारियों की सत्ता का मूल स्रोत सामान्य इच्छा है, ये उसे मूर्त्त रूप देने वाले उसके सेवक मात्र हैं, जैसे चन्द्रमा

१. नेटलशिप द्वारा सम्पादित ग्रीन के ग्रन्थ, खण्ड २, पृ० ४३०-३१

स्वतः प्रकाशमान पिण्ड नहीं है, उसे अपना प्रकाश सूर्य से प्राप्त होता है, इसी प्रकार निश्चित उच्च मानव अधिकारियों को अपनी सत्ता जनता की सामान्य इच्छा से प्राप्त होती है, यही इच्छा पृष्ठभूमि में रहते हुए उन्हें बल प्रदान करती है। जब इस सामान्य इच्छा का समर्थन निश्चित मानव अधिकारियों को नहीं प्राप्त होता तो इनकी प्रभुसत्ता नष्ट हो जाती है। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

अत्यधिक निरंकुश एवं अत्याचारी शासन भी जनता की सामान्य इच्छा का समर्थन हट जाने पर कोरी पाशविक शक्ति के आधार पर नहीं टिके रह सकते। फ्रांस और रूस इसके सुन्दर उदाहरण हैं: १७८९ की राज्यक्रान्ति से पहले फ्रांस के अत्याचारपूर्ण शासन को कोई खतरा नहीं था, क्योंकि अन्यायपूर्ण होते हुए भी इसे अधिकांश जनता का मूक समर्थन प्राप्त था। किन्तु जब क्रान्ति की विचारधारा द्वारा जनता में इसके विरुद्ध तीव्र विरोध, रोष और असन्तोष की भावना उत्पन्न हुई तो राजा का शासन जनता की सामान्य इच्छा के समर्थन से वंचित हो गया और उसकी प्रभुसत्ता का अन्त हो गया। १९१७ की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद रूस में भी ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई और वहाँ ज़ारशाही के निरंकुश शासन की समाप्ति हो गई। भारत में ब्रिटिश शासन के समय में ऐसी ही स्थिति थी, करोड़ों भारतीयों पर मुट्ठी-भर अंग्रेज शासन करते रहे, इसका प्रधान कारण उनकी सैनिक शक्ति नहीं, अपितु भारतीयों की ब्रिटिश शासन के प्रति अनुकूल भावना और सदइच्छा थी; मुगल साम्राज्य के विघटन से उत्पन्न अराजक दशा में अंग्रेजों ने शान्ति स्थापित की थी, अतः साधारण जनता इस शासन को पसन्द करती थी। राष्ट्रीय महासभा के आरम्भिक युग में सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी तथा गोपालकृष्ण गोखले जैसे नेता ब्रिटिश शासन को भारत के लिए वरदान समझते थे। इस दशा में यह कहा जा सकता है कि उस समय ब्रिटिश शासन को भारतीय जनता की सामान्य इच्छा का समर्थन प्राप्त था, वह उस पर टिका हुआ था। किन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन प्रबल होने के साथ-साथ ब्रिटिश शासन को जनता द्वारा मिलने वाले समर्थन में कमी आने लगी, जितनी अधिक मात्रा में यह कमी आई उसी मात्रा में भारत में ब्रिटिश शासन की नींव खोखली होने लगी। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय विशेषतः १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के बाद सामान्य जनता में ब्रिटिश-विरोधी भावना पराकाष्ठा पर पहुँच गई, समझदार ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने यह अनुभव किया कि उन्हें भारतीय जनता का नैतिक समर्थन अब प्राप्त नहीं है, राष्ट्रीय महासभा जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है, अतः उन्होंने १९४७ में भारत को स्वतन्त्रता प्रदान की और भारत की प्रभुसत्ता भारतीयों को सौंप दी। ये सब उदाहरण ग्रीन के इन मन्तव्यों को पुष्ट करते हैं कि प्रभुसत्ता जनता की सामान्य इच्छा में निहित होती है और राज्य का आधार शक्ति नहीं, किन्तु इच्छा है।

राज्य के कार्य—राज्य का उद्देश्य मनुष्य को उसके पूर्ण नैतिक विकास में अथवा आत्मा का यथार्थ स्वरूप प्राप्त करने (self realization) में सहायता पहुँचाना है, अतः राज्य को वही कार्य करने चाहिएं जो इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हों। किन्तु आत्मा का नैतिक विकास वस्तुतः ऐसा कार्य है जिसे बाह्य साधनों या शक्तियों

से नहीं किया जा सकता। नैतिकता का अर्थ स्वयं अपनी प्रेरणा से निश्चित किए हुए कर्त्तव्यों को निःस्वार्थ एवं निष्काम बुद्धि से पालन करना है। उदाहरणार्थ, आत्मा के नैतिक विकास के लिए प्रार्थना या उपासना आवश्यक है, यह किसी बाह्य शक्ति के दबाव से नहीं की जा सकती। इसका महत्व इसी बात में है कि हम स्वयमेव अपने विकास के लिए इसे आवश्यक कर्त्तव्य समझें और निष्काम भाव से इसे करें। राज्य इस विषय में हमारी कुछ भी सहायता नहीं कर सकता। राज्य केवल इसके बाहरी स्वरूप के पालन के लिए नियम बना सकता है, किन्तु वह आन्तरिक प्रेरणा देने में असमर्थ है। उदाहरणार्थ, राज्य इस बात के लिए नियम बना सकता है कि सब लोग रविवार को चर्च या मन्दिर में उपासना करने के लिए जाएँ, किन्तु वह चर्च में जाने वाले व्यक्तियों को इस बात के लिए बाधित नहीं कर सकता है कि वे वहाँ बैठकर अपना ध्यान भगवान् की उपासना में लगाएँ। यह सम्भव है कि प्रार्थना-मन्दिर में बैठकर भी मनुष्यों का मन सांसारिक विषयों का चिन्तन करता रहे; वहाँ वह केवल आध्यात्मिक विषयों का ही चिन्तन करे—यह उन व्यक्तियों की आन्तरिक प्रेरणा से ही सम्भव है। राज्य इस बात का कानून बना सकता है कि कोई व्यक्ति चोरी न करे, इससे यह मनुष्यों के चोरीविषयक बाह्य कृत्यों को ही रोक सकता है, किन्तु मनुष्यों के मनों में चोरी का विचार उत्पन्न होने का नियन्त्रण नहीं कर सकता, यह तो मनुष्य द्वारा आत्मोत्थान के लिए स्वयमेव किए जाने वाले प्रयत्नों से हो सकता है।[1] इससे यह स्पष्ट है कि राज्य अपने कार्यों से प्रत्यक्ष रूप से मनुष्यों को धार्मिक या नैतिक बना सकता है, क्योंकि सच्ची नैतिकता का विकास तभी हो सकता है जब मनुष्य उसका पालन स्वेच्छापूर्वक आन्तरिक प्रेरणा से करे। यदि कोई राजदण्ड के भय से धार्मिक या नैतिक बनता है तो वह केवल ढोंग करता है। सच्ची नैतिकता दिखावे या आडम्बर की वस्तु नहीं है। यदि राज्य अपने दण्डविधान द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नैतिकता को बढ़ाने या फैलाने का प्रयत्न करेगा तो राज्य में बाह्य आडम्बर तथा पाखण्ड की ही वृद्धि होगी, सच्ची नैतिकता लुप्त हो जाएगी। अतः ग्रीन का यह मत है कि राज्य को प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रूप से ऐसे कार्य नहीं करने चाहिएँ जो नैतिकता को बढ़ाने में सहायक हों, अपितु जीवन बिताने के लिए ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करनी चाहिएँ जिनमें नैतिकता का विकास सम्भव हो सके। राज्य को अपने कानून और नियम इस प्रकार के बनाने चाहिएँ कि व्यक्ति के नैतिक विकास के मार्ग में आने वाली बाधाएँ दूर हो जाएँ। समाज में अनेक ऐसी परिस्थितियाँ हैं जो व्यक्ति के विकास में बाधा डालती हैं, उदाहरणार्थ, अशिक्षा, निर्धनता, दूषित भूमि-व्यवस्था, मद्यपान की बुराई उसकी आत्मा के तथा नैतिकता के विकास को अवरुद्ध करती है। एक अशिक्षित, निर्धन शराबी व्यक्ति उत्तम जीवन नहीं बिता सकता, अतः राज्य का प्रधान कार्य उत्तम जीवन के मार्ग की इन बाधाओं का निवारण करना है (To act as a Hindrance to Hindrances against good life)।

१. यह विचार भगवद्गीता के निम्न श्लोक (६।५) में प्रकट किया गया है—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

इस प्रकार ग्रीन के मतानुसार राज्य का प्रधान कार्य निषेधात्मक (Negative) है। बार्कर के शब्दों में "यह कार्य उन बाधाओं को हटाने तक ही सीमित है जो मनुष्य द्वारा किए जाने योग्य कार्यों में बाधा डालते हैं। राज्य का यह भावात्मक या सकारात्मक (Positive) कार्य नहीं है कि वह अपने सदस्यों को नैतिक दृष्टि से अधिक अच्छा बनाए ; इसका यह नकारात्मक नैतिक कार्य है कि वह मनुष्यों की उन बाधाओं को दूर करे जो उन्हें अधिक अच्छा बनने से रोक रही हैं।"[1] ये बाधाएँ प्रधान रूप से निम्नलिखित हैं—

पहली बाधा अशिक्षा और अज्ञान की है। शिक्षा के अभाव में मनुष्य अपना बौद्धिक और नैतिक विकास नहीं कर सकता है, वह भलाई और बुराई का तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विवेक करने में असमर्थ रहता है। अतः राज्य का एक बड़ा कार्य इस बाधा को दूर करने के लिए विद्यालयों की स्थापना करना तथा प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य बनाना है। **दूसरी** बाधा दरिद्रता की है। ग्रीन के मतानुसार इंगलैण्ड में इसका मूल कारण दूषित भूमि-व्यवस्था थी; अतः इस बाधा को दूर करने के लिए उसने जमींदारी प्रथा के राज्य द्वारा उन्मूलन किए जाने पर बहुत बल दिया। **तीसरी** बाधा मद्यपान की बुराई थी, उसने राज्य द्वारा मद्य-विक्रय का निषेध किए जाने के लिए उग्र आन्दोलन किया। लोगों को इसकी बुराई से बचाने के लिए उसने आक्सफोर्ड में कॉफी पिलाने की एक दुकान भी खोली थी। **चौथी** बाधा लोगों के उत्तम स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए उपयुक्त परिस्थितियों का न होना था। उस समय इंगलैण्ड में महामारियों का बड़ा प्रकोप रहा था, नगरों की सफाई तथा प्रणाली व्यवस्था का सुचारु प्रबन्ध नहीं था, अतः बीमारियाँ बहुत होती थीं। ग्रीन उत्तम स्वास्थ्य को नैतिक उन्नति के लिए आवश्यक मानता था। अतः उसने नैतिक विकास की इस बाधा को दूर करने के लिए राज्य द्वारा बीमारी रोकने के लिए आवश्यक रूप से टीका लगाए जाने की तथा नगरों की सफाई की व्यवस्था पर बहुत बल दिया। **पाँचवीं** बाधा कारखानों में काम करने वाले श्रमिकों—विशेषतः बच्चों और स्त्रियों की दयनीय दुर्दशा थी। इसे सुधारने के लिए वह राज्य के हस्तक्षेप को आवश्यक समझता था। उसका यह मत था कि कारखानों में स्त्रियों और बच्चों द्वारा काम करने की पद्धति को यदि पूर्णरूप से बन्द न कराया जा सके तो भी इसे बहुत बड़ी मात्रा में कम कर दिया जाना चाहिए। इस स्थिति को बनाए रखने के पक्ष में व्यक्तिवादियों द्वारा दिए जाने वाले 'अनुबन्ध की स्वतन्त्रता' (Freedom of Contract) के तर्क का वह उग्र विरोधी था। उसका कहना था कि केवल उसी अनुबन्ध को स्वतन्त्रतापूर्वक किया जाने वाला माना जा सकता है जो समाज के सामान्य हित की वृद्धि की दृष्टि से किया गया हो तथा जिसमें दोनों पक्षों की स्थिति समान हो। किन्तु यदि एक पक्ष दूसरे पक्ष की निर्बलता का लाभ उठाता है तो यह अनुबन्ध समाज में दुष्परिणाम उत्पन्न करता है और इसको पवित्र एवं मान्य समझे जाने का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है।

---

१. बार्कर—पोलिटिकल थाट इन इंगलैण्ड, १८४८-१९१४, द्वितीय संस्करण, आक्सफोर्ड १९५०, पृ० ३६

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ग्रीन राज्य का प्रधान कार्य मनुष्य के नैतिक विकास तथा उत्तम जीवन बिताने के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निवारण करना ही मानता है। ऊपरी दृष्टि से यह कार्य निषेधात्मक (Negative) प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुतः यह सकारात्मक या भावात्मक (Positive) है। बार्कर ने इसे दो कारणों से ऐसा माना है।[1] **पहला** कारण तो यह है कि नैतिक विकास के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ बनाए रखने के लिए तथा बाधाओं को दूर करने के लिए राज्य को निश्चित रूप से (Positively) ऐसी बातें करनी पड़ती हैं, ऐसे विधि-विधान बनाने पड़ते हैं, जो इन बाधाओं को दूर करें या उपयुक्त परिस्थितियों को बनाएँ, जैसे अशिक्षा दूर करने के लिए विद्यालय स्थापित करना या अनिवार्य आरम्भिक शिक्षा का कानून बनाना। ये सब निश्चित तथा भावात्मक (Positive) व्यवस्थाएँ हैं। **दूसरा** कारण यह है कि बाधाएँ दूर करने का अन्तिम प्रयोजन सदैव भावात्मक अर्थात् नैतिक विकास को करना है। यह आगे वर्णित इसके दण्ड सम्बन्धी सिद्धान्त से स्पष्ट हो जाएगा।

ग्रीन के राज्य के कार्यविषयक उपर्युक्त सिद्धान्तों की दो विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। **पहली विशेषता** यह है कि उसने इससे व्यक्ति को विशेष महत्व और गरिमा प्रदान करते हुए उसे हेगल की भाँति राज्य का साधन नहीं माना, अपितु साध्य बना दिया है। राज्य का कार्य व्यक्ति के नैतिक विकास में सहायक होना तथा इसके मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना है। ग्रीन का चरम लक्ष्य व्यक्ति और उसका विकास है, राज्य नहीं है। हेगल ने राज्य को अन्तिम लक्ष्य और साध्य माना था, ग्रीन ने व्यक्ति को। यह दोनों का एक महत्वपूर्ण भेद है। **दूसरी विशेषता** लोकहितकारी या जनकल्याणकारी राज्य (Welfare State) के विचार को जन्म देना था। यह इस समय सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि राज्य को जनता के, विशेषतः निर्धन जनता के कल्याण के लिए, उनकी बेकारी, बीमारी और बुढ़ापे में रक्षा के लिए विभिन्न प्रकार की बीमा योजनाओं की तथा बुढ़ापे में पेन्शनों की व्यवस्था करनी चाहिए। ग्रीन ने सर्वप्रथम इस विचार को प्रबलता से रखा कि राज्य को जनता के कल्याण के लिए सभी प्रकार के आवश्यक कानून बनाने चाहिएँ।

ग्रीन के राज्यविषयक उपर्युक्त सिद्धान्त का स्पष्टीकरण उसके व्यक्ति द्वारा राज्य का विरोध करने के, दण्ड देने के, राज्य तथा अन्य समुदायों के पारस्परिक सम्बन्ध के सिद्धान्तों से स्पष्ट होता है। अतः अब इनका वर्णन किया जाएगा।

राज्य का विरोध करने का अधिकार—ग्रीन के मत में राज्य का कार्य उत्तम जीवन बिताने के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना तथा व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न करना है, अतः जब तक राज्य ऐसा कार्य करता है तब तक उसके आदेशों का विरोध करने का प्रश्न ही नहीं उठता है, क्योंकि वह हमारे विकास के लिए ही कार्य कर रहा है। किन्तु यदि राज्य ऐसा न करे अथवा उत्तम जीवन को बिताने के मार्ग में बाधा डाले तो व्यक्ति का क्या

---

१. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३७

कर्त्तव्य है ? क्या वह राज्य का विरोध करने का अधिकार रखता है ? ग्रीन से पूर्ववर्ती विचारक राज्य के विरुद्ध मनुष्य के कुछ स्वाभाविक या प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights) मानते थे (ऊपर पृ० २९) और मनुष्य को अपने अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार प्रदान करते थे। किन्तु ग्रीन प्राकृतिक अधिकारों के इस सिद्धान्त से सहमत नहीं है। उसके अनुसार प्राकृतिक का अर्थ मनुष्य की आदिम एवं जंगली दशा नहीं है, अपितु इसका अर्थ है मनुष्य की प्रकृति में स्वाभाविक ढंग से रहने वाले अधिकार।[1] वह अधिकारों के विषय में यह मानता है कि ये अधिकार मनुष्य को इसलिए दिए गए हैं कि वह अपनी आत्मा का विकास तथा समाज के सामान्य हितों की उन्नति कर सकें, अतः इस अवस्था में समाज या राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने के किसी अधिकार की कल्पना नहीं की जा सकती।

सामान्य रूप से कई कारणों से राज्य के विरुद्ध विद्रोह के अधिकार को नहीं माना जाना चाहिए। **पहला** कारण तो यह है कि राज्य के नियम कई युगों से संचित अनुभवों, विवेक और बुद्धि के परिणाम होते हैं,[2] वे किसी एक व्यक्ति के दृष्टिकोण से अधिक यथार्थ होते हैं, क्योंकि व्यक्ति के दृष्टिकोण में संकीर्णता के कारण भ्रान्ति होना सम्भव है, अतः इनका पालन होना चाहिए। **दूसरा** कारण यह है कि ये नियम समाज के सामान्य हित की दृष्टि से बनाए गए हैं, इनसे समाज में सुव्यवस्था और सुशासन बना रहता है, यदि इनमें से किसी नियम का विरोध किया जाएगा तो समाज में नियमों का उल्लंघन करने की प्रवृत्ति बढ़ने लगेगी, यह अराजकता की स्थिति को उत्पन्न कर सकती है। यह स्थिति समाज के हित को हानि पहुँचाने वाली है, अतः मनुष्य को राज्य के कानूनों का विरोध नहीं करना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति किसी कानून से असहमत है तो भी उसे इसका पालन करना चाहिए। इस कानून का विरोध शान्तिपूर्ण और वैध उपायों से ही करना चाहिए और जब तक इस कानून को समाप्त नहीं कर दिया जाए तब तक इसका विधिपूर्वक पालन और अनुसरण होना चाहिए।

किन्तु सामान्य रूप से ग्रीन विद्रोह करने का अधिकार न देते हुए भी इसे केवल उस दशा में प्रदान करता है जबकि ऐसा करना राज्य के हित की दृष्टि से वांछनीय हो[3] अर्थात् राज्य के वर्तमान कानूनों में आदर्श कानूनों की दृष्टि से कोई कमी हो और समाज के सामान्य हित की दृष्टि से इनका संशोधन आवश्यक हो। अतः कुछ विशेष दशाओं में ही व्यक्ति को राज्य के नियमों के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार है। ये दशाएँ निम्नलिखित हैं[4]—

पहली दशा राज्य के किसी नियम का सन्देहपूर्ण होना है। उदाहरणार्थ, सं० रा० अमेरिका में संघ के तथा राज्यों के अधिकारों का प्रश्न बड़ा जटिल है, कई बार यह जटिलता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि दोनों के वास्तविक अधिकारों का निर्णय

---

१. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २६
२. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० १८२
३. नेटलशिप—ग्रीन के ग्रन्थ, दूसरा खण्ड, पृ० ४५३
४. प्रिंसिपल्ज आफ पोलिटिकल आब्लिगेशन, लैक्चर, एफ. खण्ड, पृ० १०१-१२

करना बड़ा कठिन हो जाता है। ऐसी सन्देहपूर्ण दशा में एक उत्तम नागरिक को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है कि वह अपने अन्तःकरण की इच्छा के अनुसार संघ के अथवा राज्य के नियमों का पालन करे। **दूसरी** दशा ऐसी स्थिति का उत्पन्न होना है कि जब किसी कानून को रद्द कराने अथवा परिवर्तित कराने का आन्दोलन चलाने के कोई साधन शेष न रह जाएँ। इस दशा में राज्य के कानून का विरोध करना केवल अधिकार ही नहीं, अपितु एक आवश्यक कर्त्तव्य भी है। **तीसरी** दशा शासन की समूची पद्धति का निजी स्वार्थों के हावी होने के कारण इतना दूषित, भ्रष्टाचारपूर्ण तथा जनता के हितों का विरोधी बन जाना है कि इस दशा की अपेक्षा क्रान्ति द्वारा लाई जाने वाली अल्पकालीन अराजकता अधिक वांछनीय प्रतीत होती है। इस दशा में राजकीय आदेशों की अवहेलना से उत्पन्न होने वाली अराजकता हर हालत में वर्तमान दशा से अधिक अच्छी है, अतः व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार है। **चौथी** दशा ऐसी स्थिति है जिसमें राज्य में आदेश देने वाली सत्ता अधिकारों की व्यवस्था बनाए रखने की समूची पद्धति से इतनी पृथक् और भिन्न हो कि किसी विशेष कानून की अवहेलना करने से राज्य की शासन-व्यवस्था पर कोई बड़ा हानिकर प्रभाव पड़ने की सम्भावना नहीं है। **पाँचवीं** दशा राज्य द्वारा किए जाने योग्य कार्यों को न करने की स्थिति है। राज्य को व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए सार्वजनिक शिक्षा का प्रबन्ध, मद्यपान का निषेध और दरिद्रता के निवारण के लिए आवश्यक कानून बनाने चाहिएँ, यदि राज्य ऐसा नहीं करता तो व्यक्ति को उसका विरोध करने का अधिकार है। **छठी** दशा राज्य द्वारा ऐसे अनुचित या अन्यायपूर्ण कानून बनाना या ऐसी आज्ञाएँ देना है जो राज्य को नहीं देनी चाहिएँ। उदाहरणार्थ, यदि राज्य दास-प्रथा का अन्यायपूर्ण कानून बनाए तो नागरिकों को इसका विरोध करने का पूर्ण अधिकार है।

किन्तु राज्य का विरोध करते हुए व्यक्ति को सदैव कुछ बातों का ध्यान रखना चाहिए। **पहली** बात यह है कि विरोध सदैव राज्य एवं समाज के व्यापक, सार्वजनिक एवं सामान्य हित की दृष्टि से होना चाहिए। किसी भी कानून का विरोध करने से पहले नागरिक को यह बात अच्छी तरह निश्चित कर लेनी चाहिए कि उसके विरोध से राज्य एवं समाज का लाभ अधिक होगा और हानि कम होगी। राज्य के विरोध को केवल सामाजिक हित के कारणों के आधार पर ही न्यायोचित ठहराया जा सकता है,[1] सामान्य हित (Common Good) के आदर्श के अधिक पूर्णता के साथ सफल होने की सम्भावना होने पर ही राज्य के आदेशों की अवहेलना समुचित है; व्यक्ति केवल इसी आधार पर राज्य का विरोध कर सकता है कि वर्तमान परिस्थितियों में उसका नैतिक विकास पूर्ण रूप से होना सम्भव नहीं है। **दूसरी** बात यह है कि राज्य का विरोध करने से पहले नागरिक को इस बात का निश्चय कर लेना चाहिए कि राज्य के जिस आदेश को अन्यायपूर्ण समझते हुए वह उसका विरोध करना चाहता है, क्या अन्य व्यक्ति भी उसे ऐसा समझते हैं। यदि वे ऐसा नहीं समझते तो उसे पहले

१, वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० १८३

प्रचार द्वारा जनमत को अपने अनुकूल बनाना चाहिए और जनमत प्रबल होने पर ही अपना सक्रिय विरोध आरम्भ करना चाहिए। उदाहरणार्थ, १९२० तथा १९३० में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध असहयोग (Non-Cooperation) तथा सविनय आज्ञा-भंग (Civil Disobedience) आन्दोलन आरम्भ करने से पहले महात्मा गांधी ने 'यंग इण्डिया' और 'नवजीवन' में अपने लेखों द्वारा तथा अपने भाषणों से इन आन्दोलनों के पक्ष में प्रबल लोकमत तैयार किया और इसके बाद ही ये आन्दोलन चलाए। इस प्रकार के प्रचार के दो बड़े लाभ हैं : **पहला** लाभ तो यह है कि यदि किसी व्यक्ति का प्रचार सफल होगा, उसे जनता का समर्थन मिलेगा तो वह यह जान जाएगा कि उसका आन्दोलन सामाजिक कल्याण और हित को बढ़ाने वाला है और सर्वथा समुचित है; यदि उसे जनता का समर्थन नहीं मिलता है तो उसकी यह भ्रान्ति दूर हो जाएगी कि यह जन-कल्याण को बढ़ाने वाला है; उस दशा में वह अपना आन्दोलन करना छोड़ देगा और एक बड़ी गलती करने से बच जाएगा। प्रचार करने का **दूसरा** लाभ यह है कि इससे सब लोग आन्दोलन करने के उद्देश्य को, कारणों को तथा इसे चलाने की पद्धति को अच्छी तरह समझ जाते हैं, इससे आन्दोलन को उचित मार्ग पर चलाने में तथा पथ-भ्रष्ट होने से बचाने में बड़ी सहायता मिलती है। लोकमत को जागृत किए बिना चलाए गए आन्दोलनों के लक्ष्य-भ्रष्ट होकर निरर्थक हिंसा और अराजकता में परिणत होने की सम्भावना बनी रहती है। उदाहरणार्थ, गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन को अहिंसापूर्ण रीति से चलाने का पूरा प्रयत्न किया, किन्तु कुछ लोगों ने उनके आदेशों का पालन न करते हुए हिंसात्मक कार्यवाहियाँ आरम्भ कर दीं, गोरखपुर जिले में चौरीचौरा की घटना इसी प्रकार की थी। इससे व्यथित होकर गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन स्थगित कर दिया। **तीसरी** बात यह है कि विरोध केवल सार्वजनिक हित को हानि पहुँचाने वाली निश्चित बातों का ही होना चाहिए और ऐसा विरोध करते हुए भी व्यक्ति को राज्य के अन्य सभी नियमों का पूरा पालन करना चाहिए। १९३० में गांधी जी ने जब सविनय आज्ञा-भंग आन्दोलन शुरू किया तो देशवासियों को ब्रिटिश सरकार के केवल एक कानून—नमक-कर को ही तोड़ने का निर्देश दिया। इसके अतिरिक्त वे अन्य सभी कानूनों का पालन करने पर बल देते रहे, जेल में जाने पर वे स्वयमेव बन्दीगृह के सब नियमों का पूरा पालन करते थे, अपने अनुयायियों को भी ऐसा आदेश देते थे, 'तिकड़म' करके जेल में अवैध रूप से सिगरेट आदि मँगाना तथा जेल के अन्य नियम तोड़ना उन्हें बिलकुल पसन्द नहीं था। इस विषय में वे ग्रीन के अनुयायी थे कि राज्य की गिनी-चुनी बातों का ही विरोध करना चाहिए तथा उसके लिए राज्य द्वारा दिया गया दण्ड सहर्ष भोग लेना चाहिए। यदि राज्य का सर्वांगीण अथवा व्यापक विरोध किया जाए तो इससे अराजकता फैलने की अवांछनीय स्थिति उत्पन्न होने की आशंका होती है। **चौथी** बात यह है कि ग्रीन राज्य के विरोध को व्यक्ति का आवश्यक कर्त्तव्य नहीं समझता, अपितु इसे केवल कुछ दशाओं में ही समुचित मानता है। बार्कर ने लिखा है कि "जब विरोध के लिए आवश्यक प्रत्येक शर्त पूरी हो जाती है तभी विरोध करना सम्भवतः

न्यायोचित होता है, यह अनिवार्य रूप से आवश्यक नहीं है।"[१] **पाँचवीं** और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि व्यक्ति को कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में राज्य के विरोध का अधिकार देना हेगल के सिद्धान्तों से एक महत्वपूर्ण भेद रखता है। वेपर ने यह सत्य ही लिखा है कि "ग्रीन और हेगल के विचारों का भेद किसी अन्य बात में इतना अधिक स्पष्ट नहीं है, जितना इस बात में कि व्यक्ति राज्य का विरोध करने में न्यायोचित हो सकता है।"[२]

दण्डविषयक सिद्धान्त—राज्य उत्तम जीवन बिताने के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निराकरण करने के लिए ही अपराधियों को दण्ड देने की व्यवस्था करता है। अपराधी अनेक समाज-विरोधी कार्य—हत्या, हिंसा, चोरी, डकैती करके अन्य व्यक्तियों के अधिकारों को हानि पहुँचाते हैं, अतः राज्य का कर्त्तव्य है कि वह इन्हें दण्ड देकर व्यक्तियों के अधिकारों को सुरक्षित बनाए, समाज की उन्नति में काँटा और बाधा बनने वाले अपराधियों का दमन करे। इसका सम्बन्ध व्यक्ति के स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन-यापन करने के अधिकार (Right to Free Life) से है, राज्य तब तक अपने सब नागरिकों को स्वतन्त्र जीवन बिताने का अधिकार नहीं प्रदान कर सकता जब तक कि वह इसमें बाधा डालने वाले अपराधियों को दण्डित न करे। अतः दण्ड देने का उद्देश्य "समाज के प्रत्येक सदस्य की नैतिक इच्छा को कार्य करने के लिए आवश्यक स्वतन्त्रता को सुरक्षित बनाना है"।

दण्ड देने के सम्बन्ध में ग्रीन के समय में तीन प्रकार के सिद्धान्त प्रचलित थे : **पहला** और सबसे पुराना **प्रतिशोध या बदला लेने का सिद्धान्त** (Retributive Theory) था। इसके अनुसार दण्ड का उद्देश्य अपराधी से किए गए अपराध का बदला लेना था। यदि कोई किसी व्यक्ति की आँख को हानि पहुँचाता है तो इसके बदले में उसकी आँख निकाल लेनी चाहिए, यदि वह दाँत तोड़ता है तो उसके भी दाँत तोड़ने चाहिएँ। 'आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत' का बर्बरतापूर्ण सिद्धान्त सभी जंगली जातियों में प्रचलित रहा है। **दूसरा निवारक सिद्धान्त** (Deterrent Theory) है। इसका यह अभिप्राय है कि अपराधी को दण्ड इस उद्देश्य से और इस प्रकार का देना चाहिए कि अपराधी की दुर्दशा से भयभीत होकर अन्य व्यक्ति भविष्य में ऐसे अपराध न करें। बलबन ने बंगाल में विद्रोहियों का दमन करने के बाद इनकी लाशें चौराहों पर तथा रास्तों के पेड़ों पर लटका दी थीं ताकि इससे भावी विद्रोहियों को शिक्षा मिले ; १८५७ के सैनिक विद्रोह में अंग्रेजों ने भी ऐसा किया था। **तीसरा सुधार का सिद्धान्त** (Reformatory Theory) है। इसके अनुसार दण्ड देने का प्रयोजन अपराधी का सुधार करना होता है, दण्डित होने पर अपराधी को पश्चात्ताप होता है और वह भविष्य में अपराध न करने का निश्चय करता है।

किन्तु ग्रीन दण्ड देने के इन तीनों सिद्धान्तों में गम्भीर दोष देखता है। उसके मतानुसार पहला सिद्धान्त इतना बर्बरतापूर्ण है कि वह जंगली और असभ्य जातियों के लिए ही उपयुक्त हो सकता है। राज्य केवल बदला लेने के हीन उद्देश्य से प्रेरित

१. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३१
२. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० १८१

होकर अपराधियों को दण्ड नहीं देता। दूसरा निवारक सिद्धान्त भी उसे इसलिए मान्य नहीं है कि इसमें अपराधी व्यक्ति को, अन्य व्यक्तियों को अपराध करने से बचने के लिए, चेतावनी देने के साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाता है, जबकि प्रत्येक मनुष्य को साध्य समझा जाना चाहिए। बार्कर के कथनानुसार इस सिद्धान्त का एक बड़ा दोष यह है कि इससे अपराधी अपने को स्वयमेव सुधारने के तथा अपनी बुरी इच्छा को ठीक बनाने के मौलिक कर्त्तव्य का पालन करने के अवसर से वंचित हो जाएगा।[1] वह तीसरे सुधार के सिद्धान्त को भी ठीक नहीं मानता है, क्योंकि अपराधी का सुधार दण्ड से नहीं, किन्तु अपनी आन्तरिक प्रेरणा से हो सकता है। यदि दण्ड का उद्देश्य सुधार करना ही मानें तो यह दण्ड नैतिक अपराध की मात्रा के अनुकूल होना चाहिए। किन्तु हम इसका निर्धारण तब तक नहीं कर सकते जब तक कि हमें मन की तथा इच्छा की आन्तरिक गहराइयों का तथा उद्देश्यों का ज्ञान न हो। यह केवल अन्तर्यामी भगवान् के लिए ही सम्भव है, सामान्य न्यायाधीश तो केवल बाह्य परिस्थितियों को ही देख सकते हैं।

इस प्रकार तीनों सिद्धान्तों का खण्डन करने के बाद ग्रीन अपना यह सिद्धान्त प्रतिपादित करता है कि इसका उद्देश्य व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए आवश्यक स्वतन्त्र वातावरण और उपयुक्त परिस्थितियाँ बनाना तथा इसमें आने वाली बाधाओं को दूर करना है। अपराधी समाज में विक्षोभ डालने वाली तथा इसे हानि पहुँचाने वाली शक्ति है, राज्य इसका विरोध करने के लिए दण्ड देने की शक्ति का प्रयोग करता है और इस प्रकार समाज-विरोधी शक्ति का प्रतिकार अथवा निवारण करता है। प्रत्येक अपराध—हिंसा, हत्या, चोरी, डकैती—राज्य द्वारा सुरक्षित किए जाने वाले स्वतन्त्र जीवन और सम्पत्ति के अधिकारों पर किया जाने वाला भीषण आक्रमण है, इससे समाज की प्रतिष्ठित व्यवस्थाओं और अधिकारों पर कुठाराघात होता है। इसे रोकने के लिए राज्य दण्ड की शक्ति का प्रयोग करता है। अतः दण्ड का उद्देश्य समाज-विरोधी शक्तियों का विध्वंस, उत्तम जीवन की बाधाओं का निवारण तथा नैतिक विकास के लिए उपयुक्त परिस्थितियों का निर्माण करना है।

राज्य के अन्य कार्यों की भाँति, दण्ड देने का एक स्पष्ट नैतिक प्रयोजन भी है। इसे दो प्रकार से नैतिक कहा जा सकता है—(१) यह इस अर्थ में नैतिक है कि इसका अन्तिम उद्देश्य और चरम लक्ष्य ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करना है कि जिनमें समाज का प्रत्येक सदस्य अपने नैतिक विकास के लिए आवश्यक कार्यों को स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता है। (२) यह इस अर्थ में भी नैतिक है कि यह अपराधी का नैतिक सुधार करता है। वैसे तो यह सुधार अपराधी की आन्तरिक प्रेरणा से ही सम्पन्न होता है, किन्तु राज्य दण्ड देकर अपराधी को ऐसा आघात पहुँचाता है कि इससे उसकी प्रसुप्त नैतिक चेतना जागृत हो जाती है और वह अपने सुधार के पथ पर अग्रसर होने लगती है। इस प्रकार राज्य द्वारा दण्ड की व्यवस्था समाज में दो प्रकार के परिणाम उत्पन्न करती है: पहला प्रत्यक्ष परिणाम यह है कि इससे समाज-विरोधी कार्य करने

---

१. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३८

वाले तत्वों की शक्ति का राज्य की शक्ति द्वारा उन्मूलन किया जाता है तथा व्यक्तियों के अधिकारों को सुरक्षित बनाकर उनके नैतिक विकास के लिए समुचित परिस्थितियों का निर्माण किया जाता है। इस दण्ड-व्यवस्था का दूसरा परोक्ष परिणाम अपराधी को आघात पहुँचाकर उसकी अपनी ही प्रेरणा से उसकी बुरी इच्छा का सुधार करना है।[1]

राज्य का अन्य समुदायों से सम्बन्ध—इस विषय में ग्रीन अरस्तू के इस कथन से सहमत है कि राज्य व्यक्तियों का ही समुदाय नहीं है, अपितु समुदायों का समुदाय (An association of associations) भी है। इसका यह अर्थ है कि राज्य में परिवार, धार्मिक संगठन, व्यापारिक संघ, आर्थिक संगठन आदि बीसियों प्रकार के छोटे-छोटे समुदाय होते हैं। व्यक्ति राज्य का नागरिक होते हुए इन समुदायों का भी सदस्य होता है, जैसे एक भारतीय भारत का नागरिक होने के साथ-साथ अपने परिवार का, अपने धार्मिक और सामाजिक संगठन का भी सदस्य होता है। ये समुदाय यद्यपि एक राज्य में पाए जाते हैं, किन्तु इनका निर्माण राज्य द्वारा नहीं होता है। ये स्वतन्त्र रूप से बनते हैं और इनमें सदस्यों के कुछ अधिकार और कर्त्तव्य होते हैं। उदाहरणार्थ, परिवार में माता-पिता, पुत्र-पुत्रियों के कुछ अधिकार तथा एक-दूसरे के प्रति कर्त्तव्य हैं। इसी प्रकार अन्य सभी समुदायों के सदस्यों के अधिकार और कर्त्तव्य होते हैं। जैसे राज्य अपने राजनीतिक अधिकारों और कर्त्तव्यों की व्यवस्था को सुरक्षित बनाता है, उसी प्रकार वह इन समुदायों द्वारा बनाए गए कर्त्तव्यों और अधिकारों का संरक्षक है। राज्य का कार्य विभिन्न समुदायों में सामंजस्य और समन्वय स्थापित करना, इनके अधिकारों की रक्षा करना तथा इनमें संघर्ष न उत्पन्न होने देना है। राज्य इनके कार्यों और अधिकारों को स्वयं अपने हाथ में नहीं ले सकता। उदाहरणार्थ, परिवार का कार्य बच्चों का पालन-पोषण करना है, राज्य माता की ममता और पिता के प्रेम को नहीं ला सकता। बोल्शेविक क्रान्ति के आरम्भिक दिनों में रूस में परिवार का स्थान राज्य ने अपनी शिशुशालाओं, बालोद्यानों आदि से लेने का प्रयत्न किया, किन्तु अन्त में उसे परिवार के महत्व को स्वीकार करना पड़ा तथा अधिक सन्तानें उत्पन्न करने वाली माताओं को उच्चतम सम्मान और सुविधाएँ देनी पड़ीं। अतः राज्य इन समुदायों का स्थान नहीं ले सकता है, वह केवल इनके अधिकारों का दो प्रकार से सामंजस्य स्थापित कर सकता है : पहला प्रकार तो परिवार आदि के भीतर इसके सदस्यों के अधिकारों की व्यवस्था करना तथा दूसरा बाह्य प्रकार से सामंजस्य स्थापित करना अर्थात् परिवार का अन्य धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक संगठनों से समन्वय स्थापित करना है। इस प्रकार राज्य विभिन्न समुदायों के आन्तरिक और बाह्य अधिकारों और सम्बन्धों का सर्वोच्च संरक्षक और नियन्ता बन जाता है।

राज्य द्वारा इस सामंजस्य को स्थापित करने से बार्कर के कथनानुसार दो परिणाम उत्पन्न होते हैं : पहला परिणाम तो यह है कि परिवार आदि समुदायों के भीतर सदस्यों के अधिकारों और कर्त्तव्यों का निर्धारण, संरक्षण और सामंजस्य राज्य

---

१. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३८-३९

द्वारा किया जाता है, अतः ये अधिकार राज्य द्वारा बनाए गए समझे जाते हैं। दूसरा परिणाम यह होता है कि विभिन्न समुदायों में सामंजस्य स्थापित करने से राज्य को इन सब पर सर्वोपरि एवं सर्वोच्च सत्ता प्राप्त हो जाती है। किन्तु राज्य इस सत्ता का प्रयोग मनमाने ढंग से नहीं कर सकता; उसे इसका प्रयोग 'विश्व-भ्रातृत्व' (Universal Brotherhood) की भावना से करना पड़ता है। यह ग्रीन का एक विशेष विचार है और इसने उसके युद्धविषयक विचारों पर बड़ा प्रभाव डाला है, अतः अब इसका विवेचन किया जाएगा।

विश्व-भ्रातृत्व तथा युद्ध—ग्रीन विश्व-भ्रातृत्व के विचार की पुष्टि प्रत्येक मनुष्य के जीने के अधिकार (Right to life) के आधार पर करता है। उसका यह कहना है कि प्राचीन काल में सभी समाजों ने यह अधिकार अपने समाज के सदस्यों तक ही सीमित रखा था, किन्तु उससे भिन्न अन्य समाजों के व्यक्तियों को यह अधिकार नहीं प्रदान किया था। उदाहरणार्थ, यहूदी या यूनानी समाज ने यह नियम बनाया था कि उनके समाज में एक यहूदी को यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरे यहूदी को मारे, किन्तु किसी गैर-यहूदी को मारने में कोई दोष नहीं है। उस समय विजातीय या विदेशी का वध करना अपराध नहीं माना जाता था। शनैः-शनैः रोमन कानून के तथा ईसाइयत के प्रभाव से यह समझा जाने लगा कि सभी मनुष्यों को मनुष्य होने के नाते जीने का अधिकार है, विदेशी का वध भी अपनी जाति या देश के व्यक्ति की हत्या के समान ही जघन्य अपराध है। इस प्रकार सभी देशों में मनुष्य के जीवन के अधिकार को पवित्र एवं अनुल्लंघनीय समझा गया, इसका अतिक्रमण करने वाला अपराधी माना जाने लगा। जब इस अधिकार को हम विश्वव्यापी विचार के रूप में स्वीकार करते हैं तो हमें स्वाभाविक रूप से एक विश्वव्यापी या सार्वभौम समाज (Universal Society) की कल्पना करनी पड़ती है, इसमें सब व्यक्ति मनुष्य होने के नाते एक-दूसरे के भाई या बन्धु हैं। यही विश्व-भ्रातृत्व (Universal Brotherhood) की भावना है।

यदि हम इस भावना को सत्य मान लेते हैं तो युद्ध की निरर्थकता स्वयमेव सिद्ध हो जाती है, क्योंकि युद्ध नृशंस हत्याकाण्ड द्वारा मनुष्य के जीवन के अधिकार को नष्ट कर देता है। जब दो देशों में लड़ाई छिड़ती है तो दोनों एक-दूसरे के सैनिकों और नागरिकों की हत्या करने लगते हैं। ग्रीन के मतानुसार यह बड़ी विचित्र असंगति है कि हम राष्ट्रीय क्षेत्र में, एक देश के भीतर तो व्यक्ति के जीवन का अधिकार स्वीकार करते हैं, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इसे अस्वीकार करते हैं। यह असंगति और विरोध बड़ा अनर्थ उत्पन्न करने वाला है, इसे दूर करते हुए हमें युद्ध को सर्वथा और सर्वत्र अनुचित समझना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में युद्ध का समर्थन करने के लिए तथा इस असंगति को न्यायोचित ठहराने के लिए प्रायः यह तर्क दिया जाता है कि कई परिस्थितियों में अन्याय का प्रतिकार करने के लिए युद्ध करना आवश्यक हो जाता है। ग्रीन ने इसका विवेचन अपने समय के एक राजनीतिक दृष्टान्त के आधार पर किया है: उस समय आस्ट्रिया ने इटली के कई प्रदेशों को अपने अधीन किया हुआ था, इटली के देशभक्त अपने देश को आस्ट्रिया की पराधीनता के पाश से मुक्त करके

उसे एक स्वतन्त्र और शक्तिशाली राष्ट्र बनाना चाहते थे। इस दृष्टि से इटली ने १८५९ में आस्ट्रिया से युद्ध किया था। इटलीवासियों का यह कहना था कि उन्होंने यह युद्ध इटली को स्वतन्त्र तथा संयुक्त बनाने के लिए छेड़ा है, वे पराधीनता के अन्याय का प्रतिकार करना चाहते हैं, अतः इटली के एक सैनिक द्वारा आस्ट्रिया के सैनिक की हत्या सर्वथा न्यायोचित है; इटली की स्वतन्त्रता और एकीकरण के महान् आदर्श की उच्चता आस्ट्रियन सैनिक के वध को अपराध नहीं, किन्तु स्पृहणीय कार्य बना देती है।

किन्तु ग्रीन इससे सहमत नहीं है, वह साध्य और साधन—दोनों को ही पवित्र एवं शुद्ध बनाए रखने पर बल देता है। उसका यह कहना है कि उच्च आदर्श या ध्येय की प्राप्ति शुद्ध उपायों से ही की जानी चाहिए; अन्यथा समाज में नैतिक अराजकता मच जाएगी। उच्च आदर्श किसी गलत कार्य को सही नहीं बना सकते हैं। उदाहरणार्थ, उत्तर प्रदेश के सुप्रसिद्ध सुल्ताना डाकू के बारे में कहा जाता है कि वह धनियों को लूटकर उनकी सम्पत्ति गरीबों में बाँट दिया करता था। गरीबों की सहायता करना अपने-आपमें एक उदात्त उद्देश्य है, किन्तु इसकी उदात्तता से सुल्ताना की डकैती के कार्य को न्यायोचित नहीं सिद्ध किया जा सकता है। यही स्थिति उपर्युक्त उदाहरण में भी है। इटली की स्वतन्त्रता और एकता का महान् आदर्श इटली के सैनिकों द्वारा आस्ट्रिया के सैनिकों के वध को न्यायोचित नहीं ठहरा सकता है।

ग्रीन का मत है कि युद्ध किसी भी प्रकार पूर्ण रूप से न्यायोचित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह व्यक्ति को जीवन के अधिकार से वंचित करता है। किन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में युद्ध न्यायोचित भी हो सकता है। जब मनुष्यों के मानसिक और नैतिक विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों को बनाए रखने के लिए, विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा करने के लिए युद्ध करना आवश्यक प्रतीत हो तो इसे करने में दोष नहीं है। यद्यपि यह अनुचित कार्य है, किन्तु शत्रु के आक्रमण रूपी इससे बड़े अनुचित कार्य का प्रतिकार करने के लिए इसका अवलम्बन करने में कोई दोष नहीं है। काँटे से काँटा निकाला जाता है, विष का प्रभाव दूर करने के लिए विष का सेवन करना पड़ता है—'विषस्य विषमौषधम्'। किन्तु जिस प्रकार दवा के लिए दिया जाने वाला विष विष ही रहता है इसी प्रकार घोर अनुचित कार्य के निवारण के लिए किया गया युद्ध भी अनुचित कार्य बना रहता है। युद्ध राज्यों की अपूर्णता का सूचक है। राज्य ज्यों-ज्यों पूर्णता की ओर अग्रसर होते जाएँगे, त्यों-त्यों युद्धों का तथा युद्ध करने की प्रवृत्ति का अन्त हो जाएगा। काण्ट की भाँति ग्रीन भी योरोप में उस समय राज्यों द्वारा किए जाने वाले युद्धों से व्यथित था और इससे अच्छी पद्धति का विकास करने के लिए उत्सुक था। उसकी दृष्टि में यद्यपि अभी तक मानव-जाति "विभिन्न राज्यों की सहमति पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के स्वप्न को साकार रूप नहीं दे सकी थी, किन्तु यह उस आदर्श की ओर अग्रसर हो रही थी।"

हेगल आदि जर्मन आदर्शवादी विचारकों ने जिन युक्तियों के आधार पर युद्ध का समर्थन किया था, ग्रीन उनका प्रबल खण्डन करता है। युद्ध के समर्थकों की पहली युक्ति यह थी कि इससे देश-भक्ति की भावना का विकास होता है। ग्रीन का यह कहना है कि इसके विकास के लिए युद्ध के अनैतिक उपाय को ही क्यों ग्रहण किया

जाए, जबकि हम देश की सेवा और उन्नति के लिए अपने देशवासियों को प्राकृतिक साधनों पर विजय करने की शिक्षा दे सकते हैं। देश-भक्ति के विकास के अनेक शान्तिपूर्ण उपाय भी हो सकते हैं, इनका पूरा प्रयोग करने से हम इस भावना को उद्बुद्ध कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त युद्ध जिस प्रकार की देश-भक्ति और राष्ट्रीयता को उत्पन्न करता है, वह शत्रु-देश के प्रति विद्वेष, घृणा और ईर्ष्या पर आधारित होने से अवांछनीय है ; इसका अर्थ शत्रुओं का विध्वंस और विनाश है। ऐसी देश-भक्ति किसी भी प्रकार से लाभदायक नहीं है। **दूसरी** युक्ति यह थी कि युद्ध से आत्म-बलिदान, देशहित के लिए क्षुद्र हितों के परित्याग, सेवा और स्वार्थ-त्याग की उदात्त भावनाओं का विकास होता है। ग्रीन इस युक्ति का उत्तर देते हुए कहता है कि इस प्रकार का तर्क करने वाले "इतने संकीर्ण दृष्टि वाले तथा स्वार्थी प्रतीत होते हैं कि उनमें इस बात की क्षमता नहीं है कि वे अपने चारों ओर समाज में निःस्वार्थ बुद्धि से किए जाने वाले कार्यों को देख सकें।" ग्रीन के मतानुसार यह युक्ति ठीक नहीं है कि युद्ध हमें निःस्वार्थ वृत्ति से कार्य करने की शिक्षा देता है, वस्तुतः युद्ध में अधिकांश व्यक्ति स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से भाग लेते हैं और इसे चाहते हैं। शस्त्रास्त्रों के व्यापारी अपने हथियारों की बिक्री के लिए राज्यों को युद्ध करने के लिए उकसाते हैं : **तीसरी** युक्ति युद्ध द्वारा शूरवीरता आदि के गुणों का विकास है। ग्रीन का कहना है कि इनका विकास शान्तिपूर्ण कार्यों से भी हो सकता है। युद्ध का समर्थन करने की **चौथी** युक्ति यह है कि इससे अनेक उपयोगी कार्य और हितकर व्यवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं। जूलियस सीज़र ने इंगलैण्ड पर चढ़ाई की, इसके परिणामस्वरूप वह रोमन साम्राज्य का अंग बना और उसने रोम से सभ्यता और कानून का पाठ पढ़ा। नैपोलियन ने अपने युद्धों द्वारा योरोप में फ्रेंच राज्यक्रान्ति की उदात्त भावनाओं का प्रसार किया। भारत में प्लासी के युद्ध से ब्रिटिश साम्राज्य की नींव पड़ी, इससे भारत को कई सदियों की अराजकता के बाद स्थायी शान्ति प्राप्त हुई। ग्रीन का यह कहना है कि ये परिवर्तन शान्तिपूर्ण उपायों से भी हो सकते थे। युद्ध से विनाश और विध्वंस की ताण्डवलीला के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं होता है। अतः युद्ध हर हालत में अवांछनीय और अनुचित है। वेपर के मतानुसार ग्रीन के युद्धविषयक विचार उसे "हेगल से पृथक् करने वाली सबसे चौड़ी खाई हैं।"[1]

सम्पत्तिविषयक विचार—इस विषय में ग्रीन न तो उग्र समाजवादी था और न ही घोर व्यक्तिवादी। वह निजी सम्पत्ति के सभी रूपों का न तो उग्र समर्थक था और न कट्टर विरोधी। वह निजी सम्पत्ति रखने का इस आधार पर समर्थन करता है कि यह व्यक्ति की योग्यताओं और गुणों का विकास करने का साधन है। इसे वह जीने के अधिकार से स्वाभाविक रूप से प्राप्त होने वाला अधिकार समझता था। यदि मनुष्यों को अपना नैतिक विकास करने के लिए जीने का अधिकार है तो उसे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक साधन रखने का भी अधिकार होना चाहिए। इस दृष्टि से सम्पत्ति का यह लक्षण किया जा सकता है कि यह अपनी आत्मा के विकास तथा समाज के सामान्य हित की वृद्धि के लिए आवश्यक साधनों का समूह है। अरस्तू ने

१. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० १८८

इसीलिए सम्पत्ति को समाज के सर्वोत्तम जीवन में सहायक बनने वाले व्यक्ति के लिए आवश्यक और उपयोगी उपकरणों का समूह माना था। ग्रीन इसे ऐसी "इच्छा की पूर्ति का साधन मानता है जो इच्छा सम्भवत: सामाजिक उद्देश्य से संचालित होती है।" ग्रीन के इस लक्षण से यह स्पष्ट है कि सम्पत्ति का प्रयोजन सामाजिक कल्याण है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं कि इसका सदैव इसी रूप में प्रयोग होता ही हो। यह केवल उसके आदर्श को ही सूचित करता है कि सम्पत्ति का प्रयोग सामाजिक कल्याण के उद्देश्य से किया जाने की सम्भावना स्वीकार करनी चाहिए।

ग्रीन तथा अन्य समाजवादियों में सम्पत्ति के विषय में दो बड़े भेद हैं: **पहला** भेद सम्पत्ति की विषमता के सम्बन्ध में है। सभी समाजवादी इस विषय में एकमत हैं कि अमीर-गरीब के भेद का तथा साम्पत्तिक वैषम्य का उन्मूलन होना चाहिए। किन्तु ग्रीन इसका समर्थन इस आधार पर करता है कि सामाजिक हित एवं कल्याण की दृष्टि से यह आवश्यक है कि इस समाज में विभिन्न व्यक्ति, विभिन्न स्थितियों में रहते हुए अपना कार्य करें और उनकी सम्पत्ति में विषमता बनी रहे, इस प्रकार समाज में सम्पत्ति का भेद बना रहना आवश्यक है और यह समाज के लिए श्रेयस्कर है।[1] **दूसरा** बड़ा भेद व्यक्तिगत सम्पत्ति (Private Capital) के सम्बन्ध में है। समाजवादी इसे सारे अनर्थों की जड़ समझते हुए इसके उन्मूलन पर बल देते हैं। ग्रीन इसका प्रबल समर्थक था। उसका यह कहना था कि पूँजी का प्रयोग सदैव सामाजिक कल्याण के लिए होता है, इसे लगाकर कल-कारखाने खोलने से हजारों आदमियों को काम तथा वेतन मिलता है, पूँजी का स्वभाव वितरण का और विभक्त होने का है। एक व्यक्ति के पास अधिक पूँजी होने से दूसरे के मार्ग में बाधा नहीं पड़ती, वह गरीब नहीं होता, क्योंकि पूँजी का विस्तार अनन्त एवं अपरिमित मात्रा में हो सकता है, इसकी मात्रा सीमित नहीं है। मजदूर भी परिश्रम और अध्यवसाय से पूँजीपति बन सकते हैं। समाजवादी विचारक दरिद्र एवं सर्वहारा वर्ग (Proletariat) की निर्धनता का मूल कारण पूँजीवाद को समझते थे, किन्तु ग्रीन इसका वास्तविक कारण दूषित भूमि-व्यवस्था को समझता था। भूमि प्रकृति की देन है, इसे उसने परिमित मात्रा में प्रदान किया है, किन्तु कुछ जमींदारों ने उसके बड़े भाग पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया है, इस कारण अधिकांश व्यक्ति उससे वंचित हो गए हैं। भूमि का इसलिए भी विशेष महत्व है कि उसी से अन्न पैदा होता है, उसी पर मकान और कल-कारखाने बनते हैं, उसके बड़े भाग पर जमींदारों का अधिकार स्थापित होने से ही सर्वहारा वर्ग की उत्पत्ति हुई है, अत: इस प्रथा का तत्काल उन्मूलन होना चाहिए। किन्तु इसके साथ ही, वह राज्य द्वारा 'अनुपार्जित वृद्धि' (Unearned Increment) पर राज्य के अधिकार को इस कारण अनुचित समझता था कि इससे व्यक्तियों द्वारा पुरुषार्थ करने की उस प्रवृत्ति और क्रियाशीलता में कमी हो जाएगी जो भूमि में सुधार करके समाज की महत्वपूर्ण सेवा कर रही है।

ग्रीन और हेगल की तुलना—ग्रीन का एक बड़ा कार्य जर्मनी में काण्ट और हेगल द्वारा प्रतिपादित आदर्शवाद को ब्रिटिश जनता के लिए स्वीकरणीय रूप में

---

१. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४३

उपस्थित करना था। अतः ग्रीन की हेगल और काण्ट से तुलना करना बड़ा मनोरंजक और बोधप्रद है। यहाँ पहले दोनों में समानताओं और सादृश्यों का प्रतिपादन करने के बाद मतभेदों का विवेचन किया जाएगा। दोनों में **पहली** समानता यह है कि दोनों अध्यात्मवादी और अद्वैतवादी हैं, इस विश्व का संचालन और निर्माण करने वाली एक दैवी चेतन सत्ता में विश्वास रखते हैं। ग्रीन हेगल की भाँति यह मानता था कि यह दिव्य भावना (Divine Spirit) निरन्तर अपनी पूर्णता की प्राप्ति के लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रही है। वे इस दिव्य सत्ता के अपने लक्ष्य तक पहुँचने को पूरी वास्तविकता (Reality) मानते थे। सामान्य मनुष्य जिसे आदर्श, कल्पना या विचार की वस्तु (Ideal) समझते हैं, वे उसे वास्तविक मानते थे। ग्रीन हेगल की भाँति यह मानता था कि पूर्णता की प्राप्ति के लक्ष्य की ओर अग्रसर होने वाली दैवी विश्वात्मा समाज के विभिन्न समुदायों, संस्थाओं और संगठनों में अवतार या रूप धारण करती है और उसका प्रत्येक अगला रूप पहले रूप से अधिक उत्कृष्ट एवं पूर्ण होता है। उदाहरणार्थ, परिवार की संस्था में विश्वात्मा पहले अवतरित हुई और राज्य के रूप में उसका अवतरण बाद में हुआ। अतः राज्य की संस्था परिवार से श्रेष्ठ है। ग्रीन हेगल की भाँति इस बात में भी विश्वास रखता था कि विश्वात्मा महापुरुषों के माध्यम से संसार की भलाई के लिए कार्य करती है। जूलियस सीज़र ने भले ही कीर्ति एवं शक्ति प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश द्वीपसमूह को जीता, किन्तु विश्वात्मा ने उसे इन टापुओं की जनता को सभ्यता का पाठ पढ़ाने का माध्यम बनाया। **दूसरी** समानता राज्य की महत्ता के सम्बन्ध में है। दोनों इसे दैवी विश्वात्मा के विकास का नवीनतम तथा उत्कृष्टतम रूप मानते थे। ग्रीन का यह मन्तव्य था कि मनुष्य अपना पूर्णतम विकास राज्य में ही कर सकता है, इसके बिना वह मनुष्य कहलाने का भी अधिकारी नहीं है। हेगल की भाँति ग्रीन राज्य की महिमा और शक्ति में पूर्ण आस्था रखता था, उसका यह कहना था कि राज्य व्यक्ति के सभी वास्तविक अधिकारों का आदिस्रोत है। **तीसरी** समानता राज्य तथा अन्य समुदायों और संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में है। ग्रीन हेगल की भाँति राज्य को 'समुदायों का समुदाय' (Community of Communities) तथा राज्य को इन सब में सर्वोपरि एवं सर्वोच्च समझता था (देखिए ऊपर पृ० १९६)। **चौथी** समानता स्वतन्त्रताविषयक विचार हैं। दोनों मनुष्यों को उसी दशा में स्वतन्त्र समझते हैं जबकि वह दैवी सत्ता के आदेशों का पूर्ण रूप से पालन कर रहा होता है। स्वतन्त्र होने का यह अर्थ नहीं है कि वह अपनी इच्छानुसार मनमाने कार्य करे, इस दशा में तो वह अपनी इन्द्रियों का, वासनाओं का और आसुरी भावनाओं का दास होकर कार्य करता है; वह इन दुर्वासनाओं के पाश से तभी मुक्त होता है जब अपने में निवास करने वाले दैवी अंश के आदेशों के अनुसार कार्य करे, इसी में उसकी अपनी तथा समाज की सच्ची भलाई निहित है। ग्रीन के मतानुसार स्वतन्त्रता का अर्थ "सामाजिक कल्याण के लिए मनुष्य की सभी शक्तियों को पूर्ण रूप से उन्मुक्त करके प्रयोग में लाना है।" मनुष्य सामाजिक हित के ये कार्य इसलिए करता है कि उसमें दैवी सत्ता के अंश विद्यमान हैं। **पाँचवीं** समानता समाज के महत्व के बारे में है। दोनों इसे असाधारण गरिमा प्रदान करते हैं। उनका यह

मत है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने समाज के विशिष्ट वातावरण की परिस्थितियों में विकसित होता है, यह समाज अपने व्यक्तियों के लिए नैतिकता के मानदण्ड निर्धारित करता है। इसी कारण सब समाजों की नैतिकता में भेद होता है। ग्रीन के मतानुसार समाज इस बात को निश्चित करता है कि व्यक्ति को कौनसे कार्य करने चाहिएँ तथा कौनसे नहीं करने चाहिएँ। व्यक्ति को उस समय तक अपने अन्तःकरण की इच्छानुसार कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता है जब तक वह समाज की नैतिक चेतना के अनुसार कार्य कर रहा है। इसलिए ग्रीन यह मानता है कि प्रत्येक देश का अपना राष्ट्रीय चरित्र, संस्थाएँ और परम्पराएँ होती हैं, इनकी उपेक्षा करने वाला कोई भी सुधार-कार्य कभी सफल नहीं हो सकता है। यद्यपि ग्रीन हेगल के साथ उपर्युक्त समानताएँ रखता है, तथापि उसका कई बातों में हेगल के साथ घोर मतभेद भी है। अब इनका वर्णन किया जाएगा।

हेगल से ग्रीन का **पहला** और सबसे महत्वपूर्ण भेद ब्रिटिश दार्शनिक द्वारा व्यक्तिवाद (Individualism) का प्रचण्ड समर्थन है। हेगल ने राज्य को साध्य एवं सभी कुछ माना था, व्यक्ति को राज्य की उन्नति का साधन माना था, उसने व्यक्ति के हितों एवं अधिकारों को राज्य के लिए बलिदान कर दिया था (देखिए ऊपर पृ० १४२-४३), किन्तु ग्रीन ने व्यक्तिवादी ब्रिटिश परम्परा का पालन करते हुए राज्य को साध्य नहीं, किन्तु व्यक्ति के पूर्ण नैतिक विकास का साधन माना। ग्रीन यद्यपि राज्य को हेगल की भाँति दैवी सत्ता की साकार प्रतिमा मानता था, फिर भी उसने इस बात को कभी विस्मृत नहीं किया कि उसकी सत्ता व्यक्ति की आत्मोन्नति के लिए ही है; व्यक्ति राज्य के लिए नहीं, किन्तु राज्य व्यक्ति के लिए है। काण्ट की भाँति (देखिए ऊपर पृ० ११७) उसका यह दृढ़ विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी विशिष्ट महत्ता और गरिमा होती है, किसी भी अन्य प्रयोजन के लिए उसका शोषण नहीं होना चाहिए। सम्भवतः इसी तथ्य को दृष्टि में रखते हुए बार्कर ने लिखा है कि ग्रीन हेगल की अपेक्षा काण्ट के सिद्धान्तों का अधिक अनुयायी (More Kantian than Hegelian) प्रतीत होता है।[1] ग्रीन ने व्यक्ति के महत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा था कि "राष्ट्र का निर्माण करने वाले व्यक्तियों से पृथक् रूप में राष्ट्रीय जीवन की कोई सत्ता नहीं होती है।" "किसी भी राष्ट्र की या समाज की प्रगति, सुधार या विकास का अर्थ इनका निर्माण करने वाले मनुष्यों के गुणों में वृद्धि के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता है।" व्यक्ति के विकास को महत्व देने के कारण ही उसने राज्य के कार्यों का निषेधात्मक (Negative) रूप में वर्णन करते हुए कहा है कि राज्य का कार्य मनुष्य को नैतिक बनाना नहीं है, क्योंकि नैतिकता "स्वयमेव अपने लिए निश्चित किए गए कर्त्तव्यों का निःस्वार्थ बुद्धि से पालन करना" (The disinterested performance of self-imposed duties) है। यह सर्वथा आन्तरिक कार्य है और राज्य इसे नहीं कर सकता। उसका कार्य केवल उत्तम जीवन के विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना है (देखिए ऊपर पृ० १८९-९०)। ग्रीन हमें बताता

१. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४७

है कि अन्ततोगत्वा व्यक्ति राज्य से महत्वपूर्ण है, राज्य का उद्देश्य उसके नैतिक विकास की बाह्य परिस्थितियों को उत्पन्न करना है, इसके लिए आवश्यक आन्तरिक परिस्थितियों को तो मनुष्य स्वयमेव अपनी भीतरी प्रेरणा से उत्पन्न करता है। ग्रीन इस बात पर सर्वदा आग्रह करता है कि राज्य आदि विभिन्न संस्थाएँ मनुष्य का विकास करने का साधन मात्र हैं, अपने-आपमें स्वयं साध्य नहीं हैं। यह साध्य तो व्यक्ति ही है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ग्रीन राज्य को भले ही कितना महत्व दे, उसका रहस्यपूर्ण और प्रभावशाली शब्दों में वर्णन करे, वस्तुतः वह व्यक्ति को और उसके नैतिक विकास को ही सबसे अधिक महत्व देता है और इस दृष्टि से वह कट्टर व्यक्तिवादी है।

दूसरा भेद राज्य की इच्छा का है। हेगल इसे सर्वथा निरंकुश समझता है, किन्तु ग्रीन इसे सामान्य इच्छा पर आधारित मानता है। पहले (पृ० १८२) इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह बताया जा चुका है कि यह समाज का हित चाहने वाले सब नागरिकों की इच्छाओं का समूह होता है। राज्य का आधार शक्ति नहीं, किन्तु इच्छा है (ऊपर पृ० १८२-८५), मनुष्य राज्य के आदेशों का पालन उसकी दण्ड-शक्ति के भय से नहीं, अपितु इस कारण करते हैं कि राज्य उनकी इच्छाओं को अभिव्यक्त करता है। **तीसरा** भेद स्वतन्त्रताविषयक है। हेगल के मतानुसार स्वतन्त्रता का अर्थ स्वयमेव राज्य के नियमों का पालन करना तथा अपने को उनसे अभिन्न समझना है। किन्तु ग्रीन इसे अपना नैतिक विकास करने की स्वतन्त्रता समझता है, यदि राज्य उत्तम है और उसने नैतिक विकास के मार्ग में आने वाली सभी बाधाओं को दूर कर दिया है तो व्यक्ति स्वयमेव राज्य के सभी नियमों का पालन करेगा; किन्तु यदि राज्य अच्छा नहीं है और वह व्यक्ति के विकास की समुचित परिस्थितियाँ उत्पन्न नहीं करता तो व्यक्ति कुछ असाधारण दशाओं में राज्य का विरोध भी कर सकता है। हेगल इस स्थिति की कभी कल्पना नहीं कर सकता था। **चौथा** भेद राज्य का विरोध करने का है। हेगल इसकी किसी भी दशा में अनुमति नहीं देता है, किन्तु ग्रीन कुछ असाधारण परिस्थितियों में राज्य के विरोध को आवश्यक कर्त्तव्य मानता है (देखिए ऊपर पृ० १९१-९४)। **पाँचवाँ** भेद युद्धविषयक है, ग्रीन हेगल की इस बात को नहीं मानता कि युद्ध अच्छा है, यह राज्यों की सत्ता बनाए रखने के लिए आवश्यक है तथा इससे मनुष्य में नाना प्रकार के उत्कृष्ट गुणों का विकास होता है। ग्रीन ने हेगल के इन सिद्धान्तों का प्रबल खण्डन किया है। **छठा** भेद अन्तर्राष्ट्रीय कानून का है। पहले (पृ० १४५) हम देख चुके हैं कि हेगल राज्य को सर्वशक्तिशाली मानते हुए अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नैतिकता को तिलांजलि दे देता है, किन्तु ग्रीन विश्व-भ्रातृत्व (Universal Brotherhood) की कल्पना करता है और अन्तर्राष्ट्रीय कानून की सत्ता स्वीकार करता है। उसका यह विश्वास है कि सभी मनुष्य शाश्वत चेतना (Eternal Consciousness) का अंश होने से एक ही भगवान् के पुत्र और भाई-भाई हैं। जिस प्रकार सामान्य हितों को पूरा करने की भावना ने एक राज्य के भीतर सभी नियमों के निर्माण के लिए एक नैतिक पद्धति (Ethical Code) का निर्माण किया है, इसी प्रकार सम्पूर्ण मानव-जाति में सभी देशों के पारस्परिक सम्बन्धों का नियन्त्रण करने

के लिए एक नैतिक पद्धति का निर्माण होता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून की जननी है तथा समूची मानव-जाति की सामान्य इच्छा (General Will of Humanity) पर आधारित है।

ग्रीन की आलोचना—ग्रीन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की निम्नलिखित दृष्टियों से कड़ी आलोचना की गई है :[1] (१) वह रूढ़िवादी एवं अनुदार है। यह कहा जाता है कि उसका झुकाव वर्तमान व्यवस्था को बनाए रखने का तथा उसका समर्थन करने का था। पहले (पृ० २००) यह बताया जा चुका है कि वह अमीर-गरीब के भेद को, सम्पत्ति की विषमता को तथा पूँजीवाद को सर्वथा न्यायोचित समझता है। उसने राज्य के विरोध का अधिकार स्वीकार करते हुए भी उस पर इतने कठोर प्रतिबन्ध लगाए हैं कि वह अधिकार बिलकुल निरर्थक हो गया है। राज्य के कार्यों के विषय में उसका दृष्टिकोण अभावात्मक (Negative) था। उसे श्रमिकों की समस्याओं का कोई ज्ञान नहीं था, उसने अनुपार्जित आय (Unearned Increment) के राज्य द्वारा लिए जाने का उग्र विरोध किया था। (२) उसकी प्रभुसत्ता का सिद्धान्त (ऊपर पृ० १८५) दोषपूर्ण है, इसमें उसने आस्टिन और रूसो के सिद्धान्तों के समन्वय का विफल प्रयत्न किया है। वह इसे 'सामान्य इच्छा' (General Will) का समर्थन पाने पर ही सर्वोच्च शक्ति मानता है। किन्तु हॉबहाउस ने इसका युक्तियुक्त खण्डन करते हुए कहा है—"जहाँ तक इसका इच्छा होने के साथ सम्बन्ध है, यह सामान्य नहीं है और जहाँ तक यह सामान्य है, वहाँ तक इच्छा नहीं है।" (३) ग्रीन का यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है कि इतिहास में वर्णित महापुरुषों में दैवी प्रवृत्तियाँ आसुरी प्रवृत्तियों पर विजय पा लेती हैं, इस विषय में पहले जूलियस सीज़र तथा नैपोलियन के उदाहरण दिए जा चुके हैं (पृ० १९९)। ग्रीन की इस धारणा का खण्डन चंगेज़खां, नादिरशाह और हिटलर जैसे खून की नदियाँ बहाने वाले महापुरुषों के दृष्टान्तों से हो जाता है, अशोक जैसे विरले राजाओं में ही देवत्व का विकास होता है। अधिकांश शासक सत्ता से मदान्ध होकर सब प्रकार के अनैतिक कार्य करते हैं। इस विषय में वेपर ने प्रशिया के राजा महान् फ्रेडरिक की यह सारगर्भित उक्ति उद्धृत की है[2] कि आप अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए कितने भी जघन्य उपायों का प्रयोग करें, आपके कार्यों को न्यायोचित सिद्ध करने वाला कोई-न-कोई दार्शनिक आपको मिल ही जाएगा। (४) ग्रीन का एक बड़ा दोष अत्यधिक बुद्धिवादी होकर सब समस्याओं का समाधान करना है, वह यह समझता है कि मनुष्य सभी कार्य बुद्धिपूर्वक सोच-विचारकर ही करता है, वस्तुतः मनुष्य अधिकांश कार्य अपने अचेतन मन (Sub-conscious Mind) से तथा मनोभावों के प्रबल आवेगों में बहकर करता है। ग्रीन इन मौलिक तथ्यों की उपेक्षा करता है। (५) मनुष्य के सम्बन्ध में उसने अत्यन्त उज्ज्वल आदर्श और आशावादी दृष्टिकोण रखा है, उसमें दैवी प्रवृत्तियों की सदैव प्रधानता मानते हुए यह विचार प्रकट किया है कि वह हमेशा अपनी आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति में तथा समाज का कल्याण करने में लगा रहता है। यह एकांगी दृष्टिकोण है, वस्तुतः मनुष्य के हृदय में देवासुर

१. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४६
२. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० १९०

संग्राम चलता रहता है, इसमें अन्त में तथा बड़े संघर्ष के बाद ही दैवी प्रवृत्तियों की विजय होती है, सामान्यतः आसुरी प्रवृत्तियाँ काफी प्रबल बनी रहती हैं। ग्रीन इस तथ्य की उपेक्षा करता है। मनुष्य को विशुद्ध चेतनासम्पन्न नैतिक प्राणी मानना वैसी ही भूल है जैसे उसे उपयोगितावादियों के मतानुसार कोरे आनन्द की आकांक्षा रखने वाला प्राणी मानना। (६) उसका प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त परस्पर विरोधों और असंगतियों से भरा होने के कारण दूषित है। वह एक ओर तो अन्तःकरण को ही सभी प्रश्नों का अन्तिम न्यायालय मानता है, दूसरी ओर इस बात पर बल देता है कि व्यक्ति को राज्य या समाज का विरोध करने का कोई अधिकार नहीं है, वह केवल शान्तिपूर्ण रीति से ही उसका सुधार कर सकता है।

किन्तु उपर्युक्त आलोचनाओं के होते हुए यह मानना पड़ेगा कि ग्रीन सभी आदर्शवादियों में सबसे अधिक उदार, युक्तियुक्त और स्वीकरणीय प्रतीत होता है और निम्नलिखित देनों के कारण राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उसने अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है।

ग्रीन की देन—राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में ग्रीन की **पहली** देन उपयोगितावाद एवं उदारवाद का समयानुकूल संशोधन करके इनमें नवजीवन का संचार करना तथा इसे प्रबल शक्ति बनाना था। ग्रीन से पहले उदारवाद को अनुप्राणित करने वाला बेन्थम का उपयोगितावाद निष्प्राण हो चुका था, इस पर कई विचारधाराएँ प्रबल प्रहार कर रही थीं। पुराने व्यष्टिवादी विचारक राज्य के कार्यक्षेत्र को अत्यधिक संकुचित करना चाहते थे, स्पेन्सर ने उग्र व्यक्तिवाद का पोषण किया था। दूसरी ओर इसके सर्वथा विपरीत हेगल और कार्ल मार्क्स की विचारधाराएँ राज्य के क्षेत्र को अधिकाधिक विशाल बनाना चाहती थीं। बेन्थम और मिल ने मनुष्य के कार्यों का मूल प्रेरणास्रोत विशुद्ध स्वार्थबुद्धि और सुख माना था। जॉन स्टुअर्ट मिल के समय तक उपयोगितावाद निष्प्राण हो चुका था। ग्रीन ने इन विरोधी विचारधाराओं में समन्वय करके इसे अपने नवीन सिद्धान्तों द्वारा नवजीवन प्रदान किया। उसने मनुष्य को कोरे भौतिक सुख का अन्वेषण करने वाला नहीं, अपितु अपनी आत्मा का विकास तथा समाज का हित चाहने वाला प्राणी माना। उपयोगितवादी व्यक्तिवादी होने से राज्य के कार्यों का क्षेत्र कम-से-कम करना चाहते थे, वे इसका आधार उपयोगिता मानते थे, किन्तु ग्रीन ने इसे नैतिक विकास के लिए उपयुक्त परिस्थितियों का उत्पन्न करना बताया। इस प्रकार उसने राजनीतिक चिन्तन को आध्यात्मिकता और नैतिकता से अनुप्राणित करके इसे अधिक सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित किया। इसे एक नई निष्ठा और श्रद्धा प्रदान की, आर्थिक जीवन में राज्य के हस्तक्षेप को न्यायोचित सिद्ध किया तथा इंगलैण्ड में भावी राजनीतिक सुधारों का मार्ग प्रशस्त किया। मैक्सी ने इस विषय में उसके महत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है—"१९वीं शती के मध्य में एक भारी परिवर्तन हुआ, राज्य द्वारा आर्थिक कार्यों में अहस्तक्षेप (Laissez faire) की नीति का परित्याग करते हुए इंगलिश भाषाभाषी देशों में बुढ़ापे और बेकारी की बीमा-योजना, मजदूरों के मुआवजे आदि के सामाजिक कानून बनाए जाने लगे। इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है कि इस प्रवृत्ति को अपना बौद्धिक आधार ग्रीन के राजनीतिक

चिन्तन से मिला है।"[1] उग्र व्यक्तिवादी स्पेन्सर ने ग्रीन के बारे में कहा था कि "उसने उदारवाद में से सब अच्छी बातें निकाल ली थीं, वस्तुतः उसने इसमें नई बातें डालकर इसे ब्रिटिश राजनीति में पुनः शक्तिशाली तत्व बनाया।"[2]

ग्रीन की **दूसरी** देन आदर्शवाद का संशोधन था। हेगल ने व्यक्ति को साधन बनाकर उसके हितों को राज्य के लिए बलिदान कर दिया था, राज्य को अपने-आपमें साध्य तथा नैतिकता का स्रोत माना था, युद्ध का समर्थन किया तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्यों पर कोई नैतिक बन्धन न मानते हुए उन्हें मनमाना कार्य करने की स्वतन्त्रता प्रदान की थी। ग्रीन ने इन दूषित सिद्धान्तों का संशोधन करते हुए इस बात पर बल दिया कि व्यक्ति साध्य है, राज्य के लिए उसके हितों का बलिदान नहीं किया जाना चाहिए। राज्यों का काम आपस में लड़ाई करना नहीं है। कोरिन्थवासियों ने एथेन्सवासियों के चरित्र का संक्षेप में वर्णन करते हुए कहा था—"वे दुनिया में सिर्फ इसलिए पैदा हुए हैं कि वे न तो स्वयं चैन से बैठें और न दूसरे राज्यों को चैन लेने दें।" हेगल राज्यों के सम्बन्ध इसी प्रकार के मानता था, किन्तु ग्रीन युद्ध को प्रत्येक दशा में अनैतिक समझते हुए अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा राज्य के संघर्षों को समाप्त करना चाहता था। वेपर ने ग्रीन के महत्व का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि "उसने उदारवाद और आदर्शवाद के दोषों का संशोधन किया। ग्रीन की बड़ी उपलब्धि यह थी कि उसने उदारवाद को एक नया धार्मिक विश्वास प्रदान किया, व्यक्तिवाद को नैतिक तथा सामाजिक बनाया तथा आदर्शवाद का परिष्कार और परिमार्जन किया।"[3]

बर्नार्ड बोसांके (१८४८-१९२३)

ग्रीन के सिद्धान्तों का प्रबल प्रचार करने वाला उसका शिष्य बर्नार्ड बोसांके था। ग्रीन की भाँति यह भी एक पादरी परिवार में उत्पन्न हुआ था। इसका पिता नार्थम्बरलैण्ड का एक समृद्ध पुरोहित था, उसने इसे हैरो तथा आक्सफोर्ड में शिक्षा के लिए भेजा। यहाँ इसने बड़ी सफलता प्राप्त की, आक्सफोर्ड में इस पर ग्रीन का तथा जोवेट का गहरा प्रभाव पड़ा। दस वर्ष तक (१८७१—८१) आक्सफोर्ड में शिक्षक रहने के बाद उसने सामाजिक सुधार के क्रियात्मक कार्यों में भाग लेने के लिए अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। उसने लन्दन की परोपकारी कार्य करने वाली एक संस्था London Charity Organization Society में काम किया और बाद में 'निर्धन सहायता कानून' का प्रशासन करने वाले अधिकारियों के तथा सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण के लिए एक विद्यालय स्थापित करने के प्रयास में बड़ा भाग लिया, विश्व-विद्यालयों द्वारा साधारण जनता के लिए सुबोध व्याख्यानमालाओं (Extension Lectures) के आयोजन के आन्दोलन में भी उसने गहरी दिलचस्पी ली, उसने अपने ग्रन्थों द्वारा जटिल दार्शनिक प्रश्नों को सरल रूप में जनता को समझाने का सराहनीय

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० ५०९-१०
२. ब्रिण्टन—इंगलिश पोलिटिकल थाट, पृ० २३६
३. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० १९२-९३

प्रयास किया। उसके सुप्रसिद्ध ग्रन्थों—The Philosophical Theory of the State, The Value and Destiny of Individual, Social and International Ideals ने इस उद्देश्य में सफलता प्राप्त की। वह उपन्यास पढ़ने का शौकीन था, अतः उसने अपने जटिल एवं शुष्क दार्शनिक सिद्धान्तों को उपन्यासों के तथा काव्यों के उदाहरणों से सरस बनाया था। किन्तु कुछ समय तक प्रचार-कार्य करने के बाद, वह पुनः सेण्ट एण्ड्रयूज़ के विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हो गया। विद्याव्यसनी और विद्वान् होने के साथ-साथ उसे विभिन्न मामलों का क्रियात्मक अनुभव भी था।

उसने अपने गुरु ग्रीन के आदर्शवादी सिद्धान्तों को ग्रहण करते हुए उसके उदार-वाद को तिलांजलि दे दी। इसलिए ग्रीन की अपेक्षा उसके विचार हेगल के सिद्धान्तों से अधिक घनिष्ठ सादृश्य रखते हैं। इस विषय में बार्कर ने लिखा है—"स्वतन्त्र इच्छा की सिद्धि के साधन के रूप में प्रयुक्त किए जाने वाले राज्य पर ग्रीन ने अनेक प्रतिबन्ध लगाए थे, बोसांके ने इन्हें हटा दिया और इस प्रकार ग्रीन के दर्शन को वह ऐसे बिन्दु तक ले आया जहाँ पहुँचकर उसका दर्शन हेगल के राज्य के विचार से अभिन्नता न रखने पर घनिष्ठ सादृश्य रखता है।"[1] अतः यह स्पष्ट है कि बोसांके का आदर्श-वाद ग्रीन की अपेक्षा अधिक उग्र तथा राज्य की निरंकुश सत्ता का पोषक है। बोसांके की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसने अपने सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिए मनो-विज्ञान के नवीन अन्वेषणों की सहायता ली है। यहाँ उसके विशिष्ट सिद्धान्तों का परिचय दिया जाएगा।

(१) **राज्य का स्वरूप**—बोसांके राज्य को एक नैतिक विचार (Ethical Idea) तथा वास्तविक या सामान्य इच्छा का साकार रूप मानता है। यह नैतिक इसलिए है कि इसका सम्बन्ध मनुष्य के उत्थान और उन्नति से है, राज्य का उद्देश्य व्यक्ति की तथा समाज की उन्नति है। राज्य एक विचार मात्र है, इसको मनोविज्ञान के आधार पर वह बड़े मनोरंजक रूप से पुष्ट करता है। उसकी यही धारणा है कि न केवल राज्य अपितु परिवार आदि सभी संस्थाएँ दो पक्ष रखती हैं—पहला पक्ष भौतिक होता है और दूसरा मानसिक या आध्यात्मिक। जिस प्रकार मनुष्य में देह तथा आत्मा के दो पक्ष होते हैं और इनमें असली मूलभूत तत्व आत्मा होता है, उसी प्रकार प्रत्येक संस्था के भौतिक पक्ष या देह के साथ-साथ एक मौलिक विचार या उसकी आत्मा होती है। यह विचार किसी एक व्यक्ति के मन का विचार नहीं, अपितु उससे सम्बन्ध रखने वाले सभी व्यक्तियों के व्यक्तिगत मनों का सामान्य अंश होता है। यह व्यक्तियों के एक विशेष समूह के मनों से बना होने के कारण एक **सामूहिक मन** (Mind of a group) कहलाता है। इसे बोसांके ने विद्यालय के तथा बार्कर ने संसद् के उदाहरण से समझाया है।

किसी भी विद्यालय का भौतिक पक्ष उसकी इमारतें, विद्यार्थी और अध्यापक हैं। किन्तु क्या यही वास्तविक विद्यालय है? बोसांके इसका उत्तर देते हुए कहता है कि "विद्यालय की वास्तविकता इस तथ्य में निहित है कि कुछ व्यक्तियों के मन इसमें

---

१. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ५६-७

निश्चित ढंग से सम्बद्ध हैं, इसके विषय में अध्यापकों, विद्यार्थियों, प्रबन्धकों, विद्यार्थियों के अभिभावकों के तथा जनता के कुछ निश्चित विचार हैं, स्कूल तब तक स्कूल बना रहता है जब तक इनके अनुसार कार्य होता रहता है।"[1] स्कूल का मौलिक विचार शिक्षा देना है, जब तक इससे प्रेरित होकर विद्यार्थी, शिक्षक, मैनेजर और अभिभावक कार्य करते रहते हैं तब तक यह विद्यालय विद्यालय बना रहता है। किन्तु यदि इसका शिक्षा देने का मौलिक विचार बदल जाए तो यह विद्यालय नहीं रहेगा। उदाहरणार्थ, विद्यालय के इस भवन में कपड़ा बुनने की मशीनें लगा दी जाएँ, इस इमारत में अध्यापकों से श्रम-निरीक्षकों का और विद्यार्थियों से श्रमिकों का कार्य लिया जाने लगे और और यहाँ कपड़ा तैयार होने लगे तो उसी इमारत के, उन्हीं विद्यार्थियों और शिक्षकों के होते हुए भी यह विद्यालय नहीं, किन्तु कारखाना कहलाएगा, क्योंकि इसका मौलिक विचार अब शिक्षा देने के स्थान पर वस्त्रों का उत्पादन करना हो गया है। बार्कर ने इसे पार्लियामैण्ट के उदाहरण से समझाया है।[2] इसके छः सौ सदस्य हैं, वे एक विशाल एवं भव्य भवन में एकत्र होकर कार्य करते हैं। किन्तु छः सौ व्यक्तियों वाले इस विशाल भवन को ही यदि हम पार्लियामैण्ट समझ लें तो यह हमारी भूल होगी। वस्तुतः पार्लियामैण्ट वह मौलिक विचार है जो छः सौ सदस्यों के मनों को एक विशेष प्रकार के चिन्तन के लिए प्रेरित करता है और उन्हें एक सामान्य प्रयोजन के सूत्र में आबद्ध करके यहाँ उनसे एक प्रकार का कार्य कराता है। यह विचार इंगलैण्ड का शासन करना तथा उसके लिए आवश्यक कानूनों का निर्माण करना है। इस विचार और प्रयोजन से प्रेरित होकर पार्लियामैण्ट के सदस्य कार्य करते हैं, इस प्रयोजन को हम पार्लियामैण्ट का नैतिक विचार (Ethical Idea) कह सकते हैं, यह उसकी आतमा या प्राण है। पार्लियमैण्ट ईंट, मिट्टी, पत्थर और सीमेण्ट से बने किसी भव्य भवन का नाम नहीं है, अपितु छः सौ व्यक्तियों के मनों में समान रूप से रहने वाले इंगलैण्ड के शासन और कानून निर्माण का विचार है।

इससे यह स्पष्ट है कि प्रत्येक संस्था का एक मौलिक विचार होता है, यह उसकी आत्मा एवं प्राण होता है, इसके आधार पर उसका संगठन और संचालन किया जाता है, उसके लिए आवश्यक योजना का सूत्रपात होता है, उसे क्रियान्वित रूप देने के लिए इमारतें बनाकर, कर्मचारियों को नियुक्त कर उसके भौतिक रूप का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक संस्था अपने बाह्य रूप को धारण करती है, किन्तु यह रूप एक मौलिक विचार से उत्पन्न होता है, अतः बोसांके यह कहता है कि सभी संस्थाएँ विचार रूप हैं (Institutions are ideas)। विद्यालय के उपर्युक्त उदाहरण में मौलिक विचार शिक्षा देना है, इसे मूर्त्त रूप देने के लिए एक समिति बनाई जाती है, धन एकत्र करके विद्यालय के भवन बनाए जाते हैं, अध्यापकों की नियुक्ति की जाती है, विद्यार्थियों को प्रविष्ट किया जाता है, निश्चित नियमों के अनुसार विद्यालय के संचालित होने पर शिक्षा देने का मौलिक विचार मूर्त्त रूप धारण करता है।

१. बोसांके—फिलोसाफिकल थियोरी आफ दी स्टेट, पृ० १५९

२. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ६०-६१

सामूहिक मन का सिद्धान्त—बोसांके ने इस मौलिक विचार के विकास और कार्य के सम्बन्ध में कुछ नवीन बातों का प्रतिपादन मनोविज्ञान के आधार पर किया है। यदि संस्था का आधार एक मौलिक विचार है तो यह कहाँ रहता है ? इस विषय में उसका विचार है कि यह विचार किसी एक व्यक्ति के मन में नहीं, अपितु उस संस्था से सम्बद्ध अनेक व्यक्तियों के मनों में रहता है। उदाहरणार्थ, विद्यालय का विचार उससे सम्बद्ध विद्यार्थियों, अध्यापकों, कर्मचारियों तथा प्रबन्धकों के मनों में रहता है। इन सबके मन में विद्यालय के कार्य के सम्बन्ध में एक धारणा रहती है, विद्यार्थी इसमें पढ़ने के लिए आते हैं, शिक्षक पढ़ाने के लिए, प्रबन्धक इसकी व्यवस्था के लिए तथा अन्य कर्मचारी अपना निश्चित कार्य पूरा करने के लिए आते हैं। इन सब व्यक्तियों के मनों के समूह (Group mind) में विद्यालय के स्वरूप तथा कार्य के बारे में एक धारणा है, इसके अनुसार ही इसका कार्य चलता है। अतः प्रत्येक संस्था एक व्यक्ति के मन से नहीं, अपितु इससे सम्बद्ध व्यक्तियों के **सामूहिक मन** (Group mind) से संचालित होती है। यह मन संस्था से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों के मनों के सामान्य अंशों से मिलकर बनता है। यद्यपि सामूहिक मन सदैव क्रियाशील रहता है, तथापि यह प्रायः अदृश्य रूप से कार्य करता है और हमें इसकी सत्ता का बोध स्पष्ट रूप से नहीं होता है; किन्तु कुछ अवसरों पर हम इसका स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करते हैं, जैसे दो विद्यालयों के हाकी या क्रिकेट के मैच के समय। इस समय दोनों विद्यालयों से सम्बद्ध विद्यार्थी और अध्यापक अपने विद्यालय की विजय की उत्कट अभिलाषा को प्रत्येक सफलता पर उग्र रूप से की जाने वाली हर्ष ध्वनि से अभिव्यक्त करते हैं। इस समय उनका सामूहिक मन विशेष रूप से क्रियाशील रहता है और इसको स्पष्ट रूप से समझना सुगम होता है।

अन्य संस्थाओं की भाँति, राज्य भी एक संस्था है। अतः इसका एक मौलिक विचार होना चाहिए। यह विचार क्या है ? बोसांके के मतानुसार यह सब लोगों की वास्तविक इच्छा (Real Will) या सामान्य इच्छा का साकार रूप है। इस विषय में वह रूसो का अनुसरण करते हुए कहता है कि हमारी इच्छाएँ दो प्रकार की हैं—यथार्थ अथवा स्वार्थपूर्ण इच्छा (Actual Will) तथा वास्तविक इच्छा (Real Will)। यथार्थ इच्छा समुद्र के ऊपरी पृष्ठ पर दिखाई देने वाली लहरों के समान चंचल, अस्थिर, क्षणभंगुर, बुद्धि और तर्क के प्रतिकूल तथा अदूरदर्शी होती है, किन्तु वास्तविक इच्छा समुद्र की ऊपरी लहरों के नीचे रहने वाली जलराशि की भाँति गम्भीर, प्रशान्त, स्थायी, बुद्धिसंगत और दूरदर्शी होती है। उदाहरणार्थ, एक विद्यार्थी की यथार्थ इच्छा पढ़ाई से ऊबकर सिनेमा देखने, मित्रों के साथ गप्पें लगाने, ताश खेलकर समय बरबाद करने की हो सकती है; ये सब इच्छाएँ क्षणिक, अस्थायी और अल्पकालीन हैं। उसकी वास्तविक इच्छा पढ़ाई करके परीक्षा में उत्तम विभाग प्राप्त करने की तथा जीवन बिताने के लिए अच्छी नौकरी उपलब्ध करने की है। यह वास्तविक इच्छा उसके जीवन के भविष्य के साथ सम्बद्ध होने के कारण उसकी सिनेमा आदि जाने की उपर्युक्त यथार्थ इच्छाओं से अधिक दूरदर्शितापूर्ण, बुद्धिसंगत और स्थायी है। वस्तुतः सब व्यक्तियों की यथार्थ इच्छाएँ स्वार्थपूर्ण और अलग-अलग होती हैं, वास्तविक इच्छा

इनमें दूरदर्शिता के दृष्टिकोण से सामंजस्य और समन्वय स्थापित करती है, जैसे उपर्युक्त उदाहरण में विद्यार्थी की यथार्थ इच्छा सिनेमा देखने की हो सकती है, किन्तु परीक्षा के लिए परिश्रम करके उत्तम विभाग प्राप्त करने तथा अपने भविष्य को सुरक्षित बनाने की वास्तविक इच्छा उसे कर्त्तव्य-पालन के लिए बाधित करती है, सिनेमा में समय नष्ट करने के लिए उसे धिक्कारती है, उसे सत्य के लिए प्रेरित करते हुए उसका मार्ग-प्रदर्शन करती है, उसकी यथार्थ इच्छाओं से उसके कार्यों का समन्वय और सामंजस्य स्थापित करती है।

यही स्थिति राज्य के सम्बन्ध में भी है। यहाँ भी व्यक्तियों की स्वार्थपूर्ण इच्छाओं में तथा सबकी सामान्य अथवा वास्तविक इच्छा में अन्तर्द्वन्द्व, विरोध और संघर्ष चलता रहता है। व्यक्तियों की अपनी क्षणभंगुर यथार्थ इच्छाएँ विभिन्न प्रकार की हो सकती हैं। एक व्यक्ति को दूसरे की बढ़िया घड़ी देखकर उसे चुराने का प्रलोभन हो सकता है, यह उसकी यथार्थ एवं क्षणिक इच्छा है; थोड़ा गम्भीर विचार करने से उसे यह ज्ञान होता है कि उसका तथा अन्य सब व्यक्तियों का कल्याण समाज में ऐसी स्थिति बनाए रखने में है जिसमें समाज के सभी व्यक्तियों की सम्पत्ति सुरक्षित बनी रहे। अतः किसी व्यक्ति की घड़ी चुराने की यथार्थ इच्छा होते हुए भी सब व्यक्तियों की सामान्य या वास्तविक इच्छा घड़ी को न चुराने की है। इस प्रकार समाज एवं राज्य में रहने वाले व्यक्तियों की अनेक वास्तविक इच्छाएँ हैं और राज्य इनका मूर्त्तिमान् रूप है; जिस प्रकार पढ़ने की इच्छा के विचार का मूर्त्त रूप विद्यालय है, उसी प्रकार कानून बनाने के विचार का मूर्त्त रूप पार्लियामैण्टभवन तथा वस्तुओं के उत्पादन के विचार का साकार रूप एक कारखाना होता है।

इस प्रकार बोसांके राज्य को वास्तविक इच्छा का साकार रूप मानने के कारण एक नैतिक विचार (Ethical Idea) मानता है। वह इससे राज्य के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्नलिखित महत्वपूर्ण परिणामों पर पहुँचता है: (१) वह राज्य के शासन को सच्चा स्वशासन (Self-government) समझता है। ऊपर से देखने में स्वशासन शब्द में विरोधाभास प्रतीत होता है क्योंकि शासन में शासक और शासित के दो पक्षों का होना अनिवार्य है। स्वशासन का ऊपर से प्रतीत होने वाला अर्थ है—स्वयमेव अपना शासन करना। इसमें दो पक्षों का होना सम्भव ही नहीं है, प्रजातन्त्र में भी व्यक्ति स्वयमेव अपने द्वारा नहीं, किन्तु अन्य व्यक्तियों द्वारा शासित होता है। इस दृष्टि से देखने पर स्वशासन का शब्द अर्थशून्य तथा बेहूदा प्रतीत होता है। बोसांके इसकी सार्थकता सिद्ध करता हुआ कहता है कि राज्य सामान्य इच्छा का साकार रूप है, इसमें हमारी वास्तविक इच्छा भी सम्मिलित है। राज्य का सारा संचालन इसी इच्छा के अनुसार हो रहा है, इसका यह अर्थ है कि हम वास्तव में किसी दूसरे व्यक्ति की इच्छा से नहीं, अपितु अपनी ही इच्छा से शासित हो रहे हैं, यही स्वशासन है।[1]

स्वशासन का यह सिद्धान्त मान लेने के बाद व्यक्ति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह राज्य के आदेशों का आँख मूँदकर पालन करे, क्योंकि वे उसकी

१. बोसांके—दी फिलोसाफिकल थियोरी आफ दी स्टेट, चतुर्थ संस्करण, १९५८, पृ० ५०-७३

अपनी ही वास्तविक इच्छा के आदेश हैं। इससे व्यक्ति अपनी पृथक् सत्ता न रखते हुए उसे राज्य में विलीन कर देता है। बोसांके का यह सिद्धान्त अपने गुरु ग्रीन की अपेक्षा हेगल के सिद्धान्त से अधिक मिलता है। ग्रीन व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा पर बल देता है, बोसांके इसकी उपेक्षा करता है। बार्कर ने लिखा है—"बोसांके राज्य तथा इसकी संस्थाओं के साथ एक सामान्य नागरिक की स्वतन्त्र इच्छा के सम्बन्ध में ग्रीन द्वारा प्रतिपादित किए जाने वाले प्रतिबन्धों को तिलांजलि दे देता है और इस प्रकार वह हेगल के इस सिद्धान्त के अधिक समीप आ जाता है कि व्यक्ति की आत्मा अपने को राष्ट्र की आत्मा में स्वतन्त्रतापूर्वक एवं स्वेच्छापूर्वक विलीन कर लेती है।"[1]

(२) दूसरा महत्वपूर्ण परिणाम राज्य और समाज का सम्बन्ध है। राज्य शक्ति का प्रयोग करने वाला एक राजनीतिक संगठन है, यह समाज और इसका निर्माण करने वाली विभिन्न संस्थाओं—परिवार, धार्मिक संगठन या चर्च, आर्थिक संघ—आदि से भेद रखता है क्योंकि इन संस्थाओं के पास अपने नियमों और आदेशों का पालन कराने के लिए राज्य की भाँति कोई शक्ति नहीं होती है। समाज की ये सभी संस्थाएँ राज्य को विभिन्न कार्यों के करने में पूरा सहयोग प्रदान करती हैं, इनके बिना राज्य का कार्य नहीं चल सकता है। वस्तुतः ये सब राज्य के विशाल रूप में समाई हुई हैं। यदि राज्य को शक्ति का प्रयोग न करने वाली संस्था के रूप में नहीं, किन्तु विराट् रूप रखने वाले समाज के रूप में देखा जाए तो राज्य अनेक समूहों का समूह तथा समुदायों का समुदाय (Group of Groups, A Community of Communities) है, यह मानव-समाज के समूचे क्षेत्र में फैला हुआ है और इसका संचालन, नियन्त्रण और धारण कर रहा है।

(३) तीसरा परिणाम राज्य के स्वरूप और कार्य के सम्बन्ध में है। राज्य न केवल एक नैतिक विचार है, अपितु सर्वोच्च अथवा एकमात्र नैतिक विचार (The Ethical Idea) है, क्योंकि राज्य एक सर्वोच्च, सार्वभौम संस्था है, इसमें समाज की विभिन्न संस्थाओं के आधारभूत एवं मौलिक विचारों का सामंजस्य और समन्वय हुआ है, अतः राज्य के मूल में निहित नैतिक विचार समाज में पाई जाने वाली विभिन्न संस्थाओं के नैतिक विचारों का योगफल (sum total) ही नहीं है, अपितु इन सबमें समन्वय स्थापित करने वाला एकमात्र नैतिक विचार है। विभिन्न संस्थाओं के नैतिक विचार एकांगी और विरोधी हो सकते हैं, किन्तु राज्य अपने उच्चतर दृष्टिकोण से इनमें पाए जाने वाले विरोध और असंगति दूर करके इनमें समन्वय स्थापित करता है। राज्य यह इसलिए करता है कि उसका दृष्टिकोण एकांगी न होकर, सर्वांगीण होता है, वह उसके एक पक्ष को न देखकर सब पक्षों पर विचार करता है।

अतः बोसांके के मतानुसार राज्य समग्र मानव-जीवन को बिताने की एक व्यावहारिक योजना (Working Concept of Life) को प्रस्तुत करता है। राज्य में परिवार, चर्च, व्यापारिक संगठन आदि सभी प्रकार की संस्थाओं का समावेश होता है, यह इनके विरोधों तथा असंगतियों की आलोचना करके इनका संशोधन इस दृष्टि

१. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ५६

से करता है कि समाज का कार्य भली-भांति चलता रहे। इसे बोसांके ने समाज की सब संस्थाओं के यथोचित कार्य करने के लिए आवश्यक आलोचना (Operative Criticism of all Institutions) कहा है। मानवीय संस्थाएँ शीघ्र ही जड़ता, निष्क्रियता और विकृति का शिकार हो जाती हैं, इनमें स्वार्थ की वृत्ति प्रधान होती है। उदाहरणार्थ, परिवार तथा चर्च अपने ही सदस्यों के हितों का ध्यान रखते हैं, इनकी दृष्टि विशाल बनाना, समष्टि के हितों के साथ इनका समन्वय करना तथा इनका समुचित मार्ग-प्रदर्शन करना राज्य का कार्य है। इसकी तुलना समुद्र-यात्रा करने वाले एक जहाज के कप्तान के पास विद्यमान उस मानचित्र से की जा सकती है जिसके अनुसार उसे अपने मार्ग का तथा इसमें आने वाली चट्टानों का और भंवरों का ज्ञान होता रहता है। जिस प्रकार जहाज इस नक्शे से पथ-प्रदर्शन पाता हुआ आगे बढ़ता है, वैसे ही मनुष्य की समस्त जीवन-यात्रा का तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान राज्य द्वारा होता है।

किन्तु राज्य यह पथ-प्रदर्शन शक्ति द्वारा करता है, क्योंकि बोसांके का कथन है कि "अन्ततोगत्वा राज्य ही एकमात्र मान्य एवं न्यायोचित शक्ति है"[1] (the only recognised and justified force)। शक्ति राज्य का स्वाभाविक तत्व है, यह हमारी वास्तविक इच्छा का ही विशाल एवं विस्तृत रूप है। यह हमें अपने कर्त्तव्यों का बोध कराता है, 'अज्ञानी, आलसी, विद्रोही' लोगों को उनके कार्य का ज्ञान कराता हुआ उन्हें कर्त्तव्य-पालन के लिए विवश करता है। यह समझना एक बड़ी गलती है कि राज्य का कार्य केवल कानून तोड़ने वालों को पकड़ना और दण्ड देना है, वस्तुतः राज्य हमें जीवन के सभी पक्षों में न केवल कर्त्तव्य का ज्ञान कराता है, अपितु उनके अनुसार जीवन-संचालन करने की प्रेरणा और शक्ति प्रदान करता है।

इस बात को बोसांके ने **चक्के** (Flywheel) **के उदाहरण** से समझाया है। जिस प्रकार एक मशीन को प्रधान रूप से गति प्रदान करने वाला एक बड़ा पहिया या चक्का होता है, यह अपनी गति से समूची मशीन को और इससे सम्बद्ध सभी छोटी मशीनों को गति प्रदान करता है, उसी प्रकार राज्य जीवन के सभी अंगों तथा इसमें विद्यमान सभी संस्थाओं और समूहों को शक्ति प्रदान करता है तथा उन्हें संचालित करता है। अन्य संस्थाएँ और समूह **दांतेदार पहिये** (Cogwheel) की भाँति हैं, जिस प्रकार कई दाँतेदार पहियों के दांते एक-दूसरे से गुंथे और जुड़े होते हैं तथा बड़े पहिये की शक्ति से सब छोटे पहिये चलते रहते हैं, उसी प्रकार राज्य की शक्ति से उसकी सभी संस्थाएँ संचालित होती हैं।

राज्य का कार्य—इस प्रकार बोसांके ने राज्य के दो प्रकार के कार्य माने हैं: पहला कार्य जीवन के समूचे कार्यों का समुचित पथ-प्रदर्शन करना तथा कर्त्तव्य का ज्ञान कराना है और **दूसरा** कार्य मनुष्य को अपने निश्चित मार्ग पर बलपूर्वक चलाना है। जब हम अज्ञानवश या आलस्यवश अथवा अपनी स्वार्थपूर्ण इच्छाओं के कारण अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करते हैं, पथ-भ्रष्ट होते हैं, तो राज्य अपने दण्ड की

---

१. बोसांके—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २३६

शक्ति से हमें सचेत कर देता है कि हमें गलत रास्ते पर न चलकर, ठीक रास्ते से ही चलना चाहिए।

यह बात बोसांके के **दण्डविषयक सिद्धान्त** से भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है। ग्रीन ने इसे समाज-विरोधी शक्ति का विरोध करने वाली शक्ति माना था (देखिए ऊपर पृ० १६५), किन्तु बोसांके मनोविज्ञान के नवीन अनुसन्धानों के अनुसार अचेतन मन की महत्ता को स्वीकार करता हुआ यह मानता है कि दण्ड अपराधी को धक्का देकर सचेत करने का काम करता है, ताकि वह आगे से ऐसी भूल न करे। बार्कर ने इसे साइकल के उदाहरण से समझाया है।[1] कल्पना कीजिए एक व्यक्ति साइकल पर एक चौराहे से गुजरता है, यहाँ उसकी तनिक असावधानी के कारण एक दुर्घटना में उसे कोई चोट लगती है। इसका यह परिणाम होगा कि यह उसे भविष्य में इसका सदैव स्मरण कराती रहेगी कि वह उस चौराहे पर अपनी साइकल को बड़ी सावधानी से चलाए ताकि ऐसी दुर्घटना की पुनरावृत्ति न हो। जिस प्रकार दुर्घटना से लगी चोट से मिलने वाली शिक्षा उसके अचेतन मन का अंग बनकर उसे सचेत करती रहती है, इसी प्रकार राज्य के दण्ड से लगा हुआ धक्का उसे समाज-विरोधी अपराध करने से रोकता रहता है। मनुष्य इससे भविष्य में अपने कर्त्तव्य के प्रति अधिक सचेत और जागरूक हो जाता है।

दण्डविषयक इस विश्लेषण के आधार पर बोसांके दण्ड के विषय में पुराने तीनों सिद्धान्तों (देखिए ऊपर पृ० १६४-६५) को आंशिक रूप से सही मानता है। दण्ड देने में अपराधी से बदला लेने (Retributive), उसका सुधार करने (Reformative) तथा उसे भविष्य में अपराध से रोकने (Deterrent) के उद्देश्य मिले रहते हैं। दण्ड का वास्तविक उद्देश्य तो अधिकारों की रक्षा करना है, किन्तु दण्ड देकर अपराधी के मन में स्वाभाविक रूप से यह भावना उत्पन्न हो जाती है कि वह उसके दुष्कर्म का परिणाम है। यदि भविष्य में वह ऐसा बुरा काम करेगा तो उसे इस प्रकार का दण्ड भुगतना पड़ेगा। इसके परिणामस्वरूप वह भविष्य में अपराध करने से बचा रहता है और उसका सुधार हो जाता है।

राज्य की नैतिकता, युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध—बोसांके हेगल की भाँति राष्ट्रीय-राज्य (Nation-State) को सामाजिक संगठन का सर्वोच्च रूप मानता है। इसका कारण यह है कि किसी भी संस्था के लिए समान उद्देश्य से प्रेरित मनुष्यों के मनों का एक समूह (Group of Minds) तथा एक मौलिक विचार होना आवश्यक है (देखिए ऊपर पृ० २०६)। यह इस समय राष्ट्रीयता के कारण एकानुभूति रखने वाले राज्यों में ही दिखाई देता है, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हमें समस्त मानव-जाति का एक सामान्य प्रयोजन से संचालित होने वाला मन नहीं दिखाई देता है, अतः राज्य को ही सर्वोच्च संगठन माना जाना चाहिए। यदि राज्य को ऐसा संगठन मान लिया जाए तो हमें उसे समूची नैतिक व्यवस्था का संरक्षण करने वाला सर्वोपरि संगठन मानना पड़ेगा। इस दशा में राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में उचित अनुचित का विवेक करने वाली कोई

१. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ६२-६३

नैतिकता नहीं मानी जा सकती। पहले यह बताया जा चुका है कि ग्रीन ने इस सिद्धान्त को विश्व-भ्रातृत्व (Universal Brotherhood) के विचार के आधार पर नहीं माना है। किन्तु बोसांके निम्नलिखित युक्तिक्रम के आधार पर राज्य से ऊँची और बड़ी नैतिकता अस्वीकार करता है।

उसका यह कथन है कि **राज्य के कार्यों में तथा व्यक्ति के कार्यों** (Public and Private Acts) में भेद करना चाहिए, दोनों को नैतिकता के एक नपैने से नहीं नापा जा सकता। वस्तुतः राज्य साधारण नैतिकता के नियमों से ऊँचा उठा हुआ होता है, क्योंकि ये नियम उसी के द्वारा प्रचलित एवं संचालित किए जाते हैं। व्यक्ति की तथा राज्य की नैतिकता में अन्तर है। यदि व्यक्ति किसी की हत्या या हिंसा करता है तो वह अपराधी माना जाता है, किन्तु राज्य द्वारा दूसरे देश के साथ युद्ध में सैनिकों की हत्या को अपराध नहीं माना जाता है। इसी प्रकार राज्य युद्ध में नैतिकता के सभी नियमों को भंग करते हुए लूट-मार, छल, सन्धि-भंग, विश्वासघात आदि के बीसियों अनैतिक कार्य करता है, किन्तु राज्य को इनके लिए अपराधी नहीं ठहराया जाता, अपितु यह कहा जाता है कि युद्ध और प्रेम में किए जाने वाले सभी कार्य उचित होते हैं (All is fair in love and war)। इससे यह स्पष्ट है कि राज्य अपने कार्यों की नैतिकता स्वयमेव निश्चित करता है क्योंकि राज्य से अधिक ऊँचा या व्यापक कोई ऐसा संगठन नहीं है जो उसके लिए नैतिक नियम बना सके या आदर्श स्थापित कर सके। इस प्रकार राज्य नैतिक दृष्टि से पूर्णतया निरंकुश है, क्योंकि राज्य के सदस्यों पर लागू किए जाने वाले नैतिक नियमों से राज्य को कभी नहीं बाँधा जा सकता है। भले ही हमें यह स्थिति वांछनीय प्रतीत न हो, हम उसे हीन कोटि का विचार समझें, किन्तु इसकी सत्यता से इनकार नहीं किया जा सकता कि राज्य पर कोई दूसरी शक्ति नैतिक नियमों को लागू नहीं कर सकती। इस स्थिति को मान लेने पर राज्य को मनमाने ढंग से सभी कार्य करने, युद्ध छेड़ने आदि का अधिकार प्राप्त हो जाता है। राज्य दूसरे राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों को निश्चित करने में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है, अतः यदि किसी समय कोई राज्य अपने लिए यह आवश्यक समझता है कि उसे पड़ोसी देश पर हमला करना चाहिए या युद्ध छेड़ना चाहिए तो उसे वह अपनी इच्छानुसार कर सकता है। राज्यों से ऊपर कोई नैतिक नियम न मानना तथा इन्हें मनमाना कार्य करने की खुली छूट देना अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और शान्ति को तिलांजलि देना तथा अराजकता और लड़ाई को खुला निमन्त्रण देना है। बोसांके की यह विचारधारा ग्रीन की अपेक्षा हेगल के विचारों से अधिक गहरा सादृश्य रखती है।

ग्रीन तथा बोसांके की तुलना—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि बोसांके ने अपने गुरु ग्रीन की अपेक्षा हेगल के सिद्धान्तों का अधिक अनुसरण किया। इस दृष्टि से ग्रीन तथा बोसांके के विचारों की तुलना बड़ी रोचक है। उसने अपनी विचारधारा का आरम्भ ग्रीन के विचारों के अनुसरण से किया है, किन्तु इसका अन्त हेगल के सिद्धान्तों का प्रबल अनुयायी बनकर किया है। यह बात गुरु-शिष्य के विचारों की तुलना करने से तथा इन दोनों की समानता में भेद देखने से स्पष्ट हो जाएगी। **पहली** समानता

दोनों का यह विश्वास था कि राज्य मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति का पूर्ण विकास करने के लिए अतीव आवश्यक है, अतः यह एक प्राकृतिक (Natural) संगठन है। ये दोनों हॉब्स तथा लॉक के राज्यविषयक उस व्यक्तिवादी सिद्धान्त का खण्डन करते हैं जिसके अनुसार मनुष्य स्वभाव से आरम्भ में स्वतन्त्र और पृथक् रहने वाले प्राणी थे, उन्होंने बाद में एक समझौते द्वारा राज्य का निर्माण किया। राज्य इस प्रकार कृत्रिम रूप से बनाया गया संगठन है। **दूसरी** समानता राज्य को व्यक्तिवादी दार्शनिकों की भाँति व्यक्तियों का समूह मात्र न मानकर, एकानुभूति की भावना से ओत-प्रोत सजीव शरीर या अवयवी (Organism), मानना है। दोनों विचारक इसमें सामान्य इच्छा (General Will) को बहुत महत्व देते हैं। **तीसरी** समानता यह है कि दोनों व्यक्ति का प्रधान लक्ष्य आत्मा की उन्नति या नैतिक विकास मानते हैं।

यद्यपि ग्रीन और बोसांके—दोनों आदर्शवादी विचारक हैं, राज्य को नैतिक विकास की संस्था तथा साधन मानते हैं, फिर भी इन दोनों के सिद्धान्तों में कुछ मौलिक भेद हैं : **पहला** भेद ग्रीन का आदर्शवादी होते हुए भी व्यक्ति को महत्व देना, व्यक्तिवाद पर बल देना, व्यक्ति के विकास को तथा उसकी स्वतन्त्रता को गरिमा प्रदान करना है। ग्रीन के मतानुसार व्यक्ति का नैतिक विकास तथा आत्मा की उन्नति करना हमारा सबसे बड़ा लक्ष्य होना चाहिए, राज्य इसका साधन मात्र है। व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार अपना विकास करने की स्वाधीनता होनी चाहिए। यदि राज्य का कोई नियम व्यक्ति के विकास में बाधक हो तो वह विशेष दशाओं में व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार प्रदान करता है (देखिए ऊपर पृ० १९०–९४)। ग्रीन व्यक्ति को राज्य का विरोध इस आधार पर करने का अधिकार देता है कि कई बार व्यक्ति सामाजिक कल्याण के विषय में राज्य की अपेक्षा अधिक सही विचार रखता है, किन्तु बोसांके इससे सहमत नहीं है। उसका यह मत है कि मनुष्य अपनी स्वार्थ-बुद्धि एवं वासनाओं के कारण कभी ऐसा कोई विचार नहीं रख सकता जो समाज को राज्य के नियम की अपेक्षा अधिक लाभ पहुँचाने वाला हो; व्यक्ति अपने क्षुद्र स्वार्थों को राज्य के महान् हितों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण समझता है, अतः राज्य का विरोध कभी सही नहीं हो सकता। वह सदैव स्वार्थ-बुद्धि से राज्य का विरोध करेगा, उसे यह अधिकार कभी नहीं दिया जाना चाहिए। इसे न देने का दूसरा कारण यह भी था कि वह "राज्य को अधिकारों का एकमात्र व्यवस्थापक और नैतिक नियमों का संरक्षक" मानता था। इस कारण वह राज्य को इतना महत्वपूर्ण स्थान देता है कि व्यक्ति द्वारा राज्य के विरोध के अधिकार को सर्वथा नगण्य बना देता है।

दूसरा अन्तर बोसांके द्वारा राज्य के पृथक् व्यक्तित्व को 'सामूहिक मन' (Group Mind) के रूप में मानना है (ऊपर पृ० २०९)। ग्रीन इस सिद्धान्त को नहीं मानता, उसके अनुसार राज्य का निर्माण सामान्य इच्छा से होता है (ऊपर पृ० १८१–८२)। बोसांके प्रत्येक संस्था का एक मौलिक विचार या सामूहिक मन मानता है, इसमें सब व्यक्तियों की इच्छा के सामान्य अंश नहीं होते, अपितु ये सब मिलकर एक नया रूप धारण करते हैं और यह सामूहिक मन सामान्य इच्छा से उत्कृष्ट और श्रेष्ठ वस्तु है।

तीसरा अन्तर व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में है। ग्रीन राज्य को महत्वपूर्ण मानते हुए भी उसे साधन ही समझता है, साध्य नहीं; राज्य व्यक्ति के उत्तम जीवन तथा नैतिक विकास का साधन मात्र है। किन्तु बोसांके राज्य को साध्य तथा व्यक्ति को साधन समझता है। उसकी दृष्टि में राज्य उत्तम जीवन का साधन नहीं, किन्तु उसका साकार रूप है। पहले यह बताया जा चुका है कि बोसांके व्यक्ति के पृथक् व्यक्तित्व को महत्व न देकर उसे राज्य में विलीन कर देता है, इस प्रकार वह ग्रीन की अपेक्षा हेगल के अधिक निकट है। **चौथा** अन्तर राज्य के कार्यों का है। ग्रीन के मतानुसार राज्य का कार्य उत्तम जीवन के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना है। यह एक अभावात्मक या निषेधात्मक (Negative) कार्य है। बोसांके इसके सर्वथा विपरीत इसे भावात्मक (Positive) रूप में रखता है, उसके मतानुसार राज्य का कार्य आत्मोन्नति की बाधाओं का निराकरण ही नहीं, अपितु सब नागरिकों के सम्मुख उत्तम जीवन का एक चित्र प्रस्तुत करना, उन्हें इस मार्ग पर चलने की प्रेरणा करना तथा दण्ड की व्यवस्था द्वारा इसका पालन करने के लिए बाध्य करना है। यह बात उसके दण्ड-सम्बन्धी सिद्धान्त (ऊपर पृ० २१२) से स्पष्ट हो जाती है, आगे इसका विवेचन किया जाएगा।

पाँचवाँ अन्तर यह है कि ग्रीन के मतानुसार प्रत्येक राज्य का निर्माण सामान्य इच्छा से होता है, राज्य का सच्चा आधार बल नहीं, किन्तु इच्छा है (ऊपर पृ० १८२–८५)। अतः केवल संगठित बल के अथवा कोरी पाशविक शक्ति के आधार पर स्थापित किसी निरंकुश राज्य को वह आदर्श या सच्चा राज्य नहीं मानता है। वह केवल लोकतन्त्रात्मक प्रणाली के आधार पर स्थापित राज्यों को ही आदर्श मानता है। संसार में केवल शक्ति पर आधारित राज्यों को वह आदर्श न मानकर वास्तविक ही मानता है। बोसांके इस प्रकार आदर्श (Ideal) तथा वास्तविक (Real) राज्यों का कोई भेद नहीं मानता है, वह सभी राज्यों को सामान्य रूप से शक्ति पर आधारित निरंकुश राज्य मानता है।

छठा अन्तर दण्डविषयक सिद्धान्त के बारे में है। पहले इसे स्पष्ट किया जा चुका है। बोसांके ने ग्रीन की अपेक्षा दण्ड के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर अधिक बल दिया था। दण्ड केवल भावी अपराधों का निवारण या प्रतिकार करने वाला ही नहीं होता है, अपितु वह अपराधी के अचेतन मन पर गहरा प्रभाव डालकर उसका स्थायी सुधार करता है और भविष्य में उसे अपराध करने से रोकता है। **सातवाँ** भेद नैतिकता के बारे में है, ग्रीन के मतानुसार राज्य नैतिक नियमों से बँधे हुए हैं, ये नियम राज्य से ऊपर हैं, किन्तु बोसांके राज्य को नैतिकता से ऊँचा तथा इसके बन्धनों से सर्वथा स्वतन्त्र मानता है। **आठवाँ** अन्तर युद्धविषयक है। ग्रीन युद्ध का कट्टर विरोधी है, क्योंकि यह व्यक्ति को उसके जीने के अधिकार से वंचित कर देता है, किन्तु बोसांके इससे असहमत है। वह राज्य के कार्यों को व्यक्ति के कार्यों से सर्वथा भिन्न नपैनों या मानदण्डों से नापता है। ग्रीन युद्ध को किसी दिशा में उचित नहीं समझता, किन्तु बोसांके राज्य द्वारा किए गए प्रत्येक युद्ध को न्यायोचित समझता है। **नवाँ** अन्तर अन्तर्राष्ट्रीय कानून और व्यवस्था के विषय में है। ग्रीन

सब व्यक्तियों को शाश्वत चैतन्य या भगवान् का अंश मानकर सब मनुष्यों के एक-दूसरे का भाई होने की तथा विश्व-बन्धुत्व (Universal Brotherhood) की कल्पना करता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कुछ नैतिक नियमों की सत्ता मानता है और राज्यों से इनके पालन की अपेक्षा करता है। किन्तु बोसांके राष्ट्रीय-राज्य को ही सबसे ऊँचा संगठन मानता है, उसे इच्छानुसार कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता प्रदान करके अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता को खुली छूट देता है।

बोसांके तथा हेगल—उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि बोसांके ने कई बातों में अपने गुरु ग्रीन की अपेक्षा हेगल का अधिक अनुसरण किया है। वह हेगल की भाँति राज्य को अत्यधिक महत्व प्रदान करता है, उसे सर्वथा निरंकुश बनाता है, व्यक्ति के हितों को राज्य के लिए बलिदान कर देता है; युद्ध एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में भी उसके विचार ग्रीन की अपेक्षा हेगल की ओर अधिक झुके हुए प्रतीत होते हैं। फिर भी, वह इंगलिश वातावरण और परम्परा में पला होने के कारण युद्ध का और अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का हेगल की भाँति उग्र एवं अन्धभक्त नहीं था। उसने 'राज्य के दार्शनिक सिद्धान्त' के दूसरे संस्करण की भूमिका में राष्ट्रसंघ के प्रति विश्वास की भावना प्रकट की है।[1]

ब्रैडली (१८४६-१९२४)

फ्रांसिस हर्बर्ट ब्रैडली वैस्ट मिन्स्टर के एक उच्च पादरी (Dean) का पुत्र, आक्सफोर्ड में प्रशिक्षित और वहाँ अध्यापन कराने वाला तथा हेगल का उग्र समर्थन करने वाला दार्शनिक था। उसने अपने राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन **नैतिक अध्ययन** (Ethical Studies) में प्रकाशित 'मेरा स्थान और उसके कर्त्तव्य' (My Station and Its Duties) नामक निबन्ध में किया है। इसके अनुसार समाज में प्रत्येक व्यक्ति का एक निश्चित स्थान होता है, यह कुछ तो उसकी परिस्थितियों से निश्चित होता है तथा कुछ स्वतन्त्रतापूर्वक चुने गए कार्यों द्वारा। किन्तु जब एक बार समाज में मनुष्य का स्थान निर्धारित हो जाए तो उसे उस स्थान से सम्बन्ध रखने वाले सभी कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए। इसी में व्यक्ति एवं समाज—दोनों का कल्याण निहित है। ब्रैडली प्लेटो की भाँति समाज को बहुत महत्व देता था और यह मानता था कि मनुष्य का सम्पूर्ण विकास समाज के द्वारा ही होता है।

ब्रैडली राज्य को एक नैतिक प्राणी या अवयवी (Moral Organism) मानता है। राज्य दो दृष्टियों से नैतिक है—(१) वह नैतिक उन्नति की आकांक्षा रखने वाले तथा उसके लिए प्रयत्न करने वाले मनुष्यों का समुदाय है। (२) वह इसलिए भी नैतिक है कि मनुष्य के नैतिक विकास और उन्नति का प्रधान साधन है। राज्य एक जीवित प्राणी के सजीव शरीर (Organism) की भाँति है, जिस प्रकार सारे शरीर में एक चेतना होती है, इसका एक बाह्य रूप या शरीर और आत्मा होती है, उसी प्रकार राज्य में एक सामान्य इच्छा (General Will) होती है, अनेक अंग तथा इसकी

१. बोसांके—पूर्वोक्त पुस्तक, दूसरे संस्करण की भूमिका, पृ० ५६

एक अपनी आत्मा होती है। इसके विभिन्न अंग पुलिस, न्याय आदि के विभाग यह जानते हैं कि उन्हें क्या कार्य करना है, राज्य की समष्टि में उनका क्या स्थान है। अतः बार्कर के शब्दों में ऐसा ज्ञान और इच्छा रखने वाले अपने अंगों के कारण राज्य स्वचेतनायुक्त (Self-conscious) तथा स्वेच्छापूर्वक कार्य करने वाला (Self-Willing) है। ब्रैडली का यह विचार हेगल के इस विचार से अधिक मेल खाता है कि राज्य एक 'आत्मचेतनासम्पन्न' नैतिक पदार्थ और आत्मज्ञानी (Self-knowing) तथा आत्मा के वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करने वाला व्यक्ति (Self-actualising individual) है। इसकी इच्छा और ज्ञान राज्य में रहने वाले मनुष्यों की इच्छा और ज्ञान हैं। नैतिक प्राणी के रूप में राज्य का एक सामान्य प्रयोजन सब मनुष्यों की नैतिक उन्नति करना है। ब्रैडली हेगल की भाँति राज्य को सर्वशक्तिमान् मानता है और जीवन के सभी पहलुओं पर तथा विभिन्न सामाजिक संस्थाओं पर राज्य का पूरा नियन्त्रण स्थापित करता है। वस्तुतः ब्रैडली हेगल का कट्टर अनुयायी था। उसने अपने ग्रन्थ 'नैतिक अध्ययन' (Ethical Studies) में हेगल की पुस्तकों से लम्बे-लम्बे उद्धरण दिए हैं।

ब्रैडली का ग्रीन और बोसांके की अपेक्षा ब्रिटिश जनता पर कम प्रभाव पड़ा, क्योंकि उसने १८७६ के बाद अपनी उपर्युक्त पुस्तक को दुबारा इसलिए नहीं छपवाया था कि इसमें उसके अपरिपक्व विचार थे। उसके ग्रन्थ प्रकाशित न होने के कारण उसके सिद्धान्तों का प्रचार बहुत कम हुआ, उसे विशेष प्रसिद्धि नहीं मिली। यह कहा जाता है कि ७६ वर्ष की आयु होने पर जब लार्ड हाल्डेन ने उसका नाम इस बात के लिए प्रस्तावित किया कि उसे ब्रिटिश सम्राट् द्वारा योग्यतम व्यक्तियों को दी जाने वाली 'आर्डर ऑफ मैरिट' (Order of Merit) की उपाधि से सम्मानित किया जाए तो तत्कालीन प्रधानमन्त्री लायड जार्ज ने तथा ब्रिटिश सम्राट् जार्ज पंचम ने इस पर आश्चर्य प्रकट किया, क्योंकि उन्होंने ब्रैडली का नाम इससे पहले कभी नहीं सुना था।[1]

आदर्शवाद का प्रभाव—इंगलैण्ड में आदर्शवादी विचारकों का सबसे बड़ा प्रभाव व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति को क्षीण करना तथा समष्टिवाद (Collectivism) को पुष्ट करना था। समष्टिवाद ने इसके प्रभाव से शनैः-शनैः राजकीय समाजवाद (State Socialism) का रूप धारण किया तथा उत्पत्ति, वितरण और विनिमय के साधनों के राष्ट्रीयकरण पर बल दिया जाने लगा। इससे राज्य के कार्यों में असाधारण वृद्धि होने लगी। आदर्शवाद ने राज्य को व्यक्ति से ऊँचा स्थान दिया तथा पूँजीवाद का समर्थन करते हुए विशेषाधिकार रखने वाले सम्पत्तिशाली वर्ग का समर्थन किया। इसने राष्ट्रीय भावना एवं अहंकार को उद्दीप्त करते हुए सैनिकवाद और साम्राज्यवाद की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया। किन्तु इसके साथ ही आदर्शवाद ने राज्य को बहुत ऊँचा स्थान देकर इसके विरुद्ध कई प्रतिक्रियाएँ भी उत्पन्न कीं। सर्वशक्तिशाली राज्य का प्रतिवाद करने के लिए तथा राज्य की सत्ता के विभाजन पर बल देने वाले श्रमिक संघवाद (Syndicalism), श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism) तथा

---

१. कार्टलिन—ए हिस्टरी आफ दी पोलिटिकल फिलासफर्स, पृ० ५१४

प्रभुसत्ता के बहुलवादी (Pluralistic) सिद्धान्त का जन्म हुआ।[1]

आदर्शवाद की आलोचना—हावहाउस, जोड, लास्की तथा अन्य अनेक विद्वानों ने कई दृष्टिकोणों से इस पर प्रवल आक्षेप करते हुए इसकी बड़ी तीव्र आलोचना की है। इनमें से कुछ आलोचनाएँ अतिरंजित, अतिशयोक्तिपूर्ण और अयथार्थ भी हैं, इस पर किए जाने वाले कुछ आक्षेपों का पहले उल्लेख भी किया जा चुका है। अतः यहाँ संक्षेप से ही कुछ प्रमुख आक्षेपों का आलोचनात्मक वर्णन किया जायगा। **पहला** आक्षेप आदर्शवाद के सिद्धान्तों का सर्वथा काल्पनिक और अयथार्थ होना है। यह कहा जाता है कि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले विचारक स्वप्नलोक में अथवा कल्पना-जगत् में विहार करने वाले हैं, वे प्रत्येक नागरिक की नैतिक इच्छा के सहयोग से स्थापित होने पर जिस राज्य का वर्णन करते हैं वह प्लेटो के आदर्श राज्य की भाँति स्वर्गलोक में सम्भव हो सकता है, किन्तु इस भूतल पर हमें प्रत्यक्ष रूप से कहीं नहीं दिखाई देता है। इस आलोचना में सत्य का कुछ अंश अवश्य है, फिर भी यह बात पूरी तरह सही नहीं प्रतीत होती। बार्कर ने इस आक्षेप का सुन्दर उत्तर देते हुए यह लिखा है[2] कि किसी वस्तु का अध्ययन करते हुए हमें उसके सर्वोत्तम रूप को देखना चाहिए, तभी हम उसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त नीतिशास्त्र की भाँति राजनीतिशास्त्र में भी आदर्श स्थिति का वर्णन किया जाना चाहिए। सिजविक ने लिखा है कि राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का विषय प्रधान रूप से सभ्य समाज के वे सम्बन्ध हैं जिन्हें इसमें **स्थापित किया जाना चाहिए**। इस दृष्टि से यदि आदर्शवादी आदर्श राज्य का वर्णन करते हैं तो यथार्थ स्थिति से दूर होने पर भी यह ठीक ही है। **दूसरा** आक्षेप आदर्शवाद का सुधार-विरोधी तथा प्रतिक्रियावादी होना है। यह वस्तुतः समाज के आगे कोई नवीन आदर्श नहीं रखता, अपितु वर्तमान वस्तु-स्थिति को तथा दोषपूर्ण समाज को ही अपने अनोखे तर्कों द्वारा आदर्श सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। अरस्तू ने दास-प्रथा को न्यायोचित सिद्ध किया, हेगल ने प्रशिया के निरंकुश जर्मन राजतन्त्र को सर्वोत्तम राज्य बताया, ग्रीन ने पूंजीवाद के गुण गाए (ऊपर पृ० १९९–२००)। दोषपूर्ण सामाजिक व्यवस्थाओं को आदर्श सिद्ध करने का यह दुष्परिणाम होता है कि इनकी त्रुटियों की ओर से हमारी दृष्टि हट जाती है, सुधार करने की भावना का उत्साह मन्द पड़ जाता है। इसलिए हाबसन ने लिखा है कि "आदर्शवाद रूढ़िवाद का पोषण करने वाली एक चाल मात्र (The tactics of conservatism) है।" इस आक्षेप के विषय में यह भी कहा जा सकता है कि आदर्श-वादी विचारक राज्यविषयक अपने आध्यात्मिक तत्व-चिन्तन में इतने तल्लीन रहते हैं कि उन्हें समाज की बुराइयों को देखने की तथा इनका संशोधन करने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती है। किन्तु यह आक्षेप भी यथार्थ नहीं प्रतीत होता है। इसका **पहला** कारण तो यह है कि आदर्शवादी कल्पनालोक में ऊँचे उड़ने पर भी अपने पाँव धरती पर ही रखते हैं और वे समाज में सुव्यवस्था बनाए रखने की दृष्टि से उसके

१. गैटल—हिस्टरी आफ पोलिटिकल थाट, पृ० ३२४
२. बार्कर—पोलिटिकल थाट इन इंगलैण्ड, पृ० ६६-७

मौलिक ग्राधारों पर कुठाराघात नहीं करते हैं। ग्ररस्तू यह जानता था कि दास-प्रथा यूनानी समाज का ग्राधार है, उसके विरोध से समाज में भीषण ग्रव्यवस्था उत्पन्न होगी, ग्रतः उसने उसका समर्थन किया। हेगल जर्मनी के एकीकरण के लिए सुदृढ़ एवं शक्तिशाली राजतन्त्र की ग्रावश्यकता समझता था, ग्रतः उसने प्रशिया के राजतन्त्र के गुण गाए। ग्रीन के समय का समाज पूँजी पर ग्राधारित था ग्रौर इसके कारण उद्योगों का ग्रभूतपूर्व विकास हो रहा था, ग्रतः उसने पूँजीवाद का पोषण किया। **दूसरा** कारण यह है कि ग्रादर्शवादी समाज की बुराइयों पर ग्रधिक ध्यान न देकर इनके मौलिक कारण का संशोधन करना चाहते हैं। उनका यह कहना है कि सब बुराइयों का मूल मनुष्य की ग्रासुरी तथा पाशविक प्रवृत्तियाँ हैं, इनका दमन करते हुए यदि मनुष्यों की नैतिक उन्नति की ग्रोर ध्यान दिया जाए तो समाज की सब बुराइयाँ स्वयमेव दूर हो जाएँगी। मौलिक परिस्थितियों में सच्चे ग्रौर स्थायी सुधार तभी हो सकते हैं जब मनुष्यों का ग्राध्यात्मिक उत्थान एवं उन्नति हो। इससे यह स्पष्ट है कि उन पर सुधार-विरोधी होने का ग्राक्षेप लगाना उचित नहीं है।

तीसरा ग्राक्षेप ग्रादर्शवादियों का बौद्धिकता (Intellectualism) पर ग्रत्यधिक बल देना है। वे राज्य को बुद्धि (Reason) का ग्रौर बुद्धिपूर्वक संचालित इच्छा (Will) का परिणाम मानते हैं। सामान्य इच्छा, वास्तविक इच्छा, स्वतन्त्र इच्छा ग्रादर्शवाद के मौलिक तत्व हैं, ये सभी मनुष्यों के विवेक तथा बुद्धि पर ग्राश्रित हैं। ग्रादर्शवादियों के मतानुसार बुद्धिसंगत (Rational) ग्रौर तर्कसंगत कार्य ही होने चाहिएँ। उनका राज्यविषयक समूचा चिन्तन बुद्धिवाद पर ग्राधारित है। यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि जब हम मनुष्य के जीवन पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें यह प्रतीत होता है कि बुद्धि ग्रौर इच्छा उसके जीवन का एक छोटा-सा ग्रंश मात्र है। उसके जीवन में मनोविज्ञान ग्रौर प्राणिशास्त्र के भी ग्रनेक ग्रावश्यक तत्व हैं, ग्रादर्शवाद इनकी घोर उपेक्षा करता है। वस्तुतः मनुष्य बुद्धि द्वारा बहुत कम तथा मनोभावनाग्रों द्वारा ग्रत्यधिक प्रेरित होता है। मनुष्य के ग्रधिकांश कार्य—काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष, ईर्ष्या ग्रादि बुद्धि-विरोधी मनोभावनाग्रों से होते हैं ; मनोवैज्ञानिकों ने यह बताया है कि मनुष्य का ग्रचेतन मन (Sub-conscious Mind) उसके कार्यों पर गहरा प्रभाव डालता है। ग्रतः मैक्डूगल ग्रौर ग्राहम वालास जैसे विचारक मनोवैज्ञानिक तत्वों को महत्वपूर्ण मानते हैं ग्रौर यह कहते हैं कि मनुष्य ग्रपने राजनीतिक कार्यों में—मतदान ग्रादि में उचित-ग्रनुचित का, देश के हानि-लाभ का बुद्धिपूर्वक विचार करके कार्य नहीं करते हैं, ग्रपितु बिरादरी, मित्रता एवं प्रचार के कारण तथा ग्रनुकरण ग्रादि के मानसिक उद्वेगों से प्रभावित होकर वोट देते हैं। ग्रतः मनुष्य के राजनीतिक कार्य बुद्धि द्वारा निश्चित न होकर, ग्रबौद्धिक तत्वों, मनोवेगों (Emotions), वासनाग्रों (Passions), प्रवृत्तियों (Impulses) से निश्चित होते हैं। इस दशा में ग्रादर्शवाद का बुद्धिवाद पर बल देना एकांगी ग्रौर दोषपूर्ण है, क्योंकि वह मानव-स्वभाव का निर्माण करने वाले एक छोटे तत्व—बुद्धि को उसकी समूची क्रियाग्रों का मूल प्रेरणा-स्रोत मानता है।

आदर्शवाद की यह आलोचना भी यथार्थ नहीं है। बार्कर ने लिखा है कि जब आदर्शवादी यह कहता है कि राज्य बुद्धि और इच्छा का परिणाम है तो इसका यह अर्थ कभी नहीं होता है कि मनुष्य ने किसी ऐतिहासिक युग में अपनी बुद्धि का उपयोग करते हुए गम्भीर चिन्तन से और इच्छा-शक्ति द्वारा राज्यविषयक विभिन्न संस्थाओं का निर्माण किया है। ऐसा आज तक कभी नहीं हुआ है और न ही ऐसा होने की सम्भावना है। उसका इन्हें बुद्धि का परिणाम कहने का केवल यही अभिप्राय होता है कि यदि हम इन संस्थाओं के विकास पर तथा इनसे उत्पन्न होने वाले परिणामों पर दृष्टिपात करें तो हमें यह प्रतीत होगा कि हम इनकी बुद्धिसंगत (Rational) व्याख्या कर सकते हैं। इसका यह अर्थ है कि इनका विकास ऐसे उद्देश्यों के लिए हुआ है जिन्हें हमारी बुद्धि पसन्द करती है; कोई ऐसा विकास नहीं हुआ जिसे हमारी बुद्धि पसन्द नहीं करती थी। अतः मनुष्य के समूचे विकास में उसे सुव्यवस्थित बनाने के लिए बुद्धि का तत्व सदैव विद्यमान रहा। यदि ऐसा न होता तो समाज में बड़ी गड़बड़ और अव्यवस्था मची रहती। इसके अतिरिक्त, आदर्शवादी यह भी नहीं कहते हैं कि वर्तमान युग में मनुष्य अपने सभी राजनीतिक कार्य भली-भाँति सोच-विचारकर ही (Conscious Reason) करता है। उसके प्रायः सभी कार्य उसकी आदत और अनुकरण के आधार पर होते हैं। आदर्शवादी द्वारा इन्हें बुद्धिसंगत (Rational) कहने का अभिप्राय यह है कि इनकी बुद्धिसंगत व्याख्या (Rational explanation) हो सकती है। इसका यह अभिप्राय है कि वह अपनी बुद्धि से यह बता सकता है कि मनुष्य ये राजनीतिक कार्य किन भावनाओं से प्रेरित होकर करते हैं।[1]

चौथा आक्षेप आदर्शवादियों द्वारा राज्य को सर्वोपरि, सर्वोच्च तथा निरंकुश सत्ता बना देना, अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता को उत्पन्न करना तथा साम्यवाद, नाज़ीवाद और फासिज़्म जैसी अलोकतन्त्रीय तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता-विरोधी तानाशाही विचार-धाराओं को जन्म देता है। इसलिए आदर्शवाद समाज के लिए अतीव हानिप्रद और भयावह सिद्धान्त कहा जाता है। यह कहा जाता है कि इसने राज्य को असाधारण गरिमा प्रदान करके उसे निरंकुश शासन के असीम अधिकार प्रदान किए। इसीलिए जोड ने लिखा है कि आदर्शवाद सैद्धान्तिक दृष्टि से निस्सार और असत्य है। इसकी आड़ में वर्तमान राज्य अपने अनैतिक कार्यों को न्यायोचित सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु यह आक्षेप सभी आदर्शवादियों पर लागू नहीं होता है। यह हेगल और बोसांके के लिए भले ही सत्य हो, ग्रीन के लिए सत्य नहीं है; उसने व्यक्ति को साध्य तथा राज्य को उसकी नैतिक उन्नति का साधन माना है, युद्ध का प्रबल विरोध किया है (ऊपर पृ० १६७), अन्तर्राष्ट्रीय कानून का समर्थन किया है। उस पर यह आरोप लगाना ठीक नहीं है।

आदर्शवाद की देन—इसके दोषों को देखने के साथ ही हमें इसकी महत्वपूर्ण देनों को भी दृष्टि में रखना चाहिए। **पहली** देन राज्य को मनुष्य की उन्नति के लिए एक प्राकृतिक और स्वाभाविक संगठन मानना था। इससे पहले राजनीतिक चिन्तन

१. बार्कर– पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ६६

के क्षेत्र में इसे अत्यन्त प्राचीन काल में सब मनुष्यों में हुए एक समझौते या अनुबन्ध (Contract) द्वारा बनाया गया कृत्रिम संगठन माना जाता था। हॉब्स, लॉक, रूसो यही सिद्धान्त मानते थे। इसके अनुसार व्यक्ति को सर्वोच्च स्थान मिला था और राज्य को गौण स्थान प्राप्त हुआ था। किन्तु आदर्शवाद ने इसे मनुष्य के विकास के लिए आवश्यक मानते हुए एक प्राकृतिक संस्था माना, राज्य को ऊँचा स्थान दिया और यह कहा कि राज्य के बिना व्यक्ति अपना यथार्थ रूप नहीं प्राप्त कर सकता है। **दूसरी** देन राज्य और व्यक्ति के सम्बन्ध का यथार्थ निरूपण था। इससे पहले उपयोगितावादी और व्यक्तिवादी राज्य को व्यक्तियों का समूह मात्र मानते थे, इसने इनमें अंगांगीभाव अथवा अवयवायवी (Organic) सम्बन्ध माना; जिस प्रकार शरीर का तथा उसके हाथ-पैर आदि अंगों का घनिष्ठ सम्बन्ध है, वैसा ही सम्बन्ध राज्य में तथा उसका निर्माण करने वाले व्यक्तियों में माना गया। **तीसरी** देन राजनीतिशास्त्र का आचारशास्त्र के साथ गहरा सम्बन्ध स्थापित करना था। इससे पहले उपयोगितावादी भौतिक सुखों की प्राप्ति को तथा भौतिक प्रगति को महत्वपूर्ण मानते थे। आदर्शवादियों ने मनुष्य के नैतिक विकास को राज्य का लक्ष्य बनाया (ऊपर पृ० १८७)। **चौथी** देन भावात्मक स्वतन्त्रता (Positive Liberty) का प्रतिपादन था (देखिए ऊपर पृ० १७४)। इससे पहले व्यक्तिवादी अभावात्मक (Negative) स्वतन्त्रता को ही आदर्श समझते थे। **पाँचवीं** देन जनहित के कार्यों में राज्य के हस्तक्षेप को बढ़ाना तथा समाजवाद की तथा जनकल्याणकारी राज्य (Welfare State) की भावना को जन्म देना था (ऊपर पृ० १९०)। इससे पहले उपयोगितावादी इस बात पर बल देते थे कि राज्य को कम-से-कम कार्य करने चाहिएँ, मनुष्य का पूरा विकास तभी हो सकता है जब राज्य उस पर कम-से-कम प्रतिबन्ध लगाए और न्यूनतम कानून बनाए, वह अहस्तक्षेप (Laissez faire) की नीति अपनाए। ग्रीन ने इस बात पर बल दिया कि राज्य को मनुष्य के नैतिक विकास के मार्ग में आने वाली सभी बाधाओं को दूर करना चाहिए और इसके लिए सभी प्रकार के कानून बनाने चाहिएँ, इसने इंगलैण्ड में तथा अन्यत्र समाजवाद के तथा जन-कल्याणकारी राज्य के विचार का पोषण किया।

सातवाँ अध्याय

वैज्ञानिक सम्प्रदाय

स्पेन्सर और हक्सली

वैज्ञानिक सम्प्रदाय का आविर्भाव—आदर्शवादियों ने राज्य का अध्ययन बुद्धिवाद के आधार पर किया था; किन्तु १६वीं शताब्दी में विज्ञान की अभूतपूर्व उन्नति होने के साथ-साथ इस बात की प्रवृत्ति बढ़ रही थी कि राजनीतिशास्त्र आदि विभिन्न सामाजिक विषयों का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति से किया जाए। इसका यह आशय था कि किसी विषय से सम्बद्ध सभी तथ्यों का निष्पक्ष भाव से निरीक्षण, संकलन और वर्गीकरण करके इन्हें सुव्यवस्थित किया जाए और इनमें कार्य करने वाले नियमों की वैज्ञानिक नियमों की भाँति खोज की जाए। फ्रांस में इस प्रवृत्ति के प्रवर्तक आगस्त कोम्त (Auguste Comte) नामक विचारक थे। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि जिस प्रकार भौतिक जगत् की घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करके उनके बारे में नियमों की खोज की जाती है, वैसे ही सामाजिक घटनाओं के नियमों का वैज्ञानिक अन्वेषण होना चाहिए। कोम्त ने १८३० से ४२ तक प्रकाशित होने वाले अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'Positive Philosophy' के पाँच खण्डों में तथा १८५१ से ५४ के बीच में छपने वाले 'Positive Polity' के चार खण्डों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रबल समर्थन करते हुए यह मत प्रतिपादित किया कि चूँकि हमारा समूचा वास्तविक ज्ञान इन्द्रियजन्य अनुभवों पर आश्रित है, इसे केवल निरीक्षण और परीक्षण की पद्धति से जाना जा सकता है; अतः हमें बुद्धि द्वारा आध्यात्मिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के सब प्रयासों को छोड़कर, विभिन्न विज्ञानों में अनुसरण की जाने वाली विधियों से ही सुनिश्चित एवं प्रत्यक्ष तथ्यों (Positive facts) का ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इस जगत् की आत्मिक सत्ताओं अथवा तत्वों का ज्ञान प्राप्त करने के अध्यात्मशास्त्र के प्रयत्न को तिलांजलि देनी चाहिए, क्योंकि परब्रह्म आदि के तत्व अज्ञेय हैं, इनका अन्वेषण मृगमरीचिका के समान है। इसी को **प्रत्यक्षवादी दर्शन** (Positive Philosophy) अथवा **प्रत्यक्षवाद** (Positivism) कहते हैं। इसके प्रभाव से राजनीतिशास्त्र का अध्ययन भी वैज्ञानिक विधियों से किया जाने लगा। इंगलैण्ड में हर्बर्ट स्पेन्सर ने प्राणिशास्त्र की दृष्टि से तथा ग्राहम वालास और मैक्डूगल ने मनोविज्ञान की दृष्टि से राज्यशास्त्र की समस्याओं का विवेचन किया। यहाँ पहले स्पेन्सर के विचारों का प्रतिपादन किया जाएगा, क्योंकि १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्पेन्सर उस समय के समस्त ज्ञान-विज्ञान का मन्थन और सामंजस्य करके उसके मौलिक नियमों की खोज करने वाला एक महान् दार्शनिक माना जाता था। मैक्सी ने इसे विक्टोरिया-कालीन इंगलैण्ड का तथा सं० रा० अमरीका का अरस्तू तथा अपने जीवन में सबसे

अधिक प्रभाव डालने वाला विचारक कहा है।[1]

स्पेन्सर की जीवनी—हर्बर्ट स्पेन्सर ने इंगलिश चर्च से विभिन्न धार्मिक मत रखने वाले (Non-conformist dissenter) एक अत्यन्त निर्धन तथा अध्यापन-वृत्ति से निर्वाह करने वाले वंश में डर्बी नामक स्थान में जन्म लिया। वह बड़ा आलसी और पिता का लाड़ला बेटा था। अतः यह महान् दार्शनिक ४० वर्ष तक लगभग अशिक्षित ही बना रहा। उसने किसी स्कूल या कालेज में नियमित रूप से शिक्षा नहीं प्राप्त की।[2] पिता ने उसे पढ़ाने के लिए डर्बी से उसके चाचा के पास हिण्टन नामक स्थान पर भेजा, किन्तु वह वहाँ से घर भाग आया। उसने अपनी आत्मकथा में बड़े अभिमान से लिखा है—"बचपन में और जवानी में मैंने इंगलिश भाषा का एक भी पाठ नहीं पढ़ा है, मुझे वाक्यविज्ञान (Syntax) की अब तक कोई नियमित शिक्षा नहीं मिली है।" इस महान् दार्शनिक ने ३० वर्ष की आयु तक दर्शन की एक भी पुस्तक नहीं पढ़ी थी, इसके बाद उसने काण्ट का एक ग्रन्थ पढ़ना शुरू किया, इसमें ज्योंही उसे यह पता चला कि काण्ट देश और काल को वास्तविक (Objective) सत्ताएँ न मानकर इन्द्रियजन्य ज्ञान (sense perception) का रूप मानता है तो उसको यह विश्वास हो गया कि काण्ट मूर्ख है और उसने उसकी पुस्तक एक ओर फेंक दी।[3] उसने दूसरे व्यक्तियों द्वारा लिखी गई बहुत ही कम पुस्तकें पढ़कर अपने भारी-भरकम ग्रन्थ लिखे हैं। बिना पढ़े इतने अधिक ग्रन्थ लिखने का रहस्य यह था कि उसमें जिज्ञासावृत्ति सदैव जागरूक रहती थी, वह अपनी चारों ओर की घटनाओं का सूक्ष्म निरीक्षण करता रहता था, उसमें अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए आवश्यक सामग्री संकलन करने का विलक्षण सामर्थ्य था। उसका मस्तिष्क अपेक्षित सामग्री एकत्र करने के लिए एक अद्भुत चुम्बक का कार्य करता था, इससे वह अपने विचारों और मन्तव्यों के समर्थन के लिए सभी क्षेत्रों से झटपट प्रमाण संगृहीत कर लेता था। इसी कारण वह अपने समय के समूचे ज्ञान-विज्ञान का विस्तृत वर्गीकरण और समन्वय करने में समर्थ हुआ।

उसे बचपन से पढ़ाई-लिखाई में कोई रुचि न होने पर भी इंजीनियरी का—विभिन्न प्रकार के यन्त्र बनाने और आविष्कार करने का शौक था। उसने अपनी आत्मकथा में इन आविष्कारों का बड़े विस्तार से वर्णन किया है, दुर्भाग्यवश इनमें से कोई भी आविष्कार सफल सिद्ध नहीं हुआ। किन्तु अपनी इस प्रवृत्ति के कारण १७ वर्ष की छोटी आयु में उसे लन्दन-बिर्मिंघम रेलवे कम्पनी में इंजीनियर का काम मिल गया। इसके बाद उसे लेख लिखने का शौक चढ़ा; कुछ समय बाद राजनीतिक कारणों से रेल कम्पनी के बन्द हो जाने पर जब उसे इंजीनियर की नौकरी से छुट्टी मिली तो वह लेखन-कार्य का सुअवसर मिलने के कारण परम प्रसन्न हुआ। १८४८ में २७ वर्ष की आयु में वह उस समय के सुप्रसिद्ध पत्र 'इकनामिस्ट' का उपसम्पादक बना, यहाँ

---

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० ५५५

२. विल ड्यूरैण्ट—स्टोरी आफ फिलासफी, पृ० ३८६

३. वही पुस्तक, पृ० ३८७

उसका सम्पर्क उस समय के प्रसिद्ध विद्वानों और वैज्ञानिकों—हक्सली, टिण्डल, न्यूमैन, इलियट आदि से हुआ, इनका उसके विचारों पर गहरा प्रभाव पड़ा। कुछ समय बाद अपने चाचा की मृत्यु होने पर उसे विरासत में कुछ सम्पत्ति मिली। उसने यह निश्चय किया कि वह स्वतन्त्र रूप से लेखन-कार्य ही करेगा और १८५३ में उसने 'इकनामिस्ट' के उपसम्पादक के पद से त्यागपत्र दे दिया।

इस समय तक वह अपने लेखों और पुस्तकों से कुछ प्रसिद्ध हो चुका था। १८४२ में उसने 'शासन का समुचित क्षेत्र' (Proper Sphere of Government) पर 'नान-कन्फर्मिस्ट' (Non-Conformist) नामक पत्र में उग्र व्यष्टिवाद का समर्थन करने वाले कुछ निबन्ध लिखे, २२ वर्ष की अवस्था में प्रकट किए गए इन विचारों के साथ वह अपनी मृत्यु-पर्यन्त अगले ६० वर्ष तक चिपटा रहा। तीस वर्ष की आयु में उसने 'सामाजिक स्थितिविज्ञान' (Social Statics) नामक पहला महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। १८५२ में 'जनसंख्या के सिद्धान्त' पर एक निबन्ध में उसने डार्विन द्वारा जीवशास्त्र के क्षेत्र में विकासवाद का प्रतिपादन करने से छः वर्ष पहले इस सिद्धान्त का विवेचन करते हुए यह बताया कि जीवन-संघर्ष में योग्यतम की विजय (Survival of the fittest) होती है। १८५५ में उसने अपनी दूसरी पुस्तक 'मनोविज्ञान के सिद्धान्त' (Principles of Psychology) में मन के विकास का प्रतिपादन किया। १८५७ में 'प्रगति के नियम और कारण' (Progress, its Law and Cause) में उसने इतिहास में विकासवाद के नियम को लागू किया। १८५८ में अपने पुराने निबन्धों का नवीन संस्करण के लिए संशोधन करते समय उसे यह विचार सूझा कि ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में—नीहारिका (Nebula) से मनुष्य तक, जंगली जातियों से शेक्सपीयर तक के विकास को प्रदर्शित करने के लिए, समूचे ज्ञान-विज्ञान को एक सूत्र में आबद्ध करने के लिए तथा एक नवीन दर्शन का प्रतिपादन करने के लिए वह एक ग्रन्थमाला लिखे, इसमें भूगर्भशास्त्र, प्राणिशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीतिशास्त्र, इतिहास आदि सभी विषयों का विकासवाद के आधार पर विवेचन किया जाए तथा एक नवीन समन्वयात्मक दर्शन (Synthetic Philosophy) का निर्माण किया जाए।

किन्तु इस महान् उद्देश्य की पूर्ति में दो बड़ी बाधाएँ थीं : पहली बाधा स्पेन्सर का शोचनीय स्वास्थ्य था। इस समय वह ३८ वर्ष का हो चुका था तथा अनेक भीषण रोगों से पीड़ित था। उसे नींद न आने की बीमारी थी, सिर में भयंकर दर्द रहा करती थी, तीन वर्ष पहले उसका स्वास्थ्य बिलकुल जर्जर हो गया था और अठारह मास तक उसे स्वास्थ्य लाभ करने के लिए अनेक स्थानों पर घूमना पड़ा था। थोड़ा भी मानसिक परिश्रम करने पर उसके मस्तिष्क में रक्त का जमाव और सिरदर्द बढ़ जाता था, अतः उसे कुछ समय लिखने या बोलकर लिखाने के बाद विश्राम करना पड़ता था, ताकि मस्तिष्क में रक्त का दबाव कम हो जाए। उसने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'मौलिक सिद्धान्त' (First Principles) के आरम्भिक अध्याय लन्दन के सुप्रसिद्ध उद्यान सेण्ट रीजेण्ट पार्क में नाव में बैठकर लिखवाए थे, पन्द्रह मिनट तक लिखवाने के बाद वह पाँच मिनट तक नाव में सैर करके मस्तिष्क को विश्राम प्रदान करता था। नींद लाने के

लिए उसे निरन्तर अफीम का सेवन करना पड़ता था, बडी आयु में वह भ्रमण के लिए २००-३०० गज से अधिक नहीं चल सकता था। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में वह एक समय में दस मिनट से अधिक देर तक बोलकर नहीं लिखवा सकता था, उसकी आँखें इतनी कमजोर थीं, उसे पढ़ना-लिखना वर्जित था।[1] फिर भी, उसने अपने प्रबल मनोबल और संकल्प-शक्ति से जीवन के अन्तिम चालीस वर्षों में १८ खण्डों में हजारों पृष्ठों की महत्वपूर्ण कृतियों का प्रणयन किया। रोग-जर्जर शरीर से इतना मानसिक श्रम करना अध्यवसाय का सदैव चिरस्मरणीय बना रहने वाला और प्रबल प्रेरणाप्रद अनुपम उदाहरण है।

दूसरी बाधा निर्धनता की थी। उसे अपने चाचा से २५०० डालर की सम्पत्ति अवश्य मिली थी, किन्तु उसने उसे शीघ्र ही खर्च कर दिया। अपना लेखन-कार्य निर्बाध रूप से चलाने के लिए उसने यह योजना बनाई कि वह अपनी ग्रन्थमाला के ग्राहक पहले ही बनाकर उनसे अगाऊ धनराशि लेकर अपना कार्य चलाए। १८६० में उसने भावी ग्रन्थों की योजना प्रकाशित की, उसके मित्रों के प्रयत्न से इंगलैण्ड, योरोप और अमेरिका में उसकी ग्रन्थमाला के इतने ग्राहक बन गए कि उसे १५०० डालर वार्षिक की आय होने की आशा हो गई और उसने कार्य आरम्भ कर दिया। किन्तु १८६२ में उसकी ग्रन्थमाला की पहली पुस्तक 'मौलिक सिद्धान्त' (First Principles) प्रकाशित होते ही एक भीषण आर्थिक संकट पैदा हो गया। इसमें धर्म तथा ईश्वर के सम्बन्ध में प्रकट किए गए विचारों से अनेक ग्राहक इतने रुष्ट हुए कि उन्होंने अपना चन्दा वापिस करने की माँग की। इससे उसे बड़ा घाटा हुआ, प्रकाशन की सारी योजना खटाई में पड़ गई और विवश होकर उसने इस कार्य को समाप्त करने की घोषणा की। किन्तु उसके मित्र और प्रशंसक इस कार्य को जारी रखना चाहते थे। उसके प्रबल प्रतिस्पर्द्धी जेम्स मिल ने उसे अपने एक पत्र में यह आश्वासन दिया कि वह अपना प्रकाशन-कार्य जारी रखे; इसमें प्रकाशक को होने वाले घाटे को वह पूरा कर देगा। स्पेन्सर के अमेरिकन प्रशंसकों ने इस कार्य के लिए ७००० डालर की राशि एकत्र करके उसकी एक स्थिर निधि बनाई ताकि उसकी ब्याज की आय से स्पेन्सर निश्चिन्त होकर अपना लेखन-कार्य कर सके। स्पेन्सर ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और अपनी योजना के अनुसार ग्रन्थों को नियमित रूप से प्रकाशित करना आरम्भ किया। समन्वयात्मक दर्शन की ग्रन्थमाला में उसके प्रधान ग्रन्थ ये थे—First Principles (1862), Principles of Biology, 2 Vols. (1864–7), Principles of Psychology, 2 Vols. (1870–2), Principles of Sociology, 3 Vols. (1876–96), Principles of Ethics, 2 Vols. (1892–3) थे। उसने अपने राजनीतिक विचारों का प्रतिपादन कुछ निबन्धों में भी किया है, इनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—Proper Sphere of Government (1842), Man versus State (1884)। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त उसने अपनी आत्मकथा तीन खण्डों में लिखी है।

१. हेनरी थामस—लिविंग बायोग्राफीज आफ ग्रेट फिलासफर्स, पृ० २६९-७०

स्पेन्सर शुष्क पाण्डित्य और अगाध विद्वत्ता का सुन्दर उदाहरण है। उसके बारे में यह बात सर्वथा सत्य है कि उसमें "केवल मस्तिष्क था, हृदय बिलकुल नहीं था"। यही कारण है कि बेन्थम तथा काण्ट की भाँति वह आजीवन अविवाहित बना रहा (देखिए ऊपर पृ० १०६)। उसे स्त्री-पुरुषों के कपाल देखकर इसके आधार पर उनके चरित्र का अध्ययन करने का बड़ा शौक था। अपनी तरुणावस्था में वह मेरियन इवान्स नामक युवती का बड़ा मित्र था, उसके साथियों को यह आशा थी कि इन दोनों का विवाह हो जाएगा। किन्तु स्पेन्सर को अपने विवाह की अपेक्षा उसकी खोपड़ी का अध्ययन करने में अधिक दिलचस्पी थी। उसने अपनी आत्मकथा में इस विषय में यह लिखा है कि सामान्यतः खोपड़ियाँ या तो बिलकुल सपाट अथवा कुछ दबी हुई होती हैं, किन्तु इवान्स का सिर सब ओर से उठा हुआ (Convex) था। युवावस्था में स्पेन्सर की भेंट एक अतीव सुन्दर तरुणी से हुई। इसके बाद उसके मित्रों ने उससे पूछा कि उसके बारे में स्पेन्सर का क्या विचार है तो उसने उत्तर दिया कि मुझे उसकी सिर की आकृति पसन्द नहीं है।[1] अपनी इस शुष्क हृदयता के कारण वह जब अमेरिका का नियाग्रा प्रपात देखने गया तो उसने उसके सौन्दर्य का वर्णन करने के स्थान पर यह हिसाब लगाना शुरू किया कि यह प्रपात कितनी ऊँचाई से, कितने वेग से गिरता है और एक सैकेण्ड में कितना दबाव डालता है। इस शुष्कता के कारण उसमें अहम्मन्यता और एक विचित्र झक्कीपन आ गया था। वह सामान्यतः अपने मित्रों के अतिरिक्त बहुत ही कम व्यक्तियों से मिलता था, उसका यह कहना था कि मुझसे मिलने के स्थान पर मेरी पुस्तकों को पढ़ना चाहिए। जब उसके प्रशंसक उससे मिलने का बहुत ही अधिक आग्रह करते थे तो वह अपने कानों में रुई डालकर उन्हें बुला लेता था और चुपचाप उनकी बातें सुनता रहता था। एक बार रूस के ज़ार ने लन्दन आने पर वहाँ के प्रसिद्ध विद्वानों से मिलने की इच्छा प्रकट की, इसकी पूर्ति के लिए लार्ड डर्बी ने हक्सली, टिण्डल और स्पेन्सर आदि कई विद्वानों को ज़ार से मिलने के लिए निमन्त्रित किया, अन्य विद्वानों ने निमन्त्रण स्वीकार किया, किन्तु स्पेन्सर ने इसे ठुकरा दिया।[2]

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्पेन्सर सबसे बड़ा दार्शनिक समझा जाता था, उस जैसी लोकप्रियता अपने जीवनकाल में बहुत कम दार्शनिकों को प्राप्त हुई है। उसके ग्रन्थों का योरोप के विभिन्न देशों की, चीन तथा जापान की भाषाओं में अनुवाद हुआ। स्पेन्सर को १८६९ में यह जानकर आश्चर्य हुआ कि उसकी पुस्तक First Principles आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में नियत की गई है। क्रेन ब्रिण्टन ने लिखा है कि उन दिनों उदार विचार रखने वाला प्रत्येक अंग्रेज बकल और मिल के ग्रन्थों के साथ स्पेन्सर के ग्रन्थ अपने पास अवश्य रखता था। उसकी लोकप्रियता का कारण उसका अपने युग की भावना का सर्वोत्तम व्याख्याता होना था। वह विकासवाद का युग था, उसने इसका सर्वोत्तम प्रतिपादन किया, अतः उसे विलक्षण प्रसिद्धि और कीर्ति प्राप्त हुई।

---

१. हेनरी थामस—लिविंग बायोग्राफीज़ आफ ग्रेट फिलासफर्स, पृ० २६६
२. विल ड्यूरैण्ट—स्टोरी आफ फिलासफी, पृ० ४३२

स्पेन्सर ने अपने राजनीतिक विचारों का प्रतिपादन 'सामाजिक स्थितिविज्ञान' (Social Statics) में तथा 'समाजशास्त्र के सिद्धान्तों' (Principles of Sociology) में किया है। समाज के सभी पहलुओं के व्यापक अध्ययन के लिए उसने भगीरथ परिश्रम किया। उसका यह कहना था कि रसायनशास्त्र और जीवशास्त्र में प्रामाणिक लेखक बनने के लिए जीवन-भर अध्ययन करना पड़ता है, किन्तु समाजशास्त्र और राजनीति के क्षेत्र में लोग बिना किसी तैयारी के कलम चलाने लगते हैं। इस विषय में उसने एक फ्रेंच लेखक का उदाहरण दिया है जिसने इंगलैण्ड में तीन सप्ताह बिताने के बाद इस देश पर एक पुस्तक लिखने का निश्चय किया। तीन महीने बाद उसे यह पता लगा कि वह इस कार्य को पूरा करने की क्षमता नहीं रखता और तीन वर्ष बाद वह इस परिणाम पर पहुँचा कि वह इंगलैण्ड के बारे में कुछ नहीं जानता है।[1] स्पेन्सर ने सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं का पूर्ण ज्ञान पाने के लिए तथा इस विषय की समूची सामग्री को व्यवस्थित करने के लिए तीन व्यक्तियों को इस कार्य पर लगा दिया कि वे संसार की प्रत्येक महत्वपूर्ण जाति की घरेलू, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, व्यावसायिक संस्थाओं के बारे में सारी जानकारी का संक्षेप में तथा विभिन्न स्तम्भों (Columns) में वर्गीकरण करें, उसने अपने व्यय से इसे **वर्णनात्मक समाजशास्त्र** (Descriptive Sociology) के नाम से आठ खण्डों में प्रकाशित कराया। इस प्रकार सात वर्ष तक घोर परिश्रम करने के बाद उसने 'समाजशास्त्र के सिद्धान्तों' का प्रथम खण्ड १८७६ में प्रकाशित किया। इसका अन्तिम खण्ड २० वर्ष बाद १८९६ में छपा।

किन्तु इतनी तैयारी के बाद भी प्रकाशित किए गए उसके राजनीतिक विचारों में बड़ा विरोध और असंगति दिखाई पड़ती है। एक ओर वह व्यक्ति के स्वाभाविक अधिकारों पर बहुत बल देता है और दूसरी ओर समाज को एक सजीव शरीर (Organism) मानता है। बार्कर ने लिखा है कि स्पेन्सर के विचारों का मौलिक दोष यह है कि वह व्यक्ति के जिन अधिकारों को स्वयंसिद्ध (a priori) मानकर अपना विचार आरम्भ करता है, उन अधिकारों की संगति राज्य के उस सावयवी (Organic) तथा विकासवादी विचार के साथ नहीं बैठाई जा सकती जिसे वह प्राकृतिक विज्ञान से ग्रहण करता है। इसके परिणामस्वरूप उसके दर्शन का श्रीगणेश और समाप्ति "दो परस्पर मेल न खाने वाले विचारों के सम्मिश्रण से होती है, ये विचार प्राकृतिक अधिकार तथा समाज एवं राज्य को सजीव शरीर के तुल्य मानने की उपमा हैं।"[2] स्पेन्सर के विचारों में इस महान् विरोध का कारण यह है कि उसने अपने विचारों को विभिन्न स्रोतों से ग्रहण किया है और वह इनमें पूर्ण समन्वय और सामंजस्य स्थापित करने में सफल नहीं हुआ है। उसके विचारों के चार विभिन्न प्रधान प्रेरणा-स्रोत निम्नलिखित थे।

स्पेन्सर के विचारों के प्रधान प्रेरणा-स्रोत—पहला स्रोत राजकीय इंगलिश चर्च से असहमति (Dissent) रखने वाले क्वेकर (Quaker) मतावलम्बी कुल में

१. विल ड्यूरैण्ट—स्टोरी आफ फिलासफी, पृ० ४०९
२. बार्कर—पोलिटिकल फिलासफी इन इंगलैण्ड, (१८४८-१९१४), द्वितीय संस्करण, १९५४, पृ० ७१

जन्म लेना था। इससे उसमें प्रमाणवाद का विरोध करने की तथा उग्र सुधार करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। उसका चाचा इंगलिश चर्च में प्रबल सुधार करने का पक्षपाती था, उसने बिरमिंघम-निवासी जोसेफ स्टर्ज के साथ मिलकर १८४१ में 'नान-कन्फर्मिस्ट' (Non-Conformist) नामक एक साप्ताहिक पत्र १८४१ में निकाला। इसी में स्पेन्सर ने अपना पहला प्रसिद्ध लेख 'राज्य का समुचित कार्यक्षेत्र' (Proper Sphere of Government) प्रकाशित करवाया था, वह चुनाव में मौलिक सुधार करके उसमें भ्रष्टाचार को दूर करना चाहता था, अतएव उसने सब लोगों को मताधिकार देने का आन्दोलन करने वाली संस्था Complete Suffrage Union की डर्बी शहर की शाखा के मन्त्री के रूप में अपना राजनीतिक जीवन आरम्भ किया, 'अनाज कानूनों' (Corn Laws) का तथा राजकीय चर्च का विरोध करने वाले आन्दोलनों में भाग लिया और इस प्रकार की परिस्थितियों से प्रेरणा ग्रहण करते हुए १८४७ में उसने अपनी पहली पुस्तक 'सामाजिक स्थितिविज्ञान' (Social Statics) का प्रणयन किया।

दूसरा प्रेरणा-स्रोत १८४८ में 'इकनामिस्ट' का उपसम्पादक बनने पर थामस हाजस्किन (Thomas Hodgskin) के सम्पर्क में आना था। यह बेन्थम के विचारों का विरोध करने वाला उग्र सुधारक था। उसे मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों में गहरा विश्वास था, जबकि बेन्थम इनकी खिल्ली उड़ाया करता था (देखिए ऊपर पृ० ३०)। बेन्थम ने केवल आर्थिक क्षेत्र में एडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक शक्तियों को कार्य करने की खुली छूट देने का या राज्य द्वारा हस्तक्षेप न करने की (Laissez faire) नीति का समर्थन किया था, किन्तु शासन और कानून के क्षेत्र में वह विज्ञान-सम्मत नियन्त्रण का पक्षपाती था। इसके विपरीत हाजस्किन यह मानता था कि समाज प्राकृतिक नियमों से संचालित होने वाली एक स्वाभाविक घटना है, इसका संचालन एक सर्वोच्च नैतिक शक्ति द्वारा इस उद्देश्य से किया जा रहा है कि इसके सदस्य समाज में एक न्यायपूर्ण व्यवस्था का निर्माण करें, अतः सरकार को शासन का कार्य कम-से-कम करना चाहिए, उसे प्राकृतिक नियमों को अपना कार्य करने की खुली छूट देनी चाहिए। इस विषय में अन्तिम लक्ष्य ऐसी स्थिति को लाना है जिसमें राज्य की संस्था लुप्त हो जाए तथा प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए तथा दूसरे व्यक्तियों के साथ सामंजस्य स्थापित रखते हुए अपना जीवन व्यतीत करे। स्पेन्सर का राज्यविषयक सिद्धान्त हाजस्किन के सिद्धान्त से गहरा सादृश्य रखता है।

तीसरा स्रोत शेलिंग और श्लीगल का जर्मन आदर्शवाद (German Idealism) था। इसे स्पेन्सर ने कॉलरिज की रचनाओं से ग्रहण किया। स्पेन्सर ने इनसे 'जीवन का विचार' (Idea of life) ग्रहण किया। १९वीं शताब्दी में वैज्ञानिकों ने भगवान् को तिलांजलि देते हुए इसके स्थान पर जीवन-शक्ति (Life-force) के विचार को जन्म दिया था। इसके अनुसार सदैव गतिशील बनी रहने वाली इस शक्ति के ही कारण मनुष्य जाति का सदैव उन्नतिशील विकास हो रहा था। विकास की यह प्रक्रिया विश्व की सभी वस्तुओं में, सभी क्षेत्रों में, प्राकृतिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में दिखाई देती है, अतः इसे सार्वभौम विकास (Universal Evolution) कहते हैं। समाज और प्रकृति में जीवन-विकास की इस प्रक्रिया के चलते रहने के कारण सजीव

शरीर (Living Organism) बनते हैं और इस प्रक्रिया से उनके विभिन्न अंगों का विशिष्ट विकास होता है।

चौथा प्रेरणा-स्रोत प्राकृतिक विज्ञानों का अध्ययन था। स्पेन्सर को बचपन से भौतिकशास्त्र में गहरी दिलस्पी थी, वह शुरू में इंजीनियर था और उसने अनेक आविष्कार करने के लिए विभिन्न प्रकार के परीक्षण किए थे, रसायनशास्त्र के कुछ परीक्षणों में उसने अपनी उँगलियाँ जलाई थीं, उसे कीड़े पालने का भी शौक था। प्राणिशास्त्र में विकास के सम्बन्ध में उसने डार्विन की अपेक्षा उससे पूर्ववर्ती लेमार्क (Lamarck) के सिद्धान्तों का अनुसरण किया था। उसकी रचनाओं पर विज्ञान की गहरी छाप है। इन चार विभिन्न स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण करने के कारण उसके विचार विचित्र पंचमेल या खिचड़ी बन गए और उनमें कुछ विरोध दिखाई देता है। उसके प्रधान विचार निम्नलिखित हैं—

विकासवाद—यह स्पेन्सर के सब विचारों का मूल या आधारशिला है। आजकल सामान्य रूप से चार्ल्स डार्विन को विकासवाद के सिद्धान्त का प्रवर्तक समझा जाता है। किन्तु यह धारणा सर्वांश में सत्य नहीं है। विकासवाद का विचार उससे बहुत पुराना है, डार्विन ने केवल विकास होने की प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है, १८५८ में जब उसने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उस समय तक स्पेन्सर के विचार परिपक्व हो चुके थे। स्पेन्सर अपने विकासविषयक विचारों के लिए जर्मन आदर्शवादियों से इन्हें ग्रहण करने वाले कॉलरिज का तथा फ्रेंच वनस्पतिशास्त्री लेमार्क (Lamarck) का ऋणी था। पहले यह बताया जा चुका है कि हेगल इस विश्व को विश्वात्मा का विकास मानता था। इस विकास का मूल कारण विश्वात्मा या भगवान् की शक्ति थी, वह अपनी आन्तरिक शक्ति से (ab intra) विकास की प्रक्रिया का संचालन कर रहा था। स्पेन्सर ने विकास के विचार को यद्यपि कॉलरिज की रचनाओं के माध्यम से जर्मनी से ग्रहण किया, किन्तु उसने इसे जर्मन विचारकों की भाँति आन्तरिक शक्ति से संचालित होने वाला नहीं, किन्तु बाह्य परिस्थितियों के प्रभाव से उत्पन्न होने वाला माना। इस विषय में वह फ्रेंच वैज्ञानिक लेमार्क का अनुयायी था। लेमार्क विकास को आन्तरिक शक्ति से होने वाला तथा मशीन की भाँति स्वयमेव निरन्तर चलने वाला परिवर्तन (Mechanistic change) नहीं मानता था, अपितु बाह्य परिस्थितियों से होने वाला सजीव शरीरविषयक (Organic) परिवर्तन मानता है। लेमार्क के विकासवादी सिद्धान्त के दो प्रधान विचार—उपयोग तथा अनुपयोग (Use and Disuse) एवं वंश-परम्परा (Heredity) द्वारा शारीरिक विशेषताओं का संक्रमण होना है। उपयोग का आशय यह है कि जीवन-संघर्ष में अपने आहार की प्राप्ति के लिए प्राणी को कुछ अंगों का विशेष उपयोग करना पड़ता है, इससे इनका विशेष विकास होता है और वंश-परम्परा द्वारा ये विशेषताएँ स्थायी बन जाती हैं। उदाहरणार्थ, ज़िराफ की गर्दन बहुत लम्बी होती है। लेमार्क के मतानुसार इसका कारण उपयोग है, ज़िराफ ऐसे स्थानों पर रहता था जहाँ उसे अपने आहार को पाने के लिए गर्दन ऊँची करनी पड़ती थी, इसे निरन्तर ऊँचा करते-करते गर्दन ऊँची होने लगी और इसकी उपयोगिता के कारण वंश-परम्परा से यह विशेषता

सन्तानों में पहुँचने लगी और ज़िराफ लम्बी गर्दन वाला प्राणी बन गया। अनुपयोग (Disuse) का उदाहरण मनुष्य की पूँछ है; लंगूर, बन्दर आदि में पूँछ का उपयोग था, किन्तु मनुष्य में कोई उपयोग न होने से यह लुप्त हो गई। लेमार्क ने १८०० ई० के लगभग यह विचार रखा था। स्पेन्सर इसी का अनुयायी था। १८५८ में चार्ल्स डार्विन ने विकास की प्रक्रिया की इससे सर्वथा भिन्न व्याख्या की। उसने विकास की पद्धति में उपयोग तथा अनुपयोग (Use and Disuse) के स्थान पर प्राकृतिक चुनाव (Natural Selection) पर बल दिया। उसका यह कहना था कि प्रकृति में विकास उपयोग आदि के विशेष उद्देश्य से प्रेरित होकर (Purposive Evolution) नहीं होता, अपितु सहसा तथा आकस्मिक परिवर्तनों (Accidental Variations) से होता है।

जो आकस्मिक परिवर्तन परिस्थितियों से अनुकूलता रखने वाले होते हैं उन्हें वंश-परम्परा से स्थायी बना लिया जाता है, क्योंकि ये परिवर्तन उस परिस्थिति में जीवन-संघर्ष में विजय पाने के लिए अधिक उपयोगी होते हैं। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी : डार्विन ने एक टापू में यह देखा कि वहाँ केवल एक ही रंग के कबूतर हैं और इनका रंग उस टापू की चट्टानों से बहुत मिलता-जुलता था। डार्विन ने इससे यह परिणाम निकाला कि यहाँ शुरू में कई रंगों के कबूतर रहे होंगे, शिकारी इनका आसानी से शिकार कर सके, किन्तु चट्टानों के रंग से सादृश्य रखने वाले कबूतरों का शिकार जल्दी नहीं हो सका, अन्त में प्रकृति ने कबूतरों के विभिन्न रंगों में से उसी रंग का चुनाव कर लिया जो वहाँ जीवन-संघर्ष में सफल हुआ। इसी को प्राकृतिक चुनाव (Natural Selection) का नियम कहते हैं। डार्विन ने अपने सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हुए इसे **तीन सूत्रों** में प्रकट किया है : **पहला सूत्र** विभिन्न प्राणियों का बहुत अधिक मात्रा में सन्तान उत्पन्न करना है। **दूसरा सूत्र** इनकी आहार सामग्री कम होने के कारण प्रबल जीवन-संग्राम का चलना तथा उसमें योग्यतम की विजय का होना है, यह विचार उसने माल्थस से लिया था। **तीसरा सूत्र** प्राकृतिक चुनाव का है, प्रकृति इस जीवन-संघर्ष में सफलता पाने वाले प्राणियों का तथा उनकी विशेषताओं का स्वयमेव अकस्मात् वरण करती है। डार्विन ने केवल प्राणिशास्त्र के क्षेत्र में ही विकास के नियम का वर्णन किया है।

किन्तु स्पेन्सर का विकासवाद डार्विन के सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक विस्तृत और विशाल है, क्योंकि वह उसे सृष्टि के प्रत्येक क्षेत्र में, न केवल प्राणिशास्त्र में, अपितु भूगर्भशास्त्र, जीवनशास्त्र, मनोविज्ञान, आचारशास्त्र, धर्म, दर्शन और समाज-शास्त्र के क्षेत्रों में भी लागू करता है। वस्तुतः स्पेन्सर ने ही डार्विन के सिद्धान्त को विकासवाद का नाम दिया था[1] और उसे सार्वभौम रूप से सभी क्षेत्रों में लागू किया था। विकास का सामान्य अर्थ उन्नत एवं उत्कृष्ट रूप की ओर अग्रसर होना किया जाता है। किन्तु स्पेन्सर ने इसका लक्षण यह किया है कि यह ऐसी प्रक्रिया का नाम है जिसमें अनिश्चित और अस्पष्ट एकरूपता (Homogeneity) रखने वाले पदार्थ

---

१. डेगोबर्ट रूनेस—पिक्टोरियल हिस्टरी आफ फिलासफी, पृ० २५७

निश्चित, स्पष्ट और विभिन्नता (Heterogeneity) रखने वाला रूप धारण करते हैं और जिसमें पदार्थ का एकत्रीकरण (Integration) तथा इसके परिणामस्वरूप शक्ति का क्षय (Dissipation of motion) होता है। स्पेन्सर का यह लक्षण कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जाएगा : सृष्टि के आरम्भ में अस्पष्ट और अनिश्चित उत्तप्त वास्पसमूह या निहारिका (Nebula) होता है, यही बाद में विकसित होकर सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा, बुद्ध, बृहस्पति, शुक्र, शनि आदि ग्रहों का निश्चित, स्पष्ट और विभिन्नता रखने वाला रूप धारण करता है। हमारी पृथ्वी भी आरम्भ में उत्तप्त वाष्पपिण्ड थी, इसके सभी तत्वों में एकरूपता (Homogeneity) थी, इसमें सभी कुछ अस्पष्ट और अनिश्चित था, बाद में इस धरती के ठण्डा होने पर इस वाष्प के कुछ पिण्डों ने एकत्र होकर पर्वतों का रूप धारण किया, दूसरे पिण्डों ने एकत्र होकर समुद्रों का रूप धारण किया। इस प्रकार एक ही प्रकार के उत्तप्त वाष्पपिण्ड से इस धरती पर दिखाई देने वाले अनन्त रूप उत्पन्न होते हैं। विकास का अभिप्राय पदार्थ का एक विशिष्ट ढंग से इकट्ठा होना तथा बढ़ना है। उदाहरणार्थ, रज और वीर्य के संयोग से उत्पन्न होने वाला भ्रूण आरम्भ में अति सूक्ष्म होता है, शनैः-शनैः उसके साथ आवश्यक पदार्थों के जुड़ने से गर्भस्थ शिशु बड़ा होने लगता है तथा बाद में वही नर या नारी का पूर्ण रूप धारण करता है, अतः स्पेन्सर विकास को पदार्थ का एकत्रीकरण (Integration of matter) कहता है। हमारा ज्ञान भी इसी प्रकार इन्द्रियजन्य अनुभवों और स्मृतियों के एकीकरण और संकलन से बनता है और ज्ञान की वृद्धि होने पर इसका विकास विज्ञान और दर्शन के रूप में होता है। सामाजिक क्षेत्र में नर-नारी अपनी सन्तान के साथ मिलकर परिवार का निर्माण करते हैं, परिवारों के सम्मिलन से जनजातियाँ, इनके एकत्रीकरण से राज्य और राज्यों के सम्मिलन से विश्व का संघ बनता है। ये सब पदार्थ के एकीकरण से विकास के उदाहरण हैं। इस एकीकरण का एक आवश्यक परिणाम यह है कि इसके विभिन्न अंशों या अंगों में गति कम हो जाती है। उदाहरणार्थ, जब व्यक्तियों के एकीकरण से राज्य का निर्माण होता है और उसकी शक्ति बढ़ने लगती है तो इसके परिणामस्वरूप व्यक्तियों की शक्ति और अधिकार घटने लगते हैं। इस प्रकार एकीकरण और वैविध्य विकास की प्रक्रिया के अनिवार्य अंग हैं।

डार्विन का मत है कि विकास की प्रक्रिया सतत रूप से चलती रहती है, इसका कभी अन्त नहीं होता है। किन्तु स्पेन्सर इसका अन्तिम रूप साम्यावस्था या समता की दशा (Equiliberation) मानता है।[1] सृष्टि में असंख्य प्रकार की क्रियाएँ चल रही हैं, इन सब में शक्ति क्षीण हो रही है, अतः प्रत्येक गति और शक्ति का अन्त अनिवार्य है, इस समय सूर्य में भले ही प्रचण्ड उष्णता हो, परन्तु वह निरन्तर कम हो रही है; अरबों वर्ष बाद यह स्थिति आ सकती है कि वह चाँद की तरह बिलकुल ठंडा हो जाए, उसकी गति शान्त हो जाए। यही हाल सृष्टि की अन्य वस्तुओं का है, सब पदार्थों की गति शान्त होने पर प्रलय अथवा साम्य की दशा आती है। यह सृष्टि

१. स्पेन्सर का यह विचार सांख्य दर्शन के विचार से मिलता है।

जिस अस्पष्ट, अनिश्चित वाष्पपिण्ड से उत्पन्न हुई थी उसी में विलीन हो जाती है। इस प्रकार सृष्टि और प्रलय का एक चक्र पूर्ण होता है तथा दूसरा चक्र आरम्भ हो जाता है।

समाज की आदर्श स्थिति—समाज के विकास के सम्बन्ध में स्पेन्सर ने एक विशेष प्रकार की अन्तिम स्थिति मानी है। इस दशा में राज्य की संस्था लुप्त हो जाएगी, मनुष्य इसके बिना ही एक-दूसरे के साथ पूर्ण समन्वय और सामंजस्य की भावना से रहेंगे, इससे सब व्यक्तियों में पूर्ण सन्तुलन (Equilibrium) बना रहेगा और सरकार के कार्यों द्वारा हस्तक्षेप न होने के कारण व्यक्तियों के अधिकारों का अधिकतम विकास होगा। यह सामाजिक विकास की आदर्श और उच्चतम स्थिति है, इसमें समाज सदैव स्थित रहेगा, इसीलिए इस विकास को प्रदर्शित करने के लिए लिखी गई पुस्तक को उसने 'सामाजिक स्थितिशास्त्र' (Social Statics) का नाम दिया है। इसमें उसने समाज की उस अन्तिम आदर्श अराजक स्थिति का वर्णन किया जो आवश्यक रूप से गतिशून्य (Static) और जड़ है, क्योंकि आदर्श को प्राप्त कर लेने पर हमारी समूची प्रगति समाप्त हो जाती है। इस स्थिति को आदर्श मानने के कारण स्पेन्सर इसे अपने सभी विचारों का मानदण्ड बनाता है और प्रत्येक वस्तु का महत्व और मूल्य इस बात से आँकता है कि वह इस स्थिति से कहाँ तक मेल खाती है। व्यक्ति के अधिकारों को वह इसीलिए गौरव प्रदान करता है कि इस आदर्श स्थिति में उनका पूर्ण विकास होता है। अराजकता को वह इसीलिए श्रेष्ठ मानता है कि इस स्थिति में राज्य की संस्था का अभाव होता है।

किन्तु स्पेन्सर के सामाजिक स्थिति के इस विचार की बार्कर ने दो आलोचनाएँ की हैं[1] : **पहली** आलोचना तो यह है कि मानव-समाज के विकास में आदर्श कभी इस प्रकार से स्थायी एवं गतिशून्य (Static) बने रहने वाले नहीं होते, ये सदैव आगे बढ़ते रहते हैं, हम ज्योंही आदर्श तक पहुँचने लगते हैं, यह उससे आगे बढ़ जाता है। समाज में कभी कोई अन्तिम समाधान या समन्वय नहीं होता है, इसमें सदैव नई समस्याएँ पैदा होती हैं और इनके कारण हमारा आदर्श अग्रसर हो जाता है। यदि ऐसा न हो तो हमारी सामाजिक प्रगति समाप्त हो जाए। **दूसरी** आलोचना यह है कि स्पेन्सर ने समाज के अन्तिम आदर्श के तथा वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों के सम्बन्ध के बारे में कुछ भ्रान्त कल्पनाएँ कर ली हैं। वह वर्तमान समाज की परि-स्थितियों को समाज के अन्तिम कल्पित आदर्श के मानदण्ड से अच्छा या बुरा समझता है, उसने सरकार और शासन की आलोचना इसलिए की है कि समाज की अन्तिम आदर्श स्थिति में ये संस्थाएँ नहीं पाई जातीं, इसलिए वह इन्हें अन्यायपूर्ण और अनुचित समझता है। वस्तुतः इनका औचित्य वर्तमान परिस्थितियों में इनके कार्य से आँका जाना चाहिए, न कि एक काल्पनिक स्थिति से। अतः स्पेन्सर का यह सिद्धान्त दोषपूर्ण है।

सामाजिक विकास की दो दशाएँ—सैनिक समाज तथा औद्योगिक समाज— स्पेन्सर विकासवाद के सिद्धान्त के आधार पर सभ्यता और समाज के विकास में दो

१. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ८०

महत्वपूर्ण दशाएँ मानता है : पहली दशा सैनिक समाज (Militant Society) की तथा दूसरी दशा औद्योगिक समाज (Industrial Society) की है। मानव-समाज की आरम्भिक दशा में बड़ी अराजकता थी, बलवान् व्यक्ति और समाज निर्बल व्यक्ति और समाज को कुचल रहा था। इस शोचनीय अवस्था से परित्राण पाने का एकमात्र साधन कठोर अनुशासन में बँधा हुआ सैनिक समाज था, यह अपनी इस व्यवस्था से विरोधी शत्रुओं पर तथा प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय पा सकता था। इसमें प्रत्येक व्यक्ति को कठोर सैनिक अनुशासन में रहना पड़ता है। अतः स्वाभाविक रूप से इसमें राजतन्त्र की व्यवस्था प्रचलित होती है, विभिन्न श्रेणियों को एक-दूसरे से पृथक् करने वाले जात-पांत के कठोर बन्धन होते हैं, इस समाज में धर्म भी राजा और पुरोहितों के अधिकार पर बल देने वाला तथा प्रमाणवादी (Authoritarian) होता है, युद्ध की प्रमुखता के कारण इस समाज में पुरुषों की प्रभुता होती है। युद्धों में मनुष्यों के बड़ी संख्या में मारे जाने से विजेता उनकी स्त्रियों को पकड़ लेते थे, इससे समाज में बहुभार्यता (Polygamy) की प्रथा प्रचलित हुई। सैनिक समाज एक-दूसरे से लड़ते रहते हैं, अतः इनका इतिहास दूसरे समाजों के साथ लड़ने का, उनकी लूट-पाट, मार-काट, हिंसा और हत्या करने का है। हम आदिम जातियों में नर-मांस भक्षण की पद्धति को जघन्य समझते हैं, किन्तु ये सैनिक समाज इसी जघन्य कार्य में लगे रहते हैं। समाज और सभ्यता की उस समय तक उन्नति नहीं हो सकती जब तक इस आत्मघाती पद्धति का अन्त न हो जाए। सभ्यता की उन्नति युद्ध की समाप्ति पर अवलम्बित है।

यह स्थिति औद्योगिक समाज (Industrial Society) में उत्पन्न होती है। ऐसे समाज भूमध्यसागर के तीरवर्ती प्रदेशों में तथा योरोप में विकसित हुए हैं। इनमें युद्ध के स्थान पर व्यापार तथा उद्योग-धन्धों का अधिक विकास हुआ। व्यापार मनुष्य की बुद्धि को प्रखर बनाता है, उसमें नवीन आविष्कार करके पैसा कमाने की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। यह व्यवस्था स्वतन्त्रता की पोषक है, क्योंकि ऐसे वातावरण में ही व्यक्ति उन्नति कर सकता है। सैनिक समाज में पनपने वाली इस स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति के कारण परम्पराएँ, प्रमाणवाद तथा जात-पांत के बन्धन शिथिल होने लगते हैं। व्यापार और उद्योग के लिए शान्ति आवश्यक है, अतः यह समाज युद्धों को बन्द करने पर बल देता है। सैनिक के कार्य को समाज में अधिक प्रतिष्ठा नहीं दी जाती, शक्ति को समृद्धि का मूल माना जाता है। पूँजी के अन्य देशों में प्रसार के साथ विभिन्न देशों की एक-दूसरे पर निर्भरता या अन्योन्याश्रितता बढ़ने लगती है, इससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित होती है। युद्ध बन्द हो जाने से बहुभार्यता का स्थान एकविवाह (Monogamy) की प्रथा ले लेती है। स्त्रियों का दर्जा ऊँचा उठने लगता है। इतिहास अब लड़ाइयों की कथा नहीं, किन्तु नए विचारों तथा आविष्कारों की कहानी बन जाता है। पहले समाज में मनुष्य पराधीन तथा सैनिक अनुशासन से जकड़ा होता था, अब वह स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। पहले वह भय और सैनिक दबाव से बाधित होकर समाज के कार्यों में सहयोग देता था, अब वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा से स्वेच्छापूर्वक सहयोग देता है। वर्तमान जगत् में सैनिक समाज के उदाहरण

फ्रांस और प्रशिया तथा औद्योगिक समाज के दृष्टान्त इंगलैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका हैं।

समाज को सजीव प्राणी (Social Organism) **मानने की कल्पना, राज्य का सावयवी सिद्धान्त** (Organic Theory of the State)—स्पेन्सर ने 'समाजशास्त्र के सिद्धान्तों में तथा अपनी अन्य रचनाओं में इस बात पर बल दिया है कि समाज एक प्राकृतिक, देहधारी सजीव प्राणी के समान है, उसका विकास अन्य प्राणियों की भाँति होता है। प्राणियों में सबसे पहला, निम्नतम और आदिम रूप एक कोष रखने वाला अमीबा नामक प्राणी होता है, वह एक कोष से ही खाने-पीने, श्वास लेने, मल-मूत्र निकालने, चलने-फिरने तथा सन्तानोत्पादन के विविध कार्य करता है; इसी प्रकार आदिम मानव-समाज में एक ही व्यक्ति लड़ने, शिकार करने, आहार प्राप्त करने, झोपड़ी बनाने तथा अपने औजार और हथियार आदि बनाने के सभी कार्य करता हैं। प्राणी का विकास होने पर, उसके शरीर में विभिन्न कार्यों के लिए अनेक अंगों का विकास होता है, खाने के लिए मुँह, देखने के लिए आँख, सुनने के लिए कान, पकड़ने के लिए हाथ, चलने के लिए पैर आदि अंग विकसित होते हैं। इसी प्रकार समाज का विकास होने पर, उसमें श्रम-विभाजन (Division of Labour) के सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न कार्यों को करने वाले विशिष्ट वर्ग या श्रेणियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, लड़ने के लिए सैनिकों का वर्ग बनता है, उत्पादन के कार्य कृषक, निर्माण के कार्य राज तथा मिस्त्री, औजार और हथियार बनाने के काम लुहार करने लगते हैं। शरीर के अंगों की भाँति ये सब वर्ग एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं और समाज के हित के लिए कार्य करते हैं। स्पेन्सर ने एक जीवित प्राणी और समाज में निम्नलिखित समानताओं का प्रतिपादन किया है—

(१) दोनों का विकास होता है, दोनों आरम्भ में थोड़े-से कुछ कोषों (Cells) या व्यक्तियों का लघु समूह होते हैं, शनैः-शनैः इनकी संख्या में वृद्धि होने लगती है।

(२) दोनों में एक ही जैसा विकास-क्रम दिखाई देता है। दोनों अपने आरम्भिक रूप में सरल और समान होते हैं, किन्तु विकास होने पर इनके स्वरूप में जटिलता और वैविध्य बढ़ने लगता है, श्रम-विभाजन के सिद्धान्त के आधार पर विशिष्ट कार्य करने के लिए विभिन्न अंग बनने लगते हैं। पहले बताया जा चुका है कि जिस प्रकार आरम्भिक जीवों में हाथ, मुँह, पैर, पेट, फेफड़े, आँख, कान के पृथक्-पृथक् अंग नहीं थे, वैसे ही समाज में भी विशिष्ट कार्य करने वाले कोई पृथक् वर्ग नहीं थे। किन्तु जिस प्रकार शनैः-शनैः प्राणी के शरीर में विभिन्न अंगों का विकास होने लगा, उसी प्रकार समाज में विभिन्न कार्य करने वाले कृषकों, सैनिकों, कारीगरों आदि की श्रेणियों का प्रादुर्भाव हुआ। इससे यह स्पष्ट है कि दोनों का विकास एक ही प्रकार से, एक जैसे नियमों का अनुसरण करते हुए होता है।

(३) प्राणी और समाज कुछ छोटे तत्वों या अंशों से मिलकर बनते हैं। प्राणी का निर्माण जीव-कोषों (Cells) से होता है तथा समाज और राज्य का व्यक्तियों से।

(४) प्राणी के शरीर में सब अंग एक-दूसरे पर आश्रित होते हैं, प्रत्येक अंग द्वारा भली-भाँति कार्य करने पर समूचे शरीर का स्वास्थ्य और बल ठीक बना रहता

है, किन्तु यदि किसी ग्रंग में कोई विकार या बीमारी ग्रा जाए, तो इसका प्रभाव सारे शरीर पर पड़ता है। उदाहरणार्थ, फेफड़ों में बड़ी खराबी ग्राने से सारे शरीर का क्षय ग्रारम्भ हो जाता है। इसी प्रकार समाज ग्रथवा राज्य की समृद्धि ग्रौर शक्ति, इसका निर्माण करने वाले सभी वर्गों के स्वास्थ्य, सामर्थ्य ग्रौर शक्ति पर निर्भर है। जिस प्रकार शरीर का कल्याण सब ग्रंगों द्वारा ग्रपना कार्य ठीक ढंग से करने पर चलता है, उसी प्रकार समाज का कल्याण इसके सब वर्गों के पारस्परिक सहयोग पर निर्भर है। इनके ग्रभाव में सामाजिक जीवन पंगु हो जाता है।

(५) प्राणि-शरीर में पुराने जीव-कोष ग्रौर रुधिर-कोष नष्ट होते रहते हैं, इनके स्थान पर नए जीव-कोषों का निर्माण होता रहता है। इसी प्रकार समाज में भी बूढ़े, बीमार ग्रौर ग्रनुपयुक्त व्यक्ति मरते रहते हैं, इनके स्थान पर नए व्यक्ति पैदा हो जाते हैं।

(६) प्राणि-शरीर किसी एक जीव-कोष या ग्रंग पर ग्राश्रित नहीं होता है, हाथ या पैर काट देने से शरीर का ग्रन्त नहीं होता है। इसी प्रकार राज्य या समाज में किसी एक वर्ग या श्रेणी की समाप्ति से समाज का ग्रन्त नहीं होता है।

(७) जिस प्रकार प्राणि-शरीर का पोषण मुख, पेट ग्रौर ग्राँतों द्वारा होता है, उसी प्रकार समाज का पोषण कृषि से तथा उद्योगों की व्यवस्था से होता है। इस प्रकार दोनों में एक जैसी पोषण की व्यवस्था (Sustaining System) पाई जाती है।

(८) दोनों में एक जैसी वितरण व्यवस्था (Distributive System) है। जिस प्रकार शरीर में नसें ग्रंग-प्रत्यंग में रक्त पहुँचाकर ग्रौर इसका विभाजन करके शरीर की शक्ति बनाए रखती हैं, इसी प्रकार समाज में यातायात, व्यापार ग्रौर विनिमय के साधन समाज के सभी हिस्सों में धन तथा ग्रन्य ग्रावश्यक सामग्री का वितरण करते रहते हैं। स्पेन्सर ने १८६० में 'वैस्ट मिन्स्टर' नामक पत्रिका में प्रकाशित ग्रपने एक लेख में यह बताया था कि विभिन्न प्रकार के माल को राज्य के सभी भागों में पहुँचाने वाली रेल की लाइनें ग्रौर सड़कें प्राणि-शरीर की नसों के तुल्य हैं, धन रक्त के जीव-कोषों के समान है तथा तार भेजने वाली व्यवस्था शरीर की नाड़ियों (Nerves) से सादृश्य रखती है।

(९) दोनों में नियमन या नियन्त्रण की व्यवस्था (Regulating System) एक जैसी है। हमारे शरीर में दिमाग हमारी सभी चेष्टाग्रों का पूर्णरूप से नियन्त्रण करता है, इसी प्रकार समाज में सरकार सब व्यक्तियों के कार्यों का नियमन करती है।

उपर्युक्त सादृश्यों के ग्राधार पर स्पेन्सर ने प्राणि-शरीर ग्रौर समाज में कई विचित्र एवं मनोरंजक तुलनाएँ व समानताएँ प्रदर्शित की हैं। उसका यह कहना है कि समाज के सैनिकों की तुलना हमारे शरीर को रोगों से बचाने वाली व्यवस्था से की जा सकती है, उसके मतानुसार यातायात में कमी ग्रौर ग्रधिकता हमारे रक्तप्रवाह में होने वाली न्यूनता तथा ग्रधिकता से मिलती है। रेलवे लाइनों ग्रौर सड़कों को देहाती क्षेत्र से पृथक् करने वाली बाड़ें हमारी रक्त-वाहिनी शिराग्रों ग्रौर धमनियों की दीवारों की भाँति हैं, कारखाने के विकास की तुलना ग्रनेक जीव-कोषों की वृद्धि से मिलकर बनने वाले यकृत (Liver) से की जा सकती है।

इन सब समानताओं से स्पेन्सर इस परिणाम पर पहुँचता है कि समाज एक जीवित शरीर है, इसका विकास इसके भीतर से होता है, यह उसके सभी अंगों पर गहरा प्रभाव डालता है, अतः इसे शारीरिक विकास (organic growth) कहा जाता है तथा इस सिद्धान्त को सावयवी सिद्धान्त (Organic Theory) कहा जाता है।[1]

किन्तु इन समानताओं के होते हुए भी स्पेन्सर को स्वयमेव इनमें दो मौलिक भेद भी स्वीकार करने पड़े : (१) प्राणी के शरीर का स्वरूप निश्चित होता है, उसके सभी अंग आपस में जुड़े हुए होते हैं, वे अपना कोई पृथक् व्यक्तित्व नहीं रखते हैं, वे शरीररूपी यन्त्र के पुर्जे मात्र हैं, इससे पृथक् रूप में उनका कोई अस्तित्व या महत्व नहीं है। हाथ या पैर को यदि शरीर से काटकर पृथक् कर दिया जाए तो उसका कोई स्वतन्त्र जीवन सम्भव नहीं है। अतः स्पेन्सर शरीर के संगठन को स्थूल (Concrete) अथवा मूर्त्त रूप में दिखाई देने वाला मानता है। इसके विपरीत राज्य के अंग माने जाने वाले व्यक्ति एक-दूसरे से जुड़े हुए, सम्बद्ध और मूर्त्त नहीं होते; उनका संगठन सूक्ष्म और चेतन (Discrete) होता है। (२) **दूसरा** भेद चेतना के केन्द्र की अवस्थिति का है। व्यक्ति के शरीर में चेतना शरीर के एक छोटे से भाग—मस्तिष्क में तथा नाड़ियों (Nerves) में केन्द्रित होती है, किन्तु समाज में ऐसी सामान्य अनुभूति या चेतना के केन्द्र (Centre of Common Consciousness) का अभाव होता है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति को काँटा लगने पर शरीर झटपट उसकी वेदना का अनुभव करता है और प्रतिकार का उपाय करता है, किन्तु समाज में ऐसा नहीं है। स्पेन्सर के मतानुसार भारत के राज्य को एक शरीर माना जाना चाहिए किन्तु इसके किसी भाग—उड़ीसा या बंगाल में अकाल पड़ने पर पंजाब, केरल आदि अन्य अंगों को अकाल के कष्टों की वैसी तीव्र अनुभूति नहीं होती जैसी काँटा लगने पर सारे शरीर को हुई थी।

स्पेन्सर के मत में ये भेद सावयवी सिद्धान्त को मिथ्या नहीं बनाते, अपितु व्यक्तिवाद को पुष्ट करते हैं। इनसे यह ज्ञात होता है कि समाज में व्यक्तियों की सामूहिक चेतना का केन्द्र कोई नहीं है, अतः समाज के सामाजिक हित का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है, प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण में ही समाज का कल्याण है, अतः उसे अपने हितों को प्राप्त करने में पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

स्पेन्सर का यह सावयवी सिद्धान्त (Organic Theory) कई दृष्टियों से दोषपूर्ण है : (१) समाज को प्राणी के शरीर की भाँति मानना अत्यन्त भ्रांतिपूर्ण है। इसके अनुसार समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियों और शरीर की रचना करने वाले जीव-कोषों (Cells) को एक जैसा मानना पड़ेगा। किन्तु वास्तव में इन दोनों में

---

१. प्राचीन भारतीय साहित्य में सावयवी सिद्धान्त की कुछ हल्की झलक यजुर्वेद (३१/११) के पुरुष सूक्त के इस प्रसिद्ध मन्त्र में मिलती है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥

इसमें भारतीय समाज के सुप्रसिद्ध चार वर्णों में से ब्राह्मण को समाजरूपी शरीर का मुख, क्षत्रिय को भुजाएँ, वैश्य को जांघें तथा शूद्र को पैर बताया गया है।

आकाश-पाताल का अन्तर है। समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियों का स्वतन्त्र अस्तित्व, पृथक् व्यक्तित्व तथा अपनी इच्छाशक्ति होती है, उनमें सोचने-विचारने की शक्ति, बुद्धि और नैतिक स्वतन्त्रता है। किन्तु शरीर के जीव-कोषों में ये विशेषताएँ बिलकुल नहीं हैं, वे शरीररूपी यन्त्र के पुर्जे या अंश मात्र हैं, इससे पृथक् उनकी कोई सत्ता नहीं है। (२) व्यक्ति समाज या राज्य से अलग होकर जंगल में रहते हुए अपना स्वतन्त्र जीवन बिता सकता है। किन्तु यदि किसी शरीर से उसके हाथ या पैर को काट दिया जाए तो वह नष्ट हो जाएगा। (३) शरीर और समाज के जन्म और विकास-क्रम में भी गहरा भेद है। शरीर का जन्म नर-नारी के तत्वों से मिलकर होता है, वह शैशव, यौवन और बुढ़ापे की अवस्थाओं में से होता हुआ नष्ट हो जाता है; किन्तु राज्य का जन्म नर-नारी के संयोग से नहीं होता, उसमें बचपन आदि की अवस्थाओं का क्रमिक विकास नहीं दिखाई देता है, वह मनुष्य के शरीर की भाँति काल का ग्रास नहीं बनता। उसमें होने वाले परिवर्तन बड़े सूक्ष्म और अलक्ष्य होते हैं। (४) एक सजीव शरीर में सब अंग—हाथ, पैर, मुँह, नाक आदि भौतिक रूप से एक-दूसरे से सम्बद्ध होते हैं और शरीर का निर्माण करते हैं, समाज का निर्माण करने वाले व्यक्ति इस प्रकार भौतिक दृष्टि से एक-दूसरे से सम्बद्ध नहीं होते हैं। (५) शरीर में हाथ-पैर आदि अंगों की स्थिति निश्चित होती है, वे अपनी इस स्थिति से इधर-उधर नहीं हो सकते हैं; किन्तु समाज में मनुष्य की स्थिति किसी विशेष स्थान के साथ बंधी हुई नहीं होती है, वे स्वतन्त्रतापूर्वक कहीं भी आ-जा सकते हैं। (६) शरीर में अनुभव करने की शक्ति एक विशेष अंग में ही होती है, किन्तु समाज में सभी व्यक्ति यह शक्ति रखते हैं।[1] (७) व्यक्ति के शरीर में चेतना (Consciousness) और प्राण एक विशेष स्थान में केन्द्रित होते हैं, जब यह प्राण शरीर से निकल जाता है तो जीवित शरीर मृत हो जाता है। किन्तु समाज में चेतना या प्राण का कोई निश्चित स्थान नहीं होता है, अतः वह चिरस्थायी और अमर होता है, व्यक्ति के समान नश्वर या अल्पकालस्थायी नहीं होता। अतः समाज और शरीर के सादृश्य वास्तविक नहीं किन्तु भ्रांतिपूर्ण हैं।

बार्कर ने इस भ्रांति का मूल कारण स्पष्ट करते हुए तथा स्पेन्सर की आलोचना करते हुए कहा है कि राज्य जीवित प्राणी नहीं है, अपितु उस जैसा संगठन है। स्पेन्सर की भूल यह है कि उसने राज्य को जीवित प्राणी मान लिया है। वस्तुतः ऐसा नहीं है, क्योंकि राज्य एक भौतिक रचना नहीं, किन्तु मानसिक रचना (mental structure) है; क्योंकि यह एक समान उद्देश्य और प्रयोजन से प्रेरित होने वाले विभिन्न व्यक्तियों के मनों के सम्मिलन से प्रादुर्भूत होने वाला संगठन है। किन्तु यह मानसिक रचना दो दृष्टियों से शरीर से समानता रखती है—(क) इसके सामान्य उद्देश्य की पूर्ति इस बात पर निर्भर है कि इसके विभिन्न अंग एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध अपने कार्यों को समुचित रूप से करते रहें, इस प्रकार इसमें सजीव शरीर में पाई जाने वाली एकता (organic unity) जैसी एकता पाई जाती है। (ख) इसमें

१. हैलोवैल—मेन करेण्ट्स इन माडर्न पोलिटिकल थाट, पृ० ३०७

कोई भी परिवर्तन अन्दर से इस प्रकार होता है कि उसका सब अंगों पर प्रभाव पड़ता है, अतः इसका विकास सजीव शरीर के विकास (organic growth) जैसा है। किन्तु इन समानताओं के होते हुए भी इस तथ्य को मानना पड़ता है कि राज्य एक सजीव शरीर (organism) नहीं है, क्योंकि यह स्वयमेव संकल्प या निश्चय करने वाले मनों से प्रादुर्भूत होने वाला मानसिक संगठन है। स्पेन्सर का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसने जीवित शरीर और राज्य में ऊपर से दिखाई देने वाले सादृश्यों के आधार पर दोनों को अभिन्न मान लिया है। वस्तुतः प्राणी का शरीर भौतिक जगत् से तथा राज्य मानसिक जगत् से सम्बन्ध रखता है। बार्कर के कथनानुसार स्पेन्सर इन दोनों की समानताओं को विस्तृत रूप से दिखाने में ही इतना व्यस्त रहा है कि उसने इनके मौलिक अन्तर की उपेक्षा कर दी है। इस कारण उसके सिद्धान्त का मूल आधार भ्रांतिपूर्ण है तथा उसका मत यथार्थ नहीं है। इसका एक अन्य बड़ा दोष यह भी है कि यदि राज्य को शरीर मान लिया जाए तो व्यक्ति के अधिकारों की कोई स्थिति नहीं रहती है। समूचे शरीर की तुलना में हाथ-पैर आदि अंगों के कोई अधिकार नहीं होते, उनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता या जीवन नहीं हो सकता है। राज्य के सावयवी (organic) सिद्धान्त को मानने वाले हेगल, बोसांके आदि विचारकों ने राज्य की तुलना में व्यक्ति के कोई अधिकार नहीं माने हैं। किन्तु स्पेन्सर ने इस तर्कसंगत स्थिति को स्वीकार न करते हुए व्यक्ति के अधिकारों पर बहुत बल दिया है। अब यहाँ इसका वर्णन किया जाएगा।

व्यक्ति के अधिकार—स्पेन्सर का विश्वास है कि संसार में सबसे अधिक मौलिक और महत्वपूर्ण बात व्यक्ति को उसके गुणों और योग्यताओं के विकास के लिए पूरी स्वाधीनता देना है, क्योंकि वह इसी से सुख प्राप्त कर सकता है। '**सामाजिक स्थितिविज्ञान**' में उसका पहला मौलिक सिद्धान्त (First Principle) प्रत्येक व्यक्ति को उस हद तक पूरी स्वतन्त्रता देना है जहाँ तक यह दूसरों की इसी प्रकार की स्वतन्त्रता में बाधक न हो। स्पेन्सर व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाले बाह्य और आन्तरिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता के अधिकार का समर्थन इन युक्तियों से करता है। व्यक्ति के बाह्य एवं प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाले भौतिक क्षेत्र के सम्बन्ध में एडम स्मिथ की भाँति उसका भी यही विचार है कि प्रकृति ने भौतिक जगत् की एक बड़ी सुन्दर योजना बनाई है, इसमें सबका एक-दूसरे के साथ सुन्दर समन्वय स्थापित किया है और प्रत्येक व्यक्ति के स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने की व्यवस्था की है, अतः व्यक्ति को बाह्य जगत् में स्वतन्त्रता का अधिकार प्रकृति से प्राप्त हुआ है। आन्तरिक क्षेत्र में उसका यह विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में न्याय, प्रेम, सहानुभूति और परोपकार की ऐसी भावना निहित है कि वह स्वयमेव दूसरों के अधिकारों का ध्यान रखेगा और सब व्यक्ति निर्बाध रूप से अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग करेंगे। स्वतन्त्रता आदि के इन अधिकारों को प्राकृतिक कहने का कारण यह है कि ये मनुष्य की प्रकृति या स्वभाव में विद्यमान हैं, समाज का निर्माण होने से पहले की (pre-social) प्राकृतिक दशा से ही मनुष्य को प्राप्त है।

स्वतन्त्रता के साथ, स्पेन्सर व्यक्ति को सम्पत्ति रखने का भी अधिकार देता है। किन्तु इस विषय में उसकी एक विशेषता उल्लेखनीय है : वह भूमि पर किसी व्यक्ति का निजी अधिकार नहीं मानता है, क्योंकि वह भूमि पर सब व्यक्तियों द्वारा समान स्वतन्त्रता के साथ अधिकार रखने के मौलिक सिद्धान्त का विरोधी है। अतः इसका अर्थ यह है कि भूमि पर राज्य का एवं राष्ट्र का स्वामित्व होना चाहिए, किन्तु फिर भी समाज में भूमि तथा इसकी पैदावार पर व्यक्तियों का निजी स्वामित्व दिखाई देता है। इसका कारण यह है कि भूमि के एक अंश पर व्यक्ति ने अपना परिश्रम लगाकर वस्तु उत्पन्न की है और समाज ने इसे स्वीकार किया है। यहाँ स्पेन्सर की इस अधिकार के समाज द्वारा स्वीकृत करने की शर्त वस्तुतः उसके प्राकृतिक अधिकारों की नींव को खोखला कर देती है, क्योंकि इससे यह परिणाम निकलता है कि अधिकार मनुष्य को प्रकृति से या उसके स्वभाव से नहीं मिलते, अपितु समाज की सहमति से मिलते हैं, जैसा ग्रीन ने माना था (देखिए ऊपर पृ० १७९)।

स्पेन्सर ने अपनी एक अन्य पुस्तक 'The Man Versus the State' में व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का समर्थन प्राणिशास्त्र के आधार पर किया है। उसका कहना है कि यदि मनुष्य को अच्छी तरह जीवित रहना है तो उसे अपने जीवन के लिए सभी आवश्यक कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए और उसे अपने प्राकृतिक अधिकार मिलने चाहिएँ। किन्तु यह युक्ति बड़ी निस्सार और थोथी है। हक्सली (Huxley) ने इसका खण्डन करते हुए कहा है, यदि उत्तम जीवन के आधार पर प्राकृतिक अधिकारों को मानना हो तो यह **शेर के अधिकारों** (Tiger Rights) जैसी बात होगी। शेर को जीवन धारण करने के लिए गौ को खाना चाहिए। क्या इसी प्रकार मनुष्य को अपने जीवन को बनाए रखने के लिए दूसरे व्यक्तियों के अधिकारों का अपहरण करना चाहिए ? यदि समाज में इस व्यवस्था को मान लिया जाए तो बलवान् निर्बलों को हड़प जाएँगे। स्पेन्सर इस अवांछनीय स्थिति से बचने के लिए यह कहता है कि मनुष्य के तथा शेर के अधिकारों में अन्तर है, इसका कारण समाज में अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति है। शेर जंगल का राजा है, वह वहाँ मनमाना व्यवहार कर सकता है, किन्तु मनुष्य को समाज में अन्य प्राणियों के साथ मिलकर रहना है, अतः उसे ऐसे कार्य नहीं करने चाहिएं जो अन्य व्यक्तियों के कार्य या स्वतन्त्रता में बाधा डालते हों। यदि मनुष्य इस प्रकार अपने कुछ दावों (Claims) या स्वतन्त्रताओं का परित्याग करता है तो उसकी शेष स्वतन्त्रताओं और दावों को **नैतिक अधिकार** (Ethical Rights) कहा जाना चाहिए। किन्तु इससे स्पेन्सर के सिद्धान्त में एक बड़ा दोष यह आ जाता है कि यदि इन्हें नैतिक अधिकार समझा जाए तो ये प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights) नहीं रह जाते। अतः स्पेन्सर का व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का विचार बड़ा असंगत और परस्पर विरोधी है। बार्कर ने इस विरोध को प्रदर्शित करते हुए लिखा है—"स्पेन्सर किसी समय तो इस बात पर बल देता है कि प्राकृतिक अधिकार मनुष्य में स्वाभाविक रूप से निहित हैं और कभी यह मानता है कि अधिकारों के लिए समाज से स्वीकृति लेना आवश्यक

है।"[1] किसी समय वह इसका समर्थन प्राणिशास्त्र के आधार पर करता है और कभी वह इन्हें नैतिक अधिकार मानता है।

राज्य के कार्य—स्पेन्सर विकासवाद का परम भक्त और व्यक्ति के अधिकारों का प्रबल पोषक था, अतः उसने राज्य के कार्य-क्षेत्र को अत्यधिक सीमित करते हुए व्यक्ति को अपने विकास के लिए पूरी छूट दी है। वह राज्य को एक अनिवार्य बुराई मानता था, राज्य एक अल्पकालस्थायी संस्था थी, समाज की अन्तिम आदर्श स्थिति अराजक दशा की थी जिसमें राज्य की संस्था का लोप हो जाएगा। उस समय मनुष्यों में ऐसा समन्वय और सामंजस्य स्थापित हो जाएगा कि राज्य की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। इस समय जिस प्रकार अनेक ईसाई रोमन कैथोलिक चर्च की उपेक्षा करते हैं, इसी प्रकार भविष्य में मनुष्यों में सहयोग और समन्वय की भावना प्रबल होने पर राज्य सर्वथा अनावश्यक और उपेक्षित संस्था हो जाएगी।

स्पेन्सर ने राज्य के कार्यों का विरोध विकासवाद के सिद्धान्त के आधार पर किया है। इसके अनुसार 'जीवन के लिए उग्र संघर्ष' प्रकृति का स्वाभाविक नियम है, इसमें योग्यतम और शक्तिशाली की विजय होती है। निर्बल तथा अयोग्य नष्ट हो जाते हैं। यह प्रकृति की बड़ी हितकर व्यवस्था है। उदाहरणार्थ, जंगल में कुछ शिकारी जानवर कमजोर और बूढ़े प्राणियों का संहार करते हैं। इस प्रकार की मृत्यु से तीन प्रकार का आनन्द उत्पन्न होता है : बूढ़े जानवर को अपने दयनीय दुःखपूर्ण जीवन से मुक्ति मिल जाती है, नौजवान जानवर बूढ़ों की प्रभुता से मुक्त होकर जीवन का अधिक आनन्द उठाते हैं और शिकारी जानवरों को बूढ़े तथा कमजोर प्राणियों का शिकार करने में बड़ा मज़ा आता है। यद्यपि यह व्यवस्था ऊपरी दृष्टि से कठोर और निर्दयतापूर्ण प्रतीत होती है, किन्तु यह बड़ी हितकर है क्योंकि इससे अयोग्य एवं निर्बल तत्वों का सफाया होता रहता है, समाज शक्तिशाली एवं सुदृढ़ बना रहता है। मानव-समाज में भी इस लाभप्रद और कठोर व्यवस्था को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य इस संघर्ष को निर्बाध रूप से चलने दे, निर्बल व्यक्तियों की सहायता न करे।

अतः राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह इस जीवन-संघर्ष में हस्तक्षेप न करते हुए केवल उन्हीं कार्यों को करे जो समाज एवं राज्य को बनाए रखने के लिए अत्यावश्यक हैं। ये तीन प्रकार के कार्य हैं—(१) विदेशी आक्रमणों से व्यक्तियों की रक्षा, (२) आन्तरिक उपद्रवकारियों—चोर-डाकुओं आदि के आतंक से नागरिकों को सुरक्षित बनाना, (३) कानून के अनुसार किए गए समझौतों का पालन करवाना। राज्य को ये सब निषेधात्मक काय ही करने चाहिएं, कोई भावात्मक कार्य नहीं करना चाहिए। शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य और जनहित के कार्यों का राज्य द्वारा किया जाना समुचित नहीं है। राज्य को शिक्षा के प्रसार के लिए विद्यालय नहीं खोलने चाहिएँ, बीमारों के इलाज के लिए चिकित्सालय भी नहीं खोले जाने चाहिएँ, मजदूरों की दशा सुधारने के लिए 'कारखाना कानून' नहीं बनाने चाहिएँ, निर्धनों को राज्य

---

१. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ११०

की ओर से भरण-पोषण की सहायता (Poor relief) नहीं दी जानी चाहिए। राज्य की ओर से मुद्रा-व्यवस्था तथा डाक-तार की व्यवस्था नहीं होनी चाहिए।[1] स्पेन्सर का यह विचार था कि यदि लोग शिक्षा या स्वास्थ्य की व्यवस्था के महत्व को समझेंगे तो वे इसके लिए स्वयमेव स्कूल और हस्पताल खोल लेंगे और अधिक उत्साह से काम करेंगे। इसी प्रकार गरीबों को अपनी दशा स्वयमेव सुधारनी चाहिए; यदि वे इसे नहीं सुधारते हैं तो वे अयोग्य हैं, यदि उन्हें सहायता देकर जीवित रखा गया तो वे समाज पर भाररूप ही सिद्ध होंगे तथा उसकी प्रगति में बाधा डालेंगे। इसी तरह जनता को यदि डाक, तार, मुद्रा आदि की व्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत होगी तो लोग स्वयमेव इनकी व्यवस्था कर लेंगे। इस प्रकार बार्कर के शब्दों में स्पेन्सर राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में प्रधान रूप से इस बात का ही प्रतिपादन करता है कि राज्य को कौनसे कार्य नहीं करने चाहिएँ। जिस प्रकार हमारे शास्त्र भगवान् का वर्णन 'नेति'-'नेति' के शब्दों से करते हैं, उसी प्रकार स्पेन्सर राज्य के कार्यों का वर्णन नकारात्मक रूप में ही किया करता है।

स्पेन्सर एक अन्य कारण से भी राज्य के कार्यों का विरोध करता है। उसमें यह जन्मजात एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति थी कि वह स्वतन्त्रता से प्रेम करे और सत्ता का विरोध करे। उसने Man versus State नामक पुस्तक में तथा इसके **'विधान-निर्माताओं के पाप'** (Sins of Legislators) नामक निबन्ध में इस बात का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया है कि राज्य ने कितने मूर्खतापूर्ण कानून बनाए हैं, विधानमण्डलों के अशिक्षित, अनुभवहीन सदस्यों ने अतीत काल में कितनी भयंकर भूलें करके समाज को हानि पहुँचायी है, अतः भविष्य में उन पर कोई भरोसा नहीं रखा जाना चाहिए। राज्य को इन कानूनों के आधार पर कोई भी कार्य नहीं करने देने चाहिएँ। इसके साथ ही वह बड़े उग्र शब्दों में पार्लियामैण्ट की प्रभुसत्ता का विरोध करते हुए कहता है—"अतीत काल में एक बड़ा राजनीतिक अन्धविश्वास राजाओं का दैवी अधिकार (Divine Right of Kings) था; वर्तमान समय का एक बड़ा राजनीतिक अन्धविश्वास पार्लियामैण्टों का दैवी अधिकार है।"[2]

आलोचना—किन्तु आजकल स्पेन्सर के इन सिद्धान्तों को कोई भी व्यक्ति सही नहीं मानता है। मैक्सी ने लिखा है कि वर्तमान समय के आलोचक उसे पूरा ज्ञान न रखने वाला वैज्ञानिक (Amateur Scientist) तथा अधकचरा दार्शनिक

---

१. स्पेन्सर को राज्य की डाक-व्यवस्था में इतना अविश्वास था कि वह अपनी पुस्तक की पाण्डुलिपि प्रकाशक को डाक से न भेजकर स्वयमेव उसके पास जाकर उसे सौंपा करता था (विल ड्यूरैण्ट—स्टोरी आफ फिलासफी, पृ० ४३१; स्पेन्सर की आत्मकथा, खण्ड १, पृ० २३९)। स्पेन्सर को नींद न आने की बीमारी थी, इसलिए उसने राज्य द्वारा केवल एक ही कार्य के किए जाने पर बल दिया था, यह एक कानून बनाकर रेलगाड़ियों के इंजनों का रात के समय सीटी बजाना बन्द करना था, क्योंकि सीटी बजाने से उसकी नींद में बड़ी बाधा पड़ती थी (स्पेन्सर—प्रिन्सिपल्ज़ आफ ईथिक्स, खण्ड १, पृ० २९६)।

२. स्पेन्सर—मैन वर्सस स्टेट (१८९७ का संशोधित संस्करण), पृ० ३७७

(Pseudo-Philosopher) मानते हैं।[1] स्पेन्सर के समय से विज्ञान ने विकासवाद के बारे में बहुत अधिक ज्ञान प्राप्त कर लिया है और यह स्पेन्सर के सिद्धान्तों का पोषण करने के स्थान पर उनका खण्डन करता है। बार्कर ने (पृ० ८१) लिखा है कि वह अधूरी सामग्री को पूरी तरह समझे बिना, इसके आधार पर सामान्य नियमों की कल्पना करने में बड़ा कुशल था। यही कारण है कि उसके सिद्धान्तों को उसके समय में जितनी लोकप्रियता और यश मिला था, ज्ञान की वृद्धि के साथ उसकी कीर्ति उतनी ही जल्दी क्षीण होने लगी। ब्रिण्टन के व्यंग्यपूर्ण शब्दों में किसी समय उसके ग्रन्थों को चाव से पढ़ा जाता था, उन पर चर्चा होती थी, उनमें प्रतिपादित मन्तव्यों का प्रबल समर्थन किया जाता था, किन्तु आजकल उसके ग्रन्थ कबाड़ी बाजार में भी नहीं बिकते और दर्शनशास्त्र में डॉक्टर की उपाधि पाने के इच्छुक जर्मन या अमेरिकन विद्वान् भी इसका अध्ययन नहीं करते हैं।[2] इस समय उसके सिद्धान्तों में निम्नलिखित प्रमुख दोष बताए जाते हैं।

पहला दोष उसके सिद्धान्तों का पारस्परिक विरोध और असंगति है। एक ओर तो वह व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों पर बल देता है और दूसरी ओर वह समाज को एक जीवित शरीर (organism) मानता है तथा इसके साथ इसके सादृश्यों और समानताओं का विस्तृत प्रतिपादन करता है। ये दोनों सर्वथा विरोधी सिद्धान्त हैं। यदि व्यक्ति को महत्वपूर्ण और साध्य माना जाए तो समाज केवल व्यक्तियों का समूह मात्र रह जाता है, इसमें व्यक्ति प्रधान और समाज गौण हो जाता है। किन्तु यदि समाज को जीवित शरीर माना जाए तो इसमें समाज प्रधान तथा व्यक्ति गौण बन जाता है। स्पेन्सर ने इन दोनों विरोधी सिद्धान्तों को एकसाथ सही बताने का विफल प्रयास किया है। बार्कर के शब्दों में उसने दो अलग दिशाओं में चलने वाले बैलों की भाँति राजनीतिशास्त्र और प्राणिशास्त्र को एक ही जुए में जोतने का निष्फल प्रयत्न किया है।[3] वस्तुत उसकी असली सहानुभूति व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों के साथ है, राज्य की शरीर के साथ तुलना एक रूपक मात्र है। इसके वास्तविक परिणाम—समाज की प्रधानता और व्यक्ति की गौणता को स्वीकार करने के लिए वह तैयार नहीं है। **दूसरा** दोष प्राकृतिक अधिकारों की भ्रान्तिपूर्ण कल्पना है, पहले (पृ० २४०–४१) इसका वर्णन हो चुका है। **तीसरा** दोष विकासवाद के विषय में ऐसी कल्पनाएँ करना है जो अब अवैज्ञानिक समझी जाती हैं। उसने विकासवाद तथा उन्नति को प्रगति का पर्याय माना और यह विचार रखा था कि विकास सदैव उन्नति की दिशा में ही होता है, समाज में विकास की अन्तिम आदर्श स्थिति आने पर आगे कोई विकास नहीं होता है। आधुनिक वैज्ञानिक इन दोनों कल्पनाओं को सत्य नहीं मानते हैं। **चौथा** दोष सैनिक तथा औद्योगिक समाज की भ्रान्तिपूर्ण कल्पना है। इतिहास की साक्षी इसका विरोध करती है। स्पेन्सर की मान्यता यह है

---

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० ५६२
२. क्रेन ब्रिण्टन—इंगलिश पोलिटिकल थाट इन दी नाइण्टीन्थ सेंचुरी, पृ० २२७
३. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ११३

कि व्यापारी और औद्योगिक समाज युद्ध करना बन्द कर देते हैं, किन्तु यूनान में एथेन्स ने अपना व्यापारिक उत्कर्ष पाने के बाद ही अधिकांश लड़ाइयाँ लड़ी थीं। १९वीं तथा २०वीं शताब्दी के आधुनिक औद्योगिक राष्ट्र अपने उद्योग-धन्धों के लिए कच्चा माल पाने तथा तैयार माल की बिक्री के लिए उपयुक्त मण्डियों को सुरक्षित बनाने के लिए तथा अपने साम्राज्य बढ़ाने की दृष्टि से अनेक युद्ध करते रहे हैं। वर्तमान युग में सैनिकवाद का परमभक्त जर्मनी विश्व का एक महान् औद्योगिक राष्ट्र बना हुआ है। **पाँचवाँ** दोष समाजवाद के सम्बन्ध में यह भ्रान्त कल्पना थी कि इसका जन्म सैनिक और समाजवादी राज्यों में होता है, इसका उद्योग-धन्धों से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि इसमें केन्द्रीकरण की तथा सरकार की शक्ति बढ़ाने की, व्यक्ति को राज्य के अधीन बनाने की वही प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं जिनका दर्शन हमें सैनिक राज्यों में होता है। अगले अध्यायों से यह स्पष्ट हो जाएगा कि समाजवाद का विकास औद्योगिक राज्यों में ही होता है, इसका उद्योग-धन्धों के विकास से गहरा सम्बन्ध है।

छठा दोष उसकी कट्टरता और असहिष्णुता थी, उसे अपने सिद्धान्तों पर ऐसा गहरा विश्वास था कि वह विरोधी पक्ष को सुनना तक भी पसन्द नहीं करता था। किन्तु बुढ़ापे में उसकी सम्मतियों और विचारों की उग्रता कुछ कम होने लगी थी। पहले वह सदैव इंगलैण्ड में उस समय में विद्यमान राजतन्त्र की खिल्ली उड़ाया करता था, किन्तु अब उसने यह अनुभव किया कि जिस प्रकार बच्चों को गुड़िया के साथ खेलने में आनन्द आता है, उसी प्रकार ब्रिटिश लोग अपने राजा से बड़े प्रसन्न रहते हैं, उन्हें इस आनन्द से वंचित करना ठीक नहीं है। उसने यह भी अनुभव किया कि धार्मिक विश्वास अधिक गम्भीर प्रेरणाओं तथा आवश्यकताओं पर आधारित हैं, उन्हें कोरे तर्कों से नहीं बदला जा सकता है। अपने जीवन की संध्या में वह यह अनुभव करने लगा था कि दुनिया उसके ग्रन्थों की उपेक्षा करते हुए मनमाने ढंग से आगे बढ़ रही है, उसने जीवन के आनन्दों का उपभोग न करते हुए साहित्यिक यश पाने की लालसा से कठोर परिश्रम द्वारा अपना जीवन और स्वास्थ्य बरबाद करके एक बड़ी मूर्खता की है। १९०३ में अपनी मृत्यु के समय उसे यह विश्वास हो चुका था कि उसका सारा परिश्रम बिलकुल बेकार था।[1] क्या वास्तव में यही बात थी?

स्पेन्सर का महत्व और मूल्यांकन— अपने विषय में स्पेन्सर की उपर्युक्त धारणा सही नहीं प्रतीत होती है। राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में वह अपनी कई देनों के कारण सदैव स्मरणीय बना रहेगा। उसकी **पहली** देन राज्य के अवयवी सिद्धान्त (Organic Theory of the State) का विशदतम और स्पष्टतम प्रतिपादन था। उससे पहले किसी ने इतनी अधिक स्पष्टता के साथ राज्य की शरीर से तुलना नहीं की थी। मैक्सी के मतानुसार उसने इस सिद्धान्त को विकास के चरम शिखर तक पहुँचाया था। **दूसरी** देन विधानसभाओं के कानूनों द्वारा समाज का सुधार करने की सम्भावना का खण्डन करना था। केवल सरकारी कानूनों से जनता का सुधार करने की मूर्खता को उसने अपनी कृतियों में भलीभाँति प्रदर्शित किया और इससे यह बात

१. विल ड्यूरैण्ट—स्टोरी आफ फिलासफी, पृ० ४३३

स्पष्ट हुई थी कि समाज में परिवर्तन बड़ी मन्थर गति से होता है, मनुष्य अपनी परम्परागत रूढ़ियों और रिवाजों को तथा अपनी आदतों को आसानी से छोड़ने को तैयार नहीं होते हैं। **तीसरी** देन वैयक्तिक अधिकारों का प्रचण्ड समर्थन और राज्य द्वारा अहस्तक्षेप (Laissez faire) के सिद्धान्त के लिए वैज्ञानिक आधार को प्रस्तुत करना था। उसने समष्टिवाद और साम्यवाद के प्रबल प्रवाह का विरोध करते हुए व्यक्ति के अधिकारों का बड़ी उग्रता से पोषण किया। इस दृष्टि से आज भी स्पेन्सर का बहुत महत्व है क्योंकि इस समय राज्य की शक्ति निरन्तर बढ़ रही है और व्यक्ति के अधिकारों को सुरक्षित बनाए रखने की आवश्यकता पहले से बहुत अधिक बढ़ गई है। **चौथी** और सबसे बड़ी विशेषता अपने युग के ज्ञान-विज्ञान का अद्भुत समन्वय प्रस्तुत करना था। स्पेन्सर १९वीं शताब्दी का वेदव्यास था, जिस प्रकार प्राचीन काल में कृष्णद्वैपायन व्यास ने प्राचीन भारतीय वाङ्मय का वर्गीकरण और समन्वय किया था, वैसे ही स्पेन्सर ने १९वीं शताब्दी के दर्शन, प्राणिशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि सभी ज्ञान-विज्ञानों का समन्वय किया था। ऐसे विशाल कार्य में भूलें रह जाना स्वाभाविक है, किन्तु इनसे इस कार्य की गरिमा और महत्ता में कोई कमी नहीं आती है। "यदि हम इस समय स्पेन्सर के समय से भी अधिक ज्ञान रखते हैं तो इसका कारण उसके द्वारा भगीरथ परिश्रम से निकाले गए ज्ञान-नवनीत से लाभ उठाना है।" विल ड्यूरैण्ट के शब्दों में, "हम उसके कन्धों पर चढ़कर उससे ऊपर उठ सके हैं।"[1] उसने १९वीं शताब्दी के ज्ञान-विज्ञान के समन्वय जैसा अद्भुत कार्य किया था, बीसवीं शताब्दी के ज्ञान-विज्ञान के वैसे समन्वय के कार्य को कोई विद्वान् अब तक नहीं कर सका। यही उसकी महत्ता का एक प्रबल प्रमाण है।

थामस हेनरी हक्सली (१८२५-९२)

स्पेन्सर द्वारा प्रवर्तित वैज्ञानिक सम्प्रदाय की विचारधारा को डार्विन और वालेस के अतिरिक्त हक्सली ने विकसित किया। हक्सली भी स्पेन्सर की भाँति एक निर्धन अध्यापक परिवार में उत्पन्न हुआ था, केवल दो वर्ष तक एक पाठशाला में पढ़ने के बाद उसने स्वयमेव इतने परिश्रम और अध्यवसाय से अध्ययन किया कि विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने की परीक्षा उसने बड़ी सुगमता से पास कर ली। विश्वविद्यालय में डॉक्टरी का अध्ययन करने के बाद वह ब्रिटिश नौसेना में सर्जन बन गया, इससे उसे उष्ण कटिबन्धों की वनस्पतियों और प्राणियों के अध्ययन का सुअवसर मिला, उसने मेरुदण्डीय (Vertebrate) तथा मेरुदण्डशून्य प्राणियों की शारीरिक रचना के सम्बन्ध में कुछ नई बातों की खोज की। बाद में लन्दन विश्वविद्यालय के प्राध्यापक, एबर्डीन विश्वविद्यालय के लार्ड रैक्टर, रायल सोसायटी के सभापति तथा प्रिवी कौन्सिल के सदस्य के रूप में उसने अपनी सारी शक्ति और प्रभाव सभी विज्ञानों के प्रसार और उन्नति में लगाया। यद्यपि वह डार्विन के सिद्धान्त से पूर्णरूप से सहमत नहीं था, किन्तु उसने विरोधियों के अनुभवों से इसकी पूरी रक्षा की तथा इसके प्रचार के लिए अनथक उद्योग किया।

१. विल ड्यूरैण्ट—स्टोरी आफ फिलासफी, पृ० ४३४

राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में हक्सली ने स्पेन्सर से दो बातों में विशेष रूप से मतभेद प्रकट किया : पहली बात समाजविषयक दार्शनिक सिद्धान्तों के क्षेत्र को प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र से पृथक् एवं भिन्न मानना तथा दूसरी बात राज्य के कार्य-क्षेत्र को विस्तृत एवं व्यापक बनाना था। स्पेन्सर ने प्रकृति के तथा मानव के क्षेत्र में अभेद माना था और दोनों पर विकासवाद का नियम समान रूप से लागू किया था। किन्तु हक्सली दोनों को सर्वथा भिन्न मानता है। प्रकृति में कोरी शक्ति का साम्राज्य है, वहाँ सब प्राणियों में जीवन के लिए रक्तरंजित जीवन-संघर्ष चल रहा है, इसमें विजयी होने के लिए भौतिक दृष्टि से शक्तिशाली होना आवश्यक है; नैतिक दृष्टि से उत्कृष्ट होने का इसमें कोई महत्व नहीं है। प्रकृति में कोई नैतिकता या नैतिक माप-दण्ड नहीं हैं, इसमें योग्यतम की एकमात्र कसौटी परिस्थितियों से अपने को अनुकूल बना लेना है। प्रकृति में किसी के कोई अधिकार नहीं होते हैं, वहाँ शक्ति का बोलबाला है, पाशविक शक्तियाँ प्रकृति में अधिकार का रूप धारण कर लेती हैं, अपनी शक्ति से जो जितना प्राप्त कर ले, उस पर उसका अधिकार हो जाता है। किन्तु इसके सर्वथा विपरीत मानव-समाज का क्षेत्र है, इसमें नैतिकता का साम्राज्य है, यह मनुष्य द्वारा बनाया गया कृत्रिम नैतिक जगत् है। इसमें नैतिकता के आधार पर अधिकारों का निर्णय होता है। यद्यपि मनुष्य प्रकृति के प्रभाव में रहता है, फिर भी वह उसके नियमों के विरुद्ध सतत रूप से विद्रोह करते हुए अपनी परिस्थितियों को सुधारता रहता है। वह प्रकृति के क्षेत्र में ऐसी दुनिया देखता है जहाँ 'जीवो जीवस्य भोजनम्' का नियम है, प्रत्येक प्राणी एक-दूसरे को खाने का प्रयत्न कर रहा है, बिल्ली चूहे पर और कुत्ता बिल्ली पर झपट रहा है। किन्तु मनुष्य ऐसा मानव-समाज स्थापित करना चाहता है जिसका उद्देश्य मनुष्यों की भलाई और उनकी सुरक्षा है, वह बलपूर्वक अपना प्रभुत्व स्थापित करने के स्थान पर आत्मसंयम को महत्व देता है; प्रतिस्पर्द्धा की जगह सहयोग की तथा दूसरों को सहायता करने की भावना को आवश्यक समझता है। वह 'योग्यतम की विजय' (Survival of the fittest) के स्थान पर इस बात का प्रयत्न करता है कि अधिक-से-अधिक व्यक्तियों को सहायता देकर जीवित रखा जाए। उसका यह प्रयत्न रहता है कि नैतिक दृष्टि से उत्तम व्यक्तियों को समाज में ऊँचा तथा बुरे व्यक्तियों को नीचा स्थान मिले। इस प्रकार मानव-समाज में नैतिकता का विकास होता है।

किन्तु इस विषय में एक मौलिक प्रश्न यह है कि मनुष्य घोर स्वार्थी है, उसमें परार्थ को तथा दूसरे के हितों को महत्व देने वाली इस प्रवृत्ति का आविर्भाव किन कारणों से होता है। इसका उत्तर हक्सली ने यह दिया है कि हम में अनुकरण (Imitation) की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, हम अपने साथियों जैसा बनना चाहते हैं, हम अपने कार्यों के लिए उनका समर्थन और स्वीकृति पाना चाहते हैं। यह हमें तभी मिल सकती है जब हम उनके हितों का ध्यान रखें। अतः हम बार्कर के शब्दों में गिरगिट की भाँति आस-पास के वातावरण का तथा अपने साथियों का रंग ग्रहण कर लेते हैं और पड़ोसियों के हितों का पूरा ध्यान रखते हैं।[1] यही हमारे समाज का और हमारी

१. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ११७-८

नैतिकता का आधारभूत मौलिक तत्व है ।

राज्य का व्यापक कार्य-क्षेत्र—हक्सली मानव-समाज की भलाई करने की दृष्टि से राज्य के कार्य-क्षेत्र को व्यापक बनाता है । उसका यह मत है कि मानव-समाज के हित के उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए राज्य कोई भी कार्य कर सकता है । बार्कर के शब्दों में, "प्रकृति के जंगल को मानव-समाज का मनोरम उद्यान बनाने के लिए तथा इसमें शान्ति स्थापित करने के लिए राज्य को सब प्रकार के प्रयत्न करने चाहिएँ ।"[1] स्पेन्सर राज्य द्वारा मनुष्य को शिक्षा देने का घोर विरोधी था, किन्तु हक्सली अनिवार्य शिक्षा का समर्थन इस आधार पर करता है कि यह समाज में शान्ति बनाए रखने के लिए तथा इसकी उन्नति के लिए नितान्त आवश्यक है । हक्सली स्पेन्सर के अराजकतावाद से भी सहमत नहीं है और वह राज्य की संस्था की उपयोगिता और आवश्यकता में विश्वास रखता है ।

१. बार्कर—पूर्वोक्त पुस्तक, ११९

आठवाँ अध्याय

ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय सम्प्रदाय

(Historical and Sociological Schools)

विधिशास्त्री और व्यवहारवादी विचारक—मेन तथा कोम्त— १९वीं शताब्दी में राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में जहाँ एक ओर वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ, वहाँ दूसरी ओर इस समय ऐतिहासिक (Historical) तथा समाजशास्त्रीय (Sociological) सम्प्रदायों का भी विकास हुआ। ऐतिहासिक सम्प्रदाय का पोषण प्रधान रूप से विधिशास्त्र (Juris-prudence) और कानून के धुरन्धर विद्वानों ने किया। इनमें जर्मनी का सैविग्नी (१७७९-१८६१), इंगलैण्ड का सर हेनरी जेम्स सुमनेर मेन (१८२२–१८८८) और संयुक्त राज्य अमेरिका के फ्रांसिस लिबर और बर्जेस उल्लेखनीय हैं। इसके साथ-साथ फ्रांस में आगस्त कोम्त ने समाजशास्त्र के नवीन विज्ञान की स्थापना की और राजनीतिक प्रश्नों पर समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार करते हुए समाजशास्त्रीय सम्प्रदाय (Sociological School) को जन्म दिया। कोम्त उस समय प्रचलित कल्पनाओं पर आधारित धर्मशास्त्रियों के आध्यात्मिक चिन्तन से ऊब चुका था, उसके मतानुसार हमारे समूचे अध्ययन का आधार सुनिश्चित वैज्ञानिक भावात्मक (Positive) तथ्य होने चाहिएँ। इस पर बल देने के कारण उसका दर्शन भावात्मक तथा व्यवहारवादी (Positive Philosophy) कहलाता है। इस अध्याय में इन दोनों सम्प्रदायों के प्रमुख विचारक सर हेनरी मेन और आगस्त कोम्त (Auguste Comte) के विचारों का परिचय दिया जाएगा।

ऐतिहासिक सम्प्रदाय—राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करने की पद्धति बहुत पुरानी है। यूनानी ऐतिहासिक पोलीबियस (Polybius) ने दूसरी शताब्दी ई० पू० में रोम के इतिहास के अध्ययन के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले थे। १६वीं शताब्दी में बोदँ ने यह कहा था कि राजनीतिक चिन्तन का आधार ऐतिहासिक दृष्टि से निरीक्षण होना चाहिए, विभिन्न समयों की संस्थाओं और विचारों का तुलनात्मक अध्ययन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में किया जाना चाहिए। हाटमैन ने फ्रेंच राजतन्त्र की निरंकुश सत्ता की आलोचना के लिए ऐतिहासिक पद्धति का अवलम्बन किया था। मांतेस्क्यू ने इस बात पर बल दिया था कि विभिन्न युगों की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार कानूनों और संस्थाओं का विकास होता है। किन्तु ऐतिहासिक सम्प्रदाय का विशेष विकास उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मनी और इंगलैण्ड में हुआ। मैक्सी ने इस विषय में यह सत्य ही लिखा है कि १९वीं शताब्दी कानूनी पाण्डित्य के विकास के लिए अधिक अनुकूल थी,[1] इस समय ऐतिहासिक पद्धति

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० ५३१

से अन्वेषण करने के लिए कानूनी पाण्डित्य (Legal Scholarship) का विशेष रूप से विकास हुआ। इसका यह कारण था कि पश्चिमी जगत् में इस समय कई महान् पुस्तकालयों, संग्रहालयों और विश्वविद्यालयों की स्थापना और विकास के साथ-साथ विभिन्न देशों की जातियों और कालों पर प्रकाश डालने वाली सामग्री का संकलन बहुत बड़ी मात्रा में हुआ। इससे ऐतिहासिक और कानूनी अनुसन्धान के लिए न केवल प्रचुर सामग्री उपलब्ध हुई, अपितु इसका उपयोग करने की अधिक सुविधाएँ सुलभ हो गई। इस समय वैज्ञानिक भावना (Scientific spirit) का बोलबाला था, अतः विभिन्न देशों में विधिशास्त्री ऐतिहासिक पद्धति से कानून के मौलिक सिद्धान्तों की खोज में लगे हुए थे। इस सम्प्रदाय का विकास करने वाले वकीलों ने और विधिशास्त्रियों ने उस समय राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में प्रचलित विचारों—प्राकृतिक कानून और सामाजिक संविदा (Social Contract) के सिद्धान्तों के विरुद्ध विद्रोह किया। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के नेताओं का यह कहना था कि वे उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर प्राचीन प्रथाओं तथा व्यवस्थाओं का अन्त करके एक नई पद्धति स्थापित कर रहे हैं, किन्तु ऐतिहासिक सम्प्रदाय ने इस बात पर बल दिया कि चिरकाल से चली आने वाली प्रथाओं और परम्पराओं का समूलोन्मूलन सम्भव नहीं है, यह एक ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया का परिणाम है और पुरानी प्रथाओं का संरक्षण किया जाना चाहिए। इंगलैण्ड में ब्लैकस्टोन और बर्क ने और फ्रांस में सेण्ट साइमन तथा आगस्त कोम्त ने ऐतिहासिक पद्धति पर बल दिया। जर्मनी में राष्ट्रीय देशभक्ति की भावना के साथ ऐतिहासिक भावना का और कानून की शिक्षा का आन्दोलन प्रबल हुआ। विकासवाद के सिद्धान्तों ने भी ऐतिहासिक सम्प्रदाय को प्रबल बनाने में सहयोग दिया। इस विषय में बार्कर ने यह लिखा है, "१८५९ में डार्विन की सुप्रसिद्ध पुस्तक **जाति वर्गों का विकास** (Origin of Species) छपी, १८६१ में सर हेनरी मेन की **प्राचीन कानून** (Ancient Law) प्रकाशित हुई। यह केवल एक संयोग था, डार्विन ने प्राणिशास्त्र के क्षेत्र में इतिहास का उपयोग किया था और मेन ने कानून के क्षेत्र में ऐतिहासिक विकास के सिद्धान्त को लागू किया।"[1]

इस प्रकार राजनीतिक चिन्तन, शासन और विधिशास्त्र के क्षेत्र में ऐतिहासिक विकास को बल देने वाले एक नए सम्प्रदाय का विकास हुआ, इसका प्रबल पोषण इंगलैण्ड और जर्मनी के प्रमुख विधिशास्त्रियों ने किया।

ऐतिहासिक सम्प्रदाय प्रधान रूप से कानून के प्राकृतिक स्वरूप पर बल देता था, यह कानून के क्रमिक विकास और प्रथाओं के महत्व को स्वीकार करता था, इसका एक प्रधान सिद्धान्त यह था कि कानून बनाया नहीं जाता है, वह पाया जाता है (Law is found, not made)। विधिशास्त्र के क्षेत्र में विकसित होने वाला यह नवीन ऐतिहासिक सम्प्रदाय उस समय तक इस क्षेत्र में प्रचलित विश्लेषणवादी (Analytical School of Jurisprudence) के तथा प्राकृतिक कानून अथवा कानून के दार्शनिक सम्प्रदाय (Philosophical School) के प्रतिकूल था। विश्लेषणवादी

---

१. बार्कर—पोलिटिकल थाट इन इंगलैण्ड (१८४८-१९१४), पृ० १४०

सम्प्रदाय के मतानुसार प्रत्येक कानून किसी शासक या प्रभु का आदेश (Command of a Sovereign) होता है, भले ही वह प्रभु राजा हो या पार्लियामैण्ट हो, इस आदेश को कई अनुज्ञप्तियों (sanctions) से लागू किया जाता है। राजा और पार्लियामैण्ट द्वारा बनाया गया कानून सच्चा कानून होता है। बोदें, हॉब्स और उपयोगितावादी विचारक इस दृष्टिकोण के समर्थक और पोषक थे। इस दृष्टिकोण के सर्वथा विपरीत ऐतिहासिक सम्प्रदाय के अनुयायी विधिशास्त्रियों का यह मत था कि प्राचीन काल में कानून का किसी प्रभु के निश्चित आदेश के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं था, यह किसी जन-समुदाय के रीति-रिवाजों, प्रथाओं और परम्पराओं के रूप में था, उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड का सामान्य कानून (Common Law) प्रथाओं, रीति-रिवाजों और परम्पराओं पर आधारित था तथा वहाँ की पार्लियामैण्ट द्वारा पास किए गए कानून से अधिक महत्वपूर्ण था; यहाँ संसद् के कानून की अपेक्षा प्रथाओं का अधिक तत्परता से पालन किया जाता था। इसके अनुसार समाज में प्रचलित परिस्थितियों की उपेक्षा करके बनाए जाने वाले कानूनों का पालन नहीं होता है। भारत में विधवा-पुनर्विवाह तथा बाल-विवाह और दहेजनिषेधक कानून इसके सुन्दर उदाहरण हैं। ऐतिहासिक सम्प्रदाय ने इस बात पर बल दिया कि कानून के स्वस्थ विकास के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी विशेष समय में किसी एक व्यक्ति या व्यक्तिसमूह की चेतन इच्छा का परिणाम न होकर अचेतन विकास (unconscious growth) का परिणाम होता है।[1]

इसी प्रकार ऐतिहासिक सम्प्रदाय प्राकृतिक कानून और दार्शनिक सम्प्रदायों के विरुद्ध था। प्राकृतिक कानून के सम्प्रदाय (School of Natural Law) के अनुसार प्रकृति के स्वाभाविक रूप से कुछ सर्वत्र पाए जाने वाले सार्वभौम और शाश्वत नियम हैं। प्रत्येक देश में कानून-निर्माताओं का और न्यायाधीशों का यह कर्त्तव्य है कि वे इस सार्वभौम प्राकृतिक कानून के अनुसार तथा इसका ध्यान रखते हुए अपने देश के कानूनों का निर्माण करें। यदि किसी देश में इन प्राकृतिक कानूनों के प्रतिकूल कोई निश्चित कानून बनाया जाता है तो लोगों को उसका विरोध करना चाहिए। कानून के दार्शनिक सम्प्रदाय के अनुसार कुछ शाश्वत कानूनी सिद्धान्त हैं, कानून बनाते हुए इनका अनुसरण किया जाना चाहिए। ऐतिहासिक सम्प्रदाय इसका उग्र विरोधी था, उसके मतानुसार कानून का ऐसा अमूर्त्त सूक्ष्म दार्शनिक सिद्धान्त सर्वथा कपोलकल्पित है और प्राकृतिक कानून की भ्रांत धारणा का परिणाम है। उनका यह मत है कि प्राकृतिक कानून वस्तुतः सब देशों में एक जैसा पाया जाने वाला नियम नहीं है, वह प्रत्येक देश में अलग-अलग है। इसका एक सुन्दर उदाहरण विवाहविषयक नियम है। योरोप में एकविवाह (Monogamy) अथवा एक पुरुष द्वारा एक ही स्त्री के साथ सम्बन्ध के नियम को सर्वथा स्वाभाविक और प्राकृतिक समझा जाता है, किन्तु एशिया के विभिन्न देशों में एक पुरुष द्वारा अनेक स्त्रियों के साथ बहुविवाह की पद्धति (Polygamy) को सर्वथा स्वाभाविक माना जाता है; लद्दाख,

---

१. मैकगवर्न डब्लू० एम०—फ्राम लूथर टु हिटलर, पृ० ३९०

तिब्बत जैसे कुछ प्रदेशों में रहने वाले जनसमूह बहुभर्तृता (Polyandry) अथवा एक स्त्री के अनेक पति होने की प्रथा को सर्वथा स्वाभाविक समझते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि कोई प्रथा या नियम सार्वभौम रूप से प्रचलित होने के कारण प्राकृतिक नहीं हो सकता है। यहाँ ऐतिहासिक सम्प्रदाय के सबसे बड़े विचारक सर हेनरी मेन के सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय दिया जाएगा।

मेन का जीवन तथा कृतियाँ—सर हेनरी जेम्स सुमनेर मेन का जन्म १५ अगस्त, १८२२ को हुआ, उसने अपनी आरम्भिक शिक्षा अच्छे स्कूलों में प्राप्त करके १८४० में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के पेम्ब्रोक कालिज में प्रवेश किया, यूनानी और लैटिन भाषाओं का बहुत अच्छा ज्ञान प्राप्त किया, विश्वविद्यालय में अनेक पुरस्कार और सम्मान प्राप्त किए, १८४४ में उपाधि ग्रहण करने के बाद वह ट्रिनिटी हाल में शिक्षक बन गया। १८४७ में उसे राजा की ओर से सिविल ला (Regius Professor) का प्रोफेसर नियुक्त किया गया। १८५० में उसने कानूनी शिक्षा प्राप्त की, १८५२ में उस समय कानून की शिक्षा देने वाली प्रमुख संस्था इन्स आफ कोर्ट (Inns of Court) ने उसे कानून का अध्यापक नियुक्त किया, इस समय उसने रोमन कानून का और प्राचीन जातियों के रीति-रिवाजों का गम्भीर अध्ययन करके अपने व्याख्यान दिए। यही व्याख्यान १८६१ में **प्राचीन कानून** (Ancient Law) के रूप में प्रकाशित हुए, इनके प्रकाशन से मेन को कानूनी क्षेत्र में अपूर्व ख्याति मिली, वह उस समय का एक प्रमुख विधिशास्त्री और कानूनवेत्ता समझा जाने लगा। १८६३ में उसे भारत में वायसराय की कार्यकारिणी का कानूनी सदस्य बनाकर इस देश में भेजा गया, १८६९ तक वह इस पद पर रहा। इस अवधि में उसने भारत की कानूनी पद्धति का और यहाँ की संस्थाओं का गम्भीर अध्ययन किया। भारत से लौटने के बाद उसे भारतमन्त्री की परिषद् का सदस्य बनाया गया तथा 'सर' की उपाधि से विभूषित किया गया। १८६९ में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के कार्पस क्रिस्टी कालिज में ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक विधिशास्त्र (Comparative Jurisprudence) की गद्दी पर उसे प्रोफेसर बनाया गया। इसके बाद वह ट्रिनिटी हाल में चला गया, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय ने उसे अन्तराष्ट्रीय कानून का प्रोफेसर बनाया, १८८८ में उसका देहान्त हो गया।

सर हेनरी मेन की सुप्रसिद्ध कृतियाँ निम्नलिखित हैं—(१) प्राचीन कानून (Ancient Law, १८६१), (२) पूर्व और पश्चिम के ग्रामीण समुदाय (Village Communities in the East and the West, १८७१), (३) संस्थाओं का प्रारम्भिक इतिहास (Early History of Institutions, १८७५), (४) आरम्भिक कानून और रिवाज (Early Law and Custom, १८८३), (५) लोकप्रिय शासन (Popular Government, १८८५), (६) अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law, १८८८)। इनमें उसकी सबसे अधिक प्रसिद्ध कृति **प्राचीन कानून** (Ancient Law) है, इसे आज तक इस विषय पर लिखी गई सर्वोत्तम पुस्तक माना जाता है। उसकी सबसे अधिक विवादास्पद कृति **लोकप्रिय शासन** (Popular Government) है, इसमें उसने प्रजातन्त्र की शासनप्रणाली की धज्जियाँ उड़ाते हुए उसके दोषों का

विस्तृत प्रतिपादन किया है, राजतन्त्र एवं कुलीनतन्त्र का प्रबल समर्थन किया है। **मेन** के प्रमुख राजनीतिक विचार निम्नलिखित हैं—

१. राज्य की उत्पत्ति का पितृसत्तात्मक सिद्धान्त (Patriarchal Theory of State)—मेन ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ **संस्थाओं के प्रारम्भिक इतिहास** में राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पितृसत्तात्मक सिद्धान्त (Patriarchal Theory) का प्रतिपादन एवं समर्थन किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव-जाति की आदिम दशा में समाज की इकाई परिवार था, अपने सरलतम रूप में परिवार में माता, पिता और बच्चों का समावेश होता था, इस परिवार में पिता सर्वोच्च अधिकार रखता था और परिवार का मुखिया था। शनैः-शनैः परिवार का आकार बढ़ने लगा, एक परिवार बड़ा होकर अनेक परिवारों में विभक्त होने लगा, किन्तु परिवार के सभी व्यक्ति अपने मूल परिवार के सबसे बड़े, वयोवृद्ध व्यक्ति के अनुशासन में रहते थे, उसकी सत्ता स्वीकार करते थे। इस व्यक्ति को मेन ने पेट्रियार्क (Patriarch) का नाम दिया है।[1] परिवारों की संख्या बढ़ने पर भी ये सब रक्त-सम्बन्ध से जुड़े रहते थे और एक कबीले (Clan) का रूप धारण करते थे, अधिक विकसित होने पर यही जन या ट्राइब (Tribe) बन जाते थे, संख्या में वृद्धि होने पर ये नए जनों को जन्म देने लगे और इनकी संख्या अधिक होने पर जनों के समूह से राज्य (Commonwealth) का विकास हुआ। **मेन** ने राज्य का विकास निम्नलिखित छः दशाओं में से होकर माना है[1]—

(१) माता-पिता और बच्चों का परिवार।

(२) बच्चों की संख्या में वृद्धि होने से नए कुलों या 'जेन्स' (Gens) का निर्माण। ये सब कुल परिवार के वृद्धतम पुरुष सदस्य के प्रति निष्ठा रखते थे और उसके अनुशासन और सत्ता में रहते थे।

(३) अनेक परिवारों का कबीले (Clan) के रूप में विकास।

(४) कई कबीलों का जन (Tribes) के रूप में विकास।

(५) एक जन से दूसरे नए जनों का विकास।

(६) जनों (Tribes) से राज्य (Commonwealth) का विकास।

मेन ने अपने उपर्युक्त सिद्धान्त को ऐतिहासिक उदाहरणों की साक्षी से पुष्ट किया है। यह साक्षी प्रधान रूप से यहूदियों के प्राचीन धर्मग्रन्थ ओल्ड टैस्टामैण्ट (Old Testament) की, यूनानियों और रोमन लोगों के इतिहास की तथा प्राचीन भारत के संयुक्त हिन्दू परिवार की है। ओल्ड टेस्टामैण्ट में यहूदी जाति के अनेक पैट्रियार्कों का उल्लेख मिलता है जो परिवार का मुखिया होने के कारण परिवार के समस्त व्यक्तियों पर प्रभुता और सत्ता रखते थे। यूनान में एथेन्स के प्राचीन इतिहास में इस प्रकार के अनेक परिवारों और बिरादरियों का उल्लेख मिलता है। रोम के आरम्भिक इतिहास के तीन जन (Tribes) एक ही स्रोत से उत्पन्न हुए थे। रोम में पिता को अपने परिवार के समस्त सदस्यों पर अमर्यादित और असीम

१. मेन—एंशेण्ट ला, पृ० १२८

अधिकार होता था, इसे पूर्ण पैतृक प्रभुसत्ता (Patria Potesta) कहा जाता है। इसके अनुसार वह अपने बच्चों और दासों को प्राणदण्ड तक देने का अधिकार रखता था। उस समय पुत्रों और दासों में यही अन्तर था कि पुत्र किसी समय पिता के दिवंगत होने पर परिवार का अध्यक्ष बन सकता था। प्राचीन भारत की संयुक्त परिवार पद्धति[1] से भी मेन ने अपने मत का समर्थन किया। इसके अतिरिक्त उसने अनेक वन्यजातियों के ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए जिनमें परिवार के मुखिया को बहुत अधिक अधिकार प्राप्त होते हैं। मेन का यह मत था कि जो स्थान और सत्ता परिवार के मुखिया को अपने परिवार के व्यक्तियों में प्राप्त होती थी वही राजा को उसके प्रदेश में निवास करने वाले प्रजाजनों पर प्राप्त होती थी। परिवार के मुखिया का विकास बाद में जाति के मुखिया या राजा के रूप में हुआ। मेन यह मानता था कि प्राचीनकाल में सर्वत्र पितृसत्तात्मक परिवार पाया जाता था, वंश-परम्परा पुरुषों द्वारा चलती थी, सर्वत्र स्थायी विवाह की पद्धति प्रचलित थी। परिवार का मुखिया सारी सत्ता और शासन का स्रोत होता था और उसे परिवार में सब प्रकार के अधिकार प्राप्त थे।

मेन के पितृसत्तात्मक सिद्धान्त की बड़ी उग्र आलोचना की गई है। पिछली शताब्दी में मैकलीनान जैसे विद्वान् मेन के इस सिद्धान्त को नहीं मानते थे कि आदिम समाज का संगठन पितृसत्तात्मक था, पहले परिवार में सर्वत्र पिता की सर्वोच्च प्रभुता थी। इन विद्वानों ने यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया कि आदिम समाज में परिवार का मुखिया नर नहीं, अपितु नारी होती थी, सर्वत्र उसकी प्रभुता और सत्ता स्वीकार की जाती थी, पिता के स्थान पर माता की सत्ता को मानने के कारण इसे मातृसत्तात्मक पद्धति (Matriarchal System) कहा जाता है। इस मत के अनुसार आरम्भ में विवाह की स्थायी संस्था नहीं थी, इस कारण उस समय समाज में वंश-परम्परा का आधार नर नहीं, अपितु नारी थी।[2] इसके अतिरिक्त अन्य विद्वानों नें भी मेन की पितृसत्ता के सिद्धान्त पर अनेक आक्षेप किए, उनका यह कहना है कि इनमें से एक का दूसरे से विकसित होना सम्भव नहीं प्रतीत होता है।

२. कानूनी विकास की प्रक्रिया—जन्ममूलक स्थिति से संविदा की ओर (From Status to Contract)—उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर मेन ने यह मत प्रकट किया कि समाज में कानून का विकास एक सुनिश्चित प्रक्रिया के अनुसार होता है, इसकी पहली दशा जन्ममूलक स्थिति (Status) की होती है, इसमें सब व्यक्तियों के कर्त्तव्य और अधिकार उस स्थिति से निश्चित होते हैं जो स्थिति उन्हें समाज में जन्म ग्रहण करने से प्राप्त होती है। इस स्थिति में व्यक्ति अपने प्रयत्न से किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं कर सकता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति दास के रूप में जन्म लेता है तो समाज में उसका स्थान इससे निश्चित होता है, इसमें कोई

---

१. इसके वर्णन के लिए देखिए : हरिदत्त वेदालंकार हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० १८-७०

२. इस विषय के संक्षिप्त परिचय के लिए देखिए : हरिदत्त वेदालंकार— हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० २६९-७२

परिवर्तन नहीं होता है। किन्तु शनैः-शनैः समाज का विकास होने से इसमें परिवर्तन आने लगते हैं। व्यक्ति के अधिकारों का विकास होता है और धीरे-धीरे वह अपने सम्बन्धों को स्वतन्त्रतापूर्वक संविदा या ठेका करके निश्चित करता है। मेन के शब्दों में इतिहास में पहली दशा वह है जिसमें दो व्यक्तियों के सम्बन्ध परिवार में उनके सम्बन्ध से निश्चित होते हैं, इसे स्थिति (Status) की दशा कहा जा सकता है, किन्तु व्यक्ति के अधिकारों में विकास होने के साथ-साथ वह अपने सम्बन्धों की स्वतन्त्रतापूर्वक नियन्त्रित करने लगता है। इस प्रकार इतिहास में प्रगति करने वाले समाज की उन्नति की दिशा **स्थिति से ठेके की ओर** (From Status to Contract) होती है।

प्रजातन्त्र की आलोचना—मेन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **लोकप्रिय शासन** (Popular Government) में प्रजातन्त्र पद्धति पर बड़े प्रबल आक्षेप किए हैं। वह इतिहास के अध्ययन से इस परिणाम पर पहुँचा था कि इस पद्धति में कई गम्भीर दोष हैं। उसका यह कहना था कि अनुभव से यह सिद्ध होता है कि प्रजातन्त्र की पद्धति में अत्यधिक अस्थिरता है। विश्व के इतिहास में प्रजातन्त्र के आविर्भाव के बाद से सभी प्रकार की शासनपद्धतियाँ पहले की अपेक्षा अधिक असुरक्षित और अस्थिर हो गई हैं, लोकप्रिय शासनों को बार-बार उत्तेजित जनसमूह और सेनाएँ बदलती रही हैं। इस पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह राजनीतिक शक्ति को सफलतापूर्वक अत्यन्त छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट देती है और प्रत्येक व्यक्ति को एक बहुत छोटा-सा हिस्सा दे देती है। प्रजातन्त्र की पद्धति सार्वभौम मताधिकार पर अवलम्बित होने के कारण बहुमत के द्वारा अल्पमत पर अत्याचार का एक प्रबल साधन है। लोकतन्त्र बौद्धिक प्रगति और नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों के विरोधी होते हैं, इनमें स्थिरता नहीं होती, यह अज्ञानी तथा मूर्ख लोगों द्वारा शासित होने वाली पद्धति है। मेन के मतानुसार इतिहास में महान् कानूनी सुधार केवल उन्हीं युगों में सम्भव हुए जब राजनीतिक शक्ति निरंकुश राजाओं के हाथों में थी। इस प्रकार के कुछ प्रमुख उदाहरण आरम्भिक ईसाई युग के रोमन सम्राट्, नवीं शताब्दी का चार्ल्स महान् और १७वीं-१८वीं शताब्दियों के फ्रेंच राजा थे।[१] उसने यह लिखा है—"मुझे यह बात बिलकुल निश्चित प्रतीत होती है कि यदि चार शताब्दियों तक हमारे देश में मताधिकार विस्तृत रूप से फैला होता और इस देश में निर्वाचकों की संख्या बहुत अधिक होती तो यहाँ धर्म में कभी सुधार नहीं हो सकता था, राजवंशों में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता; विभिन्न धार्मिक मतावलम्बियों के साथ सहिष्णुता का व्यवहार न किया जाता और हमें शुद्ध पंचांग उपलब्ध न होता। अनाज की गहाई की मशीनों पर, शक्ति-संचालित करघों पर, कताई की मशीनों पर और सम्भवतः रेलगाड़ी के इंजन पर भी पाबन्दी लगा दी जाती।" प्रजातन्त्र की पद्धति का एक अन्य दोष मेन के मतानुसार यह है कि यह अत्यधिक जटिल और पेचीदा है और इसको सफलतापूर्वक चलाना एक अतीव दुष्कर कार्य है। साधारण जनता के अन्धविश्वास और पूर्वाग्रह (Prejudices) प्रबल होते हैं, इनके कारण लोकतन्त्र में कोई प्रगति सम्भव नहीं है।

१. मेन—पापुलर गवर्नमेण्ट, पृ० ६५-६६

लार्ड एक्टन ने लोकतन्त्र के विकास को व्यक्ति की स्वतन्त्रता का विकास माना था, किन्तु मेन को इतिहास में ऐसी कोई बात नहीं दिखाई दी। वह लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता में कोई सम्बन्ध नहीं मानता था और प्रजातन्त्र की अपेक्षा एक लोकोपकारी निरंकुश शासक (Benevolent Despot) के शासन को अधिक अच्छा समझता था। इस प्रकार इस क्षेत्र में वह बड़े अनुदार विचार रखता था। बार्कर ने उसकी इस अनुदारता का कारण वकालत का पेशा और भारत में कुछ वर्षों तक उसका सेवा करना माना था।[1] उसने रूसो के इस सिद्धान्त का घोर विरोध किया कि जनता में प्रभुसत्ता (Sovereignty) का निवास है। ब्रिटिश लोकतन्त्र का नियन्त्रण करने के लिए वह संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान की इस व्यवस्था को अपनाने पर बल देता था कि वैधानिक संशोधनों के लिए एक विशेष प्रक्रिया होनी चाहिए। वह अमेरिका की सीनेट की व्यवस्था का भी प्रशंसक था और इंगलैण्ड में लार्डसभा (House of Lords) को सुदृढ़ बनाने के पक्ष में था क्योंकि यह ब्रिटिश शासन में एक बहुमूल्य ऐतिहासिक परम्परा का प्रतिनिधित्व और संरक्षण करती है।

कुलीनतन्त्र का समर्थन—लोकतन्त्र का कटु आलोचक होने के कारण मेन के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वह कुलीनतन्त्र (Aristocracy) का समर्थन करे। उसने इसकी उत्कृष्टता का यह कारण बताया था कि इसमें अनुभवी लोगों द्वारा शासन किया जाता है जबकि लोकतन्त्र में मूर्खों और अज्ञानियों का शासन होता है। इस विषय में उसने लिखा था[2]—"शासन की सभी प्रणालियों—राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और लोकतन्त्र में समान रूप से यह बात पाई जाती है कि इनमें सार्वजनिक मामलों का संचालन जिस व्यक्ति को सौंपा जाता है वह संयोगवश ही उसके लिए योग्यता रखता हो, किन्तु अन्य दोनों पद्धतियों की अपेक्षा कुलीनतन्त्र में इस बात की सम्भावना अधिक है कि वह इस प्रकार की योग्यता से सम्पन्न हो। यदि शासन का संचालन करने के लिए उपयोगी गुण मनुष्यों के किसी सीमित समुदाय में पाए जा सकते हैं तो इसकी प्रबल सम्भावना है कि वे गुण वंश-परम्परा द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को कुलीनतन्त्र में प्राप्त होते रहेंगे। इस दृष्टि से यह प्रणाली अन्य प्रणालियों से उत्कृष्ट है।"

ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)—सम्भवतः विधिशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में मेन की सबसे बड़ी देन सामाजिक संस्थाओं के ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन की पद्धति (Comparative and Historical Method) की थी। इसके अनुसार विभिन्न जातियों और विभिन्न कालों की सामाजिक संस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जाते थे। यद्यपि मेन ने जर्मन विधिशास्त्री सैविग्नी की भाँति अपने सामाजिक अध्ययन के लिए इतिहास का वैसा गम्भीर अध्ययन नहीं प्रस्तुत किया, फिर भी उसने अपने पूर्ववर्ती और समकालीन विचारकों की अपेक्षा विभिन्न देशों और कालों में प्रचलित कानूनी संस्थाओं के अध्ययन में तुलनात्मक पद्धति का अधिक प्रयोग किया। पहले यह बताया जा चुका

---

१. बार्कर—पोलिटिकल थाट इन इंगलैण्ड, १८४८-१९१४, पृ० १४६

२. मेन—पापुलर गवर्नमैण्ट, पृ० १८८

है कि किस प्रकार मेन ने प्राचीन यहूदी, यूनानी, रोमन तथा भारतीय सामाजिक संस्थाओं और परिवार पद्धतियों के तुलनात्मक अनुशीलन के आधार पर राज्य के पितृसत्तात्मक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। मेन ने इस पद्धति के आधार पर ही परिवार से राज्य के विकास की प्रक्रिया की व्याख्या करने का प्रयास किया था। मेन की तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग केवल विधिशास्त्र के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु अन्य समााजिक विज्ञानों के क्षेत्र में भी किया गया। मैक्सी ने इस विषय में यह सत्य ही लिखा है कि "राजनीतिशास्त्र को मेन के विधिशास्त्रीय तुलनात्मक अध्ययन की पद्धति से न केवल बहुमूल्य सामग्री प्राप्त हुई, अपितु यह भी पता लगा कि इस पद्धति का प्रयोग अन्य विज्ञानों के क्षेत्र में भी किया जा सकता है। मेन ने यद्यपि सैविग्नी का तथा जर्मन सम्प्रदाय के अन्य विचारकों का अनुसरण किया था, फिर भी उसने अपना कार्य डार्विन द्वारा विकासवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित करने के बाद किया था। अतः उसने सामाजिक क्षेत्र में विकासवाद के विचार पर एक नए ढंग से अधिक बल दिया, "यह विधिशास्त्र एवं अन्य सामाजिक विज्ञानों के लिए अत्यधिक लाभ-दायक सिद्ध हुआ"।[1]

मेन का महत्व—राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में मेन का महत्व उसके विचारों के कारण नहीं, अपितु उसकी ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धति के कारण है। यह सर्वथा स्वाभाविक था कि प्रजातन्त्र के विषय में उसने जो अनुदार विचार **लोकप्रिय शासन** नामक पुस्तक में प्रकट किए थे, वे लोकतन्त्र के उपासक इंगलैण्ड में लोकप्रिय न हों। उसके इन विचारों का इंगलैण्ड में कोई स्वागत नहीं हुआ, किन्तु सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन में उसने जिस ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग किया था वह बड़ी लोकप्रिय हुई। मैक्सी ने इस विषय में यह ठीक ही लिखा है कि "मेन के मानवशास्त्रीय विचार आधुनिक शोध के कारण पुराने पड़ गए हैं, राज्य की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में उसके विशिष्ट सिद्धान्तों को अब पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया जाता है। वर्तमान समय के विचारक मेन के द्वारा प्रतिपादित इस मत से सहमत नहीं हैं कि आदिम समाज में परिवार ने राज्य के विकास में बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया था। मेन ने जन्ममूलक स्थिति से अनुबन्ध की ओर प्रगति के सम्बन्ध में जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था उसमें अब सन्देह प्रकट किया जाता है; किन्तु मेन की ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक पद्धति उसकी कीर्ति का स्थायी स्मारक बनी हुई है और इसका विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न विद्वानों द्वारा अनुसरण इसकी लोकप्रियता, उपयोगिता और महत्व को निर्विवाद रूप से सूचित करता है। मेन की पद्धति का अनुसरण करते हुए फ्रीमैन, सीली और सिजविक ने तुलनात्मक राजनीतिशास्त्र के कई सुन्दर अध्ययन प्रस्तुत किए। प्रो० डायसी ने ब्रिटिश संविधान की अन्य देशों के संविधानों के साथ तुलना करते हुए अपनी सुप्रसिद्ध कृति **संविधान का कानून** (Law of the Constitution) का निर्माण किया। प्रो० मेटलैण्ड (Maitland) ने कानूनी संस्थाओं के अध्ययन के लिए इस विधि का प्रयोग किया और फिग्गिस (Figgis) ने चर्च और

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० ५३७-३८

राज्य के सम्बन्धों के कई अनुशीलन इस पद्धति के आधार पर प्रस्तुत किए। सम्भवतः इस पद्धति का राजनीतिशास्त्र में सबसे अधिक विशद प्रयोग लार्ड ब्राइस ने किया। उसने विभिन्न देशों की लोकतन्त्रीय और राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन उन देशों में जाकर किया और इसके ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर अनेक बहुमूल्य कृतियों का सृजन किया। इनमें सम्भवतः मेन की पद्धति सर्वोत्तम रूप में दिखाई देती है। अमेरिका में मेन की पद्धति का अनुसरण विलसन और लावेल ने किया और अपनी कृतियों में इंगलैण्ड की कैबिनेट पद्धति की तुलना अमेरिका के राष्ट्रपति के शासन की पद्धति से की।

आगस्त कोम्त (१७९८-१८५७)
(Auguste Comte)

पश्चिमी जगत् में समाजशास्त्र के जन्मदाता और इसके अंग्रेजी पर्याय 'सोश्योलोजी' (Sociology) शब्द को गढ़कर १८३८ में इसका सर्वप्रथम प्रयोग करने वाले फ्रेंच विचारक आगस्त कोम्त का जन्म कैथोलिकमतावलम्बी साधारण स्थिति के माता-पिता के घर में फ्रांस के मौण्टपेलियर नामक स्थान में हुआ। इसका स्वास्थ्य बचपन से बड़ा नाजुक था, किन्तु मानसिक दृष्टि से यह अत्यन्त प्रतिभाशाली था। इसकी दो विशेषताएँ— प्रखर बौद्धिक क्षमता और समस्त स्थापित सत्ताओं का विरोध करने की मनोवृत्ति—बचपन से उल्लेखनीय थीं। उसके माता-पिता कट्टर राजभक्त (Royalists) थे, किन्तु वह राजतन्त्र का उग्र विरोधी तथा गणराज्यवादी (Republican) विचारों का था। उसके माता-पिता की रोमन कैथोलिक धर्म में गहरी आस्था थी, किन्तु कोम्त कैथोलिक धर्म का कटु आलोचक था। बचपन में वह अपने सह-पाठियों में इन दो विलक्षणताओं के कारण बड़ा लोकप्रिय हो गया। उसने १३ वर्ष की आयु में अपने परिवार के राजनीतिक और धार्मिक विश्वासों को तिलांजलि दे दी। १४ वर्ष की अवस्था में उसने समाज के पुनर्निर्माण का प्रयत्न करना चाहा। १६ वर्ष की आयु में उसने गणितशास्त्र पर व्याख्यान देने शुरू किए। २० वर्ष की आयु में वह उस समय के प्रमुख फ्रेंच दार्शनिक सेण्ट साइमन के सम्पर्क में आया। १८१८ से १८२४ तक दोनों में घनिष्ठ सम्पर्क बना रहा। इसका कोम्त पर गहरा प्रभाव पड़ा। सेण्ट साइमन से उसने दो महत्वपूर्ण बातें ग्रहण कीं : पहली बात वैज्ञानिक दृष्टिकोण की और विज्ञानों के वर्गीकरण की थी और दूसरी यह कि दर्शनशास्त्र का वास्तविक ध्येय सामाजिक होना चाहिए और **समाज के पुनर्निर्माण की समस्याओं** का वैज्ञानिक समाधान किया जाना चाहिए। इस वैज्ञानिक समाधान का अभिप्राय यह था कि कोरी कल्पनाओं पर समाज का निर्माण नहीं हो सकता है। फ्रेंच क्रान्ति के समय और उसके बाद कोरे सिद्धान्तों के आधार पर नवीन समाज के निर्माण का प्रयत्न किया गया था। उस समय प्राकृतिक नियम, सामाजिक संविदा, लिखित संविधान और अधिकारों का पृथक्करण क्रान्तिकारियों के प्रमुख सिद्धान्त थे। सेण्ट साइमन के प्रभाव से कोम्त यह मानने लगा कि ये कपोलकल्पित

सिद्धान्त हैं; पुरानी व्यवस्था का विध्वंस करने के लिए भले ही उपयोगी हों, किन्तु नवीन सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करने के लिए ये बिलकुल बेकार हैं। इसके साथ ही वह उन सामन्तवादी धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तों (Feudal Theological Dogmas) को भी बहुत अधिक बेहूदा समझता था जिन्हें उस समय योरोप के पवित्र संघ (Holy Alliance) में सम्मिलित सम्राट् पुनः वापिस लाने का प्रयत्न कर रहे थे। कोम्त इन अनुदार प्रतिक्रियावादी सिद्धान्तों को वर्तमान युग के तथ्यों से उतना ही बेमेल समझता था जितना क्रान्तिकारी सिद्धान्तों को। सेण्ट साइमन के विचारों का उस पर गहरा प्रभाव पड़ा, किन्तु शीघ्र ही सेण्ट साइमन से उसका मतभेद होने लगा। उसके मतानुसार उसकी विचारधारा में क्रमबद्धता की कमी थी। दोनों के विचारों की खाई प्रतिदिन चौड़ी होती गई और १८२४ में कोम्त ने यह घोषणा की कि सेण्ट साइमन एक दुराचारी, नीम हकीम (depraved quack) है, वह सेण्ट साइमन से कहीं अधिक वैज्ञानिक आधार पर विज्ञानों के वर्गीकरण, सामाजिक विश्लेषण और पुनःसंगठन की योजनाओं को प्रस्तुत कर सकता है। उसने २४ वर्ष की अवस्था में अपना एक निबन्ध लिखा और इसमें सूत्र रूप से कही हुई बातों को बाद में चार खण्डों में बड़े विस्तार से प्रतिपादित किया। उसके इस ग्रन्थ का नाम System of Positive Polity, A Treatise on Sociology, instituting the Religion of Humanity था। इसके दूसरे खण्ड का नाम **सामाजिक स्थितिशास्त्र** अथवा **मानवीय व्यवस्था का सूक्ष्म सिद्धान्त** (Social Statics, or the Abstract Theory of Human Order) है।

सेण्ट साइमन से मतभेद होने के कुछ समय बाद कोम्त ने कैरोलाइन मैसीं नामक महिला से विवाह किया, किन्तु उसका वैवाहिक जीवन सुखी नहीं था। अतः उसने अपने इस दुःख को अध्ययन-अध्यापन के कार्य में पूर्ण रूप से निमग्न होकर भुलाने का प्रयत्न किया। १८३६ में उसने कीर्ति और धन प्राप्त करने की आशा से अपने व्याख्यान देने शुरू किए। इसमें उसने अपने प्रत्यक्षवादी दर्शन (पाज़िटिव फिलासफी) की रूपरेखा प्रस्तुत की। किन्तु उसने इस अध्ययन-कार्य में बहुत अधिक परिश्रम किया। इसके परिणामस्वरूप १८२७ में वह भयंकर मानसिक रोग से एक वर्ष तक पीड़ित रहा। १८२८ में उसने रोगमुक्त होते ही अपने ग्रन्थों का निर्माण आरम्भ कर दिया। इसमें उसने मानव-समाज के पुनःसंगठन की एक वैज्ञानिक योजना प्रस्तुत की। उसका यह विश्वास था कि मानव-समाज का जब तक पुनःसंगठन नहीं होगा, तब तक सामाजिक प्रगति नहीं हो सकती है। किन्तु इस सामाजिक पुनःसंगठन का कोई वैज्ञानिक आधार होना चाहिए; केवल कोरी कल्पना या दर्शन से कोई लाभ नहीं होगा। अपना शेष जीवन उसने अपनी महान् कृतियों को पूरा करने में बिताया। १८४२ में वैवाहिक जीवन सुखी न होने के कारण कोम्त और उसकी पत्नी एक-दूसरे से पृथक् हो गए और कोम्त ने अपना शेष जीवन अपने ग्रन्थों के निर्माण में लगाया। अपनी पत्नी कैरोलाइन से सम्बन्ध विच्छेद करने के बाद कोम्त एकान्त में रहने लगा और सदैव अपने विचारों में डूबा रहता था। इसी समय १८४५-४६ में उसका क्लोटिल्ड डि वाक्स नामक महिला से परिचय हुआ। यद्यपि इस परिचय के एक वर्ष

बाद ही १८४६ में श्रीमती वाक्स की मृत्यु हो गई, किन्तु इसने कोम्त के विचारों पर गहरी छाप डाली। कोम्त उसे सब प्रकार के दैवी गुणों से परिपूर्ण अप्सरा समझता था। उसके सम्पर्क में आने के बाद उसने अपने 'मानवता के नवीन धर्म' (Religion of Humanity) की कल्पना की। उसका यह कहना था कि मनुष्य को अपने लिए नहीं, बल्कि दूसरे के लिए जीना चाहिए। कोम्त के जीवन में यह परिवर्तन उसके नवीन प्रेम का परिणाम था। जिस वर्ष भारत में स्वतन्त्रता संग्राम का प्रथम संघर्ष हुआ, उसी वर्ष फ्रांस में इस महान् विचारक का अवसान हुआ।

कोम्त के दो ग्रन्थ प्रसिद्ध है: पहला 'पोज़िटिव फिलासफी' (Positive Philosophy) छः खण्डों में प्रकाशित हुआ था और १८३०–४२ तक के १२ वर्षों में समाप्त हुआ था। दूसरा ग्रन्थ 'पोज़िटिव पोलिटी' (Positive Polity) चार खण्डों में छपा। यह उसने १८५१–५४ तक लिखा। कोम्त यह चाहता था कि उसके विचार जनता को मुफ्त मिलें। अतः वह अपनी पुस्तकों पर प्रकाशकों से रायल्टी नहीं लेता था। उसके मित्र उसके लिए चन्दा इकट्ठा करके उसे देते थे और इसी से वह अपना निर्वाह करता था। कोम्त ने यद्यपि प्रधान रूप से समाजशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, किन्तु राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्तों का भी विवेचन किया है। यहाँ उसके प्रमुख विचारों का, विशेषतः राजनीतिक चिन्तन से सम्बद्ध विचारों का संक्षिप्त परिचय दिया जाएगा।

कोम्त के प्रमुख विचार

१. **वैज्ञानिक पद्धति अथवा प्रत्यक्षवाद** (Positivism)—कोम्त के मतानुसार समस्त ब्रह्माण्ड का संचालन कुछ अपरिवर्तनीय प्राकृतिक नियमों द्वारा हो रहा है। इन नियमों को हम किसी धर्मशास्त्र (Theology) अथवा अध्यात्मशास्त्र (Metaphysics) के आधार पर नहीं समझ सकते हैं, अपितु विज्ञान की विधि से समझ सकते हैं, इनमें कल्पना का कोई स्थान नहीं है। यह वैज्ञानिक विधि निरीक्षण, परीक्षण, प्रयोग और वर्गीकरण की एक व्यवस्थित पद्धति है। इस पर आधारित प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रूप से दिखाई देने वाली वैज्ञानिक विधियों के द्वारा सब कुछ समझना और ज्ञान प्राप्त करना, प्रत्यक्षवाद (Positivism) है। यह वैज्ञानिक पद्धति धर्मशास्त्रीय और आध्यात्मिक चिन्तन से सर्वथा भिन्न है। डॉ० ब्रिज़ेज ने इसको एक सुन्दर उदाहरण से इस प्रकार समझाया है कि यदि कोई व्यक्ति संखिया खाकर मर जाता है तो इस घटना की व्याख्या आधिदैविक या धर्मशास्त्रीय चिन्तन (Theological Thinking), आध्यात्मिक चिन्तन (Metaphysical Thinking) और आधिभौतिक या वैज्ञानिक चिन्तन करने वाले प्रत्यक्षवादी अलग-अलग ढंग से करेंगे। आधिदैविक चिन्तन वाले धर्मशास्त्री उस व्यक्ति की मृत्यु को दैवी व्यवस्था मानते हुए यह कहेंगे कि भगवान् की यही इच्छा थी। आध्यात्मिक चिन्तन वाले दार्शनिकों के मतानुसार मिलन और विरह संसार का स्वाभाविक और अटल नियम है, मृत्यु ऐसा नियम है जिसके बाद मिलना सम्भव नहीं होता है। इस कारण व्यक्ति की मृत्यु स्वाभाविक है किन्तु एक

वैज्ञानिक का दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न होगा। वह मृत व्यक्ति के शव का स्वयमेव निरीक्षण करके उस पर संखिया के प्रभावों को देखेगा और इसके बाद उसकी मृत्यु के सम्बन्ध में अपना कोई मत प्रकट करेगा, क्योंकि इस वैज्ञानिक पद्धति में पहले हम निरीक्षण द्वारा उस विषय से सम्बद्ध सभी तथ्यों को एकत्र करते हैं, इसके बाद इनका विश्लेषण करके सामान्य विशेषताओं के आधार पर इन तथ्यों का वर्गीकरण करते हैं और अन्त में इसके आधार पर फिर कोई नियम या निष्कर्ष निकालते हैं। हमारे समस्त ज्ञान का आधार यह वैज्ञानिक पद्धति या प्रत्यक्षवाद होना चाहिए।

२. **तीन दशाओं का नियम** (The Law of Three Stages)—१८२२ में केवल २४ वर्ष की आयु में मानवीय चिन्तन के विकास के इतिहास को स्पष्ट करने के लिए इस सुप्रसिद्ध नियम का प्रतिपादन किया गया था। उसके मतानुसार मनुष्य के बौद्धिक विकास के इतिसास का अध्ययन करने से यह पता लगता है कि यह विकास तीन दशाओं में से होकर गुजरा है। भारतीय परिभाषाओं के अनुसार कोम्त के बताए गए स्तर निम्नलिखित हैं :

(१) आधिदैविक चिन्तन की दशा (The Stage of Fictitious or Theological Thinking)।

(२) आध्यात्मिक चिन्तन की दशा (The Stage of Abstract or Metaphysical Thinking)।

(३) आधिभौतिक अथवा वैज्ञानिक चिन्तन की दशा (The Stage of Scientific or Positive Thinking)।

आधिदैविक चिन्तन की पहली दशा में समस्त वस्तुओं में ईश्वर की अथवा अलौकिक सत्ताओं की कल्पना की जाती है। यह माना जाता है कि दृश्यमान जगत् की सभी वस्तुओं और घटनाओं के पीछे कोई दैवी शक्ति काम कर रही है। सूर्य, चन्द्रमा, पेड़, पौधे कलकल निनाद करती हुई सरिताओं के अपने-अपने देवी-देवता हैं; चिन्तन की इस अवस्था को प्रेतवाद (Fetishism) की दशा कहा जाता है। इसके अनुसार प्रत्येक जड़ चेतन वस्तु में, पीपल में, और बड़ के पेड़ों में, किसी एक भूतप्रेत या देवी-देवता का निवास माना जाता है। इतिहास के उषाकाल में मानव का चिन्तन इसी प्रकार का था। वह सब वस्तुओं में देवताओं की कल्पना करता था, इसलिए इसे आधिदैविक चिन्तन कहा जाता था। अनेक देवी-देवताओं में विश्वास रखने के कारण इस स्थिति को बहुदेवतावाद (Polyt-heism) कहा जाता था। किन्तु शनैः-शनैः अनेक देवी-देवताओं के विचार से मनुष्य को सन्तोष नहीं हुआ, वह विभिन्न देवी-देवताओं के स्थान पर इनका एक बड़ा और सबसे शक्तिशाली देवता मानने लगा। इस दशा को एकेश्वरवाद (Monotheism) की दशा कहा जाता है। उस समय सृष्टि की हर घटना के लिए मनुष्य यह कल्पना करता था कि सभी कार्य जादू-टोने से, भूतप्रेतों द्वारा और देवताओं द्वारा हो रहे हैं।

दूसरी दशा आध्यात्मिक चिन्तन की है। इसमें संसार की सब घटनाओं का मूल कारण भूतप्रेतों, देवी-देवताओं को न मानकर इनके स्थान पर अवैयक्तिक शक्तियों तथा अमूर्त्त प्राकृतिक नियमों को माना जाने लगता है। मनुष्य यह समझता है कि इस

संसार का संचालन देवताओं द्वारा नहीं, अपितु अभौतिक तथा अमूर्त्त शक्तियों द्वारा होता है, अतः इसे आध्यात्मिक अथवा सूक्ष्म चिन्तन (Metaphysical or Abstract Thinking) की दशा का नाम दिया है।

तीसरी दशा आधिभौतिक, वैज्ञानिक या निश्चयात्मक चिन्तन (Scientific or Positive Thinking) की है। अब मनुष्य संसार की घटनाओं के सम्बन्ध में आध्यात्मिक और दार्शनिक चिन्तन से सन्तुष्ट न होकर हर घटना पर बुद्धिपूर्वक विचार करना चाहता है, इसे भौतिक या वैज्ञानिक दृष्टि से देखना चाहता है। कोम्त का मत है कि "जो वस्तु जिस रूप में है उसे उसी रूप में जानना आधिभौतिक या वैज्ञानिक चिन्तन है। इसके लिए हमें निरीक्षण (observation) और वर्गीकरण की पद्धति का अनुसरण करना चाहिए। प्रत्येक वस्तु का जो स्वरूप प्रत्यक्ष है, हमारी आँखों के सामने है तथा निश्चित है उसी स्वरूप को यथार्थ मानना चाहिए। इसलिए इस पद्धति को उसने भावात्मक अथवा प्रत्यक्षवादी (Positive) पद्धति का नाम दिया है। उसके अनुसार यह मनुष्य के चिन्तन के विकास की अन्तिम अवस्था है। मनुष्य को सभी विषयों का अध्ययन इस वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण करते हुए करना चाहिए।

राजनीतिशास्त्र में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग—कोम्त का यह मत था कि जिस प्रकार भौतिक विज्ञानों के क्षेत्र में निरीक्षण, परीक्षण और वर्गीकरण की वैज्ञानिक पद्धति के परिणामस्वरूप विभिन्न विज्ञानों की विलक्षण उन्नति हुई है और आश्चर्य-जनक परिणाम प्राप्त हुए हैं, उसी प्रकार राजनीतिशास्त्र में, समाज और शासन के क्षेत्र में भी इस पद्धति का अनुसरण करने से मानव-समाज को बहुत लाभ पहुँच सकता है। सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में इस पद्धति का विकास करके इसे उत्कृष्ट एवं पूर्ण बनाना होगा। यह तभी सम्भव है जब हम समाज और राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में अब तक अनुसरण किए जाने वाले धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तों को, दार्शनिक मतों को, सूक्ष्म और अमूर्त्त कल्पनाओं को तिलांजलि देते हुए अपना ध्यान इतिहास के अध्ययन और निरीक्षण से पता लगने वाले वास्तविक तथ्यों पर ही केन्द्रित करेंगे। शासनविषयक संस्थाओं की जाँच इस बात से नहीं की जानी चाहिए कि वे भगवान् की इच्छा अथवा किसी कल्पनात्मक दर्शन के द्वारा निश्चित किए गए आदर्शों के अनुकूल या प्रतिकूल हों, अपितु इनकी उत्कृष्टता और उपयोगिता का निर्णय समाज और सभ्यता की उन सामान्य परिस्थितियों के आधार पर किया जाना चाहिए जिनमें ये संस्थाएँ काम कर रही हैं। उदाहरणार्थ, शासन की कोई भी प्रणाली पूर्ण अथवा निरपेक्ष रूप से सर्वोत्तम नहीं हो सकती, इसकी उत्कृष्टता उन परिस्थितियों पर अवलम्बित है जिनमें यह शासन-प्रणाली पाई जाती है। कोम्त ने इसे औषधि के सुन्दर उदाहरण से समझाया है। कोई भी ऐसी रामबाण या सर्वोत्तम दवा नहीं हो सकती जो सब रोगों या रोगियों को ठीक कर सके। रोग एवं रोगी की स्थिति को अच्छी तरह देखने के बाद ही सर्वोत्तम दवाई का निश्चय किया जा सकता है। इसी प्रकार राजनीति के क्षेत्र में सब समस्याओं का हल करने वाली कोई रामबाण शासन-प्रणाली नहीं हो सकती है। राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में हमें पूर्णता और निरपेक्षता के विचार से बचना चाहिए क्योंकि पूर्णता की दृष्टि से बनाए गए सिद्धान्त वास्तविक परिस्थितियों

की उपेक्षा करेंगे और उनको मनमाने ढंग से लागू करने से नवीन समस्याएँ उत्पन्न होंगी। पूर्ण रूप से आदर्श कानून (Absolute Law) बनाने वाले का अर्थ मनमाने ढंग से कानून का निर्माण करने वाला है। इस प्रकार के विधि-निर्माताओं से समाज को हमेशा बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है।

राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में कोम्त की उपर्युक्त पद्धति अनुभव और निरीक्षण पर आधारित निगमनात्मक (Inductive) और ऐतिहासिक (Historical) पद्धति है। अरस्तू, मेकियाविली, बोदँ और मांतेस्क्यू ने इसका अनुसरण किया था। वह स्वयमेव इस विषय में मांतेस्क्यू और कान्दोर्से (Condorcet) का विशेष रूप से उल्लेख करते हुए यह कहता है कि ये दोनों विचारक उसके द्वारा प्रतिपादित प्रत्यक्षवाद के सिद्धान्तों का बहुत-कुछ निरूपण करने वाले थे। मांतेस्क्यू ने कानून के स्वरूप को कोरे सिद्धान्तों के स्थान पर तथ्यों के आधार पर सुनिश्चित किया था और कान्दोर्से ने प्रगति को मानव-जाति के सामाजिक जीवन का सामान्य नियम बताया था। किन्तु कोम्त के मतानुसार इन दोनों के सिद्धान्तों में कुछ कमियाँ रह गई थीं : मांतेस्क्यू ने जलवायु के प्रभावों का वर्णन अतिरंजित रूप में किया था। कान्दोर्से ने मानव-समाज की प्रगति के तथ्य को समझते हुए भी उन दशाओं का वर्णन करने में बड़ी भूल की थी जिनमें से होते हुए मनुष्य-समाज ने अब तक प्रगति की है।

अपने पूर्ववर्ती विचारकों की उपर्युक्त आलोचना करते हुए कोम्त ने राजनीतिशास्त्र के स्वरूप को भलीभाँति स्पष्ट किया। इसकी दो बड़ी विशेषताएँ हैं : पहली विशेषता इतिहास के दर्शन (Philosophy of History) की है। यह दर्शन भौतिक, नैतिक और बौद्धिक तथ्यों पर आधारित है और सामाजिक विकास के वैज्ञानिक नियम को स्पष्ट करता है। इसके अनुसार मानव-जाति का बौद्धिक विकास उपर्युक्त तीनों दशाओं में से होकर गुजरा है। इसकी दूसरी विशेषता सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में पाई जाने वाली विद्यमान परिस्थितियों का ऐसा विश्लेषण करना था जिसके आधार पर मानव-समाज की भूतकालीन, वर्तमान और भावी प्रगति का सही अन्दाज किया जा सके। इस विषय में उसने प्रगति के एक नियम का निर्माण किया था। उसका यह कहना था कि जिस प्रकार ज्योतिष में हम पहले से ही हिसाब लगाकर भविष्यवाणी कर सकते हैं, यह बता सकते हैं कि सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण कब होंगे, उसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र में भी भविष्यवाणी कर सकते हैं।

नवीन विज्ञान का विकास

कोम्त ने ऊपर बताई गई वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र का अध्ययन करने वाले विज्ञान को पहले सामाजिक शरीर-क्रिया शास्त्र (Social Physiology) अथवा सामाजिक भौतिकशास्त्र का नाम दिया और बाद में इसके लिए समाजशास्त्र (Sociology) का नया नाम गढ़ा। इस नवीन विज्ञान को उसने सामाजिक स्थितिशास्त्र (Social Statics) और सामाजिक गतिशास्त्र की दो शाखाओं में विभक्त किया। इनमें पहली शाखा समाज की व्यवस्था (order) का प्रतिपादन करती थी और दूसरी शाखा उसकी प्रगति का विवेचन करती थी। उसका

यह कहना था कि पहली शाखा का अध्ययन अरस्तू के समय से किया जा रहा है। उसने इसकी दूसरी शाखा सामाजिक गतिशास्त्र के अध्ययन पर बल दिया। इसमें उसने मानव-समाज की प्रगति के सम्बन्ध में अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसका यह कहना था कि प्रगति समाज की व्यवस्था का विकास है (Progress is the development of order)। किन्तु यह प्रश्न होता है कि व्यवस्था क्या है, उसके मतानुसार यह सामाजिक कार्यों को करने के लिए सभी सामाजिक शक्तियों का सामंजस्यपूर्ण संगठन था। उसने इस संगठन के दो सिद्धान्त माने हैं : पहला सिद्धान्त तो कार्यों का बँटवारा है और दूसरा प्रयासों का समन्वय है। सभी मानव-समाजों में मनुष्य अपने विभिन्न कार्यों को अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार करते रहते हैं और इनके प्रयासों और शक्तियों के समन्वय एवं उत्तम उपयोग के लिए शासन की शक्ति आवश्यक होती है।

कोम्त हॉब्स की भाँति यह मानता था कि प्रत्येक मानवीय समाज का आधार शक्ति (Force) होती है। समाज में एकता को पुष्ट करने के लिए वह बुद्धि और भावना के महत्व को स्वीकार नहीं करता था। उसने यह लिखा था कि यदि हम शक्ति के सिद्धान्त को शासन के आधार के रूप में स्वीकार करने में कुछ संकोच करेंगे तो "समाजशास्त्र सदैव आध्यात्मिक चिन्तन के बादलों के अस्पष्ट क्षेत्र में विहार करता रहेगा।" शक्ति से उसका अभिप्राय पहले तो भौतिक शक्ति से था, किन्तु बाद में वह बौद्धिक, नैतिक तथा धार्मिक शक्तियों को भी महत्व देने लगा। उसने अपने जीवन के सन्ध्याकाल में मानवता के जिस धर्म की कल्पना की थी उसमें एक चर्च का और पुरोहितों के वर्ग का विस्तृत प्रतिपादन किया गया था। इनके द्वारा समाज में नियन्त्रण की व्यवस्था की गई थी।

मानव-समाज की प्रगति की तीन दशाएँ—पहले यह बताया जा चुका है कि कोम्त ने मनुष्य के बौद्धिक विकास की तीन दशाओं का प्रतिपादन किया था, यह उसका एक प्रमुख सिद्धान्त है। इसके आधार पर उसने मानव-जाति की प्रगति को तीन दशाओं में विभक्त किया और यह बताया कि इनमें से प्रत्येक दशा की भौतिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक परिस्थितियाँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। इन दशाओं में राजनीतिक विकास भी विभिन्न प्रकार का होता है। राजनीतिक दृष्टि से इन तीन दशाओं की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) **आधिदैविक** (Theological) दशा में शक्ति का बोलबाला रहता है, इसमें सब सामाजिक सम्बन्ध शक्ति पर आधारित होते हैं, इसमें सैनिक तत्वों की प्रधानता रहती है। समाज में शासकों का प्रमुख उद्देश्य विजय प्राप्त करना होता है। इसमें उद्योग-धन्धे केवल भौतिक जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही विकसित किए जाते हैं। वस्तुओं के उत्पादक दासता की स्थिति में बने रहते हैं।

(२) **आध्यात्मिक** (Metaphysical) अथवा सूक्ष्म दार्शनिक चिन्तन की दूसरी दशा में भी सैनिक भावना का प्राधान्य बना रहता है, किन्तु शनैः-शनैः उद्योग-धन्धों का अधिक विकास होने लगता है। इसके साथ ही इनके प्रभाव में वृद्धि होती

है। दास-प्रथा धीरे-धीरे समाप्त होने लगती है और इसका स्थान भूदासता (Serfage) लेने लगती है, इसके साथ ही व्यक्तियों को नागरिक (Civil) स्वतन्त्रता के अधिकार मिलने लगते हैं, यद्यपि इस युग में व्यक्तियों को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती है। उद्योग-धन्धों का विकास पहली दशा की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से होता है, किन्तु इसका उद्देश्य प्रधान रूप से सैनिक प्रयोजनों की पूर्ति करना होता है। अन्ततोगत्वा यह युद्ध का एक महत्वपूर्ण कारण बन जाता है। यदि पूरी स्थिति पर विचार किया जाए तो यह प्रतीत होगा कि यह दशा अनिश्चित और तासरी दशा के संक्रमण से पहली स्थिति है।

(३) तीसरी दशा **वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास** की है, इसमें उद्योग-धन्धों का प्राधान्य हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन होने लगता है और समाज के सभी सम्बन्ध इस प्रकार नवीन ढंग से नियन्त्रित होने लगते हैं। इस समय समाज में सभी कार्यों का एकमात्र लक्ष्य उत्पादन को बढ़ाना होता है। मनुष्यों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए प्रकृति के साधनों का पूरा उपयोग किया जाने लगता है। इससे सभ्यता का उत्कर्ष होने लगता है। कोम्त ने मानवीय प्रगति के विकास की उपर्युक्त योजना को सर्वप्रथम २४ वर्ष की आयु में लिखे एक निबन्ध में प्रतिपादित किया था और इसके बाद इसका विशद प्रतिपादन अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक System of Positive Polity के तृतीय खण्ड में बड़े विस्तार के साथ किया है। यह उसके समूचे दर्शन की आधारशिला और केन्द्रीय बिन्दु है।

कोम्त की देन और महत्व—कोम्त को समाजशास्त्र का जन्मदाता और पिता माना जाता है। उसे इस विज्ञान के लिए 'समाजशास्त्र' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय प्राप्त है। उसने आरम्भ में इस शास्त्र को सामाजिक स्थितिशास्त्र और गतिशास्त्र में बाँटा था, किन्तु उसका विशेष स्थायी प्रभाव सामाजिक गतिशास्त्र के नियमों को स्पष्ट करने के क्षेत्र में पड़ा था। उसने मानवीय प्रगति के विकास की दशाओं और बौद्धिक चिन्तन के विकास की अवस्थाओं को बड़े स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया था। डनिंग के मतानुसार—उसकी एक बड़ी देन इतिहास के दर्शन का विवेचन और मानवीय प्रगति की तीन दशाओं के सिद्धान्त का प्रतिपादन है और इस सिद्धान्त का प्रभाव व केवल पिछली शताब्दी में पड़ा, अपितु यह आज तक चिन्तन पर प्रभाव डाल रहा है। इसकी **दूसरी** देन यह है कि उसने भौतिक विज्ञानों, विशेषत: जीवशास्त्र (Biology) के उदाहरणों को राजनीतिक और नैतिक सिद्धान्तों के क्षेत्र में लागू किया। उसके मतानुसार समाजशास्त्र और जीवशास्त्र एक ही पेड़ की दो शाखाएँ थीं। उसकी **तीसरी** देन डार्विन के आविर्भाव से पहले ही विकासवाद के सिद्धान्त को सामाजिक क्षेत्र में लागू करना था। उसने व्यक्ति के विकास की तुलना मानव-जाति के विकास की प्रक्रिया के साथ की। उसके बाद हर्बर्ट स्पेन्सर आदि विचारकों ने उसकी इस पद्धति को और समाजशास्त्र एवं जीवशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध को

अधिक विकसित किया ।[1]

बार्कर ने कोम्त के महत्व का विवेचन करते हुए उसकी तुलना प्लेटो के साथ की है । यद्यपि प्लेटो के सर्वथा विपरीत उसने सब प्रकार के आध्यात्मिक सिद्धान्तों को अस्वीकार किया और निरीक्षण तथा परीक्षण की पद्धति से प्राप्त होने वाले ज्ञान के अतिरिक्त सूक्ष्म, अमूर्त्त कल्पनाओं पर आधारित सिद्धान्तों को अस्वीकार किया, फिर भी कोम्त दो बातों में प्लेटो का अनुयायी था, वह यूनानी दार्शनिक की भाँति राज्य के पुनर्निर्माण में विश्वास रखता था और यह मानता था कि राज्य का पुनर्निर्माण वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर किया जाना चाहिए । इसके साथ ही वह प्लेटो की भाँति आध्यात्मिक और लौकिक शक्तियों में स्पष्ट भेद स्वीकार करता था और यह मानता था कि अन्ततोगत्वा राज्य का संचालन वैज्ञानिक सिद्धान्तों की सहायता से किया जाना चाहिए । इसमें शक्ति की अपेक्षा बुद्धि और प्रेरणा द्वारा कार्य करवाने पर बल दिया जाना चाहिए । कोम्त का प्रभाव न केवल फ्रांस में पड़ा अपितु इंगलैण्ड में भी कुछ विद्वान् उसके सिद्धान्तों के अनुयायी थे । बार्कर ने यह लिखा है[2] कि इंगलैण्ड में प्रत्यक्षवाद (Positivism) का प्रभाव १८४८ से पड़ना शुरू हुआ, जब आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के एक Fellow रिचर्ड कांग्रीव ने पेरिस की यात्रा की और वह कोम्त से प्रभावित हुआ । इसी विश्वविद्यालय के तीन अन्य शिक्षक एडवर्ड बीसली, जॉन हेनरी ब्रिजेज तथा फ्रेडरिक हैरिसन भी कोम्त के अनुयायी बने । इंगलैण्ड में कोम्त का 'मानवता के धर्म' (Religion of Humanity) का विचार इसके राजनीतिक सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हुआ ।

---

१. डनिंग—ए हिस्टरी आफ पोलिटिकल थियोरीज, फ्राम रूसो टु स्पेन्सर, खण्ड ३, पृ० ३९३-४

२. बार्कर—पोलिटिकल थाट इन इंगलैण्ड (१८४८-१९१४), द्वितीय संस्करण, पृ० १७६

नवाँ अध्याय

समाजवाद का अभ्युदय

समाजवाद का महत्व—समाजवाद इस समय का युगधर्म है। सुप्रसिद्ध फ्रेंच राजनीतिज्ञ क्लेमेन्सो ने कहा था कि २० वर्ष की आयु तक हृदय रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति समाजवादी हो जाता है। १९वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति तथा पूँजीवाद ने समाज में इतना उग्र आर्थिक वैषम्य पैदा किया तथा मजदूर वर्ग में इतनी अधिक दयनीय दरिद्रता और शोचनीय परिस्थिति उत्पन्न कर दी कि उसकी प्रतिक्रिया के रूप में समाजवाद की विचारधारा उत्पन्न हुई। शीघ्र ही यह सभी देशों में फैल गई। कार्ल मार्क्स ने वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसके सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए लेनिन ने १९१७ में रूस में बोल्शेविक क्रान्ति को सफल बनाया, यहाँ विश्व में पहले समाजवादी राज्य की स्थापना हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर पूर्वी योरोप के देशों—पोलैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, बलगारिया, अल्बानिया, हंगरी, रूमानिया, यूगोस्लाविया में साम्यवादी सरकारें स्थापित हो गईं। १ अक्तूबर १९४९ को ६० करोड़ से अधिक जनसंख्या वाले चीन में माओ त्से-तुंग के नेतृत्व में साम्यवादी शासन स्थापित होने के बाद विश्व में समाजवादी राज्यों के प्रभाव, संख्या और क्षेत्रफल में असाधारण वृद्धि हो गई। इस समय विश्व के ३ अरब व्यक्तियों में से १ अरब के लगभग जनसंख्या समाजवादी शासन में है; शायद ही कोई देश ऐसा हो जिसमें समाजवादी और साम्यवादी दल न हों। कट्टर पूंजीपति देशों में भी शायद ही कोई ऐसा विचारक हो जो समाजवादी विचारों से प्रभावित न हो, अतः समाजवाद इस समय की सबसे अधिक महत्वपूर्ण विचारधारा है।

समाजवाद का प्रादुर्भाव औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) के समय प्रबल होने वाली व्यक्तिवाद (Individualism) की विचारधारा के विरोध में हुआ। बेन्थम और मिल ने व्यक्ति के अधिकारों का उग्र समर्थन किया था, स्पेन्सर ने 'योग्यतम की विजय' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, व्यक्ति को महत्वपूर्ण मानते हुए राज्य के कार्यक्षेत्र को अत्यधिक सीमित और संकुचित कर दिया (देखिए पृ० २४१-४२)। इसके विपरीत समाजवाद समाज या राज्य को व्यक्ति के विकास, उन्नति और कल्याण के लिए आवश्यक समझता है और भूमि, खानों, कारखानों आदि उत्पादन के सभी साधनों पर समाज का स्वामित्व और नियन्त्रण इसलिए स्थापित करना चाहता है कि इनसे केवल मुट्ठी-भर पूंजीपतियों का ही नहीं, अपितु समूची जनता का—विशेषतः पददलित, अत्याचार पीड़ित तथा घोर दरिद्रता के पंक में डूबे हुए लोगों का कल्याण हो सके, इसीलिए इसे समाजवाद का नाम दिया जाता है। यह विचारधारा समाज एवं राज्य को सब व्यक्तियों का कल्याण करने के लिए अधिक-से-अधिक शक्तिसम्पन्न

बनाना चाहती है, उसे सामाजिक कल्याण के सभी कार्यों को सौंपना चाहती है। उसका यह विश्वास है कि पूंजीवाद वैयक्तिक सम्पत्ति, उत्पादन के साधनों पर पूंजीपतियों के अधिकार तथा मुनाफा कमाने की भावना से निर्धन व्यक्तियों का शोषण करके समाज में घोर आर्थिक विषमता, अनन्त कष्ट, भीषण अन्याय और अत्याचार को उत्पन्न करता है। अतः उत्पादन के साधनों पर राज्य तथा समाज का ही स्वामित्व और नियन्त्रण होना चाहिए। उसी दशा में सब व्यक्तियों के सुखी और स्वस्थ रहने की निम्नलिखित प्राचीन भारतीय प्रार्थना सत्य सिद्ध होगी—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाग्भवेत्॥

समाजवाद का लक्षण—आजकल इतना व्यापक प्रभाव और महत्व रखने वाले समाजवाद का यथार्थ लक्षण करना कई कारणों से बड़ा कठिन है। **पहला** कारण इसकी व्यापकता है। आदर्शवाद, व्यक्तिवाद आदि विचारधाराएँ केवल राज्य के स्वरूप और कार्यों का प्रतिपादन करती हैं, उनका चिन्तन केवल राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित है, किन्तु समाजवाद न केवल राजनीतिक, अपितु आर्थिक, समाजशास्त्रीय और सांस्कृतिक विचारधारा भी है। यह केवल राज्य के स्वरूप, आदर्श, उद्देश्य और कार्यों पर ही विचार नहीं करती है, अपितु समाज की अर्थव्यवस्था, उसके स्वरूप तथा उसमें परिवर्तन आने के कारणों की व्याख्या भी करती है; यह मानवीय संस्कृति के स्वरूप की विवेचना करती है। समाजवाद का अपना दर्शन और व्यावहारिक कार्यक्रम है। यह एक बौद्धिक सिद्धान्त ही नहीं, अपितु एक विशेष प्रकार की शासनपद्धति और प्रचण्ड राजनीतिक आन्दोलन है। अतः इतने अधिक विविध पक्ष रखने वाले समाजवाद की एक निश्चित व्याख्या करना सम्भव नहीं है। **दूसरा** कारण यह है कि समाजवाद का रूप प्रत्येक व्यक्ति और समुदाय के साथ बदलता रहता है। जिस प्रकार एक ही जल लोटे, गिलास आदि विभिन्न आकृतियाँ रखने वाले पात्रों में विविध प्रकार के आकार धारण कर लेता है, उसी प्रकार समाजवाद का एक ही विचार विभिन्न जातियों, देशों और महाद्वीपों में तथा विभिन्न विचारकों के मस्तिष्कों में परिस्थिति-भेद से विभिन्न रूप ग्रहण करता है। ब्रिटेन के एक सुप्रसिद्ध लेखक रैम्ज़े म्यूर ने कहा था—"समाजवाद गिरगिट की तरह रंग बदलने वाला मन्तव्य है। यह परिस्थितियों के अनुसार अपना रंग बदलता है। बाजार के एक कोने पर अथवा क्लब में भीड़ जमा करके व्याख्यान देने वाला व्यक्ति इसे वर्ग-संघर्ष के भड़कीले लाल रंग में प्रस्तुत करता है, बुद्धिजीवियों के लिए यह अत्यधिक उत्तम पीले रंग वाले लोहे के समान है, भावुक व्यक्तियों के लिए यह गुलाबी रंग वाला है और पादरियों के समाज में यह निष्पाप धवल वर्ण धारण करता है।" 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' के अनुसार विभिन्न विचारक इसकी विभिन्न प्रकार से कल्पना करते हैं। समाजवाद के उद्देश्य को लाने के लिए शान्तिपूर्ण साधनों का प्रयोग किया जाए या क्रान्ति का, इसे एक राष्ट्र तक सीमित रखा जाए या अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन बनाया जाए, इसकी प्राप्ति के लिए राजनीतिक कार्यवाही की जाए या हड़ताल आदि के आर्थिक साधनों का अवलम्बन किया जाए, इन सभी प्रश्नों पर समाजवाद के आविर्भाव के समय से ही तीव्र मतभेद चला आ

रहा है। इस समय संसार के दो बड़े साम्यवादी देशों—चीन और रूस में उग्र सैद्धान्तिक विरोध और वादविवाद जारी है। अतः समाजवाद का सही लक्षण करना बड़ा कठिन है। सुप्रसिद्ध विचारक जोड ने लिखा है—"समाजवाद उस टोपी की भाँति है जिसका अपना (निश्चित) आकार नष्ट हो गया है, क्योंकि इसे प्रत्येक व्यक्ति धारण करता है।"

इसीलिए प्रत्येक विचारक ने अपने विश्वासों और मन्तव्यों के अनुसार समाजवाद (Socialism) का लक्षण किया है। एक लेखक ने विभिन्न विचारकों द्वारा की गई इसकी चालीस परिभाषाओं को देने के बाद यह लिखा है कि अभी इनके अतिरिक्त भी इसके बीसियों लक्षण किए गए हैं। डान ग्रिफिथ्स (Don Griffiths) नामक एक लेखक ने 'समाजवाद क्या है' (What is Socialism) नामक पुस्तक में समाजवाद के २६३ लक्षणों का संग्रह किया है। १८६२ में पेरिस के एक समाचारपत्र 'ली फिगारो' (Le Figaro) ने इसकी ६०० परिभाषाओं का संकलन किया था। यदि आज ऐसा संग्रह किया जाए तो समाजवाद के लक्षणों की संख्या कई हज़ार तक पहुँच जाएगी। यहाँ कुछ प्रसिद्ध लक्षणों का ही उल्लेख किया जाएगा : फ्रेंच विचारक प्रूदों ने लिखा है कि "समाज के सुधार के लिए व्यक्त की जाने वाली प्रत्येक आकांक्षा समाजवाद है।" सम्भवतः समाजवाद की इससे अधिक व्यापक परिभाषा नहीं हो सकती। यदि इसको समाजवाद माना जाए तो सर विलियम हारकोर्ट के शब्दों में "हम सभी समाजवादी हैं।"[1] सुप्रसिद्ध ब्रिटिश विचारक बर्ट्रेण्ड रसेल के कथनानुसार "हम उस समय समाजवाद के मौलिक तत्वों के समीपतम पहुँचते हैं जब हम इसकी यह परिभाषा करते हैं कि समाजवाद भूमि पर तथा सम्पत्ति पर समाज के स्वामित्व का समर्थन करता है।"[2] रैम्ज़े मैकडानल्ड ने लिखा है कि सामान्य शब्दों में समाजवाद की इससे अधिक अच्छी परिभाषा नहीं की जा सकती कि "इसका लक्ष्य समाज की भौतिक तथा आर्थिक शक्तियों का संगठन करना तथा मानवीय शक्तियों द्वारा इनका नियन्त्रण करना है।" सेलर्स (Sellers) के शब्दों में, "यह एक ऐसा लोकतन्त्रीय आन्दोलन है जिसका लक्ष्य समाज का एक ऐसा आर्थिक संगठन स्थापित करना है जो एक ही समय में तथा एकसाथ अधिकतम न्याय और स्वतन्त्रता दे सके।" एमिल (Emile) के मतानुसार, "यह मजदूरों का ऐसा संगठन है जो पूंजीपतियों की सम्पत्ति को समाज की सम्पत्ति में परिवर्तित करने के उद्देश्य से राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने के लिए बनाया गया है।" एक अन्य लेखक राबर्ट की सम्मति में "समाजवादी कार्यक्रम की वास्तव में एक ही माँग है कि भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधन जनता की सामान्य सम्पत्ति बना दिए जाएँ, इनके उपयोग एवं प्रबन्ध की व्यवस्था जनता द्वारा और जनता के हित के लिए की जाए।"

समाजवाद के आवश्यक तत्व—इन लक्षणों से यह स्पष्ट है कि समाजवाद का मौलिक तत्व जनता के कल्याण की भावना है। जिस प्रकार व्यक्तिवाद और लोकतन्त्र व्यक्ति को स्वतन्त्रता देना चाहता है, उसी प्रकार समाजवाद सब व्यक्तियों

---

१. ग्रे—दी सोशलिस्ट ट्रेडीशन, पृ० ४६०
२. बर्ट्रेण्ड रसेल—रोड्स टु फ्रीडम, पृ० १

को आर्थिक समानता प्रदान करना चाहता है, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उत्पादन के साधनों पर समाज का स्वामित्व स्थापित करना आवश्यक समझता है। वह कोरी राजनीतिक स्वतन्त्रता को तथा वोट देने की समानता को तब तक निरा ढोंग समझता है जब तक इसके साथ मनुष्यों को आर्थिक समानता न प्राप्त हो, उत्पादन के साधनों पर वैयक्तिक स्वामित्व के स्थान पर राष्ट्र का स्वामित्व स्थापित करके निर्धन व्यक्तियों का शोषण बिलकुल बन्द न कर दिया जाए। अतएव हर्नशा ने लिखा है कि समाजवाद के आवश्यक तत्व निम्नलिखित हैं—(१) व्यक्ति की अपेक्षा समाज की प्रधानता, (२) प्रतियोगिता का उन्मूलन, (३) निजी उद्योगों की समाप्ति, (४) पूंजीवाद का विनाश, (५) जमींदारों की समाप्ति। इनका स्पष्टीकरण समाजवाद की विशेषताओं तथा सामान्य सिद्धान्तों से हो जाएगा।

समाजवाद के सामान्य सिद्धान्त—समाजवाद के विभिन्न रूपों में घोर मतभेद होते हुए भी उनमें सामान्य रूप से निम्नलिखित सिद्धान्त पाए जाते हैं। ये इसका वास्तविक स्वरूप समझने में हमारी बड़ी सहायता करते हैं। **पहला** सिद्धान्त व्यक्ति की अपेक्षा समाज, समूह अथवा राज्य को अधिक महत्व देना है, यह व्यक्ति के हित को समाज के व्यापक हित की तुलना में गौण समझता है। व्यक्तिवाद व्यक्ति के हितों पर बल देता है, किन्तु समाजवाद समाज के सामूहिक हितों को अधिक ऊँचा समझता है। समाजवादियों के मतानुसार ऐसी वस्तुओं का उत्पादन किया जाना चाहिए जो सामान्य जनता के लिए लाभप्रद हों, न कि मुट्ठी-भर पूंजीपतियों को लाभ पहुँचाएँ। अतः फ्रेड ब्रैमली (Fred Bramley) ने लिखा है कि "समाजवाद का यही अर्थ है कि समाज के हितों को व्यक्ति के हितों की तुलना में प्रधानता दी जाए।" किन्तु सामाजिक हित को महत्व देने के साथ-साथ यह व्यक्ति के हितों की भी उपेक्षा नहीं करता, उसे स्वतन्त्रता और समानता के अधिकार देने के साथ-साथ अपनी मानसिक एवं बौद्धिक योग्यताओं के विकास के लिए समान अवसर देना चाहता है।

दूसरा सिद्धान्त पूंजीवाद का उन्मूलन है, क्योंकि यह समाज में कई भीषण दुष्परिणाम उत्पन्न करता है। इसका **पहला** दुष्परिणाम आर्थिक विषमता है। इससे कुछ व्यक्ति बहुत धनी और कुछ अत्यन्त गरीब हो जाते हैं। भारत में एक ओर तो टाटा, बिड़ला, सिंहानिया जैसे धनकुबेर हैं और दूसरी ओर करोड़ों व्यक्तियों को एक समय भरपेट भोजन नहीं मिलता, तन ढँकने को कपड़ा नहीं है तथा रहने के लिए मकान नहीं है। बम्बई, कलकत्ता में हजारों व्यक्ति सड़कों और फुटपाथों पर सोते हैं। डॉ० राममनोहर लोहिया के मतानुसार इस समय भारत में २७ करोड़ व्यक्तियों की दैनिक आय दो आने मात्र है। १९३१ में ग्रेट ब्रिटेन में एक लेखक ने हिसाब लगाया था कि वहाँ केवल १४ फीसदी लोग इंगलैण्ड की ५० प्रतिशत आमदनी का उपभोग करते हैं। सुप्रसिद्ध भारतीय समाजवादी नेता अशोक मेहता ने यह हिसाब लगाया है कि भारत की अधिकांश बड़ी कम्पनियाँ टाटा, बिड़ला आदि बीस व्यक्तियों के हाथों में हैं।[1] ये पूंजीपति अपने हितों की दृष्टि से देश की समूची अर्थव्यवस्था को नियन्त्रित

---

१. अशोक मेहता—डेमोक्रेटिक सोशलिज्म (भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९५९)

करने का प्रयत्न करते हैं। यह आर्थिक विषमता कई प्रकार से राष्ट्र की उन्नति के लिए घातक है। कम आमदनी वाले व्यक्ति अपने भरण-पोषण के लिए तथा बच्चों की शिक्षा के लिए पर्याप्त धन नहीं प्राप्त कर सकते; उनका शारीरिक, मानसिक, और बौद्धिक विकास न होने से वे अपनी उन्नति करने में समर्थ नहीं होते। इसका एक अन्य दुष्परिणाम गरीब लोगों में असतोन्ष और रोष का उग्र होना है, इससे ईर्ष्या, और वर्ग-विद्वेष की भावना उत्पन्न होती है तथा निर्धन जनता को क्रान्ति करने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। इन क्रान्तियों के कारण समाज का जीवन बड़ा अस्थिर, अनिश्चित और अस्थायी बन जाता है। समाजवाद पूँजीवाद से उत्पन्न इस विषमता का उन्मूलन करके सब लोगों में सम्पत्ति का वितरण ठीक ढंग से करता है ताकि सब लोग सन्तुष्ट और सुखी बने रहें। वैषम्य को दूर करके समाज में साम्य स्थापित करने का प्रयत्न करने के कारण इस सिद्धान्त को साम्यवाद भी कहते हैं।

पूँजीवादी व्यवस्था का **दूसरा** दुष्परिणाम आर्थिक उत्पादन में भारी अक्षमता और बरबादी उत्पन्न करना है : यह कई कारणों से होती है : **पहला** कारण इसमें खुली प्रतिस्पर्द्धा (Open Competition) का नियम है। जिस कार्य को एक आदमी भली-भाँति कर सकता है, उसे इस व्यवस्था में अनेक व्यक्ति करते हैं और इनमें बड़ी होड़ चलती है। उदाहरणार्थ, बीसियों कम्पनियाँ साबुन या वनस्पति घी जैसी वस्तुएँ बनाने में लग जाती हैं और अपने माल को बेचने के लिए प्रत्येक कम्पनी विज्ञापन पर अन्धाधुन्ध रुपया खर्च करती है; इसका समाज को कोई लाभ नहीं मिलता, अपितु इसका व्यय पूरा करने के लिए कम्पनियाँ माल का दाम बढ़ा देती हैं। सं० रा० अमेरिका के सम्बन्ध में यह हिसाब लगाया गया है कि वहाँ एक बार एक ही कागज के छः हजार प्रकार पैदा किए गए, इनमें ५० प्रतिशत कागज की बिक्री ही नहीं हुई। यह सारा कागज बरबाद हुआ। **दूसरा** कारण पूँजीवाद में मुनाफे की भावना से उत्पादन किया जाना है। जब उत्पादन में या व्यापार में मुनाफे को महत्व दिया जाता है तो इससे बरबादी बढ़ती जाती है और मिलावट आदि समाज-विरोधी प्रवृत्तियों का जन्म होता है। उत्पादन केवल मुनाफे की दृष्टि से किया जाता है और अधिक उत्पादन के कारण भाव गिरने तथा मुनाफा कम होने की सम्भावना हो तो लाखों मन गल्ला बरबाद कर दिया जाता है, कारखाने बन्द कर दिए जाते हैं। मुनाफा अधिक कमाने के लिए व्यापारी और दुकानकार आज किसी भी प्रकार की मिलावट करने में संकोच नहीं करते हैं। अब दूध में पानी मिलाने की बात पुरानी हो गई है, इस समय पानी में दूध मिलाया जाता है, गेहूँ के आटे में सेलखड़ी का चूरा डाला जाता है, कालीमिर्च के स्थान पर पपीते के बीजों की मिलावट होती है, मनुष्य बीसियों प्रकार की बेईमानियाँ मुनाफे के लालच से करता है। इन्हें बन्द करने के लिए मुनाफे के उद्देश्य से कार्य करने वाली पूँजीवादी व्यवस्था का समूलोन्मूलन होना चाहिए। पूँजीवाद की अक्षमता का **तीसरा** कारण आर्थिक संकटों (Economic Crisis) को उत्पन्न करना है। इस व्यवस्था में आर्थिक उत्पत्ति की कोई योजना नहीं होती है, सबको मनमाना उत्पादन करने की स्वतन्त्रता होती है। इस कारण लोग उन चीजों का उत्पादन बहुत बड़ी मात्रा में कर देते हैं जिनमें लाभ की अधिक सम्भावना होती है। इस प्रवृत्ति के

परिणामस्वरूप उस वस्तु का उत्पादन इतना अधिक हो जाता है कि बाजार में उसका ग्राहक नहीं मिलता। वस्तुओं का मूल्य गिरने लगता है, १९२९-३० जैसी असाधारण मन्दी आने लगती है और लोगों के दीवाले निकलने लगते हैं, भीषण आर्थिक संकट उत्पन्न हो जाते हैं। बैंक फेल हो जाते हैं, इनमें जमा किया हुआ लोगों का रुपया डूब जाता है। मनुष्य आर्थिक क्षेत्र में निश्चिन्तता चाहता है, किन्तु पूँजीवाद में आर्थिक संकटों के होते रहने के कारण मनुष्य को यह कभी नहीं प्राप्त हो सकती है। समाजवाद में समाज की आवश्यकताओं को देखते हुए निश्चित योजना के अनुसार ही उत्पादन होता है, अतः उसमें ऐसे आर्थिक संकट कभी पैदा नहीं होते हैं। इसके अतिरिक्त पूँजीवाद में योजनाबद्ध उत्पादन न होने का यह दुष्परिणाम भी होता है कि आवश्यक वस्तुओं के स्थान पर अनावश्यक वस्तुओं का उत्पादन होता है। इस समय भारत में अन्न की कमी होने से इसके उत्पादन की बड़ी आवश्यकता है; किन्तु एक कम्पनी लाखों रुपये का विज्ञापन करके कोका-कोला नामक पेय पदार्थ को सुलभ बना रही है। शृंगार-सामग्री बनाने वाली कम्पनियाँ सिनेमा, समाचारपत्रों आदि में आकर्षक विज्ञापनों से अपनी ऐसी सामग्री की माँग बढ़ा रही हैं जिसकी भारत को इस समय बड़ी आवश्यकता नहीं है। रूस की समाजवादी व्यवस्था में सबको अन्न और वस्त्र सुलभ है, किन्तु साबुन आदि शृंगार सामग्री दुर्लभ और मंहगी है। पूँजीवाद में उत्पादन समाज के हित की दृष्टि से नहीं होता है।

पूँजीवाद का **तीसरा दुष्परिणाम** इसका न्याय और मानवता के सिद्धान्तों पर आधारित न होना है, क्योंकि इसमें सम्पत्ति का वितरण न्यायपूर्ण नीति से नहीं होता है, इसमें पूँजीपति इस बात का पूरा प्रयत्न करता है कि वह अपने कारखाने में मजदूरों द्वारा तैयार की गई वस्तुओं को अधिकतम मूल्य पर बेचे, किन्तु उनका निर्माण जिन निर्धन मजदूरों के श्रम से हुआ है, उन्हें कम-से-कम मजदूरी दे। यह मज़दूरों के साथ घोर अन्याय है। यह व्यवस्था इसलिए भी अन्यायपूर्ण है कि इसमें बहुधा पूँजीपति को बिना परिश्रम किए ही अत्यधिक धन की प्राप्ति होती है और दिन-रात घोर परिश्रम करने वाले मजदूर दो समय का खाना भी नहीं जुटा सकते हैं। युद्ध छिड़ने पर वस्तुओं के दाम चढ़ने लगते हैं, इस समय जिनके पास माल का स्टाक होता है वे एक ही रात में लखपति बन जाते हैं; इसी प्रकार किसी स्थान पर कारखाने स्थापित होने से और औद्योगिक बस्ती का विकास होने से आस-पास की जमीनों की कीमत एकदम कई गुना बढ़ जाती है। इसके दाम में वृद्धि व्यक्ति के परिश्रम का नहीं, अपितु समाज की नवीन परिस्थितियों का परिणाम है, अतः इसकी बढ़ती हुई कीमत व्यक्ति को मिलना अन्यायपूर्ण है, यह समाज को ही मिलनी चाहिए। किन्तु पूँजीवाद में ऐसा सम्भव नहीं है। पूँजीवाद का **चौथा दुष्परिणाम** युद्धों को उत्पन्न करना है। इस समय संसार के सभी युद्धों का प्रधान कारण साम्राज्यवाद है, सब देश अपने साम्राज्यों का विस्तार करना चाहते हैं, इनका मूल पूँजीवाद है क्योंकि अधिक मुनाफा कमाने के लिए विभिन्न देशों के पूँजीपति अपने कारखानों में अधिक-से-अधिक माल तैयार करते हैं, किन्तु इस सारे माल को अपने देश में खपाया नहीं जा सकता। इसे सुरक्षित रूप में बेचने के लिए तथा अपने माल के लिए आवश्यक कच्ची सामग्री को सस्ते

दामों पर प्राप्त करने के लिए पूँजीपतियों को यह आवश्यक प्रतीत होता है कि वे एशिया तथा अफ्रीका के पिछड़े हुए देशों में अपना साम्राज्य और प्रभुत्व स्थापित करें। इसी कारण आधुनिक साम्राज्यवाद का जन्म होता है। ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड आदि देशों ने इसी उद्देश्य से भारत, बर्मा, हिन्द-चीन, इण्डोनेशिया आदि में अपने साम्राज्य स्थापित किए। जर्मनी और इटली का यह विश्वास था कि वे साम्राज्य बढ़ाने की इस दौड़ में पीछे रह गए हैं, अतः उन्होंने १९१४–१८ तथा १९३९–४३ के महायुद्ध साम्राज्य पाने के लिए छेड़े। इस प्रकार पूँजीवाद साम्राज्यवाद को तथा साम्राज्यवाद युद्धों को जन्म देता है, अतः विश्व-शान्ति स्थापित करने के लिए पूँजीवाद का उन्मूलन आवश्यक है।

समाजवाद का **तीसरा** सिद्धान्त भूमि पर वैयक्तिक सम्पत्ति का अन्त करके उसे सार्वजनिक सम्पत्ति बनाना है। वायु और जल की भाँति भूमि भी भगवान् की देन है। उसे भगवान् की ओर से सब प्राणियों के लिए समान रूप से दिया गया है। उसका निर्माण किसी विशेष व्यक्ति के श्रम द्वारा नहीं होता है, अतः उस पर व्यक्ति विशेष का स्वामित्व न होकर, सारे समाज का स्वत्व होना चाहिए, और उसका उपयोग सार्वजनिक हित की दृष्टि से किया जाना चाहिए। भूमि पर स्वामित्व रखने वाले तथा दूसरों से खेती करवाकर उनके परिश्रम का लाभ उठाने वाले जमींदारों की जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किस प्रकार किया जाए, इस विषय में समाजवाद के विभिन्न सम्प्रदायों में बड़ा मतभेद है, किन्तु सब इस बात पर सहमत हैं कि भूमि पर वैयक्तिक स्वामित्व के स्थान पर राज्य का स्वामित्व होना चाहिए।

समाजवाद का **चौथा** सिद्धान्त है कि उत्पादन के साधनों—कल-कारखानों पर समाज अथवा राज्य का नियन्त्रण होना चाहिए। इस नियन्त्रण के स्वरूप के बारे में समाजवादियों में पर्याप्त मतभेद हैं। कुछ उग्र-समाजवादी राज्य के सभी कल-कारखानों को राज्य के नियन्त्रण में लाना चाहते हैं; वे किसी भी व्यक्ति को स्वतन्त्र रूप से उत्पादन का अवसर नहीं देना चाहते हैं। रूस में यही स्थिति है। किन्तु अन्य विचारक केवल लोहा, कोयला, रेल, शस्त्रास्त्र निर्माण आदि प्रमुख व्यवसायों (Key Industries) पर ही राज्य का स्वामित्व स्थापित करना चाहते हैं, अन्य व्यवसायों का निजी उद्योग द्वारा संचालित होना स्वीकार करते हैं। इसे मिश्रित अर्थ-व्यवस्था (Mixed Economy) कहते हैं क्योंकि इसमें सरकारी और निजी उद्योगों का मिश्रण रहता है। भारत में ऐसी ही व्यवस्था है। ६ अप्रैल १९४८ को घोषित की गई भारत सरकार की औद्योगिक नीति के अनुसार शस्त्रास्त्र निर्माण, अणु-शक्ति, नदी घाटी योजनाएँ और रेलें विशुद्ध रूप से राजकीय क्षेत्र में हैं, इनके कारखानों पर एकमात्र राज्य का अधिकार है। ३० अप्रैल १९५६ को इसका संशोधन करते हुए १७ प्रमुख उद्योगों (Key Industries) को राज्य के क्षेत्र में लाया गया है। इनमें लोहा, फौलाद बनाने वाली तथा अन्य मशीनों का निर्माण करने वाली भारी मशीनों को, तथा बिजली पैदा करने के बड़े यन्त्रों को तैयार करने वाले कारखाने, कोयला, पैट्रोल, मैंगनीज़, हवाई यातायात, रेल का यातायात, पोत निर्माण, टेलीफोन, टेलीग्राफ तथा बिजली तैयार करने के उद्योग हैं। इन पर राज्य का पूर्ण स्वामित्व होगा। इनके

अतिरिक्त अन्य उद्योगों पर निजी स्वामित्व भी हो सकता है। समाजवादियों में राज्य के क्षेत्र में लिए जाने वाले उद्योगों के सम्बन्ध में भले ही मतभेद हो, किन्तु सभी समाजवादी इस बात को सामान्य रूप से स्वीकार करते हैं कि उत्पादन के साधनों पर राज्य का स्वामित्व और नियन्त्रण होना आवश्यक है ताकि इनका संचालन व्यक्तिगत मुनाफे की नहीं, अपितु सामाजिक हित की भावना से हो। समाजवाद का **पांचवां** सिद्धान्त लोकतन्त्रीय (Democratic) शासन-प्रणाली में विश्वास रखना है। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में समाजवादियों में प्रबल मतभेद है। साम्यवादी (Communist) जिस ढंग का लोकतन्त्र चाहते हैं, श्रेणी समाजवादी (Guild Socialists) इससे सर्वथा भिन्न शासन पसन्द करते हैं। किन्तु सभी समाजवादी लोकतन्त्र में विश्वास रखते हैं और इसके प्रबल पोषक हैं।

समाजवाद का **छठा** सिद्धान्त सब व्यक्तियों को विकास के समान अवसर देना तथा विषमता को दूर करके समानता की स्थापना करना है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि समाज में पूर्ण अथवा आदर्श समानता स्थापित हो। यह सम्भव ही नहीं है। सब मनुष्यों की योग्यता और शक्तियों में तथा कार्यों में कुछ अन्तर होता है, अतः उनके वेतन में कुछ अन्तर होना स्वाभाविक है। पाँचों उंगलियाँ बराबर नहीं होती हैं। किन्तु यह अन्तर उंगलियों के आकार जैसा थोड़ा-सा ही होना चाहिए, आकाश-पाताल का अन्तर नहीं होना चाहिए। उदाहरणार्थ, भारत के एक बड़े औद्योगिक कारखाने में यदि मजदूर का न्यूनतम वेतन १०० है तो अधिकतम वेतन दो हजार या इससे भी अधिक होता है। इन दोनों में कम-से-कम बीस गुना अन्तर है। इतना अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए। समानता का यह भी अर्थ है कि सबको अपनी योग्यता प्राप्त करने का तथा योग्यता के अनुसार कार्य प्राप्त करने का समान अवसर होना चाहिए। पूँजीवादी व्यवस्था में इंजीनियरी, डाक्टरी आदि की शिक्षा के लिए बड़ा व्यय करना पड़ता है, अतः धनी लोग ही अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा दिला सकते हैं इसीलिए अच्छी नौकरियाँ और पद धनियों के बच्चों को मिलते हैं। गरीबों के बच्चे प्रतिभासम्पन्न होने पर भी निर्धनता के कारण शिक्षा से वंचित रह जाते हैं, उन्हें जीवन में आगे बढ़ने और उन्नति करने के अवसर नहीं मिलते हैं। समाजवाद सबके लिए शिक्षा की व्यवस्था करके सबको उन्नति का समान अवसर देना चाहता है।

समाजवाद का **सातवाँ** सिद्धान्त निजी सम्पत्ति (Private Property) का विरोध करना है। इसके अनुसार कोई व्यक्ति भूमि, मकान, दुकान, कारखाने, रुपये पैसे पर वैयक्तिक अधिकार नहीं रख सकता है, क्योंकि इस वैयक्तिक सम्पत्ति से ही समाज में आर्थिक विषमता का प्रादुर्भाव और पोषण होता है। पहले बताया जा चुका है कि भूमि को भगवान् की या प्रकृति की देन कहा जाता है, यह सब लोगों के लिए है. अतः किसी भी व्यक्ति का एक इंच भूमि पर वैयक्तिक अधिकार नहीं होना चाहिए। समाजवादियों के मत में भूमि पर अपना स्वामित्व स्थापित करने वाला तथा उसके उपभोग के लिए किसानों से लगान लेने वाला व्यक्ति लुटेरा होता है। इसी प्रकार उत्पादन के अन्य साधनों पर राज्य का स्वामित्व होना चाहिए। समाजवादियों

में इस प्रश्न पर उग्र मतभेद है कि जमींदारी आदि निजी सम्पत्ति के विभिन्न रूपों का उन्मूलन किस प्रकार किया जाए। इसमें एक उग्र मत तो बिना कोई मुआवजा दिए जमींदारियों और कारखानों को इनके मालिकों से छीनना चाहता है, जैसा कार्ल मार्क्स और एंगल्ज़ के मतानुसार रूस में किया गया है। किन्तु ब्रिटिश समाजवादी निजी सम्पत्ति की व्यवस्था को नष्ट करते हुए जमींदारों को मुआवजा देने के पक्षपाती हैं। रैम्ज़े मैकडानल्ड ने लिखा है कि लोगों की सम्पत्ति को जबर्दस्ती छीनकर समाजवाद को नहीं लाया जा सकता है, यह एक प्रकार की लूट है। भारत में इसी विचारधारा का अनुसरण करते हुए जमींदारी की प्रथा का उन्मूलन करते हुए जमींदारों को मुआवजा दिया गया है। आदर्श समाजवादी व्यवस्था में अपने निजी उपयोग की इनी-गिनी वस्तुओं को छोड़कर मनुष्य के पास किसी प्रकार की वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं होनी चाहिए।

समाजवाद का **आठवां** सिद्धान्त राज्य के कार्य-क्षेत्र को व्यापक और विस्तीर्ण बनाना तथा उसे जनकल्याण का साधन बनाना है। अध्याय ७ में यह बताया गया था कि स्पेन्सर राज्य के केवल तीन कार्य—विदेशी आक्रमणों से रक्षा, आन्तरिक उपद्रवकारी तत्वों से सुरक्षा तथा कानूनों और समझौतों का पालन करवाना ही मानता है। किन्तु समाजवादी उत्पादन के सभी साधनों पर राज्य का स्वामित्व स्थापित करना चाहते हैं और व्यक्तियों तथा समाज को हित पहुँचाने वाले सभी कार्यों का संचालन राज्य द्वारा किए जाने की व्यवस्था के प्रबल पोषक हैं। इस विषय में कुछ समाजवादी तो यहाँ तक आगे बढ़े हुए हैं कि वे न केवल बड़े उद्योगों का संचालन, अपितु चूल्हे-चौकों का संचालन भी राज्य द्वारा कराना चाहते हैं। उनका यह कहना है कि हर घर में अलग-अलग खाना बनने के स्थान पर राज्य द्वारा संचालित पाक-शालाओं में सबका भोजन एक स्थान पर बनना चाहिए और राज्य की भोजन-शालाओं में इसके दिए जाने की व्यवस्था होनी चाहिए। चीन ने अपने कम्यूनों में ऐसे परीक्षणों का प्रयास किया है। यद्यपि सभी समाजवादी इस विषय में इतने उग्र नहीं हैं किन्तु वे सब इस बात पर सहमत हैं कि राज्य को न केवल राजनीतिक क्षेत्र में, अपितु आर्थिक क्षेत्र में तथा अन्य क्षेत्रों में लोकहित की दृष्टि से आवश्यक सभी कार्य करने चाहिएँ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि समाजवाद के प्रधान सिद्धान्त और लक्ष्य ये हैं—पूंजीवाद का विरोध, व्यक्तिगत सम्पत्ति की व्यवस्था का उन्मूलन, उत्पादन के साधनों पर समाज का स्वामित्व और नियन्त्रण, आर्थिक विषमता का निवारण, राष्ट्रीय आय का समान मात्रा में वितरण, निम्नतम व्यक्ति के जीवन को भी अधिकतम सुखी बनाना, स्पर्द्धा के स्थान पर सहयोग की भावना को बढ़ाना, सब व्यक्तियों को समानता, स्वतन्त्रता और न्याय प्रदान करना। समाजवाद समाज की बुराइयों का मूल स्रोत आर्थिक विषमता को समझता है; वह समाज के वैषम्य, अन्याय, अत्याचार और शोषण को दूर करके समानता, स्वतन्त्रता और न्याय का नवयुग लाना चाहता है।

समाजवाद की प्राचीन और मध्यकालीन विचारधारा—समाजवाद की वर्तमान विचारधारा १९वीं शताब्दी में विकसित हुई। १८३० के लगभग समाजवाद का

शब्द पहली बार प्रयोग हुआ। किन्तु इसके कुछ मौलिक विचार—आर्थिक विषमता का उन्मूलन, धनियों की निन्दा, शक्तिशाली व्यक्तियों द्वारा निर्बलों के शोषण का विरोध अतीव प्राचीन हैं। सभी देशों और कालों में दूरदर्शी विचारक और पैगम्बर निर्धन और मूक जनता पर धनियों और विशेषाधिकारप्राप्त व्यक्तियों द्वारा होने वाले भीषण अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठाते रहे हैं।

प्राचीन भारत की समाजवादी विचारधारा—भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में दान की व्यवस्था द्वारा तथा कृपण की निन्दा करते हुए धन के समान वितरण पर बल दिया गया है। ऋग्वेद (४।२५।७) में कहा गया है कि "इन्द्र देवता कृपण धनी के साथ मित्रता नहीं करता है, उसके धन को नष्ट कर देता है, उसे नग्न करके मार देता है।"[1] अन्यत्र पूषा देवता के प्रार्थना की है कि हे तेजस्वी पूषा देव, जो दान नहीं करना चाहता उसे भी आप दान के लिए प्रेरित कीजिए; कृपण के मन को भी मृदु कर दीजिए।"[2] ऋग्वेद के दशम मण्डल (सूक्त ११७, मन्त्र ५) में इस बात पर बल दिया गया है कि समृद्ध मनुष्य के लिए यह आवश्यक है कि वह माँगने वाले को दान करे। वह दूरदर्शी बने, बहुत लम्बे रास्ते पर दृष्टि रखे, सम्पत्ति (किसी के पास स्थिर न रहकर) रथ के पहियों की भाँति घूमती रहती है। एक के पास से दूसरे के पास जाती रहती है।[3] ऋग्वेद में, गीता में तथा मनुस्मृति में उस व्यक्ति की घोर निन्दा की गई है जो अपनी सम्पत्ति दूसरों को नहीं देता, उसे केवल अपने ही उपभोग में व्यय करता है, ऐसे व्यक्ति को पापी बताया गया है। ऋग्वेद के शब्दों में (दान की भावना से शून्य) "हृदयहीन मनुष्य का अन्न को प्राप्त करना बेकार है, सच कहता हूँ कि यह उसका वध ही है। जो अपने अन्न से न अर्यमा देव का पोषण करता है और न मित्र का; ऐसा अकेला खाने वाला केवल पाप का ही भागी होता है।" "जो केवल अपने लिए अन्न पकाते हैं, वे पापी लोग केवल पाप का ही भोग करते हैं।"[4] इसी बात को गीता और मनुस्मृति में दोहराते हुए यज्ञ अर्थात् परोपकार की भावना से किए जाने वाले कार्यों पर बहुत बल दिया गया है। "यज्ञ करके शेष बचे भाग को ग्रहण करने वाले सज्जन सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। किन्तु (यज्ञ न करके केवल)

---

१. ऋ० ४।२५।७, न देवता पणिना सख्यमिन्द्रोऽसुन्वता सुतपाः संगृणीते।
आस्यः वेदः खिदति हन्ति नग्नं विसुष्वये पक्तये केवलो भूत्॥

२. ऋ० ६।५३।३, आदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन्दानाय चोदय।
पणेश्चिद्वि मुदा मनः॥

३. ऋ० १०।११७।५, पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः॥

४. ऋ० १०।११७।६, मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

अपने लिए ही जो अन्न पकाते हैं वे पापी पाप का भक्षण करते हैं।[1] वैदिक साहित्य में समान वितरण का सम्भवतः सबसे अधिक स्पष्ट उल्लेख सामंजस्य सूक्त (अथर्ववेद ३।३०) में है—"आपका जल पीने का स्थान समान हो, आप सबमें अन्न का वितरण एक जैसा हो (समानी प्रपा सह वो अन्नभागः)"। इसी सूक्त में वर्तमान समाजवादियों के आदर्श का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है, "मैं तुम सब को एकसाथ मिलकर चलने वाला, एक मन वाला तथा समान रूप से बाँटकर (संवनन) एकसाथ भोजन करने वाला बनाता हूँ।"[2] महात्मा गांधी ने लिखा है[3] कि समाजवाद ही नहीं, साम्यवाद भी ईशोपनिषद् के पहले मन्त्र में स्पष्ट है। इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—जगत् में जो कुछ है, वह ईश्वर से बसाया हुआ है। इसलिए उसके नाम से त्याग करके तू भोग करता जा, किसीके धन के प्रति लालसा न रख।[4] इसका अभिप्राय है कि संसार की समूची धन-सम्पत्ति अपनी नहीं, किन्तु भगवान् की समझनी चाहिए, इसे ईश्वर को अर्पण करके उसके प्रसाद के रूप में ग्रहण करना चाहिए।[5] हम दूसरे के धन की लालसा तभी करते हैं जब हम निठल्ले बैठते हैं, अतः इस उपनिषद् के अगले ही मन्त्र में कहा गया है कि कर्म करते हुए ही सौ साल तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। महात्मा गांधी तथा विनोबा भावे इन मन्त्रों को भारत में साम्यवाद और समाजवाद का मूल मानते हैं। इसके अतिरिक्त गांधी जी 'सबै भूमि गोपाल की' के वचन के आधार पर यह कहा करते थे कि सारी भूमि और सम्पत्ति भगवान् की है, जमींदारों और धनियों को इसे जनता की धरोहर समझकर उसके हित में लगाना चाहिए। आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए धर्मशास्त्रों में दान की प्रशंसा की गई है। बुद्ध ने अपने बौद्ध-संघ का संगठन साम्यवाद के सिद्धान्तों के आधार पर किया था, बौद्ध भिक्षु अपने लिए कोई पृथक् सम्पत्ति नहीं रखते थे ; विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के पंचायती अखाड़ों में भारत में आज तक साम्यवादी व्यवस्था प्रचलित है। कालिदास और कौटिल्य ने समाजवाद के एक प्रधान सिद्धान्त 'साधारण जनता के कल्याण' पर बड़ा बल दिया। कालिदास के शब्दों में अपनी प्रजा को सन्मार्ग पर चलाने, आपत्तियों से बचाने तथा अन्नादि से भरण-पोषण करने के कारण दिलीप उनका सच्चा पिता

---

१. गीता ३।१३, यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

इसकी तुलना मनुस्मृति (३।११८) के निम्न श्लोक से कीजिए—
अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते॥

यज्ञ करने के बाद बचा हुआ अन्न 'अमृत' कहलाता है (मनु ३।२८५); गीता (४।३१) में इसी को भले लोगों के लिए विहित अन्न बतलाया है।

२. अथर्ववेद ३।३०।६, सध्रीचीनान्वः संमनस्कृणोमि एकश्नुष्टीन् संवननेन सर्वान्।
३. हरिजन २०-२-३७, मेरा समाजवाद, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, १९५६, पृ० १
४. यजुर्वेद ४०।१, ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥
५. आचार्य विनोबा—ईशावास्योपनिषद्, सस्ता साहित्य मंडल, १९५०

था, उनके पिता तो केवल उनको जन्म देने वाले थे।[1] कौटिल्य ने लिखा है कि राजा को प्रजा के सुख में अपना सुख तथा प्रजा के हित में अपना हित समझना चाहिए।[2]

पश्चिम के प्राचीन समाजवादी विचारक—पश्चिमी जगत् में समाजवादी विचारों की परम्परा के दर्शन हमें सर्वप्रथम बाइबल के पुराने अहदनामे (Old Testament) में वर्णित एमोस (Amos), होसिया (Hosea), इसीहा (Isiah), जेरेमिया जैसे कुछ प्राचीन यहूदी पैगम्बरों और विचारकों की वाणी में मिलते हैं। एमोस आठवीं शताब्दी ई० पू० में पेलेस्टाइन में टेकोआ स्थान पर जन्म लेने वाला एक चरवाहा था। उसने अपने युग में वैभव के सम्पूर्ण सुख लूटने वाले धनियों की घोर निन्दा करते हुए कहा था (६१४-६)—"वे हाथी-दाँत के पलंग पर लेटते हैं, रेवड़ के (बढ़िया) मेमनों को खाते हैं, सबसे बढ़िया शराब पीते हैं, सर्वश्रेष्ठ फुलेल लगाते हैं, रिश्वतें लेते हैं, घटिया अनाज बेचते हैं, तौल में डण्डी मारते हैं।" उसका यह विश्वास था कि जो जाति इनके अत्याचारों को होने देती है वह अवश्य नष्ट हो जाती है। इसीहा (७४०-७०० ई० पू०) ने धनियों को विलासमय जीवन के लिए फटकारते हुए कहा था (२।१६-२०)—"तुमने अंगूरों के बागों को खा डाला है। गरीबों की लूट तुम्हारे घर में है।" उसने अन्त में भगवान् का ऐसा राज्य स्थापित होने की कल्पना की थी जब एक न्यायी राजा निर्बल व्यक्तियों की रक्षा करेगा और धनियों को दण्ड देगा। (११।२)। ईसामसीह ने धनियों की निन्दा करते हुए कहा था कि यह सम्भव है कि ऊँट सुई की नोक में से निकल जाए, किन्तु यह सम्भव नहीं है कि धनी व्यक्ति स्वर्ग के द्वार में प्रवेश कर सके। प्लेटो (४२७-३४७ ई० पू०) ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में समाजवाद के कुछ विचारों का प्रतिपादन किया। इस राज्य के शासकों (Guardians) के लिए उसने मकान, भूमि आदि के किसी भी रूप में वैयक्तिक सम्पत्ति रखने का निषेध किया है।[3] उसने पारिवारिक सम्बन्धों में भी साम्यवाद की व्यवस्था का समर्थन करते हुए कहा है कि इस राज्य के संरक्षकों की स्त्रियाँ सांझी होंगी।

मध्ययुगीन योरोप में प्लेटो की भाँति आदर्श राज्य की कल्पना अनेक विचारकों ने की। इनमें सर थामस मोर द्वारा १५१६ ई० में प्रकाशित **यूटोपिया** (Utopia) प्रसिद्धतम रचना है। यूटोपिया लैटिन भाषा के दो शब्दों से मिलकर बनता है, इनका अर्थ है—कहीं नहीं (No where)। मोर ने अपने यूटोपिया में जिस राज्य का वर्णन किया है वह वास्तव में इस भूमण्डल पर कहीं नहीं था, किन्तु मोर ने इसमें ऐसे आदर्श राज्य की कल्पना का सपना लिया था जिसे वह उस समय के अन्यायपूर्ण राज्य के स्थान पर स्थापित करना चाहता था। उस समय इंगलैण्ड के व्यापार में

---

१. रघुवंश १।२४, प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥

२. कौ० अर्थशास्त्र १।१६।४३, प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥

३. हरिदत्त वेदालंकार—पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, पृ० ११०-१११

असाधारण वृद्धि हो रही थी, ऊन के उद्योग में विलक्षण उन्नति के कारण किसानों से उनकी जमीनें भेड़ों की चरागाहें बनाने के लिए छीनी जा रही थीं। इस समय इंगलैण्ड में किसानों और मजदूरों की दशा अत्यन्त दयनीय थी, उन्हें इतनी मजदूरी नहीं मिलती थी कि जिससे उनका पेट भर सके। मोर इसे अत्यन्त अन्यायपूर्ण व्यवस्था समझता था कि घोर परिश्रम करने वाले मजदूरो का पेट न भरे और जमींदार गुलछर्रे उड़ाएँ। उसने इंगलैण्ड की तत्कालीन व्यवस्था पर कटु व्यंग्य करते हुए एक पुर्तगाली अन्वेषक के मुँह से यूटोपिया नामक टापू का एक आदर्श वर्णन प्रस्तुत किया है जहाँ इंगलैण्ड जैसी कोई बुराइयाँ नहीं हैं। 'यहाँ सभी व्यक्ति अपने परिश्रम से उत्पन्न वस्तुओं को एक स्थान पर रख देते हैं और यहाँ से आवश्यकतानुसार वस्तुओं को लेते रहते हैं। यहाँ शान्ति का साम्राज्य है, किसी के पास अपनी निजी सम्पत्ति नहीं है और न ही उसे इसकी चाह है।' वह सम्पत्ति को सारे अनर्थों और झगड़ों की जड़ समझता है। मोर ने इसमें उत्पादन एवं वितरण का नियन्त्रण करने वाली साम्यवादी पद्धति का एक आदर्श एवं अत्यन्त आकर्षक और मनोरम चित्र उपस्थित किया है। मोर की इस अमर रचना ने इंगलैण्ड पर गहरा प्रभाव डाला, उसके बाद अनेक लेखकों ने इस प्रकार के काल्पनिक राज्य के वर्णन प्रस्तुत किए। इनमें चैम्पेनेल्ला (Campanella) की सूर्यपुरी या City of the Sun (१६२३), फ्रांसिस बेकन का New Atlantis और हैरिंगटन का Oceana (१६५६) उल्लेखनीय हैं। सुप्रसिद्ध लेखक एच० जी० वैल्स ने १९०५ में Modern Utopia लिखा था।

१७वीं शताब्दी के दो आन्दोलनों ने इंगलैण्ड में समाजवादी विचारधारा को प्रोत्साहित किया। ये दोनों चार्ल्स प्रथम के शासन के समय होने वाले गृह-युद्ध में उत्पन्न हुए थे। पहला आन्दोलन **समतावादियों** (Levellers) का था। ये लोकतन्त्र के उपासक एवं सब प्रकार के विशेषाधिकारों के कट्टर विरोधी थे, ये समाज में सब प्रकार की विषमता दूर करके समानता स्थापित करना चाहते थे, इसीलिए इन्हें समतावादी का नाम दिया गया था। ये भूमि पर सब मनुष्यों का सामान्य अधिकार मानते थे। इनका आन्दोलन प्रधान रूप से राजनीतिक था। दूसरा आन्दोलन **खनकों** (Diggers) का था। इन्हें यह नाम देने का कारण यह था कि इस आन्दोलन का नेता विनस्टैनली (Winstanley) भूमि पर निर्धन जनता का स्वामित्व मानता था, उसने गरीबों को यह प्रेरणा दी थी कि बिना जुती पंचायती भूमि को खोदकर वे उस पर खेती करना शुरू कर दें। अप्रैल १६४९ में उसने अपने कुछ अनुयायियों के साथ वेब्रिज नामक स्थान पर सेण्ट जार्ज पहाड़ी की पंचायती जमीन को खेती के लिए खोदना शुरू किया। उसे सेना ने यहाँ से भगा दिया, अब वह लेखक बनकर अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने लगा। उसकी रचनाओं में परवर्ती समाजवाद के अनेक विचार दिखाई देते हैं। उसका कहना था कि समाज परस्पर संघर्ष करने वाले वर्गों में बँटा हुआ है। राजनीतिक संघर्ष धनी व्यक्तियों के स्वार्थों के कारण होते हैं। यदि मानव-समाज में स्वतन्त्रता, सुख और समृद्धि लानी है तो मजदूरी और निजी सम्पत्ति के स्थान पर सहयोग और सामूहिक सम्पत्ति की व्यवस्था स्थापित करनी पड़ेगी। **विनस्टैनली का खनक आन्दोलन यद्यपि १७वीं शताब्दी में पूर्ण रूप से विफल हो गया**

और १८वीं शताब्दी में ऐसा कोई आन्दोलन नहीं हुआ, फिर भी इसने १९वीं शताब्दी के समाजवादी आन्दोलन पर परोक्ष रूप से गहरा प्रभाव डाला। १६९६ ई० में जॉन बेलर्स (John Bellers) ने विनस्टैनली के कुछ विचारों को ग्रहण करते हुए The College of Industry नामक एक पुस्तक लिखी। इसमें सहयोग के आधार पर प्रतिष्ठित स्वावलम्बी समाजों की स्थापना का सुन्दर विवेचन था। इस पुस्तक की एक प्रति इंगलैण्ड में १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में समाजवादी आन्दोलन के संस्थापक रावर्ट ओवन के हाथ में पड़ गई, वह अपने समाजवादी विचारों में इससे बहुत प्रभावित हुआ।

समाजवादी आन्दोलन के १९वीं शताब्दी में तीव्र विकास के कारण—१८वीं शताब्दी तक समाजवादी आन्दोलन प्रबल एवं प्रभावशाली नहीं बना, किन्तु १९वीं शताब्दी से इस आन्दोलन में तीव्रता और प्रखरता आने लगी। इसका कारण औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) से उत्पन्न होने वाली विशेष परिस्थितियाँ थीं। पहले (पृ० ८–१०) इसके स्वरूप और परिणामों का विवेचन किया जा चुका है। यहाँ केवल समाजवादी आन्दोलन के विकास पर पड़ने वाले इसके प्रभावों का उल्लेख किया जाएगा। इसने कई कारणों से इस आन्दोलन को प्रोत्साहित किया: **पहला** कारण यह था कि इसने समाज में स्पष्ट रूप से कारखानों में उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखने वाले पूँजीपति वर्ग को उत्पन्न किया, इससे पहले उत्पादन की घरेलू व्यवस्था (Domestic System) प्रचलित थी, इसमें जुलाहा या अन्य कारीगर अपने घर पर रहते हुए अपनी खड्डी आदि पर उत्पादन-कार्य करते थे, उत्पादन के साधनों पर कारीगरों का ही स्वामित्व था। किन्तु अब मशीनों द्वारा उत्पादन होने के कारण कारीगर उत्पादन के साधनों से वंचित हो गया। वह केवल मशीनों को अपने हाथ से चलाने वाला एक सामान्य मजदूर (Hand) बन गया।[1] यह मजदूर पहले मजदूरों से भिन्न था, शहर में एकसाथ रहने से मजदूरों में एकता की, अपनी श्रेणी के कष्टों को दूर करने की, इसके लिए पूँजीपतियों के प्रति रोष प्रकट करने की तथा अपनी शिकायतें दूर करने के लिए संघ बनाने की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होने लगीं। इस प्रकार समाजवादी विचारों को प्रबल बनाने वाले 'मजदूर आन्दोलन' का श्रीगणेश होने लगा। **दूसरा** कारण पूँजीवाद का उत्कर्ष था। औद्योगिक क्रान्ति के विकास एवं प्रगति के साथ-साथ बड़ी-बड़ी मशीनें बनने लगीं, इनका दाम बहुत अधिक था, अतः इन पर स्वामित्व रखने वाले पूँजीपतियों की संख्या घटने लगी। दूसरी ओर उद्योगों का विकास होने से मजदूरों की संख्या बढ़ने लगी। इसके साथ ही अब उद्योगों में लगाई जाने वाली पूँजी की मात्रा बढ़ने लगी, ताँगों या बैलगाड़ियों को तैयार करने के कारखानों की अपेक्षा रेल के इंजन और डिब्बे बनाने के कारखानों में बहुत अधिक पूँजी अपेक्षित होती है। इससे पूँजीवाद के चरम विकास को ऐसा अवसर मिला जैसे पहले कभी नहीं मिला था। इसके ऊपर बताए गए (पृ० २६९) दुष्परिणाम समाज में अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगे, इसके प्रति विद्रोह की भावना प्रबल होने

---

1. एबेन्स्टाइन—माडर्न पोलिटिकल थाट, पृ० ४००

लगी। **तीसरा** कारण यह था कि ज्यों-ज्यों उद्योगों में अधिक पूंजी लगाई जाने लगी, त्यों-त्यों इस पूंजी को लगाने वाले मुट्ठी-भर पूंजीपतियों का उद्योगों पर नियन्त्रण बढ़ने लगा। ये पूंजीपति अपने हितों और स्वार्थों की दृष्टि से उद्योगों का संचालन करने लगे, इन्होंने मजदूरों के हितों की घोर उपेक्षा की। इससे उत्पन्न होने वाले दुष्परिणामों से समाजवादी आन्दोलन को प्रेरणा मिली, उन्हें यह विश्वास हो गया कि पूंजीपति अपने हितों और स्वार्थों को कभी नहीं छोड़ेंगे, उत्पादन के साधन उनसे बलपूर्वक छीनकर समाज के स्वामित्व और प्रभुत्व में लाए जाने चाहिएँ। औद्योगिक क्रान्ति से ये परिस्थितियाँ सर्वप्रथम पश्चिमी योरोप के देशों—फ्रांस और इंगलैण्ड में उत्पन्न हुई, अतः समाजवादी विचारों का विकास सर्वप्रथम इन्हीं देशों में हुआ। तत्कालीन रूस की ज़ारशाही में तथा पूर्वी योरोप के देशों में, एशिया तथा अफ्रीका में औद्योगिक क्रान्ति का प्रसार न होने से वहाँ समाजवादी विचारों का विकास नहीं हुआ।

१९वीं शताब्दी में समाजवादी विचारधारा के विकास को दो समान भागों में बाँटा जाता है—कार्ल मार्क्स से पूर्ववर्ती विचारक तथा उसके बाद के विचारक। कार्ल मार्क्स ने अपने से पहले के विचारकों को कल्पनावादी, सपनों की दुनिया में रहने वाले या स्वप्नलोकविहारी (Utopian) विचारक कहा था, क्योंकि इन्होंने समाजवाद के विषय में बड़ी सुन्दर कल्पनाएँ की थीं, सपने लिए थे, किन्तु इन्हें स्थापित करने के लिए कोई व्यावहारिक योजनाएँ नहीं प्रस्तुत की थीं, इन्होंने समाजवादी विचारों के दार्शनिक आधार का वैज्ञानिक विवेचन नहीं किया था। उसने ऐसा अध्ययन करके अपने सिद्धान्तों को **वैज्ञानिक समाजवाद** (Scientific Socialism) का नाम दिया और अपने पूर्ववर्ती विचारकों के सिद्धान्त को हवाई कल्पनाओं पर आधारित होने के कारण काल्पनिक या स्वप्नलोकीय समाजवाद (Utopian Socialism) कहा। यहाँ पहले फ्रांस तथा इंगलैण्ड के स्वप्नलोकीय विचारकों का परिचय दिया जाएगा, अगले अध्याय में कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों का वर्णन होगा।

फ्रांस के स्वप्नलोकीय विचारक फ्रांसिस नोयल बाबेफ (Francis Noel Babeuf, 1764-1797)—यह फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समय में हुआ था। इस क्रान्ति ने सब मनुष्यों के समान होने की घोषणा की थी, किन्तु फ्रांस के समाजवादी विचारक यह मानते थे कि सब मनुष्यों को राजनीतिक समानता के साथ-साथ आर्थिक समानता भी मिलनी चाहिए। इनमें बाबेफ को प्राचीन तथा अर्वाचीन समाजवाद का विभाजक और आधुनिक साम्यवाद का जनक कहा जाता है। रोबेस्पियर के पतन के बाद यह स्पष्ट हो गया था कि क्रान्ति का सबसे अधिक लाभ सट्टेबाजों को तथा निजी भूमि रखनेवालों को हुआ है, किन्तु साधारण जनता को नहीं हुआ है। १७९४ में उसने लिखा था—"जब मैं देखता हूँ कि गरीबों के तन पर न कपड़े हैं और न पैरों में जूते; गरीब लोग ही कपड़े और जूते बनाते हैं, पर उन्हें ही ये इस्तेमाल के लिए नहीं मिलते; और जब मैं उन लोगों का विचार करता हूँ, जो स्वयं कुछ भी काम नहीं करते, पर जिनके पास किसी भी चीज की कमी नहीं है तो मेरा यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि राज्य अब भी जनसाधारण के विरुद्ध कुछ लोगों का षड्यन्त्र है।" वह समाज में आर्थिक विषमता का अन्त करके समानता स्थापित करना चाहता था। उसका

विश्वास था कि निजी सम्पत्ति गृह-युद्ध और विषमता को उत्पन्न करती है, अतः इसका उन्मूलन होना चाहिए। उसका यह प्रस्ताव था कि मृत व्यक्तियों की सम्पत्ति पर राज्य अधिकार कर ले और इस प्रकार पचास वर्ष में राज्य ही सब प्रकार की सम्पत्ति का स्वामी बन जाए। उसके विचार में सब व्यक्तियों से समान रूप से काम लेना चाहिए, काम के घण्टे कानून द्वारा निश्चित होने चाहिएँ। उसने उत्पादन पर नियन्त्रण स्थापित करने पर तथा वैयक्तिक आवश्यकताओं के अनुसार सम्पत्ति के वितरण पर बल दिया।

बाबेफ से पहले के समाजवादियों ने केवल नवीन समाज की कल्पनाएँ की थीं; किन्तु इसकी यह विशेषता थी कि इसने इसकी उपर्युक्त योजना बनाने के साथ इसे स्थापित करने के लिए क्रान्तिकारी पद्धति का विकास किया, इस विषय में ऐसे ढंगों का आविष्कार किया जिनका अनुसरण समाजवादी दल आज तक कर रहे हैं। उसने अपनी योजना को सफल बनाने के लिए **'समानता चाहने वाले व्यक्तियों का षड्यन्त्र'** (Conspiracy of Equals) किया, पेरिस के मजदूरों में अपने विचारों का प्रचार किया, इसके लिए उसने सम्भवतः पहले कम्यूनिस्ट पत्र The Tribune of the People की स्थापना की। सेना और पुलिस में अपने समर्थकों के गुप्त गुटों का निर्माण किया, शान्ति द्वारा बलपूर्वक सत्ता हथियाने की योजना बनाई। उसका यह कहना था कि धनी लोग कभी स्वेच्छापूर्वक अपनी शक्ति नहीं छोड़ेंगे, इसे उनसे जबर्दस्ती छीनना पड़ेगा। उसका यह विचार था कि एक बार विद्रोह करने से कम्यूनिस्ट लोकतन्त्र की स्थापना होने तक एक अधिनायकतन्त्र (Dictatorship) का स्थापित करना आवश्यक है। दुर्भाग्यवश बाबेफ की क्रान्तिकारी योजना सफल नहीं हुई, पुलिस को उसके षड्यन्त्र का पता लग गया। १७९६ में वह अपने साथियों के साथ गिरफ्तार कर लिया गया, अगले वर्ष उसे गिलोटीन पर मौत के घाट उतार दिया गया; किन्तु उसकी योजना और विचारों का भावी समाजवाद पर गहरा प्रभाव पड़ा। नार्मन मेकेञ्जी के शब्दों में किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा उसने लेनिन का तथा १९१७ की बोल्शेविक क्रान्ति का अधिक मात्रा में पथ-प्रदर्शन किया।[1] वह पहला महत्वपूर्ण समाजवादी था जिसने यह घोषणा की थी कि बड़ी सावधानीपूर्वक तथा तैयारी के साथ की जाने वाली सैनिक कार्यवाही की भाँति सम्पन्न होने वाली क्रान्ति द्वारा ही श्रमिक वर्ग राजनीतिक सत्ता हस्तगत कर सकता है।[2]

सेण्ट साइमन (१७६०-१८२५ ई०)—यह सम्भवतः सबसे अधिक झक्की और सनकी समाजवादी है। इसका जन्म सुप्रसिद्ध सम्राट् शार्लमेगन को अपना पूर्वज मानने वाले एक प्राचीन एवं प्रसिद्ध फ्रेंच परिवार में हुआ, बचपन में ही वह अपने पिता सेण्ट साइमन के ड्यूक से झगड़ बैठा, इससे उसे ५ लाख फ्रांक की आमदनी देने वाली जायदाद से हाथ धोना पड़ा।[3] किन्तु रस्सी जल जाने पर भी ऐंठन नहीं गई। कौण्ट न रहने पर भी उसके दिमाग पर यह भूत सवार था कि उसने संसार में बहुत

---

१. मेकेञ्जी—सोशलिज़म, पृ० २०

२. लेडलर—सोशल इक्नामिक मूवमैण्ट्स, पृ० ४९

३. लेडलर—सोशल इक्नामिक मूवमैण्ट्स, पृ० ५०

काम करने हैं। इसलिए उसने अपने नौकर को कह रखा था कि वह उसे सवेरे इन शब्दों के साथ उठाए—"कौण्ट महोदय, उठिए, आपको महान् कार्य करना है।' १९ वर्ष की आयु में उसने सं० रा० अमेरिका जाकर वहाँ की क्रान्ति के युद्ध में वीरतापूर्ण कार्य किए, २३ वर्ष की छोटी आयु में कर्नल की ऊँची पदवी प्राप्त की, स्वदेश लौटकर उसने फ्रांस की राज्यक्रान्ति में भाग लिया, कौण्ट की उपाधि को त्यागकर 'नागरिक' की उपाधि ग्रहण करने की घोषणा करते हुए बड़ी लोकप्रियता प्राप्त की। फिर भी, उसे कौण्ट होने के कारण ११ महीने कारावास में रहना पड़ा, यहाँ शार्लमेगन ने उसे स्वप्न में दर्शन देते हुए यह कहा कि "सृष्टि के आरम्भ से किसी कुल ने एकसाथ इतने महान् वीर पुरुष और महान् दार्शनिक नहीं उत्पन्न किए हैं। केवल मेरे कुल में ही ऐसा होना है। जिस प्रकार मैंने महान् योद्धा और राजनीतिज्ञ के रूप में कीर्ति प्राप्त की है, उसी प्रकार तुमने दार्शनिक के रूप में यश कमाना है।" अब साइमन ने अपने जीवन का लक्ष्य धन कमाना और दार्शनिक बनने के लिए बौद्धिक ज्ञान प्राप्त करना बनाया, वह इन दोनों में सफल हुआ। चर्च की जमीनों में सट्टा करके उसने अपने को इतना धनी बना लिया कि वह विद्वानों के सम्पर्क में आकर ज्ञान प्राप्त कर सके। उसने अपने घर को विद्वानों का केन्द्र बनाया और जीवन के सभी प्रकार के अनुभव प्राप्त करने के लिए धनियों का मनोविनोद करने वाले (entertainer) से लम्पट व्यक्ति (profligate) और भिखारी तक के सब पेशे किए और अपनी सारी सम्पत्ति इन सनकों में फूंक दी। ४३ वर्ष की आयु से उसने कलम चलानी शुरू की और अगले २२ वर्ष अपनी मृत्यु-पर्यन्त घोर आर्थिक कष्ट से पीड़ित होने पर भी उसने अपनी लेखनी को विश्राम नहीं दिया। उसके तीन प्रसिद्ध ग्रन्थ—औद्योगिक पद्धति (Industrial System), उद्योगविषयक प्रश्नोत्तरी (Catechism of Industry) तथा नवीन ईसाइयत (New Christianity) हैं।

उसने अपनी रचनाओं में उत्पादक उद्योग को तथा उसे उत्पन्न करने वाले वज्ञानिकों, व्यवसायियों और कलाकारों को बड़ा ऊँचा स्थान दिया; निठल्ले बैठने वाले, परोपजीवी तथा काम न करने वाले आलसी लोगों की बड़ी निन्दा की है। उसने अपनी एक कथा (Parable) में तीन प्रकार के वर्गों के विनाश से उत्पन्न होने वाले दुष्परिणामों का हिसाब लगाया है। पहले वर्ग में फ्रांस के तीन हजार वैज्ञानिक, कलाकार और उद्योग-धन्धे चलाने वाले व्यक्ति हैं, दूसरे वर्ग में राजा के सभी सम्बन्धी, शासन-कार्य चलाने वाले प्रधान अधिकारी, सेनापति और न्यायाधीश हैं तथा तीसरे वर्ग में फ्रांस के दस हजार निठल्ले बैठे रहने वाले धनी व्यक्ति हैं। उसका यह मत है कि पहले वर्ग के विनाश से फ्रांस का एक पीढ़ी तक संसार के सभ्य देशों में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं रहेगा, किन्तु दूसरे तथा तीसरे वर्ग के विनाश का राष्ट्र पर इसके अतिरिक्त कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा कि इतने अधिक फ्रेंच जनों के विध्वंस से लोगों को दुःख पहुँचे।[1] वह यह समझता था कि समाज का कल्याण विज्ञान की उन्नति से होगा। उसने एक विचित्र प्रकार की तीन सदनों वाली पार्लियामैण्ट का समर्थन किया,

१. डनिंग—ए हिस्टरी आफ पोलिटिकल थियोरीज फ्राम रूसो टू स्पेन्सर, पृ० ३५६

इसके पहले ग्राविष्कार सदन (House of Invention) के सदस्य इन्जीनियर, कवि, चित्रकार, मूर्तिकार, वस्तुकार और संगीतज्ञ होंगे, दूसरे परीक्षा सदन (House of Examination) के सदस्य भौतिकशास्त्रवेत्ता तथा गणितज्ञ होंगे तथा तीसरे शासन सदन (House of Execution) के सदस्य उद्योगपति होंगे। पहला सदन कानूनों को प्रस्तावित करेगा, दूसरा उनकी जाँच करेगा तथा तीसरा इनको कार्य रूप में परिणत करेगा। उसने अपनी 'नवीन ईसाइयत' नामक पुस्तक में इस बात पर बहुत बल दिया है कि नए धर्म का उद्देश्य समाज में बहुसंख्या रखने वाले निर्धनों की दशा का यथा-सम्भव शीघ्र ही सुधार करना है। उसने भावी समाज में पूर्ण समानता के तथा सबको समान अवसर देने के तत्व पर बहुत बल दिया है, वह सब प्रकार के विशेषाधिकारों को समाप्त करना चाहता है। उसकी दृष्टि में राज्य का सबसे बड़ा कर्त्तव्य जनता का कल्याण करना है। वह अन्य समाजवादियों की भाँति निजी सम्पत्ति के उन्मूलन पर बल नहीं देता है, किन्तु यह कहता है कि लोगों को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए कि वे अपनी सम्पत्ति का उपयोग सार्वजनिक हित की दृष्टि से करें।

सेण्ट साइमन के मूल सिद्धान्तों में समाजवाद के तत्व बहुत कम थे।[1] किन्तु उसकी मृत्यु के बाद उसके अनुयायियों ने एक संघ बनाकर उसके सिद्धान्तों का प्रचार इस रूप में किया कि वह एक प्रबल समाजवादी विचारक समझा जाने लगा। इस रूप में परवर्ती विचारकों पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा। मैक्सी ने लिखा है कि जर्मनी में उसने बिस्मार्क और कार्ल मार्क्स को प्रेरणा दी, फ्रांस में वह आगस्त कोम्त तथा सुप्रसिद्ध समाजवादी लुई ब्लांक का गुरु था, इंगलैण्ड में उसने जॉन स्टुअर्ट मिल पर, राबर्ट ओवन पर तथा ब्रिटिश समाजवादियों पर प्रभाव डाला। अतः १९वीं शताब्दी के राजनीतिक विचारकों में उसका एक विशिष्ट महत्व है। सेण्ट साइमन ने पहली बार विज्ञान का औद्योगिक उन्नति के साथ गहरा सम्बन्ध प्रदर्शित करते हुए ऐतिहासिक विकास की उस पद्धति पर प्रकाश डाला, जिसके आधार पर विभिन्न युगों में मनुष्य की प्रगति की व्याख्या की जा सकती थी। इस प्रकार इतिहास की आर्थिक व्याख्या में वह कार्ल मार्क्स और एंगल्ज़ का पूर्ववर्ती है।

चार्ल्स फूरियर[2] (१७७२-१८३७)—यह सेण्ट साइमन का समकालीन था। उसकी भाँति इसने समाजवाद की बड़ी विस्तृत और अजीबोगरीब योजना प्रस्तुत की। इससे अनेक व्यक्तियों को यह विश्वास हो गया कि उसका दिमाग सही नहीं है। वह निर्धन कुल में पैदा हुआ था, उसने अधिकांश जीवन एक दुकान पर क्लर्क के रूप में बिताया था। यहाँ दुकान के कार्य में होने वाले कटु अनुभवों का उसके विचारों पर गहरा प्रभाव पड़ा। पाँच वर्ष की आयु में एक ग्राहक को किसी वस्तु की सच्ची कीमत बतलाने पर उसे बड़ी झाड़ पड़ी थी। उन्नीस वर्ष की आयु में एक दुकान पर नौकरी करते हुए उसे अपने मालिक के आदेश से चावल की बोरियाँ पानी में इसलिए

---

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० ५४६-४७

२. इसके फ्रेंच नाम Francois Marie Charles Fourier का शुद्ध उच्चारण फ्रांस्वा मेरी शार्ल फूर्ये है। यहाँ इसके अंग्रेजी उच्चारण फूरियर का प्रयोग किया गया है।

फेंकनी पड़ीं कि चावल की कमी होने के कारण उसके दाम बढ़ जाएँ और उसके मालिक को अधिक लाभ हो। पूंजीवाद की दो बुराइयों—झूठ और बरबादी—ने उसे पूंजीवाद का विरोधी बना दिया।[1]

उसका यह विश्वास था कि उसने न्यूटन की भाँति सामाजिक सम्बन्धों को नियन्त्रित करने वाले 'पारस्परिक आकर्षण' (Mutual Attraction) के नियम का पता लगा लिया है। जिस प्रकार न्यूटन को सेव के पेड़ से धरती पर गिरने का दृश्य देखकर गुरुत्वाकर्षण का नियम सूझा था, इसी प्रकार फूरियर को भी यह नियम एक सेव से उस समय सूझा जबकि वह पेरिस के एक होटल में भोजन कर रहा था। वहाँ उसके एक साथी ने सेव माँगा और इसके लिए १४ पैसे (Sous) दिए, जबकि फूरियर की मातृभूमि वाले जिले में इसी दाम में ऐसे ही या इससे अच्छे सौ सेव मिलते थे। सेवों के मूल्य में इस अन्तर से उसे विश्वास हो गया कि वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था में कुछ दोष हैं; चार वर्ष के अनुसन्धान के बाद उसने इन दोषों को तथा सामाजिक सम्बन्धों के नियमों को ढूंढ़ लिया और आदर्श भावी समाज की योजना प्रस्तुत की।

इस योजना में फूरियर ने मानव-समाज का नवीन संगठन छोटे-छोटे समुदायों में विभक्त करके करना चाहा, इन समुदायों को उसने फेलंक्स (Phalanxe) का नाम दिया। प्रत्येक फेलंक्स में चार-चार व्यक्तियों वाले चार-पाँच सौ परिवार रहने चाहिएँ। एक फेलंक्स में रहने वाले १६०० से २००० व्यक्तियों के समुदाय के पास ५०० एकड़ भूमि होगी। यह आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी समाज होगा और फेलनस्टेरी (Phalanstery) अथवा प्रासाद नामक एक विशाल भवन में रहेगा। फूरियर ने इस भवन की बनावट का और इसके विभिन्न कमरों का विस्तार से वर्णन किया है। यहाँ सब व्यक्ति अपनी रुचि, प्रवृत्ति और शक्ति के अनुसार कार्य करेंगे। प्रत्येक व्यक्ति को अपने श्रम, पूंजी तथा ज्ञान के अनुसार वेतन और लाभ मिलेगा। इस समुदाय की आय का मुख्य साधन कृषि होगा, कुछ मिलें और कारखाने भी होंगे, प्रत्येक परिवार को निश्चित वेतन देने के बाद शेष धन के १२ हिस्से करके उसमें पाँच हिस्से मजदूरों को, चार हिस्से पूंजीपतियों को तथा तीन हिस्से कुशल (Skilled) कारीगरों को मिलेंगे। इस समुदाय में रहने वाले सभी व्यक्तियों का भोजन एक ही स्थान पर तैयार होगा। इसमें "तीस-चालीस प्रकार के विविध पदार्थ तथा बारह प्रकार की शराबें होंगी।" इस प्रकार विभिन्न फेलंक्सों को मिलाकर एक संघ बनाया जाएगा, इसकी राजधानी कुस्तुन्तुनिया में होगी। इन फेलंक्सों में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को भोजन, कपड़ा, निवास-स्थान और आमोद-प्रमोद के साधन मिलेंगे। इनमें पूंजी, श्रम और प्रतिभा या बुद्धि (Talent) रखने वाले व्यक्तियों का ऐसा सम्मिलन और संगठन होगा कि इनमें पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष की तथा वैर एवं वैमनस्य की भावना समाप्त हो जाएगी। इस योजना से समाज में सहयोग की भावना बढ़ेगी, व्यापारी वर्ग का अन्त हो जाएगा। यदि मानव-जाति ने यह योजना स्वीकार कर ली तो फूरियर का

---

१. लेडलर—सोशल इक्नामिक मूवमैण्ट्स, पृ० ५८

यह विश्वास था कि भूमण्डल पर सत्तर हजार वर्षों तक एक स्वर्ण युग स्थापित हो जाएगा। इसमें शेर आदमी के चाकर बनकर उसकी गाड़ी को खींचेंगे और किसी भी व्यक्ति को फ्रांस के एक कोने से दूसरे कोने तक एक ही दिन में ले जाया करेंगे, ह्वेल मछली जहाजों को खींचकर समुद्र के पार ले जाएगी, समुद्र का खारा जल सुस्वादु एवं पेय बन जाएगा।

इस स्वर्ण युग को लाने के लिए फेलंक्सों की स्थापना आवश्यक थी। फूरियर को यह विश्वास था कि यदि एक भी फेलंक्स स्थापित हो गया तो मानव-जाति बड़ी तेजी से अन्य फेलंक्स भी स्थापित करने लगेगी। पहले फेलंक्स की स्थापना में धन अपेक्षित था। फूरियर का यह विचार था कि उदार धनी उसे इस कार्य में अवश्य सहयोग देंगे। एक बार उसने यह घोषणा की कि मैं प्रतिदिन अमुक समय पर अपने घर पर उस उदारचेता धनी से मिलने के लिए तैयार रहूँगा जो मेरे सिद्धान्तों के अनुसार बसायी जाने वाली बस्ती के लिए दस लाख फ्रांक का दान करे। बारह वर्ष तक फूरियर अपने घर पर निश्चित समय पर किसी दानी धनी की प्रतीक्षा करता रहा, किन्तु उसकी प्रतीक्षा सफल नहीं हुई।[1] इसी आशा में उसकी मृत्यु हो गई।

फूरियर की मृत्यु के बाद, फ्रांस में उसके अनुयायियों ने उपर्युक्त आदर्श पर कुछ बस्तियाँ बसाने के निष्फल परीक्षण किए। १८४० के बाद उसके सिद्धान्तों का सं० रा० अमेरिका में बड़ा प्रभाव पड़ा, यहाँ ३४ स्थानों पर इस प्रकार की बस्तियाँ बसाने के परीक्षण किए गए, किन्तु एक भी सफल नहीं हुआ।[2] फिर भी उसके विचारों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। एंगल्ज़ ने लिखा है कि वह पहला व्यक्ति था जिसने यह घोषणा की कि किसी समाज की प्रगति इस मापदण्ड से नापी जानी चाहिए कि उसमें स्त्रियों को कितनी स्वतन्त्रता है। उसने तत्कालीन आर्थिक पद्धति की बुराइयों पर, मजदूरों के साथ होने वाले अत्याचारों पर तथा वर्तमान समाज को बदलने पर बहुत बल दिया था, 'कारखाना कानूनों' पर तथा सफाईविषयक सुधारों पर उसकी रचनाओं का बहुत प्रभाव पड़ा था।

लुई ब्लांक[3] (१८१३–८२)—समाजवादी विचारों को राज्य की सहायता से क्रियात्मक रूप देने वाला यह पहला व्यक्ति था। फूरियर अपनी समाजवादी योजना को सफल बनाने के लिए धनियों से सहायता लेने पर विश्वास रखता था, किन्तु ब्लांक ने अपनी समाजवादी योजना को क्रियात्मक रूप देने के लिए मजदूरों से अपील की। इस दृष्टि से वह पुराने स्वप्नलोकविहारी (Utopians) तथा मार्क्सवादी समाजवादियों के संगम-स्थल पर अवस्थित है। उसका जन्म यद्यपि उच्च कुल में हुआ था, फिर भी उसे पेरिस में अपनी पढ़ाई का व्यय नकलनवीसी और ट्यूशन से पूरा करना पड़ा। कई वर्ष तक समाचारपत्रों में काम करने के बाद उसने २६ वर्ष की आयु में प्रगतिशील लोकतन्त्रवादियों के Reuve du Progres नामक प्रमुख पत्र की स्थापना

---

१. ग्रे—दी सोशलिस्ट ट्रेडीशन, पृ० १९६

२. लेडलर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ६०

३. Louis Blanc का फ्रेंच उच्चारण ल्वी ब्लां है।

की। १८४० में इसीमें उसका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ Organisation du Travail धारावाही रूप में प्रकाशित हुआ। उसने फ्रेंच क्रान्ति का इतिहास लिखा। १८४८ की क्रान्ति के बाद बनी अस्थायी सरकार का वह एक प्रमुख सदस्य था, उसने इस समय 'श्रम और प्रगति का मन्त्रालय' बनवाकर अपने सिद्धान्तों को मूर्तरूप दिया, किन्तु शीघ्र ही एक विद्रोही आन्दोलन के साथ उसका सम्बन्ध होने के सन्देह के कारण उसे फ्रांस छोड़कर इंगलैण्ड में बसने के लिए विवश होना पड़ा। १८७० में नैपोलियन तृतीय का पतन होने पर वह अगले वर्ष स्वदेश लौटा, वामपक्षी दल की ओर से राष्ट्रीय असेम्बली का सदस्य चुना गया। किन्तु पेरिस के कम्यून के विद्रोह का विरोध करने से उसकी लोकप्रियता घट गई। १८८२ में उसकी मृत्यु पर फ्रांस की विधानसभा (Chamber of Deputies) ने उसके लिए राज्य की ओर से सम्मानपूर्ण अन्त्येष्टि की व्यवस्था की।

उसका **पहला** प्रमुख सिद्धान्त यह था कि हमारे सामाजिक प्रयत्नों का उद्देश्य मानव को सुखी बनाना तथा उसका विकास करना होना चाहिए। विकास का अभिप्राय यह था कि मनुष्य के पास अपनी उच्चतम मानसिक, नैतिक और शारीरिक प्रगति करने के लिए तथा उत्तम व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिए उपयुक्त साधन होने चाहिएँ। वर्तमान समाज में सब व्यक्ति एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध में लगे हुए हैं, इससे चारों ओर दरिद्रता और दुःख का साम्राज्य फैला हुआ है। सब मनुष्यों को एक-दूसरे का भाई और एक परिवार का सदस्य माना जाना चाहिए। शासन में सबकी सहमति होनी चाहिए।

दूसरा सिद्धान्त सामाजिक कर्मशालाओं (Social Workshops) या कारखानों का था। आदर्श समाज बनाने के लिए बेकारी दूर करना तथा सबको काम देना आवश्यक है। इस उद्देश्य से राज्य को सामाजिक कर्मशालाओं की स्थापना करनी चाहिए। ये शनैः-शनैः निजी व्यक्तियों द्वारा संचालित कारखानों का स्थान ग्रहण कर लेंगी। इस समय मजदूर पूँजीपतियों की सहायता के बिना उत्पादन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि उनके पास उत्पादन के साधन नहीं हैं। राज्य को इन कर्मशालाओं को स्थापित करके ये साधन प्रदान करने चाहिएँ। उन्हें इनको चलाने के लिए आवश्यक ऋण देना चाहिए, इनका संचालन और प्रबन्ध सार्वजनिक एवं सामान्य हित की दृष्टि से किया जाना चाहिए। आरम्भ में राज्य इन कर्मशालाओं के लिए योग्य प्रबन्धकों का चुनाव करे। इनके लिए आवश्यक धन राज्य को करों से, रेलों, खानों, बैंकों तथा बीमा कम्पनियों की आमदनी से प्राप्त करना चाहिए। ऐसी कर्मशालाओं का संघ बनाना चाहिए और पूँजीपतियों को इनमें पैसा लगाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। निजी कारखानों को इस संघ में सम्मिलित होने के लिए बाधित नहीं करना चाहिए; सरकारी कर्मशालाओं के साथ होड़ न कर सकने के कारण ये स्वयमेव शीघ्र ही इनके साथ मिलने को विवश होंगे। इस प्रकार निजी कारखानों की व्यवस्था समाप्त हो जाने पर, समाजवादी राज्य की स्थापना हो जाएगी, यह धनी एवं निर्धन दोनों के लिए लाभप्रद होगी क्योंकि वर्तमान व्यवस्था दोनों में से किसी को भी सुखी और सन्तुष्ट बनाने वाली नहीं है।

१८४८ में, फ्रांस में क्रान्ति होने पर लुई ब्लांक ने अस्थायी सरकार का महत्व-पूर्ण सदस्य बनने पर सरकार की ओर से कर्मशालाएँ या कारखाने स्थापित करने की अपनी इस योजना को क्रियान्वित करने का प्रस्ताव रखा, मन्त्रिमण्डल के अधिकांश सदस्यों ने इसका घोर विरोधी होते हुए भी जनता के आन्दोलन को शान्त करने की दृष्टि से इस प्रस्ताव को मान लिया। किन्तु इसे ऐसे ढंग से संचालित किया कि यह विफल हो जाए। उन्होंने इसका प्रबन्ध ब्लांक के कट्टर शत्रुओं के हाथ में सौंपा ताकि वे इसको निरर्थक सिद्ध करें और जनता को इस योजना के मूर्खतापूर्ण होने का विश्वास करा सकें। इन परिस्थितियों में इस योजना का विफल होना निश्चित था। इस प्रकार समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने का पहला प्रयास निष्फल हुआ। किन्तु ब्लांक के विचारों ने परवर्ती विचारकों पर बड़ा प्रभाव डाला, बेकारी की समस्या हल करने के लिए सरकार की ओर से गरीबों को काम देने की व्यवस्था सर्वमान्य बन गई।

ब्लांक का **तीसरा** सिद्धान्त यह था कि प्रत्येक को अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार समाज की सेवा करनी चाहिए तथा उसे अपनी आवश्यकताओं के अनुसार समाज से प्रतिफल या पारिश्रमिक मिलना चाहिए। शक्ति और ज्ञान का मानव-हित की दृष्टि से पूर्ण सदुपयोग किया जाना आवश्यक है। यदि आप अपने साथी से दुगुनी शक्ति रखते हैं तो आपको प्रकृति ने समाज-हित का दुगुना कार्य करने का कार्य सौंपा है, यदि आपकी बुद्धि अपने साथियों से उत्कृष्ट है तो आपके जीवन का लक्ष्य ज्ञान का अधिक मात्रा में प्रसार करना होना चाहिए। ब्लांक से पूर्ववर्ती विचारक **व्यक्ति से उसकी योग्यतानुसार काम लेने** में एकमत थे, किन्तु उसे इसका पुरस्कार या फल देने में विभिन्न मत रखते थे। सेण्ट साइमन के अनुयायी यह मानते थे कि व्यक्ति का वेतन काम के अनुसार होना चाहिए। फूरियर ने इसके १२ हिस्से करके उन्हें पूँजी-पति, मजदूर और कुशल श्रमिकों में विभिन्न अनुपात में बाँटा था। ब्लांक ने इन दोनों मतों को न मानते हुए इस मत को प्रतिपादित किया कि प्रत्येक व्यक्ति को वेतन उसकी आवश्यकताओं के अनुसार दिया जाना चाहिए ताकि वह अपनी शक्तियों और गुणों का पूरा विकास कर सके। ब्लांक ने ही समाजवाद के इस प्रसिद्ध सिद्धान्त को जन्म दिया था कि **प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यता के अनुसार काम लिया जाना चाहिए और उसे उसकी आवश्यकताओं के अनुसार वेतन दिया जाना चाहिए** (From each according to his ability, to each according to his needs)।

प्रूदों[1] (१८०६-१८६५)—इसने अब तक के सभी विचारकों की अपेक्षा अधिक उग्रता और प्रबलता के साथ निजी सम्पत्ति की व्यवस्था का खण्डन एवं विरोध किया। यह अत्यन्त निर्धन परिवार में पैदा हुआ था। उसने गौयें चराकर, होटलों में चाकरी करके पैसा कमाते हुए शिक्षा प्राप्त की। वह पढ़ने में होशियार था, किन्तु घर में खाने के लिए पैसे न थे। उसके बारे में यह प्रसिद्ध है कि वह स्कूल से तो इनामों के भार से लदा हुआ आता था, किन्तु घर में उसे भोजन नहीं मिलता था।[2] १९ वर्ष

---

१. इसका पूरा नाम Pierre Joseph Proudhon पियेर जोजफ प्रूदों है।

२. लेडलर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ६५

की आयु में गरीबी के कारण उसे कालेज की पढ़ाई छोड़कर प्रेस में काम करने को विवश होना पड़ा। किन्तु यहाँ उसने प्रेस में छपने वाली पुस्तकों का गम्भीर अध्ययन जारी रखा। अन्त में उसे अपनी मातृभूमि बेसांशो की एक शिक्षा संस्था से ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में होनहार विद्वानों को दी जाने वाली १५०० फ्रांक की पेन्शन मिलने लगी। अब उसने आर्थिक चिन्ता से मुक्त होकर अपना जीवन अध्ययन और लेखन में लगाया।

१८४० में उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **'सम्पत्ति क्या है'** (Quest-ce que la Propriete) प्रकाशित की, इसमें निजी सम्पत्ति की व्यवस्था का उग्रतम खण्डन है। छः वर्ष बाद उसने निर्धनता के प्रश्न की विवेचना करने वाला एक ग्रन्थ 'दरिद्रता का दर्शन' (Philosophie de la Misere) प्रकाशित किया, इसमें समाजवादी और साम्यवादी सिद्धान्तों की कड़ी आलोचना की। कार्ल मार्क्स ने इसका उत्तर 'दर्शन की दरिद्रता' नामक पुस्तक लिखकर दिया। उसने १८४८ की फ्रांस की राज्यक्रान्ति में अराजकतावादी होने के कारण यह कहकर कोई भाग नहीं लिया कि सभी सरकारें खराब होती हैं, अतः उसे इस बात में कोई दिलचस्पी नहीं है कि कौनसी सरकार सफल होती है। इस क्रान्ति के बाद वह विधाननिर्मात्री परिषद् का सदस्य बना और उसने यह प्रस्ताव पेश किया कि किस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को राज्य उत्पादन के साधन एकत्र करने के लिए ऋण दे। इसके पक्ष में दो तथा विरोध में ६९१ मत आए। इस कार्य के लिए उसने एक प्राइवेट बैंक खोलना चाहा, इसमें पचास लाख फ्रांक की पूंजी आवश्यक थी, किन्तु १७ हजार ही एकत्र हो सके तथा यह योजना विफल हो गई। इसके बाद सेन्सर का कानून तोड़ने के लिए उसे तीन वर्ष की सजा हुई। जेल से छूटने के बाद उसने चर्च पर प्रबल आक्षेप किए, इस कारण उसे पुनः कारावास का दण्ड मिला। इससे बचने के लिए वह बेल्जियम भाग गया, कुछ समय बाद अपनी मृत्यु से पाँच वर्ष पूर्व १८६० में वह स्वदेश लौट आया। उसका सारा जीवन कठोर तपस्या और आत्म-बलिदान की कथा है। उसने अपने मन्तव्यों और विश्वासों को बड़ी उग्रता, सच्चाई और ईमानदारी के साथ रखा।

प्रूदों का **पहला** और सबसे बड़ा सिद्धान्त निजी सम्पत्ति (Private Property) का विरोध है। उसके आदर्श समाज में सम्पत्ति की कोई व्यवस्था नहीं थी। वह सम्पत्ति को चोरी समझता था। उसका यह कहना था कि श्रम ही सम्पत्ति को पैदा करने का प्रधान साधन है, यदि श्रम न किया जाए तो भूमि और पूंजी से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती है। मनुष्य जब स्वयं कोई श्रम किए बिना अपनी भूमि या पूंजी पर दूसरे व्यक्तियों का श्रम लगाकर इसका लगान, मुनाफा या सूद प्राप्त करता है तो यह चोरी होती है, क्योंकि इस पर श्रम करने वाले मजदूरों का अधिकार होना चाहिए। निजी सम्पत्ति की व्यवस्था के लिए दिए जाने वाले सभी तर्कों का उसने खण्डन किया। इस विषय में **पहला तर्क** यह है कि बिना स्वामी की भूमि या पूंजी पर जो पहले अधिकार कर ले, वह उसी की हो जाती है। इसे पहले कब्जा करने का सिद्धान्त (Occupation Theory) कहते हैं। यदि इसका सूक्ष्म विश्लेषण किया जाए तो यह ज्ञात होगा कि यह जन्म पर आधारित है, आपका जन्म पहले हुआ, आप किसी

स्थान पर औरों से पहले पहुँच गए, अतः आपने किसी भूमि पर अपना अधिकार कर लिया। इस सिद्धान्त के अनुसार पीछे आने वालों या जन्म ग्रहण करने वालों का कोई अधिकार नहीं है। यह बात समानता के सिद्धान्त के प्रतिकूल होने के कारण सर्वथा अमान्य है। इसमें यह बात मान ली गई है कि किसी समय पर सब लोगों का समान अधिकार था, क्योंकि यदि पहले सम्पत्ति पर किसी व्यक्ति विशेष का स्वत्व नहीं था तो हमें इस पर समाज का सामान्य स्वामित्व मानना पड़ेगा। यह कल्पना करना मूर्खतापूर्ण है कि समाज ने इस पर अपना स्वामित्व छोड़ दिया होगा। यदि समाज ने इस अधिकार को नहीं छोड़ा है तो समाज की इस सांझी सम्पत्ति पर अपना अधिकार स्थापित करने वाला व्यक्ति चोर है, वह अनुचित रूप से इसे हथियाये हुए है। सम्पत्ति को न्यायोचित सिद्ध करने का आधार **श्रम का सिद्धान्त** (Labour Theory) है। यदि सम्पत्ति श्रम से उत्पन्न होती है तो मेरी सम्पत्ति वही हो सकती है जो मैंने अपने श्रम से उत्पन्न की है। भूमि को जमींदार ने उत्पन्न नहीं किया है, अतः वह उसकी सम्पत्ति नहीं हो सकती। भूमि पर मेरा अधिकार तभी तक होना चाहिए जब तक मैं उसे जोतने-बोने का श्रम करता हूँ। जमींदार दूसरे के श्रम का लाभ उठाता है, अतः जमीन उसकी नहीं हो सकती है, वह दूसरे व्यक्ति के श्रम का अपहरण करने वाला चोर है। प्रूदों ने एक अन्य उदाहरण से भी पूँजीपतियों को चोर सिद्ध किया है। वस्तु का मूल्य उस पर लगने वाले श्रम और समय से निश्चित होता है। यदि व्यापारी या मिल-मालिक अपने माल का मूल्य दस प्रतिशत बढ़ा देते हैं तो उनका इस प्रकार अधिक दाम वसूल करना चोरी है, क्योंकि इस अतिरिक्त दाम के लिए कोई अतिरिक्त श्रम या समय नहीं लगाया गया है।

दूसरा सिद्धान्त अराजकतावाद या आदर्श समाज में किसी प्रकार के शासन या सरकार का न होना है, क्योंकि अराजकता में ही मनुष्य का पूर्ण विकास सम्भव है। शासन में एक मनुष्य दूसरे मनुष्यों का नियन्त्रण करके उनके स्वतन्त्र विकास में बाधा डालता है, अतः यह घोर उत्पीड़न और अत्याचार है। **तीसरा** सिद्धान्त साम्यवाद का विरोध था। इसमें उत्पादन के साधन राज्य के हाथ में केन्द्रित हो जाने से उसके द्वारा गरीबों और निर्बल व्यक्तियों के शोषण की सम्भावना बढ़ जाती है। अतः वह चाहता था कि सब व्यक्तियों के उत्पादन के साधन और उपकरण अपने-अपने हों, ताकि उनका केन्द्रीकरण न हो सके। **चौथा** सिद्धान्त समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृभाव की भावना का प्रचण्ड समर्थन था; उसका आदर्श समाज इन्हीं पर आधारित था। वह समाज में पूर्ण मानवता स्थापित करना चाहता था। प्रूदों के सिद्धान्तों का सबसे बड़ा दोष उनका अभावात्मक, अक्रियात्मक, अव्यावहारिक तथा परस्पर विरोधी होना है। एक ओर वह अराजकता को और दूसरी ओर पूर्ण समानता को आदर्श मानता है, किन्तु यदि समाज में कोई नियन्त्रण करने वाली शक्ति नहीं होगी तो इसमें देर तक समानता का बना रहना सम्भव नहीं है।

ब्रिटेन के स्वप्नलोकविहारी (Utopian) **समाजवादी विचारक**—समाजवादी विचारों के प्रादुर्भाव और विकास में फ्रांस के समान ब्रिटेन का भी महत्वपूर्ण स्थान है। औद्योगिक क्रान्ति सर्वप्रथम इसी द्वीपसमूह में आरम्भ हुई थी, अतः यहाँ समाजवादी

विचारों का प्रादुर्भाव सर्वथा स्वाभाविक था। यहाँ के समाजवादी विचारकों की दो प्रधान शाखाएँ थीं। एक शाखा गाडविन के अराजकतावादी विचारों की थी तथा दूसरी शाखा रिकार्डो के इस सिद्धान्त पर आधारित थी कि किसी वस्तु के मूल्य का निर्धारण उस पर लगे श्रम के आधार पर किया जाता है। इंगलिश विचारधारा ने फ्रेंच समाजवादियों को प्रभावित किया, साम्यवाद के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स और एंगल्ज़ ने काफी समय तक ग्रेट ब्रिटेन में काम किया था। मार्क्स अपने विचारों के लिए रिकार्डो जैसे ब्रिटिश अर्थशास्त्रियों का ऋणी है। ब्रिटेन का सबसे बड़ा समाजवादी विचारक राबर्ट ओवन था। यहाँ उससे पूर्ववर्ती कुछ महत्वपूर्ण विचारकों का परिचय दिया जाएगा।

विलियम गाडविन (१७५६-१८३६)—यह ब्रिटेन में अराजकतावाद का प्रबल समर्थक और वैयक्तिक सम्पत्ति का उग्र विरोध करने वाला पहला महत्वपूर्ण विचारक था। फ्रेंच क्रान्ति के समय १७९३ में इसकी प्रसिद्धतम कृति 'राजनीतिक न्याय के विषय में अन्वेषण' (Enquiry concerning Political Justice) ने इसे कीर्ति के चरम शिखर पर पहुँचा दिया। इसके विचार इतने क्रान्तिकारी थे कि तत्कालीन प्रधानमन्त्री पिट को इसे जब्त करने के लिए कहा गया, किन्तु उसका कहना था कि ३ गिनी का भारी मूल्य रखने वाली पुस्तक को खरीदकर बहुत ही कम व्यक्ति पढ़ेंगे। फिर भी इस पुस्तक का गहरा असर हुआ। गाडविन कई रूपों में चिरस्मरणीय व्यक्ति है : इंगलैण्ड में वह अराजकतावादी विचारों का जन्मदाता है, स्त्रियों के अधिकारों का सर्वप्रथम प्रबलतम समर्थन करने वाली महिला मेरी वालस्टोन क्राफ्ट का पिता है, सुप्रसिद्ध कवि शैले (Shelley) का श्वसुर है, माल्थस के विचारों का प्रेरक है।

उसका **पहला** मौलिक सिद्धान्त यह है कि शासन अथवा राज्य एक बुराई है और उसका उन्मूलन होना चाहिए। इसकी पुष्टि वह निम्नलिखित युक्ति परम्परा के आधार पर करता है। उसके मतानुसार मनुष्य के मन में कोई सहज या नैसर्गिक (Inate) धारणाएँ अथवा विचार नहीं हैं। वह केवल इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले अनुभवों (Sensations) को ग्रहण करता है और उसमें तर्क (Reason) करने की शक्ति है, इससे वह अपने अनुभवों को विचारों में बदल लेता है। किसी वस्तु का नैतिक या अनैतिक होना हमारे विचार पर निर्भर है। विचार परिस्थितियों पर निर्भर हैं। अच्छी परिस्थितियों में उत्तम तथा बुरी परिस्थितियों में बुरे विचार होंगे। यदि सामाजिक संस्थाएँ और परिस्थितियाँ न्याय पर आधारित हों तो मनुष्य के विचार अच्छे होंगे, बुराई लुप्त हो जाएगी, मनुष्य उन्नत होने लगेगा। किन्तु सरकार शक्ति और हिंसा से उत्पन्न होती है, वह अन्याय पर आधारित संस्थाओं का पोषण करके बुराई का पोषण करती है, यह समाज में विषमताओं को स्थायी बनाती है, अतः सरकार बुरी चीज है, सामाजिक कल्याण की दृष्टि से इसका अन्त किया जाना चाहिए।

गाडविन का **दूसरा** सिद्धान्त निजी सम्पत्ति के उन्मूलन पर बल देना है। इसके विध्वंस की पुष्टि में वह यह तर्क देता है कि यह प्रथा समाज में विषमता की जननी है। विषमता धनियों में अहंकार और दुराचार (Depravity) को तथा निर्धनों में दासता की स्थिति एवं अनैतिकता की भावना को उत्पन्न करती है। इस कारण गरीबों

पर घोर अन्याय होता है। इसका प्रतिकार करने के लिए निजी सम्पत्ति की व्यवस्था को समाप्त कर देना चाहिए।

तीसरा सिद्धान्त समाज में वस्तुओं का सबकी आवश्यकतानुसार वितरण करना था। किसी व्यक्ति के पास अतिरिक्त या फालतू चीज नहीं रहनी चाहिए और उसे अपनी आवश्यकता से अधिक वेतन नहीं दिया जाना चाहिए। यदि एक व्यक्ति के पास दस रोटियाँ हैं, उसके साथी के पास एक भी नहीं है तो न्याय की यह माँग है कि अधिक रोटी रखने वाले को अपने साथी की क्षुधा शान्त करने के लिए उसे आवश्यक भोजन देना चाहिए। उसने बाद में लुई ब्लांक द्वारा प्रतिपादित किए जाने वाले इस सिद्धान्त की नींव रखी कि **प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार दिया जाना चाहिए** (To each according to his needs)। **चौथा** सिद्धान्त नई सामाजिक व्यवस्था को लाने में शक्ति के स्थान पर बुद्धि के साधन पर बल देना था। फ्रेंच राज्यक्रान्ति ने यह स्पष्ट कर दिया था कि हिंसा से मानव-समाज को नहीं बदला जा सकता, गाडविन का विचार था कि मनुष्य बुद्धिमान् प्राणी है, यदि उसे समाज में वर्तमान अन्यायपूर्ण व्यवस्था का ज्ञान हो जाए तो वह इसे बदलने के लिए तैयार हो जाएगा। गाडविन के विचारों ने उस समय के तरुण ब्रिटिश कवियों – वर्ड्सवर्थ कोलरिज, सदे और शैले पर अच्छा प्रभाव डाला। शैले (१७९२–१८२२) की जनता को सम्बोधित की गई एक समाजवादी कविता का उदाहरण निम्नलिखित है—

> तुम जिस अनाज को बोते हो, उसकी फसल दूसरा व्यक्ति लेता है।
> तुम जिस सम्पत्ति को उपजाते हो, उसका स्वामी दूसरा व्यक्ति बनता है।
> तुम जिन पोशाकों को सीते हो, उन्हें दूसरा व्यक्ति पहनता है।
> तुम जिन हथियारों को बनाते हो, उन्हें दूसरा व्यक्ति चलाता है।

चार्ल्स हाल— १९वीं शताब्दी का आरम्भ होने तक औद्योगिक क्रान्ति के दुष्परिणाम विचारशील व्यक्तियों को भलीभाँति स्पष्ट होने लगे थे। १८०५ में एक ब्रिटिश डाक्टर चार्ल्स हाल ने अपनी कृति 'सभ्यता के प्रभाव' (Effects of Civilisation) में इन्हें विस्तृत रूप में प्रतिपादित किया था। वह वर्ग-संघर्ष का, मुनाफा पद्धति (Profit System) के दोषों और अन्यायों का तथा श्रमिकों के उग्र असन्तोष का विवेचन करने वाला पहला ब्रिटिश लेखक है। उसने समाज के धनी-निर्धन के वर्गों में बँट जाने की उग्र आलोचना करते हुए दरिद्र लोगों की दयनीय दशा का हृदय-द्रावक चित्रण किया है। "धनी और निर्धन लोगों की स्थिति बीजगणित के धन एवं ऋण की भांति एक-दूसरे की विरोधी तथा नाशक है।" जनता के ८० प्रतिशत लोगों के पास राष्ट्र की सम्पत्ति का कुल १२½ प्रतिशत ही है, जबकि शेष २० प्रतिशत धनी ८७½ प्रतिशत सम्पत्ति का उपभोग कर रहे हैं। दूसरे शब्दों में मजदूर छः दिन तो पूँजीपति के लिए मेहनत करता है और एक दिन अपना तथा अपने बीबी-बच्चों का पेट भरने के लिए काम करता है। यह अवस्था एक लैटिन पद्य में वर्णित इस दशा से मिलती है—"शहद की मक्खियो, तुम अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए शहद बनाती हो; बैलो, तुम अपने लिए नहीं, किन्तु दूसरों के लिए धरती को उपजाऊ बनाते हो।"

हाल का यह मत था कि पूंजीपति अपने स्वार्थ सिद्ध करने के लिए ही लड़ाइयाँ करवाते हैं। वर्तमान शोचनीय विषमता को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि बड़ी जमींदारियों को खत्म कर दिया जाए, भूमि राष्ट्र की सम्पत्ति मानी जाए, इसे खेती करने के लिए छोटे-छोटे किसानों में बाँट दिया जाए। हाल की पुस्तक में हमें आधुनिक समाजवादियों के अनेक विचारों का दर्शन होता है।

रिकार्डो—यद्यपि यह सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री पूँजीवाद का प्रबल पोषक था, तथापि इसके दो सिद्धान्तों ने समाजवाद के विकास पर गहरा प्रभाव डाला : पहला सिद्धान्त मूल्यविषयक है। इसका यह मत था कि एक वस्तु का विनिमय मूल्य (Exchange Value) उस पर लगाए गए श्रम पर निर्भर है, किसी वस्तु को उत्पन्न करने में जितना श्रम लगता है, उसी से उसका मूल्य निश्चित होता है। मार्क्स ने इस सिद्धान्त को बड़ी सफलता के साथ पूँजीवादियों के विरुद्ध प्रयुक्त किया। रिकार्डो का दूसरा सिद्धान्त मजदूरी (Theory of Wages) का था। इसके अनुसार मजदूरी मजदूर द्वारा पैदा की हुई वस्तु से निश्चित नहीं होती है, अपितु उस मात्रा से निश्चित होती है जो मजदूर को अपने खाने पर, कपड़े पर, जीवन के लिए उपयोगी वस्तुओं पर तथा अपने वंश को बनाए रखने के लिए आवश्यक वस्तुओं पर खर्च करनी पड़ती है। पूँजीपति मजदूर को मजदूरी देते हुए इन सब बातों पर ध्यान रखता है।

थामस हाजस्किन—१८२५ में इसने रिकार्डो के मत की आलोचना करते हुए अपनी एक रचना Labour defended against the Claims of Capital में यह युक्ति दी कि यदि रिकार्डो के सिद्धान्त के अनुसार वस्तु का मूल्य श्रम से निश्चित होता है तो यह पूर्ण रूप से मजदूर को ही मिलना चाहिए। इस समय इसमें जो हिस्सा जमींदार और पूँजीपति ले रहे हैं, वह मजदूर के हिस्से को बलपूर्वक छीनना और हड़पना ही है। इसी समय राबर्ट ओवन ने अपने उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन आरम्भ किया जिन्हें बाद में समाजवाद का नाम दिया गया। समाजवादी (Socialist) शब्द का इंगलिश भाषा में पहली बार प्रयोग १८२७ में ओवन के अनुयायियों के लिए किया गया।[1] अतः अब ओवन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन होगा।

राबर्ट ओवन (१७७१–१८५८)—ब्रिटिश समाजवाद का पिता कहलाने वाला यह उद्योगपति अन्य सभी स्वप्नलोकविहारी (Utopian) समाजवादियों के समान सनकी होने पर भी एक बात में उनसे भिन्न था; सेण्ट साइमन, फूरियर आदि विचारक सांसारिक दृष्टि से असफल, व्यावहारिक बुद्धि से शून्य और केवल कल्पना-जगत् में विचरण करने वाले प्राणी थे। किन्तु ओवन एक सफल उद्योगपति था, उसने पहले खूब धन कमाया, बाद में उसे अपने सपनों को साकार बनाने में लगा दिया। १७७१ में वेल्स में एक निर्धन परिवार में जन्म लेने के बाद उसने अपनी असाधारण योग्यता से विलक्षण उन्नति की। पढ़ने की बहुत इच्छा होने पर भी उसे किसी विद्यालय में शिक्षा पाने का अवसर नहीं मिला। १० वर्ष की आयु में वह स्टैम्फोर्ड में एक बजाज की दुकान पर नौकर हो गया, यहाँ उसके स्वामी के पास पुस्तकों का अच्छा संग्रह था।

---

१. बर्ट्रेण्ड रसेल—हिस्टरी आफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० ८०६

ओवन ने अपने अवकाश के समय में इनका स्वाध्याय करके अपनी योग्यता बढ़ाई। इसके बाद वह मैन्चेस्टर चला गया, यहाँ कई पदों पर कार्य करते हुए १९ वर्ष की आयु में वह ५०० मजदूरों को काम पर लगाने वाली एक बड़ी सूती मिल का व्यवस्थापक बना, उसकी कार्य-कुशलता से इस मिल का कपड़ा बाजार की सामान्य दर से ५०% ऊँचा बिकने लगा, सूती उद्योग में उसकी ख्याति चारों ओर फैलने लगी। इतनी छोटी आयु में अपनी योग्यता और व्यावसायिक ज्ञान के आधार पर इतने ऊँचे पद पर पहुँचने वाला वह पहला व्यक्ति था। मिल-मालिकों ने शीघ्र ही उसको इस मिल में अपना साझीदार बना लिया। किन्तु कुछ समय बाद वह इस मिल में अपने काम से त्यागपत्र देकर एक दूसरी बड़ी मिल में चला गया। १७९४ में उसने अपनी एक मिल खोली। इस मिल के कार्य से स्काटलैण्ड में यात्रा करते हुए उसकी भेंट अपनी भावी पत्नी कुमारी डेल से हुई, उसने उसे न्यू लेनार्क (New Lanark) में अपने पिता की सूती मिल में आने का निमन्त्रण दिया। १७९९ में ओवन ने तथा उसके साथी हिस्सेदारों ने यह मिल खरीद ली।

न्यू लेनार्क का परीक्षण—इस समय निर्धनता से सम्पन्नता के पथ पर आगे बढ़ते हुए ओवन का मन अनेक सामाजिक समस्याओं पर गम्भीर विचार करने में लगा हुआ था। उसे यह विश्वास हो गया था कि मनुष्य की उन्नति परिस्थितियों पर निर्भर है, हम उसकी सामाजिक दशा को तथा वातावरण को जितना अच्छा बनाएँगे मनुष्य उतना ही उन्नत बनता चला जाएगा। न्यू लेनार्क (New Lanark) में ओवन को अपने विचारों को क्रियात्मक रूप देने का स्वर्ण अवसर मिला। ओवन ने जब इस मिल को खरीदा था तो अन्य औद्योगिक बस्तियों की अपेक्षा यह बड़ा गन्दा, भद्दा और अत्यन्त अस्वास्थ्यजनक परिस्थितियों वाला अत्यन्त गरीब गाँव था, इसके अधिकांश बालक मजदूर सवेरे छः बजे से शाम के सात बजे तक कारखाने में काम करते थे। उन्हें मजदूरी बहुत ही कम मिलती थी, इससे उनका पेट भी नहीं भरता था, गाँव के दुकानदार हर चीज अधिक-से-अधिक भाव पर देकर उन्हें लूटने का प्रयत्न करते थे। यहाँ शराब, जुए और भ्रष्टाचार का साम्राज्य था।

ऐसी विषम स्थिति में ओवन ने बड़े धैर्य, साहस और दृढ़ता के साथ अपना कार्य आरम्भ किया। पहले एक छोर से दूसरे छोर तक गाँव की सफाई कराई गई, नई नालियों को खुदवाया गया, मजदूरों के लिए आरामदेह मकानों का तथा बच्चों के लिए आदर्श विद्यालय का निर्माण किया गया। शराब की बिक्री बन्द कर दी गई, निजी दुकानों के स्थान पर मिल की ओर से लागत मूल्य पर तथा पहले की अपेक्षा २५% कम दाम पर सामान देने वाली दुकानें खोली गईं, काम के घण्टे कम किए गए, मजदूरी की दरें बढ़ाई गईं। १८०६ में सं० रा० अमेरिका द्वारा इंगलैण्ड भेजी जाने पर रुई पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाने से लेनार्क की मिल अन्य सूती मिलों की भाँति कुछ समय के लिए बन्द हो गई। किन्तु ओवन ने मजदूरों को इस समय भी वेतन देना जारी रखा। इन सब सुधारों से इस मिल का तथा लेनार्क की बस्ती का कायाकल्प हो गया। यह साफ-सुथरी आदर्श बस्ती और कारखाना समाजशास्त्र की समस्याओं में अभिरुचि रखने वाले विद्वानों और राजनीतिज्ञों के लिए तीर्थ बन गया,

बाद में रूस की राजगद्दी पर बैठने वाला ज़ार निकोलस भी इसे देखने आया था। इन परिवर्तनों से मिल के उत्पादन और बिक्री पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ा। १८२८ में धार्मिक मतभेदों के कारण ओवन को इस मिल से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न करना पड़ा। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि न्यू लेनार्क में ओवन का परीक्षण चमत्कारपूर्ण रीति से सफल हुआ। ओवन को विश्वव्यापी ख्याति मिली, सब देशों के राजनीतिज्ञ और उद्योगपति उससे परामर्श माँगने लगे। उसने १८१३ में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **'समाजविषयक नवीन दृष्टिकोण'** (A New View of Society) में न्यू लेनार्क के विकास की कहानी का विस्तृत वर्णन करते हुए औद्योगिक समाज के पुनः-निर्माण के सम्बन्ध में अपने विचारों का प्रतिपादन किया; मजदूरों को बुढ़ापे में पेन्शन देने, उनके मनोरंजन के लिए कार्यक्रम बनाने, छोटे बच्चों की शिक्षा के लिए विद्यालय खोलने, मजदूरों के लिए बगीचों वाले सुन्दर एवं सुविधाजनक मकान बनाने के प्रस्ताव रखे।

ओवन की साम्यवादी योजना—१८१५ में नैपोलियन के साथ ब्रिटेन का युद्ध समाप्त हो जाने पर लड़ाई के लिए आवश्यक माँग में कमी आने से इंगलैण्ड में भीषण मन्दी आई, कारखाने बन्द होने लगे, मजदूरों में असन्तोष बढ़ा। इस जटिल समस्या पर विचार करने के लिए पार्लियामैण्ट द्वारा नियुक्त की गई कमेटी की रिपोर्ट में १८१७ में ओवन ने तत्कालीन स्थिति का पूर्ण विश्लेषण करते हुए अपनी आदर्श स्वप्नलोकीय (Utopian) योजनाएँ प्रस्तुत की हैं। इसमें उसने यह कहा कि वर्तमान विषम परिस्थिति का एक मात्र उपाय शनैः-शनैः साम्यवाद की स्थापना करना है। इसका श्रीगणेश बेकार व्यक्तियों के लिए बसाए जाने वाले गाँवों से होना चाहिए। इसके साथ १००० से १५०० एकड़ तक की जमीन हो, पाँच सौ से दो हजार तक व्यक्ति यहाँ रहते हुए खेतीबाड़ी तथा उद्योग-धन्धों का काम करें। इनके निवास के लिए प्रत्येक गाँव के मध्य में वर्गाकार या **समानान्तर चतुर्भुज** (Parallelogram) के आकार के बड़े मकान बने होने चाहिएँ, इनमें सब लोगों के हित के लिए सामान्य कमरे, भोजनशालाएँ, पुस्तकालय, वाचनालय तथा विद्यालय होने चाहिएँ; इनमें सुन्दर उद्यान तथा खेल के मैदान होने चाहिएँ। पहले तीन वर्ष तक बच्चे माँ-बाप के पास रहने के बाद यहाँ के विद्यालय में पढ़ने के लिए भेज दिए जाएँगे और इसके बाद माँ-बाप उन्हें खाने के समय ही मिल सकेंगे। इस बस्ती की भूमि पर, मिलों पर तथा उत्पादन के अन्य साधनों पर सबका समान अधिकार होगा। यहाँ सबका भोजन एक ही चूल्हे पर बनेगा, सब एकसाथ मिलकर खाना खाएँगे। यहाँ कृषि और उद्योगों से होने वाली आय का सब संयुक्त रूप से उपभोग करेंगे, कोई बेकार या भूखा नहीं रहेगा।[1] फ़ूरियर ने सम्भवतः इसी के आधार पर कुछ वर्ष बाद अपने फेलंक्स (Phalanxes) की योजना बनाई थी।

किन्तु ओवन की इस योजना को न तो पार्लियामैण्ट ने स्वीकार किया और न ही मजदूरों ने पसन्द किया। लन्दन के श्रमिकों ने १८१७ में दो सार्वजनिक सभाओं

१. लेडलर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ९३

में इस योजना का घोर विरोध किया, क्योंकि इसमें व्यक्ति के स्वतन्त्र रूप से कार्य करने पर कई प्रतिबन्ध लगाए गए थे। इस समय ग्रोवन ने धर्म को भी सामाजिक प्रगति के मार्ग में बाधा बताया, इससे धार्मिक व्यक्ति भी ग्रोवन की योजना का विरोध करने लगे। ग्रब यद्यपि ग्रोवन के प्रभाव ग्रौर कीर्ति में कमी ग्राने लगी, किन्तु समाजवादी योजनाग्रों के बनाने तथा क्रियान्वित करने में उसका उत्साह मन्द नहीं हुग्रा। उसने १८१९ में **'मजदूरों के सम्मुख भाषण'** (Address to the Workmen) में इस बात पर बल दिया कि मजदूर शासक वर्ग के प्रति हिंसा ग्रौर घृणा की भावनाग्रों का परित्याग करें, ग्रमीर ग्रौर गरीब के समान हित हैं, उन्हें मिलकर परस्पर सहयोग करते हुए बुद्धिपूर्वक सामाजिक कल्याण के कार्य करने चाहिएँ। १८२१ में उसने ग्रपनी नई पुस्तक **सामाजिक पद्धति** (Social System) लिखी। इसमें उसने पूर्ण साम्यवादी स्थिति स्वीकार करते हुए निजी सम्पति का कड़ा विरोध किया, समाज में शान्ति ग्रौर सुख बनाए रखने के लिए वितरण में समानता लाने पर बल दिया। उसने विभिन्न व्यक्तियों में सम्पत्ति के विषमतापूर्ण बँटवारे को वैसा ही निरर्थक ग्रौर हानिप्रद समझा जैसा हवा या प्रकाश को ग्रसमान हिस्सों में बांटना है।

नूतन सामंजस्य की बस्ती—इंगलैण्ड में ग्रपने नवीन सिद्धान्तों के समर्थक न मिलने से तथा पार्लियामैण्ट द्वारा 'कारखाना कानूनों' में बहुत कम सुधार करने से उसे बड़ी निराशा हुई। ग्रब उसने सं० रा० ग्रमेरिका के तरुण राष्ट्र की ग्रोर बड़ी ग्राशा-भरी दृष्टि से देखा, उसे विश्वास था कि पुरानी रूढ़ियों एवं परम्पराग्रों से मुक्त होने के कारण इस देश में उसे बड़ी सफलता मिल सकती है। यहाँ नई ग्रादर्श बस्ती बसाने के लिए उसने इंडियाना के नवीन राज्य में तीस हजार एकड़ का एक भूखंड डेढ़ लाख डालर के दाम से खरीदा ग्रौर यहाँ साम्यवादी सिद्धान्तों के ग्राधार पर **नूतन सामंजस्य** (New Harmony) नामक बस्ती बसाने का निश्चय किया। ग्रोवन जब इस बस्ती की स्थापना करने के लिए ग्रमेरिका गया तो उसे ग्रनेक नगरों में भाषण देने के लिए निमन्त्रित किया गया, वाशिंगटन में उसके स्वागत समारोह में राष्ट्रपति, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश, सीनेट तथा प्रतिनिधिसभा के सदस्य सम्मिलित हुए। उसकी नवीन बस्ती में बसने वाले १०० व्यक्तियों को हजारों ग्रावेदन-पत्र देने वालों में से शिक्षा एवं योग्यता के ग्राधार पर बड़ी सावधानी से छाँटा गया। उन्हें ग्रत्यन्त योग्य विद्वानों के निरीक्षण में रखा गया। यही ग्रोवन की बड़ी भूल थी। इससे इस बस्ती में काम करने वालों की ग्रपेक्षा परस्पर झगड़ने वाले विद्वानों की संख्या बढ़ गई। ग्रोवन जब तक इस बस्ती में रहा, तब तक इसका काम ठीक चलता रहा, किन्तु उसके इंगलैण्ड लौटने के बाद बौद्धिक ग्रौर धार्मिक मतभेद बढ़ने के कारण केवल तीन वर्ष बाद १८२७ में इस बस्ती को साम्यवादी ग्रादर्श पर बसाने का परीक्षण विफल हो गया। १८२४-२६ के बीच में सं० रा० ग्रमेरिका के कई स्थानों में **नूतन सामंजस्य** से प्रेरणा ग्रहण करते हुए नई बस्तियाँ बसाई गईं, किन्तु इन सबने ग्रोवन के कार्यक्रम की निरर्थकता ग्रौर ग्रव्यावहारिकता को ही सिद्ध किया। ८७ वर्ष की ग्रायु में ग्रोवन १८५८ में दिवंगत हुग्रा।

ओवन अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में बड़ा सफल रहा, उसका सबसे बड़ा कार्य न्यू लेनार्क की मजदूर बस्ती का कायाकल्प करना था। इसके बाद उसे अपने जीवन में अनेक विफलताएँ ही मिलीं, 'नूतन सामंजस्य' की बस्ती का परीक्षण विफल हुआ, पूँजीपतियों और मजदूरों में सौहार्द और सहयोग की भावना से काम करने की उसकी अपील भी बहरे कानों पर पड़ी, उसे यह भी भ्रान्ति थी कि मनुष्य की सब क्रियाएँ बुद्धि से प्रेरित होती हैं। मैक्सी के शब्दों में स्वप्नलोकविहारी समाजवाद (Utopian Socialism) का सितारा उसके समय में आकाश में ऊँचा चढ़कर अस्त भी हो गया।[1] फिर भी, इन दोषों के होते हुए भी उसके कई सिद्धान्तों ने समाजवाद के भावी विकास पर गहरा प्रभाव डाला। ये सिद्धान्त इस प्रकार थे—वर्तमान समाज की अन्यायपूर्ण व्यवस्था की उग्र आलोचना, बेकारी की समस्या, समाज के सुख को मानव-जाति की प्रगति का आदर्श मानदण्ड समझना, सम्पत्ति के उत्पादन और वितरण में सब वर्गों के सहयोग पर बल देना। उसने अपना सारा जीवन, धन और शक्ति समाजवादी आदर्शों को प्राप्त करने में लगा दी। अपने उद्देश्य के प्रति ओवन की गहरी निष्ठा और उसकी प्राप्ति के लिए अविरत और अनथक उद्योग आज तक सभी व्यक्तियों के लिए उज्ज्वल प्रेरणा का अजस्र स्रोत बने हुए हैं।

स्वप्नलोकीय समाजवादी तथा अन्य समाजवादियों की तुलना—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि स्वप्नलोकीय समाजवादी कई बातों में अन्य सम्प्रदायों के समाजवादियों से मिलते हैं। ये बातें मुख्य रूप से इस प्रकार हैं—(१) निजी सम्पत्ति की व्यवस्था की निन्दा और उन्मूलन, (२) पूँजीवादी व्यवस्था का अन्यायमूलक होना, (३) इसे दूर करने के लिए उद्योगों पर एवं उत्पादन के साधनों पर समाज का स्वामित्व, (४) मनुष्य के शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक विकास के लिए प्रत्येक व्यक्ति को पूरा अवसर देने की व्यवस्था, (५) सामाजिक परिस्थितियों का चरित्र-निर्माण पर गहरा प्रभाव पड़ना, (६) समाज के सब व्यक्तियों द्वारा काम किया जाना, किसी का परोपजीवी या निठल्ला न होकर बैठना।

किन्तु इन समानताओं के होते हुए भी दोनों विचारधाराओं में दार्शनिक दृष्टि से तथा समाजवाद की स्थापना के साधनों की दृष्टि से कुछ भेद भी हैं। स्वप्नलोकीय समाजवादियों के दर्शन का स्रोत प्राकृतिक कानून के, आरम्भिक ईसाइयों के तथा मानववादियों (Humanists) के तथा बुद्धिवादियों (Rationalists) के विभिन्न सिद्धान्तों का पंचमेल मिश्रण है। इसके अनुसार प्रकृति या भगवान् भला करने वाला है, अतः वह कोई बुरी चीज नहीं बना सकता है; मानव-समाज को भगवान् ने बनाया है, अतः यह कभी बुरा नहीं हो सकता है। किन्तु मानव-समाज में बुराई, कष्ट और दुःख क्यों दिखाई देता है ? इसका यह उत्तर दिया जाता है कि निजी सम्पत्ति आदि की दूषित प्रथाओं ने मानव-समाज की आदिम स्वाभाविक दशा में परिवर्तन करके उसे वर्तमान विकृत रूप प्रदान किया है। मानव-जाति के सुधारकों का यह कर्त्तव्य है कि वे इसके दोषों का संशोधन कर मानव-समाज को प्राचीन पवित्रता रखने वाली स्वाभाविक दशा में ले आएँ।

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० ५१६

दूसरा भेद इस दशा को लाने के साधनों के बारे में है। हम ग्रागे चलकर देखेंगे कि मार्क्स ने इसके लिए वर्ग-संघर्ष ग्रौर हिंसा को ग्रावश्यक माना था। वह मजदूरों द्वारा संगठित होकर कार्यवाही करने के सिद्धान्त में विश्वास रखता था। किन्तु उससे पहले के स्वप्नलोकीय समाजवादी बुद्धिवादी थे, उनका यह कहना था कि मनुष्य की वर्तमान दुर्दशा का कारण ग्रज्ञान या ग्रदूरदर्शिता है, उन्हें प्रकृति की स्वाभाविक व्यवस्था का ज्ञान नहीं है, यदि इसका यथार्थ ज्ञान उन्हें करा दिया जाए तो वे स्वयमेव समाज की वर्तमान बुराइयों का संशोधन करके इसे पुराना प्राकृतिक समाज बना देंगे। नए सिद्धान्तों ग्रौर ज्ञान का प्रचार ग्रौर प्रसार ग्रमीर-गरीब सबमें समान रूप से करना चाहिए। इससे समाज में ग्रावश्यक परिवर्तन शीघ्र ही सम्पन्न हो सकेंगे। बुद्धिवाद पर बल देने के कारण सोम्बर्ट ने स्वप्नलोकीय विचारकों को **बुद्धिवादी समाजवादी** (Rationalist Socialists) भी कहा है।

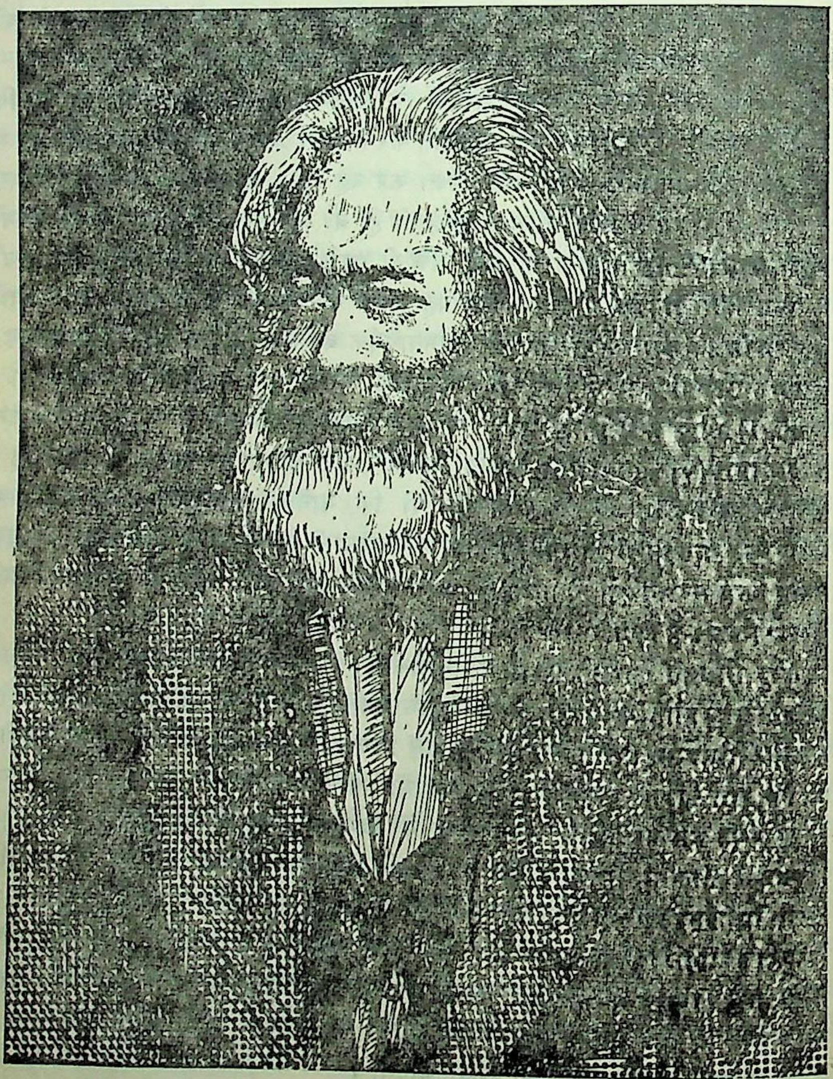
स्वप्नलोकविहारी समाजवादियों के दोष—इनका **पहला** दोष यह था कि इन्होंने समाज को प्रभावित एवं संचालित करने वाली प्रधान शक्तियों को सही रूप में नहीं समझा था। वे इस तथ्य की उपेक्षा कर रहे थे कि समाज में जिन लोगों के पास ग्रार्थिक शक्ति ग्रौर राजनीतिक सत्ता होती है वे ग्रल्पसंख्या में होने पर भी ग्रपनी सत्ता को कभी नहीं छोड़ना चाहते हैं, भले ही इससे बहुसंख्या को कितनी ही हानि क्यों न पहुँच रही हो। **दूसरा** दोष उनकी यह भ्रान्त धारणा थी कि वे समाज को यथार्थ ज्ञान के प्रसार से तथा बुद्धिवाद से सुगमतापूर्वक बदल सकते हैं। **तीसरा** दोष उनका पूँजीवाद के महत्व को तथा उसके ऐतिहासिक रूप को पूरी तरह न समझ सकना था। वे इस बात को ग्रनुभव नहीं कर पाए कि ग्रौद्योगिक क्रान्ति ने न केवल उत्पादन बढ़ाया है, ग्रपितु मजदूरों द्वारा संगठित ग्रान्दोलन करना भी सम्भव बना दिया है। **चौथा** दोष उनकी यह भ्रान्त धारणा थी कि मानव-समाज को नवीन काल्पनिक योजनाग्रों के ग्रनुसार नई बस्तियाँ बसाकर ग्रासानी से बदला जा सकता है। वे इस विषय में मानव-समाज की रूढ़ियों ग्रौर परम्पराग्रों की शक्ति के महत्व को नहीं समझते थे।

उपर्युक्त दोषों के कारण स्वप्नलोकीय समाजवादी विचारकों की योजनाएँ विफल हुईं; किन्तु इनकी विफलता ने समाजवाद के भावी पथ को प्रशस्त किया ग्रौर मार्क्स के मार्ग को ग्रालोकित किया। इन विचारकों ने ग्रमीर ग्रौर गरीब के सहयोग पर विश्वास रखा था, धनियों से नया सामाजिक परिवर्तन लाने में सहायक होने की ग्राशा रखी थी। फूरियर इसी ग्राशा में दिवंगत हुग्रा (देखिए ऊपर पृ० २८५)। किन्तु इन ग्राशाग्रों के विफल होने से परवर्ती विचारकों को यह विश्वास हो गया कि धनी कभी स्वेच्छापूर्वक ग्रपने ग्रधिकारों का परित्याग नहीं करेंगे। उनके साथ सर्वहारा श्रमिक वर्ग का संघर्ष ग्रनिवार्य है। समाज में बुद्धिवाद से कोई परिवर्तन नहीं होंगे, इनके लिए मजदूरों को संगठित होकर प्रबल राजनीतिक क्रान्ति करके शासन-सत्ता ग्रपने हाथ में लेनी होगी। मार्क्स के सिद्धान्तों का विकास इसी पृष्ठभूमि में हुग्रा; ग्रगले ग्रध्याय में इनका विवेचन किया जाएगा।

दसवाँ अध्याय

कार्ल मार्क्स

मार्क्स का महत्व—वैज्ञानिक समाजवाद के प्रवर्त्तक, क्रान्तिकारी विचारक महर्षि मार्क्स समाजवादी विचारकों में असाधारण महत्व रखते हैं। पिछली एक



कार्ल मार्क्स

शताब्दी में उनके विचारों ने संसार पर जितना गहरा प्रभाव डाला है, उतना सम्भवतः इस युग के किसी अन्य विचारक ने प्रभाव नहीं डाला है। इस दृष्टि से उनकी तुलना संसार के महान् धर्मप्रवर्त्तकों—बुद्ध, ईसा और मुहम्मद से की जा सकती है। पश्चिमी जगत् में ईसाइयत और इस्लाम के बाद साम्यवाद जैसा कोई विशाल जनान्दोलन नहीं हुआ है। आज संसार में करोड़ों व्यक्ति मार्क्स को नवयुग का देवता मानते हैं, उसकी उपासना करते हैं, उसके ग्रन्थों को वेद, बाइबल और कुरान जैसा धर्मग्रन्थ मानते हैं, उसके सिद्धान्तों में अगाध श्रद्धा एवं आस्था रखते हैं, उनसे प्रेरणा पाते हुए आदर्श साम्यवादी समाज की स्थापना के लिए बड़े-से-बड़ा बलिदान करने के लिए उद्यत हैं। मार्क्स से पहले के विचारकों ने नवयुग के सपने लिए थे; मार्क्स ने न केवल नई दुनिया का सपना लिया तथा उसकी वैज्ञानिक व्याख्या की, अपितु उसे साकार बनाने के लिए अपने जीवन में भगीरथ परिश्रम किया। उसके तथा उसके अनुनायियों के प्रयत्न से सौ वर्ष के भीतर ही संसार की एक-तिहाई आबादी रखने वाले देशों में उसके सिद्धान्त सर्वमान्य हो गए और उनके अनुसार राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था स्थापित हो गई है। मार्क्स ने कहा था—"दार्शनिक अब तक विश्व की व्याख्या करने का प्रयास करते रहे हैं किन्तु महत्वपूर्ण बात तो इस दुनिया को बदल देने की है।" उसके विचारों ने सचमुच दुनिया को बदल डाला है। जिन देशों में पूंजीवादी व्यवस्था है वहाँ भी मार्क्स का गहरा प्रभाव पड़ा है। डार्विन और फ्रायड की भाँति उसने मानव-समाज की विचारधारा को नई दिशा प्रदान की है। अतः मार्क्स के मौलिक मन्तव्यों का मनन और अध्ययन वर्तमान युग की विचारधाराओं और समस्याओं को समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

मार्क्स की जीवनी—मार्क्स का जन्म फ्रेंच राज्यक्रान्ति से अत्यधिक प्रभावित राइन नदी के तटवर्ती जर्मन प्रदेश राइनलैण्ड के एक छोटे नगर ट्रेयर या ट्रीव्ज़ में हुआ। चौथी शताब्दी ई० में इस नगर ने ईसाइयत के एक महान् सन्त एम्ब्रोज (Ambrose) को पैदा किया था; अब इसने साम्यवाद के सन्त को जन्म दिया। मार्क्स का पिता एक मध्यमवर्गीय यहूदी वकील था। १८२४ में उसके पिता ने बुद्धिवादी होते हुए भी, यहूदी धर्म छोड़कर सम्भवतः सांसारिक लाभ की दृष्टि से ईसाइयत को ग्रहण किया। मार्क्स की मातृभूमि पहले नैपोलियन के शासन में फ्रेंच प्रदेश था, उसके पतन के बाद वह प्रशिया का अंग बना, इस प्रकार मार्क्स के बचपन के वातावरण पर राष्ट्रीयता का कोई गहरा प्रभाव नहीं पड़ा।

मार्क्स की आरम्भिक शिक्षा उसके भावी श्वसुर, उदार विचारक एवं कुलीन व्यक्ति वैस्टफेलन के घर पर और एक विद्यालय में हुई। उसने वैस्टफेलन के सम्पर्क से शेक्सपियर, शिलर, दांते आदि महाकवियों की कृतियों में रस लेना शुरू किया, इसने उसमें सहृदयता और कविता की प्रेरणा को उत्पन्न किया। विद्यालय में उसके शिक्षक उसकी योग्यता को सराहते थे, किन्तु उसके हस्तलेख के भद्देपन तथा लेखन शैली की जटिलता की आलोचना करते थे। यहाँ बचपन से ही उसने अपनी योग्यता को पीड़ित मानव-जाति के प्रति अगाध प्रेम में प्रदर्शित किया। विद्यालय में उसने अपने एक निबन्ध में लिखा था—"जब हम जीवन में अपनी काम करने की स्थिति को चुन

लेते हैं, तो हमें मानव-जाति के लिए सर्वोत्तम कार्य करना चाहिए, इसमें आने वाले विघ्नों का बोझ हमें चकनाचूर नहीं कर सकता है, क्योंकि इसमें सभी को ऐसे बलिदान करने पड़ते हैं।"[1] हम आगे चलकर यह देखेंगे कि दारुण दरिद्रता तथा शारीरिक अस्वस्थता के घोर कष्टों के बावजूद मार्क्स ने श्रमजीवी निर्धन जनता के कल्याण के लिए साम्यवाद के प्रचार के उद्देश्य को नहीं छोड़ा।

विद्यालय की शिक्षा समाप्त करने के बाद, उसने सत्रह वर्ष की आयु में पहले जेना के तथा बाद में बर्लिन के विश्वविद्यालय में अध्ययन किया। उसका पिता मार्क्स को कानून की शिक्षा दिलाना चाहता था, किन्तु मार्क्स ने यहाँ दर्शन और इतिहास का अध्ययन किया, दिन-रात वह दर्शनशास्त्र के गम्भीर अध्ययन में डूबा रहता था। बर्लिन में अपनी शिक्षा पूरी करने के बाद उसने १८४१ में जेना के विश्वविद्यालय से 'डेमोक्रिटस और एपिक्यूरस के प्राकृतिक दर्शनों' पर निबन्ध लिखकर डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। छात्रावस्था में उस पर कई बातों का विशेष प्रभाव पड़ा : पहली बात हेगल का दर्शन था, उन दिनों हेगल की धूम थी। यह असम्भव था कि मार्क्स पर उसका प्रभाव न पड़ता। मार्क्स ने स्वयमेव हेगल के ऋण को स्वीकार किया है और द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectic method) उससे ग्रहण की है। किन्तु इसके साथ ही दूसरा प्रभाव भौतिकवाद और नास्तिकता का था। उसने अपने शोधप्रबन्ध में एपिक्यूरस के भौतिकवाद का समर्थन किया था। उन दिनों हेगल के अनुयायी दक्षिण-पंथी और वामपंथी के दो समूहों में विभक्त थे। दक्षिणपंथी (The Hegelian Right) ईसाइयत में श्रद्धा रखते थे और इसका हेगल के सिद्धान्तों के साथ समन्वय करते थे। किन्तु वामपंथी (The Hegelian Left or Young Hegelians) नास्तिक थे, दोनों का समन्वय असम्भव समझते थे। इनमें प्रधान विचारक डेविड स्ट्रास, ब्रूनो बौरे (Baure) तथा लुडविग फ्यूरबाख (Feurbach) थे। पहले दो विद्वानों ने बाइबल का गम्भीर अध्ययन करके यह परिणाम निकाला था कि ईसाइयत का आरम्भ एक कपोलकल्पना (myth) से हुआ। फ्यूरबाख ने इससे भी आगे बढ़कर यह परिणाम निकाला कि भगवान् की वास्तविक सत्ता नहीं है, यह केवल मनुष्य की आशाओं और अभिलाषाओं द्वारा की जाने वाली मनोरम मानसिक कल्पना है। मार्क्स के तरुण मन पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने फ्यूरबाख से यह सीखा कि **भगवान् मनुष्य को नहीं, किन्तु मनुष्य भगवान् को बनाता है।** यदि वास्तव में ऐसा है तो मनुष्यों के कार्यों में हस्तक्षेप करने वाली कोई दैवी शक्ति नहीं है, वे अपनी इच्छानुसार कार्य करने में स्वतन्त्र हैं। अधिक चिन्तन करने पर मार्क्स को यह विश्वास हो गया कि फ्यूरबाख ने अपने क्रान्तिकारी सिद्धान्तों के स्वरूप को स्वयमेव पूरी तरह नहीं समझा है, उसने इसका अपने कई लेखों में विस्तृत विवेचन किया। उसके मतानुसार फ्यूरबाख के आविष्कार ने मनुष्य को भगवान् की भ्रान्ति से मुक्त कर दिया है, अब हमें स्वर्ग में **भगवान् के राज्य** में प्रवेश का प्रयास करने के स्थान पर इस भूमण्डल पर **मानव का राज्य** स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए।

---

१. काटलिन—ए हिस्टरी आफ पोलिटिकल फिलासफर्स, पृ० ५६१

मार्क्स को अपने बाइबल-विरोधी नास्तिक विचारों के कारण किसी सरकारी विश्वविद्यालय में नौकरी नहीं मिल सकती थी, अतः उसने पत्रकारिता को अपनी आजीविका का साधन बनाया। इसी समय राइन प्रदेश के उदारवादियों ने एक समाचारपत्र Rheinische Zeitung निकाला। मार्क्स दो वर्ष (१८४२-३) तक इसका सम्पादक रहा, इस समय उसे आर्थिक समस्याओं पर लेख लिखने के लिए आर्थिक प्रश्नों का अध्ययन करना पड़ा। इससे उसका ध्यान समाजवाद की ओर गया। उसने १८४३-४ में समाजवादी साहित्य का उसी प्रकार गम्भीर स्वाध्याय किया जैसा छः वर्ष पहले उसने हेगल के दर्शन का अध्ययन किया था। १८४४ तक वह समाजवादी बन चुका था।

इसी समय २५ वर्ष की आयु में उसका विवाह वैस्टफेलन के कुलीन नवाब (Baron) की रूपवती और बुद्धिमती २९-वर्षीय कन्या जेनी से हुआ। इस परिवार से उसका परिचय बचपन से ही था, १८ वर्ष की आयु से मार्क्स का इसके साथ प्रणय व्यापार चल रहा था। उसने जेनी पर अनेक कविताएँ लिखी थीं, ऐसी कविताओं की तीन पुस्तकें जेनी को भेंट की थीं। जेनी भी मार्क्स को चाहती थी। किन्तु फिर भी विवाह होने में सात वर्ष लग गए;[1] क्योंकि जेनी के सम्बन्धी सामाजिक दृष्टि से हीन स्थिति रखने वाले, निर्धन तथा उज्ज्वल भविष्य न रखने वाले मार्क्स को उपयुक्त वर नहीं समझते थे। मार्क्स जेनी के रूप और बुद्धि पर तथा जेनी मार्क्स की दृढ़ता पर मुग्ध थी। मार्क्स को जेनी की कुलीनता पर गर्व था और होटलों में उससे पता लिखवाते समय मार्क्स इस बात पर आग्रह करता था कि वह अपने को जेनी मार्क्स वान वैस्टफेलन के नवाब की बेटी (Baroness Von Westphalen) ही लिखा करे।[2] आगे यह बताया जाएगा कि घोर दरिद्रता, भीषण बीमारी और भयंकर कष्टों में भी जेनी ने सदैव पति की सेवा की, उसकी तुलना भारत की सतीसाध्वी, पतिव्रता सीता और सावित्री से की जा सकती है।

एंगल्ज से मित्रता--विवाह के बाद जेनी के जीवन में सुख नहीं बदा था। उसे अपने पति के साथ विभिन्न देशों में भटकना पड़ा। मार्क्स जिस देश में जाता था वहाँ से उसे क्रान्तिकारी विचारों के कारण निर्वासित कर दिया जाता था। १८४३ में मार्क्स को जर्मनी छोड़कर पेरिस आना पड़ा। यहाँ पर वह फ्रेंको-जर्मन अब्दकोशों (Franco-German Year Books) का सम्पादक बना और उसने तत्कालीन संस्थाओं और प्रथाओं की उग्र आलोचना आरम्भ की। यहीं १८४४ में उसका परिचय इसी अब्दकोश में लेख लिखने वाले जर्मनीवासी, किन्तु मैञ्चेस्टर में व्यापार करने वाले फ्रेडरिक एंगल्ज से हुआ। यह परिचय शीघ्र ही घनिष्ठ मित्रता में परिणत हो गया और इसी कारण मार्क्स अपना शेष जीवन साहित्यिक अध्ययन और लेखन में

---

१. हेनरी मेयो—एन इंट्रोडक्शन टु मार्क्सिस्ट फिलासफी, पृ० ८

२. काटलिन—ए हिस्ट्री आफ दी पोलिटिकल फिलासफर्स, पृ० ५६२

लगा सका।[1]

मार्क्स के दुर्भाग्य से अब्दकोश का प्रकाशन शीघ्र ही बन्द हो गया। बेकार हो जाने पर उसने ब्रिटेन और फ्रांस में प्रचलित अर्थशास्त्र, इतिहास और समाजवाद के सिद्धान्तों का गहरा अनुशीलन करके **'पवित्र परिवार'** (The Holy Family) नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। इसमें उसने इतिहास की आर्थिक व्याख्या तथा वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्तों को बीज रूप में प्रतिपादित करते हुए निजी सम्पत्ति की व्यवस्था को दरिद्र एवं सर्वहारा वर्ग (Proletariat) द्वारा समाप्त करने पर बल दिया। इस समय पेरिस में वह प्रूदों आदि फ्रेंच समाज-सुधारकों के घनिष्ठ सम्पर्क में आया। प्रशियन सरकार अभी तक उसके पीछे पड़ी हुई थी। उसके आग्रह पर १८४५ में फ्रेंच सरकार ने मार्क्स को फ्रांस छोड़कर चले जाने का आदेश दिया। मार्क्स को विवश होकर बेल्जियम की राजधानी ब्रूसेल्ज़ में शरण लेनी पड़ी। यहाँ अगले तीन वर्ष—

---

१. इस प्रसंग में एंगल्ज़ (१८२०-९५) का परिचय देना आवश्यक है। इसका जन्म २८ नवम्बर १८२० को जर्मनी के बारमेन नामक स्थान में एक धनी मिल-मालिक के घर में हुआ। आरम्भ में सैनिक शिक्षा ग्रहण करने के बाद यह १८४१ में अपने पैतृक व्यवसाय में लग गया और अपनी कम्पनी का एजेण्ट होकर मैन्चेस्टर चला गया, उसे आरम्भ में श्रमिक समस्याओं में तथा सामाजिक विचार-धाराओं के अध्ययन में गहरी दिलचस्पी थी। वह इंगलैण्ड के चार्टिस्ट आन्दोलन, ट्रेड यूनियन तथा समाजवादी आन्दोलन से तथा ब्रिटिश मजदूरों की दशा से भलीभाँति परिचित था। उसने इस विषय पर '१८४४ में इंगलैण्ड में श्रमिक वर्गों की दशा' नामक पुस्तक लिखी थी। मार्क्स से परिचय होने के बाद उसने उसे Holy Family नामक ग्रन्थ लिखने में सहयोग दिया। १८४५ में वह अपना व्यवसाय छोड़कर ब्रूसेल्ज़ में मार्क्स के पास चला आया, दोनों मिलकर अनुसन्धान एवं लेखन का और मजदूर तथा कम्यूनिस्ट आन्दोलन के संगठन का कार्य करते रहे। १८४७ में उसने मार्क्स को सुप्रसिद्ध 'कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो' लिखने में सहयोग दिया, १८४८-५० में एंगल्ज़ क्रान्तिकारी आन्दोलनों के चलाने में उसे बहुत सहायता देता रहा। १८५० में एंगल्ज़ ने व्यापार का कार्य पुनः इस कारण आरम्भ किया कि वह मार्क्स को साहित्यिक कार्य करने के लिए आर्थिक सहायता देने का प्रबन्ध कर सके। उसने उसकी न केवल आर्थिक, अपितु साहित्यिक सहायता भी की। वह उसे इंगलैण्ड के औद्योगिक जीवन के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी देता रहा, उसने उसे 'न्यूयार्क ट्रिब्यून' का लेखक बनवाया, उस समय तक मार्क्स को अच्छी अंग्रेजी लिखना नहीं आता था, उसने मार्क्स के लेखों को इस पत्र के लिए लिखा, शुद्ध किया तथा उसे अंग्रेजी में लिखना सिखाया। 'पूंजी' नामक ग्रन्थ के लिखने के लिए आवश्यक सामग्री प्रदान की। मार्क्स ने एंगल्ज़ का आभार मानते हुए यह लिखा था कि "मैं अपनी 'पूँजी' नामक पुस्तक तुम्हारे सहयोग के बिना पूरी नहीं कर सकता था। मैं तुम्हें यह विश्वास दिलाता हूँ कि इस आभार का सदैव मेरे मन पर पहाड़ जैसा भारी बोझ रहा है, इसका प्रधान कारण यह है कि तुमने मेरे लिए अपनी बढ़िया शक्तियों को व्यापार में बरबाद किया है और जंग लगने दिया है।" १८६० में एंगल्ज़ के पिता की मृत्यु हो जाने पर वह पिता के स्थान पर कम्पनी में हिस्सेदार बन गया। किन्तु उसे यह कार्य कतई पसन्द नहीं था। १८६९ में उसने अपना हिस्सा बेचकर तथा भविष्य में इस प्रकार का नया काम शुरू न करने का आश्वासन देकर कम्पनी से एक बड़ी धनराशि प्राप्त की, इससे वह मार्क्स को प्रतिवर्ष ६५० पौंड कई वर्षों तक देता रहा और १८७० में लन्दन में उसी के साथ रहने लगा (नेडलर—सोशल इक्नामिक मूवमैण्ट्स, पृ० १२७)। एंगल्ज़ के बारे में ग्रे ने लिखा है कि इतिहास में पति द्वारा पत्नी के लिए तथा पत्नी द्वारा पति के लिए अनुपम त्याग के बीसियों उदाहरण हैं किन्तु ऐसा उदाहरण ढूंढ़ना कठिन है जिसमें किसी व्यक्ति ने अपने मित्र के लिए जीवन भर ऐसा त्याग किया हो और उसे अपनी आजीविका की चिन्ता से मुक्त कर दिया हो (ग्रे—दी सोशलिस्ट ट्रेडीशन, पृ० २९८)।

फरवरी १८४८ तक रहते हुए उसने एंगल्ज़ द्वारा भिजवाए हुए अर्थशास्त्रविषयक अनेक ग्रन्थों का स्वाध्याय करते हुए प्रूदों द्वारा साम्यवाद के खण्डन में लिखी गई पुस्तक का उत्तर **दर्शन की दरिद्रता** (Misere de la Philosophie) के रूप में १८४७ में दिया। इसमें उसने सामाजिक संघर्ष और परिवर्तनविषयक अपने विचारों का प्रतिपादन किया। इस समय वह जर्मन मजदूरों का संघ सुदृढ़ करने में लगा हुआ था, उसने इसे कम्यूनिस्ट संघ का नाम दिया। इस संस्था ने अपनी दूसरी बैठक में मार्क्स को इसका एक कार्यक्रम तैयार करने का आदेश दिया। यह कार्यक्रम ही सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक **कम्यूनिस्ट घोषणा-पत्र** (Communist Manifesto) है।

कम्यूनिस्ट घोषणा-पत्र—यह मार्क्स और एंगल्ज़ की संयुक्त कृति थी, १८४८ में योरोप के अनेक देशों में क्रान्तियाँ होने के समय इसका प्रकाशन हुआ था। इसका श्रीगणेश ही इन शब्दों से होता है "आज योरोप को एक हौआ आतंकित कर रहा है —कम्यूनिज़म का हौआ। इस हौए को भगाने के लिए पोप और ज़ार, मेटर्निख और गिजो, फ्रांसिसी उग्रवादी और जर्मन खुफिया पुलिस—बूढ़े योरोप के सब सत्ताधारी एक हो गए हैं।...अब समय आ गया है कि स्वयं पार्टी की तरफ से एक घोषणा-पत्र प्रकाशित करके कम्यूनिस्ट खुलेआम अपने विचारों, उद्देश्यों और प्रवृत्तियों का खुलासा कर दें और कम्यूनिज़म को हौआ कहकर लोगों को डराने के लिए बनाई गई बूढ़ी दादी की कहानी को खत्म कर दें।"[1] इस घोषणा में अत्यन्त सुबोध एवं सरल रूप में मार्क्स के सभी सिद्धान्तों—वर्ग-संघर्ष, पूंजीवाद के विकास, औद्योगिक संकटों, मध्यम-वर्ग के लोप, मजदूरों के संगठन, मजदूर पार्टियों के आविर्भाव, निर्धन वर्ग की बढ़ती हुई दरिद्रता, पूंजीपतियों द्वारा स्वयमेव अपनी कब्र खोदना, कम्यूनिस्टों के मजदूर वर्ग के साथ सम्बन्ध, स्वप्नलोकीय (Utopian) समाजवाद की आलोचना, मजदूरों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाने तथा वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों को बलपूर्वक बदल देने का प्रतिपादन करते हुए अन्त में कहा गया है—"कम्यूनिस्ट क्रान्ति के डर से शासक-वर्ग को काँपने दो। मजदूरों के पास खोने के लिए अपनी बेड़ियों के सिवा और कुछ नहीं है; जीतने के लिए उनके पास सारी दुनिया है। दुनिया के मजदूरो, एक हो जाओ।"

यह घोषणा-पत्र कम्यूनिज़म की गीता है। लास्की ने इसके महत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है[2] कि इसने अब तक अन्याय के विरुद्ध अस्पष्ट असन्तोष को एक निश्चित दर्शन प्रदान किया, बिखरे हुए निर्धन वर्गों को संगठित और प्रभावशाली दल के रूप में लाने की लम्बी प्रक्रिया का श्रीगणेश किया। इसने सर्वहारा वर्ग को पहली बार उसके द्वारा किए जाने वाले ऐतिहासिक कार्य के महत्व का और उसकी गरिमा का ज्ञान कराते हुए उसमें विलक्षण जागृति उत्पन्न की। इसने मजदूरों को पूँजीवाद पर विजय पाने का मार्ग बताया और उन्हें अपने प्रयत्नों के सफल होने का पूर्ण

---

१. इसका हिन्दी अनुवाद पीपल्स पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड, नई दिल्ली ने प्रकाशित किया है।

२. लास्की—कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो, पृ० १६-१८

विश्वास दिलाया। इसीलिए लास्की ने इस घोषणा-पत्र की तुलना सं० रा० अमेरिका के स्वतन्त्रता के घोषणा-पत्र से की है। इसी समय से योरोप में साम्यवाद शक्तिशाली जन-आन्दोलन का रूप धारण करने लगा। १८४८ की क्रान्तियों में मार्क्स ने जर्मनी और फ्रांस में इन्हें सफल बनाने का प्रयत्न किया। किन्तु इनके विफल होने पर १८४६ में वह पेरिस से निर्वासित होकर लन्दन चला आया, उसने अपने जीवन के शेष वर्ष यहाँ व्यतीत किए।

लन्दन में निवास तथा भीषण दरिद्रता के कष्ट—लन्दन आने पर मार्क्स को तथा उसके परिवार को दस वर्ष (१८५१–६०) तक घोर निर्धनता का जीवन यापन करना पड़ा। इस समय उसका एकमात्र सहारा क्रान्तिकारी विचार वाले 'न्यूयार्क ट्रिब्यून' में लेख लिखना था। एंगल्ज़ ने उसे यह काम दिलाया था और आरम्भ में उसके लेखों की अंग्रेजी सुधारने का भी काम किया। वह इन वर्षों में ब्रिटिश म्यूज़ियम का पुस्तकालय खुलते ही उसमें प्रवेश करता था और शाम को इसके बन्द होने पर ही वह घर लौटता था। दिन-भर वह अपने लेखों के लिए तथा 'पूँजी' नामक ग्रन्थ के लिए सामग्री एकत्र करता था। उसे लेखों से आमदनी इतनी कम होती थी कि इससे अपना, बच्चों का और पत्नी का पेट भरना कठिन था। कई बार मार्क्स स्वय भूखा रहता था ताकि उसके बच्चों को भर-पेट खाना मिल सके। उसकी पत्नी जेनी द्वारा इन दिनों अपनी सहेलियों को लिखे गए पत्रों से मार्क्स की हृदयद्रावक दरिद्रता पर प्रकाश पड़ता है। लन्दन में एक मकान-मालिक ने अपना किराया वसूल करने के लिए एक बार मार्क्स के घर का सारा सामान, छोटे बच्चों का पालना और खिलौने तक कुर्क कर लिए। माँ को अपने तीनों नन्हें बच्चों के साथ कठोर भूमि पर भीषण ठंड में लेटना पड़ा। १८५२ में जेनी की छोटी बच्ची फ्रांसिस्का कंठनाली के प्रदाह से चल बसी, 'अपनी प्यारी बच्ची को कफन में लिटाने के लिए' जेनी को एक फ्रेंच पड़ोसिन से उधार मांगना पड़ा। इसी बीच में जेनी चेचक से भी पीड़ित हुई। किन्तु इन सब घोर कष्टों को उसने बड़ी प्रसन्नता से झेला, क्योंकि उसके शब्दों में "मैं भलीभाँति जानती हूँ कि दुनिया में केवल हम लोग ही कष्ट नहीं झेल रहे हैं। फिर मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि मैं भाग्यवानों में हूँ, क्योंकि मेरे प्यारे पति, मेरे प्राणाधार, मेरे समीप हैं।"[१] इस समय कार्ल मार्क्स ने नौकरी के लिए एक रेलवे कम्पनी में बुकिंग क्लर्क बनने के लिए आवेदन-पत्र दिया, किन्तु इसे इस आधार पर रद्द कर दिया गया कि उसका हस्तलेख सुपाठ्य नहीं है।[२] यह किस्सा प्रसिद्ध है कि १८५२ में कोलोन के कम्युनिस्ट मुक़द्दमे का विवरण छापने के लिए आवश्यक क़ागज खरीदने के निमित्त मार्क्स ने अपना अन्तिम कोट गिरवी रख दिया था।[३] मार्क्स की माँ कहा करती थी कि मेरे बेटे ने यदि 'पूंजी' पर पुस्तक लिखने के स्थान पर पूंजी एकत्र करने का प्रयत्न किया

---

१. लाला हरदयाल—क्रान्तिकारी कार्ल मार्क्स, विशाल भारत पुस्तकालय, कलकत्ता, पृ० २८
२. मेयो—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १५
३. लेडलर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १४८

होता तो यह कहीं अधिक अच्छा होता।[1] मार्क्स स्वयमेव परिहासपूर्ण शब्दों में अपने दामाद पाल लफर गुए से यह कहा करता था कि 'पूँजी' नामक ग्रन्थ लिखते हुए मैंने घटिया किस्म के सिगरेट पीने पर जितनी धनराशि व्यय की थी, उतनी धनराशि मुझे पूँजी' पर मिलने वाली रायल्टी से नहीं मिली है। दरिद्रता के साथ-साथ, मार्क्स को फोड़ों (Carbuncles) ने भी परेशान कर दिया था। ये फोड़े ऐसे स्थान पर थे कि वह बैठ नहीं सकता था, अतः उसे अपने लिखने का काम खड़े होकर करना पड़ता था। उसने एंगल्ज़ को मज़ाक में लिखा था कि पूँजीपति मेरे ये फोड़े सदैव याद रखेंगे।[2]

'पूँजी' का प्रकाशन—१८६० के बाद मार्क्स की आर्थिक दशा सुधर गई। उसे पहले तो अपने मित्र विल्हैल्म वोल्फ (Wilhelm Wolff) की मृत्यु पर उसकी वसीयत से ८०० पौण्ड या १२,०००) रु० की धनराशि प्राप्त हुई, इससे उसे 'पूँजी' का पहला खण्ड लिखने में बड़ी सुविधा हो गई; उसने अपने ग्रन्थ का समर्पण वोल्फ को ही किया है। इसी समय से एंगल्ज़ मार्क्स को ३५० पौण्ड की वार्षिक सहायता देने लगा। १८६७ में उसकी सुप्रसिद्ध पुस्तक **पूँजी** (Das Capital) का प्रथम खण्ड जर्मन भाषा में प्रकाशित हुआ।[3] इसमें उसने पूँजीवाद का बड़ा गम्भीर विश्लेषण किया, पूँजीवादी उत्पादन, माल और उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला है; वह इसके शेष दो खण्ड अपने जीवनकाल में पूरा नहीं कर सका। इनको मार्क्स द्वारा तैयार की गई सामग्री के आधार पर एंगल्ज़ ने पूर्ण किया।[4] यह ग्रन्थ साम्यवाद का वेद है। वेद की भाँति इसे परम प्रामाणिक और पूज्य माना जाता है, किन्तु बहुत कम पढ़ा जाता है। मेयो ने लिखा है कि बाइबल की भाँति प्रत्येक व्यक्ति इसके उद्धरण बहुत देता है, किन्तु इसका स्वाध्याय बहुत ही कम व्यक्ति करते हैं। इसका प्रधान कारण इसकी दुरूहता और विश्लेषणात्मक जटिल शैली है। १८७२ में इसके फ्रेंच अनुवाद की भूमिका में मार्क्स ने स्वयमेव स्वीकार करते हुए लिखा था—"विज्ञान का कोई सीधा-सपाट राजमार्ग नहीं है, उसकी प्रकाशमान चोटियों तक पहुँचने का अवसर केवल उन्हीं को प्राप्त हो सकता है जो उसके ढालू रास्तों की थका देने वाली चढ़ाई से न डरते हों।"

मार्क्स ने 'पूँजी' के प्रकाशन के बाद अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में अपने सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देने के लिए मजदूर आन्दोलन को संगठित करने का प्रयत्न किया। इसके लिए उसने लन्दन में प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन (First International) बनाया; फ्रैंको-जर्मन युद्ध में फ्रांस के हारने के बाद पेरिस के कम्यून विद्रोह में मार्क्स ने गहरी दिलचस्पी ली। इस विद्रोह के विफल होने के बाद मार्क्स ने 'पूँजी' के शेष खण्डों को पूरा करने के लिए इस संगठन के मंत्री के पद से त्याग-पत्र

---

१. काटलिन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ५६८

२. मेयो—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १६

३. इस ग्रन्थ का ओमप्रकाश संगल द्वारा किया गया सुन्दर हिन्दी अनुवाद प्रगति प्रकाशन, मास्को से १९६५ में, मूल जर्मन ग्रन्थ के प्रकाशन के लगभग १०० वर्ष बाद छपा है।

४. मेयो—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २२

दे दिया। १८७५ से उसका स्वास्थ्य बहुत खराब रहने लगा। १४ मार्च १८८३ को वह दिवंगत हुआ। एंगल्ज़ ने उसकी मृत्यु पर अपने एक अमेरिकन मित्र को पत्र में लिखा—"मानव-जाति में आज एक मस्तिष्क कम हो गया, यह वस्तुत: वर्तमान युग का सबसे महत्वपूर्ण मस्तिष्क था।"

वैज्ञानिक समाजवाद का स्वरूप—कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों को आजकल मार्क्सवाद (Marxism) का नाम दिया जाता है, किन्तु उसने स्वयमेव इन्हें **वैज्ञानिक समाजवाद** (Scientific Socialism) का नाम दिया है। यह नाम पूर्ववर्ती समाजवादी विचारकों से मार्क्स की विचारधारा को पृथक् करने के लिए दिया गया है। मार्क्स यह मानता था कि उससे पहले के विचारकों ने समाजवाद की आदर्श अथवा हवाई योजनाएँ बनाई थीं, वे केवल आर्थिक विषमता के स्थान पर समाज में धन के न्यायोचित वितरण पर बल देते थे, किन्तु उन्होंने यह नहीं बताया था कि यह विषमता समाज में क्यों उत्पन्न होती है, इसका उत्पादन की विधियों के साथ क्या सम्बन्ध है, उन्होंने समाज की प्रगति और विकास के नियमों को समझने का प्रयत्न नहीं किया था। उनकी दूसरी बड़ी कमी यह थी कि उन्होंने समाजवाद को आदर्श तथा वांछनीय व्यवस्था मानते हुए भी यह नहीं बताया था कि इसकी स्थापना किस प्रकार किन पद्धतियों से की जानी चाहिए, इसके स्थापित होने की क्या सम्भावना है। फूरियर और सेण्ट साइमन जैसे विचारक धनियों पर यह भरोसा रखते थे कि वे समाजवाद की स्थापना करेंगे। अत: मार्क्स ने अपने से पूर्ववर्ती विचारकों का समाजवाद हवाई अथवा आदर्श योजनाओं वाला, स्वप्नलोकीय समाजवाद (Utopian Socialism) कहा है।

उसने अपने मत को वैज्ञानिक इसलिए कहा है कि उसने एक वैज्ञानिक की भाँति समाज के स्वरूप एवं विकास के नियमों की खोज करने का प्रयत्न किया था, उसने यह पता लगाया था कि समाज में परिवर्तन क्यों होते हैं, भविष्य में ये परिवर्तन किस प्रकार तथा किन दशाओं मे होंगे। वह अपने अध्ययन से इस परिणाम पर पहुँचा था कि मानव-समाज में परिवर्तन अकस्मात् और अकारण नहीं होते हैं, अपितु बाह्य प्रकृति में होने वाले परिवर्तनों की भाँति कुछ विशिष्ट नियमों के अनुसार होते हैं। इन नियमों की खोज के बाद मानव-समाज के सम्बन्ध में ऐसे वैज्ञानिक सिद्धान्तों का निरूपण किया जा सकता है जो कोरी कल्पनाओं पर आधारित न होकर मानव-जाति के वास्तविक अनुभवों पर और इसके विकास को संचालित करने वाले वैज्ञानिक नियमों पर आश्रित हों। मार्क्स का विचार था कि उसका मत ऐसी ही वैज्ञानिक सामग्री के आधार पर निश्चित किया गया है। अत: उसने उसे वैज्ञानिक समाजवाद (Scientific Socialism) का नाम दिया। इसके प्रधान सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

मार्क्स के प्रमुख सिद्धान्त—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectic Materialism)—यह मार्क्स के विचारों का मूलाधार है, उसके मतानुसार सारे संसार की सभी समस्याओं में यह हमारा यथार्थ पथ-प्रदर्शन करता है, इससे न केवल हमें वर्तमान काल में अपितु भविष्य में समाज में होने वाले परिवर्तनों की दिशा ज्ञात होती है। किन्तु यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि मार्क्स ने अपने ग्रन्थों में इसका कहीं सुस्पष्ट प्रतिपादन

नहीं किया है। इसके विषय में उसके बाद एंगल्ज़, लेनिन और स्तालिन ने अधिक विवेचन किया है। इस विषय में दूसरी स्मरणीय बात यह है कि उसने यह सिद्धान्त अर्थशास्त्र आदि सामाजिक विषयों के अध्ययन के आधार पर नहीं, अपितु इनका अनुशीलन करने से पहले ही अपने जीवन के आरम्भ में बना लिया था। पहले बताया जा चुका है कि हेगल से प्रभावित होते हुए भी उसने फ्यूरबाख के अनीश्वरवाद को तथा भौतिकवाद को स्वीकार किया था।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में दो शब्द हैं, इनमें पहला शब्द तो उस प्रक्रिया को स्पष्ट करता है जिसके अनुसार सृष्टि का विकास हो रहा है और दूसरा शब्द इस सृष्टि के मूल तत्व को सूचित करता है। यहाँ पहले भौतिकवाद का वर्णन करने के बाद द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का वर्णन किया जाएगा।

जड़ प्रकृति या भूत (Matter) **का स्वरूप और विशेषताएं**—मार्क्स विशुद्ध अद्वैतवादी है, वह इस सृष्टि का एकमात्र मूल तत्व जड़ प्रकृति या भूत (Matter) को समझता है। भूत का तात्पर्य अपनी इन्द्रियों से दिखाई देने वाला जड़ जगत् है। इसे सृष्टि का मौलिक तत्व मानने वाला सिद्धान्त भौतिकवाद (Materialism) कहलाता है। एंगल्ज़ के शब्दों में जो प्रकृति को (सारे जड़ चेतन जगत् का) मूल मानता है, ऐसे वाद को भौतिकवाद कहते हैं। मार्क्स का यह कहना है कि आत्मा का हम अनुभव नहीं कर सकते हैं, अतः उसका हमारे लिए कोई अस्तित्व नहीं है। इसके विपरीत मिट्टी, पेड़-पौधे, मकान आदि वस्तुएँ हमें प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ती हैं, वे हमारे लिए सर्वथा सत्य हैं। हमें अपने विचार का आधार प्रत्यक्ष सुस्पष्ट भौतिक वस्तुओं को बनाना चाहिए; आत्मा, ईश्वर जैसी अस्पष्ट वस्तुओं की मृगमरीचिका के पीछे नहीं दौड़ना चाहिए। पहले (पृ० ३००) यह बताया जा चुका है कि मार्क्स ईश्वर को मनुष्य की कल्पना की सृष्टि मानता था, अतः उसने जगत् का मूल तत्व उसे न मानकर इन्द्रियगोचर प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले जड़ पदार्थों को माना।

इससे यह स्पष्ट है कि मार्क्स वेदान्तियों या आस्तिकों की भाँति इस जगत् का मूल कारण या आरम्भिक स्रष्टा ईश्वर अथवा ब्रह्म जैसी कोई चेतन सत्ता नहीं मानता है। वेदान्त और हेगल अद्वैतवादी होते हुए विश्व का मूल एक चेतन सत्ता मानते हैं, मार्क्स अद्वैतवादी होता हुआ भी इसके सर्वथा विपरीत जगत् का मूल कारण जड़ प्रकृति या भूत को ही मानता है। उसके मत में जगत् का विकास अथवा उसके स्वरूप में परिवर्तन होना किसी बाहरी शक्ति के अधीन नहीं है, उसकी भीतरी शक्ति तथा उसका स्वभाव ही उसके लिए प्रेरक है। मार्क्स से पहले के भौतिकवादियों पर कई आक्षेप किए जाते थे: **पहला आक्षेप** यह था कि यदि जड़ प्रकृति ही इस सृष्टि का मूल है तो इसमें गति कहाँ से आई है, इसे गति देने वाली और इसका नियमन करने वाली प्रकृति तो हो नहीं सकती, क्योंकि वह जड़ है, अतः इसे आरम्भिक गति देने वाली, इसका नियन्त्रण करने वाली कोई चेतन सत्ता होनी चाहिए। **दूसरा** बड़ा आक्षेप यह था कि यदि जगत् का मूल कारण जड़ प्रकृति है तो इसमें चेतना कहाँ से आई है क्योंकि जड़ से जड़ वस्तु ही उत्पन्न हो सकती है। किन्तु यदि मार्क्स द्वारा बताई गई जड़ प्रकृति की विशेषताओं पर ध्यान दें तो ये आक्षेप हमें निराधार प्रतीत होंगे। मार्क्स ने

जड़ प्रकृति के स्वरूप के सम्बन्ध में निम्नलिखित विशेषताएँ और नियम बताए हैं—

१. गतिशीलता—जड़ प्रकृति सदैव स्वतः गतिशील (Matter in Motion) है। निरन्तर गति में बना रहना प्रकृति का स्वभाव है। वह एक क्षण के लिए भी निश्चल नहीं हो सकती। भले ही, ऊपर से हमें ईंट, पत्थर और मकान स्थिर दिखाई दें, वस्तुतः ये ऐसे नहीं हैं। ये सब अणुओं से मिलकर बने हैं और इनका अध्ययन करने वाले वैज्ञानिक हमें बताते हैं कि प्रत्येक अणु के भीतर उसका निर्माण करने वाले इलेक्ट्रोन तथा प्रोटोन सदैव गतिशील बने रहते हैं। अतः इनसे बनने वाला सारा जड़ जगत् सदैव स्वतः गतिशील है, उसे गति देने के लिए दूसरे व्यक्ति की शक्ति की जरूरत नहीं होती है। मार्क्स से पहले का भौतिकवाद यान्त्रिक (Mechanistic) कहलाता था, क्योंकि जिस प्रकार मशीन को चलाने के लिए उसे किसी बाह्य शक्ति की आवश्यकता होती है जो उसका बटन दबाकर, घड़ी आदि में चाबी देकर या किसी अन्य प्रकार से उसे चालू करे। मार्क्स के मत में जड़ प्रकृति की मशीन को चालू करने के लिए किसी भगवान् को मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि निरन्तर स्वयमेव चालू या गतिशील बना रहना जड़ प्रकृति का स्वभाव है। घड़ी को चलाने के लिए हमें कुछ समय बाद उसमें चाबी देना आवश्यक होता है, किन्तु प्रकृति स्वतः-चालित (Automatic) घड़ी है, उसमें चाबी भरने के लिए या उसे चलाने के लिए किसी दूसरी शक्ति को मानना आवश्यक नहीं है।

२. परिवर्तनशीलता—प्रकृति निरन्तर गतिशील होने के कारण परिवर्तनशील है, उसमें सदैव कुछ वस्तुओं का उद्भव और विकास होता है और कुछ वस्तुओं का ह्रास और विनाश होता है। प्रकृति निरन्तर अपने रूप बदलती रही है, उसमें कोई चिरन्तन, शाश्वत और स्थायी सत्ता नहीं है। परिवर्तन ही सृष्टिचक्र का शाश्वत नियम है। यह नियम मार्क्स से बहुत पुराना है। पश्चिमी जगत् में छठी शताब्दी ई० पू० में हिराक्लिट्स (५३५-४२५ ई० पू०) ने यह घोषणा की थी—"जगत् की सृष्टि उसका नाश है, उसका नाश ही उसकी सृष्टि है। स्थायी बनी रहने वाली कोई वस्तु नहीं है।" मार्क्स पर इस दार्शनिक का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। भारत में बुद्ध (५६३-४८८ ई० पू०) ने क्षणिकवाद का प्रतिपादन करते हुए कहा था—"प्रत्येक वस्तु क्षणिक अर्थात् एक क्षण टिकने वाली है" (यत् सत्तत्क्षणिकं)। मार्क्स भी प्रकृति में इसी क्षणिकवाद को तथा सतत परिवर्तन को मानता है। एंगल्ज़ ने लिखा है—"समस्त प्रकृति—छोटी वस्तु से लेकर बड़ी वस्तु तक—बालू-कण से सूर्य तक—सभी एक निरन्तर स्थिति में, एक निरन्तर प्रवाह में, अनवरत गति तथा परिवर्तन की स्थिति में हैं।"

३. सम्बद्धता—भौतिक जगत् की सब वस्तुएँ और घटनाएँ एक-दूसरे से पृथक्, स्वतन्त्र और असम्बद्ध न होकर एक-दूसरे से सम्बद्ध तथा एक-दूसरे पर निर्भर हैं। प्रकृति एक सुसम्बद्ध और संयुक्त समष्टि (Integrated Whole) है। किसी भी घटना को दूसरी घटनाओं से या वस्तुओं से पृथक् रूप में नहीं समझा जा सकता है। प्रत्येक घटना अन्य घटनाओं से घिरी होती है, उन सबका प्रत्येक घटना पर तथा प्रत्येक घटना का अन्य सब पर प्रभाव पड़ता है, इन्हें समझे बिना हम किसी घटना

का यथार्थ स्वरूप नहीं समझ सकते हैं। उदाहरणार्थ, सामन्तवाद या पूंजीवाद को ही लीजिए। इसे हम पृथक् रूप से एक सामाजिक संस्था के रूप में कभी नहीं समझ सकते, इसे ठीक तरह से समझने के लिए हमें इसके प्रादुर्भाव के समय की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और सांस्कृतिक—सभी प्रकार की परिस्थितियों का अध्ययन करना पड़ेगा, इन सबने इसके विकास में सहयोग दिया है, अतः समष्टि रूप से इनका अध्ययन किए बिना इसका यथार्थ स्वरूप नहीं माना जा सकता है।

४. **विरोधी तत्वों का संगम**—प्रत्येक जड़ पदार्थ में सदैव विरोधी तत्वों का संगम या उपस्थिति बनी रहती है। यह बात ऊपर से देखने में अटपटी लगती है, किन्तु सत्य है। उदाहरणार्थ, आप जिस कुर्सी पर बैठे इस पुस्तक को पढ़ रहे हैं, उसकी लकड़ी कड़ी और नरम दोनों है। यदि यह लकड़ी कड़ी न होती तो यह आपका बोझ कैसे सहारती। यह नरम भी है, यदि यह नरम न होती तो इसे कुल्हाड़ी से काटकर कुर्सी न बनाया जा सकता। अतः यह मानना पड़ता है कि लकड़ी में दो विरोधी गुण—कड़ापन और नरमी—पाए जाते हैं। इसी प्रकार बिजली में धन और ऋण विद्युत् के दो परस्पर विरोधी तत्व होते हैं, इनसे मिलकर ही बिजली बनती है। हेगल ने इसका प्रतिपादन करते हुए कहा था—"जो ऋणी के लिए ऋण का देना है, वही महाजन के लिए ऋण का लेना या पावना है। जो हमारे लिए पूर्व का रास्ता है, वही दूसरे के लिए पश्चिम का भी रास्ता है। बिजली में धन और ऋण के छोर दो अलग स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं।"

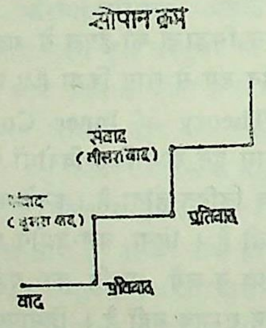
५. **आन्तरिक असंगतियाँ**—मार्क्स ने इस सिद्धान्त को हेगल से ग्रहण करते हुए इसे सामाजिक परिस्थितियों पर सर्वथा नवीन ढंग से लागू किया है। यह उसका **आन्तरिक विरोधों या असंगतियों का सिद्धान्त** (Theory of Inner Contradictions) है। उसका कहना है कि सृष्टि का विकास इन आन्तरिक विरोधों के कारण होता है। प्रत्येक वस्तु में उसका एक विरोधी तत्व निहित होता है। इनके पारस्परिक संघर्ष से परिवर्तन या विकास की प्रक्रिया चलती है। हिंसा, बल-प्रयोग एवं पीड़ा इस संघर्ष के अनिवार्य तत्व हैं। हमें अच्छा लगे या न लगे, प्रकृति का यही नियम है। माता की प्रसव-वेदना के बिना शिशु का जन्म सम्भव नहीं है। हिंसापूर्ण क्रान्ति परिवर्तनरूपी शिशु को जन्म देने के लिए समाजरूपी माता की प्रसूति-वेदना है। योरोप में पहले सामन्तवाद (Feudalism) की प्रथा प्रचलित थी, उसकी आन्तरिक असंगतियों और विरोधों से पूंजीवाद का जन्म हुआ। पूंजीवाद की आन्तरिक असंगतियों से समाजवाद का जन्म होगा, इसे आगे स्पष्ट किया जाएगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि मार्क्स प्रत्येक वस्तु में विरोधी तत्वों का संगम मानता है और इनके संघर्ष को सृष्टि के परिवर्तन और विकास का मूल कारण समझता है।

द्वन्द्वात्मक विकास के नियम—सृष्टि में यह परिवर्तन हेगल द्वारा बताई गई (देखिए ऊपर पृ० १२९-३३) द्वन्द्वात्मक पद्धति (Dialectical Process) से होता है। इस द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार प्रकृति का विकास कुछ निश्चित नियमों के अनुसार होता है। इसके प्रधान नियम निम्नलिखित हैं—

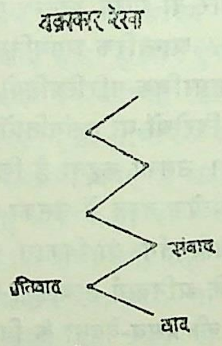
(क) यह विकास द्वन्द्वात्मक पद्धति से होता है। इस विषय में मार्क्स ने हेगल

का पूरा अनुसरण करते हुए कहा है कि यह वाद-प्रतिवाद-संवाद के त्रैत से सर्वदा निरन्तर ऊर्ध्व दिशा में, ऊपर की ओर होता है। पहले (पृ० १३१-३३) इस प्रक्रिया को कुछ चित्रों और उदाहरणों से स्पष्ट किया जा चुका है। यह विकास-क्रम पेचकस की गरारियों की भाँति टेढ़ी-मेढ़ी चक्करदार किन्तु ऊपर की ओर चढ़ने वाली रेखा की भाँति है। इसका प्रत्येक चक्कर या घुमाव वाद-प्रतिवाद-संवाद की तीन कड़ियों से मिलकर पूरा होता है। प्रत्येक कड़ी अपने से पहली कड़ी का विलोम, निषेध या विपरिणाम (Negation) होती है, किन्तु प्रत्येक चक्कर के अन्त में हम पहले की अपेक्षा थोड़ा ऊँचा उठ जाते हैं। इस प्रकार विकास से निरन्तर ऊँचा उठने की प्रक्रिया को हम नीचे दिए गए दो चित्रों से समझ सकते हैं। पहले चित्र सं० १ में सीढ़ी या सोपान के डण्डों के उदाहरण से समझाया गया है। इसमें सोपान के सबसे निचले डण्डे के एक सिरे पर वाद तथा दूसरे सिरे पर प्रतिवाद है, इन दोनों के संघर्ष से संवाद बनता है, यह सीढ़ी के ऊपरले डण्डे का एक सिरा है, यह नया दूसरा वाद बनता है, इस वाद-प्रतिवाद के संघर्ष से दूसरा संवाद तथा तीसरा वाद उत्पन्न होता है। चित्र सं० २ में इसी को ऊपर की ओर चढ़ती हुई गोमूत्राकार या वक्राकार रेखा से दिखाया गया है।

द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के ऊर्ध्वमुखी विकास के दो उदाहरण



चित्र सं १



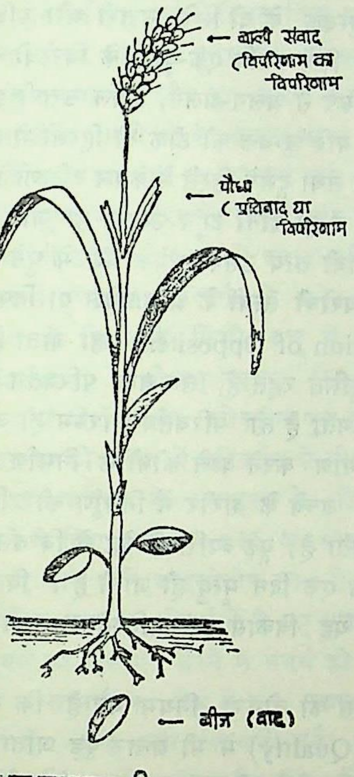
चित्र स २

इस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को समझाने के लिए मार्क्स तथा उसके अनुयायियों ने कुछ तो हेगल वाले उदाहरणों को दिया है और कुछ विज्ञान के नवीन दृष्टान्त दिए हैं। यहाँ इस विषय में एंगल्ज द्वारा दिए गए कुछ दृष्टान्तों का उल्लेख पर्याप्त होगा।[1] पहला उदाहरण पौधों का है। गेहूँ के पौधे के निम्नलिखित चित्र से यह स्पष्ट हो जाएगा। इसमें सबसे नीचे बीज या वाद (Thesis) है। इसे भूमि में बोने पर तथा जलवायु की अनुकूल परिस्थिति होने पर इसका विकास होता है, यह गलकर या नष्ट होकर अंकुरित होता है और पौधा बनता है। यह पौधे के विकास की दूसरी कड़ी प्रतिवाद (Antithesis) या विपरिणाम (Negation) है। तीसरी कड़ी पौधे में

---

१. एंगल्ज—एण्टी डुहरिंग, पृ० १५१-५६

गेहूँ की बाली का आना, इसके पकने पर गेहूँ के दाने बनना तथा पौधे का सूखकर नष्ट होना है—यह तीसरी दशा संवाद या **विपरिणाम का विपरिणाम** (Negation of Negation) है[1]। साम्यवादियों को यह दृष्टान्त बहुत पसन्द है। लेनिन ने लिखा था कि जई (Oats) हेगल की बताई पद्धति के अनुसार उगती है। दूसरा दृष्टान्त



पौधे का द्वन्द्वात्मक विकास

चित्र सं० ३

तितली का है। तितली वाद है, इसका अण्डे से निकलना प्रतिवाद या विपरिणाम है, इसके बाद अनेक दशाओं में से होते हुए अण्डे पैदा करना तथा मर जाना संवाद या विपरिणाम का विपरिणाम है। जड़ प्रकृति से विकास का तीसरा दृष्टान्त चट्टानों का लिया जा सकता है। तेज धूप, प्रबल आँधी और भीषण ठण्ड के प्रभाव से चट्टानें टूटती हैं और चूर्ण बनती हैं, यह वाद है। इस चूर्ण का वर्षा के जल द्वारा बहकर समुद्र में जाना प्रतिवाद है, बहुत काल तक समुद्र में रहने के बाद अनेक प्राकृतिक कारणों से इसका चट्टानों और पर्वतों का रूप धारण करना संवाद है। विचार के क्षेत्र में देखा जाए तो बीजगणित में अ (वाद) का प्रतिवाद या निषेध करने से—अ बनता है, इसका यदि निषेध किया जाए तो पुनः धनात्मक किन्तु उच्चतर राशि अ^{२} प्राप्ति होती है। विकास का यह पहला नियम हमें परिवर्तन या विकास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को, इसके विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध को बताता है, इसमें वाद, प्रतिवाद (विपरिणाम या निषेध) तथा संवाद (विपरिणाम के विपरिणाम या निषेध के निषेध) की तीन कड़ियाँ होती हैं, अतः अन्तिम कड़ी के आधार पर इसे विपरिणाम के विपरिणाम का नियम (Law of Negation of Negation) भी

१. Negation का हिन्दी अनुवाद प्रायः निषेध या प्रतिषेध किया जाता है, इससे किसी वस्तु का अभाव सूचित होता है। वस्तुतः यह प्रकृति का विकास अर्थात् एक दशा से दूसरी दशा में जाना है। इसके लिए सांख्यादि प्राचीन भारतीय दर्शनों में विपरिणाम शब्द का प्रयोग है, अतः यहाँ इसका व्यवहार किया गया है।

कहते हैं ।[1]

(ख) विकास का दूसरा नियम इसका **आन्तरिक विरोध से संचालित होना** है। पहले यह बताया जा चुका है कि प्रत्येक वस्तु में विरोधी तत्व और गुण मिले रहते हैं, उसमें एकता का और विरोधी तत्वों का मिश्रण रहता है। इसे चुम्बक के उदाहरण से समझा जा सकता है : एक ही चुम्बक के दो सिरे उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव (North and South Poles) हैं। ये सिरे यद्यपि एक-दूसरे के विरोधी और स्पष्ट रूप से भिन्न होते हैं, फिर भी ये पृथक् रूप से अलग-अलग, केवल उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव के रूप में नहीं रह सकते। यदि चुम्बक को ठीक दो हिस्सों में काट दिया जाए तो उसके एक हिस्से में उत्तरी ध्रुव तथा दूसरे हिस्से में केवल दक्षिणी ध्रुव हो, ऐसा नहीं होता है, अपितु दोनों टुकड़ों में ही दोनों ध्रुव उत्पन्न हो जाते हैं। इसका यह अर्थ है कि एक ही वस्तु में दो विरोधी तत्व उसके प्रत्येक अंश में घुसे होते हैं, अतः विकास के इस दूसरे नियम को **विरोधी तत्वों के अन्तःप्रवेश या विपरीत समवाय का नियम** (Law of Interpenetration of Opposites) कहा जाता है।

जब तक विरोधी तत्व प्रसुप्त या सन्तुलित रहते हैं, तब तक परिवर्तन नहीं होता है।[2] किन्तु जब एक तत्व प्रबल होने लगता है तो परिवर्तन आरम्भ हो जाता है। उदाहरणार्थ, हमारे शरीर में इसका निर्माण करने वाले कोषों के निर्माण और विध्वंस की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। बच्चे के शरीर में निर्माण की प्रक्रिया प्रबल होती है, अतः उसका तेजी से विकास होता है; बूढ़े व्यक्ति के देह में विध्वंस की प्रक्रिया प्रबल होती हैं, अतः उसका ह्रास तथा एक दिन मृत्यु हो जाती है। विरोधी तत्वों का यह संघर्ष निरन्तर चल रहा है, यह विकास एवं गतिशीलता का मूल कारण है।

(ग) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में विकास का तीसरा नियम यह है कि मात्रा (Quantity) में बड़ा अन्तर होने से गुण (Quality) में भी अन्तर पड़ जाता है। यह नियम प्रकृति में होने वाले आकस्मिक परिवर्तनों की व्याख्या करता है। वैसे तो सभी वस्तुओं में मात्रा के थोड़े-बहुत परिवर्तन सदैव होते रहते हैं, इनसे उनके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता, किन्तु एक विशेष मात्रा में परिवर्तन होने पर उनके गुणों में अन्तर आ जाता है। एक विशेष मात्रा (Nodal Point) तक पहुँचने पर यह परिवर्तन मानो सहसा छलाँग लगा के होता है। इसे **मात्रात्मक से गुणात्मक परिवर्तनों**

---

१. डॉ० सम्पूर्णानन्द जी ने 'समाजवाद' (ज्ञानपीठ, बनारस, १९६०) में यह लिखा है (पृ० १००) कि भारतीय दर्शन में सांख्य और वेदान्त की सृष्टि प्रक्रिया के समन्वय में हमें द्वन्द्वात्मक पद्धति की झलक मिलती है। जगत् का मूल स्वरूप ब्रह्म अखण्ड, अद्वय, सत् एवं चिन्मात्र है। इसे वाद कहा जा सकता है। यह अपने प्रतिवाद स्वरूप माया को अभिव्यक्त करता है। माया ब्रह्म से भिन्न होते हुए भी अभिन्न है। ब्रह्म और माया का समन्वय या संवाद ईश्वर है। ईश्वर (वाद) तथा अविद्या (प्रतिवाद) का संवाद पुरुष है। पुरुष (वाद) और प्रकृति (प्रतिवाद) है।

२. सांख्य दर्शन में इसी सिद्धान्त को इस रूप में कहा गया है—सत्व, रज और तम की साम्यावस्था प्रकृति होती है (सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः) ; इनमें से किसी एक तत्व के प्रबल होने पर सृष्टि का विकास होने लगता है।

के रूपान्तर का नियम (The Law of Transformation of Quantitative into Qualitative Changes) कहते हैं। कुछ उदाहरणों से इसका स्वरूप स्पष्ट हो जाएगा।

यदि हम पानी को गरम करें तो यह अनन्त मात्रा तक अधिकाधिक गरम नहीं होगा, किन्तु एक निश्चित बिन्दु अर्थात् १००° सेण्टीग्रेड पर एकदम वाष्प बनकर उड़ने लगेगा, यह एक गुणात्मक परिवर्तन है, तरल जल ने वाष्प के रूप में गैस का बिलकुल नया रूप और गुण धारण कर लिया है। इसी प्रकार यदि पानी को निरन्तर ठण्डा करते जाएँगे तो वह अनन्त मात्रा तक अधिकाधिक शीतल नहीं होगा, किन्तु शून्य सेण्टीग्रेड के तापमान पर जमकर बर्फ बन जाएगा, यह तरल जल का एक दूसरे ठोस रूप में गुणात्मक परिवर्तन है। किसी रस्सी पर हम यदि दबाव डालकर बढ़ाते जाएँगे तो अपनी सहन की मात्रा से दबाव अधिक होने पर यह रस्सी टूट जाएगी। प्रकृति में मात्रा से गुणात्मक परिवर्तन के अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते है। वैज्ञानिक हमें यह बताते हैं कि यदि किसी अणु में एक प्रोटोन (Proton) तथा एक इलेक्ट्रोन (Electron) है तो यह उद्जन (Hydrogen) गैस बन जाती है, किन्तु यदि इसमें एक अन्य प्रोटोन तथा इलेक्ट्रोन जुड़ जाए तो यह हीलियम गैस बन जाएगी। इस प्रकार इनकी संख्या में परिवर्तन से ही विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का निर्माण होता है। इसे अणुबम के उदाहरण से भी समझा जा सकता है। यूरेनियम से अणुबम बनाने के लिए यूरेनियम-२३५ का आइसोटोप (Isotope) चाहिए, इसमें सामान्य रूप से पाए जाने वाले आइसोटोप-२३८ से काम नहीं चलेगा, यहाँ केवल तीन मात्रा के आणविक भार के परिवर्तनों से यह गुणात्मक परिवर्तन हो गया है कि यूरेनियम-२३५ अणुबम का विस्फोट करने में समर्थ हो गया है।

सामाजिक क्षेत्र में इस प्रकार से सहसा होने वाले परिवर्तनों को हम क्रान्ति कहते हैं। कुछ समय तक शनैः-शनैः परिवर्तन होने के बाद औद्योगिक क्रान्ति, फ्रेंच राज्यक्रान्ति, रूसी राज्यक्रान्ति जैसे परिवर्तन सहसा होते हैं। उदाहरणार्थ, औद्योगिक क्रान्ति या पूँजीवाद का परिवर्तन होने से पहले उपनिवेशों की लूटपाट से कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में पूँजी एकत्र होने लगती है, दूसरी ओर किसानों के जमीनों से वंचित होने पर भूसम्पत्तिहीन सर्वहारा वर्ग (Proletariat) की संख्या बढ़ने लगती है। ये दोनों परिवर्तन शनैः-शनैः होते हैं, किन्तु शीघ्र ही ऐसा बिन्दु आ जाता है जब उद्योग-धन्धों और कारखानों को बनाने के लिए काफी पूँजी तथा कारखानों में मजदूरों का काम करने के लिए पर्याप्त व्यक्ति उपलब्ध हो जाते हैं। इसी समय समाज में औद्योगिक क्रान्ति होकर पूँजीवाद की स्थापना होती है।

यह नियम जड़ से चेतन की उत्पत्ति को भी स्पष्ट करता है। पहले यह बताया जा चुका है कि आस्तिक लोगों को भौतिकवाद पर एक प्रबल आपत्ति यह है कि जड़जगत् से चेतनाशक्तिसम्पन्न आत्मा की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि दोनों स्वरूपतः भिन्न हैं। मार्क्सवादी इस नियम के आधार पर कहते हैं कि विशेष दशाओं में जड़जगत् में जिस प्रकार गुणात्मक परिवर्तन दिखाई देते हैं, उसी प्रकार के परिवर्तनों से चेतना, मन और आत्मा उत्पन्न हुए हैं। जड़ और चेतन में यह अन्तर है कि जड़

पत्थर में स्वयमेव किसी प्रकार की प्रतिक्रिया करने की तथा प्रभाव ग्रहण करने की क्षमता नहीं है। यह शक्ति सर्वप्रथम प्रकृति में एक कोश वाले अमीबा नामक प्राणी में मिलती है, उसमें जीवन के प्रथम लक्षण दिखाई देते हैं। इसका सूक्ष्म विश्लेषण करके वैज्ञानिकों ने यह बताया है कि इसमें जीवन-शक्ति प्रोटोप्लाज़म नामक तत्व के कारण होती है; यह कार्बन, हाइड्रोजन, आक्सीजन, नाइट्रोजन और गन्धक के परमाणुओं का मिश्रण है। इस मिश्रण से ही इसमें चेतना का विकास उत्पन्न हुआ है। ज्यों-ज्यों इन कोशों की संख्या बढ़ती जाती है, इनसे नाना प्रकार के जीवन और प्राणी विकसित होते जाते हैं। इस विकास का उच्चतम रूप मनुष्यों में दिखाई देता है। उसमें बुद्धि अधिक होने के कारण उसके मस्तिष्क का अद्भुत विकास है। हाथी, शेर आदि की तुलना में मानव-मस्तिष्क अधिक विकसित है। हमारे मस्तिष्क में करोड़ों कोश या सेल हैं। वे सब मिलकर गुणात्मक परिवर्तन के नियम के कारण वह अनोखा कार्य करते हैं जो ये कोश पृथक्-पृथक् रहते हुए नहीं कर सकते। कोशों के विशेष प्रकार के संयोग, संहति या संगठन से ही चेतना, आत्मा और मन पैदा हो जाते हैं, इनके लिए कोई पृथक् चेतन सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं है[1]। मार्क्स के मतानुसार मानव-समाज के सभी क्षेत्रों में उपर्युक्त नियमों के अनुसार द्वन्द्वात्मक पद्धति से ही सब प्रकार का विकास होता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की आलोचना—मार्क्स के इस सिद्धान्त के दोनों तत्वों की उग्र आलोचना हुई है। भौतिकवाद की **पहली** आलोचना यह है कि यह आत्मतत्व की घोर उपेक्षा करता है। मार्क्स भारतीय चार्वाकों की भाँति प्रत्यक्षवादी है, वह इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले ज्ञान को ही प्रामाणिक मानता है। आत्मा को हम देख, सुन या छू नहीं सकते, अतः मार्क्स के मतानुसार यह भ्रम मात्र है। किन्तु इन्द्रियों से न दिखाई देने पर भी हमें अपनी आत्मा की अनुभूति इतनी प्रबलता से होती है कि इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कोई भी व्यक्ति पूरी ईमानदारी से यह नहीं कह सकता कि वह अपने अस्तित्व में विश्वास नहीं रखता या उसकी कोई सत्ता नहीं है। उसे सबसे पहले 'मैं हूँ' का ज्ञान होता है। अतः उसकी आत्मा की सत्ता उसके वैयक्तिक अनुभव के आधार पर स्वतःसिद्ध है। मार्क्स जितने बल से जड़जगत् की सत्ता सिद्ध करता है, दूसरे व्यक्ति उतनी ही प्रबलता से अनुभव के आधार पर आत्मा की सत्ता सिद्ध करते हैं। अतः उसका भौतिकवाद पूर्ण रूप से सत्य नहीं है।

दूसरी आलोचना चेतनतत्व के जड़जगत् के पदार्थों के संयोग से बनने और संचालित होने की है। यह सर्वथा अनुभव-विरुद्ध है। संसार में सर्वत्र चेतन व्यक्ति द्वारा जड़शक्ति के संचालन के उदाहरण देखे जाते हैं। चेतन व्यक्ति ही मोटर या रेल को बनाता या चलाता है। मोटर जड़-पदार्थ है, वह स्वयमेव अपने को न तो बना सकती है और न चला सकती है। इस प्रसंग में स्वयमेव चलने वाली आटोमैटिक घड़ी का उदाहरण भी दोषपूर्ण है। यह घड़ी यदि कुछ समय तक हाथ में बंधी न रहे

---

१. भारतीय दर्शन में धर्मकीर्ति ने 'प्रमाणवार्त्तिक' (३।५३६) में इसी प्रकार के नियम का प्रतिपादन करते हुए कहा है —न किंचिदेकमेकस्मात् सामग्रयाः सर्वसम्भवः। अन्यत्र (२।२८ में) यही विचार है—संहतौ हेतुता तेषाम्।

तो बन्द हो जाएगी, उसे पुनः किसी चेतन व्यक्ति द्वारा जब तक गति नहीं प्रदान की जाएगी, तब तक वह नहीं चलेगी। वस्तुत: जड़ पदार्थ में कोई गति स्वयमेव नहीं उत्पन्न हो सकती है। मार्क्स का उसे स्वयमेव गतिशील और विकासशील मानना समुचित नहीं प्रतीत होता है। ऐसा विकास और गति केवल चेतन पदार्थों में ही सम्भव है।

द्वन्द्वात्मक पद्धति के दोषों को पहले (पृ० १३८–३९) बताया जा चुका है। अत: यहाँ उसकी पुनरावृत्ति न करके, कुछ नई आलोचनाओं का उल्लेख होगा। **पहली** आलोचना यह है कि मार्क्स का यह कथन ठीक नहीं है कि सृष्टि में सम्पूर्ण विकास द्वन्द्वात्मक पद्धति से ही होता है। गेहूँ के बीज का अनुकूल परिस्थितियों में स्वयमेव स्वाभाविक विकास होता है, इसमें किसी व्यक्ति को उस समय तक कोई वाद, प्रतिवाद या संवाद नहीं दिखाई देता है जब तक कि वह हेगल या मार्क्स के सिद्धान्त को पढ़कर उसमें अगाध श्रद्धा और विश्वास न रखे। पौधे में किसी निष्पक्ष वैज्ञानिक को वाद-प्रतिवाद का कोई संघर्ष नहीं दिखाई देता है, यह हेगल और मार्क्स की कपोल कल्पना मात्र है। स्वयमेव हेगल और मार्क्स के अपने विचारों का विकास द्वन्द्वात्मक पद्धति से नहीं हुआ। इस विषय में मेयो ने लिखा है कि हेगल ने इतिहास के विषय में अपने सिद्धान्त पहले बनाए और बाद में उन्हें द्वन्द्वात्मक पद्धति के ढाँचे में ढाला। मार्क्स के बारे में भी यही कहा जाता है कि वह इसकी अपेक्षा आर्थिक तत्वों को अधिक महत्व देता था।[1] **दूसरी** आलोचना यह है कि संसार में विरोध और संघर्ष अवश्य मिलता है, किन्तु यह सामान्य रूप से होता है, द्वन्द्वात्मक पद्धति से नहीं होता है। द्वन्द्वात्मक पद्धति की दो विशेषताएँ ये हैं—विरोधी तत्वों का स्वयमेव संघर्ष करते हुए नए वाद-प्रतिवाद-संवाद उत्पन्न करना तथा इन तीनों कड़ियों की शृंखला में ऊपर की दिशा में आगे बढ़ते जाना। प्रकृति के जिन क्षेत्रों में हमें परस्पर विरोधी शक्तियों के संघर्ष और सन्तुलन के उदाहरण मिलते हैं, वहाँ द्वन्द्वात्मक पद्धति की उपर्युक्त विशेषताएँ नहीं दिखाई देती हैं। उदाहरणार्थ, एक पुल में या सौरमण्डल में विरोधी शक्तियों से काम हो रहा है, पर वहाँ द्वन्द्वात्मक पद्धति की उपर्युक्त विशेषताएँ दृष्टिगोचर नहीं होती हैं। **तीसरी** आलोचना यह है कि द्वन्द्वात्मक पद्धति को पुष्ट करने के लिए केवल दृष्टान्त दिए गए हैं, प्रमाण नहीं दिए गए। इन दृष्टान्तों में भी बड़ी खींच-तान और मनमानापन है। यदि कुछ देर के लिए इन्हें सही भी मान लिया जाए तो भी यह कल्पना करना ठीक न होगा कि भौतिक जगत् में जो नियम काम करते हैं, वही नियम उसी रूप में मानव-समाज में भी लागू हो सकते हैं। वस्तुत: प्राणिशास्त्र और जीवशास्त्र के नियम इतिहास के और अर्थशास्त्र के नियमों से भिन्न प्रकार के हैं। एंगल्ज़ और लेनिन ने इस प्रवृत्ति का विरोध किया था। लेनिन ने यह कहा था कि जीवशास्त्र के विचारों को हमें सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में नहीं लाना चाहिए।

हेगल और मार्क्स की तुलना—मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति का विचार हेगल से ग्रहण किया था, अत: इस प्रसंग में दोनों के विचारों की तुलना करना समुचित प्रतीत होता है। दोनों यद्यपि द्वन्द्वात्मक पद्धति में विश्वास रखते हैं, जगत् की अन्तिम

---

१. मेयो—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ५५

सत्ता एक ही तत्व को मानने के कारण अद्वैतवादी (Monists) हैं, तथापि इनमें कई मौलिक मतभेद हैं। **पहला भेद** जगत् के मूल तत्व के सम्बन्ध में है। हेगल इसे एक चेतना सत्ता—विश्वात्मा का प्रपंच या विस्तार मानता है (पृ० १२७), किन्तु मार्क्स इसे जड़ प्रकृति मानता है। इस प्रकार यदि एक अध्यात्मतत्व में विश्वास रखता है तो दूसरा भौतिकवाद (Materialism) का उपासक है। एक का यह मत है कि जगत् की सभी वस्तुएँ विश्वात्मा (Weltgeist) से प्रादुर्भूत हुई हैं, वही सबका मूल स्रोत है, दूसरे के मतानुसार जड़ प्रकृति में सब वस्तुओं का विकास हुआ है, इससे भिन्न कोई चेतन सत्ता या आत्मा नहीं है। हेगल का प्रसिद्ध सिद्धान्त यह था कि इस जगत् में बुद्धिमय तत्व ही वास्तविक है (The Rational is real)। किन्तु मार्क्स यह मानता है कि जड़ प्रकृति ही वास्तविक है। इससे यह स्पष्ट है कि मार्क्स का दर्शन हेगल के दर्शन से उल्टा है। उसमें आत्मा के स्थान पर भौतिक तत्व को प्रमुखता दी गई है। अतः मार्क्स ने 'पूँजी' के दूसरे संस्करण के परिशिष्ट के अन्त में इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा था—"हेगल के यहाँ द्वन्द्ववाद सिर के बल खड़ा है। यदि आप उसके रहस्यमय आवरण के भीतर ढँके हुए विवेकपूर्ण सार-तत्व का पता लगाना चाहते हैं तो आपको उसे उलटकर फिर पैरों के बल सीधा खड़ा करना होगा।"[1] मार्क्स का यह अभिप्राय है कि हेगल का दर्शन उल्टा था, वह शीर्षासन किए खड़ा था, उसने उसे पैरों के बल सीधा खड़ा कर दिया है।

दूसरा महत्वपूर्ण भेद यह है कि हेगल इतिहास की दार्शनिक व्याख्या करता है, मार्क्स इसकी आर्थिक व्याख्या करता है। पहला इसे विश्वात्मा का विकास मानता है, यह विकास राष्ट्रों के रूप में होता है (पृ० १४१-४२), इसकी प्रधान प्रेरक शक्तियाँ विचार हैं, इतिहास स्वतन्त्रता के विचार को पूर्ण बनाने की ओर बढ़ रहा है। किन्तु मार्क्स का यह मत है कि इतिहास का निर्माण आर्थिक कारणों से होता है, इसमें प्रधान स्थान **राष्ट्रों** का नहीं, किन्तु परस्पर संघर्ष करने वाले **सामाजिक वर्गों** का है। इतिहास की घटनाओं की प्रधान प्रेरक शक्ति उत्पादन के साधन और आर्थिक उत्पादन का ढाँचा होता है, विचार नहीं होते हैं। हेगल की कल्पना में इतिहास का अन्तिम लक्ष्य विश्वात्मा का चरम विकास है, मार्क्स की दृष्टि में इसका लक्ष्य ऐसा समाज उत्पन्न करना है जिसमें कोई वर्ग नहीं होंगे और किसी प्रकार का शोषण नहीं होगा। सेबाइन ने दोनों के भेद का प्रतिपादन करते हुए कहा है[2]—"हेगल ने यह कल्पना की थी कि योरोप के इतिहास का चरम उत्कर्ष जर्मन राष्ट्र के अभ्युत्थान में होगा। वह उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा था जब जर्मनी योरोपियन सभ्यता का आध्यात्मिक नेतृत्व ग्रहण करेगा। मार्क्स की यह कल्पना थी कि इतिहास का चरम उत्कर्ष सर्वहारा वर्ग के उत्थान के रूप में होगा, यह पूंजीवाद के विकास का प्रधान सामाजिक परिणाम होगा। वह उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा था जब यह वर्ग आधुनिक समय में प्रधान स्थान ग्रहण करेगा। हेगल के इतिहासविषयक सिद्धान्त के अनुसार इसमें प्रधान प्रेरक शक्ति स्वयमेव विकसित होने वाली आध्यात्मिक सत्ता है, यह क्रमशः विभिन्न

१. मार्क्स—पूंजी (प्रगति प्रकाशन, मास्को), पृ० २८
२. सेबाइन—हिस्टरी आफ पोलिटिकल थाट, पृ० ६२१

राष्ट्रों का रूप धारण करती है । मार्क्स के मत में यह प्रेरक शक्ति उत्पादक शक्तियों की स्वयमेव विकसित होने वाली पद्धति है, यह आर्थिक वितरण तथा सामाजिक वर्गों की मौलिक पद्धतियों के रूप में मूर्त्त रूप धारण करती है । हेगल के मत में इतिहास के कार्य करने का प्रधान साधन (Mechanism) राष्ट्रों के बीच में होने वाले युद्ध थे, मार्क्स के मत में यह विभिन्न वर्गों में होने वाले क्रान्तिकारी संघर्ष थे । दोनों व्यक्ति इतिहास के प्रवाह को पहले से ही निश्चित दिशा की ओर आगे बढ़ने वाला समझते थे ।"

इतिहास की भौतिकवादी या आर्थिक व्याख्या (Materialist or Economic Interpretation of History)—मार्क्स ने द्वन्द्ववादी भौतिकवाद (Dialectic Materialism) के सिद्धान्त का उपयोग करते हुए मानव-इतिहास में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों और घटनाओं के बारे में यह बतलाया है कि ये सभी परिवर्तन भौतिक अथवा आर्थिक कारणों से होते हैं, अतः उसका यह सिद्धान्त इतिहास की आर्थिक या भौतिकवादी व्याख्या कहलाता है । एंगल्ज ने मार्क्स की समाधि पर दिए गए अपने सुप्रसिद्ध भाषण में कहा था—"मार्क्स का एक महान् कार्य मानव-इतिहास में विकास के नियम की खोज था, उसने अब तक की विचारधाराओं के झाड़-झंखाड़ में छिपे हुए इस सरल तथ्य का पता लगाया था कि मनुष्य-जाति को राजनीति, विज्ञान, धर्म आदि का विकास करने से पहले खाने-पीने की, निवास की और कपड़ों की आवश्यकता है । अतएव एक निश्चित समय में एक निश्चित जाति में जीवन-निर्वाह के तात्कालिक भौतिक साधनों का उत्पादन एवम् आर्थिक विकास की मात्रा एक एक ऐसी नींव होती है जिस पर उस जाति की राज्यविषयक संस्थाएँ, कानूनी विचार, कला एवम् धार्मिक विचार आधारित होते हैं, अतः इसी दृष्टि से उन सब वस्तुओं की व्याख्या की जानी चाहिए ।"[1]

यह बड़े आश्चर्य और दुर्भाग्य का विषय है कि मार्क्स ने अपने ग्रन्थों में कहीं भी सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध और विशद् रूप से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया । उसके विभिन्न ग्रन्थों में यत्र-तत्र बिखरे हुए कुछ उद्धरण ही इस पर थोड़ा-बहुत प्रकाश डालते हैं, एंगल्ज ने तथा परवर्ती लेखकों ने इसकी व्याख्या की है । इनके आधार पर इस सिद्धान्त का संक्षिप्त स्वरूप निम्नलिखित है ।

इस सिद्धान्त का मौलिक तत्व यह है कि मनुष्य के जीवन के लिए भोजन पहली आवश्यकता है, उसका जीवित रहना इस बात पर निर्भर है कि वह प्रकृति के साधनों से अपने लिए कितनी भोजन-सामग्री प्राप्त कर सकता है । अतः मनुष्य के सब कार्यों में भोजन-सामग्री या आहार का उत्पादन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है । मनुष्य अकेला रहते हुए जितना उत्पादन कर सकता है, उससे कहीं अधिक उत्पादन दूसरे व्यक्तियों के साथ मिलकर समाज का निर्माण करके कर सकता है । अतः जीवन के लिए आवश्यक पदार्थों के उत्पादन की दृष्टि से समाज की रचना होती है । किन्तु समाज इन वस्तुओं के उत्पादन से समाज के सभी सदस्यों को सन्तुष्ट नहीं रख सकता

१. मार्क्स—सेलेक्टिड वर्क्स, खं० १, पृ० १६

है। सभी समाजों में निर्धन व्यक्तियों को असन्तोष बना रहता है, इससे समाज में अशान्ति उत्पन्न होती है। मनुष्य यह अनुभव नहीं करता है कि यह असन्तोष उत्पादन के साधनों के दोषपूर्ण होने का परिणाम है। वह केवल ऐसे दूसरे स्वर्गलोक की कल्पना करता है जहाँ वह इन सब असन्तोषों, अभावों और चिन्ताओं से मुक्त होकर अनन्त सुखों का उपभोग करेगा; इस प्रकार दोषपूर्ण उत्पादन-पद्धति धर्म की संस्था को जन्म देती है। यह जनता के लिए अफीम का काम करती है, इसके नशे में परलोक के और स्वर्ग के आनन्दों की सुखद कल्पना से जनता वर्तमान जीवन के भीषण कष्टों की व्यथा को भूल जाती है। इसका निर्माण समाज में प्रभुताशाली वर्ग अपना प्राधान्य बनाए रखने के लिए करता है, क्योंकि समाज में अनादिकाल से दो वर्ग चले आ रहे हैं, एक तो उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व करने वाला शोषक वर्ग है और दूसरा इन साधनों से वंचित शोषित वर्ग। शोषक वर्ग राज्य की व्यवस्था का, कानूनों का तथा सामाजिक संस्थाओं का निर्माण उत्पादन पर अपना प्रभुत्व बनाए रखने की दृष्टि से करता है। अतः आर्थिक परिस्थितियाँ ही मनुष्य के आचार-विचार का, धर्म का, नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं, कला एवम् सभ्यता का निर्माण करती हैं और उनका स्वरूप निश्चित करती हैं। मार्क्स ने इसे सूत्र में यों कहा है—"मनुष्यों की चेतना उनकी सत्ता को निश्चित नहीं करती है, अपितु इसके विपरीत उनकी सामाजिक चेतना (भौतिक परिस्थितियाँ) उनकी चेतना (राजनीतिक तथा सामाजिक संस्थाओं के स्वरूप) को निर्धारित करती है।" कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

कुछ प्राचीन यायावर या फिरन्दर (Nomadic) समाजों में घोड़ा सम्पत्ति को प्राप्त करने एवम् सञ्चय करने का प्रधान साधन था। अतः यह घोड़ा ही उनके आर्थिक जीवन का आधार या नींव (Foundation) था, इसी पर इन समाजों का ऊपरी ढाँचा (Superstructure)—इसकी राजनीतिक संस्थाएँ, धर्म, कानून तथा सामाजिक संस्थाएँ—टिकी हुई थीं। इस समाज के नेता वही लोग थे जिनके पास सम्पत्ति का साधन—घोड़े अधिक मात्रा में थे, उन्हीं के हाथ में सारी शासन-सत्ता थी, वही समाज की प्रथाओं, रूढ़ियों और कानूनों का निर्माण करते थे। धर्म में भी इसका स्पष्ट प्रभाव था, क्योंकि इसमें भगवान् की कल्पना इस रूप में की जाती थी कि वह तेज घोड़े पर सवार एक शक्तिशाली पुरुष है। इस समाज में शासन और न्याय के विचारों का स्वरूप भी अधिक घोड़े रखने वाले सरदार ही निश्चित करते थे। इसी प्रकार जिस समाज में उत्पादन का आधार भूमि पर होता है, वहाँ समाज में सत्ता और प्रतिष्ठा अधिक भूमि रखने वाले जमींदारों, जागीरदारों और ताल्लुकेदारों को प्राप्त होती है; समाज की राजनीतिक, कानूनी और धार्मिक संस्थाएँ जमींदारों द्वारा अपने स्वार्थों को सुरक्षित बनाने की दृष्टि से निर्धारित की जाती हैं। औद्योगिक समाज में इनका निर्धारण पूंजीपतियों द्वारा अपने स्वार्थ के लिए किया जाता है।

मानव-इतिहास के पांच युग—मार्क्स के अनुयायियों ने मानव-इतिहास के विकास पर आर्थिक कारणों का प्रभाव स्पष्ट करने के लिए इसे पाँच युगों में बाँटा है। इनमें पहले तीन युग बीत चुके हैं, चौथा युग चल रहा है और पाँचवाँ युग अभी

आता है। पहला **आदिम साम्यवादी** (Primitive Communist) युग है। यह समाज की प्राचीनतम दशा है। एंगल्ज़ ने अमेरिकन रैड इण्डियनों की एक जन-जाति—इरोकुओई के सम्बन्ध में लुई मोर्गन द्वारा लिखी एक पुस्तक **प्राचीन समाज** (Ancient Society) के आधार पर इसकी कल्पना की थी। इस युग में मनुष्य अपना आहार प्रधान रूप से फलों के सञ्चय, पशुओं और मछलियों आदि के शिकार से करता था। इसके लिए पहले पत्थर के तथा बाद में ताम्बे, काँसे, लोहे से बने हथियारों का तथा तीर-कमान का उपयोग होता था। यही उत्पादन के साधन थे। उस समय परिस्थितियाँ ऐसी थीं कि आहार-अन्वेषण के तथा किसी-न-किसी प्रकार का घर बनाने के कार्य सब लोगों द्वारा मिल-जुलकर ही किए जा सकते थे। संयुक्त श्रम करने के कारण उत्पादन के साधनों पर तथा उससे मिलने वाली वस्तुओं पर सबका अधिकार होता था। उस समय उत्पादन के साधनों पर किसी व्यक्ति का अधिकार नहीं था, अतः इसे रखने वाले किसी विशेष वर्ग का अस्तित्व नहीं था, समाज शोषक और शोषित के दो वर्गों में नहीं बँटा हुआ था। उस समय समाज में सर्वत्र समानता और साम्यवाद का साम्राज्य था, किसी प्रकार की विषमता नहीं थी।[1]

दूसरा युग **दास-पद्धति** (Salve System) का था। इसमें मनुष्य ने पशु-पालन और खेती का आविष्कार किया। यह उत्पादन प्रणाली में पहला परिवर्तन था, अब जीवन-निर्वाह आखेट और आहार-सञ्चय के स्थान पर खेती और पशुपालन से किया जाने लगा। इस उत्पादन प्रणाली में यह लाभ था कि एक मनुष्य भूमि पर परिश्रमपूर्वक खेती करके कई मनुष्यों द्वारा खाने योग्य भोजन-सामग्री उत्पन्न कर सकता था। इस प्रकार इस युग में यह सम्भव हो गया कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों पर आधिपत्य स्थापित करके तथा उनके परिश्रम से लाभ उठाकर, स्वयं बिना कुछ काम करते हुए मौज से जीवन बिता सके। किन्तु ऐसा जीवन वही बिता सकता था जो भूमि के बड़े हिस्से पर अपनी शक्ति से अधिकार कर ले तथा दूसरे व्यक्तियों को दास बनाकर उनके श्रम से अपनी खेती का या पशुपालन का काम कराए। अतः इस युग में स्वाभाविक रूप से समाज में दो वर्ग उत्पन्न हो गए—पहला वर्ग दास रखने वाले स्वामियों तथा जमींदारों का था और दूसरा वर्ग दासों का था। इस युग में सर्वप्रथम दास-प्रथा का आविर्भाव हुआ, अतः इसे **दास-पद्धति का युग** कहते हैं। इसमें दासों के स्वामी दासों से बड़ी नृशंसता, कठोरता और क्रूरता से अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए काम लेते थे। दासों के निर्मम शोषण से उनमें प्रतिरोध और विद्रोह की भावना उत्पन्न हुई। इसे कुचलने के लिए उत्पीड़न के एक नए साधन—राज्य का आविष्कार किया गया, इससे पहले आदिम साम्यवाद के युग में राज्य की संस्था नहीं थी। मार्क्स यह मानता है कि राज्य का प्रधान कार्य शोषक वर्ग के हितों को सुरक्षित बनाना

---

१. भारत के प्रसिद्ध साम्यवादी नेता श्रीपाद डांगे ने अपनी पुस्तक 'भारत—आदिम साम्यवाद से दास-प्रथा तक' (पीपल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९५७) में वैदिक युग के आरम्भ में ऐसी दशा की कल्पना की है (पृ० ७१-८६)। उनके मतानुसार यज्ञ आर्यसाम्यसंघ की सामूहिक उत्पादन प्रणाली थी, उन्होंने यज्ञ की व्युत्पत्ति का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि इसका मूल धात्वर्थ है—सब व्यक्तियों द्वारा वस्तुओं का तथा सन्तानों का उत्पादन मिलजुलकर करना (पृ० ८७)।

तथा इसी दृष्टि से कानून आदि की व्यवस्था को बनाना है। इस युग में राज्य के अतिरिक्त दूसरा महत्वपूर्ण तत्व विषमता का था। पहले युग में अमीर-गरीब का कोई भेद नहीं था, अब दासों के स्वामी उनसे परिश्रम कराके उसका लाभ उठाते हुए सम्पन्न एवं समृद्ध होने लगे।

फिर भी मानव-समाज की प्रगति में इस युग ने बड़ा सहयोग दिया। इस युग में श्रम-विभाजन का अधिक विकास हुआ। खेती करने वालों तथा विभिन्न उद्योग-धन्धे करने वालों के विशेष वर्ग उत्पन्न हुए। खेती में अन्न के अतिरिक्त सब्जियों और फलों का उत्पादन हुआ, उत्पादन के लिए नए प्रकार के पटेले (Harrow) व दरांती के आविष्कार हुए, मनुष्यों ने दासों के श्रम के अतिरिक्त जानवरों को पालतू बनाकर उनकी शक्ति से लाभ उठाना शुरू किया। मजदूरों के विशाल समूहों का उपयोग करते हुए बड़े-बड़े बांध, सिंचाई की व्यवस्थाएँ, सड़कें, पोत और शहर बनने लगे।

किन्तु शनैः-शनैः ऐसा समय आया जब इस पद्धति से होने वाले उत्पादन में अधिक वृद्धि की सम्भावना समाप्त हो गई, क्योंकि दासों के स्वामियों ने दासों का सस्ता श्रम उपलब्ध होने के कारण उत्पादन के साधनों को उन्नत करने की ओर ध्यान नहीं दिया। इस युग में दासों को अपने परिश्रम से उत्पन्न की गई वस्तुओं पर कोई स्वत्व नहीं था, अतः उन्हें उत्पादन बढ़ाने में कोई दिलचस्पी नहीं थी। अतः उत्पादन के साधनों की उन्नति में अवरोध उत्पन्न हो गया। इसका निवारण सामाजिक क्रान्ति से ही हो सकता था। यह दासों के विद्रोहों से तथा विदेशी आक्रमणों से सम्पन्न हुआ। दास-पद्धति अपने आन्तरिक विरोधों से विनष्ट होने लगी तथा इसका स्थान सामन्तवादी पद्धति ने ले लिया। दास-पद्धति का सर्वोत्तम रूप हमें प्राचीन यूनान के एथेन्स, स्पार्टा आदि के राज्यों में दिखाई देता है।

तीसरा युग **सामन्तवादी पद्धति** (Feudal System) का है। इसमें उत्पादन के साधनों पर सामन्तों का शासन होता है। राजा आवश्यकता पड़ने पर सैनिकों को देने की एवं सैनिक सेवा प्रदान करने की कुछ शर्तों के साथ राज्य की भूमि को अपने प्रमुख साथियों या सरदारों में बाँट दिया करता था। ये सरदार सामन्त (Feudal Lords) कहलाते थे। उत्पादन के प्रधान साधन—भूमि पर इनका अधिकार था। खेती करने वाले किसान इनके वशवर्ती थे, यद्यपि ये दासों की भाँति पूर्ण रूप से उनकी सम्पत्ति नहीं थे। अतः इन्हें अर्द्धदास या भूदास (Serf) कहा जाता था। इन्हें भूदास कहने का यह कारण था कि वे अपनी भूमि के साथ बँधे हुए होते थे, उसे छोड़कर अन्यत्र जाने की या स्वतन्त्र कारोबार करने की इन्हें स्वतन्त्रता नहीं थी। इन्हें सामन्तों से अपने निर्वाह के लिए जमीन मिलती थी, किन्तु इसके बदले में इन्हें अपने जमींदारों की जमीन की जुताई-बुआई आदि बेगार के रूप में करनी पड़ती थी, युद्ध के समय उनकी सेना में सिपाहियों के रूप में भरती होना पड़ता था। इन्हें जमींदारों या सामन्तों को कई प्रकार के कर देने पड़ते थे, इन्हें देने के बाद शेष बचने वाली सम्पत्ति पर ही इनका अधिकार होता था। इस युग में उत्पादन के छोटे-मोटे साधनों पर कारीगरों का स्वामित्व होता था, अतः इनको उन्नत करके इनसे उत्पादन बढ़ाने में

उनकी गहरी दिलचस्पी थी। इस कारण इस समय उद्योग-धन्धों के उत्पादन में तथा व्यापार के विकास में अभूतपूर्व विकास हुआ। नगरों का तथा नगरों में रहने वाले व्यापारियों का, वकालत, डाक्टरी आदि विभिन्न पेशे करने वाले नगरवासी मध्यम वर्ग (Bourgeoise) का विकास होने लगा। इस युग में समाज प्रधान रूप से चार वर्गों में विभक्त था—(१) सामन्त वर्ग, (२) पादरी वर्ग, (३) नगरवासी स्वतन्त्र नागरिकों का मध्यम वर्ग, (४) भूमि के साथ बँधे हुए किसान या भूदास। शनैः-शनैः सामन्त एवं पादरी वर्ग ने मिलकर उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखने वाले विशेषाधिकारप्राप्त उच्च एवं कुलीन वर्ग (Aristocracy) का रूप धारण किया। समाज में उच्च, मध्यम एवं भूदासों और मजदूरों के तीन ही वर्ग रह गए। इतिहास में यह स्थिति १३वीं-१४वीं शताब्दी तक रही। इस युग में समूची शासन-पद्धति उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखने वाले एवं शोषण करने वाले सामन्त वर्ग के हाथ में थी; कानून और धर्म इसी के पृष्ठपोषक थे।

किन्तु मध्ययुग की समाप्ति पर सामन्त युग की उत्पादक शक्तियों (Productive forces) में तथा उत्पादन-सम्बन्धों (Production relations) में परिवर्तन आने लगे। कृषक जमींदारों के अत्याचारपूर्ण बन्धनों से स्वतन्त्र होने तथा अपने परिश्रम से उत्पन्न की गई पूरी पैदावार को स्वाधीन रूप से बेचने के लिए तथा सामन्ती करों से मुक्ति पाने के लिए संघर्ष करने लगे। नगरों के व्यापारी वर्ग ने १६वीं-१७वीं शताब्दी के भौगोलिक, वैज्ञानिक, प्राविधिक आविष्कारों से लाभ उठाते हुए व्यापार और व्यवसाय की असाधारण उन्नति की। इससे इस युग में पूँजीवादी उत्पादन की पद्धति उत्पन्न हुई। इसमें एक व्यक्ति पूँजी लगाकर उत्पादन को अधिक मात्रा में बढ़ाकर व्यापार की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करता था। पहले पूँजीपति इस पूंजी को अपने घरों में काम करने वाले कारीगरों को देकर उनसे माल का उत्पादन कराता था, बाद में वह इस पूँजी से सूत कातने और कपड़ा बुनने का मशीनें खरीदकर, उन्हें एक कारखाने में लगाकर मजदूरों के श्रम से माल का उत्पादन करने लगा। यह सामन्तवादी व्यवस्था का एक आन्तरिक विरोध था। अब नवीन बूर्जुआ वर्ग को कारखाने चलाने के लिए ऐसे मजदूरों की आवश्यकता थी जो अपनी भूमि से न बँधे हों, उनके पास कोई सम्पत्ति न हो तथा भुखमरी से बचने के लिए वे अपना श्रम इन कारखानों में बेचने के लिए बाधित हों। इन कारखानों के माल को खपाने के लिए एक विशाल राष्ट्रीय मण्डी की आवश्यकता थी; किन्तु इसमें एक बड़ी बाधा विभिन्न सामन्तों द्वारा अपने प्रदेशों में लगाए जाने वाले विभिन्न कर और चुंगियाँ थीं, इनसे व्यापार में बड़ी अड़चन पड़ रही थी, अतः विभिन्न सामन्तों द्वारा अपनी जमींदारियों में लगाए गए करों को हटाने की आवश्यकता थी। इसके साथ ही व्यापारी वर्ग कुलीन वर्ग के विशेषाधिकारों का विध्वंस करके इस वर्ग की प्रभुता के स्थान पर अपनी प्रभुता स्थापित करना चाहता है। सामन्त पद्धति से असन्तुष्ट सभी वर्ग—भूदास, शहरों में घोर दरिद्रता में रहने वाला निम्न वर्ग, सामन्त-प्रथा के विरुद्ध विद्रोह करने में नगरवासी बूर्जुआ मध्यम वर्ग का सहयोग करते हैं। सामन्त पद्धति के ध्वंसावशेषों पर पूँजीपति पद्धति का आविर्भाव होता है।

चौथा युग **पूंजीपति पद्धति** (Capitalist System) का है। इसमें उत्पादन के प्रधान साधन कल-कारखानों पर पूँजीपतियों का स्वामित्व होता है। ये उत्पादन के साधनों से सर्वथा वंचित मजदूरों का अधिकतम शोषण करते हैं। इस युग में वाष्प, बिजली आदि की शक्तियों का उपयोग करने से उत्पादन की मात्रा में अधिकतम वृद्धि होती है, इससे विश्वव्यापी व्यापार एवं आर्थिक पद्धति विकसित हो जाती है। उत्पादन की नवीन प्रणाली के कारण सामाजिक सम्बन्धों में महत्वपूर्ण परिवर्तन होने लगते हैं। अब समाज में वर्ग-संघर्ष उग्र होने लगता है, सामन्त पद्धति के तीन वर्गों के स्थान पर केवल छोटा-सा पूँजीपति वर्ग और उत्तरोत्तर संख्या में बढ़ने वाला श्रमजीवी वर्ग ही रह जाता है। बड़ी-बड़ी मशीनों के विकास से इनके लिए अधिक पूँजी आवश्यक होती है। यह पूंजी बहुत थोड़े व्यक्तियों के हाथों में होती है, अतः पूँजीपति वर्ग की संख्या निरन्तर घटती जाती है। दूसरी ओर मध्यम वर्ग की कठिनाइयाँ बढ़ती हैं, हर पीढ़ी में इस वर्ग के अनेक व्यक्तियों को मजदूरी के लिए विवश होना पड़ता है, मध्यम वर्ग की संख्या घटने लगती है, श्रमजीवी वर्ग में विफल पूँजीपतियों के तथा मध्यम वर्ग के सम्मिलित होने के कारण मजदूर वर्ग में विलक्षण और विशाल वृद्धि होती है। पूंजीपति वर्ग संख्या में अत्यलप होता हुआ भी उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व और नियन्त्रण रखने के कारण मजदूर वर्ग का भीषण शोषण करता है, मजदूर जीविका का कोई अन्य साधन न होने के कारण भुखमरी से बचने के लिए पूँजीपतियों के शोषण का शिकार बनते हैं। किन्तु इससे उनके हृदय में इस पद्धति के प्रति प्रतिरोध और असन्तोष की भीषण ज्वाला उद्बुद्ध होती है। इसे दबाने के लिए पूँजीपति राजनीतिक संस्थाओं को अपने हाथ में लेते हैं। सामन्तयुगीन राजतन्त्र के स्थान पर संसदीय लोकतन्त्र की स्थापना की जाती है, लोगों को वोट का अधिकार तथा कुछ स्वतन्त्रताएँ प्रदान की जाती हैं, कानून की दृष्टि में सबके समान होने की घोषणा की जाती है। किन्तु इस लोकतन्त्रीय शासन में भी वास्तविक शासन-सत्ता पूँजीपतियों के ही हाथों में रहती है। शनैः-शनैः पूंजीवाद अपने भीषण दुष्परिणामों (ऊपर देखिए पृ० २६६–७२) के रूप में आन्तरिक विरोधों को उत्पन्न करता है। इनके निवारण का एकमात्र उपाय एक क्रान्ति द्वारा उत्पादन के साधनों पर पूँजीपतियों के स्वामित्व को हटाकर समाज का स्वामित्व स्थापित करना है। पूंजीपति पद्धति स्वयमेव अपना विध्वंस करने के लिए तथा इस क्रान्ति को करने के लिए मजदूर वर्ग को जन्म देती है। मजदूर वर्ग या सर्वहारा वर्ग इस क्रान्ति के बाद अपना अधिनायकतन्त्र स्थापित करता है। इसे **सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व** (Dictatorship of the Proletariat) कहते हैं। यह संक्रमणकालीन (Transitional) व्यवस्था है। इसका उद्देश्य पूँजीवाद का समूलोन्मूलन तथा समाजवादी व्यवस्था की स्थापना है। १९१७ में ऐसा अधिनायकतन्त्र बोल्शेविक क्रान्ति द्वारा रूस में, १९४५ के बाद पूर्वी योरोप के कुछ देशों में तथा १९४९ में चीन में स्थापित हुआ है।

अन्तिम युग **साम्यवाद** (Communism) का है। इसमें उत्पादन के सभी प्रकार के साधनों पर समाज का स्वामित्व होगा, वितरण लोगों के परिश्रम या योग्यता के अनुसार न होकर, लोगों की आवश्यकता के अनुसार होगा। समाज में पूर्ण समानता

और साम्य का साम्राज्य होगा। पूंजीपति वर्ग बिलकुल लुप्त हो जाएगा, समाज में केवल श्रमजीवियों का वर्ग बच जाएगा। विरोधी वर्ग न रहने से वर्ग-संघर्ष समाप्त हो जाएगा। उस समय विशेष वर्ग की प्रभुता को बलपूर्वक स्थापित करने वाले, उत्पीड़न और शोषण के प्रधान साधन—राज्य की भी समाज में आवश्यकता नहीं रहेगी, अतः यह स्वयमेव लुप्त हो जाएगा (The State will wither away)। यह अन्तिम दशा अभी तक किसी देश में नहीं आई है, रूस वाले अपनी व्यवस्था को समाजवादी कहते हैं, उनका अन्तिम ध्येय साम्यवादी व्यवस्था स्थापित करना है।[1]

मार्क्स के इतिहास की उपर्युक्त व्याख्या को हम इस विषय में मार्क्स से पहले इस क्षेत्र में माने जाने वाले विभिन्न सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं। **पहला** सिद्धान्त यह था कि इतिहास की सभी घटनाओं और परिवर्तनों का मूल कारण भगवान् की इच्छा थी, उसी से यह सारा विश्व संचालित होता था। यह इतिहास की **धार्मिक व्याख्या** थी। **दूसरा** सिद्धान्त यह था कि महान् राजा, सम्राट् और सेनापति इतिहास का निर्माण करते हैं। महाभारत में इसका समर्थन करते हुए कहा गया है कि राजा ही किसी युग के इतिहास का निर्माता होता है (राजा कालस्य कारणम्), यह इतिहास की **राजनीतिक व्याख्या** है। **तीसरा** सिद्धान्त कार्लाइल ने प्रतिपादित किया था कि इतिहास केवल राजाओं से नहीं, अपितु क्रामवैल, मुहम्मद आदि वीरों (Heroes) से निर्मित होता है। **चौथा** सिद्धान्त हेगल का था, इसके अनुसार स्वतन्त्रता, लोकतन्त्र जैसे महत्वपूर्ण विचार (Ideas) इतिहास का निर्माण करते हैं। **पांचवाँ** सिद्धान्त जलवायु और **भौगोलिक परिस्थितियों** का इतिहास पर प्रभाव डालना था।[2] **आर्थिक परिस्थितियों** के छठे सिद्धान्त का मार्क्स से पहले राबर्ट ओवन, हैरिंगटन और स्पेन्सर प्रतिपादन कर चुके थे। १८४३ में २३ वर्ष की आयु में एंगल्ज़ ने इसे एक निबन्ध Sketch for a Critique of Political Economy में बड़े प्रबल रूप से प्रतिपादित किया था, इसे पढ़कर मार्क्स इस सिद्धान्त का अनुयायी बना। उसने 'पवित्र परिवार' नामक अपनी रचना में यह विचार प्रस्तुत किया कि इतिहास के वास्तविक निर्माता वीर पुरुष नहीं, किन्तु साधारण जनता होती है; इसके निर्माण का प्रधान कारण आर्थिक तत्व होते हैं। मार्क्स को इस बात का श्रेय है कि उसके इस सिद्धान्त ने आजकल के ऐतिहासिक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों पर गहरा प्रभाव डाला है, अब अन्य सभी सिद्धान्तों की अपेक्षा इसे अधिक सत्य माना जाता है।

इस सिद्धान्त की आलोचना करने से पहले हमें एक बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि आर्थिक उत्पादन की परिस्थितियाँ या प्रणालियाँ समाज में विभिन्न परिवर्तन करने का **एकमात्र** कारण हैं या **प्रधान** कारण हैं। एंगल्ज़ ने १८९० में एक विद्यार्थी को लिखे गए पत्र में कहा है कि "मार्क्स और मैं कुछ अंशों में इस बात के लिए उत्तरदायी हैं कि नई पीढ़ी आर्थिक पक्ष पर आवश्यकता से अधिक बल देती है।

१. इतिहास की आर्थिक व्याख्या के लिए देखिए, फण्डामेण्टल्स आफ मार्क्सिज़्म (मास्को, १९६३), पृ० १२५-१३४

२. सेलिगमैन—इक्नामिक इण्टरप्रिटेशन आफ हिस्टरी, पृ० ५२-५३

अपने विरोधियों के हमलों का उत्तर देने के लिए हमारे लिए यह आवश्यक था कि हम उनके द्वारा स्वीकार किए जाने वाले इस प्रभावशाली सिद्धान्त पर अधिक बल दें, किन्तु हमारे पास इस बात के लिए समय, स्थान और अवसर नहीं था कि हम पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया में उत्पन्न करने वाले अन्य तत्वों का भी प्रतिपादन कर सकें।"[1] अन्यत्र एंगल्ज़ ने यह लिखा है कि "इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के अनुसार इसमें **अन्तिम रूप** से निर्णायक प्रभाव रखने वाला तत्व उत्पादन है। मार्क्स ने और मैंने इससे अधिक कुछ नहीं कहा है। किन्तु जब कोई इसे विकृत करके यह कहता है कि आर्थिक तत्व ही एकमात्र तत्व है तो यह कथन निरर्थक और बेहूदा हो जाता है।"[2] इससे यह स्पष्ट है कि मार्क्स और एंगल्ज़ इसे सामाजिक परिवर्तन का एकमात्र नहीं, किन्तु अन्तिम, प्रधान और आधारभूत तत्व अवश्य मानते हैं।

आर्थिक व्याख्या के सिद्धान्त की आलोचना— इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह आर्थिक उत्पादन की प्रणाली के तत्व पर अत्यधिक बल देने के कारण एकांगी सिद्धान्त है और इतिहास पर प्रभाव डालने वाले अन्य तत्वों की घोर उपेक्षा करता है। इतिहास की घटनाएँ किसी एक तत्व से निश्चित और निर्धारित न होकर अनेक प्रकार के तत्वों से—वैयक्तिक महत्वाकांक्षा, लोभ, शक्ति पाने की आकांक्षा, धर्म, विशिष्ट विचारधारा आदि से प्रेरित होती हैं। इनमें कभी एक तत्व प्रधान होता है और कभी दूसरा तत्व। यह आवश्यक नहीं है कि सदैव आर्थिक तत्व ही प्रधान हो। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। सिकन्दर ने पश्चिमी एशिया, मिश्र, ईरान और भारत पर हमला किया, इसमें उसका कोई आर्थिक उद्देश्य— पूर्वी देशों के व्यापार पर एकाधिपत्य स्थापित करने की लालसा नहीं, अपितु विश्वविजयी बनने की वैयक्तिक महत्वाकांक्षा थी। २५०० वर्ष पहले यूनान और ईरान का भीषण संघर्ष हुआ। यूनानियों ने ईरानी सम्राटों का डटकर मुकाबला किया, किन्तु इस लड़ाई का मूल कारण क्या था? यह लघु एशिया या वर्तमान तुर्की के प्रदेश में यूनानी राज्यों के व्यापारिक हितों का संरक्षण नहीं, अपितु इनकी सत्ता और स्वतन्त्रता को सुरक्षित बनाए रखने का प्रश्न था। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्धों का कारण केवल आर्थिक स्वार्थ ही नहीं, अपितु लोकतन्त्र तथा अधिनायकतन्त्र की विरोधी विचारधाराओं का तथा राष्ट्रीयता का भी संघर्ष था। इस समय विश्व दो विरोधी गुटों में बँटा हुआ है, एक ओर सं० रा० अमेरिका तथा उसके समर्थक देश हैं; दूसरी ओर रूस, चीन तथा इसके पृष्ठपोषक हैं। इन दोनों का संघर्ष किन्हीं आर्थिक कारणों से प्रेरित होकर नहीं हो रहा है, अपितु इनकी विचारधाराओं के संघर्ष का परिणाम है। मास्को और पेकिंग संसार में सर्वत्र साम्यवादी भावनाओं का प्रसार करना चाहते हैं; वाशिंगटन इसका विरोध करते हुए लोकतन्त्र, स्वतन्त्रता और उदारवाद की भावनाओं का प्रसार करना चाहता है।

इतिहास में अनेक घटनाएँ प्रधान रूप से धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर हुई हैं, इनका अन्तिम कारण आर्थिक परिस्थितियों को कभी नहीं माना जा सकता

१. लेडलर—सोशल इक्नामिक मूवमैण्टस्, पृ० १६२
२. वही, पृ० १६३

है। उदाहरणार्थ, भारत में महात्मा बुद्ध ने प्राणिमात्र के मंगल की कामना से बौद्ध-धर्म का प्रवर्त्तन किया। धर्म-चक्र प्रवर्त्तन में उनका कोई आर्थिक उद्देश्य या स्वार्थ नहीं था। यही बात अन्य धर्मप्रवर्त्तकों तथा सुधारकों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। मध्ययुग में लूथर ने उस समय ईसाइयत में आए भीषण दोषों को दूर करने के लिए धर्म-सुधार आन्दोलन (Reformation) आरम्भ किया था। जर्मन राजाओं ने इसका समर्थन भले ही चर्च की विशाल सम्पत्तियों को हड़पने के लिए तथा रोम द्वारा धार्मिक करों की वसूली को रोकने के लिए किया हो, किन्तु लूथर के विशुद्ध धार्मिक उद्देश्य में किसी को किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता है, उसने इस सुधार आन्दोलन को किसी भौतिक या आर्थिक स्वार्थ से प्रेरित होकर नहीं किया था। साम्यवादी विचारों से पूर्ण सहानुभूति रखने वाले सुप्रसिद्ध विद्वान् लास्की ने इस प्रश्न की विवेचना करते हुए लिखा है[1]—"कोई भी आर्थिक परिस्थितियाँ बाल्कान प्रायद्वीप के राज्यों की आत्मघाती राष्ट्रीयता की व्याख्या नहीं कर सकती हैं। १९१४ के महायुद्ध का एक बड़ा कारण व्यापारिक साम्राज्यवाद हो सकता है, किन्तु इसके साथ ही यह राष्ट्रीयता के विचारों का भी संघर्ष था, यह किसी भी प्रकार से आर्थिक कारणों से प्रेरणा नहीं प्राप्त कर रहा था। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाए तो (योरोप में) वैस्टफेलिया की सन्धि (१६४८ ई०) से पहले सामाजिक दृष्टिकोण एवं धर्म का स्थान भौतिक परिस्थितियों के समान ही महत्व रखता था। लूथर रोम द्वारा जबर्दस्ती वसूल किए जाने वाले धार्मिक करों का ही विरोध नहीं कर रहा था, वह इससे अधिक महत्व रखने वाली धर्म-सुधार की भावना का प्रतिनिधित्व भी कर रहा था। मनुष्यों की भावनाओं और मनोवेगों का मूल प्रेरणा-स्रोत केवल एक ही नहीं होता; शक्ति और सत्ता का प्रेम, सामूहिक सहज भावना (Herd instinct), ईर्ष्या, प्रदर्शन की इच्छा आदि सभी तत्व आर्थिक परिस्थितियों से कम महत्वपूर्ण नहीं होते हैं।"

इस सिद्धान्त का **दूसरा** दोष यह है कि यह इतिहास में संयोगवश होने वाली घटनाओं के प्रभाव की उपेक्षा करता है। यह संयोग ही था कि न्यूटन ने अकस्मात् पेड़ से सेब गिरते देखा और इसके आधार पर गुरुत्वाकर्षण के महत्वपूर्ण सिद्धान्त का विकास किया। पास्कल (१६२३-६२) यह कहा करता था कि क्लिओपैट्रा की नाक थोड़ी छोटी होती तो विश्व का इतिहास दूसरे ढंग से लिखा जाता। उसका यह अभिप्राय था कि क्लिओपैट्रा यदि अनिन्द्य सुन्दरी न होती, वह अपने रूप से जूलियस सीज़र तथा मार्क एण्टनी को मुग्ध न करती तो रोम का इतिहास दूसरे ढंग से लिखा जाता। अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' में लिखा है कि गौतम को सड़क पर अचानक बूढ़ा, बीमार और मृत व्यक्ति देखने से वैराग्य उत्पन्न हुआ। इसी से उन्होंने दुःख का मूल कारण खोजने के लिए राजपाट और घर छोड़ा, तपस्या की, बोधिवृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त करके सारनाथ में बौद्ध-धर्म का प्रवर्त्तन किया। यह स्पष्ट है कि संसार के इतिहास पर व्यापक प्रभाव डालने वाले बौद्ध-धर्म का प्रवर्त्तन करने के मूल में कोई

१. लास्की—कार्ल मार्क्स, एन एस्से

आर्थिक प्रेरणा नहीं थी। संयोग से महान् ऐतिहासिक परिवर्तनों के अन्य बीसियों उदाहरण दिए जा सकते हैं। यह संयोग ही था कि इंगलैण्ड की रानी एलिज़ाबेथ प्रथम ने विवाह नहीं किया, यदि वह विवाह कर लेती तो उसकी मृत्यु के बाद स्काटलैण्ड और इंगलैण्ड का एकीकरण सम्भव नहीं था। १९१७ में यदि जर्मन और रूसी सरकारें लेनिन को रूस आने की अनुमति न देतीं तो शायद रूस की बोल्शेविक क्रान्ति इतनी शीघ्रता से सम्पन्न न हो पाती। १७६९ में नैपोलियन के जन्म से केवल एक वर्ष पहले कोर्सिका का टापू जिनोआ ने फ्रांस को दिया था। यदि यह न दिया जाता तो नैपोलियन फ्रांस का प्रजाजन न बनता और उसे फ्रांस के तथा योरोप के अधीश्वर बनने का अवसर न मिलता।

तीसरा दोष यह मान लेना है कि आर्थिक कारण ही राजनीतिक शक्ति तथा सत्ता का मूल है। प्राय: ऐसा होता है, किन्तु सर्वत्र और सर्वदा आर्थिक कारण सत्ता और शक्ति के मूल नहीं होते हैं। प्राचीन भारत में धन की शक्ति रखने वाले वैश्यों को ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बाद तीसरा स्थान दिया गया था। नैपोलियन ने फ्रांस की राजनीतिक सत्ता अपनी सैनिक शक्ति और प्रतिभा के कारण प्राप्त की थी, न कि किसी आर्थिक कारण से। इतिहास में सेना की शक्ति द्वारा सत्ता हथियाने के सैकड़ों ऐसे दृष्टान्त हैं जिनमें आर्थिक कारणों ने कोई प्रभाव नहीं डाला है। **चौथा** दोष यह है कि यदि आर्थिक उत्पादन की प्रणाली सामाजिक और ऐतिहासिक परिवर्तनों का मूल कारण है तो विभिन्न देशों में एक प्रकार की उत्पादन प्रणाली को एक ही प्रकार के परिवर्तन उत्पन्न करने चाहिएँ, क्योंकि समान कारण समान कार्यों को पैदा करते हैं, उदाहरणार्थ, पूंजीवादी व्यवस्था यदि अपने आन्तरिक विरोधों के कारण साम्य-वादी क्रान्ति और समाजवादी पद्धति को उत्पन्न करती है, उसने रूस और चीन में ऐसे परिवर्तन उत्पन्न किए हैं, तो पूंजीवाद के गढ़—ब्रिटेन और सं० रा० अमेरिका में उसने ऐसे परिणाम उत्पन्न क्यों नहीं किए ? पिछले दोनों देशों में साम्यवाद के प्रबल होने की कोई सम्भावना नहीं प्रतीत होती है। इसका यह अर्थ है कि साम्यवादी क्रान्ति का मूल या अन्तिम कारण केवल आर्थिक परिस्थितियाँ ही नहीं, किन्तु कुछ अन्य तत्व भी हैं। **पांचवाँ** दोष यह है कि यह पूरी तरह से ऐतिहासिक परिवर्तनों की व्याख्या नहीं करता है। मार्क्स के मतानुसार यदि यह माना जाए कि आर्थिक कारण सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न करते हैं तो यह प्रश्न किया जा सकता है कि ये आर्थिक कारण किन कारणों से उत्पन्न होते हैं। इसका उत्तर दिए बिना इतिहास की व्याख्या नहीं हो सकती है और मार्क्स इसका कोई उत्तर नहीं देता है।

छठा दोष यह है कि मार्क्स ने इस सिद्धान्त को इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन एवं गम्भीर अनुशीलन करके नहीं निकाला है, उसने अपने सिद्धान्त को प्रमाणों से पुष्ट नहीं किया है ; किन्तु इतिहास के अध्ययन से पहले ही हेगल के द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के सिद्धान्त के आधार पर मार्क्स ने इसकी कल्पना कर ली है। इसकी कल्पना करने का यह कारण था कि वह पूंजीवाद के विध्वंस के लिए कटिबद्ध था,[1] उसके सभी सिद्धान्त इसी उद्देश्य से बनाए गए थे। एंगल्ज़ के शब्दों में मार्क्स सबसे

१. मेयो—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ६४

पहले एक क्रान्तिकारी था, उसके जीवन का उद्देश्य पूंजीवादी समाज के विनाश में सहयोग देना था। वह दुनिया को बदलने के लिए उतावला था। उसने इस पक्षपातपूर्ण दृष्टि से इतिहास का अध्ययन करके उसके नियम ढूंढ़ने का प्रयत्न किया। हेगल की द्वन्द्वात्मक पद्धति की आर्थिक व्याख्या से वह इस निश्चय पर पहुंचा था कि पूंजीवाद का विनाश और साम्यवाद की अन्तिम विजय अवश्यम्भावी है। इसी को पुष्ट करने के लिए उसने इतिहास की आर्थिक व्याख्या का सिद्धान्त निश्चित किया। अतः निष्पक्ष ऐतिहासिक अध्ययन पर आधारित न होने के कारण इतिहास की आर्थिक व्याख्या का सिद्धान्त कुछ अंशों में सत्य होते हुए भी भ्रान्तिपूर्ण है।

ऐतिहासिक नियतिवाद (Historical Determinism) — इतिहास की आर्थिक व्याख्या के उपर्युक्त सिद्धान्त से स्वाभाविक परिणाम यह निकलता है कि इतिहास के सभी परिवर्तन एक निश्चित दिशा में हो रहे हैं, यह पूंजीवाद के पतन और विध्वंस की दिशा है, विश्व में होने वाले सभी परिवर्तनों का अन्तिम उद्देश्य यही है और अन्त में इसका पतन होना अनिवार्य है, द्वन्द्वात्मक पद्धति से इतिहास में भविष्य की—अर्थात् पूंजीवाद के पतन की दिशा को पहले से ही नियत या निश्चित कर दिया गया है। हम चाहें या न चाहें, इस दिशा में इतिहास की प्रगति होना अनिवार्य है। इसी को ऐतिहासिक नियतिवाद कहा जाता है।

मार्क्स ने इस सिद्धान्त के मूल विचार को हेगल से ग्रहण किया है। पहले (पृ० १२९-३८) यह बताया जा चुका है कि हेगल के मतानुसार इस जगत् में द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के अनुसार विकास हो रहा है तथा विश्वात्मा इतिहास में अपने नाना रूपों में आविर्भूत होते हुए एक निश्चित दिशा में बढ़ रही है (पृ० १३९-४०), इसका चरम विकास प्रशिया के राज्य में होना एक अनिवार्य ऐतिहासिक आवश्यकता (Historical necessity) है। द्वन्द्वात्मक पद्धति से होने वाला यह विकास हमारी इच्छा पर आश्रित नहीं है, अपितु इससे सर्वथा स्वतन्त्र है। मार्क्स ने हेगल के विचार की द्वन्द्वात्मक पद्धति को पूर्ण रूप से ग्रहण किया है, उसकी ऐतिहासिक आवश्यकता के सिद्धान्त को भी सत्य माना है। किन्तु इतिहास के विकास का चरम लक्ष्य प्रशिया को नहीं किन्तु पूंजीवाद के पतन और समाजवाद की विजय को माना है। उसके मतानुसार इस स्थिति का आना एक ध्रुव और अटल सत्य है, इसे कोई टाल नहीं सकता है। हम चाहें या न चाहें, पूंजीवाद का पतन अनिवार्य एवं अवश्यम्भावी है, यह एक ऐतिहासिक आवश्यकता है।

मार्क्स के इस सिद्धान्त से दो महत्वपूर्ण परिणाम निकलते हैं : पहला समाजवाद की अन्तिम विजय में अटूट विश्वास है। यह समाजवाद के विश्वव्यापी प्रसार का एक महत्वपूर्ण कारण है। इसने सर्वहारा श्रमिक वर्ग को अपनी अन्तिम विजय एवं सफलता में अगाध विश्वास प्रदान किया है, अपने उज्ज्वल भविष्य का सुदृढ़ आश्वासन दिया है, समाजवाद के सिद्धान्तों के सत्य होने में गहरी आस्था उत्पन्न की है, उसे एक नवीन धर्म का रूप दिया है। आज लाखों नहीं, करोड़ों मानव मार्क्स को पूंजीवाद के कष्टों से पीड़ित मानवता का मुक्तिदाता मसीहा मानते हैं, उसके मन्तव्यों को धार्मिक सिद्धान्तों की भाँति सत्य स्वीकार करते हुए उसके लिए सब प्रकार का

बलिदान करने के लिए तथा समाजवादी क्रान्ति लाने के लिए तैयार हैं। इसने समाजवाद को विलक्षण शक्ति प्रदान की है। संसार के सभी श्रमिक, मजदूर और निर्धन इस आन्दोलन में उत्साहपूर्वक सम्मिलित हुए हैं।

दूसरा परिणाम व्यक्ति की गौणता तथा वर्ग की प्रधानता है। हेगल के सिद्धान्त की भाँति मार्क्स के सिद्धान्त में भी यह बड़ा दोष है कि यह इतिहास के विकास में व्यक्ति का कोई विशेष स्थान नहीं मानता है। व्यक्ति चाहे या न चाहे, इतिहास का विकास तो होना ही है, हेगल के मत में इस प्रक्रिया में राष्ट्र व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण था। मार्क्स के मतानुसार इसमें महत्वपूर्ण भाग लेने वाला व्यक्ति नहीं, किन्तु वर्ग है। पूंजीवाद का पतन सर्वहारा तथा मजदूरों के वर्ग के सम्मिलित प्रयत्नों से होगा। व्यक्ति इसमें स्वतन्त्र रूप से नहीं, किन्तु अपने वर्ग का सदस्य बनकर ही कुछ कार्य कर सकता है। उसके अपने स्वतन्त्र विचार नहीं होते हैं, किन्तु वह अपने वर्ग के विचारों को ही रखता है। मार्क्स ने पूँजीपति या मजदूर का व्यक्ति के रूप में कोई महत्व नहीं समझा, अपितु पूँजीवाद के पतन के लिए किए जाने वाले महान् संघर्ष में भाग लेने वाले पूँजीपति वर्ग को तथा मजदूर वर्ग को महत्व दिया, क्योंकि वर्ग-संघर्ष उसका एक मौलिक सिद्धान्त है। अब यहाँ इसका वर्णन किया जाएगा।

वर्ग-संघर्ष (Class Struggle)—यह मार्क्स का एक प्रमुख सिद्धान्त है और समाज में होने वाले परिवर्तनों की प्रक्रिया को सूचित करता है, जबकि इतिहास की आर्थिक व्याख्या इनके मौलिक सिद्धान्त पर प्रकाश डालती है। इससे हमें यह ज्ञात होता है कि इतिहास में द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुसार संघर्ष द्वारा एक ऐतिहासिक अवस्था से दूसरी दशा—सामन्तवाद से पूँजीवाद तथा पूँजीवाद से समाजवाद विभिन्न वर्गों के संघर्ष या विग्रह से कैसे उत्पन्न होता है। इसमें पहला प्रश्न यह है कि वर्ग किसे कहते हैं। इतिहास की आर्थिक व्याख्या पर बल देने के कारण मार्क्स इसका लक्षण आर्थिक तत्वों पर बल देते हुए यह करता है कि जिस समूह के आर्थिक हित एक-से होते हैं, उसको वर्ग कहते हैं, जैसे जमींदारों का, मिल-मालिकों का, किसानों का तथा मजदूरों का वर्ग। संघर्ष का अर्थ केवल लड़ाई नहीं है, किन्तु इसका व्यापक अर्थ असन्तोष, रोष और आंशिक असहयोग भी है। जब यह कहा ज़ाता है कि वर्गों में अनादिकाल से सदैव संघर्ष होता रहा है तो उसका यह अभिप्राय नहीं है कि हमेशा युद्ध की ज्वालाएँ भड़कती रही हैं, ये केवल थोड़े ही समय के लिए भड़कती हैं, सामान्य रूप से असन्तोष और रोष की भावना धीरे-धीरे शान्तिपूर्ण रीति से सुलगती रहती है, केवल कुछ ही अवसरों पर यह भीषण ज्वाला का रूप धारण करती है।

मार्क्स का यह मत है कि वर्गों के स्वरूप में भले ही अन्तर आता रहे, किन्तु समाज में एक वर्ग उत्पादन के साधनों पर—भूमि और पूँजी पर अधिकार रखता है, इसे जमींदार या पूँजीपति वर्ग कहते हैं; दूसरा इन पर आश्रित रहने वाला तथा अपना परिश्रम करके जीने वाला मजदूर, कृषक अथवा श्रमजीवी वर्ग है। पहला वर्ग बिना कुछ परिश्रम किए हुए दूसरे वर्ग के परिश्रम से लाभ उठाना चाहता है, इसी को **शोषण** (Exploitation) कहा जाता है। इस दृष्टि से पहले को शोषक वर्ग तथा दूसरे को शोषित वर्ग कहा जाता है। इन वर्गों के स्वरूप में और शोषण के प्रकार

में परिवर्तन आता रहता है। समाज में पहले **दास-प्रथा** (Slavery) और **भूदास-प्रथा** (Serfdom) थी; अब यद्यपि उनका लोह हो गया है, फिर भी शोषण का अन्त नहीं हुआ है। पूँजीवाद ने एक नवीन रूप में मजदूरों का शोषण आरम्भ कर दिया है। अतः मार्क्स का यह कहना है कि इतिहास में सदैव कोई-न-कोई शोषक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण करता चला आया है। 'कम्यूनिस्ट मैनिफैस्टो' में यह घोषणा की गई है, "अब तक इतिहास में जो भी समाज विद्यमान रहे हैं, उनमें निरन्तर वर्ग-संघर्ष होता रहा है। स्वतन्त्र मनुष्य और दास, कुलीन (Patrician) तथा साधारण जनता (Plebeian), सामन्त (Baron) और उसकी रैयत, गिल्ड (Guild) या आर्थिक संघ के स्वामी और उसके अधीन काम करने वाले कारीगर—एक शब्द में कहें तो शोषक और शोषित—सदा एक-दूसरे के विरोध में खड़े होकर कभी प्रत्यक्ष तथा कभी परोक्ष रीति से अनवरत युद्ध करते रहे हैं।"[1]

वर्ग-संघर्ष के मूल कारणों पर प्रकाश डालते हुए मार्क्स ने कहा है कि आजीविका के आधार पर समाज को दो बड़े वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—पूँजीपति वर्ग तथा श्रमजीवी वर्ग। पूँजीपति उत्पादन के साधनों—भूमि, पूँजी, कच्चा माल, कारखाने आदि पर स्वामित्व रखकर अपना जीवन निर्वाह करता है और श्रमजीवी अपना श्रम बेचकर। वह या तो जमींदार का खेत जोतता, बोता तथा काटता है, अथवा उसके कारखाने में अपना श्रम बेचकर अपना पेट भरता है। दोनों को एक-दूसरे की जरूरत है। यदि जमींदार या मिल-मालिक को मजदूर न मिलें तो उसके खेतों की जुताई-बुवाई नहीं हो सकती, उसके कारखाने नहीं चल सकते ; दूसरी ओर यदि मजदूरों को खेतों और कारखानों में काम न मिले तो वे भूखे मर जाएँगे। इस प्रकार दोनों को एक-दूसरे की प्रबल आवश्यकता है। फिर भी इन दोनों के हितों में विरोध है, इसी कारण इनमें संघर्ष होना अनिवार्य है। पूँजीपति अधिक-से-अधिक मुनाफा कमाना चाहता है, इस कारण वह मजदूरों को कम-से-कम मजदूरी देना चाहता है ; दूसरी ओर मजदूर अधिक-से-अधिक मजदूरी लेना चाहता है। अतः दोनो वर्गों में संघर्ष आरम्भ हो जाता है। किन्तु इसमें मजदूरों की स्थिति कुछ कारणों से निर्बल होती है। उन्हें प्रतिदिन मेहनत करके पेट भरना है, रोज कुआँ खोदकर पानी पीना है, वे अपने श्रम को सुरक्षित करके तथा जमा करके नहीं रख सकते, इस श्रम का स्वरूप जल्दी नष्ट होने वाली (perishable) सब्जी, फल जैसी वस्तुओं जैसा है ; मजदूर अच्छी मजदूरी पाने के लिए देर तक हड़ताल आदि से अपने श्रम को रोककर नहीं रख सकता है, क्योंकि इससे वह स्वयं और उसके बीबी-बच्चे भूखे मरने लगते हैं। किन्तु कुछ समय तक अपना कारखाना बन्द करने पर पूँजीपतियों के लिए भूखा मरने की स्थिति नहीं उत्पन्न हो सकती है, अतः वे मजदूरों का शोषण और उत्पीड़न अच्छी तरह से कर सकते हैं। शहरों में एकसाथ रहने और संगठन बनाने के कारण मजदूरों में जागृति उत्पन्न हो जाती है, वे पूँजीपतियों के शोषण और अत्याचार का विरोध करने लगते हैं। इस प्रकार पूंजीपति और मजदूर में शाश्वत संघर्ष छिड़ जाता है।

---

१. कम्यूनिस्ट घोषणा-पत्र (पीपल्स पब्लिशिंग हाऊस, बम्बई), पृ० ३३-३४

इसमें पूंजीवाद का पतन और मजदूरों की विजय होना निश्चित है। इसका प्रधान कारण यह है कि पूंजीवाद में उसके विनाश के बीज निहित हैं। इन बातों को अच्छी तरह समझने के लिए वर्तमान पूंजीवाद के यथार्थ स्वरूप का परिचय आवश्यक है।

वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त की आलोचना—मार्क्स के इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त की निम्नलिखित गम्भीर आलोचनाएँ की गई हैं—

(१) यह सिद्धान्त संघर्ष के तत्व पर आवश्यकता से अधिक बल देने के कारण एकांगी और दोषपूर्ण है। 'कम्यूनिस्ट घोषणा-पत्र' के आरम्भ में ही कहा गया है कि "अब तक के समाज का इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है।" यदि वास्तव में मानव-समाज में ऐसा संघर्ष होता तो यह कभी का समाप्त हो गया होता। इसमें संघर्ष की अपेक्षा सहयोग, प्रेम, सहानुभूति की भावनाएँ अधिक प्रबल हैं, इन्हीं पर समाज टिका हुआ है। प्लेटो ने समाज का विश्लेषण करते हुए बतलाया था कि मनुष्यों की सामान्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पारस्परिक सहयोग देने वाले विभिन्न वर्गों से ही इसका निर्माण होता है। सहयोग ही समाज का प्रधान तत्व है। गीता (३।१०-१६) में यह कहा गया है कि इस विश्व का संचालन एक महान् यज्ञ के रूप में हो रहा है, इसमें सब एक-दूसरे को सहयोग देते हुए तथा एक-दूसरे के लिए स्वार्थ त्याग करते हुए अपना कार्य कर रहे हैं। इसी से सृष्टि की वृद्धि और उन्नति हो रही है। आरम्भ में यज्ञ के साथ-साथ प्रजा को उत्पन्न करके ब्रह्मा ने (उनसे) कहा—"इस यज्ञ के द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो—यह यज्ञ तुम्हारी कामधेनु होवे—अर्थात् यह तुम्हें इच्छित फल देने वाला हो। तुम इससे देवताओं को सन्तुष्ट करते रहो, वे देवता तुम्हें सन्तुष्ट करते रहें। (इस प्रकार) परस्पर एक-दूसरे को सन्तुष्ट करते हुए (दोनों) परमश्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्त कर लो।"[1] सहयोग और यज्ञ की यह भावना ही सृष्टि-चक्र का प्रवर्त्तन कर रही है, समाज के विभिन्न वर्ग—कृषक, कारीगर, व्यापारी एक-दूसरे का सहयोग न करें तो सामाजिक जीवन विश्रृङ्खल और छिन्न-भिन्न हो जाए। समाज के अन्य वर्गों की भाँति यदि मजदूर और पूंजीपति में सहयोग न हो तो उत्पादन-कार्य सम्भव नहीं हो सकता, मजदूर पूंजीपति के बिना भूखा मरता है, पूंजीपति मजदूरों के सहयोग के बिना अपना कारखाना चलाने में असमर्थ है। दोनों के आर्थिक हितों में संघर्ष होते हुए भी, उन्हें उत्पादन के लिए एक-दूसरे का सहयोग अपेक्षित है। यदि संघर्ष ही मानव-जीवन का एकमात्र सत्य हो, मालिक और मजदूर में सहयोग न हो तो वस्तुओं का उत्पादन नहीं हो सकता है तथा मानव-समाज का कार्य चलना असम्भव हो जाए। अतः मार्क्स ने सहयोग की उपेक्षा करते हुए संघर्ष के तत्व पर अधिक बल देकर एक बड़ी भूल की है।

(२) मार्क्स की वर्ग की परिभाषा बड़ी अस्पष्ट और दोषपूर्ण है। मार्क्स ने अपनी सभी रचनाओं में समाज के दो प्रधान वर्गों—बूर्जुआ या पूंजीपति तथा सर्वहारा

---

१. गीता ३।१०, सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

(Proletariat) का कोई स्पष्ट और सुनिश्चित लक्षण नहीं किया है।[1] एंगल्ज़ ने १८४७ में सर्वहारा की व्याख्या करते हुए कहा था कि यह समाज का वह वर्ग है जो अपनी आजीविका पूर्णरूप से अपने श्रम को बेचकर कमाता है और पूंजी से प्राप्त होने वाले मुनाफों पर निर्भर नहीं होता है। एंगल्ज़ ने साम्यवादियों के बहुचर्चित शब्द—बूर्जुआ (Bourgeoise) या पूँजीपति की कोई व्याख्या नहीं की। लेनिन के मतानुसार पूँजीपति ऐसी सम्पत्ति के मालिक को कहते हैं कि जो इस सम्पत्ति के माध्यम से मजदूरों से अतिरिक्त मूल्य के रूप में अनुचित लाभ प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखने वाला तथा मजदूरों का शोषण करने वाला व्यक्ति पूँजीपति है।

किन्तु यदि हम इन परिभाषाओं पर गम्भीर विचार करें तो हमें ये यथार्थ नहीं प्रतीत होती हैं। इनके आधार पर वर्तमान समाज में मजदूरों और पूँजीपतियों के दो स्पष्ट वर्ग निश्चित नहीं किए जा सकते हैं। आजकल पश्चिमी देशों में कारखानों में काम करने वाले अनेक मजदूर कम्पनियों के हिस्से खरीदकर हिस्सेदार बनते हैं, इस प्रकार वे कुछ अंशों में दूसरे मजदूरों को काम पर लगाने वाले तथा उनसे अतिरिक्त मूल्य के रूप में लाभ ग्रहण करने वाले पूंजीपति बन जाते हैं। दूसरी ओर पूँजीपति वर्ग का स्वरूप निश्चित करना भी कठिन है। उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार चार-पाँच हजार रुपये का मासिक वेतन पाने वाला कारखाने का इंजीनियर या मैनेजर पूँजीपति नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह कारखाने की मशीनों का मालिक नहीं है। इस दृष्टि से, उत्पादन के साधनों से वंचित होने के कारण क्या उसे मजदूर कहना चाहिए। किन्तु ऐसा कहना मजदूर शब्द के साथ घोर अन्याय करना है। इसी प्रकार यदि मार्क्स के उपर्युक्त लक्षण को कठोरता से लागू किया जाए तो मजदूरों को काम पर लगाकर उनके साथ स्वयमेव काम करने वाला व्यक्ति पूँजीपति नहीं हो सकता है और उत्तराधिकार से प्राप्त थोड़ी-सी सम्पत्ति पर निर्वाह करने वाला व्यक्ति पूँजीपति माना जाएगा। वस्तुतः समाज में इतनी परिवर्तनशीलता और जटिलता है कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित दो सुस्पष्ट वर्ग वास्तविक जगत् में बहुत कम दिखाई देते हैं। फ्रांस के सुप्रसिद्ध श्रमिक संघवादी उग्र विचारक सोरेल ने तो यहाँ तक कहा है कि मार्क्समतवादियों के वर्ग की सत्ता केवल कल्पनालोक में (mere abstraction) है।

(३) इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त में एक बड़ी व्यावहारिक कठिनाई यह भी है कि समाज में एक बड़ी संख्या मध्यम वर्ग के लोगों — अध्यापकों, वकीलों, कारखानों के प्रबन्धकों, इंजीनियरों, उच्च सरकारी सेवा करने वाले कर्मचारियों की है। आगे यह बताया जाएगा कि इस वर्ग की संख्या निरन्तर बढ़ रही है। इस वर्ग की सत्ता मार्क्स के दो वर्गों में होने वाले संघर्ष के सिद्धान्त का प्रबल खण्डन करती है। समाज में दो वर्ग नहीं अपितु कई वर्ग हैं।

(४) मार्क्स ने कहा है कि मानव-इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण है तथा यथार्थ स्थिति को नहीं प्रकट करता है। इसमें तो कोई

---

१. लैंकास्टर—मास्टर्स आफ पोलिटिकल थाट, पृ० १७८-७९

सन्देह नहीं कि इतिहास के पन्ने लड़ाइयों के वर्णनों से भरे हुए हैं। किन्तु इन लड़ाइयों को मार्क्स की व्याख्या के अनुसार वर्ग-संघर्ष नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ये अमीर और गरीब में, उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखने वाले तथा न रखने वाले सामाजिक दृष्टि से दो सर्वथा भिन्न वर्गों में नहीं हुए और न ही इन संघर्षों का कोई आर्थिक उद्देश्य था। प्राय: ये युद्ध एक ही वर्ग अथवा सामाजिक स्थिति रखने वाले व्यक्तियों में निजी स्वार्थों तथा वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं के संघर्ष के कारण हुए। भारतीय इतिहास के कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी: रामायण और महाभारत के युद्ध दो विभिन्न वर्गों में नहीं, अपितु समान स्थिति रखने वाले शासक वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों में हुए। कौरव और पाण्डव न केवल एक ही क्षत्रिय जाति के थे, अपितु एक ही वंश में उत्पन्न होने वाले तथा भ्रातृ-सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति थे। इनके युद्ध को वर्ग-संघर्ष किसी भी प्रकार नहीं कहा जा सकता है।

प्राचीन एवं मध्ययुग के प्राय: सभी संघर्ष राजाओं में ही हुआ करते थे, सामाजिक दृष्टि से ये सभी शासकों के ही वर्ग से सम्बद्ध थे। उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड के इतिहास में १५वीं शताब्दी में **गुलाबों के युद्ध** (Wars of Roses) हुए, इसमें लड़ने वाले दोनों पक्षों में से यार्क के घराने के समर्थकों का विशेष चिह्न या झण्डा सफेद गुलाब था तथा लैंकास्टर के घराने के समर्थकों का चिह्न लाल गुलाब था। ये दोनों पक्ष सामन्त एवं कुलीन वर्ग से सम्बन्ध रखते थे। यह वास्तव में एक ही जमींदार या सामन्त वर्ग के दो दलों का संघर्ष था, न कि दो विभिन्न वर्गों का संघर्ष था। यही स्थिति मध्यकाल के अन्य प्रसिद्ध योरोपियन युद्धों—नार्मन विजय (१०६६ ई०) तथा शतवर्षीय युद्ध (१३३७–१४५३) की है। शतवर्षीय युद्ध किसी वर्ग-संघर्ष के कारण नहीं हुआ था, किन्तु इंगलिश राजाओं द्वारा फ्रांस के प्रदेशों पर स्वामित्व का दावा करने के कारण हुआ था। भारतीय इतिहास के सुप्रसिद्ध युद्ध—पानीपत के तीन युद्ध और प्लासी जैसी लड़ाई राजनीतिक सत्ता पाने के लिए किए गए संघर्ष थे, वर्ग-संघर्ष नहीं थे। वर्तमान काल के युद्धों का एक बड़ा कारण उग्र राष्ट्रीयता की भावना है और ये युद्ध वर्गों का नहीं, किन्तु राष्ट्रों का संघर्ष हैं। उदाहरणार्थ, इनमें एक राष्ट्र इंगलैण्ड की जनता के सभी वर्ग—पूँजीपति और मजदूर मिलकर दूसरे राष्ट्र जर्मनी के सभी वर्गों से संघर्ष करते हैं।

वर्गों के आर्थिक स्वार्थों के आधार पर लड़े जाने वाले ऐतिहासिक युद्धों के इने-गिने ही उदाहरण मिलते हैं। पहला उदाहरण स्पार्टकस (Spartcus) का है, थ्रेस प्रदेश के इस वीर सेनानी ने दासों की एक सेना एकत्र करके ७३–७७ ई० पू० में रोम की प्रभुता के विरुद्ध विद्रोह किया था। दूसरा उदाहरण इंगलैण्ड में किसानों का विद्रोह (Peasants' Revolt) है। यह १३८१ में तत्कालीन इंगलैण्ड में उत्पन्न होने वाली नवीन परिस्थितियों से हुआ था। १७वीं शताब्दी के मध्य तक ऊन आदि वस्तुओं के व्यापार एवं उद्योगों की उन्नति से समूचे इंगलैण्ड में नगरों का विकास होने लगा था। इन्हें देहाती प्रदेशों के कच्चे माल की आवश्यकता थी, अत: ऊन की प्राप्ति के एकमात्र स्रोत भेड़ों के पालने का तथा इनके लिए आवश्यक चरागाहों का महत्व बढ़ने लगा। उस समय के जमींदार एवं कुलीन व्यक्ति इन चरागाहों के लिए

किसानों के पास पहले से विद्यमान पंचायती जमीन को उनसे छीनने लगे। जमींदारों के इन अत्याचारों के विरुद्ध उस समय जॉन विक्लिफ (मृत्यु १३८४), जॉन बाल तथा जैक केड ने नेतृत्व करते हुए साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रचार किया।[1] कृषक विद्रोह का श्रीगणेश कैण्ट और एसेक्स के जिलों में आरम्भ हुआ, यहाँ के किसानों ने एक भूतपूर्व सैनिक वाट टाइलर (Wat Tyler) तथा एक पादरी जॉन बाल के नेतृत्व में लन्दन की ओर प्रयाण किया। ये रास्ते में जमींदारों के मकान और भूदासों की सेवाओं के लेखे जलाते चले गए। कुछ समय तक लन्दन पर इनका अधिकार हो गया और तरुण राजा को अपने मन्त्रियों के साथ लन्दन के दुर्ग में शरण लेनी पड़ी। किन्तु राजा ने शीघ्र ही अपने साहस, वीरता, पुरुषार्थ तथा राजनीतिक चातुर्य से इस विद्रोह को दबा दिया।[2] इसी प्रकार का एक तीसरा उदाहरण १६वीं शताब्दी के आरम्भ में दक्षिणी जर्मनी के किसानों द्वारा जमींदारों के अत्याचारों एवं उत्पीड़नों के विरुद्ध किया गया कृषक युद्ध (Peasant' War) अथवा विद्रोह था। यह १५२४ ई० में स्वेबिया, सैक्सनी आदि के जर्मन राज्यों में शुरू हुआ था तथा १५२५ में फ्रैंकन हौज़न (Franken Hausen) के युद्ध द्वारा इसे बुरी तरह कुचल दिया गया था। इसमें हजारों किसानों को मौत के घाट उतारा गया था। ये तीनों विद्रोह निस्सन्देह वर्ग-संघर्ष के उदाहरण हैं। किन्तु इनके आधार पर समूचे मानव-इतिहास को वर्ग-संघर्ष का इतिहास बताना एक बड़ी भ्रान्तिपूर्ण और मिथ्या कल्पना है।

(५) समाज में धनी और निर्धन का अन्तर सम्भवतः मानव-समाज के आरम्भ से ही चला आ रहा है, किन्तु इसके आधार पर इनके शाश्वत संघर्ष की मार्क्सवादी कल्पना न केवल सर्वथा अनैतिहासिक है, प्राचीन और मध्ययुग के इतिहास में नहीं मिलती है, अपितु पूँजीवाद के वर्तमान युग में भी नहीं मिलती है। यदि इसके कहीं दर्शन होते हैं, तो इसका कारण केवल मार्क्सवादी सिद्धान्तों का प्रचार है। सुप्रसिद्ध विचारक बर्ट्रेण्ड रसेल ने इस प्रश्न की मीमांसा करने के बाद यह परिणाम निकाला है कि मार्क्स ने जिस वर्ग-संघर्ष की भविष्यवाणी की थी, उसे उसने अपनी शिक्षाओं से ही उत्पन्न किया है।[3] वस्तुतः इस समय मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्गों की भावना, संगठन, एकता और सुदृढ़ता हमें कहीं नहीं दिखाई देती है। मार्क्स के मतानुसार इंगलैण्ड, अमेरिका, फ्रांस, जापान आदि देशों के पूँजीपतियों में आर्थिक हितों की समानता होने के कारण इनमें एकता की भावना है, किन्तु यह उसकी कोरी कल्पना है। वस्तुतः विभिन्न देशों के पूँजीपतियों के स्वार्थों में समानता नहीं, किन्तु विरोध होता है। यही दशा मजदूरों की है। मार्क्स के मतानुसार संसार के सभी देशों के मजदूरों के हित समान होने से उनमें एकता और सुदृढ़ता होनी चाहिए। किन्तु पिछले दो महायुद्धों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मार्क्स की वर्ग-चेतना की अपेक्षा राष्ट्रीयता की भावना अधिक प्रबल है, क्योंकि इन युद्धों में एक देश के अमीर और गरीब वर्ग

१. लेडलर — सोशल इक्नामिक मूवमैण्ट्स, पृ० १८-२०
२. रैम्जे म्यूर—ए शार्ट हिस्टरी आफ ब्रिटिश कामनवैल्थ, खं० १, पृ० १५५-५६
३. रसेल—फ्रीडम एण्ड आर्गनिज़ेशन, पृ० २४६

ने, पूंजीपति और मजदूर ने मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल एक-दूसरे को प्रबल सहयोग देते हुए शत्रु के साथ संघर्ष किया है। यह उसके वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त के सत्य न होने का प्रबल प्रमाण है।

(६) मार्क्स की एक बड़ी भूल यह है कि वह सामाजिक श्रेणियों (Social Classes) को आर्थिक आधार पर सगठित वर्ग मानकर इनमें संघर्ष की कल्पना करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि समाज में सनातन काल से श्रेणी-भेद चला आया है, यह भी सत्य है कि इनमें संघर्ष चलता रहा है। किन्तु यह संघर्ष आर्थिक कारणों से नहीं हुआ, अपितु राजनीतिक सत्ता पाने के लिए होता रहा है। मार्क्स ने इस संघर्ष के स्वरूप को सही नहीं समझते हुए इसे शोषक और शोषित का संघर्ष कहा। मार्क्स का यह संघर्ष तभी हो सकता है जब दोनों वर्गों का स्वरूप स्पष्ट हो, उनमें एकता और सुदृढ़ संगठन तथा एक-दूसरे के विरुद्ध प्रबल विद्वेष की भावना हो। किन्तु इतिहास में ऐसी स्थिति दृष्टिगोचर नहीं होती है, अपितु हमें एक ही वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों में संघर्ष दिखाई देते हैं। पापर ने योरोप के मध्यकालीन इतिहास से सम्राटों और पोपों के संघर्ष के रूप में इसका सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। ये सम्राट् और पोप यद्यपि एक ही शासक वर्ग में से थे, तथापि चिरकाल तक उनमें उग्र विरोध चलता रहा।[1]

(७) मार्क्स वर्ग-संघर्ष में मजदूरों की विजय को ध्रुव सत्य मानता है। उसका यह विश्वास समाजवाद में उसकी गहरी आस्था को भले ही प्रकट करे, किन्तु ऐतिहासिक सत्य को नहीं व्यक्त करता है। उसका यह सिद्धान्त वैज्ञानिक तत्वों पर नहीं, किन्तु आशाओं और आकांक्षाओं पर आधारित है। कुछ समय के लिए हम भले ही इस बात को सत्य मान लें कि पूंजीवाद का पतन अनिवार्य है, तो भी इससे यह परिणाम नहीं निकलता है कि साम्यवाद की विजय अवश्य होगी; क्योंकि इतिहास का विकास सदैव एक ही निश्चित दिशा में नहीं होता है, उसमें नवीन परिस्थितियों से नई दिशाओं का विकास होता रहता है। लास्की जैसे साम्यवादी विचारक ने लिखा है कि "पूंजीवाद के विनाश का परिणाम साम्यवाद का आविर्भाव नहीं, अपितु ऐसी अराजकता हो सकती है जिससे ऐसा अधिनायकतन्त्र उत्पन्न हो कि उसका साम्यवादी आदर्शों से कोई सम्बन्ध न हो।"[2] इटली और जर्मनी में ऐसा ही हुआ था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद लोकतन्त्रीय शासन के विफल होने पर इटली में साम्यवाद के स्थान पर मुसोलिनी के नेतृत्व में फासिज्म का तथा जर्मनी में हिटलर की तानाशाही का विकास हुआ। ये दोनों अधिनायक साम्यवाद के उग्र विरोधी थे। अतः इतिहास ने मार्क्स के इस कथन को मिथ्या सिद्ध किया है कि वर्ग-संघर्ष के कारण साम्यवाद की सफलता और विजय सर्वथा निश्चित है।

(८) इसी प्रकार वर्ग-संघर्ष के परिणामस्वरूप पूंजीवाद के विकास के सम्बन्ध में की गई मार्क्स की भविष्यवाणी भी सत्य नहीं सिद्ध हुई है। मार्क्स का यह मत था कि पूंजीवाद का विकास होने से उसका पतन अनिवार्य है, क्योंकि यह वर्ग-संघर्ष आदि

---

१. पापर—ओपन सोसायटी एण्ड इट्स एनिमीज, पृ० ३०७
२. लास्की—कम्यूनिज्म, पृ० ८७-८८

के आन्तरिक विरोध उत्पन्न करके स्वयमेव अपनी कब्र खोदता है। किन्तु अभी तक पूंजीवाद का चरम विकास करने वाले—इंगलैण्ड, सं० रा० अमेरिका आदि में इसका विध्वंस नहीं हुआ है।

(६) वर्ग-संघर्ष के परिणामस्वरूप मार्क्स ने अन्त में एक वर्गहीन समाज (Classless Society) के स्थापित होने की कल्पना की है। उसने इसको युक्तियुक्त सिद्ध करने के लिए यह कहा है कि पूंजीवादी समाज में पूंजीपति और मजदूर नामक दो वर्ग हैं, मजदूर जब पूंजीपति वर्ग का विध्वंस कर देंगे तो समाज में वर्ग-भेद की समाप्ति होकर समानता का साम्राज्य स्थापित होगा। किन्तु मार्क्स की यह कल्पना कई कारणों से सत्य नहीं प्रतीत होती है। **पहला** कारण तो यह है कि मजदूर वर्ग अपने सामान्य शत्रु पूंजीवाद का विरोध करने के लिए तो एक एवं संगठित हो सकता है, किन्तु इसके विनाश के बाद भी उसमें यह एकता और संगठन बना रहेगा इसकी सम्भावना बहुत ही कम प्रतीत होती है। इसके बाद इसमें आपसी वैमनस्य, मतभेद और विरोध से तथा नई परिस्थितियों से नवीन वर्गों का प्रादुर्भाव अवश्यम्भावी प्रतीत होता है। भारत में १९४७ से पहले अंग्रेजों की पराधीनता के पाश से मुक्त होने के महान् लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कांग्रेस के सभी सदस्यों में गहरी एकता और संगठन बना हुआ था, किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इसमें प्रबल मतभेद और गुट-बन्दियाँ उत्पन्न हो गई हैं। यही दशा पूंजीवाद के विनाश का लक्ष्य पूरा हो जाने के बाद वर्ग-विहीन समाज में उत्पन्न हो सकती है। **दूसरा** कारण इसका मार्क्स की द्वन्द्वात्मक पद्धति से विरोध है। एक ओर तो मार्क्स इस पद्धति के अनुसार विश्व में सतत संघर्ष की (ऊपर पृ० ३१२) तथा एक वस्तु द्वारा स्वयमेव अपना विरोधी तत्व उत्पन्न करने की बात मानता है और दूसरी ओर वह यह मानता है कि वर्गहीन समाज की दशा में सम्पूर्ण संघर्ष समाप्त हो जाएगा। यह उसके द्वन्द्वात्मक विकास के मौलिक मन्तव्य के सर्वथा प्रतिकूल है।

तीसरा कारण रूस जैसे साम्यवादी देशों का उदाहरण है। रूस में पूंजीवाद का विध्वंस हो चुका है, किन्तु वर्गविहीन समाज की स्थापना नहीं हुई है। उदाहरणार्थ, इस समय सोवियत संघ के समाज में चार वर्ग या श्रेणियाँ हैं[1]। पहले और सबसे ऊँचे वर्ग में उच्च सरकारी अधिकारी, पार्टी के नेता, सैनिक अधिकारी, कारखानों के संचालन एवं प्रबन्धक, वैज्ञानिक, कलाकार और लेखक आते हैं, इस वर्ग के व्यक्तियों की संख्या दस लाख परिवारों के लगभग है। दूसरे वर्ग में पहले वर्ग की अपेक्षा घटिया पद रखने वाले सरकारी और सैनिक कर्मचारी, सरकारी सामूहिक खेतों के प्रबन्धक, अधिक दक्ष कारीगर तथा तकनीकी कार्यकर्त्ता (Technicians) हैं, यह सोवियत समाज का मध्यम वर्ग है। इसकी संख्या २० से ३० लाख परिवारों की है। तीसरे वर्ग में जनसंख्या का अधिकांश भाग—मजदूर और किसान आते हैं, इनकी संख्या ४० लाख परिवारों की है। चौथे वर्ग में दासों की भाँति श्रम करने वाले तथा राजनीतिक अथवा अन्य कारणों से सब प्रकार के अधिकारों से वंचित लाखों व्यक्ति हैं, ये सोवियत

१. एबेन्स्टाइन—टूडेज इज्म्स, पृ० ५३

समाज से बहिष्कृत हैं और शूद्रों के समान हीन स्थिति रखते हैं। रूस में वर्गों की संख्या मार्क्स के वर्गहीन समाज का एक प्रबलतम खण्डन है ; वहाँ बोल्शेविक क्रान्ति होने के बाद आधी शताब्दी बीत जाने पर अभी तक भी वर्गहीन समाज की स्थापना नहीं हुई है।[1]

पूँजीवाद का स्वरूप—मार्क्स के मतानुसार पूँजीवाद का विध्वंस अवश्यम्भावी है क्योंकि यह स्वयमेव ऐसे आन्तरिक विरोध (Inner Contradictions) तथा ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है जो इसके विनाश का कारण बनती हैं। इन परिस्थितियों को समझने के लिए पूँजीवाद की विशेषताओं को जान लेना उचित है। इसकी **पहली विशेषता** मुनाफे की दृष्टि से उत्पादन है। इससे पहली दशा—सामन्त पद्धति में अन्न, वस्त्रादि वस्तुओं का उत्पादन स्थानीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखने वाले कृषकों और कारीगरों द्वारा किया जाता था। किन्तु पूंजीपति पद्धति में यह व्यवस्था बिलकुल बदल जाती है। इसमें उत्पादन का प्रधान साधन—मशीनें और कारखाने बन जाते हैं, इन्हें पूँजीपति पूँजी लगाकर खड़ा करते हैं, अतः उत्पादन के साधनों पर पूँजीपतियों का स्वामित्व हो जाता है; दूसरी ओर कारीगर उत्पादन-व्यवस्था बदल जाने से तथा पुराने हस्तोद्योगों के नष्ट हो जाने से बेकार होकर कारखानों में मजदूरी करने के लिए विवश होते हैं। ये अपने लिए नहीं, किन्तु मिल-मालिक के लिए उत्पादन करते हैं। अब उत्पादन-व्यवस्था की एक बड़ी विशेषता यह बन जाती है कि इसमें पूँजी लगाने वाले व्यक्ति इस पर अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से ही उद्योगों का संचालन करते हैं। पूँजीपतियों को लाभ इसलिए होता है कि वे मजदूरों को पूरी मजदूरी नहीं देते हैं, उनसे जितने मूल्य की

---

१. यदि रूस के इन वर्गों की तुलना सं० रा० अमेरिका या ब्रिटेन के सामाजिक वर्गों से की जाए तो दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। पहली बात तो यह है कि दोनों देशों में एक साधारण मजदूर और कारखाने के संचालक के वेतन में लगभग २५-३० गुना अन्तर है। उदाहरणार्थ, १९५३ में रूस के एक अदक्ष श्रमिक का वार्षिक वेतन ३५००-५००० रूबल था और एक महत्वपूर्ण कारखाने के मैनेजर का ८० हजार से १ लाख २० हजार रूबल (टी० बी० बोटोमोर—आधुनिक समाज में वर्ग, नेशनल अकादमी दिल्ली, पृ० ३७), किन्तु रूस में यह आर्थिक विषमता वास्तव में अमेरिका की अपेक्षा कई कारणों से अधिक है। पहला कारण रूस में आय-कर की मात्रा का कम होना है। सं० रा० अमेरिका में आय की वृद्धि के साथ-साथ आय-कर बढ़ता जाता है, निश्चित मात्रा से अधिक आय पर ९१ प्रतिशत तक आय-कर लिया जाता है, किन्तु रूस में आय-कर १२ हजार रूबल की आय तक ही बढ़ता है, इसके बाद इस कर की अधिकतम मात्रा १३ प्रतिशत ही है ; ७ मई १९६० की घोषणा के अनुसार १९६५ से आय-कर समाप्त कर देने की व्यवस्था की गई है (एबेन्स्टाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ५३)। रूस में इस व्यवस्था का उद्देश्य उत्पादन को प्रोत्साहन देना है। दूसरा कारण रूस में उत्तराधिकार-कर (Inheritance Tax) की १९४२ में समाप्ति कर देना है, अमेरिका में निश्चित मात्रा से अधिक बड़ी सम्पत्तियों पर यह ७७ प्रतिशत तक लिया जाता है। दूसरी बात यह है कि अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन आदि पश्चिमी देशों में आय-कर, मृत्यु-कर आदि की मात्रा अधिक होने से वेतन और मजदूरी में आर्थिक विषमता घट रही है, किन्तु रूस आदि साम्यवादी देशों में यह विषमता निरन्तर बढ़ रही है। मजदूर वर्ग में दक्ष एवं अदक्ष श्रमिकों को मिलने वाले वेतन का अन्तर रूस में बढ़ रहा है, किन्तु पश्चिमी देशों में श्रमिक संघों के प्रयास से घट रहा है (एबेन्स्टाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ५३-४)।

वस्तुएँ बनवाते हैं, उसकी आधी या इससे भी कम मजदूरी उन्हें दी जाती है। उदाहरणार्थ, एक कारखाने में एक महीने में तैयार होने वाली वस्तुओं का मूल्य बाजार में दस हजार है किन्तु मिल-मालिक मजदूरों को मजदूरी पाँच हजार या इससे भी कम देता है, इस प्रकार वह पाँच हज़ार का लाभ प्राप्त करता है। यह अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) कहलाता है, आगे इसका प्रतिपादन किया जाएगा। मिल-मालिक का सदैव यह प्रयत्न रहता है कि वह अपने अतिरिक्त मूल्य और मुनाफे को बढ़ाए। यह मजदूरों के अधिकाधिक शोषण से होता है। मजदूरों का जितना अधिक शोषण किया जाता है, उनमें उतनी ही अधिक जागृति होती है और वे पूँजीवाद के विध्वंस के लिए उतनी ही उग्रता से कटिबद्ध होते हैं। इस प्रकार पूँजीवाद स्वयमेव अपने आन्तरिक विरोध (Inner Contradiction) से मजदूरों को पैदा करके अपना विनाश करने वालों की सृष्टि करता है। मार्क्स के शब्दों में, "पूँजीपति वर्ग अपनी कब्र खोदने वालों (Gravediggers) को स्वयमेव उत्पन्न करता है।"

पूँजीवाद की **दूसरी विशेषता** अधिक उत्पादन से मन्दी आदि के भीषण आर्थिक संकट उत्पन्न करना है। शिवजी ने अपने वरदान से उनका विध्वंस चाहने वाले भस्मासुर को उत्पन्न किया था, इसी प्रकार पूँजीवाद अपना विनाश करने वाले आर्थिक संकटों को पैदा करता है। इसमें मुनाफे की दृष्टि से उत्पादन होने के कारण तथा उत्पादन में पूरी स्वतन्त्रता और खुली प्रतियोगिता होने के कारण पूँजीपति जिस वस्तु के उत्पादन में लाभ देखते हैं, उसको बनाना शुरू करते हैं। अनेक कारखानों द्वारा अधिक संख्या में बनाए जाने के कारण इसका उत्पादन अधिक मात्रा में होने लगता है। इसका एक अन्य कारण नई मशीनों के आविष्कार और पुरानी मशीनों में किए जाने वाले सुधार भी हैं। इससे उत्पादन की मात्रा बहुत बढ़ जाती है। दूसरी ओर मजदूरों को मजदूरी कम दिए जाने से उनकी आमदनी कम होती है और उनकी क्रय-शक्ति घट जाती है। इसके परिणामस्वरूप अधिक मात्रा में उत्पन्न होने वाले माल की खपत और माँग घट जाती है। इससे मन्दी का आर्थिक संकट उत्पन्न होता है। १६२६–३० में एक ऐसी भीषण विश्वव्यापी मन्दी आई थी। पूँजीपतियों के मुनाफों की दरों में बड़ी कमी आ गई थी। पूँजीवाद में ऐसे संकट प्रायः आते रहते हैं और ये इसकी नींवों को खोखला करने में सहायक होते हैं।

पूँजीवाद की **तीसरी विशेषता** साम्राज्यवाद का विरोध है। लेनिन के मतानुसार स्वदेश में अपने माल या पूँजी की खपत न होने पर पूँजीवादी देश एशिया अफ्रीका के पिछड़े देशों में अपना माल खपाने के लिए तथा आवश्यक कच्चा माल प्राप्त करने के लिए विभिन्न प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं, इससे साम्राज्य-वाद की उत्पत्ति होती है। लेनिन साम्राज्यवाद को पूँजीवाद की अन्तिम दशा (Last Stage of Capitalism) मानता था। विभिन्न देशों में उपनिवेश पाने एवं साम्राज्य बढ़ाने के लिए होड़ शुरू हो जाती है। किन्तु जब सारा भूमण्डल साम्राज्यवादी देशों में बँट जाता है, साम्राज्य विस्तार की अधिक सम्भावना नहीं रहती है तो साम्राज्य-वादी देश एक-दूसरे का साम्राज्य छीनने के लिए आपस में लड़ने लगते हैं, इससे विश्वयुद्ध आरम्भ होते हैं। प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध का एक महत्वपूर्ण कारण

जर्मनी द्वारा नवीन उपनिवेश पाने और अपना साम्राज्य विस्तार करने की प्रबल आकांक्षा थी। किन्तु इन युद्धों के परिणामस्वरूप एक ओर तो विभिन्न देशों का पूँजीपति वर्ग क्षीण होने लगता है, दूसरी ओर युद्धजन्य परिस्थितियों में साधारण जनता को मँहगाई आदि के भीषण कष्ट भोगने पड़ते हैं, इनसे श्रमिक वर्ग में उग्र असन्तोष और रोष की भावना पैदा होती है, इस भावना से तथा अपने असह्य कष्टों से व्यथित होकर श्रमजीवी हिंसात्मक क्रान्ति करके पूँजीवाद को जड़ से उखाड़ देते हैं, जैसा १९१७ में रूस की बोल्शेविक क्रान्ति में तथा १९४९ में चीन की साम्यवादी क्रान्ति में हुआ। इससे यह स्पष्ट है कि पूँजीवाद में उसके विनाश के बीज निहित हैं।

पूँजीवाद की **चौथी विशेषता** मार्क्स की यह कल्पना है कि इसका अधिक विकास होने पर पूँजीपति अधिक धनी और निर्धन अधिक निर्धन होते चले जाएँगे, पूँजीपतियों की संख्या उत्तरोत्तर घटती जाएगी तथा मजदूरों की संख्या बढ़ती चली जाएगी। भविष्य में समाज में केवल दो ही वर्ग रह जाएँगे—मुट्ठी-भर पूँजीपतियों का वर्ग तथा विशाल निर्धन जनता का अथवा सर्वहारा वर्ग (Proletariat)।[1] वर्तमान समय का मध्यम वर्ग तथा छोटे पूँजीपति सर्वहारा वर्ग में विलीन हो जाएँगे। इसे समाज के दो वर्गों में बँट जाने या **द्विधाविभाजन** (Theory of Polarization) **का सिद्धान्त** कहते हैं। पूँजीपतियों की संख्या कम होने तथा उनकी समृद्धि बढ़ने का कारण यह है कि पूँजीवादी पद्धति प्रतियोगिता (Competition) पर आधारित है, इसकी आरम्भिक दशा में अनेक व्यक्ति एक ही वस्तु का उत्पादन करते हैं; किन्तु उत्पादन की इस होड़ में शनैः-शनैः छोटे पूँजीपति पिछड़ने लगते हैं, अधिक सम्पन्न पूँजीपति नई मशीनों तथा अन्य उपायों से अपने उत्पादन को छोटे पूँजीपतियों की अपेक्षा अधिक सस्ता बेचने लगते हैं। छोटे पूँजीपति इस होड़ में न टिक सकने के कारण लुप्त होने लगते हैं। सभी उद्योग-धन्धे मुट्ठी-भर पूँजीपतियों के हाथ में आने लगते हैं। अतिरिक्त मूल्य के कारण इनके मुनाफों में तथा पूँजी में भारी वृद्धि होती है।

दूसरी ओर पूँजीवाद के विकास से मजदूरों की संख्या में, बेकारी में तथा उनकी दरिद्रता में भीषण वृद्धि होने लगती है। मजदूरों की संख्या बढ़ने का यह कारण है कि पूँजीवाद में मशीनों का विकास अधिक होने से मजदूरों के लिए शारीरिक दृष्टि से शक्तिशाली होना आवश्यक नहीं होता है; मशीनें बटन दबाने से चलने लगती हैं और उत्पादन आरम्भ हो जाता है। यह कार्य पुरुषों के स्थान पर स्त्रियाँ

---

१. अंग्रेजी में प्रोलेतरियत शब्द रोम के इतिहास से आया है। प्राचीन रोम में इस शब्द का प्रयोग सर्वथा सम्पत्तिहीन तथा मजदूरी करके अपना पेट पालने वाले समाज के निम्नतम निर्धन वर्ग के लिए होता था। इसे यह नाम देने का यह कारण था कि यह राज्य की वृद्धि में अपनी सन्तानों (Proles) के वंशविस्तार से ही सहयोग देता था। इस वर्ग के व्यक्ति इस राज्य में कोई पद नहीं प्राप्त कर सकते थे, सेना में सेवा नहीं कर सकते थे। बाद में इसका प्रयोग निर्धनतम और निम्नतम वर्ग के लिए सामान्य रूप से किया जाने लगा। हिन्दी में इसका अनुवाद सर्वहारा किया जाता है, इसका अभिप्राय ऐसे वर्ग से है जिसका सर्वस्व या सब प्रकार की सम्पत्ति पूँजीपतियों द्वारा हरण कर ली गई है।

और बच्चे भी कर सकते हैं, उन्हें मजदूरी भी कम देनी पड़ती है, अतः मिल-मालिक पुरुषों के स्थान पर कारखानों में उन्हें लगाते हैं ताकि उनका खर्च घट जाए और मुनाफा अधिक हो। इससे मजदूरों में बेकारी और गरीबी बढ़ती है। दूसरा कारण यह है कि मशीनों से तैयार होने वाला माल हाथ से तैयार होने वाले माल की अपेक्षा सस्ता होता है, इस कारण दस्तकार और कारीगर अपना महँगा माल न बिकने के कारण भूखे मरने लगते हैं और उन्हें मजदूर बनने के लिए विवश होना पड़ता है, वे निर्धन वर्ग की संख्या में वृद्धि करते हैं। इसी प्रकार उद्योगों में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ने से छोटे पूँजीपति भी निर्धन वर्ग में मिल जाते हैं और इनकी संख्या निरन्तर बढ़ती चली जाती है।

सर्वहारा वर्ग की दरिद्रता पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, इसे **वर्द्धमान दरिद्रता का सिद्धान्त** (Theory of Increasing Poverty या Immiserization) कहते हैं। मार्क्स और एंगल्ज़ ने कम्यूनिस्ट पार्टी के घोषणा-पत्र में लिखा है—"आधुनिक मजदूर की हालत उल्टी है ; उद्योग-धन्धों की उन्नति के साथ-साथ ऊपर उठने की बजाय, वह अपने वर्ग के अस्तित्व के लिए आवश्यक निम्नतम परिस्थितियों से भी अधिकाधिक नीचे गिरता जाता है। वह दरिद्र (Pauper) होता जाता है और दरिद्रता आबादी तथा धन से भी ज्यादा तेजी से बढ़ती जाती है।"[1]

वर्तमान दरिद्रता का नियम पूँजीवादी उत्पादन का स्वाभाविक परिणाम है। इसका प्रधान तत्व पूँजीपति वर्ग द्वारा मजदूर वर्ग का शोषण है, इसमें उत्पादन मुनाफे की दृष्टि से किया जाता है, यह मुनाफा मजदूरों की मजदूरी में से अतिरिक्त मूल्य की (देखिये नीचे, पृ० ३४६) चोरी करके तथा बहुत कम भृति देकर पैदा किया जाता है। पूँजीवादी पद्धति में विभिन्न उत्पादकों में होड़ जितनी मात्रा में बढ़ती है, उतनी ही मात्रा में उनके मुनाफे कम होने लगते हैं और वे मजदूर से अधिकाधिक काम लेकर कम-से-कम मजदूरी देते हैं। उनके इस शोषण से मजदूरों की दरिद्रता और कष्ट बढ़ते जाते हैं। एंगल्ज़ यह मानता था कि मजदूरी घटते-घटते अपने निम्नतम स्तर पर पहुँच जाती है, पूँजीपति मजदूर को उतनी ही मजदूरी दे सकता है जिससे वह अपना पेट भर सके और अपना वंश चलाने के लिए अपने बीबी-बच्चों का पालन कर सके। ऐसी मजदूरी देने में पूँजीपति का अपना स्वार्थ है, यदि वह मजदूरों को जिन्दा रहने लायक वेतन नहीं देगा तो उसके कारखाने कैसे चल सकेंगे। यही लैसल (Leaslle) का **भृति का लौह नियम** (Iron Law of Wages) है। जब मजदूरों को इस प्रकार कम वेतन मिलता है और उनकी दरिद्रता बढ़ती जाती है तो उनमें पूँजीवाद के विरुद्ध तीव्र रोष एवं असन्तोष की भावना उत्पन्न होती है, यही क्रान्ति को पैदा करती है, पूँजीवाद के विध्वंस का मार्ग प्रशस्त करती है। इसलिए मार्क्स के शब्दों में, "पूँजीपति वर्ग जो सबसे बड़ी चीज पैदा करता है, वह है उन लोगों का वर्ग जो खुद उसी की कब्र खोद डालेंगे। उसका खातमा और मजदूर वर्ग की जीत, दोनों

---

१. मार्क्स, एंगल्ज—कम्यूनिस्ट पार्टी का घोषणा-पत्र, पृ० ५०

ही समान रूप से अनिवार्य हैं।"[1]

पूंजीवाद की **पाँचवीं** विशेषता इसकी अन्तर्राष्ट्रीयता (Internationalism) है। नई मशीनों के आविष्कार से उत्पादन की मात्रा बहुत बढ़ जाने पर, इसकी निरन्तर बढ़ती जाने वाली विशाल खपत के लिए मण्डियों की आवश्यकता होती है, क्योंकि यह सारा माल अपने देश की मण्डियों में पूरी तरह नहीं खप सकता, अतः दूसरे देशों में इसके लिए मण्डियाँ खोजी जाती हैं, यातायात एवं संचार साधनों की विलक्षण वैज्ञानिक उन्नति से दूसरे देशों के साथ व्यापार करना सुगम हो जाता है, उन्नतिशील पूंजीवादी देशों के पूँजीपति दूसरे देशों में भी अपनी पूँजी लगाते हैं, इस प्रकार पूंजीवाद विश्वव्यापी और अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप धारण करता है। किन्तु इसके साथ ही इसके विध्वंस के लिए किया जाने वाला आन्दोलन भी एक देश तक सीमित न रहकर सभी देशों में फैल जाता है। पहले मजदूर अपने राष्ट्र में ही पूँजीवाद के विरुद्ध आन्दोलन करते हैं, बाद में उन्हें यह ज्ञात हो जाता है कि यह बुराई अन्य सभी देशों में फैली हुई है। एक देश में साम्यवादी क्रान्ति सफल होने पर अन्य देशों के पूँजीपति इसे विनष्ट करने का प्रयत्न करेंगे, अतः साम्यवादी आन्दोलन सभी देशों में चलाया जाना चाहिए, इसे अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण करना चाहिए, इसके लिए सब देशों के मजदूरों को मिलकर एक **विश्वक्रान्ति** (World Revolution) करनी चाहिए। इसीलिए 'कम्यूनिस्ट घोषणा-पत्र' के अन्त में यह अपील की गई है कि—"दुनिया के मजदूरो, एक हो जाओ।"

'कम्यूनिस्ट घोषणा-पत्र' में मार्क्स ने यह बताया है कि मजदूरों में पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ राष्ट्रीयता के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो जाएगी, क्योंकि उनकी अपनी कोई सम्पत्ति नहीं है, अतः इन्हें अपनी मातृभूमि से या स्वदेश से विशेष लगाव नहीं होता है। सभी देशों में श्रमिक समान रूप से पूंजीवाद के शोषण और अत्याचारों से पीड़ित हो रहा है। भारत, चीन, इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी और सं० रा० अमेरिका में मजदूर समान रूप से दुर्दशाग्रस्त है। अपना उद्धार करने के लिए यह आवश्यक है कि दुनिया-भर के मजदूर संगठित हों और विश्वव्यापी पूँजीवाद का समूलोन्मूलन करें। चूँकि पूंजीवाद अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर चुका है, अतः साम्यवादी आन्दोलन को भी विश्वव्यापी रूप धारण करना पड़ेगा। सब देशों के मजदूरों का सामान्य शत्रु पूँजीवाद है, इसके विध्वंस के लिए सबको मिलकर, अपनी क्षुद्र राष्ट्रीयताओं के बन्धन से ऊपर उठते हुए विशाल अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन करके समूचे विश्व में पूँजीवाद का विध्वंस और समाजवाद की स्थापना करनी चाहिए।

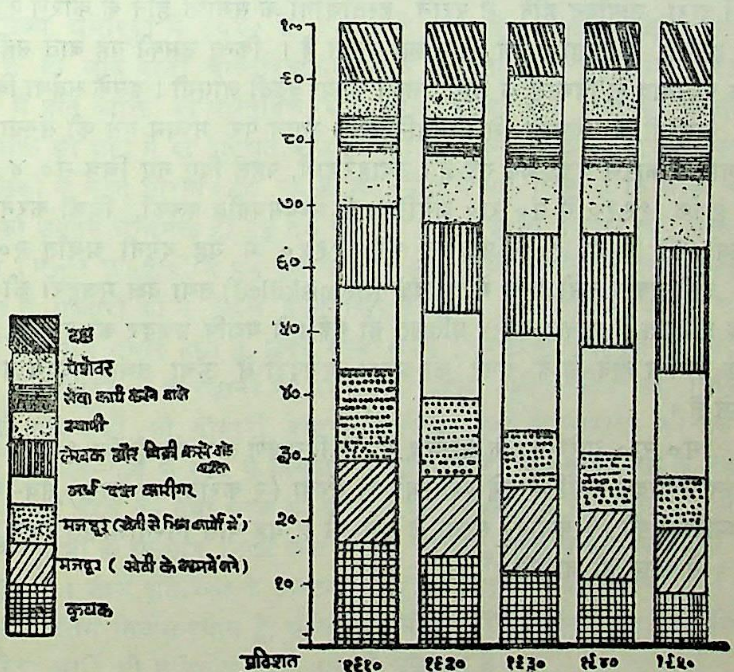
मार्क्सवादी पूँजीवाद के सिद्धान्त की आलोचना—इसके प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं—(१) मार्क्स की समाज के द्विधाविभाजन (Polarization of Society) की अथवा पूँजीपति एवं सर्वहारा नामक दो वर्गों में बँट जाने की, मध्यम वर्ग के लुप्त होने की तथा श्रमिक वर्ग की संख्या बढ़ने की कल्पना सर्वथा मिथ्या सिद्ध हुई है। मार्क्स का यह कहना था कि पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ बढ़ेंगी,

१. कम्यूनिस्ट पार्टी का घोषणा-पत्र, पृ० ५१

किन्तु यह भविष्यवाणी सत्य नहीं सिद्ध हुई, प्रत्युत इसके विपरीत जाने वाली प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं। इस समय सं० रा० अमेरिका सबसे बड़ा पूँजीपति देश समझा जाता है। अतः यहाँ उसके उदाहरणों से यह बताया जाएगा कि मार्क्स का सिद्धान्त और भविष्यवाणियाँ किस प्रकार गलत सिद्ध हो रही हैं।

(क) **सर्वहारा वर्ग की संख्या का घटना**—मार्क्स का कहना है कि सर्वहारा वर्ग की संख्या निरन्तर बढ़ती जाएगी। बीसवीं शताब्दी के पहले पचास वर्षों में सं० रा० अमेरिका की श्रमशक्ति में होने वाले परिवर्तनों को सूचित करने वाले आँकड़ों के निम्नलिखित चार्ट से इस पर मनोरंजक प्रकाश पड़ता है। इस चित्र में यह बताया गया है कि १९०१ से १९५० तक की पाँच दशाब्दियों में विभिन्न प्रकार के काम करने वाले व्यक्तियों की संख्या में किस प्रकार परिवर्तन होता रहा है। इसमें अमेरिकन जनता का विभाजन कृषकों, खेती के काम में लगे तथा इससे भिन्न कार्यों में लगे मजदूरों में, अर्द्धदक्ष कारीगरों (Semiskilled), लेखकों (Clerks), बिक्री करने वालों, सम्पत्ति रखने वाले स्वामियों (Proprietors), सेवा-कार्य करने वालों (Service), पेशेवर (Professionals) तथा दक्ष (Skilled) लोगों में किया गया है। इनकी संख्या को विभिन्न प्रकार के चिह्नों से दिखाया गया है[1]—

सं० रा० अमेरिका में १९०१—५० तक विभिन्न प्रकार का श्रमकार्य करने वाले व्यक्तियों की प्रतिशत संख्या



चित्र सं० ४

---

1. एबेन्स्टाइन—टूडेज इज्म्स, पृ० १८

इससे यह ज्ञात होता है कि मार्क्स के सर्वहारा वर्ग में आने वाले खेतिहर मजदूरों (Agricultural labourers) तथा अदक्ष औद्योगिक मजदूरों (Unskilled Industrial labourers) की संख्या १९१० में २९·२ प्रतिशत थी ; किन्तु १९५० में यह घटकर १२·४ प्रतिशत ही रह गई।

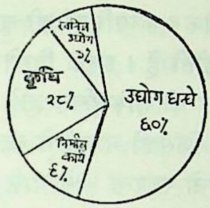
(ख) **मध्यम वर्ग की संख्या बढ़ना**—मार्क्स का कहना था कि मध्यम वर्ग लुप्त हो जाएगा, यह प्रोलेतरियत में मिल जाएगा। किन्तु यह भविष्यवाणी भी मिथ्या सिद्ध हुई है क्योंकि इसकी संख्या निरन्तर बढ़ रही है। एबेन्स्टाइन (पृ० १९) ने प्रोलेतरियत से अनुप्रास मिलाते हुए इसे सेलेरियत (Salariat) या वेतनभोगी वर्ग का नाम दिया है। इसका आशय मजदूर की आमदनी में तथा अवकाश के समय में वृद्धि होने के कारण विकसित होने वाले सिनेमा, रेडियो, टेलीविज़न आदि उद्योगों में, पत्रकारिता, शिक्षा, सरकारी नौकरी, यातायात, विज्ञापन, बिक्री आदि बीसियों नवीन धन्धों में वेतन लेकर सेवा करने वाले लोगों से है। ये उद्योग खेती, इस्पात उत्पादन आदि उद्योगों से सर्वथा भिन्न हैं। नए प्रकार की इस व्यवस्था का औद्योगिक व्यवस्था (Industrial Economy) से भेद सूचित करने के लिए इसे सेवा व्यवस्था (Service Economy) कहते हैं। मार्क्स ने कृषि की व्यवस्था से उद्योग की व्यवस्था तक आने की दशा में इस सेवा व्यवस्था (Service Economy) की कल्पना नहीं की थी। मार्क्स के सिद्धान्त में यह बात तो सत्य है कि औद्योगिक विकास की आरम्भिक दशा में मशीनों द्वारा उत्पादन होने से पुराने हस्तोद्योगों के समाप्त होने के कारण कारीगर बेकार होते हैं, ये सर्वहारा वर्ग की संख्या बढ़ाते हैं। किन्तु उसकी यह बात सही नहीं थी कि पूँजीवाद के विकास के साथ इसकी संख्या बढ़ती जाएगी। इसके सर्वथा विपरीत नवीन उद्योगों के विकास से प्रोलेतरियत के स्थान पर मध्यम वर्ग की संख्या 'सेवा व्यवस्था' के कारण बहुत बढ़ गई है। उदाहरणार्थ, पहले दिए गए चित्र सं० ४ से यह स्पष्ट है कि १९१० में सं० रा० अमेरिका में मध्यमवर्गीय क्लर्कों, बिक्री करने वाले व्यक्तियों की संख्या १०·२ प्रतिशत थी, १९५० में यह दुगुनी अर्थात् २०·२ हो गई। इसी प्रकार इसी काल में अर्द्धदक्ष (Semiskilled) तथा दक्ष मजदूरों की संख्या २६·४ प्रतिशत से बढ़कर ३६·४ प्रतिशत हो गई। ये यद्यपि मजदूर कहलाते हैं, किन्तु अधिक सम्पन्न होने से ये अपने को अदक्ष मजदूरों से ऊँचा तथा मध्यम वर्ग का समझते हैं।

सं० रा० अमेरिका के सम्बन्ध में एक विलक्षण बात यह है कि १९५५ में यहाँ विभिन्न उत्पादन-कार्यों में लगे व्यक्तियों की संख्या (२ करोड़ ८३ लाख) सेव-ाकार्य में लगे व्यक्तियों की (३ करोड़) संख्या से कम थी। यह बात निम्नलिखित चित्र सं० ५ तथा ६ से स्पष्ट हो जाएगी।[1]

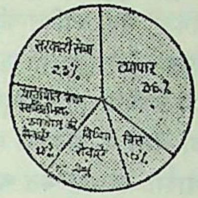
---

१. ये चित्र एबेन्स्टाइन की पुस्तक 'टूडेज़ इज़्म्स' (पृ० २०) से लिए गए हैं।

१९५५ में सं० रा० अमेरिका में विभिन्न कार्य करने वालों की संख्या



चित्र सं० ५



चित्र सं० ६

इससे यह स्पष्ट है कि मध्यम वर्ग की संख्या बढ़ रही है। सं० रा० अमेरिका के अतिरिक्त पूँजीवाद के गढ़ ब्रिटेन तथा स्वीडन में भी यही स्थिति है[1]। इससे स्पष्ट है कि इस विषय में मार्क्स का सिद्धान्त सत्य नहीं है।

(२) मार्क्स का **वर्द्धमान दरिद्रता का सिद्धान्त** (Theory of Increasing Poverty) भी भ्रान्त सिद्ध हुआ है। मजदूरों की दशा में निरन्तर सुधार हो रहा है, उनकी दरिद्रता बढ़ने के स्थान पर घट रही है, उनकी दशा पहले से अच्छी हो रही है और मजदूरी की दर में वास्तविक वृद्धि हो रही है। मजदूरी की दरों के तथा जीवन-निर्वाह के आँकड़े इस वृद्धि को स्पष्ट रूप से सूचित करते हैं। उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड में १८७० की अपेक्षा इस समय श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी दुगनी हो गई है। संयुक्त राज्य अमेरिका में १८४० से १९५० के बीच में श्रमिकों को प्रति घण्टा के हिसाब से दी जाने वाली वास्तविक मजदूरी में छः गुना वृद्धि हुई है। १९२९ से १९४७ में प्रति व्यक्ति की वास्तविक आय ड्योढ़ी हो गई है। अमेरिका में प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति की आय में दो प्रतिशत वृद्धि हो रही है।[2] इन सब तथ्यों से यह स्पष्ट है कि श्रमिकों के वेतन निरन्तर बढ़ रहे हैं, अतः मेयो ने यह लिखा है कि आज केवल मार्क्स का उग्रतम अन्धभक्त ही यह तर्क पेश कर सकता है कि मजदूरों की वास्तविक मजदूरी (Real Wages) में पूर्ण रूप से ह्रास हुआ है।[3] वस्तुस्थिति इससे बिलकुल विपरीत है, मजदूरों को न केवल वेतन पहले से अधिक मिल रहा है, अपितु उनकी दशा में सर्वांगीण सुधार हुआ है, उनके काम करने के घण्टों में कमी हुई है, विभिन्न राज्यों के कानूनों से कारखानों में अधिक स्वास्थ्यपूर्ण परिस्थितियों की, चिकित्सा आदि की सुविधाओं की, बीमारी, बेकारी, बुढ़ापे के बीमों की व्यवस्था की गई है। मजदूरों के रहन-सहन के स्तर में विलक्षण उन्नति हुई है। पूँजीवादी देशों के मजदूरों की १०० वर्ष पहले की तथा आज की दशा में आकाश-पाताल का अन्तर है। मार्क्स की भविष्यवाणी के अनुसार इनकी दशा गिरनी चाहिए, किन्तु वास्तव में इनकी दशा उन्नत हुई है। आज अमेरिका के सामान्य मजदूर के पास न केवल पर्याप्त अन्न और वस्त्र, तथा उत्तम निवास-स्थान है, अपितु उसे मोटर, रेडियो, टेलीफोन, टेलीविज़न, रेफ्रिजिरेटर आदि की सुविधाएँ बड़ी मात्रा में उपलब्ध हैं।

१. एबेन्स्टाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १९; मेयो—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ९९
२. मेयो—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १०६
३. वही, पृ० १०६

(३) मार्क्स की यह भविष्यवाणी भी सत्य सिद्ध नहीं हुई है कि पूँजीवाद के विकास के साथ पूँजी मुट्ठी-भर पूँजीपतियों के हाथ में केन्द्रित हो जाएगी। अब लगभग सभी कारखाने किसी एक व्यक्ति की सम्पत्ति न होकर कम्पनियों की सम्पत्ति होते हैं। ये कम्पनियाँ संयुक्त पूँजी (Joint Stock) वाली होती हैं। इनके हिस्से हजारों व्यक्ति खरीदते हैं, इनमें मध्यम एवं मजदूर वर्ग के व्यक्ति भी सम्मिलित होते हैं। अतः पूँजी और सम्पत्ति का वैसा केन्द्रीकरण नहीं हो रहा है जिसकी मार्क्स ने कल्पना की थी।

(४) मार्क्स का यह मत था कि पूँजीवाद से उत्पन्न होने वाले आर्थिक संकटों से, भीषण मन्दी से तथा इसके परिणामस्वरूप मुनाफे की दर में निरन्तर कमी होने के नियम (Law of falling rate of profit) से पूँजीवादी व्यवस्था का पतन अनिवार्य है। उसका यह विचार था कि पूँजीवाद के बढ़ने के साथ-साथ पूँजी की मात्रा में निरन्तर वृद्धि हो जाएगी, इसकी मात्रा बढ़ने के कारण इसकी माँग घट जाएगी, इस पर मिलने वाला सूद और मुनाफा भी कम हो जाएगा, मन्दी शुरू हो जाएगी, कारखाने बन्द होने से बेकारी में वृद्धि होगी, इससे उत्पन्न होने वाले असन्तोष से प्रेरित होकर मजदूरों द्वारा की जाने वाली क्रान्ति की ज्वालाओं में पूँजीवाद भस्म हो जाएगा।

१९२९-३० की भीषण मन्दी से यह प्रतीत होता था कि मार्क्स की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हो रही है, उस समय मुनाफे और सूद की दर बहुत गिर गई और बेकारी बहुत बढ़ने लगी थी किन्तु इसी बीच में पूँजीवाद ने अपने दोषों को दूर कर लिया तथा १९५० तक मार्क्स की उपर्युक्त सभी भविष्यवाणियाँ भ्रान्त सिद्ध होने लगीं। मार्क्स को यह आशा थी कि कुछ समय बाद पूँजीवाद की प्राणशक्ति घटने लगेगी, इससे तथा पूँजी की मात्रा बढ़ने से पूँजी की माँग घट जाएगी, पूँजीपतियों के मुनाफे कम होने लगेंगे, पूँजीवाद की कब्र खुदना शुरू हो जाएगी; किन्तु ऐसा नहीं हुआ, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद १९५०-६० के बीच में पूँजी की माँग बहुत बढ़ गई, क्योंकि बीसियों कम्पनियों ने अपने सुधार, विस्तार तथा नई मशीनों को लगाने के लिए पूँजी माँगनी शुरू कर दी। **मार्क्स** ने मशीनों में होने वाले सुधार तथा प्राविधिक उन्नति (Technological development) के तत्व की उपेक्षा की थी। इससे पूँजी को अधिक क्षमतापूर्ण तथा लाभदायक रीति से लगाया जाने लगा है।[1]

मार्क्स का यह कहना था कि पूँजीपति मुनाफे की दर को घटने से बचाने के लिए तथा पूँजीवाद की रक्षा के लिए दो उपाय करेंगे: पहला उपाय अपने उद्योगों को नवीनतम मशीनों से सुसज्जित करते रहना (Rationalization) है, इससे कम पूँजी वाले तथा कम क्षमता से उत्पादन करने वाले कारखाने बन्द हो जाएँगे। इससे पूँजी का केन्द्रीकरण तथा मजदूर वर्ग की संख्या में वृद्धि (Increasing Proletariatization) होगा। पहले (पृ० ३४०-४१) इस भविष्यवाणी के भ्रान्त होने का प्रतिपादन किया जा चुका है। दूसरा उपाय पूँजीपतियों द्वारा अपनी पूँजी को अविकसित देशों में लगाना है, क्योंकि यहाँ उन्हें अपनी पूँजी पर अधिक मुनाफा मिल सकता था। मार्क्स ने कहा था कि इन उपायों से पूँजीवाद के पतन में कुछ विलम्ब अवश्य हो सकता है,

१. एबेन्स्टाइन—टूडेज़ इज़्म्स, पृ० १६

किन्तु इसके अनिवार्य पतन को टाला नहीं जा सकता है। किन्तु मार्क्स की भविष्य-वाणी के सर्वथा प्रतिकूल विकसित पूंजीवादी देशों के पूँजीपतियों ने अपनी पूँजी लगाने में अधिक मुनाफों की अपेक्षा राजनीतिक स्थिरता और सुरक्षा पर अधिक ध्यान दिया है। उदाहरणार्थ, १९६० में विदेशों में लगी हुई अमेरिका की कुल पूँजी ३२ अरब (Billion) डालर थी। इसमें १८ अरब की पूँजी पश्चिमी जगत् में थी। इसमें आधे से भी अधिक पूँजी कनाडा में लगी हुई थी। पश्चिमी योरोप में लगी ५·५ अरब में से आधी पूँजी ब्रिटेन में थी। एशिया और प्रशान्त महासागर में अमेरिका ने भारत और इंडोनीशिया जैसे पिछड़े देशों की अपेक्षा आस्ट्रेलिया, जापान और फिलिपाइन द्वीपसमूह में अपनी पूँजी अधिक लगाई।[1] इससे मार्क्स की कल्पना भ्रान्त सिद्ध होती है।

मार्क्स यह मानता था कि पूँजीवाद आर्थिक विषमता को बढ़ाकर तथा बेकारी उत्पन्न करके स्वयमेव अपना विनाश करने वालों को जन्म देगा। किन्तु कल्याणकारी राज्य (Welfare State) के विचार के विकास से उसकी यह भविष्यवाणी भी पूरी नहीं हुई। ग्रेट ब्रिटेन ने बीवरिज योजना (Beveridge Plan) के मौलिक सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए समाज में धनियों पर भारी कर लगाकर और उन करों से होने वाली आमदनी से दरिद्र वर्ग के लिए विभिन्न सुविधाओं तथा बेकारी, बीमारी, बुढ़ापे आदि के बीमों की व्यवस्था करके समाज में आर्थिक विषमता को कम किया तथा बेकारी के खतरे को दूर कर दिया है।

(५) मार्क्स का यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है कि विश्वव्यापी पूँजीवाद का विध्वंस करने के लिए सब देशों के मजदूर राष्ट्रीयता की संकुचित सीमाओं से ऊपर उठकर एक महान् अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन का संगठन करके एक विश्वव्यापी क्रान्ति करेंगे; क्योंकि सभी देशों के मजदूरों को पूँजीवाद का विध्वंस अभीष्ट है। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले साम्यवादियों को यह विश्वास था कि सब देशों के समाजवादी अपनी राष्ट्रीयता के बन्धनों से ऊपर उठकर अन्तर्राष्ट्रीय एवं विश्वव्यापी क्रान्ति करने में सहयोग देंगे। किन्तु १९१४ का युद्ध छिड़ने पर सभी देशों के समाजवादी दलों ने आँख मूँदकर अपने देश का साथ दिया। उस समय लेनिन ने इस उग्र देशभक्ति (Chauvinism) की आलोचना की थी। रूस में बोल्शेविक क्रान्ति होने के बाद लेनिन की मृत्यु पर त्रातस्की और स्तालिन में विश्वक्रान्ति के प्रश्न पर तीव्र मतभेद था। त्रातस्की समूचे विश्व में साम्यवादी क्रान्ति करना चाहता था, किन्तु स्तालिन इसे पहले रूस में सुदृढ़ करने का प्रबल समर्थक था। इस संघर्ष में उसकी विजय हुई। इस समय यद्यपि ८७ देशों में साम्यवादी दल हैं, किन्तु वे राष्ट्रीयता के साथ-साथ ही साम्यवाद के उपासक हैं। राष्ट्रीयता के आधार पर यूगोस्लाविया के मार्शल टीटो का स्तालिन से घोर मतभेद था, इसी कारण मास्को और पेकिंग में उग्र विरोध है। ये सब घटनाएँ मार्क्स के अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक आन्दोलन तथा विश्वव्यापी क्रान्ति को संगठित करने के विचार का खण्डन करती हैं।

---

१. एबेन्स्टाइन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १६-१७

(६) मार्क्स का यह मत था कि पूँजीवाद का अधिक विकास होने पर उसके आन्तरिक विरोध (Inner Contradictions)—श्रमजीवी वर्ग, व्यापारिक मन्दी, आर्थिक संकट, साम्राज्यवाद और युद्ध—उसकी कब्र खोदेंगे। पूँजीवाद का जितना ही अधिक विकास होगा, उसके विध्वंस की सम्भावनाएँ उतनी ही प्रबल होंगी। किन्तु पूँजीवाद के गढ़—ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमेरिका में अभी इसकी समाप्ति के कोई लक्षण नहीं दिखाई दे रहे हैं। इसके विपरीत साम्यवाद उन्हीं देशों में अधिक सफल हुआ है जहाँ पूँजीवाद इन देशों की अपेक्षा बहुत कम विकसित हुआ था। योरोप में रूस तथा एशिया में चीन औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े देश थे, इनमें पूँजीवाद का अधिक विकास नहीं हुआ था, किन्तु साम्यवादी क्रान्ति इन्हीं देशों में सफल हुई है। यह तथ्य मार्क्स के उपर्युक्त सिद्धान्त का खण्डन करता है।

अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) **का सिद्धान्त**—एंगल्ज़ के मतानुसार मार्क्स के दो महान् अविष्कार—इतिहास की आर्थिक व्याख्या तथा अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त थे, इन दोनों खोजों से ही समाजवाद वैज्ञानिक बना। इस सिद्धान्त को अच्छी तरह समझने के लिए मूल्य का स्वरूप जान लेना आवश्यक है।

मूल्य के दो आधार—(क) **उपयोगिता मूल्य**—मार्क्स अन्य अर्थशास्त्रियों की भाँति वस्तु के मूल्य के दो प्रकार के आधार मानता है: पहला आधार उपयोगिता (Utility) है। उपयोगिता का अर्थ है मनुष्य की इच्छा पूरी करना। जो वस्तुएँ मनुष्य की इच्छाएँ पूरी करती हैं, वे उसके लिए उपयोगी हैं, अत: वे मनुष्य के लिए महत्वपूर्ण और मूल्यवान् हैं। जो वस्तुएँ उसकी इच्छा को पूरी नहीं करती हैं, वे उसके लिए उपयोगी न होने से कोई मूल्य नहीं रखती हैं। उदाहरणार्थ, मरुस्थल में पानी बहुत कम और रेत बहुत अधिक होती है, मनुष्यों की प्यास की इच्छा पूरी करने के लिए पानी अत्यन्त उपयोगी है, किन्तु रेत की कोई उपयोगिता नहीं है। अत: इस उपयोगिता के कारण वहाँ पानी अत्यन्त मूल्यवान् पदार्थ तथा रेत कोई मूल्य न रखने वाला पदार्थ होता है।

(ख) **विनिमय मूल्य**—मूल्य का दूसरा आधार विनिमय (Exchange) है, इसे विनिमय मूल्य (Value in Exchange) कहते हैं। यह उस अनुपात को कहते हैं जिसके आधार पर किसी वस्तु का दूसरी वस्तुओं से अदला-बदला किया जाता है। उदाहरणार्थ, किसान के पास गेहूँ अधिक मात्रा में है, उसे कपड़े की आवश्यकता है। जुलाहे के पास कपड़ा है तथा उसे गेहूँ की आवश्यकता है। दोनों अपनी वस्तुओं का अदला-बदला करते हैं, किसान एक मन गेहूँ देकर जुलाहे से १० ग़ज कपड़ा लेता है तो इस विनिमय मूल्य को हम यों प्रकट कर सकते हैं—

एक मन गेहूँ = दस गज कपड़ा

मार्क्स ने इसे गेहूँ तथा लोहे के उदाहरण से समझाया है और यह कहा है कि हम यह कल्पना कर लेते हैं कि १ टन गेहूँ २ टन लोहे के बराबर है। किन्तु अब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि हम एक टन गेहूँ को २ टन लोहे के बराबर क्यों मान लेते हैं? इस समीकरण का क्या आधार है? मार्क्स के मत में इसका आधार एक तीसरी वस्तु है जो एक टन गेहूँ में तथा दो टन लोहे में समान

मात्रा में पाई जाती है, यदि ऐसा न होता तो हम दो टन लोहे का विनिमय मूल्य एक टन गेहूँ कभी निश्चित न करते। मार्क्स के मतानुसार यह तीसरी वस्तु श्रम है, **श्रम के आधार पर ही वस्तुओं का विनिमय मूल्य निश्चित होता है।** यही मूल्य का मानदण्ड है। यदि एक मन गेहूँ का विनिमय दस गज कपड़ा है तो इसका यह कारण है कि एक मन गेहूँ पैदा करने में उतना ही श्रम लगता है जितना दस गज कपड़ा उत्पन्न करने में। इससे यह स्पष्ट है कि किसी वस्तु का मूल्य उसमें लगाए गए श्रम (Labour) के आधार पर निश्चित होता है। अतः इसे मूल्य का श्रम सिद्धान्त (Labour Theory of Value) कहते हैं। यहाँ यह शंका हो सकती है कि कोई निकम्मा या आलसी जुलाहा दस गज कपड़ा तैयार करने में अधिक समय लेगा और होशियार जुलाहा कम समय लेगा, तो क्या इस आधार पर विनिमय मूल्य में कोई परिवर्तन होगा। इस विषय में मार्क्स का यह कहना है कि किसी वस्तु के उत्पादन में होने वाले श्रम-काल का अभिप्राय उस औसतन श्रम-काल से है जो उसके उत्पादन के लिए सामान्य रूप से समाज में आवश्यक माना जाता है, यही विभिन्न वस्तुओं का विनिमय मूल्य निश्चित करता है। जिस वस्तु के बनाने में अधिक श्रम और समय लगता है उसका मूल्य अधिक होता है, बैलगाड़ी से मोटर का मूल्य अधिक है क्योंकि उसके निर्माण में अधिक श्रम लगता है। वस्तु का विनिमय मूल्य तो श्रमिक द्वारा उस पर व्यय किए जाने वाले श्रम से निश्चित होता है, किन्तु श्रमिक की मजदूरी किस आधार पर निश्चित होती है? मार्क्स ने इस विषय में रिकार्डो आदि पुराने अर्थशास्त्रियों के मत का अनुसरण करते हुए कहा है कि मजदूर को केवल उतनी ही मजदूरी दी जाती है जिससे वह जीवित रहते हुए अपना पेट भर सके, काम करने योग्य बना रहे, अपना तथा बाल-बच्चों का भरण-पोषण करते हुए सन्तानोत्पन्न कर सके। इसी को **मजदूरी का लौह नियम** (Iron Law of Wages) कहा जाता है। उसकी मजदूरी इसी के अनुसार निश्चित होती है।

अतिरिक्त मूल्य का स्वरूप—मार्क्स का यह कहना है कि उपर्युक्त नियम के अनुसार निश्चित होने वाली मजदूरी पाने वाला श्रमिक अपनी मजदूरी के बराबर मूल्य रखने वाली वस्तुओं को थोड़े समय में ही बना लेता है, किन्तु मिल-मालिक उससे अधिक समय तक काम लेता है और इस समय में उत्पन्न किए गए उसके माल का मूल्य स्वयमेव हड़प लेता है, यही **अतिरिक्त मूल्य** है। उदाहरणार्थ, भृति के लौह नियम के अनुसार दैनिक मजदूरी की दर दो रुपया है। मिल में काम करने वाला मजदूर उसे दी जाने वाली मजदूरी के मूल्य की अर्थात् दो रुपये की वस्तुएँ चार घण्टे में ही बना लेता है। किन्तु मिल-मालिक उससे आठ घण्टे काम लेता है। इसका यह मतलब है कि वह दिन-भर में चार रुपये के मूल्य की वस्तुएँ उत्पन्न करता है, मिल-मालिक दो रुपये उसे देकर दो रुपये अपनी जेब में डालता है। मार्क्स के अनुसार यह अतिरिक्त मूल्य श्रमिक को मिलना चाहिए, किन्तु मिल-मालिक उसके श्रम की चोरी करता है, यही चोरी उसका मुनाफा है, इसी से उसकी पूँजी का निर्माण होता है। उसके मत में सब प्रकार की पूँजी का मूल स्रोत यही है कि मजदूर को जीवन-

निर्वाह के लिए आवश्यक धनराशि देते हुए उससे अधिक समय तक काम लिया जाए तथा इस अधिक समय में पैदा की गई वस्तुओं के अतिरिक्त मूल्य का कुछ भी अंश उसे न देते हुए स्वयमेव हथिया लिया जाए। यही शोषण पूँजीपति को उत्तरोत्तर समृद्ध बनाता है।

यह अतिरिक्त मूल्य ही जमा होकर पूँजी का रूप धारण करता है। उत्पादन की वृद्धि के साथ अतिरिक्त मूल्य भी बढ़ता जाता है। उपर्युक्त उदाहरण में १० मजदूर रखने पर उन्हें २ रु० दैनिक की मजदूरी देकर यदि प्रतिदिन ४० रु० के मूल्य की वस्तुएँ पैदा की जाती हैं तो मिल-मालिक को २० रु० का दैनिक अतिरिक्त मूल्य मिलता है या मुनाफा होता है। किन्तु यदि ४० मजदूर रखकर १६० रु० का उत्पादन किया जाए तो मिल-मालिक को ८० रु० का लाभ होगा। इस अतिरिक्त मूल्य के कुछ हिस्से को पूँजीपति अपनी दैनिक आवश्यकताओं के लिए रख लेता है, शेष धन उत्पादन-कार्य में लगा देता है, इसी को पूँजी कहते हैं, इसे निरन्तर बढ़ाना ही पूँजीपति का लक्ष्य होता है क्योंकि पूँजी अधिक होने से बड़े पैमाने पर उत्पादन-कार्य होगा, नई तथा अच्छी मशीनें लगाकर उत्पादन बढ़ाने से उत्पादन-व्यय कम होगा। इससे उसे अधिक मुनाफा होगा।

पूंजी का स्वरूप और दो प्रकार—मार्क्स पूँजी का मूलतत्व श्रमिकों का शोषण—उनके श्रम से अधिक मूल्य की वस्तुएँ बनाकर उन्हें कम-से-कम मजदूरी देना मानता है। वह पूँजी का अभिप्राय श्रमिकों के श्रम की चोरी तथा शोषण से प्राप्त अतिरिक्त मूल्य से जमा किए हुए उत्पादन के साधन समझता है। वह पूँजी को दो भागों में विभक्त करता है—(१) **स्थायी** (Constant) **पूँजी**, (२) **परिवर्तनशील** (Variable) **पूँजी**। स्थायी पूँजी उत्पादन के साधनों—कच्चे माल, मशीनों, कारखाने की इमारतों पर व्यय की जाने वाली धनराशि है। इसका मूल्य स्थायी रहता है क्योंकि यह अतिरिक्त मूल्य को नहीं उत्पन्न करता है। परिवर्तनशील पूँजी मजदूरों को भृति के रूप में ही दी जाने वाली राशि है। यह अतिरिक्त मूल्य को उत्पन्न करती है।[1] इससे यह स्पष्ट है कि मजदूरों पर व्यय की जाने वाली धनराशि से ही पूँजीपति को अतिरिक्त मूल्य या लाभ प्राप्त हो सकता है, अतः वह इसे बढ़ाने के लिए मजदूरों से अधिक-से-अधिक घण्टों तक काम लेने का, उन्हें कम-से-कम मजदूरी देने का, स्त्रियों और बच्चों को मजदूर रखकर मजदूरी कम देने का तथा श्रम की बचत करने वाली मशीनों को लगाने का पूरा प्रयत्न करता है। दूसरी ओर मजदूर अपनी मजदूरी बढ़ाने के लिए श्रमिक संघों के संगठन, सामूहिक (Collective) सौदे, हड़ताल आदि के उपायों का अवलम्बन करते है। इस प्रकार पूँजीवाद का एक बड़ा आन्तरिक विरोध (Inner Contradiction)—पूँजीपतियों और श्रमिकों का संघर्ष आरम्भ होता है और वह पूँजीवाद के विनाश के बीज बोता है।

अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की आलोचना—यह सिद्धान्त ऊपरी दृष्टि से बड़ा आकर्षक और मनोरम प्रतीत होता है, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से निम्नलिखित कारणों

---

१. हैलोवैल—मेन करेण्ट्स इन माडर्न पोलिटिकल थाट, पृ० ४२२

के आधार पर इसकी इतनी कड़ी आलोचना की गई है कि आजकल इसे कोई भी निष्पक्ष विचारक सही नहीं मानता है।

(१) अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का मौलिक आधार यह विचार है कि वस्तु के मूल्य के निर्धारण का एकमात्र तत्व इसके उत्पादन में लगने वाला मजदूर का श्रम है, अतः उसका सारा मूल्य मजदूर को ही मिलना चाहिए, पूँजीपति इस समय उसे इसका बहुत थोड़ा अंश देता है, शेष अंश को अतिरिक्त मूल्य के रूप में हड़प लेता है। यह विचार भ्रान्तिपूर्ण और मिथ्या है क्योंकि मूल्य का निर्धारण केवल श्रम से नहीं होता है, इस पर प्रभाव डालने वाले अन्य भी अनेक तत्व हैं। वस्तुओं के उत्पादन के लिए पूँजी, मशीनें, कच्चा माल, वैज्ञानिक ज्ञान, आवश्यक संगठन, पुरुषार्थ और प्रबन्धपटुता अपेक्षित है। श्रमिक इन सबके सहयोग के बिना अपने श्रम मात्र से कोई वस्तु नहीं उत्पन्न कर सकता है, अतः वस्तु के मूल्य का निर्धारण करने में श्रमिक के श्रम के अतिरिक्त ये सभी तत्व प्रभाव डालते हैं। परिणामतः मार्क्स का यह कहना ठीक नहीं है कि एक वस्तु के मूल्य में श्रमिक को दी जाने वाली मजदूरी के सिवाय समूचा अतिरिक्त मूल्य पूँजीपति द्वारा की जाने वाली चोरी है। इससे यह स्पष्ट है कि मार्क्स के इस सिद्धान्त का मौलिक विचार गलत है, अतः इसके आधार पर बनाया गया उसका सिद्धान्त भ्रान्तिपूर्ण है।

(२) पूँजीपति को वस्तुओं के उत्पादन में श्रमिक के अतिरिक्त अन्य बहुत-सी बातों के लिए धनराशि व्यय करनी पड़ती है, मार्क्स इनकी सर्वथा उपेक्षा करता है। उसे कारखाने के सुधार के लिए, मशीनों की घिसावट (Depreciation) के लिए, श्रमिकों के जीवन को उत्तम बनाने की आवश्यक सुविधाएँ देने के लिए, उनकी बीमारी, बेकारी के बीमों के लिए काफी धनराशि व्यय करनी पड़ती है। वस्तु के मूल्य का निर्धारण करते हुए इन सब तत्वों को ध्यान में रखना पड़ता है, इन सबका व्यय मार्क्स के तथाकथित अतिरिक्त मूल्य से ही होता है, अतः उसका यह कहना सत्य नहीं है कि पूँजीपति मजदूरी के सिवाय समूचा अतिरिक्त मूल्य स्वयमेव हड़प कर लेता है। यह केवल उसके वैज्ञानिक सत्य के प्रति प्रेम को नहीं, अपितु पूँजीपतियों के प्रति विद्वेष को ही सूचित करता है। बर्ट्रेण्ड रसेल जैसे दार्शनिक ने लिखा है कि अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त विशुद्ध विचार के क्षेत्र में मार्क्स की बड़ी देन नहीं है, अपितु यह वर्तमान पद्धति के प्रति उसकी घृणा का मूर्त्त रूप है।

(३) मार्क्स के मतानुसार अतिरिक्त मूल्य से स्वयमेव नई पूँजी बनती चली जाती है ; किन्तु उसकी यह कल्पना ठीक नहीं प्रतीत होती है। यदि पूँजी अतिरिक्त मूल्य से स्वयमेव बढ़ती चली जाती तो पूँजीपति को अपनी पूँजी बढ़ाने के लिए प्रयत्न करने की, भारी सूद पर ऋण लेने की, कम्पनी के हिस्से बेचकर नई पूँजी प्राप्त करने का भगीरथ प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिए थी।

(४) मार्क्स यह मानता है कि पूँजीपति अतिरिक्त मूल्य या मुनाफे बढ़ाने के प्रलोभन से अधिकाधिक मात्रा में नई मशीनें लगाता है ताकि वह इनसे अधिक उत्पादन करते हुए मजदूर को जीवन-निर्वाह के लिए अपेक्षित भृति का उत्पादन कम-से-कम समय में करके, शेष समय में अधिकतम अतिरिक्त मूल्य पाने के लिए उत्पादन कर

सके। किन्तु इसके साथ ही वह यह भी मानता है कि स्थायी पूँजी—मशीनों, कच्चे माल आदि से कोई अतिरिक्त मूल्य नहीं मिलता है, उसे अतिरिक्त मूल्य **परिवर्तनशील पूँजी** या मजदूरों से प्राप्त होता है। ये दोनों बातें परस्पर विरोधी और असंगत हैं। एक ओर तो मार्क्स यह कहता है कि पूँजीपति अतिरिक्त मूल्य पाने के लिए नई मशीनें लगाता है, दूसरी ओर उसका यह मत है कि मशीनों से उसे कोई अतिरिक्त मूल्य नहीं मिलता, वह केवल मजदूरों मे मिलता है। यदि वास्तव में ऐसा है तो वह मजदूरों के श्रम को कम करने वाली मशीनें क्यों लगाता है। उसे ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे मजदूरों के श्रम की चोरी से प्राप्त होने वाले पूँजीपति के मुनाफे में कमी आ जाएगी। कोई भी पूँजीपति इतना मूर्ख नहीं होगा कि वह अपने मुनाफे को स्वयमेव कम करना पसन्द करे। इस प्रकार मार्क्स अपने विरोधी कथनों से स्वयमेव असंगतियों के जाल में फँस जाता है।

(५) मार्क्स की एक अन्य बड़ी असंगति यह है कि उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पूँजी' के प्रथम खण्ड में और तृतीय खण्ड में अतिरिक्त मूल्य के सम्बन्ध में विरोधी विचार प्रकट किए हैं। यह विरोध इसलिए उत्पन्न हुआ है कि पूँजी के पहले खण्ड में उसने यह कहा है कि अतिरिक्त मूल्य का एकमात्र स्रोत मजदूरों का श्रम है तथा विभिन्न उद्योगों में स्थायी पूँजी (Constant Capital) तथा परिवर्तनशील (Variable) पूँजी का अनुपात बदलता रहता है। इन दोनों बातों से यह परिणाम निकलता है कि जिस उद्योग में मजदूरों की संख्या अधिक होगी, उसमें कम मजदूरों वाले उद्योग की अपेक्षा अधिक लाभ होगा। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता है। सभी उद्योगों में मुनाफे की दर लगभग एक-सी होती है। अधिक मजदूर रखने वाले उद्योग से बहुत अधिक तथा अधिक मशीनें रखने वाले उद्योग से बहुत कम मुनाफा नहीं होता है। मार्क्स ने 'पूँजी' के प्रथम खण्ड में इस आपत्ति का समाधान नहीं किया है। किन्तु तीसरे खण्ड के नवें अध्याय में इस आपत्ति का उत्तर देने का प्रयत्न किया है। किन्तु यह इतना अस्पष्ट है कि इसे पूरी तरह समझना सम्भव नहीं है। इसके बारे में पोस्टगेट ने लिखा है—"अतिरिक्त मूल्य एक ऐसी जटिल तथा गुह्य (Esoteric) प्रक्रिया द्वारा समूचे पूँजीपति वर्ग में बँट जाता है जिसकी व्याख्या यहाँ नहीं की जा सकती है।" इस पर कोई टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है।

(६) मार्क्स ने 'पूँजी' के पहले खण्ड में प्रतिपादित श्रम सिद्धान्त के साथ मुनाफे की एक जैसी दर (Uniform Rate) का समन्वय करने के लिए 'पूँजी' के तीसरे खण्ड में यह कहा है कि "वस्तुओं का विनिमय उत्पादन के दामों (Prices of Production) के आधार पर निश्चित होता है।" उत्पादन का दाम लागत-मूल्य तथा औसत मुनाफे के योगफल के समान होता है, इसका उनके मूल्य (Value) के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता है। पहले खण्ड में वह पदार्थों के विनिमय मूल्य (Exchange Value) का प्रतिपादन करता है और तीसरे खण्ड में वह दामों की चर्चा करते हुए कहता है कि वस्तुओं का विनिमय मूल्य उनके विनियम मूल्य के आधार पर नहीं, किन्तु उनके दामों के आधार पर होता है। ये दोनों परस्पर विरोधी स्थितियाँ भीषण असंगति को पैदा करती हैं। 'पूंजी' के पहले तथा तीसरे खण्ड में प्रतिपादित इन

विरोधी सिद्धान्तों के कारण लोरिया ने लिखा है कि "इससे मार्क्स का मौलिक सिद्धान्त वास्तव में दूषित (Sophisticated) हो गया है और वह इसे निराशाजनक मूर्खता की सीमा तक पहुँचाने का उत्तरदायी है।"[1]

(७) मार्क्स के इस सिद्धान्त का एक बड़ा दोष यह है कि वह इसमें मूल्य (Value), दाम (Price) आदि शब्दों का प्रयोग मनमाने और अनिश्चित ढंग से करता है, उसके सामान्य मजदूर और मिल-मालिक वर्तमान वास्तविक जगत् के नहीं किन्तु कल्पनालोक के प्राणी हैं, क्योंकि वह उनका जिस रूप में वर्णन करता है वह रूप केवल उसके ग्रन्थों में ही मिलता है, वास्तविक रूप में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता है; मार्क्स की दुनिया निराली है, उसमें प्रत्येक पूँजीपति अतिरिक्त मूल्य और मुनाफा कमाने पर तुला हुआ है और मुनाफा कमाना सामान्य क्रिया का अनिवार्य परिणाम है; मजदूर दुगुने या तिगने कर दीजिए, मुनाफा भी दूना या तिगुना स्वयमेव हो जाएगा। इसमें किसी प्रकार की कुशलता, प्रबन्ध-संगठन या योग्यता की कोई आवश्यकता नहीं है। उसके मत में पूँजी तब तक पूँजी नहीं है जब तक यह अतिरिक्त मूल्य न उत्पन्न करे। पूँजीपति केवल वही व्यक्ति है जो निठल्ला बैठा हुआ अतिरिक्त मूल्य पर गुलछर्रे उड़ाता है। उसने अपने ग्रन्थों में मूल्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। किन्तु कहीं भी उसने इस बात को नहीं बताया है कि वह मूल्य शब्द का प्रयोग किस अर्थ में कर रहा है। कोई भी व्यक्ति हमें यह नहीं बता सकता है कि मूल्य से मार्क्स का वास्तव में क्या अभिप्राय था।[2] मार्क्स ने इसी प्रकार अन्य सभी महत्वपूर्ण आर्थिक शब्दों की मनमानी व्याख्या की है, इस कारण इनसे उसका असली अभिप्राय समझना बड़ा जटिल कार्य है।

वस्तुतः उसने अपने पूँजीवादविषयक विशेष मन्तव्यों और सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिए ही आर्थिक प्रश्नों का विवेचन किया है। उसके एक प्रसिद्ध जीवनी-लेखक बीअर ने लिखा है कि इस दृष्टिकोण का खण्डन करना सम्भव नहीं है कि मार्क्स ने आर्थिक सचाइयों का वर्णन करने की अपेक्षा राजनीतिक और सामाजिक नारों का ही अधिक प्रतिपादन किया है।[3] मार्क्स के विषय में यह भी कहा जाता है कि सर्वहारा वर्ग के आन्दोलन के नियमों के अन्वेषक के तथा अग्रगामी समाजशास्त्री के रूप में उसका असाधारण महत्व है, किन्तु आर्थिक सिद्धान्तों के क्षेत्र में उसका महत्व एक आन्दोलनकारी से अधिक नहीं है, अतः उसके अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को सत्य नहीं माना जा सकता है।[4]

साम्यवादी दल का संगठन तथा कार्यक्रम—मार्क्स के मतानुसार पूँजीवाद का पतन अवश्यम्भावी है, किन्तु इसके आधार पर हमें इसकी प्रतीक्षा में चुपचाप नहीं बैठ

---

१. ग्रे—दी सोशलिस्ट ट्रेडिशन, पृ० ३१७

२. ग्रे—दी सोशलिस्ट ट्रेडिशन, पृ० ३२१

३. बीअर—दी लाइफ एण्ड टीचिंग आफ कार्ल मार्क्स, पृ० १२९

४. इस सिद्धान्त की विस्तृत आलोचना के लिए देखिए : ई० वान बोहम—बावर्क—कार्ल मार्क्स एण्ड दी क्लोज़ आफ हिज़ सिस्टम, पाल एम० स्वीज़ी का नवीन संस्करण, न्यूयार्क, १९४९।

जाना चाहिए, और न यही समझना चाहिए कि इसके लिए साम्यवादी दल के संगठन की और कार्यक्रम बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। साम्यवादियों का यह कहना है कि यद्यपि भविष्य में पूंजीवाद के विध्वंस के लिए साम्यवादी क्रान्ति अवश्य होनी है; फिर भी हमें इस विषय में निष्क्रिय नहीं बैठना चाहिए, अपितु इसे शीघ्र लाने के लिए पूरा प्रयास करना चाहिए। वस्तुतः प्रत्येक क्रान्ति के दो पक्ष होते हैं—(१) बाह्य परिस्थितिविषयक (Objective) पक्ष, (२) जनता की मनोवृत्तियों से सम्बन्ध रखने वाला (Subjective) पक्ष। पूँजीवाद के आन्तरिक विरोध (Inner Contradictions) इसके विध्वंस की बाह्य परिस्थितियों को उत्पन्न कर रहे हैं, किन्तु यदि इस समय लोगों की मनोवृत्ति और भावनाएँ इस क्रान्ति के अनुकूल न हुईं, क्रान्ति के मौके को पहचानकर उससे लाभ न उठा सकीं तो क्रान्ति का अवसर निकल जाएगा। अतः समाज में इस क्रान्ति को लाने के लिए तथा सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि साम्यवादी विचारों का प्रचार करने के लिए सभी साम्यवादी दलों का सुदृढ़ संगठन किया जाए।

'कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो' में यह बताया गया है कि पूँजीवाद के विनाश के लिए मजदूरों को तथा साम्यवादी दलों को निम्नलिखित कार्यक्रम सामान्य रूप से अपनाना चाहिए—(१) भूमि के रूप में सम्पत्ति की व्यवस्था का अन्त किया जाए; भूमि के तमाम लगान का उपयोग सार्वजनिक कार्यों के लिए किया जाए। (२) आय-कर इस तरह लगाया जाए कि आमदनी के साथ-साथ वह भी काफी मात्रा में बढ़ता जाए। (३) उत्तराधिकार की प्रथा बिलकुल मिटा दी जाए। (४) भगोड़ों और विद्रोहियों की सम्पत्ति जब्त कर ली जाए। (५) राज्य की पूँजी से राष्ट्रीय बैंक खोलकर लेन-देन के समूचे कार्य को राज्य के हाथ में केन्द्रित कर दिया जाए। बैंकों पर राज्य का एकाधिकार हो। (६) डाक, तार तथा यातायात के साधनों पर राज्य का पूरा अधिकार स्थापित किया जाए। (७) एक बड़ी योजना बनाकर राज्य के सभी उद्योग-धन्धों का तथा उत्पादन के साधनों का विस्तार किया जाए, परती पड़ी हुई तमाम जमीन पर खेती की जाए और जमीन को अधिक उपजाऊ बनाया जाए। (८) प्रत्येक व्यक्ति के लिए कार्य करना अनिवार्य हो। उद्योग-धन्धों को चलाने के लिए और विशेष रूप से खेती-बाड़ी के लिए, लोगों को संगठित किया जाए। (९) खेती-बाड़ी के कार्य का उद्योग-धन्धों के कार्य के साथ सम्बन्ध स्थापिय किया जाए, देश की आबादी को शहरों और गाँवों में उचित रूप से बाँटकर नगरों और ग्रामों के भेद को धीरे-धीरे मिटा दिया जाए। (१०) सार्वजनिक पाठशालाओं में सब बच्चों के लिए मुफ्त शिक्षा की व्यवस्था की जाए। बच्चों के कारखानों में काम लेने की वर्तमान प्रथा को बिलकुल समाप्त किया जाए। पढ़ाई-लिखाई का औद्योगिक उत्पादन के साथ सम्बन्ध जोड़ा जाए।

साम्यवादी कार्य-पद्धति—उपर्युक्त कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए तथा क्रान्ति की उपर्युक्त तैयारी के लिए एक विशिष्ट कार्य-पद्धति अपनायी जाती है। इसमें चार बातों पर बल दिया जाता है—**पहली बात** मजदूरों के नेतृत्व में शोषितों एवं निर्धन व्यक्तियों का संगठन करना है। श्रमजीवी वर्ग ही क्रान्तिकारी आन्दोलन का अग्रदूत तथा नेता हो सकता है, क्योंकि सम्पत्तिहीन होने के कारण उसे वर्तमान व्यवस्था

को बनाए रखने में कोई प्रलोभन नहीं है जबकि मध्यम वर्ग एवं पूँजीपति अपनी सम्पत्ति को बनाए रखने की आकांक्षा के कारण वर्तमान व्यवस्था के समर्थक तथा क्रान्ति के विरोधी हैं। श्रामिकों को क्रान्ति से कोई भय नहीं है। अतः 'कम्यूनिस्ट घोषणा-पत्र' में कहा गया है कि "विश्व-भर के मजदूरो, तुम (क्रान्ति के लिए) एक हो जाओ; तुम्हारे पास तो अपनी बेड़ियों के अतिरिक्त खोने के लिए और कुछ नहीं है।" इसका अनुसरण करते हुए साम्यवादी सर्वप्रथम औद्योगिक श्रमजीवियों का संगठन करते हैं, उनके श्रमिक संघों (Trade Unions) पर आधिपत्य स्थापित करते हैं, मजदूरों को साम्यवाद के प्रमुख तत्वों को समझाते हैं, हड़तालें कराके उन्हें वर्ग-युद्ध की व्यावहारिक शिक्षा देते हैं।

दूसरी बात विद्यार्थी समुदाय में साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रचार करना तथा उन्हें साम्यवाद का अनुयायी बनाना है। छात्रों में तरुणाई का जोश, उत्साह और आदर्शवाद होता है, वे क्रान्तिकारी कार्यों में गहरी दिलचस्पी रखते हैं तथा इसके लिए अविश्रान्त रूप से दिन-रात कार्य करने वाले उत्साही कार्यकर्त्ता बन सकते हैं। अतः व्याख्यानों, विचारगोष्ठियों आदि से इनमें अपने विचारों का प्रचार करने का पूरा प्रयत्न किया जाता है। **तीसरी बात** जनान्दोलनों का निरन्तर जारी रखना है। साम्यवादी निम्न वर्गों की कठिनाइयों तथा असुविधाओं को लेकर सरकार के विरुद्ध निरन्तर आन्दोलन जारी रख के जनता की सहानुभूति एवं विश्वास पाने का पूरा प्रयत्न करते हैं। **चौथी बात** विभिन्न देशों की परिस्थितियों के अनुसार 'साम्यवादी कार्यक्रम' को निर्धारित करना है। यदि देश परतन्त्र होता है तो साम्यवादी अन्य दलों के साथ मिलकर देश की स्वतन्त्रता के संघर्ष में पूरा भाग लेते हैं। यदि देश स्वतन्त्र है, लोकतन्त्र का अनुयायी है तो वे चुनाव लड़कर बहुमत प्राप्त करने तथा राजनीतिक सत्ता हथियाने का प्रयत्न करते हैं। यदि वे बहुमत नहीं प्राप्त कर सकते हैं तो विरोधी दल का निर्माण करके मजदूरों और किसानों की शिकायतों को दूर करने पर बल देते हैं। हर हालत में उनका लक्ष्य क्रान्ति करके **सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता** (Dictatorship of Proletariat) स्थापित करना और पूँजीवाद का विध्वंस करना होता है। अब मार्क्स के क्रान्ति के सिद्धान्त की व्याख्या की जाएगी।

क्रान्ति का सिद्धान्त—मार्क्स का यह दृढ़ विश्वास था कि पूँजीवाद का अधिक विकास होने पर उसका अन्त क्रान्ति के हिंसापूर्ण साधनों से ही सम्भव है; शान्तिमय, वैधानिक (Constitutional) अथवा लोकतन्त्रीय साधनों से किसी देश में समाजवाद को नहीं लाया जा सकता है। उसने यह लिखा है कि "नूतन समाजरूपी शिशु को गर्भ में धारण करने वाले प्रत्येक प्राचीन समाज की जननी शक्ति होती है।"[1] शक्ति के प्रयोग के बिना नूतन समाज का जन्म नहीं हो सकता है।

मार्क्स कई कारणों से शक्ति अथवा क्रान्ति को आवश्यक समझता था। **पहला** कारण उसका द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन था। इसके अनुसार संसार के सभी परिवर्तन आन्तरिक विरोध (Inner Contradictions) के अनुसार झटका देते हुए ही

१. मेयो—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १२६

रहे हैं। पूंजीवाद अपने विनाश के लिए स्वयमेव आन्तरिक विरोध उत्पन्न कर रहा है। नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण उत्पादन-प्रणाली पहले की अपेक्षा कई गुना अधिक मात्रा में वस्तुओं को पैदा कर सकती है; किन्तु यदि इसके अनुसार उत्पादन किया जाए तो मण्डियों में माल की बाढ़ आ जाएगी, माल की मात्रा बढ़ जाने का स्वाभाविक परिणाम वस्तुओं के मूल्य में भारी कमी का तथा भीषण आर्थिक मन्दी का आना होगा, इससे पूँजीपतियों के मुनाफे की तथा सूद की दर गिर जाएगी। अतः अपने मुनाफे यथापूर्व बनाए रखने के लिए पूँजीपति उत्पादन को अधिक नहीं होने देते, भाव ऊँचा रखने के लिए अधिक माल को जलाया या नष्ट किया जाता है। इस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था में एक प्रबल विरोध उत्पन्न होता है। एक ओर साधारण जनता अन्नादि न मिलने के कारण भूखी मरती है, दूसरी ओर पूँजीपति उसका भाव ऊँचा रखने के लिए उसे नष्ट करते हैं। पूँजीपति इस उत्पादन-प्रणाली की अधिक मात्रा में उत्पन्न करने की शक्ति का विरोध करते हैं। इस विरोध का समाधान ठीक वैसे ही विस्फोट से हो सकता है, जैसे पृथ्वी के भीतर अत्यधिक मात्रा में द्रव या वाष्प के किसी स्थान पर एकत्र होने से इसके दबाव का निराकरण एक भीषण भूकम्प या भूचाल से होता है। समाज में इस प्रकार विस्फोट और भूचाल को क्रान्ति कहते हैं। अतः पूँजीवाद के आन्तरिक विरोध का निवारण करने के लिए क्रान्ति अनिवार्य है। **दूसरा कारण** मार्क्स का १८४८ का अनुभव था। इस समय योरोप के अनेक देशों—फ्रांस, हालैण्ड, आस्ट्रिया, हंगरी आदि में क्रान्तियाँ हुई थीं। किन्तु ये सफल नहीं हो सकीं, क्योंकि तत्कालीन निरंकुश सरकारों ने श्रमजीवियों के आन्दोलनों को अपनी सैनिक शक्ति द्वारा कुचल दिया था। उस समय श्रमजीवियों का दमन करने के लिए सभी पूँजीपति संगठित हो गए थे। इस संगठित विरोध का सामना श्रमजीवी केवल क्रान्ति के उपाय का अवलम्बन करके शक्ति के प्रयोग से ही कर सकते थे। **तीसरा कारण** मार्क्स का यह विश्वास था कि इतिहास इस बात का साक्षी है कि शासक वर्ग ने संघर्ष के बिना कभी अपनी सत्ता का परित्याग नहीं किया है, अतः लोकतन्त्रात्मक पद्धति में भी सामाजिक परिवर्तन शान्तिपूर्ण रीति से नहीं हो सकते हैं। लोकतन्त्रीय देशों में शासन-सत्ता पैसे के बल पर वोट खरीदने वाले पूँजीपति अपने हाथ में ले लेते हैं, वे राज्य की समूची व्यवस्था इस ढंग से करते हैं कि राजनीतिक शक्ति उन्हीं के हाथों में सदैव केन्द्रित रहे; राज्य की सेना, पुलिस, न्यायालय आदि पर उनका अधिकार होता है, वे अपने विरोधियों का पूरी तरह से दमन करते हैं, अतः श्रमजीवियों के लिए सत्ता पाने का एक मात्र उपाय सशस्त्र क्रान्ति तथा हिंसापूर्ण उपायों का अवलम्बन है।

क्रान्ति के सिद्धान्त की आलोचना—इसमें कोई सन्देह नहीं कि मार्क्स के क्रान्ति के सिद्धान्त में सत्य का कुछ अंश है, फिर भी इसे पूर्ण रूप से सत्य नहीं माना जा सकता है। इसकी निम्नलिखित आलोचनाएँ की जाती हैं—(१) मार्क्स का कहना है कि पूँजीवाद का चरम विकास होने पर ही क्रान्ति द्वारा पूँजीवादी देशों में साम्यवादी शासन की स्थापना होती है। मार्क्स के इस सिद्धान्त में दो बड़े दोष हैं: **पहला** दोष तो यह है कि इंगलैण्ड, सं० रा० अमेरिका आदि जिन देशों में पूँजीवाद का चरम विकास हुआ है, वहाँ ऐसी कोई क्रान्ति नहीं हुई है और निकट भविष्य में

ऐसी क्रान्ति होने की कोई सम्भावना भी नहीं है। दूसरा दोष यह है कि रूस, पोलैण्ड, रूमानिया, हंगरी, चीन आदि जिन देशों में क्रान्ति द्वारा साम्यवादी शासन की स्थापना हुई है, उनमें पूँजीवाद का चरम विकास नहीं हुआ था, औद्योगिक दृष्टि से वे पिछड़े हुए देश थे। उनमें साम्यवादी क्रान्ति की सफलता का कारण मार्क्स द्वारा बताई गई परिस्थितियाँ नहीं, किन्तु कुछ अन्य ही कारण थे।[1] इन देशों में क्रान्तियों का होना मार्क्स के क्रान्तिविषयक सिद्धान्तों का स्पष्ट खण्डन करता है।

(२) मार्क्स का यह कथन भी ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य नहीं है कि शासक वर्ग संघर्ष के बिना सत्ता का परित्याग नहीं करता है, अतः साम्यवादी शासन की स्थापना के लिए क्रान्ति अनिवार्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अनेक शासक अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए प्रायः प्रवल संघर्ष करते हैं, किन्तु इसके साथ ही शान्तिपूर्ण रीति से सत्ता समर्पण करने के ऐतिहासिक दृष्टान्तों की कमी नहीं है। यह सत्य है कि सं० रा० अमेरिका का निर्माण करने वाले अमेरिकन उपनिवेश १७७५-८३ तक चलने वाले युद्ध के बाद ही इंगलैण्ड की प्रभुता से मुक्त हुए थे, किन्तु इस घटना से शिक्षा ग्रहण करते हुए ब्रिटेन ने कनाडा, न्यूज़ीलैण्ड तथा आस्ट्रेलिया के उपनिवेशों को स्वयमेव स्वाधीनता प्रदान की; द्वितीय विश्वयुद्ध (१९३९-४५) के बाद भारत, पाकिस्तान, वर्मा और लंका ने शान्तिपूर्ण रीति से ब्रिटेन से अपनी स्वतन्त्रता तथा प्रभुसत्ता प्राप्त की। शान्तिपूर्ण सत्ता-परिवर्तन के अन्य उदाहरण स्वीडन से पृथक् होकर १९०५ में नार्वे का तथा डेन्मार्क से अलग होकर १९४४ में आइसलैण्ड का स्वतन्त्र राज्य बनना है।

(३) इतिहास में ऐसे दृष्टान्तों की भी कमी नहीं है जो इस बात को सूचित करते हैं कि शान्तिपूर्ण रीति से किसी देश के शासक वर्ग की सत्ता में किस प्रकार परिवर्तन होता है। इसका एक अत्यन्त प्रसिद्ध उदाहरण इंगलैण्ड का १८३२ का सुधार कानून (Reform Act) है। इस कानून के पास होने से पहले ब्रिटेन में शासन की शक्ति पार्लियामैण्ट में बहुमत रखने वाले जमींदार वर्ग के हाथ में थी, इस कानून के पास होने के बाद यह मध्यम वर्ग के हाथ में आने लगी। यह महत्वपूर्ण परिवर्तन प्रचण्ड वादविवाद के बाद शान्तिपूर्ण रीति से पार्लियामैण्ट द्वारा नया कानून पास करने से हुआ। मार्क्स के सिद्धान्त के मतानुसार इस समय जमींदारों को अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए उग्र संघर्ष एवं गृहयुद्ध करना चाहिए था, किन्तु उन्होंने ऐसा न करते हुए मार्क्स के सिद्धान्त को खण्डित किया।

१८३२ के सुधार कानून द्वारा इंगलैण्ड में शान्तिपूर्ण रीति से सत्ता-परिवर्तन का तथ्य मार्क्स के क्रान्ति के सिद्धान्त के प्रतिकूल होने के कारण मार्क्समतानुयायियों द्वारा प्रायः यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि इंगलैण्ड के शासक वर्ग का परिवर्तन १८३२ के कानून से नहीं अपितु इससे लगभग दो सौ वर्ष पहले चार्ल्स प्रथम के राज्यकाल (१६२५–४९) के समय होने वाले गृहयुद्ध से हुआ, इससे शासन-सत्ता जमींदार वर्ग के हाथ से निकलकर व्यापारिक वर्ग के हाथ में आ गई थी। किन्तु १८३२ का

१. मेयो—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १५०

शान्तिपूर्ण परिवर्तन इतना स्पष्ट, प्रबल तथा अकाट्य है कि एंगल्ज़ को भी इसे स्वीकार करना पड़ा। उसने यह लिखा है कि १७वीं शताब्दी का गृहयुद्ध यद्यपि बूर्जुआ वर्ग की विजय थी तथापि इसके लिए १८३० में एक नवीन संघर्ष की आवश्यकता थी। इतिहास में शान्तिपूर्ण रीति से महत्वपूर्ण परिवर्तन होने के अनेक उदाहरण हैं। भारत में जमींदारी उन्मूलन जैसे सामाजिक परिवर्तन वैध उपायों से कानून द्वारा हुए हैं, क्रान्ति से नहीं हुए।

(४) आधुनिक नवीन परिस्थितियाँ कई प्रकार से मार्क्स के क्रान्ति के सिद्धान्त को निरर्थक तथा अन्यथासिद्ध बना रही हैं : (क) मार्क्स का यह कहना था कि सर्वहारा वर्ग की संख्या बढ़ती चली जाएगी, यह वर्ग क्रान्ति को सम्पन्न करेगा। पहले (पृ० ३४१) यह बताया जा चुका है कि अमेरिका जैसे देशों में सर्वहारा वर्ग (Proletariat) की संख्या घट रही है, वेतनभोगी (Salariat) मध्यम वर्ग की संख्या बढ़ रही है। इनका दृष्टिकोण हिंसात्मक उग्र क्रान्ति करने के पक्ष में नहीं है, अतः अमेरिका जैसे पूँजीवादी देश में साम्यवादी क्रान्ति होने की सम्भावना नहीं है।

(ख) मार्क्स का यह कहना था कि पूँजीवाद से उत्पन्न होने वाले मन्दी के भीषण आर्थिक संकटों में तथा युद्धों में साम्यवादी क्रान्ति होगी, क्योंकि राजनीतिक क्रान्ति आर्थिक क्रान्ति का परिणाम है। किन्तु पूँजीवादी देशों ने मन्दी आदि के प्रतिरोध के उपाय निकाल लिए हैं, १९३० की मन्दी में किसी भी देश में साम्यवादी क्रान्ति नहीं हुई। इंगलैण्ड आदि देशों में कल्याकारी राज्य (Welfare State) की व्यवस्था स्वीकार किए जाने के कारण वहाँ साम्यवादी क्रान्ति होने की कोई सम्भावना नहीं है।

(ग) मार्क्स ने १८४८ में पेरिस की गलियों में मोर्चाबन्दी करके लड़ने वाली श्रमजीवी जनता के संघर्ष के आधार पर साम्यवादी क्रान्ति की कल्पना की थी। उस समय राज्य के पास लड़ने के लिए इस समय जैसे शक्तिशाली शस्त्रास्त्र नहीं थे, अतः जनता क्रान्ति कर सकती थी। किन्तु नवीन शस्त्रों के अविष्कारों से परिस्थिति बदल गई है, सेना पर अधिकार किए बिना कोई क्रान्ति सफल नहीं हो सकती है। अतः आजकल सैनिक क्रान्तियों से प्रायः राज्य-परिवर्तन होते रहते हैं। किन्तु ये मार्क्स की सर्वहारा वर्ग द्वारा की जाने वाली क्रान्ति से सर्वथा भिन्न हैं। ऐसी क्रान्ति की सम्भावनाएँ अब बहुत कम हो गई हैं।

सर्वहारा या मजदूर वर्ग की अधिनायकता (Dictatorship of the Proletariat)—साम्यवादी क्रान्ति होने से पूँजीवाद का विनाश नहीं हो जाता है, इसके बाद संक्रमण काल (Transitional Period) में क्रान्ति को सुदृढ़ एवं चिरस्थायी बनाए रखने के लिए श्रमिक एवं निर्धन वर्ग का अधिनायकतन्त्र स्थापित किया जाता है ताकि क्रान्ति के विरोधी एवं शत्रु पूँजीपतियों का पूरी तरह से सफाया किया जाए, साम्यवाद के विरुद्ध विरोधी क्रान्ति (Counter-revolution) के सब प्रयत्नों को निष्फल बना दिया जाए। क्रान्ति द्वारा पराजित होने पर भी पूँजीपति वर्ग प्राणपण से तथा लेनिन के शब्दों में 'सौगुनी' तथा 'हजारगुनी शक्ति' से साम्यवाद को मिटाने का पूरा प्रयत्न करता है, चिरकाल तक उसके आक्रमण की आशंका बनी रहती है। इस परिस्थिति का सामना करने के लिए मजदूर वर्ग शासन पर अपना एकाधिपत्य

स्थापित करता है; इसका शासन लोकतन्त्रात्मक रीति से नहीं होता है, क्योंकि इसमें शासन-सत्ता केवल मजदूरों के हाथ में रहती है, अतः इसे **सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता** कहते हैं। इसकी शासन-पद्धति बड़ी कठोर, निर्मम, हिंसात्मक और अत्याचार-पूर्ण होती है, क्योंकि इसका प्रधान उद्देश्य पूँजीपतियों का उन्मूलन करके क्रान्ति को स्थायी बनाना है।

'कम्यूनिस्ट घोषणा-पत्र' के अनुसार क्रान्ति का पहला कदम है—मजदूर वर्ग का शासन स्थापित करना। अपने शासन का प्रयोग करके मजदूर वर्ग पूँजीपति वर्ग के हाथ से, धीरे-धीरे सारी पूँजी छीन लेगा, उत्पादन के तमाम साधनों को राज्य के हाथ में अर्थात् शासक वर्ग के रूप में संगठित मजदूर वर्ग के हाथ में सौंप देगा और उत्पादन की कुल शक्तियों को अधिक तेजी से बढ़ाएगा तथा ऊपर (पृ० ३५२) बताए गए 'साम्यवादी कार्यक्रम' को क्रियात्मक रूप प्रदान करेगा।

मजदूर वर्ग की अधिनायकता के सम्बन्ध में मार्क्स और एंगल्ज़ ने बहुत कम लिखा है। एंगल्ज़ इस विषय में १८७१ में फ्रांस की राजधानी में क्रान्ति होने पर स्थापित होने वाली पेरिस के कम्यून की अधिनायकता को आदर्श समझता था। लेनिन ने इस सिद्धान्त का विस्तृत प्रतिपादन किया है और बोल्शेविक क्रान्ति में उसने रूस में ऐसी व्यवस्था स्थापित करके इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप प्रदान किया है। यहाँ **मजदूर वर्ग की अधिनायकता** ने वास्तव में अत्यधिक अल्प संख्या रखने वाले तथा सुसंगठित **साम्यवादी दल की अधिनायकता** (Dictatorship of the Communist Party) का रूप ग्रहण किया है; चीन में भी यही स्थिति है, वहाँ भी साम्यवादी दल श्रमिक वर्ग की अधिनायकता का साधन बनकर शासन कर रहा है।

रूस में साम्यवादी दल ने लेनिन और स्तालिन के नेतृत्व में अपनी अधिनायकता स्थापित करके पूँजीवाद के विध्वंस एवं साम्यवादी क्रान्ति को स्थायी बनाने के लिए उपर्युक्त कार्यक्रम (पृ० ३५२) के अतिरिक्त अनेक उपायों का अवलम्बन किया है: **पहला** उपाय पूँजीपति वर्ग से सम्बन्ध रखने वाले जमींदारों, धनियों, पुलिस, पादरी, मजदूरों से अपने लाभ के लिए काम लेने वाले व्यक्तियों—दुकानदारों, व्यापारियों आदि को मताधिकार से, राजनीतिक अधिकारों से और पद ग्रहण करने से वंचित करना था। **दूसरा** उपाय क्रान्ति-विरोधियों एवं षड्यन्त्रकारियों का निर्मम एवं निष्ठुर दमन है। रूस में साम्यवादी दल के अनेक प्रभावशाली सदस्यों—त्रातस्की, बुखारिन आदि पर क्रान्ति-विरोधी होने के आरोप लगाए गए, हजारों को देशनिर्वासन और प्राणदण्ड की सजाएँ मिलीं। स्तालिन के समय में रूस में भीषण आतंक का शासन बना रहा, ख्रुश्चेव ने १४ फरवरी १९५६ को इस पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि उस समय यदि स्तालिन किसी उच्चतम अधिकारी को भी अपने पास बुलाता था तो उसे इस बात का विश्वास नहीं होता था कि वह सही सलामत अपने घर वापिस पहुँच सकेगा। इस प्रकार के शासन में गुप्तचरों का तथा पुलिस का जाल बिछा रहता है, तनिक भी सन्देह होने पर किसी व्यक्ति को कठोरतम दण्ड दिया जाता है। **तीसरा** उपाय साम्यवादी दल के अतिरिक्त अन्य सभी दलों की समाप्ति, सरकारी कार्यों और नीतियों की सार्वजनिक आलोचना का निषेध तथा भाषण, लेखन और प्रकाशन की स्वाधीनता

का अभाव है। **चौथा** उपाय पुराने पूँजीपतियों और सूदखोरों को शारीरिक श्रम करने के लिए बाधित करना है। **पाँचवाँ** उपाय बच्चों को शुरू से ही साम्यवादी विचारों के अनुसार शिक्षा देना है, जिससे उनके विचार बचपन से ही साम्यवादी साँचे में ढल जाएँ और ये पूँजीवादी दृष्टिकोण से विचार ही न कर सकें। **छठा** उपाय पूँजीवाद के समूलोन्मूलन के लिए उत्पादन के सभी साधनों—भूमि, खानों, कारखानों, व्यापार आदि पर सरकारी आधिपत्य स्थापित करना और इनका संचालन राज्य की ओर से करना है। विभिन्न योजनाओं द्वारा उद्योगों की और कृषि की विलक्षण उन्नति करने का प्रयत्न किया जाता है।

मार्क्स के मतानुसार मजदूर वर्ग की अधिनायकता एक संक्रमणकालीन अवस्था (Transitional stage) है। यह अवस्था थोड़े समय तक ही रहेगी। यह केवल क्रान्ति के शत्रुओं को निर्मूल करने के लिए तथा साम्यवादी अवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए है। ऐसा हो जाने पर मजदूरों की अधिनायकता समाप्त हो जाएगी। किन्तु यह कब समाप्त होगी, इस विषय में मार्क्स तथा उसके अनुयायी कोई निश्चित उत्तर नहीं देते हैं। रूसियों का यह कहना है कि यह दशा एक पीढ़ी अर्थात् २०-२५ वर्ष तक रहेगी।[1] किन्तु वहाँ १९१७ की क्रान्ति के बाद दो पीढ़ी की अवधि बीत जाने के बाद भी अभी यह दशा समाप्त नहीं हुई है और न ही इसके शीघ्र समाप्त होने की आशा है।

मार्क्स के मतानुसार साम्यवादी क्रान्ति का अन्तिम लक्ष्य वर्गहीन (Classless) एवं राज्यहीन समाज स्थापित करना है। मजदूर वर्ग की अधिनायकता पूँजीवादी तथा साम्यवादी समाज की मध्यवर्ती दशा है। इस अधिनायकता की दशा में भी राज्य की सत्ता बनी रहती है, पूँजीवादी व्यवस्था में राज्य पर पूँजीपतियों का प्रभुत्व था, वे इसका उपयोग अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए तथा निर्धन लोगों के शोषण के लिए करते थे; मजदूर वर्ग की अधिनायकता में राज्य की शक्ति का प्रयोग श्रमिक वर्ग की हित-सिद्धि के लिए तथा पूँजीपतियों के उन्मूलन के लिए किया जाता है। किन्तु ऐसा करते हुए यह अधिनायकता शनैः-शनैः समाज में सभी वर्गों का अन्त कर देती है, इसके परिणामस्वरूप संक्रमण काल के बाद राज्य और सरकार का अन्त होकर एक आदर्श अराजक साम्यवादी समाज स्थापित होता है। इसके लिए मार्क्स का राज्यविषयक सिद्धान्त समझना आवश्यक है।

राज्यविषयक सिद्धान्त—मार्क्स तथा एंगल्ज़ ने राज्य के विषय में अपने सिद्धान्त का बहुत ही कम विवेचन किया है। इस सम्बन्ध में पहला प्रश्न इसके उद्गम का है। इसका विवेचन एंगल्ज़ ने **'परिवार, वैयक्तिक सम्पत्ति और राज्य का उद्गम'** नामक पुस्तक में किया है। इसमें उसने यह बताया है कि मानव-समाज की आरम्भिक दशा में 'आदिम साम्यवाद' (Primitive Communism) की अवस्था थी। एंगल्ज़ ने इस अवस्था में राज्य की सत्ता के बारे में निश्चित मत नहीं प्रकट किया है। कुछ स्थलों पर उसने इसकी सत्ता को अस्वीकार किया है, किन्तु अन्यत्र यह माना है कि

---

१. मेयो—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १६१

आदिम अवस्था में मनुष्यों के आपसी विवादों का निर्णय करने के लिए, सार्वजनिक व्यवस्था और शान्ति को तथा जलपूर्ति की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए राज्य की संस्था बनी हुई थी। इस प्रकार परस्पर विरोधी मत प्रतिपादित करते हुए वह हमें यह कहीं नहीं बताता है कि राज्य ने विशेष वर्ग का प्रभुत्व स्थापित करने वाले एक अत्याचारपूर्ण, परोपजीवी (Parasitic) शासन का रूप किस प्रकार धारण किया।

राज्यविषयक दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न इसके **उद्देश्य और स्वरूप** का है। इस विषय में मार्क्स का अपना विशेष मन्तव्य है और वह राजनीतिशास्त्र के अन्य विचारकों से सर्वथा भिन्न है। अरस्तू ने कहा था कि राज्य का उद्देश्य मनुष्य के जीवन को उत्तम बनाना तथा पूर्णरूप से विकसित करना है, राज्य की सत्ता इसलिए है कि उसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक अपना उच्चतम विकास कर सके। यह सबके सहयोग से सामान्य हित के कार्य करने वाला समुदाय है। राज्य समाज के विभिन्न तत्वों में सन्तुलन रखते हुए न केवल व्यक्ति के, अपितु सभ्यता के विकास में भी सहायक होता है। किन्तु मार्क्स इसके सर्वथा विपरीत यह मानता है कि राज्य शासक वर्ग के हितों को सुरक्षित बनाए रखने का तथा अन्य वर्गों के शोषण करने का साधन या उपकरण मात्र है। वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में राज्य पूँजीपतियों का संगठन है; इसका उद्देश्य मजदूर वर्ग का शोषण करना है, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह अपनी सम्पत्ति एवम् हितों की रक्षा की दृष्टि से कानूनों का निर्माण करता है, कानून भंग करने वालों को पकड़ने तथा दण्ड देने के लिए पुलिस तथा न्यायालयों की व्यवस्था करता है। **कम्यूनिस्ट घोषणा-पत्र** में राज्य को **'पूँजीपतियों की कार्यकारिणी समिति'** (Executive Committee of the Bourgeoise) कहा गया है। मार्क्स के मतानुसार राज्य अपनी सम्पत्ति और हितों को सुरक्षित बनाए रखने की दृष्टि से पूँजीपतियों द्वारा बनाए गए संगठन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। एंगल्ज़ ने राज्य का लक्षण करते हुए लिखा है कि यह एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के उत्पीड़न करने का यन्त्र मात्र है। यह मानव-जीवन के विकास का उत्तम तथा स्वाभाविक साधन अथवा समाज के सभी वर्गों में सामंजस्य और सन्तुलन बनाए रखने वाला, उनके अधिकारों की रक्षा करने वाला तथा उनके कल्याण में संलग्न संगठन नहीं है, अपितु इसका उद्देश्य एक विशेष वर्ग की प्रभुता को बनाए रखना तथा उसे अन्य वर्गों के शोषण की खुली छूट देना है, यह वर्ग आर्थिक उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व स्थापित करके सेना, पुलिस और कानून द्वारा अपने वर्ग के आधिपत्य को सुदृढ़ बनाता है।

मार्क्स के मतानुसार राज्य शक्ति पर आधारित है। जब एक बार कोई वर्ग राजनीतिक सत्ता हस्तगत कर लेता है तो वह पूरी शक्ति के साथ इसे बनाए रखने का प्रयत्न करता है। राजनीतिक शक्ति का अभिप्राय एक वर्ग की उस संगठित शक्ति से है जिसका उपयोग वह दूसरे वर्ग को दबाए रखने के लिए करता है। अतः राज्य का मौलिक उद्देश्य शासक वर्ग के हितों का संरक्षण तथा अन्य वर्गों का उत्पीड़न एवं दमन करना है।

मार्क्स राज्य के इस उद्देश्य और स्वरूप का समर्थन वर्तमान पूँजीवादी राज्यों के कारनामों के आधार पर करता है। उनके मतानुसार किसी भी राज्य में साधारण जनता की अथवा मजदूर वर्ग की दशा सुधारने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है, केवल पूँजीपतियों के हितों की सुरक्षा के लिए कानून बनाए जाते हैं। पुलिस, न्यायालय, सेना और प्रशासन की व्यवस्था निर्धन व्यक्तियों का शोषण करने के लिए ही है। मजदूरों पर अपना आधिपत्य और प्रभुत्व बनाए रखने के लिए राज्य विद्यालयों तथा धार्मिक संगठनों का उपयोग करता है। विद्यालयों में निर्धन व्यक्तियों के बच्चों के मनों पर बचपन से ही यह प्रभाव डाला जाता है कि उन्हें राज्य के आदेशों का पालन करना चाहिए, धार्मिक संगठन मजदूरों को इस बात की शिक्षा देते हैं कि राज्य के विरुद्ध विद्रोह करना महापाप है, उनकी दरिद्रता एवं दुरवस्था उनके दुष्कर्मों का दण्ड है, इसे भगवान् ने दिया है, अतः दरिद्रता को दैवी व्यवस्था समझकर सन्तोष करना चाहिए, इसके विरुद्ध असन्तोष, रोष या विद्रोह की भावना दैवी व्यवस्था को उलटने का महान् पाप होगा। इस प्रकार शासक वर्ग सभी प्रकार से शासित वर्ग को पराधीनता के पाश में जकड़कर उसका शोषण करता है।

राज्य के इस सिद्धान्त की कई विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं: **पहली विशेषता** इसका वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त (ऊपर पृ० ३२८) के साथ गहरा सम्बन्ध है। यह वस्तुतः उसी सिद्धान्त का परिणाम है। इसके अनुसार समाज में सदैव वर्ग-संघर्ष चलता रहता है, राज्य इसका सर्वोत्तम उदाहरण प्रस्तुत करता है, इसमें एक वर्ग दूसरे वर्ग का दमन करता रहता है। इसकी **दूसरी विशेषता** यह सूचित करती है कि राज्य सदैव मजदूरों का शोषण करता है, अतः इन दोनों के विरोध की समस्या का कभी समाधान नहीं हो सकता है, मजदूरों को राज्य के साथ कभी कोई समझौता नहीं करना चाहिए, अपितु इनका उद्देश्य इसके साथ अविरत संघर्ष करते हुए इसका विध्वंस करना होना चाहिए। इसके विनाश से ही श्रमिकों को दरिद्रता, दैन्य और भीषण कष्ट-रूपी महादानवों के अत्याचारों से मुक्ति मिलेगी। **तीसरी विशेषता** यह है कि राज्य का आधार पाशविक शक्ति को मान लेने का स्वाभाविक परिणाम यह है कि इसकी समाप्ति के लिए भी शक्ति के प्रयोग को आवश्यक माना जाए। 'विषस्य विषमौषधम्', शक्ति का प्रतिकार शक्ति से ही हो सकता है। वर्तमान पूँजीपति राज्य का उन्मूलन करने के लिए क्रान्ति और हिंसा की आवश्यकता स्वतःसिद्ध है। इसका अन्त ऐसे साधनों से ही हो सकता है। **चौथी विशेषता** राज्य के दमनात्मक और दण्डात्मक पहलू पर बल देना है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य का प्रधान कार्य विशेष वर्ग के हितों को शक्ति द्वारा सुरक्षित बनाना है, अतः यह इस वर्ग को क्षति पहुँचाने वाले सभी कार्यों का दमन करता है। इसका अत्याचारी रूप उस समय पूर्णतया प्रकट होता है जब मजदूरों द्वारा अपनी दशा को सुधारने के लिए की गई हड़तालों को रोकने तथा हड़ताली प्रदर्शनकारियों का दमन करने के लिए पुलिस लाठी चार्ज करती है, सेना गोलियाँ चलाती है तथा श्रमिक नेताओं को जेल की कोठरियों में बन्द किया जाता है। इससे मार्क्स ने यह परिणाम निकाला है कि राज्य का प्रधान कार्य जनता का कल्याण नहीं,

किन्तु उसका दमन करना है। **पाँचवीं विशेषता** भविष्य में राज्य की संस्था का समाप्त हो जाना है। इसका प्रतिपादन आगे किया जाएगा।

राज्य के सिद्धान्त की आलोचना—मार्क्स के राज्य के उपर्युक्त सिद्धान्त में कई गम्भीर दोष हैं—(१) यह राज्य के स्वाभाविक और वास्तविक स्वरूप के स्थान पर उसका एकांगी, दूषित तथा विकृत दृष्टिकोण उपस्थित करता है। राज्य का प्रधान कार्य मनुष्य के उत्तम जीवन के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न करना है, वह यह कार्य विदेशी शत्रुओं के आक्रमणों से सुरक्षा प्रदान करके तथा देश में आन्तरिक शान्ति की व्यवस्था उत्पन्न करके करता है। स्पेन्सर जैसे व्यष्टिवादी भी इस दृष्टि से राज्य की उपयोगिता मानते हैं (पृ० २४१); किन्तु मार्क्स राज्य के मौलिक एवं प्रधान कार्यों की उपेक्षा करते हुए उसके दमनात्मक कार्यों को अनावश्यक महत्व प्रदान करता है। वह राज्य के स्वाभाविक रूप को न देखकर उसके दूषित रूप को देखता है, यह वैसा ही है जैसे कोई जेलखाने में जाकर अपराधियों के चरित्र के आधार पर मानवीय स्वभाव के बारे में कुछ सिद्धान्त निश्चित करे। यह सम्भव है कि कुछ राज्यों में विशेष वर्गों के हितों को ही प्रधान रूप से सुरक्षित रखा गया हो, किन्तु सभी राज्य सदैव साधारण जनता के हितों की उपेक्षा करते हुए विशेष वर्गों के हितों का पोषण करते हैं—इस धारणा को सार्वभौम रूप से सत्य नहीं माना जा सकता है। प्राचीन एवं मध्य काल के इतिहास में जनता के कल्याण को सर्वोपरि रखने वाले राजाओं और राज्यों की कमी नहीं रही है।

(२) मार्क्स ने अपना सिद्धान्त एक शताब्दी पहले बनाया था, इसके बाद का इतिहास उसकी धारणा को पुष्ट नहीं करता है। उसके मतानुसार पूँजीवादी देशों में पूँजीपति अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए मजदूरों को तथा जनता को लाभ पहुँचाने वाले कानून नहीं बनने देते हैं। किन्तु पिछले सौ वर्षों में लगभग सभी औद्योगिक देशों—इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, सं० रा० अमेरिका आदि में मजदूरों की दशा में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने वाले कानून बने हैं। अब सर्वत्र कल्याणकारी राज्य (Welfare State) का विचार स्वीकार किया जाने लगा है। इंगलैण्ड जैसे पूँजीवाद का गढ़ समझे जाने वाले देशों में जनता के वोटों से निर्वाचित मजदूर-सरकारों ने बेकारी, बीमारी, बुढ़ापे के बारे में विभिन्न योजनाओं द्वारा निर्धन वर्ग की प्रधान समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया है। ये सब तथ्य मार्क्स के इस कथन को मिथ्या सिद्ध करते हैं कि राज्य पूँजीपतियों द्वारा निर्धन जनता के शोषण का प्रधान साधन है। इस समय वस्तुतः राज्य इनके उत्थान और कल्याण का प्रमुख उपकरण बने हुए हैं।

(३) मार्क्स का यह कथन भी सत्य नहीं है कि क्रान्ति के बिना वर्तमान पूँजीवादी राज्य में परिवर्तन नहीं हो सकता है, पूँजीवादी राज्य के विध्वंस और समाजवादी राज्य की स्थापना का एकमात्र साधन हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन है। इंगलैण्ड, अमेरिका तथा भारत जैसे लोकतन्त्रीय परम्परा वाले देशों में शान्तिपूर्ण और वैध उपायों से पूँजीवादी राज्य समाजवादी राज्य में परिणत हो रहे हैं। इंगलैण्ड में १८३२ के सुधार कानून से शासन-सत्ता जमींदार वर्ग के हाथ से निकलकर मध्यम वर्ग के हाथ में आ गई और इसने वहाँ सुधार कानूनों की एक लम्बी परम्परा का

श्रीगणेश किया। यही कारण था कि १८४८ में योरोप के अन्य देशों में क्रान्तियाँ हुईं, किन्तु इंगलैण्ड में क्रान्ति नहीं हुई। सं० रा० अमेरिका में राष्ट्रपति जैक्सन ने इसी प्रकार के परिवर्तन किए, १९३० की मन्दी के बाद राष्ट्रपति रूज़वैल्ट ने अपनी 'नवीन व्यवस्था' (New Deal) द्वारा महान् परिवर्तन किए। भारत में कांग्रेसी सरकारों ने जमींदारी उन्मूलन आदि के कानून बनाकर जमींदार वर्ग की समाप्ति बड़ी शान्तिपूर्ण रीति से की है। विनोबा भावे ने भूदान आन्दोलन द्वारा भारत की भूमि-व्यवस्था में एक महान् क्रान्ति की है। ये सब उदाहरण मार्क्स के एकमात्र क्रान्ति के उपाय का प्रबल खण्डन करते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि पूँजीवादी राज्य को शान्तिपूर्ण वैध उपायों से समाजवादी राज्य में परिवर्तित किया जा सकता है।

राज्य की संस्था का लुप्त होना (Withering away of the State)—मजदूर वर्ग की अधिनायकता के संक्रमण काल के बाद मार्क्स एक ऐसी आदर्श अवस्था की कल्पना करता है जिसमें राज्य और सरकार का अन्त हो जाएगा। इसमें मनुष्य पहली बार पूर्ण स्वतन्त्रता का उपभोग करेगा, उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार होगा। सब लोग अपनी शक्ति के अनुसार काम करेंगे, उन्हें अपनी आवश्यकतानुसार उपभोगयोग्य वस्तुएँ दी जाएँगी। यह समाज न केवल राज्यहीन, किन्तु वर्गहीन भी होगा। यह मार्क्स के उपर्युक्त राज्यविषयक सिद्धान्त का स्वाभाविक तर्कसंगत परिणाम है। वह राज्य को सत्तारूढ़ प्रबल वर्ग द्वारा निर्बल वर्ग के शोषण का यन्त्र या साधन समझता है। उसके मतानुसार राज्य की उपयोगिता शासक वर्ग के विशेषाधिकारों की रक्षा करना है। अतः जब तक समाज में वर्ग बने रहेंगे, तब तक एक विशेष वर्ग की सत्ता के समर्थक राज्य की भी सत्ता बनी रहेगी। किन्तु सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता हो जाने पर पूँजीपतियों के वर्ग का उन्मूलन हो जाएगा, इसके बाद स्वतः समाज में वर्ग-भेद की अथवा दो पृथक् वर्गों की सत्ता समाप्त हो जाएगी, सब व्यक्तियों को समानता की स्थिति प्राप्त हो जाएगी। इस दशा में कोई विशेष वर्ग न रहने के कारण उसकी सत्ता को बनाए रखने वाले राज्य की भी आवश्यकता या उपयोगिता नहीं रह जाएगी। अतः राज्य की व्यवस्था स्वयमेव लुप्त हो जाएगी। जिस प्रकार एक फूल अपने पूर्ण विकास के बाद स्वयमेव मुरझा (Wither) जाता है, उसी प्रकार अन्त में राज्य-रूपी फूल की पंखुड़ियाँ कुम्हलाकर या म्लान होकर गिर जाएँगी और इस संस्था का धरती से लोप हो जाएगा।

एंगल्ज़ ने इस परिस्थिति का विवेचन करते हुए लिखा है, "अन्त में जब राज्य समूचे समाज का वास्तविक प्रतिनिधि बन जाता है तो वह अपने को फालतू (Superfluous) बना देता है। उस समय समाज के किसी अंश को पराधीन बनाकर रखने वाला कोई वर्ग नहीं होता है। अतः इस समय दमन करने योग्य कोई तत्व न होने से राज्य की दमनकारी शक्ति की आवश्यकता नहीं होती है।...(इसलिए) राज्य का अन्त नहीं किया जाता है, अपितु इसकी व्यवस्था स्वयमेव म्लान होकर समाप्त हो जाती है।"[1] एंगल्ज़ ने 'परिवार के उद्गम' में भी इसी प्रकार के विचार

---

१. एण्टी डूहरिंग, पृ० ३०८-९

प्रकट करते हुए कहा है कि "वह युग आने वाला है जब राज्य संग्रहालयों में रखी जाने योग्य प्राचीन वस्तुओं—चरखे या काँसे के कुल्हाड़े की भाँति, अतीत काल की वस्तु बन जाएगी।"[1]

किन्तु मार्क्स और एंगल्ज़ की यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध नहीं हुई। रूस में क्रान्ति को हुए आधी शताब्दी बीत चुकी है, किन्तु वहाँ राज्य उत्तरोत्तर प्रबल होता जा रहा है, उसकी विलुप्त होने और अतीत की वस्तु बन जाने की कोई आशा नहीं है। मार्क्स के इस सिद्धान्त को सत्य सिद्ध करने के लिए मार्क्सवादियों की ओर से यह कहा जाता है[2] कि राज्य का लोप दो प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर होगा—(१) विश्व के सभी या लगभग सभी देश कम्यूनिस्ट बन जाएँ। (२) 'पूर्ण प्राचुर्य' (Absolute Abundance) की स्थिति उत्पन्न हो। इसका यह अभिप्राय है कि नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों से तथा मशीनों की सहायता से प्रत्येक वस्तु के उत्पादन को इतनी अधिक प्रचुर मात्रा में किया जाए कि समाज में किसी वस्तु की कोई कमी न रहे। जब पूर्ण समृद्धि का स्वर्णयुग इस धरती पर उतर आएगा, उस समय किसी प्रकार का अभाव या दरिद्रता अथवा इनके आधार पर उत्पन्न होने वाला धनी-निर्धन का कोई वर्ग-भेद समाज में नहीं रह जाएगा। सब लोग अपनी सम्पूर्ण शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का पूरा उपयोग कर सकेंगे। उस दशा में संक्रान्ति काल के ये सिद्धान्त तथा नारे समाप्त हो जाएँगे कि 'प्रत्येक व्यक्ति को उसके काम के अनुसार वेतन दिया जाए' अथवा 'जो श्रम का कार्य नहीं करता है, उसे खाने को भी न दिया जाए'। इन नारों का स्थान अब यह नारा लेगा—'प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकतानुसार दिया जाए।' समृद्धि का यह स्वर्णयुग आने पर राज्य की दमनकारी और नियन्त्रण करने वाली शक्ति की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। किन्तु राज्य के लोप की उपर्युक्त दोनों शर्तों का भविष्य में पूरा होना सम्भव नहीं दिखाई देता है। जान-बूझकर ऐसी शर्तें रखी गई हैं, ये शर्तें न कभी पूरी होंगी और न कभी राज्य लुप्त होगा। 'न नौ मन तेल होगा न राधा नाचे' की कहावत यहाँ पूरी तरह लागू होती है।

स्तालिन ने द्वन्द्वात्मक पद्धति के आधार पर राज्य के लोप को न्यायोचित सिद्ध करते हुए कहा है—"हम राज्य के विलुप्त हो जाने के पक्ष में हैं, किन्तु इसके साथ-साथ मजदूर वर्ग की अधिनायकता को सुदृढ़ बनाने का भी समर्थन करते हैं। यह आज तक सत्ता रखने वाले राज्यों में अधिकतम शक्तिशाली और प्रबल सत्ता है। यह राज्य की शक्ति का उच्चतम सम्भाव्य विकास है, यह मार्क्सवाद का सूत्र है। क्या यह विरोधी है? हाँ, यह विरोधी है। किन्तु यह विरोधी एक जीवित वस्तु है, और मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक पद्धति को सूचित करता है।"[3] सरल शब्दों में इसका यह अभिप्राय

---

१. एंगल्ज़—ओरिजिन आफ दी फैमिली, पृ० १९८। ग्रे (दी सोशलिस्ट ट्रेडीशन, पृ० ३२७) ने लिखा है कि १७९४ में जर्मन दार्शनिक फिक्टे (Fichte) ने भी राज्य के विलुप्त होने की कल्पना की थी।

२. मेयो—इंट्रोडक्शन टु मार्क्सिस्ट फिलासफी, पृ० १७१

३. सेलेक्टिड वर्क्स आफ मार्क्स एण्ड एंगल्ज, मास्को, खं० १, पृ० १८४ पर स्तालिन की टिप्पणी।

है कि द्वन्द्वात्मक पद्धति से राज्य की समाप्ति के लिए उसका अत्यन्त प्रबल होना आवश्यक है। १९५१ में स्तालिन ने कहा था कि सोवियत संघ का राज्य साम्यवाद के जितना निकट आएगा वह उतना ही अधिक शक्तिशाली बनेगा।[1] यह भविष्यवाणी राज्य को अतीत की वस्तु बना देने वाली एंगल्ज़ की उपर्युक्त भविष्यवाणी के प्रतिकूल है। इस दशा में राज्यहीन और वर्गहीन भावी स्वर्णयुग का मार्क्स का विचार उतना ही कपोलकल्पित, स्वप्नलोकीय (utopian) और अवैज्ञानिक प्रतीत होता है जितना काल्पनिक उसने अपने से पहले होने वाले समाजवादी विचारकों के विचारों को बताया था। मार्क्स ने अपनी विचारधाराओं का श्रीगणेश सेण्ट साइमन, फूरियर आदि कल्पनावादी सामाजिक विचारकों के खण्डन से किया था, किन्तु स्वयमेव उसकी विचारधारा का अवसान कपोलकल्पित स्वर्णयुग की मृगमरीचिका में होता है।

मार्क्स की सफलता और प्रभाव के कारण—मार्क्स के उपर्युक्त सिद्धान्तों को जितनी लोकप्रियता और सफलता मिली है, उतनी सम्भवतः १९वीं शताब्दी के किसी अन्य विचारक को नहीं मिली है। आज संसार के करोड़ों नर-नारी कार्ल मार्क्स को अपना आराध्य मानते हैं, उसके सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देने के लिए प्रायः सभी देशों में साम्यवादी दल हैं। उसकी विलक्षण लोकप्रियता और सफलता के कई कारण हैं : **पहला** कारण मार्क्सवाद का एक नवीन युगधर्म बनना है। यद्यपि मार्क्स ने धर्म का प्रबल खण्डन करते हुए उसे जनता को मोहनिद्रा में सुलाने वाली अफीम कहा है, किन्तु स्वयमेव उसके सिद्धान्तों को उसके अनुयायियों ने धार्मिक सिद्धान्तों की भाँति पूर्ण भक्ति-भाव, अगाध एवं अन्ध श्रद्धा, अविचल निष्ठा तथा प्रबल उत्साह के साथ ग्रहण किया है। मार्क्स का सच्चा अनुयायी उसकी शिक्षाओं को आँख मूँदकर स्वीकार करता है, उन्हें वेद-वाक्य की तरह प्रामाणिक मानता है और इनके लिए बड़े-से-बड़ा त्याग और बलिदान करने के लिए तैयार है, क्योंकि जिस प्रकार किसी समय ईसाइयत ने भीषण कष्टों से पीड़ित मनुष्य को इनसे मुक्ति दिलाने वाले 'भगवान् के राज्य' का तथा उज्ज्वल भविष्य का सन्देश दिया था उसी प्रकार मार्क्स ने दरिद्रता के दारुण दुःख से व्यथित मजदूरों एवं सर्वहारा वर्ग को अभाव और दैन्य के कष्टों से मुक्त साम्यवादी राज्य के नवीन स्वर्गलोक का आकर्षक आश्वासन प्रदान किया है। हैलोवैल ने लिखा है[2] कि "मार्क्स ने भगवान् के स्थान पर ऐतिहासिक विकास की अनिवार्यता के कारण होने वाली साम्यवाद की विजय को स्थापित किया है, भगवान् के प्रिय पुत्र सर्वहारा वर्ग के व्यक्ति हैं और साम्यवादी राज्य इस भूतल पर अवतीर्ण होने वाला स्वर्ग (Heaven) है"। मार्क्सवाद मानव-जाति का नया धर्म है, इसका लाल झण्डा सब मनुष्यों के रुधिर की समानता और विश्वबन्धुत्व की घोषणा करता है। इस मत का अनुयायी नए मुल्ला की तरह धर्मान्ध होता है, वह मार्क्स को निर्भ्रान्त मानता है, उसके सिद्धान्तों को तर्क की दृष्टि से नहीं, अपितु अन्धभक्ति और श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। मार्क्स के सिद्धान्तों में दोष दिखाने वाले व्यक्ति सच्चे मार्क्सवादी के मतानुसार नास्तिक और काफिर हैं। **दूसरा** कारण निर्धन वर्ग के लिए इसका प्रबल

१. मेयो—पूर्वोक्त पुस्तक
२. हैलोवैल—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४४६

आकर्षण है। इसने सदियों से निर्धनता से पीड़ित और सामाजिक दृष्टि से तिरस्कृत एवं अपमानित तथा हीन समझे जाने वाले मजदूर वर्ग को इस बात का प्रबल विश्वास दिलाया है कि पूँजीवाद के साथ संघर्ष में उनकी विजय निश्चित है, पूँजीपतियों का पतन और साम्यवाद की विजय ध्रुव सत्य है और यह शीघ्र ही सम्पन्न होने वाली है। इसके आकर्षण के अन्य कारण इसकी पूँजीपतियों के प्रति घोर घृणा एवं ईर्ष्या की भावना तथा भौतिकवादी दृष्टिकोण है। मार्क्स ने विरोधियों के प्रति भद्दी, कटु, तीखी और व्यंग्यपूर्ण भाषा का और अपशब्दों का प्रचुर प्रयोग किया है[1]। **तीसरा** कारण इसके सिद्धान्तों के वैज्ञानिक होने का दावा है। विज्ञान के वर्तमान युग में धर्म, नीति एवं दर्शनशास्त्र के आधार पर समर्थन किए जाने वाले सिद्धान्तों का उतना प्रभाव नहीं पड़ता है जितना वैज्ञानिक नियमों पर आधारित सिद्धान्तों का पड़ता है। मार्क्स से पहले के राजनीतिक विचारक अपने मन्तव्यों का समर्थन नैतिक या आर्थिक दृष्टिकोण से करते थे, मार्क्स ने इतिहास एवं समाजशास्त्र में कार्य करने वाले वैज्ञानिक नियमों की खोज करके इनके आधार पर अपने मन्तव्यों की स्थापना की, काल्पनिक जगत् में विचरण करने वाले समाजवादी विचारकों (Utopian Socialists) के अनुभववाद को अस्वीकार करते हुए सामाजिक विकास के नियमों का प्रतिपादन किया। इससे मार्क्स को बड़ी लोकप्रियता मिली। **चौथा** कारण भावी समाज-व्यवस्था के बारे में मार्क्स की अस्पष्टता है। मार्क्स ने पूँजीवाद को खूब गालियाँ दी हैं, इसके विध्वंस की योजना का कार्यक्रम बड़ी स्पष्टता के साथ प्रतिपादित किया है, किन्तु भावी साम्यवादी राज्य के स्वरूप और संगठन का विशद प्रतिपादन नहीं किया है। इससे मार्क्स को दो बड़े लाभ हुए, उसके भावी समाज का रूप अनिश्चित होने के कारण वह इसकी प्रबल आलोचना से बच गया, भावी समाज की अस्पष्टता के कारण उसे अधिकतम व्यक्तियों का समर्थन मिला। मार्क्स पूँजीवाद पर प्रबल आक्षेप कर रहा था, किन्तु उसके विरोधियों के पास मार्क्स के भावी समाज की कोई ऐसी स्पष्ट योजना नहीं थी जिस पर वे प्रबल आक्षेप कर सकते। **पाँचवाँ** कारण वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त था। इसका प्रयोजन मजदूरों का पूँजीपतियों के विरुद्ध युद्ध घोषणा करना था। वर्ग-संघर्ष का परिणाम न केवल बूर्जुआ लोगों या पूँजीपतियों के अत्याचारों तथा शोषण का अन्त करना था, अपितु इस धरती पर मजदूरों के लिए समानता, स्वतन्त्रता और न्याय की आदर्श व्यवस्था स्थापित करना था। यह व्यवस्था ऐसे उपायों से लाई जानी थी जिनका नीति या धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं था। इसमें मनुष्यों को पूँजीवाद के विनाश के लिए हिंसा, बल-प्रयोग आदि के सभी उपाय बरतने की पूरी छूट थी। इसने मनुष्यों को उनके परम्परागत आर्थिक और नैतिक बन्धनों से मुक्त किया। यह मार्क्सवाद के प्रबल आकर्षण का एक प्रधान कारण था। **छठा** कारण मार्क्सवाद का अतीव व्यापक दृष्टिकोण से अपने समय की सभी जटिल समस्याओं का समुचित समाधान प्रस्तुत करना था।[2] जिस समय मार्क्स ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया वह बड़ी अनिश्चितता, गड़बड़ी, अस्त-व्यस्तता और क्रान्ति का युग था। उस समय विज्ञान

१. गोलोब—दी इज़्म्स, पृ० २२४, पूँजी (मास्को प्रगति प्रकाशन), पृ० ६९२, ७२४
२. गोलोब—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २२४

एवं तर्कवाद के प्रभाव के कारण धर्म में लोगों की श्रद्धा क्षीण हो चली थी, प्रजातन्त्र की नवीन शासन-प्रणाली निर्धन जनता के कष्टों का समाधान करने में विफल सिद्ध हो चुकी थी। मार्क्सवाद ने मानव-जीवन के दार्शनिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक सभी क्षेत्रों की समस्याओं के सरल एवं सुबोध समाधान प्रस्तुत किए। युवकों के लिए इन समाधानों का प्रबल आकर्षण था, क्योंकि युवक स्वभावतः वर्तमान व्यवस्था के प्रति विद्रोही और भावुक होते हैं, उन्हें माँ-बाप द्वारा पूजे जाने वाले देवी-देवताओं का और इनके द्वारा मानी जाने वाली मान्यताओं का विरोध करने में आनन्द आता है, अतः मार्क्स के सिद्धान्त युवकों में बड़े लोकप्रिय हुए। **सातवाँ** कारण मार्क्स का निर्धनता और बेकारी की समस्याओं पर तथा पूँजीवाद के दोषों—मन्दी आदि पर बल देना था। मार्क्स का यह कहना था कि पूँजीवाद मन्दी, निर्धनता आदि के दुष्परिणामों से नहीं बच सकता और साम्यवादी व्यवस्था में ये दोष उत्पन्न नहीं हो सकते। मार्क्सवादियों का यह मत है कि १९३० की भीषण मन्दी से रूस के अतिरिक्त सब देश प्रभावित हुए, किन्तु रूस में कोई बेकारी या मन्दी नहीं आई। भले ही इसका कारण यह हो कि रूस में सेना और सरकारी सेवा में बहुत अधिक व्यक्ति लगे हुए हैं। किन्तु ऊपर से देखने में रूस के इस दावे में सत्य प्रतीत होता है। इस प्रकार पूँजीवाद को साम्यवाद की तुलना में अपने दोषों तथा आलोचनाओं से अपनी रक्षा करनी पड़ती है, उसे यह सिद्ध करना आवश्यक हो जाता है कि वह अपने दोषों को दूर कर सकता है। अतः मार्क्सवाद की तुलना में अपने दोषों के कारण बदनाम होने वाले पूँजीवाद की स्थिति अत्यन्त निर्बल है।

मार्क्सवाद के दोष—किन्तु मार्क्सवाद के अत्यन्त प्रबल और प्रभावशाली होने पर भी उसमें कई गम्भीर दोष हैं। पहले इनकी पर्याप्त चर्चा हो चुकी है, अतः यहाँ उसके सामान्य दोषों का संक्षिप्त उल्लेख किया जाएगा। **पहला दोष** मार्क्स का एकांगी दृष्टिकोण है। वह इतिहास की आर्थिक व्याख्या करते हुए सभी सामाजिक घटनाओं का मूल एवं प्रधान कारण आर्थिक परिवर्तनों को ही मानता है। पहले (पृ० ३२४) इसकी विस्तृत आलोचना करते हुए यह बताया जा चुका है कि मनुष्य केवल अपना पेट भरने वाला पशु नहीं है, वह केवल भोजन से ही नहीं जीता है, उसे अपने मन और आत्मा की भूख मिटाने के लिए मानसिक और आध्यात्मिक भोजन की भी आवश्यकता है। भोजन मनुष्य की शारीरिक आवश्यकता है, किन्तु इसके साथ ही उसकी कुछ आध्यात्मिक और मानसिक आवश्यकताएँ भी हैं। इन दोनों का समान महत्व है, इनमें से किसी एक की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। मार्क्स ने केवल भौतिक पक्ष पर बल देकर अपना सिद्धान्त एकांगी बना दिया है। स्वयमेव मार्क्स का जीवन इस सिद्धान्त को खण्डित करने वाला है। उसने अपने जीवन की भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने की अपेक्षा निर्धनता के कष्टमय जीवन का इसलिए वरण किया कि वह पूँजीवाद के विध्वंस का शास्त्रीय प्रतिपादन अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में कर सके। वह इस आदर्श को अपनी आर्थिक आवश्यकताओं से अधिक महत्वपूर्ण समझता था। इतिहास के महत्वपूर्ण परिवर्तन कभी भी अपना पेट भरने वाले स्वार्थी लोगों से नहीं किए गए, ऐसे परिवर्तन सदैव स्वार्थत्यागी, अपनी दैनिक आवश्यकताओं की चिन्ता

न करने वाले, किसी महान् आदर्श के लिए सर्वस्व बलिदान करने वाले महापुरुषों द्वारा सम्पन्न हुए हैं। अतः इतिहास की आर्थिक व्याख्या का सिद्धान्त ठीक नहीं प्रतीत होता है। **दूसरा** दोष मार्क्स की अधिकांश भविष्यवाणियों का गलत सिद्ध होना है। मार्क्स का ग्रन्थ 'पूँजी' प्रकाशित हुए १०० वर्ष बीत चुके हैं, किन्तु इसमें दी गई पूँजीवाद के विध्वंस और लोप की भविष्यवाणी अभी तक सही नहीं निकली है, धनी अधिक धनी और निर्धन अधिक निर्धन नहीं हुए हैं, मजदूरों की दशा अधिक शोचनीय नहीं हुई है, मध्यम वर्ग का लोप होने के स्थान पर उसकी संख्या में और प्रभाव में वृद्धि हुई हैं। **तीसरा** दोष मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्तों का पुराना पड़ जाना और गलत होना है। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री केन्स (Keynes) ने लिखा है—"मार्क्स का ग्रन्थ 'पूँजी' (Capital) एक ऐसा पाठ्य ग्रन्थ है जिसके सिद्धान्त पुराने पड़ गए हैं और विद्वानों द्वारा रद्द कर दिए गए (obsolete) हैं। यह पुस्तक न केवल वैज्ञानिक दृष्टि से भ्रान्तिपूर्ण है, अपितु आधुनिक जगत् में इसकी कोई उपयोगिता नहीं है।" हण्ट (Hunt) ने मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सुप्रसिद्ध सिद्धान्त के बारे में लिखा है कि यह वास्तव में मूल्य का सिद्धान्त ही नहीं है, वस्तुतः यह शोषण का सिद्धान्त है, इसके द्वारा यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि सम्पत्ति रखने वाला वर्ग सदैव निर्धन वर्ग के श्रम पर जीवित रहता है। **चौथा** दोष उसकी ऐतिहासिक नियतिवाद (Historical Determinism) की भ्रान्त कल्पना है। पहले (पृ० ३२७) इसका प्रतिपादन करते हुए यह बताया जा चुका है कि वह इस सिद्धान्त से मनुष्य को आर्थिक परिस्थितियों का खिलौना मात्र मानता है, उसके स्वतन्त्र कार्य की कोई शक्ति नहीं स्वीकार करता है। वस्तुतः मनुष्य ऐतिहासिक और आर्थिक परिस्थितियों का दास नहीं, किन्तु इनका निर्माता और भाग्यविधाता भी होता है। श्री रामचन्द्र, श्रीकृष्ण, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, मार्क्स, लेनिन और महात्मा गांधी जैसे व्यक्ति इतिहास के स्रष्टा हुए हैं। **पाँचवाँ** दोष इतिहास की मनमानी व्याख्या है। उसने द्वन्द्वात्मक पद्धति के और वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त के आधार पर मानव-इतिहास को चार कालों में बाँटा है (पृ० ३१८); वेपर के मतानुसार इस विभाजन का कोई औचित्य नहीं है।[1] मार्क्स ने मानव-समाज के आरम्भ में आदिम साम्यवाद (Primitive Communism) की दशा मानी है, किन्तु यह सर्वथा कपोल-कल्पित है, आधुनिक मानव-विज्ञान की नवीन गवेषणाओं से इसकी पुष्टि नहीं होती है। इसी प्रकार मार्क्स द्वारा माने गए अन्य तीन युगों का भी इतिहास से समर्थन नहीं होता है। एक्टन ने लिखा है कि पिछले सौ वर्ष के इतिहास के अनुभव के आधार पर हजार वर्ष के पुराने इतिहास की व्याख्या करना सन्तोषजनक नहीं है। मार्क्स ने इस प्रकार की एक बड़ी भूल की है, पूँजीवाद के पिछले सौ वर्ष के ऐतिहासिक विकास के आधार पर उसने समूचे इतिहास का गलत युग-विभाजन किया है। यदि भौतिक तथ्य ही इतिहास के विकास पर प्रभाव डालते हैं तो सभी देशों में एक जैसा विकास होना चाहिए, किन्तु यह सर्वत्र विभिन्न प्रकार से हुआ है।

छठा दोष यह है कि उसने राजनीतिक तथा मनोवैज्ञानिक पक्षों की घोर उपेक्षा की है। उसके मतानुसार राज्य शक्ति का परिणाम है, वह पूँजीपतियों द्वारा निर्बल

१. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० ११५-१६

व्यक्तियों के शोषण का साधन मात्र है। वह हमें यह कहीं नहीं बताता है कि राज्य मनुष्यों में सत्ता (Power) पाने की और उसे बनाए रखने की लालसा का परिणाम है। मनुष्य अपने अभिमान और आत्मसम्मान की रक्षा के लिए सत्ता को अपने हाथ में बनाए रखना चाहते हैं। वह मानव-प्रकृति के स्वाभाविक दोषों को भी नहीं जानता है। वह इस बात को भूल जाता है कि मनुष्य घोर स्वार्थी है, उसकी दुष्प्रवृत्तियों का नियन्त्रण करने के लिए राज्य की सत्ता आवश्यक है और साम्यवाद की आदर्श दशा के बारे में वह यह कल्पना करता है कि वह राज्यहीन (Stateless) और वर्गविहीन (Classless) दशा होगी। **सातवाँ** दोष उसकी वर्गविषयक भ्रान्तिपूर्ण कल्पना है। वह वर्गों को सर्वथा निश्चित, व्यवस्थित, अचल और अपरिवर्तनशील समझता है, जबकि वस्तुतः सामाजिक वर्गों में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, विभिन्न परिवार आर्थिक एवं अन्य कारणों से अपने जन्म वाले वर्ग से ऊपर अथवा नीचे के वर्गों में आते-जाते रहते हैं। **आठवाँ** दोष मार्क्स की यह भ्रान्त कल्पना है कि सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता की संक्रमणकालीन स्थिति के बाद राज्य की संस्था का लोप हो जाएगा। पहले (पृ० ३६२-६३) यह बताया जा चुका है कि बोल्शेविक क्रान्ति के बाद रूस में राज्य की संस्था क्षीण होने के स्थान पर अधिकाधिक सुदृढ़ होती जा रही है। एक बार सत्ता हाथ में आ जाने के बाद उसे कोई स्वेच्छापूर्वक छोड़ना पसन्द नहीं करता है, अतः यह घोर दुराशामात्र है कि साम्यवादी नेता संक्रमण काल के बाद अपने निरंकुश अधिकारों का परित्याग करके प्रजातन्त्र की स्थापना करेंगे। वस्तुतः वे इसके सर्वथा विपरीत अपनी सत्ता को स्थायी बनाने का प्रयत्न करेंगे। **नवाँ** दोष मार्क्स का क्रान्ति और बल-प्रयोग को आवश्यक मानना है। बर्ट्रेण्ड रसेल ने लिखा है कि इस सिद्धान्त को मानने का एक दुष्परिणाम यह है कि एक बार जहाँ लोगों का विश्वास शान्तिपूर्ण और वैध उपायों से उठ जाता है तो किसी भी अल्पसंख्यक समुदाय को बल-प्रयोग एवं मनमानी करने से नहीं रोका जा सकता है। अतः क्रान्ति और हिंसा का प्रचार शान्ति एवं सुव्यवस्था की जड़ को ही काट देता है। हिंसा मनुष्यों में पाशविक प्रवृत्तियों को उत्पन्न करती है, इससे सभ्यता और संस्कृति के नष्ट हो जाने की आशंका है। यदि वस्तुतः साम्यवाद जनता के कल्याण को सम्पन्न करता है तो जनता को समझा-बुझाकर इसे स्वीकृत कराने का प्रयत्न होना चाहिए, इसके लिए शक्ति का प्रयोग सर्वथा अनावश्यक समझा जाना चाहिए। क्रान्ति को साम्यवाद का एकमात्र साधन मानना कितना भ्रान्तिपूर्ण है, इसका पहले (पृ० ३५४) विवेचन हो चुका है। अनेक देशों में विकासशील समाजवाद शान्तिपूर्ण साधनों से लाया जा रहा है। यह समाजवाद यद्यपि क्रान्तिकारी समाजवाद जैसा चमत्कारपूर्ण नहीं होता है, फिर भी यह अधिक स्थायी होता है। श्री जोड ने लिखा है कि यह मानने के पर्याप्त कारण हैं कि विकासवादी समाजवादियों द्वारा किए जाने वाले श्रमिक सुधार क्रान्ति और वर्ग-संघर्ष की अपेक्षा अधिक स्थायी प्रगति ला सकते हैं। **दसवाँ** दोष मार्क्स के सिद्धान्तों के स्वप्नलोकीय (utopian) तथा अवैज्ञानिक तत्व हैं। उसने अपने पूर्ववर्ती समाजवादियों के विचारों को स्वप्नलोकीय एवं अवैज्ञानिक कहा था। किन्तु उसके विचारों में भी ऐसे तत्वों की कमी नहीं है। मार्क्स के ये विचार सर्वथा कपोलकल्पना मात्र हैं कि साम्यवादी समाज

में वर्ग-भेद की समाप्ति हो जाएगी, राज्य की व्यवस्था लुप्त हो जाएगी। वस्तुतः मानव-प्रकृति में जब तक आसुरी तत्व बने रहेंगे तब तक इनके दमन के लिए राज्य की आवश्यकता भी बनी रहेगी। मार्क्स का मूल्य का सिद्धान्त भी एक काल्पनिक उड़ान है, उसका वास्तविक आर्थिक परिस्थितियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। डॉ० लिण्डसे ने लिखा है कि उसने जिस पूँजीवाद का वर्णन किया है वह एक 'काल्पनिक पूँजीवाद' (Hypothetical Capitalism) है, उसका वास्तकि जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका यह कारण है कि मार्क्स का यथार्थ जगत् से और मजदूरों से बहुत कम सम्बन्ध था, उसका सम्बन्ध बुद्धिवादी निर्वासित क्रान्तिकारियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्र-कारियों से ही था।[1] उसने अपना ज्ञान मजदूरों में रहकर नहीं, किन्तु ब्रिटिश म्यूजियम के पुस्तकालय में बैठकर सरकारी रिपोर्टों और पुस्तकों से प्राप्त किया था। उसे मजदूरों की वास्तविक स्थिति का यदि कुछ ज्ञान था तो वह एंगल्ज़ के माध्यम से था। विलब्राण्ट (Wilbrandt) के शब्दों में एंगल्ज़ वास्तविकता के दर्शन के लिए मार्क्स का नेत्र (Eye for reality) था। किन्तु दूसरे की आँख से हम कभी वास्तविक स्थिति को पूरी तरह नहीं समझ सकते हैं। अतः मार्क्स का अधिकांश ज्ञान पुस्तकीय तथा काल्पनिक था। **ग्यारहवाँ** दोष उसकी अवैज्ञानिकता है, उसने अपने समाजवाद के वैज्ञानिक होने की घोषणा की थी। वैज्ञानिक पद्धति का यह अभिप्राय है कि तथ्यों का निष्पक्ष भाव से निरीक्षण करके इनके आधार पर सामान्य नियमों को निश्चित किया जाए, किन्तु मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक पद्धति आदि के अपने सिद्धान्त पहले सत्य मान लिए और बाद में इनका समर्थन करने वाले उदाहरणों और प्रमाणों को इतिहास में ढूँढ़ना शुरू किया। इसका यह परिणाम हुआ है कि मार्क्स के वैज्ञानिक दृष्टि से प्रतिपादित किए गए अधिकांश सिद्धान्त गलत सिद्ध हुए हैं। उसने अपने वैज्ञानिक विश्लेषण से यह सिद्ध किया था कि पूँजीवाद का पतन सन्निकट एवं अनिवार्य है, किन्तु उसकी भविष्य-वाणी के बाद सौ वर्ष बीत जाने पर भी उसका पतन नहीं हुआ है। उसने यह भी सिद्ध किया था कि पूँजी मुट्ठी-भर पूँजीपतियों के हाथ में केन्द्रित हो जाएगी, ट्रस्टों के विकास से आंशिक रूप में उसका यह कथन सत्य सिद्ध हुआ है, किन्तु यह पूर्ण रूप से सत्य नहीं है, छोटे व्यवसाय अब भी फल-फूल रहे हैं क्योंकि व्यवसायों का केन्द्रीकरण एक निश्चित सीमा तक ही लाभप्रद होता है। वस्तुतः इस समय पूँजी का समान रूप से वितरण समाज में पहले किसी भी समय की अपेक्षा अधिक है। **बारहवाँ** दोष धर्म की उपेक्षा है। उसने धर्म को जनता के लिए अफीम कहा है, इस विषय में वह फ्यूरबाख (Feurbach) का ऋणी है (पृ० ३००), उसका कहना है कि भगवान् मनुष्य को नहीं, अपितु मनुष्य भगवान् को बनाता है। अतः धर्म सम्बन्धी सभी विचार कपोलकल्पित हैं, इस भूतल पर 'स्वर्ग के राज्य' (Kingdom of Heaven) के स्थान पर 'मनुष्य का राज्य' (Kingdom of Man) स्थापित करना चाहिए। अतः मार्क्स के विचारों में धर्म का कोई स्थान नहीं है। किन्तु यदि मनुष्य केवल भौतिक प्राणी होता, वह अपनी शारीरिक और काम-विषयक आवश्यकताओं को पूरा करने से सन्तुष्ट हो जाता तो

---

१. ग्रे—दी सोशलिस्ट ट्रेडीशन, पृ० ३३०

समाज को धर्म की कोई जरूरत नहीं थी। किन्तु मनुष्य की शारीरिक और भौतिक आवश्यकताओं के साथ-साथ आध्यात्मिक आवश्यकताएँ भी हैं, इनको पूरा करने के लिए समाज में धर्म की सत्ता मानना आवश्यक है। यह सम्भव है कि कुछ व्यक्तियों ने अपनी वैयक्तिक स्वार्थसिद्धि के लिए धर्म का दुरुपयोग किया हो, किन्तु इससे उसकी उपयोगिता और आवश्यकता में कोई सन्देह नहीं हो सकता है **तेरहवाँ** दोष नैतिकता को तथा नैतिक मूल्यों को तिलांजलि देना है। मार्क्स के मतानुसार सभी नैतिक विचार और मूल्य आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम होते हैं, अतः नैतिकता के कोई पूर्ण सत्य (Absolute), सार्वभौम और शाश्वत नियम नहीं हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नैतिकता के कुछ तत्व सामाजिक परिस्थितियों से निर्धारित होते हैं, अतः विभिन्न समाजों की नैतिकता में कुछ अन्तर होता है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि नैतिकता के कोई शाश्वत और सनातन नियम नहीं हैं। यदि ऐसा मान लिया जाए तो समाज में सत्-असत् का विवेक समाप्त होकर घोर अनैतिकता और अराजकता का साम्राज्य स्थापित हो जाए। **चौदहवाँ** दोष मार्क्स का राज्य के स्वाभाविक महत्व और कार्य की उपेक्षा करना है। वह राज्य को आर्थिक परिस्थितियों का परिणाम और पूँजीपतियों के स्वार्थों के अनुसार समाज की व्यवस्था संचालित करने वाला और इसके लिए आवश्यक कानून बनाने वाला मानता है। उसके मतानुसार राजनीतिक शक्ति की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, वह आर्थिक परिस्थितियों की चेरी है, उनसे शासित और संचालित होती है। राज्यविषयक यह धारणा सर्वथा भ्रान्त है, वास्तविक जगत् में हमें इससे विपरीत स्थिति के दर्शन होते हैं, आर्थिक शक्ति राजनीतिक शक्ति को नहीं, अपितु राजनीतिक शक्ति आर्थिक शक्ति को प्रभावित करती है। राज्य अपने कानूनों द्वारा आर्थिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर सकता है, १९१७ की बोल्शेविक क्रान्ति में लेनिन ने पहले राजनीतिक सत्ता हस्तगत की और उसके माध्यम से देश की अर्थव्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन किए। इससे यह स्पष्ट है कि राजनीतिक सत्ता आर्थिक तत्वों से अधिक महत्वपूर्ण है।

मार्क्स की देन—किन्तु उपर्युक्त गम्भीर दोषों के होते हुए मार्क्स राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में अपनी कई विशिष्ट देनों के कारण अमर तथा चिरस्मरणीय है। उसकी प्रमुख देनें निम्नलिखित हैं—(१) उसके उग्रतम आलोचक भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि वह वैज्ञानिक समाजवाद और साम्यवाद की विचारधाराओं का प्रबलतम प्रवर्त्तक और पृष्ठपोषक है। (२) इतिहास की आर्थिक व्याख्या का सिद्धान्त सामाजिक अध्ययन के क्षेत्र में उसकी बहुत बड़ी देन थी। एकांगी और दोषपूर्ण होते हुए भी इस सिद्धान्त ने तत्कालीन विचारधारा पर गहरा प्रभाव डाला। उससे पहले के ऐतिहासिकों ने इतिहास के विभिन्न आर्थिक तत्वों की उपेक्षा की थी। उसने इन तत्वों पर बल देकर इतिहासलेखन की एक नवीन पद्धति का श्रीगणेश किया। उसने यह प्रदर्शित किया कि राजनीतिक तथा कानूनी संस्थाएँ तत्कालीन आर्थिक पद्धति के साथ गहरा सम्बन्ध रखती हैं। यह सामाजिक अध्ययन के क्षेत्र में उसकी एक विशिष्ट एवं अनुपम देन थी। वेपर ने लिखा है कि इस देन के कारण मार्क्स को समूची १९वीं

शताब्दी का सबसे अधिक महत्वपूर्ण दार्शनिक समझा जाना चाहिए।[1] (३) मार्क्स ने अपनी क्रान्तदर्शी दृष्टि से अनेक ऐसे महत्वपूर्ण तथ्यों और सामाजिक घटनाओं को देख लिया था जो अन्य विचारकों को दृष्टिगोचर नहीं हो सकी थीं। उदाहरणार्थ, उसने व्यापार-चक्रों (Trade Cycles), अधिक उत्पादन तथा बेकारी के पारस्परिक सम्बन्ध को अन्य समकालीन विचारकों की अपेक्षा अपनी पैनी दृष्टि से अधिक अच्छी तरह समझ लिया था। उसने इस बात का भी अनुभव कर लिया था कि आर्थिक उत्पादन के साधनों में विलक्षण उन्नति हो जाने से उद्योग-धन्धों और व्यापार का क्षेत्र राष्ट्रों की सीमाओं का अतिक्रमण करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लेता है। उसने इस तथ्य को भी अच्छी तरह हृदयंगम कर लिया था कि किसी देश के व्यापार की मात्रा में वृद्धि होने का यह आशय नहीं है कि वहाँ राष्ट्रीय कल्याण की मात्रा में भी वृद्धि हो रही है। उसने औद्योगीकरण के कारण समाज में होने वाले परिवर्तनों को अच्छी तरह समझ लिया था। वह यह जानता था कि मनुष्यों को मशीनों की देख-भाल करने वाले व्यक्ति मात्र बना देने के क्या दुष्परिणाम होंगे। यद्यपि पूँजीवाद के पतन के विषय में मार्क्स की भविष्यवाणी सत्य नहीं सिद्ध हुई है, तथापि उसका पूँजीवाद का विश्लेषण उसकी पैनी अन्तर्दृष्टि को सूचित करता है। पूंजीवाद का पतन न होने का कारण राज्य द्वारा इसके स्वरूप में किए जाने वाले सुधार हैं। १९वीं शताब्दी में अहस्तक्षेप (Laissez faire) की नीति अपनाने के कारण राज्य आर्थिक मामलों में बहुत कम हस्तक्षेप करता था, किन्तु २०वीं शताब्दी में राज्य ने मजदूरों के हित की दृष्टि से कानून बनाकर इस स्थिति में मौलिक परिवर्तन किया और पूँजीवाद में आमूलचूल परिवर्तन करके उसके स्वरूप को बिलकुल बदल डाला है।

(४) सम्भवतः मार्क्स की सबसे बड़ी देन उसका समाजवादी एवं आर्थिक आन्दोलन को नेतृत्व प्रदान करना है। उसने पूँजीवाद का सैद्धान्तिक विवेचन ही नहीं किया, अपितु मजदूरों के आन्दोलन को संगठित किया, इसके लिए **प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ** (First International) का निर्माण किया। मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त ने श्रमिकों को दो बातों का विश्वास कराया—(क) पूंजीवाद का पतन तथा उनकी विजय अनिवार्य है। (ख) उनका कल्याण पूंजीवाद का प्रबल विरोध करने में है। इन दोनों बातों ने मार्क्स के श्रमिक आन्दोलन को मजदूरों में लोकप्रिय बनाया है, इसे पूँजीवाद के विरुद्ध संघर्ष करने की प्रबल प्रेरणा तथा अजस्र शक्ति प्रदान की है। मार्क्स से पहले तक समाजवाद पुस्तकों तक सीमित था, उसने इसे जन-आन्दोलन बनाया। कैल्टन के शब्दों में, 'मार्क्स ने अब तक कोई पर्याप्त सैद्धान्तिक आधार न र ने वाले इस आन्दोलन को विशेष मन्तव्य प्रदान किए। ओवन सेण्ट साइमन तथा प्रूदों ने मार्क्स द्वारा उपेक्षित एवं उच्चकोटि के सत्यों को प्रकट दिया था, किन्तु उनके सिद्धान्त बौद्धिक क्षेत्र तक ही सीमित थे। मार्क्स ने समाजवादी आन्दोलन के लिए वही कार्य किया जो मेकियावेली ने राज्य के सिद्धान्त के लिए किया था।

मार्क्स का महत्व और मूल्यांकन—मार्क्स की महत्ता के सम्बन्ध में दो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण हैं। पहला दृष्टिकोण उसके प्रशंसकों और भक्तों का है, वे उसे

१. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० २१२

देवता या भगवान् का अवतार मानते हैं। दूसरा दृष्टिकोण उसके आलोचकों तथा पूँजीपतियों का है, उनके अनुसार वह शैतान या राक्षस है। किन्तु इन दोनों दृष्टिकोणों में मतभेद होते हुए भी उसके महत्व के सम्बन्ध में एक बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि उसने विश्व पर अमिट प्रभाव डाला है। मार्क्स के सिद्धान्तों की कितनी ही कटु आलोचना क्यों न की जाए, किन्तु इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि संसार के अधिकांश देशों पर उसकी समाजवादी विचारधारा ने गहरा असर डाला है; इस समय विश्व की एक अरब के लगभग जनता प्रत्यक्ष रूप से मार्क्स के सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाले साम्यवादी राज्यों में निवास करती है, इसने विश्व को दो प्रबल विरोधी गुटों में बाँट दिया है। मैक्सी ने लिखा है—"किसी भी समाज-विषयक विचारधारा पर कभी इतने प्रबल आक्षेप नहीं हुए जितने मार्क्सवाद पर हुए हैं। उग्र एवं प्रतिगामी, समाजवादी तथा पूँजीवादी विचारकों ने पूरी शक्ति के साथ अपनी तोपों से इस पर गोलाबारी करके इसे विध्वस्त करने का प्रयत्न किया है।··· मार्क्स के मूल्य के सिद्धान्त के बारे में यह सिद्ध किया गया है कि इसमें आंशिक सत्य है, मार्क्स का आर्थिक नियतिवाद (Economic Determinism) का सिद्धान्त सभी आर्थिक घटनाओं की व्याख्या करने में असमर्थ सिद्ध हुआ है, वर्ग-संघर्ष के मार्क्सवादी सिद्धान्त के इतिहास के तथ्यों के तथा समाज की वास्तविक रचना का विरोधी होने की बात प्रमाणित की जा चुकी है। पूंजी के केन्द्रीकरण तथा पूंजीवाद के विध्वंस के विषय में मार्क्स के द्वारा की गई भविष्यवाणियाँ सत्य नहीं सिद्ध हुई हैं। राज्य को प्रधान रूप से आर्थिक शोषण का साधन मानने का मार्क्स का विचार अत्यधिक एकांगी और दोषपूर्ण प्रदर्शित किया जा चुका है। क्रान्ति और पुनर्निर्माण के सम्बन्ध में मार्क्स के सिद्धान्त गलत और भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध किए जा चुके हैं। किन्तु इन सब खण्डनों के बावजूद मार्क्स आधुनिक युग के राजनीतिक और आर्थिक चिन्तन में एक शक्तिशाली तत्व बना हुआ है। मार्क्स के समय से सभी प्रकार के समाजवादी विचार मार्क्सवादी, मार्क्स-विरोधी या अर्द्धमार्क्सवादी (Quasi Marxism) रहे हैं।"[1] ग्रे ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट करते हुए लिखा है—"उसके ग्रन्थों में अत्यधिक नीरसता है, उसके सिद्धान्तों में बड़ी गड़बड़ी और स्वाभाविक अन्तर्विरोध हैं, उसके स्वाभाव और चरित्र में ऐसे दोष हैं जो उसे जनता का वीर नायक बनने में समर्थ नहीं बनाते हैं, किन्तु इन सब कमियों के होते हुए भी यह बात निर्विवाद है कि मार्क्स उन्नीसवीं शताब्दी का अधिकतम प्रभावशाली व्यक्ति है।"[2] वेपर के मतानुसार, "अपने सन्देश के प्रभाव की, अपनी शिक्षाओं द्वारा दी जाने वाली प्रेरणा की तथा भावी विकास पर डाले जाने वाले प्रभाव की दृष्टि से मार्क्स का स्थान विश्व में राजनीतिक चिन्तन करने वाले आचार्यों के किसी भी समूह में पूर्णरूप से सुरक्षित है।"[3] मार्क्स के प्रभाव का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है कि इस समय विश्व की एक-तिहाई जनता शोषित

---

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० ५७६
२. ग्रे—दी सोशलिस्ट ट्रेडीशन, पृ० ३३०-३१
३. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० २१७

एवं निर्धनता के कष्टों से पीड़ित मानवता को मुक्ति दिलाने वाले मसीहा और भगवान् के रूप में उसकी उपासना करती है एवं उसके कट्टर विरोधी भी उसे विश्व का एक अत्यन्त प्रभावशाली विचारक और दार्शनिक स्वीकार करते हैं। आस्ट्रिया के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री शुम्पीटर ने यह सत्य ही लिखा है कि "मार्क्सवाद एक धर्म है और मार्क्स इसका पैगम्बर है।"

ग्यारहवाँ अध्याय

मार्क्स के अनुयायी

लेनिन, स्तालिन, ख्रुश्चेव तथा माओ

मार्क्स के सिद्धान्तों को व्यावहारिक तथा क्रियात्मक रूप देने का श्रेय उसके शिष्यों और अनुयायियों को है। मार्क्स ने पूँजीवाद का विध्वंस करने वाली जिस साम्यवादी क्रान्ति की भविष्यवाणी की थी उसे रूस में मूर्त्त रूप प्रदान करने वाले तथा सुदृढ़ बनाने वाले लेनिन, स्तालिन और ख्रुश्चेव थे, चीन में इस क्रान्ति के प्रवर्त्तक और सूत्रधार माओ त्से-तुंग हैं। इन सब ने मार्क्स के सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देते हुए उनमें कई महत्वपूर्ण परिवर्तन और संशोधन किए हैं। विश्व पर रूस और चीन के साम्यवाद का गहरा प्रभाव पड़ा है, अतः यहाँ इनका संक्षिप्त प्रतिपादन किया जाएगा।

लेनिन से पहले की स्थिति, संशोधनवाद(Revisionism)—जर्मनी से निर्वासित होने वाले कार्ल मार्क्स ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन लन्दन में रहते हुए किया था, इसी प्रकार इनकी प्रबल आलोचना भी जर्मनी से निर्वासित होकर लन्दन में ही निवास करने वाले एक अन्य जर्मन एडवर्ड बर्नस्टाइन ने की।[1] उसका यह कहना था कि मार्क्स के सिद्धान्तों में संशोधन करने की आवश्यकता है, क्योंकि नवीन परिस्थितियों और घटनाओं ने उसके अनेक सिद्धान्तों और भविष्यवाणियों को मिथ्या सिद्ध कर दिया है। उसके मतानुसार पूँजीवाद का पतन सन्निकट नहीं प्रतीत हो रहा था, धनी अधिक सम्पन्न और निर्धन अधिक गरीब नहीं हो रहे थे, मध्यम वर्ग का लोप नहीं हो रहा था, उद्योगों के विकास से पूँजी का केन्द्रीकरण उस मात्रा में और उस रूप में नहीं हो रहा था जैसी इसके बारे में मार्क्स ने कल्पना की थी क्योंकि बड़े पूँजीपतियों के साथ अब कम्पनियों में छोटे हिस्से खरीदने वालों की संख्या बढ़ रही थी। इन परिस्थितियों में मार्क्स के सिद्धान्तों का समयानुकूल संशोधन या पुनर्विचार करने की आवश्यकता थी, अतः बर्नस्टाइन के मत को संशोधनवाद (Revisionism) तथा इसके अनुयायियों को संशोधनवादी (Revisionists) कहा जाता था। बर्नस्टाइन समाजवाद के आदर्श को पूरी तरह स्वीकार करता था, किन्तु वह इस बात पर बल देता था कि भविष्य को उज्ज्वल बनाने की अपेक्षा वर्तमान को उज्ज्वल बनाना चाहिए, मजदूरों को साम्यवादी क्रान्ति की प्रतीक्षा करने के स्थान पर प्रगतिशील शक्तियों के साथ उनकी दशा सुधारने के उपायों पर बल देना चाहिए। इसके विपरीत कट्टर (Orthodox) मार्क्सवादियों का यह मत था कि सुधार मजदूरों का मुँह बन्द करने के लिए पूँजीवादी सरकारों द्वारा दी जाने वाली 'घूंस' मात्र है। जर्मनी में इस दल के

१. लेडलर—सोशल इक्नामिक मूवमैण्ट्स, पृ० २३६-३७

नेता बेबेल (Bebel) तथा कौत्स्की (Kautsky) थे। इनका यह मत था कि पूंजीवादी समाज में मजदूरों को सदैव विरोध, ग्रालोचना ग्रौर क्रान्ति पर बल देना चाहिए। शीघ्र ही इन दोनों पक्षों में उग्र वाद-विवाद छिड़ गया। १९०४ में एमस्टर्डम में हुए ग्रन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी सम्मेलन में, इस विवाद में बेबेल के नेतृत्व में कट्टरपन्थी दल की विजय हुई।

बोल्शेविक तथा मेन्शेविक दल—इसी समय रूस के समाजवादियों में भी मार्क्स के सिद्धान्तों के विषय में उग्र मतभेद चल रहा था। यहाँ मार्क्सवाद का प्रवर्त्तक एवं प्रबल प्रचारक प्लेखनोव (Plekhnov) था। कट्टर मार्क्सवादी रूसियों का यह मत था कि वहाँ ग्रौद्योगिक क्रान्ति का श्रीगणेश होने के कारण साम्यवादी क्रान्ति होने में ग्रभी बहुत देर थी, क्योंकि यह पूँजीवाद के चरम विकास की दशा में ही सम्पन्न होती है। इसके नेता-मजदूर वहाँ ग्रल्प संख्या में थे, बहुसंख्यक रूसी कृषकों में क्रान्ति की भावना का ग्रभाव था, ग्रतः वहाँ समाजवादियों का एक दल यह विश्वास रखता था कि रूस में निकट भविष्य में क्रान्ति सम्भव नहीं है, यहाँ इसकी तैयारी पश्चिमी देशों की भाँति लोकतन्त्रीय, वैध, व्यवस्थित एवं शान्तिपूर्ण उपायों से करनी चाहिए, साम्यवादी दल को मजदूरों में ग्रपने सिद्धान्तों का प्रचार करके उन्हें साम्यवाद के सिद्धान्तों की शिक्षा देनी चाहिए, उनका राजनीतिक संगठन सुदृढ़ करना चाहिए। साम्यवादी ग्रान्दोलन के प्रबल होने पर तथा चुनावों में मजदूरों के बड़ी संख्या में चुने जाने पर सरकार को स्वयमेव बाधित होकर समाजवादी सुधार करने पड़ेंगे, ग्रौर पूँजीवाद की छत्रछाया में समाजवादी संस्थाग्रों का विकास होगा। दूसरा दल इसका प्रबल विरोधी था, वह लोकतन्त्र को पूँजीपतियों द्वारा ग्रपना शासन सुदृढ़ बनाए रखने का साधन मानता था क्योंकि इसमें लोकमत को प्रभावित करने के सभी साधन—प्रेस, चर्च, विद्यालय, न्यायालय, विधानसभाएँ पूँजीपतियों के नियन्त्रण में होते हैं, ग्रतः लोकतन्त्र के माध्यम से तथा शान्तिपूर्ण ग्रौर वैध उपायों से साम्यवादी क्रान्ति कभी सम्भव नहीं है। यह हिंसापूर्ण साधनों से क्रान्तिकारियों के सुसंगठित ग्रौर सुव्यवस्थित एवं कठोर ग्रनुशासन का पालन करने वाले एक साम्यवादी दल द्वारा, युद्ध के समय में मजदूरों में विद्रोह को भड़काकर ग्रौर सर्वहारा वर्ग की ग्रधिनायकता स्थापित करके की जा सकती है। १९०३ में लन्दन में रूस से निर्वासित क्रान्तिकारियों के एक सम्मेलन में उपर्युक्त दोनों मत रखने वाले दलों में उग्र विवाद हुग्रा। नरम मत रखने वाले पहले पक्ष के व्यक्ति इस सम्मेलन में ग्रल्प संख्या में थे; लेनिन के नेतृत्व में उग्र मत रखने वाले दूसरे दल के व्यक्तियों की ग्रधिक संख्या थी। रूसी भाषा में ग्रल्पमत ग्रौर बहुमत के लिए प्रयुक्त होने वाले मेन्शेविकी तथा बोल्शेविकी शब्दों के ग्राधार पर इन दोनों को मेन्शेविक (Menshevik) ग्रौर बोल्शेविक (Bolshevik) कहा जाने लगा। दूसरे दल ने लेनिन के नेतृत्व में रूस में नवम्बर १९१७ में एक साम्यवादी क्रान्ति की, ग्रतः इस क्रान्ति को बोल्शेविक क्रान्ति कहा जाता है। इसके मौलिक तत्वों को समझने के लिए रूस के सबसे बड़े क्रान्तिकारी लेनिन का परिचय ग्रावश्यक है।

लेनिन (१८७०-१९२४)—विश्व के महान् क्रान्तिकारियों में ग्रद्वितीय स्थान रखने वाले लेनिन ने एक सम्भ्रान्त कुल में, पाठशालाग्रों के एक निरीक्षक के घर में जन्म

लिया। लेनिन का वास्तविक नाम व्लादिमिर इलयिच उलयनोव (Vladimir Ilyich Ulyanov) था। लेनिन का उपनाम उसने बाद में १८६५ में ज़ार की सरकार द्वारा साइबेरिया में निर्वासित होकर लेना नदी के तट पर रहने के कारण ग्रहण किया।[1] लेनिन के सभी भाई उग्र क्रान्तिकारी थे, उसके बड़े भाई को ज़ार एलेक्ज़ेण्डर तृतीय की हत्या का विफल प्रयत्न करने वाले षड्यन्त्र में सम्मिलित होने के कारण प्राणदण्ड मिला था। इसने लेनिन को पक्का क्रान्तिकारी बना दिया। वह उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए काज़ान विश्वविद्यालय में गया, किन्तु उसे अपने क्रान्तिकारी कार्यों के कारण यहाँ से निकाल दिया गया। कुछ समय तक वह गणित और भौतिकशास्त्र का अध्यापक रहा, उसकी रचनाओं पर इसकी स्पष्ट छाप है। बाद में उसने सेण्ट पीटर्सबर्ग (वर्तमान लेनिनग्राद) के विश्वविद्यालय में अध्ययन किया, १८६२ में उसने यहाँ वकालत की शिक्षा प्राप्त की। सेण्ट पीटर्सबर्ग में रहते हुए उसने मजदूरों के क्रान्तिकारी संगठनों का निर्माण किया और इस कारण ज़ारशाही ने १८६५ में पहले उसे सेण्ट पीटर्सबर्ग के कारावास में रखा, बाद में वह साइबेरिया में निर्वासित कर दिया गया। कारावास के पाँच वर्षों (१८६५–१६००) में उसे मार्क्सवाद के गम्भीर अनुशीलन का स्वर्ण अवसर मिला, इस समय तक वह रूसी जनता की मनोवृत्ति को भी अच्छी तरह समझ चुका था।

१६०० में रूसी समाजवादी लोकतन्त्रीय दल ने उसे प्लेखनोव के साथ मिलकर विदेशों में प्रचार-कार्य और दल का संगठन करने के लिए भेजा। इस समय इस संगठन की ओर से विदेश से रूस में क्रान्ति का सन्देश फैलाने के लिए इसका **चिनगारी** नामक पत्र निकाला जा रहा था, लेनिन इसके सम्पादक मण्डल में था। गुप्त रूप से रूस में ले जाया जाने वाला 'चिनगारी' का प्रत्येक अंक वहाँ क्रान्ति की ज्वालाएँ भड़काया करता था। इस समय इस कार्य में अनेक भीषण भय थे, इनमें अपना काम चलाने के लिए उसने क्रान्तिकारियों के एक अनुशासित दल का अपने नेतृत्व में निर्माण आरम्भ किया। इन्हें वह **'पेशेवर क्रान्तिकारी'** (Professional Revolutionary) कहा करता था। इस समय उसने रूस की परिस्थितियों पर विशेष विचार करते हुए मार्क्स के सिद्धान्तों में कुछ परिवर्तन आरम्भ किए, रूस में क्रान्ति को लाने की पद्धतियों के बारे में नवीन सिद्धान्तों का प्रचार किया। इससे विदेशों में रहने वाली रूसी समाजवादी पार्टी में १६०३ में बोल्शेविक और मेन्शेविक नामक विभिन्न मत रखने वाले दो गुटों का जन्म हुआ[2] (ऊपर देखिए पृ० ३७५)। १६०५ में रूस में क्रान्ति होने पर वह स्वदेश लौटा, किन्तु इसके सफल न होने पर ज़ारशाही के चंगुल में फँसने से बचने के लिए वह पुनः विदेश चला गया; उसने फिनलैण्ड, स्विट्ज़रलैण्ड और फ्रांस में रहते हुए अपना जीवन क्रान्तिकारी दल के संगठन में तथा मार्क्स एवं एंगल्ज़ के ग्रन्थों के आधार पर क्रान्ति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में बताया। प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर लेनिन आस्ट्रिया में था, वहाँ उसे शत्रु-प्रजाजन के रूप में नज़रबन्द कर लिया गया। कुछ समय बाद बन्धनमुक्त किया जाने पर वह तटस्थ देश स्विट्ज़रलैण्ड में चला गया।

१. यूजीन ओ० गोलोब—दी इज़्म्स (हार्पर ब्रदर्स, न्यूयार्क), पृ० ३३०
२. यूजीन ओ० गोलोब—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३३२

अप्रैल (१९१७) तक यहाँ रहने के बाद, जर्मन सरकार ने रूस की ज़ारशाही को परास्त करने के उद्देश्य से उसे स्वदेश लौटने की अनुमति दी। नवम्बर १९१७ में रूस में बोल्शेविक क्रान्ति का नेतृत्व करते हुए लेनिन ने विश्व में पहला साम्यवादी राज्य स्थापित किया। अगले पाँच वर्ष (१९१७–२२) की अवधि में बीमार पड़ने से पहले तक उसने रूस में क्रान्ति को सुदृढ़ बनाने का भगीरथ प्रयास किया। दो वर्ष की बीमारी के बाद रूसी क्रान्ति का यह महान् नेता दिवंगत हुआ (२१ जनवरी १९२४)।

लेनिन में कुशाग्र बुद्धि तथा व्यावहारिकता का विलक्षण समन्वय था। उसने मार्क्स के सिद्धान्तों में गहरी दिलचस्पी लेते हुए उनका प्रयोग रूस में क्रान्ति को सफल बनाने के लक्ष्य की सिद्धि के लिए ही किया था, अतः उसने क्रान्ति करने की पद्धतियों और विधियों पर अधिक ध्यान दिया, इनके सम्बन्ध में बहुत चिन्तन किया और लिखा। उसकी रचनाओं के संग्रह १२ खण्डों में छपे हैं।[1] उसने विशेष रूप से इस समस्या पर विचार किया कि पूँजीवाद को समाजवाद के रूप में कैसे परिणत किया जा सकता है। इस क्षेत्र में उसने मार्क्स और एंगल्ज़ के सिद्धान्तों में कई नई बातें जोड़ीं, संशोधनवादियों द्वारा मार्क्सवाद पर किए जाने वाले आक्षेपों का उत्तर दिया और ऐसी समस्याओं पर प्रकाश डाला जिनका मार्क्स और एंगल्ज़ ने बहुत कम प्रतिपादन किया था। स्तालिन ने लिखा है कि लेनिन का एक बड़ा कार्य यह था कि "वह मार्क्स के सिद्धान्त को अद्यतनीन (Up-to-date) बनाए, उसके मन्तव्यों का पुनः प्रतिपादन करे, द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ (Second International) के अवसरवादियों तथा संशोधनवादियों द्वारा दबा दिए गए मार्क्सवाद के सच्चे सिद्धान्तों का पुनरुद्धार करे तथा मार्क्सवाद को रूस की परिस्थितियों के अनुसार ढाले।" ऐसा करते हुए लेनिन ने मार्क्स के सिद्धान्तों में पर्याप्त परिवर्तन किया है। उसके प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं।

लेनिन के प्रमुख सिद्धान्त—साम्राज्यवाद—लेनिन से पहले मार्क्सवाद के आलोचकों—बर्नस्टाइन आदि ने यह प्रतिपादित किया था कि पूँजीवाद के सम्बन्ध में मार्क्स द्वारा की गई अधिकांश भविष्यवाणियाँ भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध हुई हैं। योरोप के पूँजीवादी देशों—ब्रिटेन, फ्रांस आदि में मजदूरों की आर्थिक दशा अधिक बुरी नहीं हुई, अपितु मार्क्स के कथन के सर्वथा विपरीत पहले से अधिक अच्छी हुई है। पूँजीवादी देशों में वर्ग-संघर्ष भी उग्र नहीं हुआ, अपितु १९१४ के विश्वयुद्ध में भाग लेने वाले सभी देशों के विभिन्न वर्गों ने अपने मतभेद और संघर्ष भुला दिए, सुदृढ़ रूप में एक एवं संगठित होकर शत्रु का सामना किया। लेनिन ने प्रथम विश्वयुद्ध में १९१६ में इन आक्षेपों से मार्क्सवाद की रक्षा करने के लिए अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **'साम्राज्यवाद :**

---

१. लेनिन की महत्वपूर्ण रचनाओं का हिन्दी अनुवाद 'संकलित रचनाएँ' के नाम से तीन खण्डों में विदेशी भाषा प्रकाशनगृह मास्को से प्रकाशित हो रहा है। लेनिन की निम्नलिखित महत्वपूर्ण कृतियों के हिन्दी अनुवाद मास्को से छप चुके हैं—साम्राज्यवाद : पूँजीवाद की चरम अवस्था, राजसत्ता और क्रान्ति, मार्क्सवाद के ऐतिहासिक विकास की कुछ विशेषताएँ, पूर्व में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन, राष्ट्रों में आत्मनिर्णय का अधिकार, सोवियत सत्ता और स्त्रियों की स्थिति।

पूँजीवाद की चरम सीमा अवस्था' (Imperialism : The Highest Stage of Capitalism) लिखी और साम्राज्यवाद के विशिष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस के आरम्भ में ही उसने यह स्वीकार किया है कि ब्रिटिश अर्थशास्त्री जे० ए० हॉब्सन की पुस्तक 'साम्राज्यवाद' में तथा आस्ट्रिया के मार्क्सवादी रुडोल्फ हिल्फर्डिंग की पुस्तक 'वित्तीय पूँजी' (Financial Capital) में इसकी बहुमूल्य व्याख्या की गई है।

लेनिन ने अपनी उपर्युक्त पुस्तक में साम्राज्यवाद के सिद्धान्त द्वारा मार्क्सवाद पर किए जाने वाले इस आक्षेप का समाधान किया है कि ब्रिटेन आदि पूँजीपति देशों में मजदूरों की दशा पहले से अधिक खराब क्यों नहीं हो रही है ? लेनिन का यह कहना था कि ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस आदि के साम्राज्यों ने इन देशों के मजदूरों को अधिक निर्धन और दुरवस्थापन्न होने से बचाया हुआ है। उदाहरणार्थ, ब्रिटेन को भारत जैसे अपने उपनिवेशों से अक्षय सम्पत्ति मिल रही है, इससे वहाँ के मजदूर समृद्ध हो रहे हैं। साम्राज्यवाद से सर्वहारा वर्ग का तथा शोषण का स्वरूप बदल गया है। इस साम्राज्य के कारण ब्रिटेन के पूँजीपति ब्रिटिश मजदूरों का नहीं, अपितु भारतवासियों का शोषण करते हैं; अब ब्रिटिश मजदूर नहीं, किन्तु भारतीय किसान और मजदूर ब्रिटेन का सर्वहारा वर्ग है। साम्राज्यवादी अपने उपनिवेशों के शोषण पर फूलते-फलते हैं, इनकी दशा निरन्तर गिरती चली जाती है, इनके शोषण से ब्रिटेन जैसे साम्राज्यवादी देशों के मजदूरों की दशा सुधर रही है। मार्क्स के सिद्धान्तों से साम्राज्यवाद का कोई विरोध नहीं है, अपितु यह उसके सिद्धान्तों को पुष्ट करने वाला है, यद्यपि यह सत्य है कि मार्क्स पूँजीवाद की इस स्थिति को अपनी दूर-दृष्टि से नहीं देख सका था।

लेनिन ने साम्राज्यवाद को पूँजीवाद की अन्तिम दशा मानते हुए उसके विकास का विस्तार से प्रतिपादन किया है। उसका यह कहना है कि पूँजीवाद का अधिकाधिक विकास होने से उसमें केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती है, विभिन्न उद्योगों के बड़े-बड़े संगठन, ट्रस्ट, मूल्यनिर्धारक संघ (Cartel) आदि बनने लगते हैं। सारे उद्योग मुट्ठी-भर पूँजीपतियों के हाथ में आने लगते हैं, इनका विभिन्न उद्योगों पर एकाधिपत्य या इजारेदारी (Monopoly) स्थापित हो जाती है। यही स्थिति वित्तीय क्षेत्र में आती है। बैंकों पर भी उद्योगपति अपना नियन्त्रण स्थापित करते हैं, इनका एकीकरण तथा केन्द्रीकरण होने लगता है, इन पर भी थोड़े से पूँजीपतियों का एकाधिकार हो जाता है। इस प्रकार से उद्योगों की एवं वित्त की स्वाभाविक प्रवृत्ति विस्तारवादी (Expansionist) होती है। पूँजीपति अपने देश में पूँजी लगाने और उद्योग बढ़ाने से सन्तुष्ट न होकर, दूसरे देशों में भी मुनाफा कमाने के लिए पूँजी लगाकर उद्योग स्थापित करने लगते हैं। इस प्रकार ये पूँजीपति न केवल अपने माल का, अपितु पूँजी का भी अन्य देशों में निर्यात करने लगते हैं। पूँजी का निर्यात करने से तीन परिणाम उत्पन्न होते हैं : **पहला** परिणाम यह है कि पूँजीपति जिन देशों में अपनी पूँजी लगाते हैं, वहाँ अपना मुनाफा सुरक्षित रखने के लिए वहाँ से कच्चा माल पाने तथा अपने तैयार माल की खपत के लिए वे इस बात का पूरा प्रयत्न करते हैं कि वे देश या उपनिवेश उनके राजनीतिक प्रभुत्व में आ जाएँ, उनके साम्राज्य का अंग बनें ताकि वे उपनिवेशवासियों का शोषण करके अधिकतम लाभ कमा सकें, अंग्रेजों ने भारत में ऐसा

ही किया था। सभी साम्राज्यवादी देश ऐसा करते हैं। इस शोषण से उपनिवेशवासियों की निर्धनता मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार निरन्तर बढ़ती चली जाती है। **दूसरा** परिणाम इससे युद्धों का होना है। दूसरे देशों में पूँजी लगाने के कारण पूँजीपति देशों में साम्राज्य एवं उपनिवेश पाने के लिए प्रबल होड़ शुरू हो जाती है। इस होड़ के कारण विभिन्न देशों में गुटबन्दियाँ होने लगती हैं, विभिन्न शक्तियाँ अपने माल के लिए मण्डियाँ सुरक्षित रखने तथा इसके लिए विभिन्न प्रदेश पाने के लिए युद्ध करना आरम्भ कर देती हैं। **तीसरा** परिणाम यह है कि इस प्रकार के युद्ध साम्राज्यवाद का एक महान् अन्तर्विरोध (Contradiction) हैं, इनसे पूँजीवाद के विध्वंस का तथा साम्यवादी क्रान्ति का पथ प्रशस्त होता है क्योंकि अपने स्वार्थों के लिए लड़े जाने वाले इन युद्धों में पूँजीपति मजदूरों को बलि का बकरा बनाते हैं, उन्हें सैनिक शिक्षा देकर तथा अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित करके राष्ट्र के नाम पर शत्रु के साथ लड़ने के लिए रणभूमि में भेजते हैं। किन्तु मजदूर शीघ्र ही समझ जाते हैं कि उनका असली शत्रु कौन है, वे अपने देश के पूँजीपतियों के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह कर देते हैं, इस प्रकार राष्ट्रीयता के नाम पर लड़े जाने वाले राष्ट्रीय युद्ध विशुद्ध वर्ग-युद्ध बन जाते हैं, इनमें मजदूर पूँजीवाद का विध्वंस करके साम्यवाद की स्थापना करते हैं। लेनिन ने इस प्रकार यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है कि मार्क्स का सिद्धान्त बिलकुल ठीक था, पूँजीवाद का पतन अवश्यम्भावी है, मार्क्स की केवल यही कमी थी कि उसने पूँजीवाद के विध्वंस से पहले की स्थिति—साम्राज्यवाद—का विशद रूप से प्रतिपादन नहीं किया था। लेनिन ने अपनी उपर्युक्त सुप्रसिद्ध पुस्तक द्वारा इस कमी को पूरा किया।

लेनिन के इस सिद्धान्त में कई गम्भीर दोष हैं: **पहला** दोष ऐतिहासिक घटना-क्रम को मनमाने ढंग से तोड़-मरोड़कर और उल्टा करके उपस्थित करना था। लेनिन के उपर्युक्त विवरण के अनुसार साम्राज्यवाद का विकास क्रमशः एक-दूसरे के बाद होने वाली तथा कारण-कार्य का सम्बन्ध रखने वाली पाँच दशाओं में होता है। **पहली** दशा उत्पादन और पूँजी का इतना अधिक केन्द्रीकरण है कि कुछ मुट्ठी-भर पूँजीपति विभिन्न उद्योगों पर एकाधिकार (Monopoly) स्थापित कर लेते हैं। इससे उत्पन्न होने वाली **दूसरी** दशा में बैंकों का तथा वित्तीय पूँजी का केन्द्रीकरण होकर इस पर थोड़े से पूँजीपतियों का इजारा या एकाधिपत्य स्थापित हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप **तीसरी** दशा पूँजीपतियों द्वारा माल के स्थान पर दूसरे देशों में पूँजी का निर्यात करना तथा कारखाने स्थापित करना है। इससे पैदा होने वाली **चौथी** दशा में पूँजीपतियों के बड़े समूहों द्वारा भूमण्डल के विभिन्न देशों में साम्राज्य स्थापित करने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। **पाँचवीं** दशा में इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप महान् पूँजीपति राष्ट्रों के मध्य में भूमण्डल के सभी देशों का बँटवारा हो जाता है।[1] लेनिन के मतानुसार ये पाँचों दशाएँ काल-क्रम से एक-दूसरे के साथ कारण-कार्य का सम्बन्ध रखती हुई घटित होती हैं। पहली दूसरी दशा उद्योगों तथा वित्त का केन्द्रीकरण और इन पर पूँजीपतियों का एकाधिकार स्थापित होना है, ये पूँजी के निर्यात की तीसरी दशा को पैदा करती

---

१. ग्रे—दी सोशलिस्ट ट्रेडीशन, पृ० ४६२

हैं, पूँजी के निर्यात से साम्राज्य निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ होती है। लेनिन ने पहली दूसरी दशा के विकास का समय १९०० ई० के लगभग माना है। अतः साम्राज्य निर्माण की चौथी पाँचवीं दशा इसके बाद ही आनी चाहिए, क्योंकि कार्य सदैव कारण के बाद में ही उत्पन्न होता है। इस हिसाब से योरोपियन शक्तियों के साम्राज्य १९०० के बाद ही बनने चाहिए थे। किन्तु यह बात ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि योरोप के राज्य १९०० से पहले ही भूमण्डल के सभी भागों में अपने साम्राज्य स्थापित कर चुके थे। उदाहरणार्थ, भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव १७५७ में प्लासी की लड़ाई से पड़ी और १८५७ तक सारे देश पर अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित हो गया। अफ्रीका के विभिन्न प्रदेशों का बँटवारा १९०० तक पूर्ण हो चुका था। किन्तु लेनिन के सिद्धान्त के अनुसार ये सब घटनाएँ १९०० के बाद ही होनी चाहिए थीं। यह बात इतिहास के स्पष्ट प्रमाणों के विरुद्ध है, अतः लेनिन का साम्राज्यवाद का सिद्धान्त सही नहीं प्रतीत होता है।

इस सिद्धान्त का **दूसरा** दोष मार्क्स के इस सिद्धान्त का खण्डन करना है कि आर्थिक कारण ही राजनीतिक घटनाओं के विकास को निर्धारित करते हैं। जर्मनी के सुप्रसिद्ध मार्क्सवादी कौत्स्की (Kautsky) ने यह मत रखा था कि यदि लेनिन का विश्लेषण सही है तो उद्योगों एवं पूँजी पर एकाधिकार स्थापित होने का स्वाभाविक परिणाम यह होना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सब देश मण्डियों का लाभ उठाने के लिए अपने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक संगठन बनाएँ। इससे राजनीतिक संस्थाओं को भी अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त होगा, युद्ध बन्द हो जाएँगे। किन्तु लेनिन इसका विरोध करते हुए यह मानता है कि अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों का मूल कारण यह है कि विश्व की मण्डियों का बँटवारा तथा साम्राज्यों का निर्माण विभिन्न देशों की **राजनीतिक शक्ति के आधार** पर होता है। यह बात लेनिन के मुँह से ठीक नहीं प्रतीत होती क्योंकि इससे वह मार्क्स के इतिहास की आर्थिक व्याख्या के मौलिक सिद्धान्त पर कुठाराघात कर देता है।

तीसरा दोष लेनिन के सिद्धान्त के विरोध में प्रस्तुत की जाने वाली प्रबल ऐतिहासिक साक्षी है। लेनिन ने बोअर युद्ध (१८९९–१९०२) का उदाहरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पूंजीपति अपनी सरकारों को राजनीतिक आक्रमण करने के लिए तथा विस्तारवादी नीति अपनाने के लिए बाधित करते हैं। उसके मतानुसार वर्तमान युद्धों का एक प्रधान कारण पूँजीपतियों का अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए डाला जाने वाला दबाव होता है। किन्तु इतिहास में हमें इसके सर्वथा विरोध में जाने वाली घटनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। वेपर के मतानुसार इटली तथा रूस की सरकार ने अपने देश के पूँजीपतियों को टर्की और जापान से लड़ने के लिए बाधित किया। लेनिन का बोअर युद्ध का दृष्टान्त भी पूरी तरह से सत्य नहीं है, क्योंकि इसमें युद्ध-घोषणा बोअर लोगों की ओर से की गई थी। ब्रिटिश सरकार ने इस युद्ध को इसलिए नहीं छेड़ा था कि पूंजीपति उस पर दबाव डालते रहे थे, अपितु इसका एक प्रधान उद्देश्य अपने प्रबल प्रतिद्वन्द्वी जर्मनी के साथ बोअर लोगों की मैत्री की आशंका से उत्पन्न होने वाले संकट का निवारण करना था, क्योंकि १८९५ में डॉ० जेम्सन के नेतृत्व में अंग्रेजों ने दक्षिण

अफ्रीका के गणराज्य पर धावा किया था तो बोग्रर लोगों ने इन्हें पकड़ लिया था। जर्मन सम्राट् विलियम कैसर द्वितीय ने इस अवसर पर दक्षिण-अफ्रीकी गणराज्य के राष्ट्रपति क्रूगर को बधाई का तार भेजा था। इसे ग्रेट ब्रिटेन ने जर्मनी का शत्रुतापूर्ण कार्य माना था।

चौथा दोष लेनिन का पूँजी के निर्यात और साम्राज्य में घनिष्ठ सम्बन्ध मानना था। उसके मतानुसार जिन देशों का साम्राज्य और उपनिवेश जितने अधिक होते हैं, वे पूँजी का उतनी ही अधिक मात्रा में निर्यात करते हैं। किन्तु यह बात सत्य नहीं है। स्विट्ज़रलैण्ड पूँजी का निर्यात करने में अग्रणी देश है, इसकी विदेशों में लगाई गई पूँजी को यदि जनसंख्या के आधार पर प्रति व्यक्ति के हिसाब से फैलाया जाए तो यह अन्य सभी देशों से अधिक है। किन्तु इतनी अधिक पूँजी का निर्यात करने पर भी स्विट्ज़रलैण्ड के पास कोई साम्राज्य नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि पूँजी का निर्यात और साम्राज्य में कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है। **पांचवां** दोष लेनिन की यह भ्रान्तिपूर्ण मान्यता थी कि इंगलैण्ड, फ्रांस आदि साम्राज्य रखने वाले देशों के मजदूरों की समृद्धि का कारण उनके साम्राज्य में विद्यमान उपनिवेशवासियों का शोषण है; किन्तु यह बात सत्य नहीं है। स्वीडन और डेन्मार्क के पास कोई साम्राज्य नहीं है, फिर भी इनके निवासी विशाल साम्राज्य रखने वाले बेल्जियम और फ्रांस के मजदूरों की अपेक्षा अधिक समृद्ध हैं। **छठा** दोष लेनिन का यह विश्वास है कि पूँजी का निर्यात उन्हीं देशों में होता है जहाँ गरीबी, बेकारी और भुखमरी का साम्राज्य होता है। यह बात भी ठीक नहीं है क्योंकि अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड में चिरकाल तक इनके आर्थिक विकास के लिए दूसरे देशों की पूँजी लगती रही, किन्तु ये संसार के समृद्धतम देश हैं, इनमें निर्धनता या बेकारी की मात्रा बहुत कम है। वास्तविक स्थिति लेनिन के सिद्धान्त के प्रतिकूल ऐसे देशों में है जिनके विकास के लिए दूसरे देशों से पूँजी कम मिलती है। भारत जैसे अर्द्धविकसित देशों के लिए अपनी दरिद्रता दूर करने का एक प्रधान उपाय दूसरे देशों से पूँजी लेकर उद्योग-धन्धों के विकास से उत्पादन को बढ़ाना है। उपर्युक्त गम्भीर दोषों के कारण वेपर ने लिखा है कि "वस्तुतः लेनिन का साम्राज्यवाद का सिद्धान्त, जहाँ तक मार्क्सवाद पर किए जाने वाले आक्षेपों से उसकी रक्षा करता है, वहाँ तक यह सिद्धान्त ईमानदारी और सचाई से शून्य है ; यह सिद्धान्त जहाँ तक सत्य है, वहाँ तक यह मार्क्सवाद की आक्षेपों से रक्षा करने वाला नहीं, अपितु अपने गुरु की शिक्षाओं का परित्याग करने वाला है।"[1]

क्रान्तिकारी मार्क्सवाद (Revolutionary Marxism) **पर बल**—लेनिन ने अपनी पुस्तक 'राजसत्ता और क्रान्ति' (State and Revolution) में लिखा है कि उसका उद्देश्य मार्क्स की वास्तविक शिक्षाओं का पुनरुज्जीवन करना था। इसे उसने दो प्रकार से किया—(क) उसने मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के मौलिक सिद्धान्तों का पुनः प्रतिपादन Materialism and Empiro-Criticism नामक रचना में किया, भौतिकशास्त्र के नवीन आलोक में इन सिद्धान्तों की व्याख्या की तथा इन पर

१. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० २२१

किए जाने वाले आक्षेपों का युक्तियुक्त समाधान किया।[1] इसमें लेनिन की कोई नई देन या प्रतिपादन की नवीनता नहीं है। उसकी यह रचना वेपर के शब्दों में, "अत्यन्त शुष्क, नीरस, पुनरावृत्ति प्रधान तथा कट्टर सिद्धान्तवादी है।" (ख) लेनिन का दूसरा कार्य इस बात पर बल देना था कि समाजवाद की स्थापना क्रान्तिकारी साधनों से ही हो सकती है। उस समय बर्नस्टाइन का तथा ब्रिटेन के फेबियन दल का विश्वास था कि शान्तिपूर्ण साधनों से शनैः-शनैः एक विकासवादी प्रक्रिया (Evolutionary Process) द्वारा समाजवाद को स्थापित किया जा सकता है। किन्तु लेनिन इस सिद्धान्त का प्रबल विरोधी था। उसकी सम्मति में इसकी स्थापना क्रान्ति के अतिरिक्त अन्य किसी साधन से नहीं हो सकती थी। अतः मार्क्स की शिक्षाओं में उसने क्रान्तिकारी तत्वों पर ही अधिक बल दिया। वह विश्व का न केवल एक महान् क्रान्तिकारी, अपितु क्रान्ति के सिद्धान्तों की व्याख्या करने वाला तथा क्रान्ति के शास्त्र का महान् आचार्य था। इस क्षेत्र में उसकी नई देन तथा विशिष्ट महत्ता है। उसने मार्क्स के सिद्धान्तों के निम्नलिखित क्रान्तिकारी तत्वों पर बल दिया।

(अ) क्रान्ति की अनिवार्यता—मार्क्स अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में यह मानने लगा था कि ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमेरीका जैसे उद्योग-धन्धों की दृष्टि से कुछ अत्यन्त उन्नतिशील देशों में समाजवाद की स्थापना शनैः-शनैः क्रान्ति के बिना ही हो सकती है। एंगल्ज़ ने मार्क्स की पुस्तक 'फ्रांस में वर्ग-युद्ध' (Class Struggle in France) के नवीन संस्करण को १८९५ में प्रकाशित करते हुए इसकी भूमिका में यह विचार प्रकट किया था कि समाजवाद को लाने के लिए विद्रोही मजदूरों द्वारा गलियों में लड़ाइयाँ लड़ने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। अतः उस समय मार्क्स के अनेक अनुयायी और संशोधनवादी यह मानने लगे थे कि मार्क्स के सिद्धान्तों का प्रचार शान्तिपूर्ण रीति से होना चाहिए, मार्क्स के क्रान्तिविषयक विचारों में संशोधन की आवश्यकता है। इस विषय में उन्होंने मार्क्स के 'राज्य के विलुप्त होने' (Withering away of the State) के सिद्धान्त को अपना आधार बनाया। उनका यह कहना था कि मताधिकार का क्षेत्र अधिक विस्तीर्ण होने से तथा सब लोगों को वोट का अधिकार देने से और मजदूरों द्वारा उद्योगों को चलाने वाली कम्पनियों में अधिकाधिक हिस्से खरीदने तथा इनके प्रबन्ध में भाग लेने से यह स्पष्ट है कि समाजवाद क्रान्ति के बिना शान्तिपूर्ण साधनों से स्थापित हो सकता है। लेनिन ने इसका प्रबल खण्डन करते हुए क्रान्ति की अनिवार्यता पर बल दिया। वह समूचे इतिहास को विरोधी शक्तियों का संघर्ष मानता था और इसे मानव-समाज के लिए अनिवार्य, हितकर एवं उचित समझता था। उसने मार्क्स की 'राज्य संस्था' के लुप्त होने के सिद्धान्त की एक-दूसरे ढंग से व्याख्या करते हुए कहा कि इसका अभिप्राय 'साम्यवादी क्रान्ति होने के बाद स्थापित होने वाले सर्वहारा वर्ग के राज्य' के क्षीण होने से है। इस सिद्धान्त को क्रान्ति होने से पहले के राज्य पर लागू नहीं किया जा सकता है। ऐसा राज्य तो पूँजीपति वर्ग द्वारा मजदूर वर्ग का शोषण करने वाली एक विशेष दमनकारी शक्ति है, इसका उन्मूलन

१ इस विषय में लेनिन की कृतियों के हिन्दी अनुवाद के लिए देखिए, मास्को से प्रकाशित लेनिन की संकलित रचनाएँ, खण्ड १, भाग १, पृ० ३१-६४।

केवल क्रान्ति द्वारा ही हो सकता है। लेनिन ने न केवल क्रान्ति की अनिवार्यता पर बल दिया, अपितु क्रान्ति करने की कार्य-पद्धति, कला और दाँव-पेचों (Tactics) पर भी प्रकाश डाला तथा रूस में साम्यवादी क्रान्ति को सफलतापूर्वक सम्पन्न किया।

(आ) **क्रान्तिकारी कार्य-पद्धति और कला**—लेनिन को क्रान्ति के शास्त्र का विश्व में एक सबसे बड़ा आचार्य माना जाता है। उसने संसार की क्रान्तियों का गहरा अनुशीलन करके इनकी सफलता के सम्बन्ध में कुछ नियम निर्धारित किए थे। १९०५ की रूसी क्रान्ति की विफलता ने उसे निरर्थक हिंसा का विरोधी बना दिया था, वह पूरी तैयारी के बिना, केवल जोश से की जाने वाली क्रान्तियों का घोर विरोधी था। उसके मतानुसार विद्रोह करना एक कला थी, इसके कुछ नियम थे, इन नियमों में निष्णात व्यक्ति ही क्रान्ति को सफल बना सकते थे।[1] इसका **पहला** नियम यह है कि क्रान्ति को खेल-तमाशा समझकर या निरे जोश में आकर नहीं करना चाहिए, इसे खूब सोच-समझकर आरम्भ करना चाहिए और इसके सफल होने तक निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए। **दूसरा** नियम एक निश्चित क्षण पर और निश्चित स्थल पर अपनी समूची शक्ति लगा देना है, यदि ऐसा न होगा तो शत्रु अधिक संगठित और तैयार होने के कारण विद्रोहियों को कुचल देगा। **तीसरा** नियम शत्रु पर उस समय अप्रत्याशित हमला करना है जब उसकी सेनाएँ विभिन्न स्थानों पर बिखरी हुई हों।

(इ) **पेशेवर क्रान्तिकारियों के संगठित दल की महत्ता**—एबेन्स्टाइन ने लिखा है कि लेनिन की सबसे बड़ी देन उसका पेशेवर क्रान्तिकारी (Professional Revolutionary) का विचार है।[2] पेशेवर क्रान्तिकारी का अभिप्राय उस व्यक्ति से है जिसने क्रान्ति करना और इसे सफल बनाना ही अपने जीवन का पेशा या व्यवसाय बना लिया हो एवं क्रान्तिशास्त्र का पारंगत पण्डित हो। जिस प्रकार पुलिस को तथा सेना को अपने कार्य का पूरा प्रशिक्षण दिया जाता है, उसी प्रकार उसका विरोध करने वाले क्रान्तिकारी दल को पुलिस की आँखों में धूल झोंकने, उसके प्रयास विफल करने, गुप्त रूप से अपने दल को संगठित करने की तथा क्रान्ति के विविध कार्य करने की पूरी शिक्षा दी जानी चाहिए। इस प्रकार से प्रशिक्षित मुट्ठी-भर क्रान्तिकारी हजारों मजदूरों से अधिक अच्छा काम कर सकते हैं। लेनिन ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'क्या करें' (What is to be done) में इसका विस्तृत प्रतिपादन किया है।

लेनिन ने इस बात पर बहुत बल दिया है कि इस प्रकार प्रशिक्षित पेशेवर क्रान्तिकारियों से बना हुआ दल ही क्रान्ति का सफल नेतृत्व कर सकता है। वह संख्या की अपेक्षा गुणों को अधिक महत्व देता था। सदस्यों की विशाल संख्या रखने वाले एक बड़े दल की अपेक्षा वह क्रान्ति के जोश से परिपूर्ण, करने या मर-मिटने का दृढ़ संकल्प रखने वाले सैनिकों की भाँति कठोर अनुशासन के नियमों में बँधे हुए सुप्रशिक्षित सुसंगठित क्रान्तिकारियों की अत्यल्प संख्या रखने वाले दल को अधिक अच्छा समझता था। इस दल का संगठन मजदूरों के संगठनों की भाँति विशाल और खुला न होकर गुप्त होना चाहिए। लेनिन ने इस प्रकार बनाए जाने वाले दल को क्रान्ति का अग्रदूत,

१. ग्रे—दी सोशलिस्ट ट्रेडीशन, पृ० ४८०
२. एबेन्स्टाइन—टूडेज इज्म्स, पृ० २४

उसका नेता और संगठनकर्त्ता बताया है। यह मजदूर वर्ग का अग्रगामी दल है। इसे साम्यवादी सिद्धान्तों का गहरा ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि लेनिन के शब्दों में, "लड़ाकू हरावल दस्ते की भूमिका केवल वही पार्टी अदा कर सकती है जो सबसे अधिक उन्नत सिद्धान्तों के अनुसार चलती है।" वह इस पार्टी को एक प्रस्तर-शिला की भाँति सुदृढ़ (monolithic), कठोर, अनुशासित और संगठित बनाना चाहता था। ऐसी पार्टी ही क्रान्ति का सफल नेतृत्व करने में समर्थ होती है। यह पार्टी न केवल सुदृढ़ संगठन वाली होती है, अपितु क्रान्ति को सफल बनाने के लिए आवश्यक किसी भी प्रकार की कठोरता या निर्दयता करने में संकोच नहीं करती है।

लेनिन के इस सिद्धान्त की महत्ता का प्रधान कारण यह है कि वह इसी से १९१७ की बोल्शेविक क्रान्ति करने में तथा बाद में साम्यवादी शासन को सुदृढ़ बनाए रखने में सफलता प्राप्त कर सका। उसे मार्क्स के ग्रन्थों से यह पूरा विश्वास हो गया था कि युद्ध अनिवार्य है, रूस के सम्बन्ध में गम्भीर ज्ञान होने के कारण वह यह समझता था कि युद्ध में रूस की हार अवश्य होगी, ऐसी हार का लाभ उठाकर क्रान्ति को सफल बनाने वाले सुदृढ़ दल का निर्माण करना उसका महान् कार्य था। इस प्रकार उसने रूस में मार्क्सवाद का और क्रान्ति का पथ प्रशस्त किया।

किन्तु ऐसा करते हुए उसे एक बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। वेपर के शब्दों में यह रूस की गुप्त पुलिस से भी अधिक भीषण थी। यह इसको मार्क्स के सिद्धान्तों के अनुकूल सिद्ध करने की थी। मार्क्स का यह मत था कि पूँजीवाद का चरम विकास होने पर ही आन्तरिक विरोध से उसका विध्वंस होकर साम्यवादी क्रान्ति होती है (ऊपर पृ० ३३६)। रूस में मार्क्सवाद का पिता माना जाने वाला प्लेखनोव का तथा अन्य अनेक रूसी विचारकों का यह विश्वास था कि रूस में पूँजीवाद का विकास परिपक्व न होने के कारण अभी वहाँ साम्यवादी क्रान्ति के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ नहीं हैं। वहाँ इस क्रान्ति को निकट भविष्य में लाने की कोई सम्भावना नहीं है; क्योंकि मार्क्स ने यह कहा था कि साम्यवादी शासन स्थापित करने का इसके सिवाय कोई मार्ग नहीं है कि यह औद्योगिक विकास होने पर मजदूरों में पूँजीपतियों के विरुद्ध स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने वाले असन्तोष से उत्पन्न हो। अतः सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति से पहले पूँजीवाद के विकास की प्रसव-वेदना का होना आवश्यक है।

किन्तु क्या यह प्रसव-वेदना आवश्यक थी? मार्क्स ने यह कहा था कि उसकी शिक्षाएँ इस प्रसूति-व्यथा की उग्रता को कम कर सकती हैं, किन्तु विकास की स्वाभाविक दशाओं के क्रम का उल्लंघन नहीं कर सकती हैं। एंगल्ज़ ने अपनी पुस्तक Anti-Duhring के तीन अध्यायों में यह बात सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि शक्ति का प्रयोग क्रान्तिकारी स्थिति में सहायक मात्र ही हो सकता है, किन्तु यह स्थिति उस समय तक नहीं आ सकती जब तक कि पूँजीवाद का विकास सर्वहारा वर्ग को क्रान्ति करने के लिए बाधित ही न कर दे। अतः मार्क्स के सिद्धान्तों के अनुसार साम्यवादी क्रान्ति के लिए पूँजीवाद की प्रसव-वेदना आवश्यक थी। रूस के प्लेखनोव जैसे कट्टर साम्यवादी ऐसा ही मानते थे। किन्तु लेनिन का यह विश्वास था कि एक शक्तिशाली साम्यवादी दल का निर्माण करके तथा उपयुक्त परिस्थितियों का पूरा लाभ

उठाते हुए पूँजीवाद के विकास के बिना ही साम्यवादी क्रान्ति को सफल बनाया जा सकता है।

साम्यवादी दल का स्वरूप—क्रान्ति को सफल बनाने के लिए लेनिन ने एक विशेष प्रकार के साम्यवादी दल के निर्माण पर बल दिया। ऊपर यह बताया जा चुका है कि यह अत्यधिक अनुशासित, संगठित, क्रान्तिशास्त्र में पारंगत, दृढ़निश्चयी, और अपने लक्ष्य के लिए मर-मिटने वाले पेशेवर क्रान्तिकारियों का समूह था, लेनिन इसे क्रान्ति का अग्रदूत या लड़ाकू हरावल दस्ता (Vanguard) मानता था। इसके स्वरूप के बारे में मेन्शेविकों से उसका मौलिक मतभेद था। मार्तोव के नेतृत्व में मेन्शेविक साम्यवादी दल का एक लोकतन्त्रीय संगठन चाहते थे, इसके उद्देश्यों से सहानुभूति रखने वाला कोई भी व्यक्ति इसका सदस्य हो सकता था, उनके मत में पश्चिमी देशों की भाँति लोकतन्त्रीय पद्धति से इस दल का संगठन होना चाहिए। किन्तु लेनिन का यह मत था कि इस दल की सदस्यता केवल उद्देश्यों के साथ सहानुभूति रखने वाले व्यक्तियों को नहीं, अपितु इन्हें अपने जीवन का लक्ष्य बनाने वाले तथा क्रान्ति की सफलता के लिए चौबीसों घण्टे कार्य करने वाले व्यक्तियों को दी जानी चाहिए। यह सदस्यता इस प्रकार क्रान्तिकारी कार्यों में कर्मठ रूप से लगे व्यक्तियों तक ही सीमित रहनी चाहिए, इस दल में कठोर अनुशासन अत्यन्त आवश्यक है। यदि ऐसा न हुआ तो जारशाही द्वारा उत्पन्न की गई भीषण दमन की परिस्थितियों में इसका अस्तित्व बनाए रखना कठिन हो जाएगा, यह दल क्रान्ति को सफल नहीं बना सकेगा। दल के सामान्य सम्मेलनों के अतिरिक्त सभी समयों में दल के सदस्यों को इन सम्मेलनों द्वारा निर्वाचित केन्द्रीय समिति के आदेशों को शिरोधार्य करना चाहिए। संकट के समयों में पश्चिमी देशों की भाँति पार्टी के सभी सदस्यों से सम्मति लेने की सुविधा या समय नहीं होता है, ऐसे समयों में केन्द्रीय समिति के आदेशों का पालन किया जाना चाहिए। लेनिन के मतानुसार यदि इस विषय में मार्तोव का कथन माना जाता तो दल में सब प्रकार के सदस्य सम्मिलित हो जाते, इसमें क्रान्ति को सफल बनाने के लिए आवश्यक दृढ़ता, अनुशासन, संगठन, नेतृत्व और शक्ति नहीं आ सकती थी। लेनिन का यह कहना था कि "पार्टी उन सर्वोत्तम लोगों को लेकर बनाई जाती है जो क्रान्तिकारी ध्येय के प्रति सबसे अधिक निष्ठावान् होते हैं। जब तक इच्छा की एकता, कार्यवाही की एकता और अनुशासन की एकता द्वारा आपस में जुड़े हुए, एकशिलात्मक चट्टान की तरह ठोस सैन्यदल के रूप में पार्टी का संगठन नहीं किया जाएगा, तब तक वह मजदूर वर्ग के अग्रणी लड़ाकू दल की भूमिका नहीं अदा कर पाएगी"। पार्टी का संगठन जब **केन्द्रीयतावाद** (Centralism) के असूलों पर किया जाता है, तभी वह मजबूत तथा एक सूत्र में आबद्ध हो सकती है। इसका अर्थ है—पार्टी का नेतृत्व एक केन्द्र से होना, और वह केन्द्र है पार्टी कांग्रेसों के बीच की अवधि में कार्य करने वाली केन्द्रीय समिति। इसका अर्थ अल्पमत के बहुमत की ओर नीचे के संगठनों का ऊपर के संगठनों की कड़ी मातहती में काम करना है। लेनिन के शब्दों में, "केन्द्रीय संस्थाओं का संचालन स्वीकार करने से इनकार करने का मतलब है पार्टी में रहने से इनकार कर देना, उसका अर्थ है

पार्टी में फूट डालना।"[1] रूस में आज तक साम्यवादी दल लेनिन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर काम कर रहा है और रूस के शासन की सफलता का एक बड़ा कारण वहाँ की कम्यूनिस्ट पार्टी है।

लेनिन का यह सिद्धान्त मार्क्स के सिद्धान्त से कुछ भेद रखता है। मार्क्स यह मानता था कि पूँजीवाद से उत्पन्न परिस्थितियों से असन्तुष्ट मजदूर वर्ग क्रान्ति का नेतृत्व करेगा। किन्तु लेनिन इससे सहमत नहीं है, उसके मतानुसार मजदूरों में क्रान्ति की मनोवृत्ति नहीं होती है, इनमें केवल श्रमिक संघ (Trade Union) बनाने की ही मनोवृत्ति का विकास होता है, वह अपना संगठन मिल-मालिकों से अपनी माँगें मनवाने के लिए तथा सरकार को इनके हित के लिए 'कारखाना कानून' पास करवाने के लिए ही कर सकते हैं। किन्तु समाजवाद के सिद्धान्त का विकास दार्शनिक, ऐतिहासिक और आर्थिक सिद्धान्तों से हुआ है। इसका विकास करने वाले व्यक्ति सम्पत्तिशाली वर्ग के बुद्धिजीवी थे। वैज्ञानिक समाजवाद के जन्मदाता मार्क्स और एंगल्ज भी पूंजीपति बुद्धिजीवी वर्ग के थे। रूस में भी मजदूर आन्दोलन के विकास से पृथक् रहने वाले बुद्धिजीवी वर्ग ने क्रान्तिकारी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है; अतः क्रान्ति का नेतृत्व मजदूर नहीं, किन्तु बुद्धिजीवी क्रान्तिकारी करते हैं। यही लोग मजदूरों में क्रान्ति की भावना भरते हैं। मजदूर स्वयमेव क्रान्तिकारी या समाजवादी नहीं बनते हैं, उन्हें ऐसा बनाने का कार्य मध्यम वर्ग के बुद्धिजीवियों से बना हुआ क्रान्तिकारी दल करता है।

लेनिन द्वारा प्रतिपादित साम्यवादी दल के इस सिद्धान्त से तीन परिणाम निकलते हैं और ये तीनों मार्क्सवाद के मौलिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं। **पहले** परिणाम के अनुसार क्रान्ति विचारों के प्रचार से होती है, किन्तु मार्क्स के मत में 'उत्पादन की भौतिक परिस्थितियाँ, (Material Conditions of Production) ही क्रान्ति को उत्पन्न करती हैं। **दूसरा** परिणाम शक्ति के प्रयोग का प्रबल समर्थन है, मार्क्स तथा एंगल्ज ने शान्तिपूर्ण साधनों पर बल दिया था, किन्तु लेनिन शक्ति को शान्तिपूर्ण विकास से अधिक महत्व देता था। **तीसरा** परिणाम क्रान्ति का सदैव हिंसापूर्ण साधनों से सम्पन्न होना था, जबकि मार्क्स का यह मन्तव्य था कि क्रान्तिकारी जनता के हाथों में इतनी प्रबल शक्ति होगी कि इन्हें अधिक हिंसात्मक कार्य करने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता (Dictatorship of the Proletariat)—मार्क्स के इस मौलिक सिद्धान्त (देखिए ऊपर पृ० ३५६) में भी लेनिन ने कई महत्वपूर्ण परिवर्तन किए और इसे बिलकुल नवीन रूप प्रदान किया। मार्क्स राज्य को एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण का साधन समझता है। अतः क्रान्ति के बाद पूँजीवाद की समाप्ति कर देने पर वह मजदूर वर्ग की अधिनायकता स्थापित करता है। यह अधिनायकता किसी विशेष दल की नहीं है, मार्क्स इस अधिनायकता को लोकतन्त्रात्मक रूप प्रदान करता है। 'साम्यवादी घोषणापपत्र' (Communist Manifesto) में कहा

---

१. लेनिन की संकलित रचनाएँ (मास्को) खण्ड १, भाग १, पृ० १९

गया है—"मजदूर वर्ग द्वारा की जाने वाली क्रान्ति में पहला पग सर्वहारा वर्ग को शासक वर्ग बनाना तथा लोकतन्त्र स्थापित करना होगा।" एंगल्ज़ ने इसी बात का समर्थन करते हुए १८६१ में लिखा था कि मजदूर वर्ग लोकतन्त्रीय गणराज्य के रूप में ही सत्तारूढ़ हो सकता था। किन्तु लेनिन यह मानता था कि मजदूरों में न क्रान्तिकारी भावना होती है और न ही वे क्रान्ति के आ जाने पर उसका नियन्त्रण करने का तथा उसे ठीक दिशा में संचालित करने का सामर्थ्य रखते हैं। यह कार्य पेशेवर क्रान्तिकारियों का सुव्यवस्थित, अनुशासनबद्ध और क्रान्तिशास्त्र का पूरा ज्ञान रखने वाला अल्पसंख्यक दल ही कर सकता है। इस दल को अवसर आने पर क्रान्ति करके सारी शक्ति अपने हाथ में ले लेनी चाहिए और अपने उत्कृष्ट ज्ञान से और कार्य-पद्धति से इस क्रान्ति को सफल बनाना चाहिए। यह कार्य वह अपनी अधिनायकता स्थापित करके ही कर सकता है। लेनिन इसे **सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता** कहता है, किन्तु वास्तव में यह क्रान्तिकारी **साम्यवादी दल की सर्वहारा वर्ग पर स्थापित की जाने वाली अधिनायकता** (Dictatorship of the Communist Party over the Proletariat) है। त्रातस्की ने लेनिन के पार्टी के विचार की आलोचना करते हुए कहा था कि इसके द्वारा **सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता** के स्थान पर **सर्वहारा वर्ग पर अधिनायकता** स्थापित की गई थी। लेनिन ने स्वयमेव मार्क्स के ग्रन्थों पर अपनी टीकाएँ लिखते हुए यह स्वीकार किया था कि सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता शीघ्रमेव एक ही दल रखने वाले राज्य के रूप में परिणत हो जाती है। फिर भी लेनिन मार्क्स के सिद्धान्त के साथ सामंजस्य स्थापित करने के लिए यह घोषणा करता है कि सर्वहारा वर्ग का राज्य ही "पूर्णतम प्रजातन्त्र" है, क्योंकि पूर्ण प्रजातन्त्र की स्थापना तभी हो सकती है जब वर्तमान पूंजीवादी राज्य समाप्त हो जाए। स्तालिन ने लेनिन की सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता के दो रूप माने हैं—इसका पहला रूप मजदूर वर्ग के लिए साम्यवादी क्रान्ति को करने का साधन बनना है। यदि लेनिन ने १९१७ में केरेन्स्की सरकार के पतन पर मजदूर वर्ग की अधिनायकता स्थापित न की होती तो विदेशी पूँजीपतियों से सहायता पाने वाली रूस की प्रतिगामी शक्तियाँ पुरानी बूर्जुआ सरकार को पुनः स्थापित करने में समर्थ हो जातीं। अतः उस समय यह परम आवश्यक था कि क्रान्ति को सफल बनाने के लिए ऐसी अधिनायकता स्थापित की जाए जिससे क्रान्ति-विरोधी शक्तियों को पूरी तरह कुचला जा सके। इनके साथ लड़ाई एक लम्बा और निरन्तर चलने वाला संघर्ष है। यह संघर्ष जब तक चलता रहेगा तब तक मजदूर वर्ग की अधिनायकता बनी रहेगी। रूस में बोल्शेविक क्रान्ति होने के बाद पचास वर्ष बीत जाने पर, इसी कारण अभी तक यह अधिनायकता बनी हुई है और इसके समाप्त होने की कोई सम्भावना नहीं है।

अधिनायकता का दूसरा रूप यह है कि यह पूंजीपति वर्ग पर शासन करने वाले सर्वहारा वर्ग का राज्य है। जिस प्रकार अभी तक सब राज्य एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के उत्पीड़न का साधन बने हुए थे, उसी प्रकार साम्यवादी राज्य भी एक विशेष वर्ग—सर्वहारा वर्ग—द्वारा पूंजीपति वर्ग पर अत्याचार करने वाला राज्य है। किन्तु इन दोनों में एक महत्वपूर्ण अन्तर है। क्रान्ति से पहले के राज्यों में अल्पसंख्या रखने

वाला पूंजीपति वर्ग बहुसंख्यक मजदूरों का उत्पीड़न और शोषण करता था, साम्यवादी क्रान्ति के बाद बहुसंख्यक मजदूरों का राज्य पूंजीपतियों की अल्पसंख्या पर अत्याचार करता है। इसे यह घोर उत्पीड़न इसलिए करना पड़ता है कि ये पूंजीपति नवीन राज्य-व्यवस्था के घोर विरोधी होते हैं तथा दूसरे पूँजीवादी देशों की सहायता से अपने देश की साम्यवादी सरकार का विध्वंस करने का प्रबल प्रयत्न करते हैं। लेनिन ने कहा था कि भले ही हमारा बहुमत हो, फिर भी हमें अधिनायकता की आवश्यकता इसलिए है कि हम पूंजीपतियों के प्रतिरोध को भंग कर सकें, क्रान्ति-विरोधियों के मन में भय का संचार कर सकें, पूंजीपतियों के विरुद्ध शस्त्रसन्नद्ध जनता की सत्ता को बनाए रख सकें।[1]

लेनिन की इस अधिनायकता की कई विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं: **पहली विशेषता** यह है कि मजदूर वर्ग की अधिनायकता कोरी पाशविक शक्ति पर आधारित है और यह अपने को किसी भी प्रकार के नियमों से बँधी हुई नहीं मानती है। लेनिन ने कौत्स्की (Kautsky) की आलोचना करते हुए बड़े स्पष्ट शब्दों में अधिनायकता की यह परिभाषा की थी—"अधिनायकता शक्ति है, शक्ति पर आधारित है, यह किसी भी प्रकार के नियमों से नियन्त्रित नहीं होती है। सर्वहारा वर्ग की क्रान्तिकारी अधिनायकता पूंजीपतियों के विरुद्ध श्रमजीवी वर्ग द्वारा की जाने वाली हिंसा से प्राप्त की जाती है और सुरक्षित रखी जाती है। यह शक्ति किन्हीं भी कानूनों से प्रतिबद्ध नहीं होती है।"[2] **दूसरी विशेषता** इसमें लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता का अभाव है। इसमें पूंजीपतियों को कोई स्वाधीनता या अधिकार नहीं होते हैं। ये शासन के कार्यों में, चुनाव आदि में भाग लेने का कोई अधिकार नहीं रखते। इन्हें स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र के अधिकार तभी प्राप्त हो सकते हैं जब अधिनायकता का युग समाप्त होकर साम्यवाद की आदर्श स्थिति स्थापित हो। **तीसरी विशेषता** अधिनायकता द्वारा पुरानी व्यवस्था का समूलोच्छेदन तथा सर्वथा नवीन व्यवस्था की स्थापना है। लोकतन्त्रीय देशों में यदि सत्तारूढ़ दल चुनाव में हार जाता है तो उसका स्थान विजयी दल ले लेता है और वह नए मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता है। इसमें केवल शासन की नीति का संचालन करने वाला मन्त्रिमण्डल ही बदलता है, राज्य और शासन का शेष ढाँचा—नौकरशाही, पुलिस, अदालतें, कानून और न्याय-व्यवस्था पूर्ववत् बनी रहती हैं। किन्तु सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता स्थापित होने पर सब कुछ बदलता है, इसे सुदृढ़ बनाने के लिए पूँजीवादी राज्य के समूचे शासनयन्त्र—नौकरशाही, पुलिस, सेना, कानून और न्याय-व्यवस्था का पूर्णरूप से उन्मूलन करके इनके स्थान पर नई व्यवस्था स्थापित की जाती है। **चौथी विशेषता** साम्यवादी दल का शासन है, इसे मजदूर वर्ग की अधिनायकता कहा जाता है, किन्तु इसमें वास्तविक शासन-सत्ता मजदूरों या श्रमजीवियों में नहीं, किन्तु इनका नेतृत्व करने वाले साम्यवादी दल में निहित होती है। यह मार्क्स के दृष्टिकोण के अनुसार मजदूर वर्ग के बहुसंख्यक व्यक्तियों द्वारा किया जाने वाला समाजवादी शासन नहीं, किन्तु मजदूर वर्ग के अग्रणी एवं अत्यल्प संख्या रखने वाले

१. ग्रे—दी सोशलिस्ट ट्रेडीशन, पृ० ४६९-७०
२. वही पुस्तक, पृ० ४६९

साम्यवादी दल का शासन है। पुराने मार्क्सवादियों का यह विश्वास था कि साम्यवादी क्रान्ति होने पर थोड़े समय के लिए ही सैनिक शासन आवश्यक होगा; किन्तु लेनिन तथा इसके उत्तराधिकारियों ने इसे, तानाशाही को, वाणी और लेखन आदि की स्वतन्त्रता के हनन को, जासूसी को, मतभेद रखने वालों को भीषण दण्ड देने की न्याय-व्यवस्था को शासन का सामान्य नियम बना दिया। यह इसमें साम्यवादी दल के मुट्ठी-भर लोगों द्वारा शासन-सत्ता के निरंकुश रूप से प्रयोग करने का परिणाम है। यह दल लोकतन्त्रीय केन्द्रीयतावाद (Democratic Centralism) के सिद्धान्त पर काम करता है। इसकी व्याख्या करते हुए त्रातस्की ने यह ठीक ही लिखा था कि इसके अनुसार केन्द्रीय समिति साम्यवादी दल का स्थान ले लेती है, और केन्द्रीय समिति का स्थान एक अधिनायक ले लेता है। लेनिन के बाद, रूस में स्तालिन अपनी मृत्युपर्यन्त रूस का सर्वेसर्वा, निरंकुश शासक बना रहा। उस समय रूस में सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता का अर्थ स्तालिन की अधिनायकता थी।

मार्क्स का यह सिद्धान्त था कि यह अधिनायकता अल्पकालीन तथा संक्रमण-कालीन (Transitional) व्यवस्था है। किन्तु रूस में आधी शताब्दी बीत जाने पर भी इसका अन्त नहीं हुआ है तथा इसे बनाए रखने का समर्थन निम्नलिखित तर्कों के आधार पर किया जाता है—(१) सोवियत संघ इस समय पूँजीवादी-राज्यों से घिरा हुआ है, जब तक ये राज्य बने रहते हैं तब तक रूस में अधिनायकतन्त्र के समाप्त होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। लेनिन ने अवश्य अधिनायकतन्त्र वाले रूसी राज्य के शीघ्र ही लुप्त होने की भविष्यवाणी की थी, क्योंकि उसका यह विश्वास था कि निकट भविष्य में होने वाली अन्य क्रान्तियों से योरोप में पूँजीवाद का समूलोन्मूलन हो जाएगा। किन्तु ऐसा नहीं हुआ, अतः रूस में सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता के समाप्त होने की आशा नहीं है। (२) योरोप के कुछ देशों में १९१८, १९१९ तथा १९२३ में साम्यवादी क्रान्तियों के विफल हो जाने के कारण कई दृष्टियों से रूस में अधिनायक-तन्त्र बनाए रखना समुचित एवं आवश्यक प्रतीत होता है। इससे अन्य देशों में साम्यवादी दलों को प्रबल प्रोत्साहन मिलता है, उनका मनोबल ऊँचा बना रहता है, आवश्यकता पड़ने पर उन्हें सहायता भी दी जा सकती है। इसके अतिरिक्त स्तालिन को शीघ्र ही यह अनुभव हो गया कि राज्य केवल एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण का साधन नहीं, अपितु इसके माध्यम से अनेक जन-कल्याणकारी कार्य कराके इसे मजदूर वर्ग की हितसिद्धि का साधन बनाया जा सकता है। इस प्रकार उपयोगी कार्य करने वाले राज्य का उन्मूलन करने की नहीं, अपितु उसे सुदृढ़ एवं स्थायी बनाने की आवश्यकता है।

मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों में अन्तर—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मार्क्स का कट्टर अनुयायी होते हुए भी रूस की विशिष्ट परिस्थितियों के कारण कुछ बातों में लेनिन के विचार मार्क्स के विचारों से भिन्न थे। इनके प्रधान सैद्धान्तिक भेद निम्नलिखित हैं: (१) मार्क्स के मतानुसार पूँजीवाद के पूर्ण रूप से विकसित होने के बाद ही साम्यवादी क्रान्ति होती है, किन्तु लेनिन इसे क्रान्ति के लिए आवश्यक नहीं मानता था। रूस औद्योगिक दृष्टि से पश्चिमी योरोप के देशों से बहुत पिछड़ा हुआ

था, फिर भी वहाँ लेनिन के नेतृत्व में सफल बोल्शेविक क्रान्ति हुई। (२) मार्क्स ने आर्थिक नियतिवाद (Economic Determinism) पर बल देते हुए यह कहा था कि पूँजीवाद के आन्तरिक विरोधों (Inner Contradictions) से इसका पतन अनिवार्य है, हम इसके लिए प्रयत्न करें या न करें, इस क्रान्ति ने आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप अवश्यमेव घटित होना है। लेनिन का यह कहना था कि यह क्रान्ति आर्थिक घटनाओं के कारण स्वतः नहीं आएगी, उसे हमें अपने प्रयत्नों से लाना होगा। (३) मार्क्स के मतानुसार क्रान्ति का नेतृत्व कारखानों में काम करने वाले मजदूर करेंगे। लेनिन के मत में सब देशों के इतिहास से स्पष्ट है कि मजदूरों में श्रमिक संघवाद (Trade Unionism) की अर्थात् अपने संघ बनाकर अपनी दशाओं को सुधारने की तथा मजदूरी बढ़वाने का प्रयत्न करने की ही प्रवृत्ति होती है। अतः मजदूर साम्यवादी क्रान्ति का नेतृत्व नहीं कर सकते हैं। इसका नेतृत्व तो पेशेवर क्रान्तिकारियों का सुदृढ़ रूप से सैनिक ढंग पर अनुशासित, संगठित और प्रशिक्षित साम्यवादी दल ही कर सकता है। (४) मार्क्स ने यह कहा था कि क्रान्ति के बाद भूमि पर राज्य का स्वामित्व स्थापित होना चाहिए, किन्तु लेनिन ने रूस में साम्यवादी क्रान्ति होने पर ऐसा नहीं किया, क्योंकि इससे रूस के अधिकांश किसानों के क्रान्ति-विरोधी हो जाने की सम्भावना थी। अतः लेनिन ने इस बात का प्रचार किया कि क्रान्ति के बाद भूमि पर किसानों का स्वत्व बना रहेगा। १९१७ के पश्चात् उसने कुछ समय तक रूस में न केवल ऐसी स्थिति बनाए रखी, अपितु अपने देश की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए कुछ बातों में पूँजीवादी व्यवस्था से समझौता करने के लिए **नवीन आर्थिक नीति** (New Economic Policy, NEP) को अपनाया। (५) लेनिन ने पूँजीवाद की चरम दशा को सूचित करने वाले साम्राज्यवाद के नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया (ऊपर पृ० ३७७-७८)। मार्क्स ने इसका कोई प्रतिपादन नहीं किया था। (६) मार्क्स साम्यवादी क्रान्ति के बाद श्रमिक वर्ग की अधिनायकता (Dictatorship of the Proletariat) को संक्रमणकालीन व्यवस्था मानता था और लोकतन्त्र के सिद्धान्त पर बहुत बल देता था, लेनिन इस अधिनायकता को विशुद्ध शक्ति पर आधारित मानता था, इसमें लोकतन्त्र के सिद्धान्तों का कोई स्थान नहीं था; यह साम्यवादी दल पर, श्रमिक वर्ग पर तथा सारी जनता पर स्थापित की जाने वाली निरंकुश तानाशाही थी।

उपर्युक्त मौलिक मतभेदों को देखते हुए सेबाइन ने लिखा है[1] कि "लेनिन ने मार्क्स के मूल सिद्धान्तों में बहुत बड़ी मात्रा में परिवर्तन किया। जिस प्रकार मार्क्स ने यह दावा किया था कि उसने हेगल के द्वन्द्ववाद को उल्टा करके पैरों के बल खड़ा कर दिया है, उसी प्रकार लेनिन ने भी मार्क्स के सिद्धान्तों का शीर्षासन कर दिया।" उसने अपने गुरु के जिन सिद्धान्तों को भक्तिपूर्वक मानने का दावा किया, उनको अपने क्रान्ति सम्बन्धी विचारों के साथ विरोध होने पर खण्डित करके त्याग दिया।

सेबाइन के मत में, "लेनिन ने मार्क्स के सिद्धान्तों और सूत्रों का अनुसरण किया, किन्तु लेनिनवाद मार्क्सवाद से भिन्न हो गया।" वेपर ने इस विषय में यह

---

१. सेबाइन—ए हिस्टरी आफ पोलिटिकल थियोरी, पृ० ६९९

लिखा है कि कई बार भाष्यकार मूलग्रन्थ के आशय में परिवर्तन कर देते हैं, लेनिन ने ऐसा ही किया।[1]

लेनिन का महत्व और देन—लेनिन ने उपर्युक्त परिवर्तन मार्क्स के मौलिक उद्देश्य—पूँजीवाद के विध्वंस एवं साम्यवादी क्रान्ति को सफल बनाने की दृष्टि से किए, इनके आधार पर रूस में बोल्शेविक क्रान्ति करके उसने मार्क्स के सिद्धान्तों को मूर्त्त, व्यावहारिक और क्रियात्मक रूप दिया। वह मार्क्सवाद को कोई स्थायी और शाश्वत सिद्धान्त न मानकर एक सजीव, प्रगतिशील और परिवर्तनशील मत मानता था, उसने इसमें समयानुकूल संशोधन करके इससे रूसी क्रान्ति को सफल बनाया। यह उसकी सबसे बड़ी देन थी। अतः साम्यवादी दर्शन में मार्क्स के साथ लेनिन को, मार्क्सवाद के साथ लेनिनवाद को समान महत्व दिया जाता है। वेपर ने लिखा है कि "लेनिन ने भले ही मार्क्सवाद के विशुद्ध स्वरूप में बहुत मिलावट की हो, फिर भी उसने रूस को तथा दुनिया को जो देन दी है उसके कारण उसके महत्व को किसी भी प्रकार कम नहीं किया जा सकता है।"[2] लेनिन की विशिष्ट देनें—क्रान्ति के सिद्धान्तों और पद्धतियों का विशद प्रतिपादन, मार्क्सवाद को रूस की आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार ढालना तथा मार्क्स के सिद्धान्तों को साम्राज्यवाद आदि के सिद्धान्तों से अद्यतनीन (Up-to-date) बनाना था। इस कारण वह राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में सदैव स्मरणीय समझा जाएगा। साम्यवादी जगत् में उसकी प्रतिष्ठा और पूजा निम्नलिखित सिद्धान्तों के कारण है—(१) साम्राज्यवाद म्रियमाण पूँजीवाद के विकास की अन्तिम दशा है। (२) पूँजीवादी देशों के विरुद्ध क्रान्तिकारी संघर्ष में उपनिवेशवादी (Colonial) तथा अर्द्ध-उपनिवेशवादी देशों की महत्ता। (३) विश्व-क्रान्ति में साम्राज्यवाद के विरोध की महत्ता। (४) सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति का नेतृत्व ऐसे साम्यवादी दल द्वारा किया जाना जो अनुशासित, अभिजात (Elite) तथा लोकतन्त्रीय केन्द्रीयता (Democratic Centralism) में विश्वास रखता हो। (५) कृषक वर्ग की क्रान्तिकारी महत्ता को स्वीकार करना। (६) यह विचार स्वीकार करना कि औद्योगिक दृष्टि से कम-विकसित देशों में क्रान्ति समाजवादी देशों में प्रवेश करने से पूर्व बूर्जुआ लोकतन्त्रीय दशा में से होकर गुजरती है और यह दशा प्रधान रूप से साम्राज्यवाद-विरोधी होती है।

स्तालिन (१८७९-१९५३)

लेनिन की मृत्यु के बाद स्तालिन रूस का भाग्यविधाता और साम्यवादी क्रान्ति का नेता बना। १८७९ में जार्जिया के एक मोची के घर में जन्म लेने वाले इस महान् साम्यवादी नेता को इसका पिता पुरोहित बनाना चाहता था और धार्मिक विषयों की शिक्षा देने के लिए उत्सुक था। किन्तु स्तालिन को आरम्भ से ही मार्क्सवाद और समाजवाद में अभिरुचि थी। १८९० में वह तिफलिस (Tiflis) के मार्क्सवादी

---

१. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० २१७
२. वही पुस्तक, पृ० २३०

संगठन में सम्मिलित हुआ तथा क्रान्तिकारी कार्यों में भाग लेने लगा। १९०२ में ज़ारशाही ने उसे बन्दी बनाकर साइबेरिया भेज दिया। वह वहाँ से भागने में सफल हुआ, उसने मोलोतोव के साथ मिलकर 'प्रावदा' नाम का पत्र निकाला, वह भूमिगत क्रान्तिकारी के रूप में कार्य करता रहा। १९१३ में उसे रूस से निर्वासित किया गया, किन्तु चार वर्ष बाद बोल्शेविक क्रान्ति होने पर वह स्वदेश लौट आया। १९२० में वह ज़िनोवीय के सुझाव पर साम्यवादी दल की केन्द्रीय समित के पालितब्यूरो (Politbureau) का सदस्य और बाद में साम्यवादी दल का मन्त्री बना दिया गया। लेनिन के मरते ही दल का महामन्त्री होने के कारण उसने शीघ्र ही अपने विरोधियों का सफाया करके अपने को सर्वोच्च नेता बना लिया। जनवरी १९२५ में उसने त्रातस्की को युद्धमन्त्री के पद से छुट्टी दे दी, दो वर्ष बाद उसे साइबेरिया में निर्वासित किया। इसी वर्ष उसने दो पुराने बोल्शेविक नेताओं—ज़िनोवीव तथा कामेनेव को पदच्युत किया। शनैः-शनैः इस प्रकार उसने अपने प्रत्येक विरोधी को जनता का शत्रु कहकर समाप्त किया, रूस में भीषण आतंक का साम्राज्य स्थापित किया, कठोर दमन की नीति से अपने सभी विरोधियों को निर्मूल कर दिया। इसके साथ उसने पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा रूस का औद्योगीकरण करके उसे संसार का एक महान्, उन्नत और प्रथम कोटि का राज्य बना दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद स्तालिन के नेतृत्व में रूस ने सं० रा० अमेरिका के बराबर समान महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। स्तालिन ने रूस में मार्क्स और लेनिन के ही सिद्धान्तों का विकास करते हुए उनमें कुछ नवीन तत्वों का समावेश किया। उसके प्रधान सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

एक देश में समाजवाद को सफल बनाना—मार्क्स का यह मत था कि समाजवाद एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन है, सब देशों के मजदूरों को पूँजीवाद के विरुद्ध संगठित होकर विश्व में समाजवादी क्रान्ति को सफल बनाना चाहिए। लेनिन भी इसी विचारधारा का अनुयायी था, यद्यपि उसने व्यावहारिक रूप से रूस में ही क्रान्ति को सुदृढ़ बनाया। उसकी मृत्यु के बाद त्रातस्की ने इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कहा कि रूस समाजवादी क्रान्ति का सुदृढ़ दुर्ग है, इसकी सुरक्षा उसी दशा में अच्छी तरह हो सकती है जब अन्य देशों में भी इसी प्रकार की क्रान्तियाँ रूस की सहायता और प्रोत्साहन से की जाएँ। जब तक विश्व के अन्य देशों में ऐसी क्रान्तियाँ सफल नहीं होतीं, तब तक रूस में बोल्शेविक क्रान्ति का भविष्य अनिश्चित और संदिग्ध बना रहेगा, क्योंकि अन्य पूँजीवादी देश रूस की बोल्शेविक क्रान्ति को मलियामेट करने का पूरा प्रयत्न करेंगे। त्रातस्की ने १९०६ में यह विचार प्रकट किया था कि रूस में क्रान्ति होने पर यदि उसे औद्योगिक दृष्टि से उन्नत अन्य पश्चिमी देशों में होने वाली क्रान्तियों से सहायता नहीं मिली, तो रूसी क्रान्ति स्थायी नहीं हो सकती है, उसे स्थायी बनाने के लिए अन्य देशों से सहयोग आवश्यक है। यह उन देशों में सम्पन्न होने वाली क्रान्तियों से हो सकता है। इसी से योरोप में तथा विश्व में साम्यवादी क्रान्ति को सुदृढ़ और स्थायी बनाया जा सकता है। **विश्व-क्रान्ति** (World Revolution) के सिद्धान्त को **स्थायी क्रान्ति** (Permanent Revolution) का सिद्धान्त भी कहते हैं क्योंकि यह क्रान्ति एक देश में सफल होने के बाद समाप्त नहीं

होती है, अपितु उस समय तक निरन्तर चलती रहने वाली एक ऐसी स्थायी प्रक्रिया है जो तब तक समाप्त नहीं होती जब तक कि विश्व के प्रत्येक देश में ऐसी क्रान्ति सफल न हो जाए। पहले स्तालिन का भी यही विचार था, उसने लिखा था कि "समाजवाद की अन्तिम विजय के लिए, समाजवादी उत्पादन के संगठन के लिए, एक देश के, विशेषत: कृषि-प्रधान रूस जैसे देश के प्रयास अपर्याप्त हैं।"

किन्तु शीघ्र ही लेनिन की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी बनने के लिए होने वाले संघर्ष में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए स्तालिन को त्रातस्की के विश्व-क्रान्ति के विचार का विरोध करने के लिए एक देश में समाजवाद को स्थापित करने का विचार ग्रहण करना पड़ा। स्तालिन ने १९२४ में **'लेनिनवाद की समस्याएँ'** (Problems of Leninism) नामक पुस्तक में यह मत प्रतिपादित किया था कि समूचे विश्व के पूँजीवादी बने रहते हुए भी **एक देश में समाजवाद की स्थापना** करना सम्भव है। रूस इतना शक्तिशाली है कि वह अपने यहाँ समाजवाद को स्थापित कर सकता है, साम्यवादी आदर्श पर रूस में स्थापित शासन इसकी साधन-सम्पत्ति का पूरा विकास करके इसे ऐसा प्रबल बना देगा कि दुनिया का कोई भी पूँजीवादी देश इसका सामना नहीं कर सकेगा। किन्तु उस समय त्रातस्की और उसके अनुयायी **विश्व-क्रान्ति** (World Revolution) के विचार का समर्थन करते हुए 'एक देश में समाजवाद' (Socialism in one country) के विचार पर कई प्रबल आपत्तियाँ करते थे। उनके मतानुसार यदि रूसी क्रान्ति के बाद अन्य देशों में क्रान्ति न हुई तो उनमें रहने वाले मजदूरों का जीवन-स्तर रूस के श्रमिकों के जीवन-स्तर से ऊँचा बना रहेगा, किसान भूमि को राष्ट्रीय सम्पत्ति बनाने का विरोध करेंगे। किन्तु स्तालिन ने इन आलोचनाओं की परवाह नहीं की, वह एक देश में समाजवाद स्थापित करने के अपने सिद्धान्त का दृढ़तापूर्वक समर्थन करते हुए इसे ठोस क्रियात्मक रूप देने के प्रयास में लगा रहा। इसके कई महत्वपूर्ण परिणाम उत्पन्न हुए, रूस की असाधारण शक्ति का विकास हुआ, स्तालिन को अपने विरोधी समाप्त करके एक समग्राधिकारवादी (Totalitarian State) राज्य स्थापित करने का अवसर मिला, राष्ट्रीयता, राज्य एवं क्रान्ति सम्बन्धी नए सिद्धान्त बनाए गए। यहाँ इनका संक्षिप्त उल्लेख किया जाएगा।

एक देश में समाजवाद स्थापित करने के परिणाम—(क) रूस की शक्ति में वृद्धि तथा राष्ट्रीयता—त्रातस्की यह मानता था कि विश्व का केन्द्र पश्चिमी योरोप में स्थित औद्योगिक दृष्टि से उन्नत राष्ट्र हैं, रूस योरोप के एक किनारे पर अन्धकार में पड़ा और पिछड़ा राष्ट्र है। मार्क्स के मतानुसार साम्यवादी क्रान्ति पहले पूँजीवाद की दृष्टि से उन्नत ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस आदि देशों में होगी तथा वहाँ सफल होने पर उसकी ज्योति से रूस का अन्धकार दूर होगा। स्तालिन ने इससे विरोधी मत प्रकट करते हुए कहा कि विश्व की आशा औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े देश रूस पर केन्द्रित है, उसे अपने देश में क्रान्ति को सफल बनाकर रूसी सभ्यता को योरोप के पूँजीवादी देशों की सभ्यता से अधिक उन्नत सभ्यता का निर्माण करना है। स्तालिन की यह बात रूसियों में क्रान्ति के लिए अद्भुत उत्साह का संचार करने वाली थी। त्रातस्की के

स्थायी क्रान्ति के सिद्धान्त को रूसी जनता के सामने बुरी तरह तोड़-मरोड़कर पेश किया गया; यह रूसियों में क्रान्ति के लिए आत्मविश्वास के अभाव का द्योतक था, क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार रूसी दूसरे देशों की सहायता के बिना क्रान्ति करने में सफल नहीं हो सकते थे। किन्तु स्तालिन का सिद्धान्त रूसियों के आत्मविश्वास, गौरव और महत्ता को बढ़ाने वाला था क्योंकि इसके अनुसार रूस ने न केवल अपने देश में क्रान्ति को सफल बनाना था, अपितु अन्य देशों का भी पथ-प्रदर्शन करना था। इससे न केवल रूसियों के राष्ट्रीय अभिमान में तथा राष्ट्रीयता की भावना में वृद्धि हुई, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय तनाव और कटुता में भी कमी हुई। त्रातस्की की विश्व-क्रान्ति की नीति से दूसरे देश भयभीत थे, वे रूस के प्रबल विरोधी थे और उसकी क्रान्ति की आग को बुझाने के लिए इस कारण उत्सुक थे कि यह दूसरे देशों में न फैले। जब रूस ने स्वयमेव इस क्रान्ति को अपने देश तक सीमित रखने का निश्चय कर लिया तो दूसरे देशों के रूस के प्रति रुख में पहले जैसी कठोरता में और विरोध में कमी आने लगी।

स्तालिन के इस सिद्धान्त का यह भी परिणाम हुआ कि उसने रूस को पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा अपने देश का ऐसा विकास करने की प्रेरणा दी कि वह संसार का एक सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र बने। स्तालिन के कठोर, लौह, भीषण आतंकपूर्ण शासन ने और नृशंस अत्याचारों ने एक पीढ़ी की अवधि में रूस को ऐसा बना दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध में उसने न केवल हिटलर की अजेय समझी जाने वाली सेनाओं के दाँत खट्टे करते हुए मातृभूमि की रक्षा की, अपितु इस युद्ध की समाप्ति पर वह सं० राष्ट्र अमेरिका की प्रतिस्पर्द्धा करने वाला संसार का एक प्रबल शक्तिशाली राष्ट्र बन गया। क्रान्ति ने तथा द्वितीय विश्वयुद्ध ने रूस में राष्ट्रीयता की भावना को उग्र बनाया। १९४५ में द्वितीय महायुद्ध में रूस की विजय होने पर स्तालिन ने घोषणा की थी—"१९०४ में रूसी सेनाओं की हार ने हमारी जनता के मन पर गहरा प्रभाव डाला था। यह हमारे देश पर कलंक का एक बड़ा धब्बा था। हमारी जनता को यह विश्वास था और वे उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे थे जब जापान को परास्त करके इस कलंक-कालिमा का प्रक्षालन किया जाएगा। पुरानी पीढ़ी के हम लोग ४० वर्ष से इस दिन की प्रतीक्षा कर रहे थे, अब यह दिन आ गया है।" स्तालिन द्वारा घोषित की जाने वाली उग्र राष्ट्रीयता की यह भावना मार्क्स तथा एंगल्ज़ के अन्तर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्त (पृ० ३४०) के सर्वथा प्रतिकूल है।

(ख) **विरोधियों की समाप्ति**—स्तालिन द्वारा एक देश में क्रान्ति के सिद्धान्त को सफल बनाने के लिए पहला महत्वपूर्ण पग अपने विरोधियों का समूलोन्मूलन करना था। उसके मत में रूस को बाह्य शत्रुओं की अपेक्षा आन्तरिक शत्रुओं से अधिक संकट था। मातृभूमि को सुदृढ़ बनाने के लिए इन विभीषणों का विनाश अत्यावश्यक था। अतः उसने सत्तारूढ़ होते ही १९२४ से २९ तक त्रातस्की, ज़िनोवीव (Zinoviev), कामेनेव (Kamenev), बुखारिन जैसे अपने से तनिक भी मतभेद या विरोध रखने वाले पुराने क्रान्तिकारियों का सफाया किया। इसके बाद जर्मनी में हिटलर का उत्कर्ष होने पर १९३५ में उससे उत्पन्न होने वाले भीषण भय का मुकाबला करने के लिए बहुत बड़े

पैमाने पर साम्यवादी दल की शुद्धि करते हुए पुरानी पीढ़ी के सभी नेताओं और विरोधियों का उन्मूलन करते हुए स्तालिन ने अपने को रूस का निरंकुश तानाशाह और सर्वेसर्वा बना लिया।[1] सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता के स्थान पर यहाँ स्तालिन की अधिनायकता एवं तानाशाही स्थापित हो गई। इससे रूस जर्मनी और इटली जैसा एक समग्राधिकारवादी राज्य (Totalitarian State) बन गया। इसका अभिप्राय ऐसे राज्य से है जिसमें शासक वर्ग अपने से भिन्न विचार रखने वाले दलों या व्यक्तियों को स्वीकार नहीं करता है, भीषण दमन से और आतंक-राज्य से विरोधियों का समूलोन्मूलन करता है तथा नागरिकों को किसी प्रकार की स्वतन्त्रता न देते हुए उनके समग्र जीवन पर राज्य का पूर्ण प्रभुत्व स्वीकार करता है। इसमें सभी अधिकार राज्य के माने जाते हैं, अतः इसे समग्राधिकारवादी राज्य कहते हैं।

(ग) **समग्राधिकारवादी राज्य** (Totalitarian State)—रूस में ऐसे राज्य की स्थापना स्तालिन की नीति का स्वाभाविक परिणाम था, क्योंकि वह रूस को विश्व में साम्यवाद का प्रसार करने के लिए अत्यन्त शक्तिशाली राज्य बनाना चाहता था। इसे शक्तिशाली बनाने के लिए देश को औद्योगिक दृष्टि से समुन्नत बनाना आवश्यक था। यह कार्य पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा सम्पन्न किया गया। इन योजनाओं को सरकार द्वारा संचालित किए जाने के कारण सरकार के तथा नौकरशाही के कार्यों एवं अधिकारों में असाधारण वृद्धि हुई। इससे रूस में समग्राधिकारवादी (Totalitarian) प्रवृत्ति बढ़ने लगी। इसमें कई सहायक कारण थे : **पहला** कारण अपने विरोधियों को समाप्त करने के लिए स्तालिन द्वारा गुप्त पुलिस (M. V. D.)[2] का जाल बिछाना, व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को कुचलना, पुलिस को अत्यधिक अधिकार

---

१. रूस में स्तालिन द्वारा अपने विरोधियों के दमन का विस्तृत एवं प्रामाणिक परिचय रूस के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने फरवरी १९५६ में मास्को में साम्यवादी दल के बीसवें सम्मेलन के सम्मुख एक 'गुप्त भाषण' में दिया था। डैन जेकब्स के 'दी न्यू कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो' (हार्पर टार्च-बुक्स) में यह पूरा भाषण दिया गया है (पृ० ७८-१३४)। इसके अनुसार स्तालिन ने हजारों ईमानदार और निर्दोष कम्यूनिस्टों पर झूठा दोषारोपण करते हुए उन्हें मरवाया था (पृ० ९९)। इस प्रकार विरोधियों को मरवाने के कार्य को सराहनीय रूप देने के लिए इसे साम्यवादी दल में गन्दे तत्वों की सफाई या शुद्धि (Purge) का नाम दिया जाता था। ये शुद्धियाँ १९३४ से १९३९ तक मुख्य रूप से की गईं। साम्यवादी दल की १७वीं बैठक इनसे पहले १९३४ में तथा १८वीं बैठक इनके बाद १९३९ में हुई। १७वीं बैठक में १९१७ से इस दल के सदस्य चले आने वाले पुराने क्रान्तिकारियों की संख्या १७·७% थी, १९३९ की १८वीं बैठक में यह घटकर २·६% रह गई। पाँच वर्षों के भीतर ही दल के अधिकांश पुराने क्रान्तिकारी कार्यकर्त्ताओं का बड़े पैमाने पर सफाया कर दिया गया (हैलोवैल—मेन करेण्ट्स इन पोलिटिकल थाट, पृ० ५०९)। रूस की इस स्थिति के लिए देखिए : चेम्बरलेन—रशियन एनिग्मा, कोसलर—दी योगी एण्ड दी कमिसर; कोसलर ने 'डार्कनेस एट नून' में उपन्यास के रूप में इन शुद्धियों का वर्णन किया है। कोसलर की पहली पुस्तक का हिन्दी अनुवाद भी हो चुका है।

२. यह शब्द रूस के गृहमन्त्रालय (Ministry of Internal Affairs) को सूचित करने वाले शब्दों Ministerstvo Vnutrennikh Del के पहले अक्षर हैं। पहले इस विभाग का नाम N. K. V. D. था, इनके पहले दो अक्षर Narodny Kommissariat (People's Commissariat) से लिए गए थे। ये नाम रूसियों के हृदय में भीषण आतंक पैदा करने वाले थे।

देना, विरोधियों को विशेष न्यायालयों द्वारा दण्डित करना तथा सारे देश में भीषण आतंक-राज्य (Reign of Terror) स्थापित करना था। **दूसरा** कारण लेनिन के समय में साम्यवादी दल के सदस्यों को दी जाने वाली वाद-विवाद और विचार-विमर्श की स्वतन्त्रता का अपहरण था। प्रथम विश्वयुद्ध के समय जब रूस ने ब्रैस्टलिटोविस्क की सन्धि की थी और वह जीवन-मरण के संघर्ष में लगा हुआ था, उस समय साम्यवादी दल के कुछ सदस्यों—रादेक (Radek), कोलोन्ताई तथा ओरिंस्की ने लेनिन की नीति का विरोध करने के लिए मास्को से एक दैनिक पत्र निकाला था, 'प्रावदा' नामक पत्र में त्रातस्की, कामेनेव, ज़िनोवीव लेनिन की घोर आलोचना करते रहे। किन्तु १९२५ के बाद से स्तालिन के शासन में कोई व्यक्ति अपने प्राण हथेली पर रखकर ही उसकी नीति की आलोचना या विरोध कर सकता था। १९२५ में यह नियम स्वीकार किया गया कि निम्नस्तर के पार्टी संगठनों को उच्चस्तरीय संगठनों के निर्देशों का पालन आँख मूंदकर करना चाहिए। १९१८ से २५ तक साम्यवादी दल के वार्षिक अधिवेशन होते रहे, किन्तु इसके बाद इनमें शिथिलता आने लगी, १९२७ में यह अधिवेशन दो वर्ष बाद, १९३० में तीन वर्ष बाद, १९३४ में चार वर्ष बाद और १९३९ में पाँच वर्ष बाद तथा १९५२ में ११ वर्ष बाद बुलाया गया। शासक दल के अधिवेशन इतने लम्बे समय बाद बुलाए जाने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि शासन-सत्ता साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति के हाथ में चली गई। इसका मन्त्री होने के कारण शासन की समूची बागडोर स्तालिन के हाथ में थी। यह स्मरण रखना चाहिए कि १९३९ तक स्तालिन ने रूसी सरकार में कोई पद नहीं ग्रहण किया था, किन्तु साम्यवादी दल के महामन्त्री के रूप में वह सारी शासन-सत्ता पर प्रबल नियन्त्रण रखता था। **तीसरा** कारण रूस में मजदूरों के हित के लिए कार्य करने वाले श्रमिक संघों (Trade Unions) का अभाव था और **चौथा** कारण था स्तालिन की व्यक्तिपूजा और स्तुति को दिया जाने वाला असाधारण महत्व। स्तालिन की स्तुति ने उसकी निरंकुश सत्ता को सुदृढ़ बनाने तथा समग्राधिकारवादी प्रवृत्ति को बढ़ाने में बहुत भाग लिया, अतः अब यहाँ इसका प्रतिपादन किया जाएगा।

(घ) **स्तालिन की स्तुति तथा उसे देवता बनाना** (Adulation and deification of Stalin)—स्तालिन की तानाशाही का एक बड़ा आधार उसका समाचार-पत्रों द्वारा तथा अपने चाटुकारों द्वारा अपनी प्रशंसा के पुल बँधवाना तथा अपने को देवता या भगवान् की भाँति पूजा करवाना था। उसने इस बात का प्रयत्न किया कि जनता भगवान के स्थान पर स्तालिन के नाम की माला फेरने लगे। उदाहरणार्थ, १७ दिसम्बर १९५० के 'प्रावदा' पत्र के प्रथम पृष्ठ पर स्तालिन के नाम का उल्लेख १०१ बार है।[1] भगवान् के रूप में स्तालिन की उपासना का एक सुन्दर उदाहरण २८ अगस्त १९३६ के 'प्रावदा' पत्र में प्रकाशित निम्नलिखित कविता में मिलता है—

> हे महान् स्तालिन, हे जनताओं के नेता
> आपने मनुष्य को जन्म दिया है।

---

१. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० २३७

आपने पृथ्वी को उर्वर बनाया है।
आपने शताब्दियों के समय को पुनरुज्जीवित किया है।
आप बसन्त ऋतु में फूलों को खिलाते हैं।
आप सामंजस्य के तारों को झंकृत करते हैं।
आप मेरी बसन्त ऋतु का वैभव हैं।
आप लाखों हृदयों में प्रतिबिम्बित होने वाले सूर्य हैं।

एक गद्य गीत में स्तालिन की प्रशंसा करते हुए कहा गया है—"प्रत्येक वस्तु स्तालिन के नाम में समाई हुई है। प्रत्येक वस्तु—दल, देश, नगर, प्रेम और अमरता स्तालिन में निहित है।" एक अन्य गीत में कहा गया है—"जब मेरी प्रिय पत्नी मुझे एक सन्तान का उपहार देती है तो सर्वप्रथम वह जिस शब्द का उच्चारण करेगी वह शब्द 'स्तालिन' होगा।" सोवियत यूनियन के एक महाकवि Djamboul Djabaev ने महान् नेता के सम्बन्ध में कहा है[1]—"मैं उसकी तुलना एक श्वेत शैल से करता, किन्तु पर्वत की ऊँचाई शिखर पर समाप्त हो जाती है। मैं उसकी तुलना समुद्र की गहराइयों से करता, किन्तु ये समुद्र की तली पर समाप्त हो जाती हैं। मैं उसकी तुलना चमकने वाले चन्द्रमा से करता, किन्तु यह मध्य रात्रि में ही चमकता है, दोपहर को नहीं। मैं उसकी तुलना भास्कर सूर्य के साथ करता, किन्तु वह मध्य रात्रि में नहीं, दोपहर को चमकता है।" निरंकुश अधिनायक स्तालिन की स्तुति उस समय में रूसी कविता का प्रधान विषय था। न केवल काव्यों में, अपितु इतिहास के ग्रन्थों में, उपन्यासों में, फिल्मों में भी स्तालिन को सब अच्छी बातों का करने वाला, द्वितीय विश्वयुद्ध में अपनी अद्भुत सैनिक प्रतिभा से रूस को विजय दिलाने वाला सिद्ध किया गया। स्तालिन को विजयी समाजवाद का प्रतीक माना गया। मार्क्सवाद अब स्तालिनवाद का पर्याय बन गया। मार्क्सवाद के विषय में स्तालिन का मत ही मान्य था, उससे मतभेद रखने वाला नास्तिक, दण्डनीय और मौत के घाट उतारा जाने योग्य था। हैलोवैल ने (पृ० ५१३-४) लिखा है कि मार्क्सवाद निम्न रीति से रूपान्तरित होते हुए स्तालिन की इच्छा बन गया था—

(मार्क्स के मतानुसार) न्याय और सत्य = सर्वहारा वर्ग की इच्छा
(लेनिन के मतानुसार) सर्वहारा वर्ग की इच्छा = साम्यवादी दल की इच्छा
(स्तालिन के मतानुसार) साम्यवादी दल की इच्छा = स्तालिन की इच्छा
अतः न्याय और सत्य = स्तालिन की इच्छा।

१९३६ से होने वाले साम्यवादी दल की शुद्धियों (Purges) के बाद से रूस में स्तालिन की इच्छा ही कानून बन गई। उसे देवता की तरह माना तथा पूजा जाने लगा।

राज्यविषयक सिद्धान्त—मार्क्स के मतानुसार राज्य एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण करने का साधन है (ऊपर पृ० ३५९), समाजवाद की आदर्श स्थिति आने पर इसका लोप हो जाएगा। रूस में समाजवादी क्रान्ति हो जाने के बाद यह प्रश्न किया जाता था कि क्या यहाँ राज्य की संस्था का अन्त हो जाएगा। स्तालिन ने इस आशा के सर्वथा विपरीत राज्य को अधिकतम शक्तिशाली बनाया। १८वें साम्यवादी

---

१. हैलोवैल—मेन करेण्ट्स इन पोलिटिकल थाट, पृ० ५१४

सम्मेलन (Party Congress) में १० मार्च १९३९ को भाषण देते हुए स्तालिन ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था—"रूस में शोषक वर्गों की समाप्ति कर दी गई है, समाजवाद की प्रधान रूप से स्थापना हो चुकी है, हम साम्यवाद की ओर अग्रसर हो रहे हैं, राज्य में कोई ऐसे विरोधी या शोषक वर्ग नहीं हैं जिनका दमन करने के लिए राज्य की आवश्यकता हो। मार्क्स का राज्यविषयक सिद्धान्त यह कहता है कि साम्यवाद में राज्य की सत्ता नहीं रहेगी। फिर हम समाजवादी राज्य का अन्त क्यों नहीं करते हैं? क्या ऐसा समय नहीं आ गया है कि राज्य को प्राचीन वस्तुओं के संग्रहालय में रखने योग्य वस्तु बना दिया जाए?" ये प्रश्न इस बात को प्रदर्शित करते हैं कि इन्हें करने वाले व्यक्तियों ने मार्क्स और एंगल्ज़ के राज्यविषयक सिद्धान्त की कुछ बातों को रट लिया है। किन्तु ये व्यक्ति इस बात को भी प्रकट करते हैं कि ये साथी इस सिद्धान्त के वास्तविक अभिप्राय को समझने में सफल नहीं हुए हैं। वे इस बात को नहीं समझ सके हैं कि इस सिद्धान्त के विभिन्न तत्वों का प्रतिपादन किन ऐतिहासिक परिस्थितियों में हुआ था, वे वर्तमान समय की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को नहीं समझते हैं और इस बात की उपेक्षा कर देते हैं कि रूस चारों ओर से पूँजीवादी राष्ट्रों से घिरा हुआ (Capitalist Encirclement) है, इससे समाजवादी देश को बड़े खतरे हैं।[1] स्तालिन का यह कहना है कि इन खतरों से रक्षा करने के लिए, पूँजीवादी देशों के घेरे से बचने के लिए, उनके द्वारा रूस के समाजवादी राज्य के विध्वंस के लिए किए जाने वाले प्रयत्नों को निष्फल बनाने के लिए राज्य को अत्यधिक शक्तिशाली बनाए रखने की प्रबल आवश्यकता है।

इस प्रकार मार्क्स के एक प्रधान सिद्धान्त को तिलांजलि देते हुए स्तालिन ने यह भी स्पष्ट किया कि मार्क्सवाद कुछ सुनिश्चित सिद्धान्तों का नहीं, अपितु कुछ ऐसे सामान्य सिद्धान्तों का नाम है जिनकी व्याख्या और प्रयोग विशिष्ट परिस्थितियों और समयों में विभिन्न प्रकार से किया जाता है। उसके शब्दों में—"हमें इस बात का कोई अधिकार नहीं है कि हम आज से ४५-५० वर्ष पहले होने वाले प्रौढ़ (Classical) मार्क्सवादी लेखकों से यह आशा रखें कि उन्होंने सुदूर भविष्य में प्रत्येक देश के इतिहास में होने वाले परिवर्तनों के प्रत्येक मोड़ को पहले से ही देख लिया होगा। इस बात की आशा रखना हास्यास्पद है कि वे पचास-साठ वर्ष बाद की सभी परिस्थितियों में उत्पन्न होने वाली सब समस्याओं के समाधान हमें पहले से ही प्रदान कर देंगे और हम, अंगीठी के निकट बैठकर ऊँघते हुए, इन समाधानों को ग्रहण करेंगे।" सरल शब्दों में इसका यह अभिप्राय है कि स्तालिन मार्क्सवाद के सिद्धान्तों से बँधा हुआ नहीं था, उसने अपने समय की परिस्थितियों के अनुसार उचित समझे जाने वाले कार्य किए और इन्हें मार्क्सवाद का नाम दिया। उस समय स्तालिन जो कहे उसी को मार्क्सवाद की सच्ची व्याख्या मानना पड़ता था, इसमें तनिक भी सन्देह करना कारावास या मृत्यु को निमन्त्रण देना था। यहाँ स्तालिन द्वारा मार्क्स के सिद्धान्तों में किए गए केवल दो महत्वपूर्ण परिवर्तनों का उल्लेख किया जाएगा।

---

१. हैलोवैल—मेन करेण्ट्स इन पोलिटिकल थाट, पृ० ५१२

आय की विषमता—समाजवाद का एक प्रधान उद्देश्य आर्थिक विषमता को दूर करके समाज में समानता लाना था (ऊपर पृ० २६९-७०)। मार्क्स ने इस पर बहुत बल दिया था। किन्तु स्तालिन ने रूस में समाजवाद को सुदृढ़ बनाने के लिए मार्क्स के इस मौलिक सिद्धान्त को तिलांजलि दे दी। अपने देश को शक्तिशाली बनाने के लिए औद्योगीकरण की तीव्र आवश्यकता थी, यह तभी सम्भव था जब दक्ष और कार्य-कुशल व्यक्तियों को अधिक वेतन देकर अपने कार्यों में उन्नति तथा उत्पादन में वृद्धि के लिए प्रोत्साहित किया जाए। अतः १९३४ में साम्यवादी दल के १७वें अधिवेशन में स्तालिन ने 'समानता के सिद्धान्त' की कठोर आलोचना करते हुए कहा कि यह "प्रति-गामी क्षुद्र पूँजीपतियों द्वारा माना जाने वाला वेहूदा सिद्धान्त है, आदिम जमाने के तपस्वियों (primitive ascetics) को ही शोभा देता है, मार्क्सवाद के सिद्धान्तों पर बनाए जाने वाले समाजवादी समाज के लिए उपयुक्त नहीं है।"[1] लेनिन ने मार्क्स का अनुसरण करते हुए **राजसत्ता और क्रान्ति** (The State and Revolution) में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि किसी भी सरकारी कर्मचारी को एक साधारण एवं योग्य मजदूर की मजदूरी से अधिक वेतन नहीं दिया जाना चाहिए; किन्तु स्तालिन के मतानुसार मार्क्स के 'समानता के सिद्धान्त' का अभिप्राय आयों में समानता लाना नहीं है, अपितु विभिन्न वर्गों के विशेषाधिकारों को समाप्त करना है। उसने मार्क्स की एक उक्ति के आधार पर यह माना कि वर्गहीन समाज में **वेतन कार्य के अनुसार** दिया जाएगा, केवल साम्यवाद की अन्तिम दशा में सबको वेतन उनकी आवश्यकताओं के अनुसार दिया जाएगा।

स्तालिन के इस सिद्धान्त के कारण रूस में विभिन्न प्रकार के कार्य करने वालों की आय में बड़ी विषमता है। यह विषमता सुप्रसिद्ध पूँजीवादी देश सं० रा० अमेरिका की अपेक्षा बहुत अधिक है। उदाहरणार्थ, रूस के कुशल और अकुशल (Unskilled) मजदूर की आय में अन्तर अमेरिका के कुशल और अकुशल मजदूर की आय की अपेक्षा छः से बारह गुना अधिक है। रूस के विभिन्न वर्गों की आय की विषमता निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाएगी—

रूस में विभिन्न वर्गों की आय[2]

नाम वर्ग	मासिक आय (रूबलों में)
वैज्ञानिक (Academician)	८००–१५००
मन्त्री (सरकारी मन्त्रालय या विभाग का अध्यक्ष)	७००
संगीतनाट्य कलाकार (Opera Star)	५००–२०००

१. वेपर—पोलिटिकल थाट, पृ० २३९

२. एबेन्स्टाइन—टूडेज़ इज़्म्स, पृ० ६४ : एक रूबल मोटे तौर से अवमूल्यन से पहले एक रुपये के बराबर होता था। रूस में आय की विषमता के लिए देखिए : एन० एस० टिमाशेफ—दी ग्रेट रिट्रीट, ई० पी० डट्टन एण्ड कम्पनी, न्यूयार्क, १९४६; आर्थर कोसलर—योगी एण्ड दी कमसरियट, पृ० १५६-५७; हैलोवैल—मेन करेण्ट्स इन पोलिटिकल थाट, पृ० ५०२-४

प्रोफेसर (वैज्ञानिक विषयों के)	६००—१०००
प्रोफेसर (चिकित्सा सम्बन्धी विषयों के)	४००— ६००
सहायक प्रोफेसर	३००— ५००
सरकारी कारखानों के व्यवस्थापक	३००—१०००
इंजीनियर	१००— ३००
मुख्य चिकित्सक	६५— १८०
चिकित्सा विभाग के कर्मचारी	८५— १००
हाई स्कूल का अध्यापक	८५— १००
प्राथमिक पाठशालाओं के अध्यापक	६०— ६०
शिल्पी या मिस्त्री (Technician)	८०— २००
कुशल (Skilled) मजदूर	१००— २५०
अर्द्धकुशल (Semi-skilled) मजदूर	६०— ६०
अकुशल मजदूर (Unskilled worker)	२७— ५०

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि रूस में वैज्ञानिकों का वेतन सबसे अधिक है, इन्हें कारखानों में काम करने वाले सामान्य कुशल मजदूरों से आठ गुना वेतन मिलता है। किन्तु अमेरिका में वैज्ञानिकों को सामान्य मजदूर से डेढ़ गुना वेतन मिलता है।[1] रूस ने वैज्ञानिकों को इतना अधिक 'वेतन जान-बूझकर दिया है और उसकी विलक्षण वैज्ञानिक उन्नति का एक प्रधान कारण वैज्ञानिकों को दिया जाने वाला उच्च वेतन है। रूस तथा अन्य साम्यवादी देशों के 'वर्गहीन समाज' में वैज्ञानिकों, सरकारी कर्मचारियों तथा साम्यवादी दल के नेताओं का वर्ग—एक विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग बन गया है। १९५३ में पोलैण्ड में तथा १९५६ में हंगरी में साधारण जनता ने इस प्रकार के वर्ग द्वारा शोषण के विरुद्ध विद्रोह किए थे।

क्रान्ति का सिद्धान्त—स्तालिन ने लेनिन के क्रान्ति के सिद्धान्त में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। यह भी स्तालिन के एक देश में समाजवाद स्थापित करने का स्वाभाविक परिणाम था। इसका प्रयोग द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद १९४५ से किया गया। इस समय स्तालिन की नीति से रूस संसार का एक महान् शक्तिशाली और अजेय राष्ट्र बन चुका था, लाल सेनाएँ पूर्वी योरोप के अनेक देशों में पड़ी हुई थीं। इनमें इनका प्रबल आतंक था। इसका लाभ उठाते हुए स्तालिन ने इन देशों—पोलैण्ड, हंगरी, रूमानिया, बलगारिया, यूगोस्लाविया, चैकोस्लोवाकिया—में शान्तिपूर्ण रीति से समाजवाद स्थापित किया, यूगोस्लाविया के अतिरिक्त सभी देशों को अपनी नीति का अनुसरण करने वाला (Satellite) बनाया। प्रत्येक देश में स्थानीय साम्यवादी दलों को प्रोत्साहन दिया गया, वे इन देशों की सरकारों में सम्मिलित होकर अपना प्रभाव बढ़ाने लगे, शनैः-शनैः इन्होंने शासन के महत्वपूर्ण पदों पर अधिकार कर लिया और गैर-साम्यवादी साथियों को धता बताते हुए उनका दमन करते हुए देश के शासक बन बैठे। लाल सेनाओं की उपस्थिति से, रूस की

१. एबेन्स्टाइन—टूडेज इज्म्स, पृ० ६५

सैनिक शक्ति के आतंक से तथा आवश्यकता पड़ने पर रूसी सेनाओं के हस्तक्षेप की आशंका से उपर्युक्त सभी देशों में साम्यवादी शासन स्थापित हो गए। ये देश रूस की सीमा के साथ लगे हुए हैं। स्तालिन ने रूस के चारों ओर 'पूँजीवादी देशों का घेरा' (Capitalist Encirclement) तोड़ने के लिए तथा अपनी सुरक्षा के लिए 'साम्यवादी देशों का घेरा' (Socialist Encirclement) बनाया। इन देशों के साम्यवादी शासन रूस की सैनिक शक्ति पर भरोसा रखते थे, १९५६ में हंगरी में साम्यवादी सरकार के विरुद्ध विद्रोह होने पर रूस ने उसकी पूरी सहायता की थी। स्तालिन इसी प्रकार अन्य देशों में वहाँ के साम्यवादी दलों को सहायता देकर साम्यवादी शासन स्थापित करना चाहता था। इस प्रकार उसका विश्व-क्रान्ति का विचार मार्क्स और लेनिन से भिन्न था, साम्यवादी क्रान्ति किन्हीं आर्थिक परिस्थितियों से प्रादुर्भूत न होकर सोवियत संघ की सैनिक शक्ति का परिणाम था। रूस ने अपने सामर्थ्य और बल से विश्व में एक नवीन साम्यवादी क्रान्ति करनी थी तथा विश्व की सभ्यता एवं शक्ति का केन्द्र बनना था।

स्तालिन का महत्व और मूल्यांकन—सैद्धान्तिक दृष्टि से स्तालिन ने मार्क्स और लेनिन के मौलिक मन्तव्यों में उग्र परिवर्तन किए। उसने मार्क्स के राज्य के लुप्त होने के विचार को तिलांजलि दी, लोकतन्त्र के सिद्धान्त का और समानता के मन्तव्य का परित्याग किया। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसने संसार के पहले साम्यवादी देश को सुदृढ़, औद्योगिक और सैनिक दृष्टि से प्रबल शक्तिशाली बनाया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्तालिन ने अपने उद्देश्य की पूर्ति में किसी भी प्रकार के विरोध को सहन नहीं किया, अपने विरोधियों का अत्यधिक क्रूरता और अभूतपूर्व निष्ठुरता से दमन किया, संसार का कोई भी शासक अपनी प्रजा का खून बहाने में शायद ही स्तालिन की तुलना में टिक सके। मैक्स ईस्टमैन के शब्दों में, "निर्दोष मनुष्यों के बहाए रक्त को नापा जाए तो स्तालिन द्वारा बहाया हुआ रक्त यदि एक झील के बराबर है, तो हिटलर द्वारा बहाया रक्त बत्तखों के एक गढ़े के बराबर होगा तथा मुसोलिनी द्वारा किए गए रक्तपात में एक टैंक को डुबोया जा सकता है।"[1] किन्तु यदि स्तालिन इतना रक्तपात न करता तो वह शक्तिशाली रूस का निर्माण नहीं कर सकता था। अतः सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई महत्व न रखते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से स्तालिन समाजवाद के संस्थापकों में एक प्रधान स्थान रखता है। इस विषय में उसकी तुलना लेनिन के साथ की जा सकती है। इन दोनों ने रूस में समाजवादी राज्य को स्थापित करते हुए मार्क्स के सिद्धान्तों में क्रियात्मक कठिनाइयों के कारण संशोधन किया। लेनिन ने रूस में शक्तिशाली साम्यवादी दल के निर्माण एवं बोल्शेविक क्रान्ति को सफल बनाने के लिए मार्क्सवाद में परिवर्तन किए (ऊपर पृ० ३८९-९०)। स्तालिन का कार्य लेनिन द्वारा स्थापित किए गए राज्य को सुदृढ़, शक्तिशाली और अजेय बनाना था। लेनिन द्वारा स्थापित किए गए राज्य में अनेक दोष थे, इसकी तुलना आज से ७०-८० वर्ष पूर्व बनाई वाष्प से चलने वाली मोटरगाड़ी से की जा

१. मीनू मसानी—समाजवाद पर पुनर्विचार, पृ० ४३

सकती है, जो बहुत अधिक धुआँ छोड़ती थी और बड़ी मन्द गति से चलती थी। स्तालिन का काम इसे वर्तमान समय की मोटरगाड़ी के नवीनतम मॉडल के अनुसार तीव्रगति से चलने वाली तथा सर्वविध सुविधाओं से सम्पन्न बनाना था। ऐसा करने में उसके आगे दो बड़ी समस्याएँ थीं—पहली तो पूंजीपति राज्यों के विरोध में अपनी सत्ता को सुदृढ़ बनाना था। दूसरी समस्या किसानों को साम्यवादी क्रान्ति के अनुकूल बनाना था। इन दोनों समस्याओं के समाधान के लिए उसे कुछ रियायतें देनी पड़ीं। किन्तु उसने अपना कार्य **साम्यवादी दल की अधिनायकता** के स्थान पर अपनी **वैयक्तिक अधिनायकता** स्थापित करके, क्रूर दमन एवं कठोर अत्याचार करके किया। उसे सफलता अवश्य मिली, किन्तु यह साम्यवादी सिद्धान्तों में महत्वपूर्ण संशोधन करके रूसी प्रजाजनों को प्रबल हिंसा, पीड़ा एवं कष्ट पहुँचाकर ही मिली।

ख्रुश्चेव

५ मार्च १९५३ को स्तालिन का देहावसान होने पर, यद्यपि मालेन्कोव सोवियत रूस का प्रधानमन्त्री बना, तथापि स्तालिन की भाँति साम्यवादी दल का महामन्त्री होने के कारण ख्रुश्चेव ही इस समय रूस का वास्तविक भाग्यविधाता था। कुछ समय तक मालेन्कोव और बुलगानिन के प्रधानमन्त्री बना रहने के बाद ख्रुश्चेव स्वयमेव प्रधानमन्त्री बना और १५ अक्टूबर १९६४ तक इस पद पर बना रहा। इसके समय में मार्क्सवाद के सिद्धान्तों की दृष्टि से कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इसने पश्चिम के पूंजीवादी राष्ट्रों के प्रति स्तालिन जैसे उग्र विरोध को कुछ कम किया, दूसरे देशों के साथ सम्पर्क बढ़ाने की नई नीति का श्रीगणेश किया। स्तालिन द्वितीय विश्वयुद्ध के समय में सैनिक विचार-विमर्श के लिए ही एक-दो बार रूस से बाहर गया था, अब रूसी नेताओं ने दूसरे देशों की यात्राएँ आरम्भ करके उनके साथ मैत्री और सद्भावना बढ़ाना शुरू किया। स्तालिन के समय में दूसरे देशों के साथ रूस के सम्पर्क पर जो प्रबल लौह आवरण (Iron Curtain) पड़ा हुआ था, उसमें अब शिथिलता आने लगी, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण हल पर बल दिया जाने लगा, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के विरोध की नीति को जारी रखते हुए भी अन्य देशों को आर्थिक सहायता देने का श्रीगणेश किया गया, शासन को उदार बनाया गया। सैद्धान्तिक दृष्टि से ख्रुश्चेव के समय के महत्वपूर्ण विचार—निस्तालिनीकरण, शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति और चीन के साथ उग्र मतभेद हैं। यहाँ इन तीनों का संक्षिप्त प्रतिपादन किया जाएगा।

निस्तालिनीकरण (De-Stalinization)—इसका अभिप्राय स्तालिन को देवता के पद से हटाना, उसके कुकृत्यों का भण्डाफोड़ करना, उसके द्वारा की जाने वाली भीषण भूलों पर प्रकाश डालना तथा उसके असाधारण महत्व और प्रभाव को कम करना था। यह कार्य ख्रुश्चेव ने रूस के साम्यवादी दल के २०वें सम्मेलन में, फरवरी १९५६ में एक 'गुप्त भाषण'[1] देकर किया। यह भाषण गुप्त नहीं रह सका और

१. इस भाषण के अविकल रूप के लिए देखिए, डैन जेकब्स का 'दी न्यू कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो' (हार्पर टार्चबुक्स, न्यूयार्क, १९६१), पृ० ७८-१३४।

४ जून १९५६ को सं० रा० अमेरिका के विदेश विभाग ने इसे प्रकाशित कर दिया। यह कल्पना की जाती है कि १९५५ में रूस के साम्यवादी दल में स्तालिन मतानुयायियों का प्राबल्य था, वे ख्रुश्चेव के लिए परेशानी पैदा कर रहे थे, इनसे मुक्ति पाने के लिए तथा इनका प्रभाव कम करने के लिए ख्रुश्चेव ने यह वक्तृता दी थी

ख्रुश्चेव ने अपने भाषण में यह कहा था कि मार्क्सवाद व्यक्ति की पूजा (Cult of the individual) करने का सदैव विरोधी रहा है, किन्तु स्तालिन ने अपने को देवता बनाने का प्रयत्न करके इस सिद्धान्त का उल्लंघन किया है। वह बड़ा अशिष्ट एवं उद्धत स्वभाव का व्यक्ति था, उसने लेनिन के साथ भी बुरा बर्ताव किया था, उसकी पत्नी का घोर अपमान किया था। इसका प्रमाण देने के लिए उसने अब तक अप्रकाशित लेनिन की वसीयत को तथा ५ मार्च १९२३ को लेनिन द्वारा स्तालिन को अपने अशिष्ट व्यवहार के लिए माफी माँगने या सम्बन्ध-विच्छेद करने के विषय में लिखे गए गोपनीय-पत्र को प्रकट किया। उसने स्तालिन की निर्दयता, निष्ठुरता, निरंकुशता, क्रूर दमन और कठोर अत्याचारों पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए कहा कि उसने मनमाने ढंग से सन्देह और वहम के आधार पर तेरहवें साम्यवादी सम्मेलन के लिए चुने गए सदस्यों तथा उम्मीदवारों में से ७० प्रतिशत को गिरफ्तार करवाया और गोली से मरवा डाला। उसने हजारों सच्चे कम्यूनिस्ट कार्यकर्त्ताओं तथा नेताओं पर झूठे आरोप लगवाए, उन्हें भीषण यातनाएँ देकर उनसे जबर्दस्ती अपराध स्वीकार कराए और इन स्वीकारोक्तियों के आधार पर उन्हें गोलियों से मरवा दिया। १९३०-४० के बीच में इस प्रकार बड़े पैमाने पर हजारों व्यक्तियों को मरवाकर की जाने वाली साम्यवादी दल की शुद्धियाँ (Purges) साम्यवाद की अथवा रूस की सुरक्षा के लिए आवश्यक नहीं थीं, वस्तुतः ये स्तालिन की रक्तपिपासा का तथा दूसरों को पीड़ा पहुँचाने में आनन्द लेने वाले मानसिक उन्माद (Paranoid) का परिणाम थीं। उसने यह भी बताया कि स्तालिन द्वारा दण्डित किए गए तथा मरवाए गए ७,६७९ व्यक्तियों के मामलों पर पुनर्विचार करके उन्हें निर्दोष घोषित किया जा चुका है। स्तालिन के समय के आतंक राज्य का वर्णन करते हुए ख्रुश्चेव ने कहा कि उस समय एक बार बुलगानिन ने मुझे कहा था कि जब स्तालिन किसी व्यक्ति को अपने पास बुलाता है और वह उसके पास जाकर बैठता है तो उसे यह पता नहीं होता कि इसके बाद वह घर भेजा जाएगा या जेल में ठूंस दिया जाएगा।[1] स्तालिन की युद्ध सम्बन्धी तथा अन्य गल्तियों पर प्रकाश डालते हुए ख्रुश्चेव ने भाषण के अन्त में व्यक्ति की पूजा के स्थान पर साम्यवादी दल के सामूहिक नेतृत्व (Collective Leadership) का सिद्धान्त अपनाने पर बल दिया।

ख्रुश्चेव के अन्य सिद्धान्त—साम्यवादी दल के इसी बीसवें सम्मेलन में ख्रुश्चेव ने कुछ अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया : **पहला** सिद्धान्त पूंजीपति देशों के साथ **शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व** (Peaceful Co-existence) की नीति थी। पहले स्तालिन के समय में रूस की नीति पूँजीवादी और साम्राज्यवादी देशों के साथ निरन्तर

---

१. पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १२६

संघर्ष और शत्रुता बनाए रखने की तथा पूँजीवादी व्यवस्था का उन्मूलन करने की थी। अब ख्रुश्चेव ने तथा साम्यवादी नेताओं ने यह अनुभव किया कि अणुआयुधों के आविष्कार से स्थिति बदल गई है, इनमें इतना अधिक विध्वंस करने का सामर्थ्य है कि यदि अब युद्ध हुआ तो उसमें न केवल पूँजीवादी देश, अपितु समाजवादी देश भी नष्ट हो जाएँगे। अतः अब हमें पूँजीवादी देशों के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति अपनानी चाहिए, हमें लड़ाई से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। उसका दूसरा मन्तव्य यह था कि हमें साम्यवाद के लिए क्रान्ति और युद्ध की आवश्यकता नहीं है, इसे शान्तिपूर्ण रीति से भी लाया जा सकता। चीन के साम्यवादी नेता ख्रुश्चेव से तथा अन्य रूसी नेताओं से सहमत नहीं हैं, उनका यह कहना है कि इन सिद्धान्तों से ख्रुश्चेव ने मार्क्स और लेनिन के शाश्वत रूप से सत्य सिद्धान्तों में संशोधन करने (Revisionism) का जघन्य अपराध किया है, रूसी मार्क्स के और लेनिन के सच्चे शिष्य नहीं रहे हैं। वे अपने नेता माओ त्से-तुंग को साम्यवाद के सत्य सिद्धान्तों का प्रतिपादक और व्याख्याता मानते हैं। अतः अब माओ के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन किया जाएगा।

माओ त्से-तुंग

चीन में साम्यवादी क्रान्ति के प्रवर्त्तक और इसे सफल बनाने वाले माओ त्से-तुंग का न केवल साम्यवादी जगत् में, अपितु विश्व की राजनीति में असाधारण महत्व है। उन्होंने न केवल विश्व की सर्वाधिक जनसंख्या रखने वाले देश में समाजवादी गणराज्य की स्थापना की है, अपितु साम्यवाद के सिद्धान्तों के क्षेत्र में उन्हें बहुत ऊँचा स्थान दिया जाता है। माओ का जन्म चीन के हूनान (Hunan) प्रान्त में एक निर्धन कृषक के घर में हुआ, उसका पिता शनैः-शनैः समृद्ध होते हुए पहले मध्यमवर्गीय व्यक्ति तथा बाद में धनी कृषक और अन्न का व्यापारी बना। माओ के मन पर इन परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ा,[1] एक ओर तो वह अपने उन पड़ोसियों से बहुत अच्छा था जिन्हें खाने को भी नसीब नहीं होता था, किन्तु दूसरी ओर जमींदार वर्ग के लड़कों से सब बातों में उसकी हीन स्थिति थी। माओ के पास न तो उन जैसे अच्छे कपड़े थे और न वैसी सामाजिक व्यवहार की सुघड़ता (Social polish) थी। माओ के बालमानस में इस प्रकार उत्पन्न होने वाली हीन भावना ने सामाजिक समस्याओं के अध्ययन में उसकी दिलचस्पी उत्पन्न की। पिता के साथ भी माओ के सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। १९०५ के अकाल में उसका पिता अधिक मुनाफा कमाने के लिए अनाज को शहरों की मण्डियों में भेजता रहा, इससे उसके पड़ोसी किसान बहुत क्रुद्ध हुए और एक बार किसानों ने शहर को भेजे जाने वाले उसके गल्ले को लूट लिया। माओ ने १९३६ में लिखा था कि इस विषय में मुझे अपने पिता से कोई सहानुभूति नहीं थी, किन्तु इसके साथ मेरे विचार में गाँव वालों का यह ढंग गलत था। माओ प्रायः अपने घरेलू झगड़ों में पिता का विरोध करता था, माँ का

१. स्टुअर्ट आर० श्रैम—दी पोलिटिकल थाट आफ माओ त्से-तुंग (फ्रेडरिक ए प्रीगर, न्यूयार्क, १९६३), पृ० ८

तथा भाइयों का पक्ष लिया करता था। अपनी पीढ़ी के अन्य नवयुवकों के समान माओ पर १४-१५ वर्ष की आयु से आधुनिक एवं पश्चिमी प्रभाव पड़ने लगे। इनमें सबसे बड़ा प्रभाव चीन की नवोदित उग्र राष्ट्रीय भावनाओं का था, स्कूल में उस पर नैपोलियन, महान् पीटर आदि वीर पुरुषों की जीवनियों का बड़ा प्रभाव पड़ा। इसी समय से वह चीन की सैनिक शक्ति बढ़ाने तथा उग्र राष्ट्रीयता का प्रचार करने पर अधिक बल देने लगा। यह बात अप्रैल १९१७ में प्रकाशित उसके एक लेख 'शारीरिक शिक्षा के अध्ययन' (A Study of Physical Education) से भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है। चांगशा के नार्मल स्कूल में पढ़ते हुए उस पर अपने एक गुरु प्रोफेसर यांग का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। यह ब्रिटिश विचारक थामस हिल ग्रीन का शिष्य था। माओ ने अपने गुरु से आदर्शवाद के लिए बहुत प्रेरणा प्राप्त की। किन्तु पश्चिम से प्रेरणा ग्रहण करने पर भी उसके विचारों का प्रधान एवं मूल स्रोत चीनी विचारधारा ही थी। १९१८ में चांगशा के नार्मल स्कूल से डिप्लोमा लेने के बाद माओ पेकिंग चला आया, इसी बीच में उसके गुरु यांग को भी पेकिंग विश्वविद्यालय में प्रोफेसर का पद मिल गया था और उसकी कृपा से माओ को विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में पुस्तकालयाध्यक्ष लीला-चाओ के सहायक की नौकरी मिल गई। यहाँ माओ को नवीन ग्रन्थ पढ़ने तथा विद्वानों के सम्पर्क में आने का स्वर्ण अवसर मिला, उस पर लोकतन्त्र के और विज्ञान के विचारों का तथा रूस की बोल्शेविक क्रान्ति का प्रभाव पड़ा। क्रान्ति के विषय में उसका यह विचार था कि रूस के पिछड़ा होने के कारण ही उसके पास 'बड़ी मात्रा में अतिरिक्त शक्ति' (Great surplus energy) थी, इसी कारण वहाँ क्रान्ति सफल हुई, चीन भी इसी प्रकार पिछड़ा हुआ देश है, अतः उसका भविष्य उज्ज्वल है।

वह रूसी क्रान्ति का प्रशंसक और भक्त बन गया। सन् १९२० से माओ पर मार्क्सवाद का प्रभाव बढ़ने लगा। इसी समय उसने 'कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो' का तथा मार्क्स की अन्य रचनाओं का अध्ययन किया। जुलाई १९२१ में शंघाई में चीनी साम्यवादी नेताओं का पहला सम्मेलन हुआ, माओ इसमें सम्मिलित हुआ और उसने इसके प्रचार और प्रसार में बहुत भाग लिया। उस समय चीनी साम्यवादी दल का लक्ष्य शनैः-शनैः साम्यवादी समाज का निर्माण करना था, इसने अपने सदस्यों को कुओमिन्तांग के सदस्यों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाते हुए राष्ट्रीय एकता तथा स्वतन्त्रता के कार्य में सहयोग देने को कहा। १९२२ से २७ तक माओ तथा चांग काई-शेक में घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहा। किन्तु साम्यवादियों और राष्ट्रवादियों का यह सहयोग देर तक नहीं चल सका। १९२७ से चांग काई-शेक ने साम्यवादियों का दमन आरम्भ किया, माओ के नेतृत्व में साम्यवादी नेता दुर्गम देहातों में चले गए। यहाँ लेनिन के मत का अनुसरण करते हुए उन्होंने किसानों की सोवियतें बनाकर अपने क्रान्तिकारी संगठन को सुदृढ़ बनाना शुरू किया। १९३२ तक साम्यवादी दल ने माओ के नेतृत्व में पाँच करोड़ जनता द्वारा बसे चीन के षष्ठांश पर अधिकार कर उस पर अपना शासन स्थापित किया। इसी समय माओ ने अपने विशिष्ट मन्तव्यों का विकास किया। १९३४ में चांग काई-शेक के बार-बार होने वाले हमलों से बचने के लिए

साम्यवादी लाल सेना ने दक्षिणी चीन से उत्तरी चीन के शेन्सी प्रान्त में जाने के लिए ८ महीने में तीन हजार मील तय करने वाला सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रयाण किया। जापान द्वारा चीन पर आक्रमण करने के बाद तीन वर्ष तक (१९३७–४०) तक साम्यवादी और राष्ट्रवादी संयुक्त मोर्चा बनाकर जापान से लड़ते रहे। इस समय माओ ने अपने इस सहयोग को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए तथा कुओमिन्तांग को सुविधा देने के लिए अपने नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन 'चीनी क्रान्ति और चीनी साम्यवादी दल' तथा 'नवीन लोकतन्त्र' (New Democracy) नामक लेखों में किया। १९४५ में द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर सं० रा० अमेरिका ने दोनों पक्षों में समझौता कराने का प्रयत्न कराया। इसके विफल होने पर १९४७ में दोनों पक्षों में पुनः गृहयुद्ध छिड़ गया, दो वर्ष के संघर्ष के बाद माओ के नेतृत्व में साम्यवादियों ने रूस की सहायता तथा उत्कृष्ट रण-कौशल से सफलता प्राप्त की। १ अक्टूबर १९४९ को पेकिंग में माओ ने चीनी जनता के गणराज्य की स्थापना की। चीन की विशिष्ट परिस्थितियों में माओ ने साम्यवाद के कुछ विशेष सिद्धान्तों का विकास किया है। ये सिद्धान्त 'माओवाद' (Maoism) के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हें समझने से पहले हमें चीनी साम्यवाद का निर्माण करने वाली मौलिक विचारधाराओं का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए।

चीनी साम्यवाद का निर्माण करने वाली विचारधाराएँ—चीनी साम्यवाद का निर्माण चार प्रकार की विचारधाराओं के संगम से हुआ है। **पहली** विचारधारा मार्क्स की है, चीन में इसका अध्ययन बहुत कम होने पर भी उसके निम्नलिखित मन्तव्यों को अधिक महत्व दिया जाता है—

(क) ऐतिहासिक व द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Historical and Dialectical Materialism)।

(ख) विश्वव्यापी वर्ग-युद्ध।

(ग) सर्वहारा वर्ग द्वारा म्रियमाण पूँजीवाद का अनिवार्य अन्त।

दूसरी विचारधारा लेनिनवाद की है। इसके निम्नलिखित छः सिद्धान्तों का आदर किया जाता है—

(क) साम्राज्यवाद क्षीण होने वाले पूँजीवाद की अन्तिम अवस्था है।

(ख) पूँजीवादी देशों के विरुद्ध संघर्ष में उपनिवेशवादी (Colonial) तथा अर्द्ध-उपनिवेशवादी (Semi-Colonial) देशों की महत्ता।

(ग) विश्व-क्रान्ति में साम्राज्यवाद के विरोध की महत्ता।

(घ) सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति का नेतृत्व एक अनुशासित, अभिजात तथा लोकतन्त्रीय केन्द्रीयतावाद (Democratic Centralism) को मानने वाले दल द्वारा किया जाना।

(ङ) कृषक वर्ग की क्रान्तिकारी महत्ता को स्वीकार करना।

(च) यह विचार मानना कि कम-विकसित देशों में समाजवादी दशा में प्रवेश करने से पूर्व क्रान्ति बूर्जुआ लोकतन्त्रीय दशा में से होकर गुजरती है।

तीसरी विचारधारा स्तालिनवाद की है। चीनी साम्यवादी इसके तीन

सिद्धान्तों पर विशेष बल देते हैं—

(क) राज्य का समग्राधिकारवादी (Totalitarian) संगठन।

(ख) राज्य द्वारा योजनाबद्ध रीति से आर्थिक विकास का संचालन।

(ग) राष्ट्र के अल्पसंख्यकों के साथ उदार व्यवहार की नीति।

चीनी साम्यवाद का निर्माण करने वाली **चौथी** महत्वपूर्ण विचारधारा माओवाद (Maoism) की अथवा माओ त्से-तुंग द्वारा प्रतिपादित विचारों की है।

माओवाद के प्रमुख सिद्धान्त—चीनियों का यह दावा है कि माओ ने मार्क्सवाद और लेनिनवाद को अपने नवीन विचारों के योगदान से समृद्ध किया है। १९४६ में लिउ शाओ-ची ने अन्ना लुइस स्ट्रांग नामक पत्रकार को एक भेंट में कहा था—"माओ त्से-तुंग का महान् कार्य यह है कि उसने मार्क्सवाद के योरोपियन रूप को एशियाई रूप प्रदान किया है। मार्क्स और लेनिन योरोप के रहने वाले थे। उन्होंने योरोपियन भाषाओं में योरोप के इतिहास और समस्याओं के बारे में लिखा, एशिया अथवा चीन की समस्याओं का बहुत ही कम उल्लेख किया। मार्क्सवाद के मौलिक सिद्धान्तों को असंदिग्ध रूप से सब देशों पर लागू किया जा सकता है; किन्तु इनकी सामान्य सचाई को चीन की प्रत्यक्ष क्रान्तिकारी परिस्थितियों पर लागू करना बहुत कठिन है। माओ त्से-तुंग चीनी है, वह चीनी परिस्थितियों का विश्लेषण करता है, चीनी जनता का उसकी विजय के लिए किए जाने वाले संघर्ष में पथप्रदर्शन करता है। वह मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्तों से चीन के इतिहास की तथा व्यावहारिक समस्याओं की व्याख्या करता है।···उसने मार्क्सवाद के चीनी या एशियाई रूप का निर्माण किया है। चीन एक अर्द्ध-सामन्ती (semi-feudal) और अर्द्ध-उपनिवेशवादी देश है, इसमें एक विशाल जनसंख्या भूखे पेट रहती है, जमीन के बहुत छोटे-छोटे टुकड़ों पर खेती करती है। चीन को अधिक बड़ा औद्योगिक देश बनाने के लिए इसे उन्नत औद्योगिक देशों के दबाव का सामना करना है।···दक्षिण-पूर्वी एशिया के सभी देशों में इसी प्रकार की परिस्थितियाँ हैं। चीन द्वारा अपनायी गई पद्धतियों का प्रभाव इन सभी देशों में पड़ेगा।"[1] माओवाद के प्रधान राजनीतिक सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

१. श्रैम—दी पोलिटिकल थाट आफ माओ त्से-तुंग, पृ० ५६। इस समय चीन में माओ की स्थिति रूस में स्तालिन की सर्वोच्च एवं देवतातुल्य स्थिति से गहरा सादृश्य रखती है। उसे इस शताब्दी का अधिकतम प्रतिभाशाली तथा मार्क्सवाद-लेनिनवाद का सर्वोत्तम व्याख्याता, संसार की क्रान्तिकारी जनताओं का महान् नेता माना जाता है। उसके मुँह से निकला हुआ प्रत्येक शब्द वेदवाक्य है। भगवान् की भाँति उसमें सभी अलौकिक गुणों का अद्भुत समन्वय हुआ है, वह ७२ वर्ष की वृद्धावस्था में भी यंगसी क्यांग नदी में ९ मील तैरने की असाधारण शक्ति रखने वाला, सर्वोत्तम कलाकार, अधिकतम प्रतिभासम्पन्न वैज्ञानिक है। असाध्य बीमार उसके फोटो से प्रेरणा प्राप्त करके रोगमुक्त हो गए हैं, उसके विचारों को पढ़कर रसोइयों को स्वादिष्ट भोजन बनाने की विधियों का ज्ञान हुआ है, भंगियों ने माओ के निर्देशों पर चलते हुए अपनी कार्यक्षमता को बढ़ाया है। माओ को भी स्तालिन की भाँति अपना विरोध और मतभेद असह्य है, इसका उन्मूलन करने के लिए १९६६ में 'सांस्कृतिक क्रान्ति' करके साम्यवादी पार्टी की शुद्धि की गई, और विरोधी नेताओं का सफाया हुआ। इसके लिए देखिए 'हिन्दुस्तान टाइम्ज', ३० अगस्त १९६६ के पृ० ७ पर विद्याप्रकाश दत्त का लेख—दी राइज आफ लिन पिआओ।

पहला सिद्धान्त शक्ति का दर्शन (Philosophy of Power) है। माओ शक्ति का उपासक है, उसके मतानुसार यदि राजनीतिक शक्ति हस्तगत करके उसका पूरा प्रयोग किया जाए तो मनुष्यों के मनों को बदलकर सामाजिक शक्तियों का नियन्त्रण किया जा सकता है। इससे मनुष्य प्रकृति पर पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर सकता है। यह सिद्धान्त मार्क्सवाद के इस मौलिक मन्तव्य के प्रतिकूल है कि आर्थिक परिस्थितियाँ मनुष्यों के विचारों और संस्थाओं का निर्माण करती हैं। माओ के मतानुसार विचार समाज का निर्माण करते हैं। विचारों के बाद वह सैनिक शक्ति को महत्व देता है। वह सैनिक और राजनीतिक शक्ति में घनिष्ठ सम्बन्ध समझता है। इस विषय में १९३८ में कही गई उसकी यह उक्ति प्रसिद्ध है कि "राजनीतिक शक्ति बन्दूक की नली में से उत्पन्न होती है, बन्दूक से कोई भी वस्तु उत्पन्न की जा सकती है।" **दूसरा सिद्धान्त** युद्ध की अनिवार्यता और शक्ति के प्रयोग का उग्र समर्थन है। माओ ने १९३६ में लिखा था—"वर्गयुक्त समाज के आरम्भ से ही विकास की एक निश्चित दशा में वर्गों, राष्ट्रों, राज्यों अथवा राजनीतिक समूहों में विरोधों के समाधान के लिए युद्ध संघर्ष का सबसे उच्चतम रूप है। इतिहास में दो ही प्रकार के युद्ध हैं—क्रान्तिकारी और क्रान्ति-विरोधी। हम पहले के समर्थक तथा दूसरे के विरोधी हैं। केवल क्रान्तिकारी युद्ध ही पवित्र है। हम पवित्र राष्ट्रीय क्रान्तिकारी युद्धों के तथा पवित्र वर्ग-विनाशक युद्धों के समर्थक हैं।" माओ का यह विश्वास है कि नया विश्वयुद्ध साम्राज्यवादी शिविर का तथा समूचे पूँजीवाद का पूर्ण विध्वंस करने वाला होगा। **तीसरा सिद्धान्त** समूचे विश्व को दो वर्गों में विभक्त करना है। इस समय संसार दो विरोधी शिविरों में बँटा हुआ है। एक ओर साम्राज्यवादियों का शिविर है, इसमें अमेरिकन साम्राज्यवादी, उनके साथी तथा संसार के सब देशों के प्रतिक्रियावादी व्यक्ति हैं। दूसरी ओर संसार का साम्राज्य-विरोधी शिविर है, इसमें सोवियत संघ, पूर्वी योरोप के लोकतन्त्र तथा चीन हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार संसार में इन दोनों गुटों से पृथक्, एवं स्वतन्त्र बने रहने वाले तटस्थ (Non-aligned) राष्ट्रों का कोई स्थान नहीं है। रूस और चीन का साथ न देने वाले सभी देश भाड़े के टट्टू (Hirelings), पागल कुत्ते (Raving dogs) तथा साम्राज्यवादी हैं। १९४९ में माओ ने घोषणा की थी, "तटस्थता धोखे की टट्टी है और तीसरे वर्ग की कोई सत्ता नहीं है।" १९६२ में भारत पर चीन का आक्रमण इसी सिद्धान्त का परिणाम था, क्योंकि भारत दोनों गुटों से अलग रहने (Non-alignment) की नीति को मानता था और चीन को इसमें कतई विश्वास नहीं था।

चौथा सिद्धान्त समाजवादी क्रान्ति के दो दशाओं में से होकर गुजरने का तथा **नवीन लोकतन्त्र** (New Democracy) का है। माओ ने १९४० में 'नवीन लोकतन्त्र' नामक पुस्तक में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए यह बताया था कि साम्यवाद कभी एकदम नहीं आ सकता है, यह आवश्यक है कि उसकी समुचित तैयारी के लिए पहले एक संक्रमणकालीन दशा आए। इसी दशा को माओ ने 'नवीन लोकतन्त्र' का नाम दिया है। उसका यह मत है कि यह दशा काफी देर तक चलने वाली होगी। इसमें पूँजीवादी और समाजवादी व्यवस्थाओं का सम्मिश्रण होगा। नवीन लोकतन्त्र

पूँजीवाद को प्रोत्साहित करेगा, साम्यवाद का **न्यूनतम कार्यक्रम** चलाएगा और इसका लक्ष्य भविष्य में 'अधिकतम साम्यवादी' कार्यक्रम चलाने का होगा।[1] इसमें नए समाजवादी राज्य की स्थापना की दूसरी अवस्था पूरी होने तक बूर्जुआ पूँजीवाद से समझौता करना होगा। इस दशा में साम्यवादी दल के नेतृत्व में सब क्रान्तिकारी तत्वों की संयुक्त सरकार (Coalition) बनेगी तथा सरकारी एवं निजी उद्योगों वाली मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed economy) होगी।

पाँचवाँ सिद्धान्त लोकतन्त्रीय अधिनायकता (Democratic Dictatorship) का है। माओ तथा अन्य चीनी साम्यवादी 'कम्यूनिस्ट घोषणा-पत्र' के आधार पर यह मानते हैं कि राज्य एक विशेष वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग पर शासन करने का साधन है, अतः राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह जनता के, विशेषतः 'मजदूर वर्ग' के हितों के विरोधी तत्वों को कुचल दे। अतः इस दृष्टि से शासन करने वाला उनका नवीन लोकतन्त्र एक ही साथ लोकतन्त्रीय एवं अधिनायकतन्त्रवादी (Dictatorial) होता है। यह लोकतन्त्रीय (Democratic) इसलिए है कि यह जनता के हितों की पूर्ति के लिए शासन करता है ; यह अधिनायकतन्त्रवादी (Dictatorial) इसलिए है कि यह क्रान्ति के विरोधियों का तथा जनता के शत्रुओं का दमन करने के लिए निरंकुश शक्ति का प्रयोग करता है और इनके विध्वंस के लिए कठोरतम उपायों का अवलम्बन करने में संकोच नहीं करता है। **छठा सिद्धान्त** लोकतन्त्रीय केन्द्रीयतावाद (Democratic Centralism) का है। नवीन लोकतन्त्र में लोकतन्त्र की व्यवस्था को अत्यधिक महत्व देते हुए भी इस बात का समुचित प्रबन्ध किया जाएगा कि इससे प्राप्त होने वाली स्वतन्त्रता का दुरुपयोग क्रान्ति-विरोधी व्यक्ति अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए न कर सकें। स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र का लाभ केवल उन्हीं व्यक्तियों को दिया जाना चाहिए जो जनता के नवीन लोकतन्त्र के प्रबल पोषक हों। अतः स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र की व्यवस्था सर्वथा उन्मुक्त और अप्रतिबद्ध रूप में नहीं की जानी चाहिए। इसे केन्द्रीय सत्ता के पथ-प्रदर्शन और निरीक्षण में किया जाना समुचित है। यही बात लोकतन्त्रीय केन्द्रीयतावाद का मौलिक तत्व है। इसमें लोकतन्त्र तो इस रूप में होता है कि साम्यवादी दल के निम्न स्तरों पर विद्यमान इसकी सभी शाखाएँ लोकतन्त्रात्मक रीति से अपने सभी निर्णय और कार्य करती हैं ; किन्तु इसके साथ ही निम्न स्तरों पर किए जाने वाले सभी निर्णयों और कार्यों के लिए यह आवश्यक है कि इनकी स्वीकृति और सम्पुष्टि दल की उपरली शाखाओं तथा संगठनों से होती रहे ताकि यह लोकतन्त्र एक केन्द्रीय दल के पथ-प्रदर्शन और निरीक्षण में कार्य करे और पथभ्रष्ट होने से तथा इसके नियन्त्रण से निकलने में समर्थ न हो सके। यही लोकतन्त्रीय केन्द्रीयतावाद है। **सातवाँ सिद्धान्त** क्रान्तिकारी वर्गों के संयुक्त अधिनायकवाद (Joint Dictatorship of Revolutionary Classes) का विचार है। चीन में उद्योग-धन्धों का विकास कम होने के कारण अभी तक वहाँ का मजदूर वर्ग इतना शक्तिशाली और समर्थ नहीं था कि वहाँ मजदूरों की अधिनायकता (Dictatorship of the Proletariat) स्थापित की जा

१, जोसेफ एस० रौसेक—कण्टेम्पोरेरी पोलिटिकल आइडियोलोजी, पृ० ४८

सके। अतः क्रान्ति की संक्रमणकालीन दशा में यह अत्यावश्यक है कि सर्वहारा मजदूर वर्ग इस क्रान्ति को सफल बनाने के लिए अन्य ऐसे वर्गों का सहयोग प्राप्त करे जो उससे सहानुभूति रखते हों। ये सभी वर्ग **क्रान्तिकारी** (Revolutionary) स्वरूप रखते हैं क्योंकि ये सब सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के कट्टर विरोधी हैं, क्रान्ति के सुदृढ़ समर्थक होने से ये सब उस समय तक **संयुक्त अधिनायकतन्त्र** स्थापित करते हैं जब तक सर्वहारा वर्ग के अधिनायकतन्त्र के लिए उपयुक्त परिस्थितियाँ न उत्पन्न हो जाएँ। **आठवाँ सिद्धान्त** इस प्रकार 'संयुक्त अधिनायकतन्त्र' स्थापित करने वाले चार **क्रान्तिकारी वर्गों** (Revolutionary Classes) को मानना है। ये चार वर्ग—मजदूर, किसान, दुकानदार आदि छोटे पूँजीपति (Petty bourgeoise) तथा बड़े अथवा राष्ट्रीय पूँजीपति (National bourgeoise) हैं, मजदूर और कृषक वर्ग के चारों ओर दूसरे वर्ग एकत्र होते हैं। ये चारों वर्ग साम्यवादी दल के नेतृत्व में कार्य करते हैं। **नवाँ सिद्धान्त** क्रान्ति को सफल बनाने में कृषक वर्ग को अधिक महत्व दिया जाना है। रूस में बोल्शेविक क्रान्ति के अग्रदूत कारखानों के मजदूर थे, किन्तु चीनी क्रान्ति की सफलता किसानों के सहयोग से हुई। माओ त्से-तुंग का सिद्धान्त था कि चीन के ग्रामीण क्षेत्रों में क्रान्तिकारी अड्डे स्थापित करके बड़े नगरों को उनके चारों ओर के देहाती क्षेत्र से घेर लिया जाए। माओ की इसी रणनीति ने चीन में साम्यवादी क्रान्ति करने में सफलता पाई थी।[1]

रूस और चीन के सैद्धान्तिक मतभेद—साम्यवादी जगत् में इस समय की एक प्रधान घटना मार्क्स तथा लेनिन के कट्टर अनुयायी मास्को के तथा पेकिंग के गम्भीर सैद्धान्तिक मतभेद हैं।[2] चीन का यह विचार है कि ख्रुश्चेव तथा रूस के अन्य नेता मार्क्स के मौलिक सिद्धान्तों में परिवर्तन और संशोधन करने का जघन्य कार्य कर रहे हैं, पेकिंग विशुद्ध मार्क्सवाद का और साम्यवाद का सुदृढ़ समर्थक है। दूसरी ओर रूसी नेता यह आवश्यक समझते हैं कि मार्क्सवाद को नवीन परिस्थितियों के यथार्थवादी विश्लेषण पर सुप्रतिष्ठित करना चाहिए। चीनी लोग 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' के अनुसार मार्क्स के मौलिक मन्तव्यों पर पुनर्विचार को वैसे ही अक्षम्य अपराध समझते हैं जैसे पुराने धर्मप्राण कट्टरपन्थी श्रुति-स्मृति के वचनों पर पुनर्विचार करना अपराध समझते

---

१. चीन के रक्षामन्त्री मार्शल लिन पिआओ ने माओ की इस नीति के आधार पर विश्व-व्यापी साम्यवादी क्रान्ति की रणनीति का एक सिद्धान्त २ सितम्बर १९६५ को 'पीपल्ज़ डेली' नामक पत्र में पचास हजार शब्दों के लेख में प्रतिपादित किया है। इसमें उत्तरी अमेरिका तथा पश्चिमी योरोप को विश्व के नगर (Cities of the World) कहा गया है। इनकी तुलना में एशिया, अफ्रीका तथा दक्षिण अमेरिका को विश्व के ग्रामीण प्रदेश कहा जा सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इन ग्रामीण प्रदेशों में जनता के क्रान्तिकारी आन्दोलन प्रबल हुए हैं। शीघ्र ही ये सं० रा० अमेरिका तथा प० योरोप के नगरों को घेर लेंगे तथा उनका विध्वंस कर देंगे।

२. इनके विकास के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए : डेविड फ्लायड—माओ अगेंस्ट ख्रुश्चेव (पालमाल प्रैस, लन्दन, १९६४), संक्षिप्त परिचय के लिए देखिए : हरिदत्त वेदालंकार—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध (सरस्वती सदन, मसूरी), षष्ठ संस्करण, पृ० ५५४-६०

थे। इस समय दोनों में निम्नलिखित प्रधान सैद्धान्तिक मतभेद हैं—

पहला मतभेद युद्ध की अनिवार्यता पर है। लेनिन का विश्वास था कि जब तक साम्राज्यवाद है तब तक युद्ध अनिवार्य है, इसके बिना पूँजीवाद का विध्वंस सम्भव नहीं है। चीन के मतानुसार रूस ने लेनिन के इस सिद्धान्त को तिलांजलि दे दी है। ख्रुश्चेव का कहना है कि वर्तमान काल का आणविक युद्ध दोनों पक्षों का इतना प्रबल विध्वंस करने वाला होगा कि इसमें न केवल साम्राज्यवादी, किन्तु साम्यवादी भी समाप्त हो जाएँगे। अतः साम्यवाद की रक्षा के लिए पूँजीवाद के साथ **शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व** (Peaceful Co-existence) की नीति वांछनीय है। क्यूबा के प्रश्न पर अमेरिका की बात मानने का कारण स्पष्ट करते हुए ख्रुश्चेव ने कहा था कि यदि उस समय पूँजीवादी जगत् के साथ संघर्ष किया जाता तो पहले ही दिन सात करोड़ व्यक्ति स्वाहा हो जाते। "इस मौलिक तथ्य से आँख मूंदने वाले ही यह युक्ति दे सकते हैं कि युद्ध समाजवाद का सहायक होगा। समाजवाद का निर्माण अणुबमों के विस्फोट से विध्वस्त भूमण्डल पर नहीं हो सकता है। रूस के सैद्धान्तिक पत्र 'कम्यूनिस्ट' (Kommunist) में इस युक्ति का प्रतिपादन करते हुए बेलयाकोव तथा बुरलात्स्की ने लिखा था— "आणविक आयुधों का उपयोग करने वाले विश्वयुद्ध में, मोर्चों पर लड़ने वाले सैनिकों में तथा इनके पृष्ठभाग में स्थित देश की असैनिक जनता में कोई भेद नहीं रह जाएगा। इस युद्ध का परिणाम सभ्यता के प्रधान केन्द्रों का तथा समूचे राष्ट्रों का पूर्ण विध्वंस होगा। यह सारी मानव-जाति के लिए महान् विपत्ति लाने वाला होगा। केवल उन्मत्त व्यक्ति ही ऐसी विपत्ति को बुलाने की इच्छा कर सकते हैं।......यह स्पष्ट है कि आधुनिक आणविक युद्ध अपने-आपमें क्रान्ति को तथा समाजवाद की विजय को अधिक निकट लाने में सहायक तत्व नहीं हो सकता है। इसके विपरीत ऐसा युद्ध मानव-जाति की प्रगति को, क्रान्तिकारी मजदूरों के आन्दोलन के विकास को तथा समाजवाद और साम्यवाद के निर्माण के कार्यों को बीसियों वर्ष पीछे धकेल देगा।"[1]

दूसरा मतभेद आणविक युद्ध के विषय में है। चीन का यह मत है कि पहले विश्व-युद्ध ने रूसी क्रान्ति को तथा दूसरे विश्वयुद्ध से चीनी क्रान्ति को जन्म दिया, तीसरा आणविक युद्ध सारे संसार में पूँजीवाद का विध्वंस करके साम्यवाद को सफल बनाएगा। चीन दो कारणों से अणुयुद्धों से भयभीत नहीं है : **पहला** तो यह है कि चीनी जनता रूस तथा पश्चिमी देशों की भाँति विशाल कारखानों वाले कुछ बड़े शहरों में केन्द्रित न होकर देहातों में खेतों पर फैली हुई है। अणुबम घनी बस्ती वाले नगरों को ही अधिक क्षति पहुँचा सकते हैं। **दूसरा** कारण यह है कि उसकी जनसंख्या बहुत अधिक है। चीन के प्रधानमन्त्री चाऊ एन-लाई ने कहा था कि "चीन की ७० करोड़ जनता में से तैंतीस करोड़ तो बच जाएँगे और ये आणविक युद्ध के मलबे से एक सुन्दर समाज-वादी समाज का निर्माण करेंगे।" इसके विपरीत रूसी नेताओं का यह मत है कि आणविक युद्ध से नवीन समाज का निर्माण नहीं हो सकता है। "मजदूर जनता का उद्देश्य शानदार रीति से मरना नहीं, अपितु नए सुखी जीवन का निर्माण करना है।"

---

१. डेविड फ्लायड—माओ अगेंस्ट ख्रुश्चेव, पृ० ९४-९५

तीसरा मतभेद क्रान्ति के सिद्धान्त के बारे में है। चीनी लेनिन के इस सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं कि समाजवाद लाने के लिए क्रान्ति आवश्यक है, क्रान्ति में तथा गृह-युद्ध में साम्यवादियों को शासन-सत्ता बलपूर्वक हस्तगत कर लेनी चाहिए तथा विश्व में क्रान्ति फैलाने का प्रयास करना चाहिए। माओ ने चीनी अनुभव से इस पर बल देते हुए कहा है कि सशस्त्र संघर्ष एवं छापामार युद्ध का आश्रय लेना चाहिए और बूर्जुआ वर्ग के साथ मिलकर कोई सरकार नहीं बनानी चाहिए। पेकिंग मास्को पर यह आरोप लगा रहा है कि उसने क्रान्ति के विचार को भुला दिया है, वह अब क्रान्ति पर बल न देकर, शान्ति एवं आर्थिक विकास पर बल देने लगा है। इसके विपरीत रूस का मत है कि साम्यवाद लाने के लिए क्रान्ति के अतिरिक्त शान्तिपूर्ण उपाय भी हैं। विभिन्न देशों की पार्लियामैण्टों के राजनीतिक दलों के साथ गठबन्धन करके भी साम्यवादी शासन स्थापित किए जा सकते हैं, जैसा १९४८ में चैकोस्लोवाकिया में हुआ था। इसके लिए गृह-युद्ध या क्रान्ति अनिवार्य नहीं है। क्रान्ति केवल सशस्त्र साधनों से नहीं होती है, यह शान्तिपूर्ण और अहिंसक साधनों से भी सम्भव है। मार्क्सवाद-लेनिनवाद की सच्ची शिक्षा यह है कि साम्यवादियों को क्रान्ति लाने के लिए हिंसक और अहिंसक —सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग समय एवं आवश्यकता को देखते हुए करना चाहिए। **चौथा** मतभेद निश्शस्त्रीकरण (Disarmament) के विषय में है। चीनी इसके विरोधी हैं, वे रूस द्वारा सं० रा० अमेरिका के साथ की गई अणुपरीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि (Test Ban Treaty) के कटु आलोचक हैं। किन्तु रूस यह समझता है कि अणुशस्त्रों का निर्माण मानव-जाति के विनाश के लिए है। इन पर होने वाले भारी आर्थिक व्यय के भार से जनता दबी जा रही है। यदि निश्शस्त्रीकरण पर समझौता हो जाए तो यह सारी धनराशि जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने में लगाई जा सकती है। **पाँचवाँ** मतभेद व्यक्ति-पूजा (Personality Cult) का है। १९५६ में ऊपर (पृ० ४०२-३) बताई गई गुप्त वक्तृता में ख्रुश्चेव ने स्तालिन द्वारा रूसी जनता पर किए गए अत्याचारों का भण्डाफोड़ करते हुए यह बताया था कि उसे आराध्य देवता बनाने से तथा उसकी पूजा करने से रूसी जनता को कितनी हानि उठानी पड़ी थी। उसने व्यक्ति-पूजा के स्थान पर सामूहिक नेतृत्व (Collective Leadership) पर बल दिया और स्तालिन की निन्दा का अभियान आरम्भ किया। चीन इससे सहमत नहीं है, वह स्तालिन को तथा माओ को देवता मानता है और व्यक्ति-पूजा के सिद्धान्त में आस्था रखता है। **छठा** मतभेद सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता (Dictatorship of the Proletariat) के बारे में है। चीन का यह दावा है कि सोवियत समाज पूँजीपति बन गया है, उसका बूर्जुआकरण (Bourgeoification) तथा पतन हो गया है, क्योंकि वह उत्तम और उच्च जीवन-स्तर पर बल दे रहा है, और उसके लिए प्रयत्न कर रहा है। ऐसा समाज क्रान्ति का नेता नहीं बन सकता है, वह सर्वहारा वर्ग का नेतृत्व करने में असमर्थ है। इसके विपरीत रूस का यह कहना है कि क्रान्ति के लिए पेट पर पट्टी बाँधना आवश्यक नहीं है। रूसी चीनियों के निम्न जीवन-स्तर पर कटाक्ष करते हुए कहते हैं कि "रस्सियों का बना जूता पहनना और एक सामान्य प्याले में बहुत पतला शोरबा (watery soup) पीना ही साम्यवाद

नहीं है।" यदि कोई मजदूर अच्छा जीवन बिताता है तो वह पूँजीपति नहीं हो जाता है। सातवाँ मतभेद शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व तथा युद्ध और शान्तिविषयक है। चीन का यह मत है कि जब तक संसार में साम्राज्य और पूँजीपति विद्यमान हैं तब तक युद्ध का अन्त नहीं हो सकता है। शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व मृगतृष्णा और प्रवंचना मात्र है, शान्ति के लिए प्रयत्न करना क्रान्तिकारी संघर्षों के मार्ग में बड़ी बाधा डालना है, अतः नए विश्वयुद्ध को रोकने के लिए प्रयत्न नहीं होने चाहिएँ, अपितु इसका स्वागत किया जाना चाहिए। सोवियत रूस के मतानुसार अणुबमों के युग में शान्ति बनाए रखना अत्यावश्यक है, साम्राज्यवाद इतना क्षीण हो चुका है कि युद्ध और क्रान्ति के बिना भी उसका अन्त किया जा सकता है। पूँजीवादी देशों के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति श्रेयस्कर है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मार्क्सवाद और साम्यवाद के स्वरूप के सम्बन्ध में होने वाले वाद-विवाद में चीन इसकी शुद्धता पर बल दे रहा है। एक आधुनिक लेखक यशपाल के शब्दों में—चीन मार्क्सवाद को एक हाँडी में रखकर, इसे जमीन में गाड़कर इसकी शुद्धता के लिए लड़ रहा है, चीनी सर्प इस हँडिया पर कुण्डली मारकर और फन उठाए बैठा है। दूसरी ओर परिस्थितियों और अनुभवों के आधार पर रूस इसमें समयानुकूल परिवर्तन और संशोधन करने का पक्षपाती है। लेनिन ने १९१७ की बोल्शेविक क्रान्ति होने पर इस सच्चाई को अनुभव किया था, क्योंकि उस समय साम्यवाद के मौलिक सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देते हुए अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई थीं। उदाहरणार्थ, उस समय यह समस्या थी कि रूस में क्रान्ति के साथ अन्य देशों में भी क्रान्ति करने के प्रयास किए जाएँ या न किए जाएँ। मार्क्सवाद सभी देशों के मजदूरों द्वारा क्रान्ति करने तथा इसे अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन बनाने पर बल देता था। किन्तु लेनिन ने इस क्रान्ति को अपने देश की सीमाओं तक मर्यादित रखा, क्योंकि उसके मतानुसार "अपने कार्य और सीमाओं को अपने रक्षा-सामर्थ्य से अधिक फैलाकर शत्रु को हमें नष्ट करने का अवसर देना अव्यावहारिक नीति ही नहीं, अपितु आत्महत्या का मार्ग है।" "जो कुछ वास्तव में हमारे सामर्थ्य और हाथ में है, उसे स्वप्नों की प्राप्ति के लिए विध्वंस हो जाने देना उचित नहीं है।" रूस लेनिन के इस व्यावहारिक दृष्टिकोण पर बल देते हुए इसका अनुसरण कर रहा है और साम्यवाद में समयानुकूल संशोधन की प्रक्रिया को इसे स्थायी और सुदृढ़ बनाने के लिए आवश्यक समझता है।

बारहवाँ अध्याय

विकासशील समाजवाद

समष्टिवाद और फेबियनवाद

समाजवाद के दो रूप—कार्ल मार्क्स के बाद समाजवादी विचारधारा दो प्रधान रूपों में विभक्त हो जाती है—**क्रान्तिकारी समाजवाद** (Revolutionary Socialism) तथा **विकासशील समाजवाद** (Evolutionary Socialism)। पहली विचारधारा क्रान्ति द्वारा सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता स्थापित करके हिंसापूर्ण साधनों से समाजवाद की स्थापना करने के सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है, लेनिन इसी विचारधारा का उपासक था, पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि उसने रूस में बोल्शेविक क्रान्ति का नेतृत्व करके वहाँ क्रान्तिकारी समाजवाद की स्थापना की थी। चीन में भी क्रान्ति द्वारा साम्यवादी शासन की स्थापना हुई है। फ्रांस में संघवाद (Syndicalism) के रूप में क्रान्तिकारी समाजवाद का विकास हुआ। किन्तु इंगलैण्ड में एक दूसरे प्रकार के शान्तिपूर्ण उपायों से, शनैः-शनैः क्रमिक विकास द्वारा समाजवाद की स्थापना करने के सिद्धान्त पर बल दिया गया, शान्तिपूर्ण विकास की प्रक्रिया पर अधिक महत्व दिया जाने के कारण इस विचारधारा को विकासशील समाजवाद का नाम दिया जाता है। इस विचारधारा के इंगलैण्ड और सं० रा० अमेरिका में विकसित होने वाले रूप समष्टिवाद (Collectivism) और फेबियनवाद (Fabianism), श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism) और जर्मनी में संशोधनवाद (Revisionism) थे। संशोधनवाद का पहले (पृ० ३७४) संक्षिप्त उल्लेख हो चुका है, श्रेणी समाजवाद का वर्णन अगले अध्याय में होगा, अतः यहाँ अब समष्टिवाद और फेबियनवाद का परिचय दिया जाएगा।

समष्टिवाद
(Collectivism)

परिभाषा और स्वरूप—समष्टिवाद का शब्दार्थ है समष्टि को अथवा समाज को महत्व देने वाला सिद्धान्त। यह व्यष्टिवाद (Individualism) अथवा व्यक्ति को महत्व देने वाले सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत तथा उसकी प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुआ है। पहले यह बताया जा चुका है कि बेन्थम (पृ० ३२), मिल और स्पेन्सर (पृ० २३६) व्यष्टिवाद के पुजारी थे, उनका यह मत था कि व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार यथेष्ठ कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए, ये एडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित **अहस्तक्षेप** (Laissez faire) के इस सिद्धान्त को मानते थे कि राज्य को व्यक्ति के आर्थिक कार्यों में किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। किन्तु

इंगलैण्ड में व्यक्ति को दी जाने वाली इस स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करते हुए कारखानों में पूँजीपतियों ने मजदूरों का जो शोषण तथा उन पर जो अत्याचार किया था, उनके विरुद्ध आन्दोलन प्रबल होने से तथा 'कारखाना कानूनों' (Factory Acts) के बनने से व्यष्टिवाद के विरुद्ध समष्टिवाद की भावना प्रबल होने लगी। काम के अधिक घण्टों ने, बच्चों और स्त्रियों द्वारा नितान्त अस्वास्थ्यजनक परिस्थितियों में कारखानों और खानों में काम करने की अन्यायपूर्ण परिस्थितियों ने इस बात को स्पष्ट सिद्ध कर दिया कि व्यष्टिवाद के सिद्धान्त को खुली छूट देने के क्या दुष्परिणाम हो सकते हैं। समाज के अधिकांश व्यक्तियों के हित एवं कल्याण की दृष्टि से यह आवश्यक है कि समाज व्यक्तियों को निर्बाध रूप से कार्य करने की स्वतन्त्रता न दे, अपितु समष्टि अथवा समाज की ओर से उन पर कुछ प्रतिबन्ध एवं नियन्त्रण लगाए जाएँ। यही समष्टिवाद का मौलिक सिद्धान्त है। जिस प्रकार मानव-शरीर में यदि किसी एक अंग—मुँह को अपने स्वाद के लिए यथेच्छ रसगुल्ले या मालपुए खाने को दिए जाएँ और शरीर के स्वास्थ्य का ध्यान न रखा जाए तो शरीर को अजीर्ण एवं अतिसार के दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं, इससे सारा शरीर रोगी और निर्बल हो जाता है, इसी प्रकार व्यक्तियों को निर्बाध स्वतन्त्रता देने से समाज रूपी शरीर नाना व्याधियों से पीड़ित हो जाता है। अतः समष्टिवाद में समष्टि अथवा समाज को प्रधानता देते हुए उसके हित एवं कल्याण की दृष्टि से व्यक्ति के कार्यों को नियन्त्रित किया जाता है। इसी को समष्टिवाद (Collectivism) कहते हैं। समष्टिवाद में न केवल समाजवादी विचारधारा का, अपितु अधिनायकवाद (Dictatorship) की विचारधारा का भी समावेश होता है, क्योंकि वह व्यक्ति की तुलना में राज्य को विशेष महत्व प्रदान करती है। इसका वर्णन अगले अध्यायों में यथास्थान किया जाएगा। यहाँ समष्टिवाद की उस समाजवादी विचारधारा का वर्णन किया जाएगा जो उत्पादन के साधनों पर राज्य का स्वामित्व स्थापित करना चाहती है, किसी देश के आर्थिक साधनों का उपयोग केवल श्रमिक वर्ग के हित के लिए नहीं, अपितु सम्पूर्ण समाज के लिए करना चाहती है, समाज के प्रत्येक वर्ग को अन्य वर्गों के साथ सम्बद्ध मानते हुए वर्ग-संघर्ष की अपेक्षा वर्ग-सामंजस्य तथा सम्पूर्ण समाज के कल्याण पर अधिक बल देती है।

समष्टिवाद व्यक्ति के आर्थिक कार्यों के नियन्त्रण पर बहुत बल देता है। पूँजीपतियों को कारखानों में मजदूरों से काम लेने के बारे में दी गई स्वतन्त्रता भीषण दुष्परिणाम उत्पन्न करती है, अतः यह उस पर नियन्त्रण स्थापित करता है। प्रायः मनुष्य संकीर्ण एवं वैयक्तिक स्वार्थों से प्रेरित होकर कार्य करता है, पूँजीपतियों ने अपने अधिक मुनाफे कमाने के लिए ही स्त्रियों और बच्चों को काम पर लगाया, क्योंकि उन्हें मजदूरी कम देनी पड़ती थी। किन्तु ऐसे कार्य समाज के हित की दृष्टि से वांछनीय न होने के कारण राज्य द्वारा रोके जाने चाहिएँ। इनका राज्य द्वारा रोका जाना समष्टिवाद की एक बड़ी विशेषता है, इसीलिए इसको **राजकीय समाजवाद** (State Socialism) कहा जाता है, क्योंकि यह राज्य की सहायता से समाजवाद स्थापित करने का प्रयत्न करता है। अतः इसकी परिभाषा करते हुए 'इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में कहा गया है कि "समष्टिवाद वह नीति या सिद्धान्त है कि जिसका

उद्देश्य एक केन्द्रीय लोकतन्त्रीय सत्ता (राज्य) द्वारा सम्पत्ति का वर्तमान समय की अपेक्षा अधिक अच्छा वितरण करना तथा उत्पादन करना है।"

समष्टिवाद के प्रमुख सिद्धान्त और विशेषताएँ—इसका **पहला** सिद्धान्त विकासवाद में आस्था रखना है। यह समाज को अन्य सजीव प्राणियों की भाँति विकसित होने और क्षीण होने वाला मानता है। विकास और ह्रास की प्रक्रियाएँ शनैः-शनैः सम्पन्न होती हैं। जिस प्रकार बच्चा पैदा होने के बाद शनैः-शनैः शैशव एवं बाल्यकाल की, कुमारावस्था और यौवन की दशाएँ बिताकर अधेड़पन और बुढ़ापे की ओर अग्रसर होता है, उसी प्रकार समाज भी विकास और ह्रास की दशाओं में से होकर गुजरता है, ये बड़ी मन्दगामी और मन्थरगति से होने वाली प्रक्रियाएँ हैं। मनुष्य अपनी बुद्धि से इन्हें समझकर इनमें थोड़ी-बहुत तीव्रता अवश्य ला सकता है, किन्तु इनमें सहसा बलपूर्वक परिवर्तन नहीं लाए जा सकते, इन्हें एकदम रोका नहीं जा सकता, इनके क्रम को उलटना भी सम्भव नहीं है। अतः समाज की प्रगति शनैः-शनैः किए जाने वाले क्रमिक सुधारों से हो सकती है, न कि सहसा किए जाने वाले क्रान्तिकारी परिवर्तनों से। ये सुधार समाज को उन्नति के पथ पर निरन्तर आगे बढ़ाते रहते हैं। इस प्रकार समष्टिवाद हिंसात्मक और क्रान्तिकारी उपायों के स्थान पर शान्तिमय, विकासमूलक एवं वैधानिक उपायों द्वारा समाजवाद को स्थापित करना चाहता है। समष्टिवादी अपने हाथ में सत्ता आ जाने पर भी समाजवादी व्यवस्था की स्थापना और उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का कार्य धीरे-धीरे जनमत को तैयार करके ही करता है, क्योंकि उसका यह विश्वास है कि ऐसा करने से ही ये परिवर्तन स्थायी होंगे, अन्यथा लोकमत बिना तैयार किए सहसा बलपूर्वक किए गए परिवर्तन दूसरे दल के सत्तारूढ़ होने पर समाप्त हो जाएँगे।

समष्टिवाद का **दूसरा** सिद्धान्त प्रजातन्त्र में अगाध विश्वास तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता में अविचल श्रद्धा रखता है। यह समाज में प्रत्येक परिवर्तन को लोकतन्त्रीय रीति से जनता की सहमति से ही करना चाहता है, उसकी समस्त कार्यप्रणाली का आधार लोकतन्त्रीय व्यवस्था है, वह अपने मन्तव्यों का जनता में ऐसा प्रचार करना चाहता है कि जनता चुनाव में उसे मत दे। यदि उचित प्रचार द्वारा जनता के मन में यह बात बिठा दी जाए कि समाजवादी व्यवस्था पूँजीवाद की अपेक्षा अधिक हितकर और उपयोगी है तो अधिकांश लोग स्वयमेव समाजवाद के पक्ष में मतदान करेंगे, इसका समर्थन करने वाली सरकार का निर्माण हो जाएगा और यह समाजवादी व्यवस्था का निर्माण करेगी। इंगलैण्ड में ऐसा ही हुआ है। १९०० में स्थापित हुआ मजदूर दल निरन्तर प्रचार द्वारा अपनी शक्ति बढ़ाता चला गया, १९२४ तथा १९३१ में पूर्ण बहुमत न होते हुए भी पार्लियामैण्ट में यह सबसे बड़ा दल था, उदार दल के सहयोग से उसने सरकार बनाई। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर १९४५ में उसे पूर्ण और स्पष्ट बहुमत मिला, उसने सत्तारूढ़ होने पर कई महत्वपूर्ण उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया। यह सारा कार्य लोकतन्त्रात्मक पद्धति से हुआ है। इसमें किसी प्रकार की तानाशाही या अधिनायकतन्त्र (Dictatorship) का कोई स्थान नहीं है,

सब व्यक्तियों को अपने विचार प्रकट करने की, भाषण की तथा लेखन की पूरी स्वतन्त्रता बनी रहती है।

तीसरा सिद्धान्त, वर्ग-युद्ध या वर्ग-संघर्ष में विश्वास न रखते हुए वर्ग-सामंजस्य (Class Collaboration) या वर्ग-सहयोग पर बल देना है। समष्टिवाद का शब्द ही इस बात पर बल देता है कि इसका उद्देश्य समष्टि का अर्थात् समाज में पाए जाने वाले सभी वर्गों का, न कि किसी विशेष वर्ग का, कल्याण करना है, उदाहरणार्थ, ब्रिटेन के मजदूर दल में मजदूरों के अतिरिक्त सरकारी कर्मचारी, डाक्टर, वकील, प्रोफेसर, विभिन्न प्रकार के बुद्धिजीवी तथा उच्च वर्ग के व्यक्ति भी सम्मिलित हैं। इसकी प्रधान सहानुभूति निर्धन एवं पददलित वर्ग के साथ है, किन्तु मार्क्सवाद की भाँति यह पूंजीपति जैसे किसी विशेष वर्ग का विध्वंस करने के लिए कटिबद्ध नहीं है।

चौथा सिद्धान्त राज्य को महत्वपूर्ण स्थान देना है। यह अराजकवाद (Anarchism) या बहुलवाद (Pluralism) के सिद्धान्तों में तनिक भी विश्वास न रखते हुए राज्य के माध्यम से ही समस्त औद्योगिक एवं आर्थिक व्यवस्था का संचालन करता है, इसी की सहायता से समाजवाद की स्थापना करना चाहता है, अतः इसे राजकीय समाजवाद (State Socialism) भी कहा जाता है। **पाँचवाँ** सिद्धान्त व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा उद्योगों का राष्ट्रीयकरण न करना है। मार्क्सवाद की भाँति यह वैयक्तिक सम्पत्ति का तथा निजी उद्योगों का समूलोन्मूलन एकदम नहीं करना चाहता है। यह उद्योगों को कई श्रेणियों में बाँटता है, सभी उद्योगों का एकदम राष्ट्रीयकरण करने के पक्ष में नहीं है। केवल उन्हीं उद्योगों पर राज्य का स्वामित्व स्थापित होना चाहिए जिनका विकास बहुत बड़े पैमाने पर हो चुका है। इस दृष्टि से उद्योगों को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है: पहली श्रेणी में वे उद्योग आते हैं जो अत्यधिक विकसित, विशाल तथा अन्य उद्योगों के लिए आधारभूत उद्योग हैं, जैसे लोहे, कोयले, बिजली, यातायात, बैंक आदि के उद्योग। इनका तत्काल राष्ट्रीयकरण होना चाहिए। दूसरी श्रेणी में वे उद्योग आते हैं जो भविष्य में राष्ट्रीयकरण के लिए उपयुक्त हो सकते हैं, जैसे कागज, दियासलाई, पैट्रोल, साबुन आदि के उत्पादन के उद्योग। तीसरी श्रेणी में ऐसे उद्योग हैं जो सदैव छोटे पैमाने पर किए जाते हैं, जिनमें केन्द्रीय संगठन और संचालन सम्भव नहीं है, जो सदैव वैयक्तिक अधिकार में बने रहेंगे। समष्टिवादी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करते हुए इन पर वैयक्तिक स्वामित्व रखने वालों को मुआवजा (Compensation) देने पर भी बल देते हैं, वे मार्क्सवादियों की भाँति पूंजीपतियों की सम्पत्ति को जब्त करने के पक्ष में नहीं हैं। बर्नार्ड शॉ ने लिखा है कि बिना मुआवजा दिए व्यक्तिगत सम्पत्ति छीनने से समाज में आर्थिक संकट उत्पन्न हो जाएगा, क्योंकि इस अवस्था में सम्पत्ति का मूल्य गिर जाएगा।

छठा सिद्धान्त समष्टिवाद में वस्तुओं के उत्पादन और वितरण के सम्बन्ध में नवीन दृष्टिकोण है। पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन का उद्देश्य मुनाफा कमाने की भावना (Profit motive) होता है। समष्टिवाद में इसका स्थान सामाजिक हित, कल्याण, उपयोग और आवश्यकता तथा समाज-सेवा की भावना ले लेती है। पूंजीपति

उन वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जिनसे उन्हें अधिक लाभ होने की सम्भावना प्रतीत होती है, समष्टिवादी उन वस्तुओं का उत्पादन करना चाहते हैं जो समाज के लिए आवश्यक तथा उपयोगी हों (देखिए ऊपर पृ० २७०)। **सातवाँ** सिद्धान्त आर्थिक विषमता दूर करना है। इसके लिए धन का वितरण लोगों की योग्यता तथा कार्य के अनुसार किया जाना चाहिए। समाज में आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए करों की व्यवस्था इस प्रकार कि जाएगी की धनियों को अधिक-से-अधिक तथा निर्धनों को न्यूनतम कर देने पड़ें, आय की मात्रा बढ़ने के साथ-साथ कर की मात्रा भी बढ़ती जाए, धनियों पर अधिकतम कर लगाकर इस प्रकार प्राप्त होने वाली धनराशि का उपयोग साधारण जनता के कल्याण और उन्नति के लिए किए जाने वाले कार्यों पर किया जाए।। उत्तराधिकार से प्राप्त होने वाली सम्पत्ति पर मृत्यु-कर (Death Duty) आदि के रूप में भारी कर लगाया जाए ताकि बाप-दादों की कमाई के आधार पर निठल्ला बैठकर कोई गुलछर्रे न उड़ा सके, सबको स्वयमेव परिश्रम करके अपना जीविकोपार्जन करना पड़े और उत्तराधिकार के कारण समाज में उत्पन्न होने वाली आर्थिक विषमता दूर हो जाए। **आठवाँ** सिद्धान्त व्यक्ति तथा समाज में घनिष्ठ सम्बन्ध मानना है। यह सम्बन्ध शरीर और उसके अंगों जैसा है, शरीर के किसी अंग में पीड़ा होने पर सारे शरीर को वेदना की अनुभूति होती है; उसी प्रकार समाज में किसी एक व्यक्ति को पीड़ा होने पर सारे समाज को कष्ट अनुभव होना चाहिए। व्यक्तिवादी (Individualist) विचारक व्यक्ति को प्रधान मानते हुए समाज के हितों की ओर कोई ध्यान नहीं देता, दूसरी ओर हेगल जैसे विचारक राज्य को असाधारण महत्व देते हुए व्यक्ति के हितों की उपेक्षा करते हैं। किन्तु समष्टिवाद व्यष्टि एवं समष्टि दोनों के हितों का समन्वय और उनकी रक्षा करना अपना प्रधान कर्त्तव्य समझता है।

इस प्रकार समष्टिवाद के उपर्युक्त सिद्धान्तों से स्पष्ट है कि इसके सिद्धान्त और स्वरूप मार्क्सवाद आदि अन्य वादों की भाँति सुस्पष्ट और निश्चित नहीं हैं। कोकर के शब्दों में इसे मानने वालों को उदार (Liberal), उदार लोकतन्त्रीय (Liberal Democrat), सामान्य जनता (People) के हित पर बल देने वाले (Populist or Popularist) तथा प्रगतिवादी कहते हैं।[1] इनका कोई संगठित आन्दोलन नहीं है, इनके सिद्धान्तों अथवा मत का कोई निश्चित संस्थापक नहीं है और इनके सुनिश्चित मन्तव्य नहीं हैं। वे सामाजिक न्याय, उदारवाद, आर्थिक उदारवाद, आर्थिक लोकतन्त्र तथा औद्योगिक लोकतन्त्र के सिद्धान्तों पर बल देते हैं। इनकी **पहली** प्रधान विशेषता इनकी सहानुभूति का क्षेत्र और विषय है, ये किसी वर्ग-विशेष के कल्याण पर बल न देकर, समाज के सभी वर्गों—विशेषत: वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में अन्याय से पीड़ित वर्गों के कल्याण पर बल देते हैं। **दूसरी** विशेषता आर्थिक क्षेत्र में घोर व्यष्टिवादी एवं निजी लाभ की भावना से प्रेरित होने वाली अर्थव्यवस्था का विरोध है। वे इसके स्थान पर उत्पादन के सभी साधनों, विशेषत: भूमि पर सम्पूर्ण समाज का नियन्त्रण

१. कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० ५४५

अथवा स्वामित्व चाहते हैं, इस प्रकार समष्टि का नियन्त्रण चाहने के कारण इस सिद्धान्त को समष्टिवाद कहा जाता है।

समष्टिवाद और मार्क्सवाद का भेद—यद्यपि इन दोनों का लक्ष्य अन्याय एवं आर्थिक विषमता से तथा पूँजीवाद के दुष्परिणामों के अभिशाप से पीड़ित साधारण जनता को उनके भीषण कष्टों से मुक्ति दिलाना है, तथापि दोनों के सिद्धान्तों में कई महत्वपूर्ण भेद हैं : **पहला भेद** समष्टिवादियों द्वारा मार्क्स के सुप्रसिद्ध वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त (पृ० ३२८) को न मानना है। वे इसके स्थान पर सब वर्गों के सहयोग (Class co-operation) से समाज के उत्थान और उत्कर्ष में विश्वास रखते हैं। **दूसरा** अन्तर मार्क्स के 'अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त' (Theory of Surplus Value) को न मानना है, वह मूल्य के निर्धारण में मजदूरी को एकमात्र कारण न मानते हुए अन्य कारणों को भी स्वीकार करता है। **तीसरा** अन्तर राज्य के सम्बन्ध में है, मार्क्सवाद राज्य को एक विशेष वर्ग द्वारा अन्य वर्गों के उत्पीड़न का साधन समझता है, समष्टिवाद इसे समाजवाद को स्थापित करने का तथा जनकल्याण करने का उपकरण मानता है। **चौथा** अन्तर यह है कि वह मार्क्सवाद की भाँति पूँजीवाद तथा निजी सम्पत्ति की व्यवस्था के समूलोन्मूलन पर बल नहीं देता है। वह इस विषय में मध्यम मार्ग का अवलम्बन करता है। मार्क्सवाद की भाँति वह पूँजीवाद को सब बुराइयों की जड़ समझता हुआ उसके पूर्ण विध्वंस को वांछनीय नहीं समझता, अपितु उसकी अच्छाइयों को रखते हुए उसकी बुराइयों को दूर करना चाहता है। यह व्यष्टिवादियों की भाँति वैयक्तिक सम्पत्ति की व्यवस्था को ऊँचा स्थान नहीं देता है, क्योंकि इसके अनुसार श्रमिकों को तथा समाज को वस्तु का मूल्य उत्पन्न करने में सहायक न समझकर इसका सारा श्रेय पूँजीपतियों को दिया जाता है, इस आधार पर उद्योग के नियन्त्रण पर तथा मुनाफों के वितरण पर पूँजीपति एकाधिकार का दावा करते हैं। समष्टिवादी इससे सहमत नहीं हैं, किन्तु इसके साथ ही वे यह मानते हैं कि वस्तुओं के उत्पादन में तथा इनके मूल्य के निर्माण में किसी एक वर्ग—मजदूरों या पूँजीपतियों का ही महत्व नहीं होता है, किन्तु इसमें अन्य वर्ग—उपभोक्ता, समाज और राज्य भी सहयोग देते हैं, अतः मुनाफे का वितरण इन सभी वर्गों में उनके कार्य के अनुसार होना चाहिए, पूँजीपतियों का विध्वंस करने के स्थान पर उन्हें मितव्यय से पूँजी इकट्ठा करने और कारखाने स्थापित करने के जोखिम उठाने का समुचित प्रतिफल मिलना चाहिए, उन्हें जोखिम के अनुसार लगाई गई पूँजी पर सूद मिलना चाहिए, अपनी पूँजी को सुरक्षित बनाए रखने के लिए उद्योगों की प्रबन्ध-व्यवस्था और संचालन में समुचित स्थान मिलना चाहिए और वस्तुओं के उत्पन्न करने में और मूल्य-निर्धारण में सहायक अन्य सभी वर्गों को उनके कार्य के अनुरूप समुचित पुरस्कार दिया जाना चाहिए।

समष्टिवाद का कार्यक्रम और पद्धति—समष्टिवादी विचारक निजी और सरकारी उद्योगों के नियन्त्रण और स्वामित्व के सम्बन्ध में कोई सर्वसम्मत योजना प्रस्तुत न करके विभिन्न प्रकार के प्रस्ताव रखते हैं। उनका यह मत है कि विभिन्न उद्योगों के क्षमतापूर्ण विकास के लिए विभिन्न प्रकार की परिस्थितियाँ हो सकती हैं,

अतः आर्थिक क्षेत्र में राष्ट्रीकरण के कोई सामान्य नियम नहीं बनाए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, कुछ दशाओं में परचून के व्यापार (Retail Trade) तथा खेती में निजी उद्योग और प्रतियोगिता की पद्धति इनके क्षमतापूर्ण रीति से काम करने के लिए ठीक है। किन्तु कोयले की खुदाई, पेट्रोल को निकालने तथा नदियों से विजली तैयार करने के उद्योगों के क्षेत्र में निजी क्षेत्र (Private Sector) समुचित रूप से काम नहीं कर सकता, अतः इनकी व्यवस्था राज्य की ओर से ही होनी चाहिए। वस्तुतः समाजवाद लाने के लिए, सभी उद्योगों में कोई एक ही रामबाण उपाय कारगर नहीं हो सकता। विभिन्न क्षेत्रों की विभिन्न परिस्थितियों में हमें विविध प्रकार के उपायों का अवलम्बन करना पड़ेगा। समष्टिवादी विचारक निम्नलिखित क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के प्रस्ताव और सुझाव रखते हैं—

(क) **उत्पादन के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व** (Public Ownership) —समष्टिवादी को सार्वजनिक अथवा निजी उद्योग के विषय में कोई विशेष आग्रह या पक्षपात नहीं है, वह प्रत्येक क्षेत्र में अनुभव के आधार पर इस बात का निश्चय करता है कि जनहित की दृष्टि से किसी उद्योग का कम खर्च में अधिकतम उत्पादन निजी उद्योग (Private Enterprise) की व्यवस्था से होगा या सार्वजनिक स्वामित्व की व्यवस्था से। राज्य द्वारा उद्योगों को चलाए जाने के विरुद्ध प्रायः कई युक्तियाँ दी जाती हैं। इनके अनुसार सरकारी उद्योग भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद को बढ़ाने वाले, अधिक परिश्रम करने अथवा चातुर्य प्रदर्शित करने वाले व्यक्तियों की कार्य करने की प्रेरणा को तथा प्रोत्साहनों (Incentives) को नष्ट करने वाले कहे जाते हैं। यह भी कहा जाता है कि सरकार को उद्योग चलाने का अनुभव न होने से इसमें उसकी अनुभवहीनता के कारण सार्वजनिक द्रव्य के बर्बाद होने की बहुत आशंका होती है; किन्तु समष्टिवादी इन युक्तियों को सत्य नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि राज्य को सार्वजनिक हित की दृष्टि से व्यापार एवं उद्योग-धन्धों से सम्बद्ध अनेक विषयों का नियन्त्रण करना पड़ता है, अतः यह कहना ठीक नहीं है कि राज्य इन मामलों में अनुभवशून्य होने के कारण क्षमतापूर्ण रीति से कार्य नहीं कर सकता है। भ्रष्टाचार की युक्ति भी अधिक महत्व नहीं रखती है, किसी देश की जनता के चरित्र का स्तर सभी क्षेत्रों में लगभग एक जैसा होता है। यह सम्भव नहीं है कि निजी क्षेत्र में लोग ईमानदार हों तथा सार्वजनिक क्षेत्र में वेईमान हों। उनकी मनोवृत्ति दोनों क्षेत्रों में एक जैसी रहती है, निजी क्षेत्रों में उनके कार्यों पर एक आवरण या पर्दा पड़ा रहता है और सार्वजनिक क्षेत्र में ऐसा नहीं होता है। समष्टिवादी विरोधियों की इस युक्ति को भी नहीं मानता है कि निजी क्षेत्र में खुली प्रतियोगिता होने से आर्थिक लाभ की प्रेरणा की सम्भावना अधिक होती है, अतः उसमें अधिक उत्पादन होने की सम्भावना है। वस्तुतः निजी उद्योगों में कुछ व्यक्तियों द्वारा एकाधिकार स्थापित कर दिए जाने से प्रतियोगिता कम हो जाती है, इसके साथ ही हमें यह भी स्मरण रहना चाहिए कि अधिक अच्छा एवं उत्साहपूर्ण कार्य करने के लिए मनुष्य आर्थिक लाभ की भावना से ही प्रोत्साहित नहीं होता है, अपितु वह सम्मान एवं

पुरस्कार की भावनाओं से प्रेरित होकर भी उत्कृष्ट कार्य करता है।[1]

समष्टिवादी मार्क्सवादियों की भाँति सभी निजी उद्योगों का अन्धाधुन्ध राष्ट्रीयकरण नहीं करना चाहते, अपितु विवेकपूर्ण रीति से केवल उन्हीं उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना चाहते हैं जिनमें इसके करने से उत्पादन की मात्रा पर, वैयक्तिक पुरुषार्थ और प्रोत्साहन पर तथा उत्पादन-मूल्य पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े और उपभोक्ताओं को तथा समाज को कोई हानि न उठानी पड़े। पहले यह बताया जा चुका है (पृ० ४१७) कि वे उद्योग को कई वर्गों में विभक्त करते हैं। यह वर्गीकरण उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए ही किया जाता है। वे निम्नलिखित विशेषताओं वाले उद्योगों का राष्ट्रीकरण करना चाहते हैं—(क) जो उद्योग बड़े पैमाने पर किए जाते हों और जिनमें खुली प्रतिस्पर्द्धा को रोकने के लिए एकाधिकारवादी नियन्त्रण (monopolistic control) लगाने की प्रवृत्ति हो, क्योंकि इन नियन्त्रणों द्वारा पूँजीपति ग्राहकों को उल्टे उस्तरे से मूँडना शुरू कर देते हैं, अतः जनता के हित की दृष्टि से इन पर राज्य का स्वामित्व आवश्यक है। (ख) जिन उद्योगों में उत्पादन की पद्धति इतनी अधिक विकसित हो चुकी है कि इनमें विकास के लिए नवीन परीक्षणों और आविष्कारों की आवश्यकता नहीं है। (ग) ऐसे उद्योग, जिनमें निर्बाध गति से उत्पादन चलते रहना इसलिए जरूरी है कि अन्य उद्योगों का संचालन ठीक ढंग से होता रहे तथा जनता की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति में कोई बाधा न उत्पन्न हो। रेल, बिजली-उत्पादन, कोयले की खुदाई आदि के उद्योगों में उपर्युक्त विशेषताएँ पाई जाती हैं, अतः समष्टिवादी इनके राष्ट्रीयकरण का समर्थन करते हैं। वे ऐसे उद्योगों को भी राज्य द्वारा चलाया जाना आवश्यक समझते हैं जिनमें अधिक लाभ की सम्भावना न होने के कारण पूँजीपति इनमें पूँजी लगाना नहीं पसन्द करते हैं, किन्तु सार्वजनिक कल्याण की दृष्टि से जिन उद्योगों का संचालित किया जाना आवश्यक है। डाक तार विभाग, शिक्षा और संग्रहालयों की व्यवस्था ऐसे ही कार्य हैं। इस प्रकार

---

१. समष्टिवादियों का यह मत है कि वर्तमान दूषित सामाजिक व्यवस्था में सबकी आर्थिक आवश्यकताएँ पूरी न होने के कारण ही इस समय समाज में आर्थिक लाभ की सम्भावना कार्य करने का एक प्रबल प्रेरक या प्रोत्साहन देने वाला कारण (Incentive) है। जब समाजवादी व्यवस्था द्वारा सबकी न्यूनतम आर्थिक आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाएँगी तो अन्य कई प्रकार के प्रोत्साहक कारण मनुष्यों को कार्य करने के लिए प्रेरित करेंगे। एनी बीसेण्ट के शब्दों में उस समय निम्नलिखित प्रोत्साहक कारण पूरी तरह से अपना काम करना शुरू कर देंगे—"आगे बढ़ने की भावना, सृजनात्मक कार्य में आनन्द की अनुभूति, सुधार करने की इच्छा, समाज में अन्य व्यक्तियों से वाहवाही पाने की उत्कण्ठा, परोपकार करने की सहज प्रेरणा। ये सब कारण मनुष्यों को कार्य करने की प्रबल प्रेरणा देंगे।" एनी बीसेण्ट ने इसे सैनिक के उदाहरण से समझाया है। सैनिक को जब आर्थिक निश्चिन्तता हो जाती है तो वह अपने देश के सम्मान की रक्षा के लिए, अपने झण्डे की इज्जत बचाने के लिए, कीर्ति कमाने के लिए, बड़े-से-बड़ा त्याग, शौर्य और बलिदान करने को तैयार होता है, विक्टोरिया क्रॉस जैसे काँसे के टुकड़े को इससे सैकड़ों गुना अधिक भार रखने वाले सोने की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण मानता है (लेडलर—सोशल इक्नामिक मूवमैण्ट्स, पृ० २१५)। इसी दृष्टि से सोवियत रूस आदि साम्यवादी देशों में श्रमिकों को प्रोत्साहित करने के लिए विशेष पुरस्कारों और पदवियों की व्यवस्था की गई है। भारत में भी सरकार ने ऐसे पुरस्कारों की परिपाटी चलाई है।

समष्टिवादी यह मानते हैं कि अधिकांश उद्योग निजी क्षेत्र में रहेंगे, किन्तु इन पर पूरा सरकारी नियन्त्रण रहेगा, राज्य उपर्युक्त विशेषताओं को पूरा करने वाले उद्योगों को ही अपने स्वामित्व में लेगा और इनकी व्यवस्था का कार्य सार्वजनिक क्षेत्र में काम करने वाली, राजनीतिक संगठनों से स्वतन्त्र संविधान और संगठन रखने वाली सरकारी कम्पनियों को सौंपा जाएगा, इनमें कुछ विशेषज्ञ होंगे तथा कुछ इन कम्पनियों में काम करने वाले व्यक्तियों के प्रतिनिधि होंगे। भारत में इस प्रकार की कई सरकारी कम्पनियाँ कार्य कर रही हैं। इनमें रेल के इंजन बनाने वाला चित्तरंजन का कारखाना, रेलगाड़ी के डिब्बे बनाने वाला पेरम्बूर का कारखाना, हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट बंगलौर, खाद के कई कारखाने, बिजली का भारी सामान बनाने वाले भोपाल, हरिद्वार के कारखाने, पेन्सिलीन तैयार करने वाले पिम्परी, ऋषिकेश के कारखाने, इस्पात बनाने वाले दुर्गापुर, रूरकेला, भिलाई के कारखाने उल्लेखनीय हैं।

(ख) **श्रम सम्बन्धी कानून** (Labour Legislation)—समष्टिवादी कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की दशा सुधारने के लिए, उनके स्वास्थ्य की रक्षा के लिए और उन्हें विभिन्न प्रकार के जोखिमों से बचाने के लिए आवश्यक कानूनों को राज्य द्वारा बनाए जाने पर बल देता है। वह न केवल मजदूरों के काम के घण्टों तथा उनकी स्वास्थ्य सम्बन्धी परिस्थितियों के बारे में सरकारी नियन्त्रण स्थापित करता है, अपितु वह बेकारी, बीमारी, बुढ़ापे आदि के सभी संकटों में विभिन्न प्रकार के बीमों द्वारा उन्हें सुरक्षा प्रदान करता है। जिन उद्योगों में मजदूरों का संगठन शक्तिशाली नहीं होता है, उनमें पूँजीपतियों द्वारा उनका शोषण रोकने के लिए उन्हें न्यूनतम मजदूरी दिलवाने की व्यवस्था करता है।

(ग) **मूल्यों का नियन्त्रण** (Regulation of Prices)—समष्टिवादी जनता के हित की दृष्टि से यह आवश्यक समझते हैं कि राज्य वस्तुओं के मूल्य में सहसा बड़े परिवर्तन न होने दे, वह अपनी वित्त-व्यवस्था पर, साख की पद्धति और बैंकों पर नियन्त्रण रखकर मूल्यों को अधिक न बढ़ने दे, क्योंकि मूल्यों के बढ़ने से मजदूर अधिक मजदूरी की माँग करते हैं, अधिक मजदूरी देने से वस्तुओं का उत्पादन-मूल्य बढ़ता है और इससे मँहगाई का एक भीषण दुश्चक्र चलने लगता है। इसे रोकना राज्य का कर्त्तव्य है। राज्य को इस बात का भी प्रबन्ध करना चाहिए कि किसी उद्योग को चलाने वाले पूँजीपति आपस में मिलकर और संगठन बनाकर किसी वस्तु के दामों को कृत्रिम रूप से मँहगा बनाकर जनता को न लूट सकें।

(घ) **कर-पद्धति** (Taxation)—समष्टिवादी अत्यधिक आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए तथा समाज में अभीष्ट आर्थिक परिवर्तन लाने के लिए एक विशेष प्रकार की कर-पद्धति का समर्थन करते हैं। उनके मतानुसार कर समाज द्वारा पहुँचाए जाने वाले लाभों के बदले में समाज को दी जाने वाली धनराशि है, अतः इन करों का अधिक बोझ उन उद्योगों पर तथा ऐसी सम्पत्ति पर पड़ना चाहिए जो समाज के विकास से लाभ उठाती है। जमीनों पर कर लगाने के बारे में समष्टिवादी की यह नीति है कि वह ऐसी भूमि पर अधिक कर लगाता है जिसका मूल्य शहरों में आबादी की वृद्धि के कारण बढ़ रहा है, किन्तु जिसके सुधार पर उसका स्वामी भी कुछ व्यय

नहीं कर रहा है। इस भूमि के दाम में वृद्धि का प्रधान कारण सामाजिक परिस्थितियाँ हैं, यह वृद्धि उस भूमि के स्वामी के परिश्रम से उपार्जित नहीं हुई है, अतः यह **अनुपार्जित आय** (Unearned Income) है। इसका अधिकांश लाभ समाज को प्रदान करने के लिए ऐसी भूमियों पर अधिक कर लगाया जाना चाहिए। जमीनों पर मकान बनाकर उनका उत्कृष्ट सामाजिक उपयोग करने वालों से कम कर लिया जाना चाहिए। इसी प्रकार अपने परिश्रम से उपार्जित मजदूरी और वेतन पर कम कर लगाया जाना चाहिए तथा स्वयं परिश्रम करके न कमाई जाने वाली—किरायों, लगानों, मुनाफों तथा सूदखोरी से होने वाली अनुपार्जित आय (Unearned Income) पर अधिक कर लगाया जाना चाहिए। समष्टिवादी के मत में, करों के मूल उद्देश्य—सरकारी कार्यों के लिए धन-प्राप्ति—के साथ-साथ इनसे समाजवाद के उद्देश्यों की भी पूर्ति की जानी चाहिए। इस दृष्टि से बाप-दादों से उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाली भूसम्पत्ति पर तथा अन्य प्रकार की विशाल सम्पत्ति पर भारी टैक्स लगाया जाना चाहिए। उत्तराधिकार-कर के विरोध में प्रायः दो युक्तियाँ दी जाती हैं : **पहली** युक्ति ऐसे करों से नवीन उद्योग-धन्धों को स्थापित करने और चलाने के लिए आवश्यक प्रोत्साहन (Incentive) का लुप्त होना है। यह कहा जाता है कि इस समय विशाल सम्पत्ति कमाने के प्रलोभन से ही मनुष्य नए उद्योगों के लिए असीम पुरुषार्थ और अनथक उद्योग करते हैं। यदि उन्हें यह निश्चय हो जाए कि यह सम्पत्ति उनसे तथा उनके उत्तराधिकारियों से भारी कर लगाकर छीन ली जाएगी तो उनमें नवीन उद्योग-धन्धों को स्थापित करने और सम्पत्ति बढ़ाने का उत्साह नहीं रहेगा। **दूसरी** युक्ति यह है कि भूसम्पत्ति, ब्याज, मुनाफे आदि की आय पर निर्भर और आजीविका की कमाई से निश्चित होने के कारण काफी फालतू समय रखने वाला सम्पन्न वर्ग अपनी संस्कृति के संरक्षण और विकास में बहुत सहायक होता है। समष्टिवादी इन दोनों युक्तियों को अस्वीकार करते हुए आय-कर के बारे में यह प्रस्ताव रखता है कि कुछ निश्चित मात्रा तक आमदनी रखने वालों से कोई कर न लिया जाए तथा इसके बाद आय में वृद्धि के साथ-साथ कर की मात्रा में वृद्धि होनी चाहिए। भारत में आय-कर के सम्बन्ध में यही सिद्धान्त माना जाता है।[1]

---

१. इस समय भारत की कर-नीति समष्टिवाद तथा समाजवाद के उपर्युक्त सिद्धान्तों के अनुसार है; उदाहरणार्थ, यहाँ दस हजार तक कमाने वाले विवाहित और दो सन्तानों वाले व्यक्ति की आय पर ६·९% कर है, बीस हजार पर १६·८%, तीस हजार पर २६·१%, चालीस हजार पर ३३%, १ लाख पर ५७·१%, २ लाख पर ७०·४% तथा तीन लाख पर ७५·२%। इसके अतिरिक्त यहाँ धन की विषमता को रोकने के लिए सम्पदा-कर कानून (Estate Duty Act), व्यय कानून (Expenditure Tax), उपहार-कर कानून (Gift Tax), तथा सम्पत्ति-कर कानून (Wealth Tax Act) बनाए गए हैं। सम्पदा-कर कानून के अनुसार उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाली पचास हजार से १ लाख तक जायदाद पर ४ प्रतिशत कर है, १ लाख से तीन लाख की जायदाद पर ८ प्रतिशत। यह कर इसी प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, आठ लाख पर २५%, १३ लाख पर ४०%, १८ लाख पर ५० प्रतिशत और इससे अधिक की सम्पत्ति पर ८५% है। इस कर से बचने के लिए धनी व्यक्ति अपने जीवनकाल में अपनी सम्पत्ति उत्तराधिकारियों को उपहार रूप में दे सकते हैं, इस पर नियन्त्रण

(ङ) **भूमि सम्बन्धी नीति**—जमींदार या भूस्वामी के पास घरों, खेतों, कारखानों, बिजलीघरों, पार्कों आदि के लिए भूमि होती है। उद्योगों का और खेती का विस्तार होने से तथा आबादी बढ़ने से भूमि की माँग बढ़ती जाती है। भूमि जितनी कम होती है उसकी माँग उतनी ही अधिक बढ़ जाती है। जमींदार इस भूमि का प्रयोग सामाजिक आवश्यकताओं को ध्यान में न रखकर अपने वैयक्तिक लाभ के लिए इस प्रकार कर सकता है कि वह समाज के लिए हितकर न हो। उदाहरणार्थ, वह अपने खेतों पर मजदूरों को कम वेतन दे सकता है, भूधृति (Tenancy) के अत्याचारपूर्ण नियम बना सकता है, मजदूरों के रहने के लिए बड़ी अस्वास्थ्यजनक और गन्दी बस्तियाँ बना सकता है। समष्टिवादी उसे राज्य के विभिन्न विधि-विधानों द्वारा इन कार्यों से रोकते हैं, मजदूरों के लिए अच्छी बस्तियों का निर्माण कर इन्हें कम किरायों पर देते हैं, खेती के काम में लगे मजदूरों का न्यूनतम वेतन निश्चित करते हैं, मकानों के किरायों का नियन्त्रण करते हैं, किसानों को विभिन्न प्रकार की सहायता पहुँचाते हैं।

समष्टिवाद की आलोचना—यह मध्यम मार्ग का अनुयायी है, अतः इसकी कटु आलोचना मार्क्सवादी समाजवादियों द्वारा तथा व्यष्टिवादियों (Individualists) द्वारा की जाती है। समाजवादी इसके मौलिक सिद्धान्तों पर दो बड़ी आपत्तियाँ करते हैं: **पहली** आपत्ति इस बात पर है कि पूंजीवाद का विध्वंस शान्तिपूर्ण सुधारों से नहीं, किन्तु क्रान्ति से ही हो सकता है क्योंकि पूंजीपति छोटे-छोटे सुधारों का तो घोर विरोध नहीं करते हैं, किन्तु उनके स्वार्थों को हानि पहुँचाने वाले महत्वपूर्ण सुधारों का डटकर विरोध करते हैं और उन्हें क्रियान्वित नहीं होने देते। **दूसरी** आपत्ति लोकतन्त्रीय कार्यक्रम की है। मार्क्सवादियों के मतानुसार यह कार्यक्रम मजदूरों को धोखा और छलावा देने का साधन मात्र है, मजदूरों के नेताओं को पूंजीपति पदों का प्रलोभन देकर पथभ्रष्ट कर देते हैं। पदारूढ़ होकर तथा सत्ता के मद का मजा चख लेने पर श्रमिक नेताओं में क्रान्तिकारी भावनाओं की समाप्ति हो जाती है। वे समाजवाद के उद्देश्य को भूल जाते हैं।

व्यक्तिवादी भी समष्टिवाद पर अनेक निराधार आक्षेप करते हैं: **पहला** आक्षेप भ्रष्टाचार की वृद्धि का है। यह कहा जाना कि समष्टिवाद में राज्य का कार्यक्षेत्र बढ़ जाने से सरकारी कर्मचारियों के लिए भ्रष्टाचार और पक्षपात करने की सम्भावनाएँ बढ़ जाएँगी, नौकरियों में अपने सम्बन्धियों को रखने की स्वाभाविक प्रवृत्ति से भाई-भतीजावाद (Nepotism) को पनपने का अधिक अवसर मिलेगा, क्योंकि इस व्यवस्था

करने के लिए 'उपहार-कर कानून' बनाया गया है। इसके अनुसार पाँच हजार तक के उपहार पर ४%, अगले १५ हजार तक ८%, अगले २५ हजार तक १५%, अगले १ लाख तक २५%, अगले २ लाख तक ४०% तथा इससे अधिक के उपहारों पर ५०% कर लगाया गया है। व्यय कानून (Expenditure Tax) का उद्देश्य धनियों के अपव्यय को रोकना है, ३६ से ४८ हजार तक के व्यय पर ५%, ४८ से ६० हजार तक ७·५%, ६० से ७२ हजार तक १०%, ७२ से ८४ हजार तक १५% तथा इससे अधिक व्यय पर २०% कर लिया जाता है। सम्पत्ति कानून (Wealth) एक लाख से अधिक मूल्य की सम्पत्ति रखने वालों से प्रतिवर्ष लिया जाने वाला कर है। इन करों के नवीनतम संक्षिप्त परिचय के लिए देखिए, हिन्दुस्तान यीअर बुक, १९७५।

में सरकारी कर्मचारियों की संख्या बढ़ेगी, नौकरशाही (Bureaucracy) की प्रभुता बढ़ेगी, नवीन नियुक्तियाँ करने तथा ठेके देने के बहुत अधिक अधिकार इनके हाथ में होंगे, इन्हें रिश्वत लेकर पक्षपात करने के बहुत अवसर मिलेंगे। किन्तु समष्टिवादी इस आक्षेप का बहुत ही सुन्दर समाधान करते हैं, उनका कहना है कि भ्रष्टाचार को जन्म देने वाले व्यापारी और उद्योगपति होते हैं, वे अपने अनुचित कार्यों को भी जल्दी कराने के लिए सरकारी कर्मचारियों के लिए अपनी थैलियों के मुँह खोल देते हैं, सरकारी कर्मचारियों को रिश्वत लेना और भ्रष्टाचार करना सिखाते हैं। समष्टिवाद इनका अन्त करने के लिए कटिबद्ध है, यदि इनकी समाप्ति हो जाती है तो भ्रष्टाचार स्वयमेव समाप्त हो जाएगा; 'न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी'। **दूसरा** आक्षेप समष्टिवादी व्यवस्था में वैयक्तिक पुरुषार्थ के लिए आवश्यक प्रोत्साहन और प्रलोभन (Incentive) का अभाव है। यह कहा जाता है कि इस समय व्यक्ति अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए प्रबल प्रयत्न करते हैं, धन की लालसा उन्हें कठोर श्रम करने के लिए प्रेरित करती है। किन्तु समष्टिवाद में जब धनियों की आय पर भारी कर लगाकर उनसे अधिकांश आय छीन ली जाएगी तो उनमें अधिक अच्छा और कठोर परिश्रम करने की भावना को प्रेरित करने वाला तत्व नष्ट हो जाएगा। समष्टिवादी का यह कहना है कि मनुष्य केवल पैसे के प्रलोभन से ही अधिक काम नहीं करता है, यह उसे उत्कृष्ट कार्य करने की प्रेरणा देने वाला एक निकृष्ट प्रलोभन और साधन है; यश की कामना, रहन-सहन ऊँचा रखने की इच्छा, पुरस्कार की लालसा, अपने कार्य से स्वाभाविक प्रीति पुरुषार्थ करने के प्रबल प्रेरक कारण हैं (देखिए ऊपर पृ० ४२०-२१)। **तीसरा** आक्षेप व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का ह्रास है, राज्य के अत्यधिक हस्तक्षेप से व्यक्तियों का जीवन मशीन के पुर्जों की भाँति नीरस एवं निर्जीव होगा, उनकी अपनी इच्छा समाप्त हो जाएगी, वे अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्य करने को बाधित होंगे। किन्तु इस आक्षेप के उत्तर में यह कहा जाता है कि राज्य के कार्यों में तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता में कोई मौलिक विरोध नहीं है, अपितु पूँजीवाद की अपेक्षा समष्टिवाद में व्यक्ति अधिक स्वतन्त्रता का उपभोग करेगा। इस समय व्यक्ति निर्धनता से इतना अधिक पीड़ित और पददलित है कि वह अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग नहीं कर सकता है। समष्टिवादी उसे आर्थिक समस्याओं और चिन्ताओं से मुक्त करके ऐसे वातावरण की सृष्टि करना चाहता है कि जिसमें वह अपनी राजनीतिक और सामाजिक स्वतन्त्रता का अधिक उपभोग कर सकेगा। **चौथा** आक्षेप केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति का बढ़ना तथा इसके दुष्परिणामों का उत्पन्न होना है। राज्य द्वारा अधिक कार्यों के किए जाने का स्वाभाविक परिणाम राज्य को अधिकाधिक शक्ति प्रदान करना और उसे ही सब प्रवृत्तियों का केन्द्र बनाना है। केन्द्रीकरण में वृद्धि के साथ-साथ स्थानीय संस्थाओं और समस्याओं की ओर राज्य का ध्यान कम जाएगा, जनता को तथा स्थानीय संस्थाओं को कार्य करने के कम अवसर प्राप्त होंगे। इस प्रकार वे उस महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रशिक्षण से वंचित हो जाएँगे जो उन्हें स्थानीय संस्थाओं में विभिन्न कार्य करने से प्राप्त होता था। यह केन्द्रीकरण एक नए प्रकार के पूँजीवाद को जन्म देगा, इससे अक्षमता बढ़ेगी, उत्पादन की मात्रा कम हो जाएगी। किन्तु समष्टिवादी यह समझता है कि केन्द्रीकरण

के दोषों का समुचित प्रतिकार करना सम्भव है, केन्द्रीकरण होने पर भी यदि समष्टि-वादी व्यवस्था से साधारण जनता की दशा में सुधार हो सके तो यह वांछनीय है। **पांचवाँ** आक्षेप यह है कि करों की उपर्युक्त व्यवस्था (पृ० ४२३) के कारण लोग धन को बचाना बेकार समझने लगेंगे, यह बचत न होने से पूँजी एकत्र न होगी, औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक पूँजी उपलब्ध न हो सकेगी। किन्तु समष्टिवादी इस आक्षेप का समाधान करते हुए यह कहते हैं कि राज्य द्वारा अधिकांश उद्योगों का संचालन करने से उसे इन उद्योगों का मुनाफा प्राप्त होगा, इसे राज्य पूँजी के रूप में सुरक्षित रखेगा, इनसे वर्तमान उद्योगों का विस्तार तथा नवीन उद्योगों की स्थापना होगी।

आजकल लगभग सभी पूँजीवादी देशों ने समष्टिवाद के सिद्धान्त स्वीकार कर लिए हैं। सं० रा० अमेरिका जैसे साम्यवाद के कट्टर विरोधी देशों में इसके मौलिक तत्वों को कानूनी रूप दिया जा चुका है। १९३३ में अपनी नवीन आर्थिक नीति (New Deal) द्वारा रूज़वेल्ट ने मजदूरों के काम के घण्टों का, मजदूरी की दरों का, मूल्यों का, व्यक्तियों द्वारा बैंकों में जमा की गई धनराशियों की सुरक्षा का तथा उत्पादन का नियन्त्रण करने वाले कानून बनाए।[1] प्रथम विश्वयुद्ध के बाद बनाए गए विभिन्न देशों के संविधानों में समष्टिवाद के मौलिक सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए राज्य की आर्थिक विषमता दूर करने, सामाजिक न्याय और सुरक्षा स्थापित करने, बेकारी, बीमारी, बुढ़ापे आदि के संकटों के प्रतिकार के लिए सम्पत्ति के केन्द्रीकरण को रोकने, श्रमिकों और साधारण जनता के कल्याण के आदर्श को क्रियात्मक बनाने तथा कल्याणकारी राज्य (Welfare State) बनाने की व्यवस्थाएँ अधिकाधिक मात्रा में स्वीकार की गई हैं।

फेबियनवाद
(Fabianism)

नामकरण का कारण—इंगलैण्ड में समाजवादी विचारधारा का विकास फेबियनवाद के रूप में हुआ। फेबियन सोसायटी द्वारा प्रचारित किए जाने वाले सिद्धान्तों को फेबियनवाद का नाम दिया जाता है। इस सोसायटी की स्थापना लन्दन में ४ जनवरी १८८४ को हुई थी। इसकी स्थापना का उद्देश्य "सब लोगों को कल्याण एवं सुख प्रदान करने के लिए समाज का पुनर्निर्माण" करना था। इसका नामकरण रोम के एक प्राचीन सेनापति क्विण्टस फेबियस मैक्सिमस (मृत्युकाल २०३ ई० पू०) द्वारा बरती गई मन्दगामी रणनीति के आधार पर किया गया है। उस समय रोम पर कार्थेज के सुप्रसिद्ध सेनानी हन्नीबाल ने आक्रमण किया था। फेबियस ने इसे हराने के लिए एक विशेष नीति का अवलम्बन किया था, यह उससे रणक्षेत्र में सीधी लड़ाई करने से बचे रहने की तथा शत्रु की सेना को रसद एवं कुमुक पहुँचाने वाले मार्गों को काटकर उसकी शक्ति क्षीण करने की नीति थी। इस प्रकार शत्रु के साथ सीधी लड़ाई छेड़ने में देर लगाने के कारण उसे कंकटेटर (Cunctator) या विलम्बकर्त्ता भी कहा

---

१. कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० ५५५

जाता था। यह सोसायटी समाज में एकदम क्रान्ति करने के स्थान पर फेबियस की शनैः-शनैः कार्य करने वाली पद्धति को आदर्श समझती थी। अतः इसने 'फेबियन सोसायटी' का नाम धारण किया और अपने लिए निम्नलिखित वाक्यों को आदर्श बनाया—"आपको उचित समय के लिए वैसे ही प्रतीक्षा करनी चाहिए जैसी प्रतीक्षा फेबियस ने हन्नीबाल के साथ लड़ाई करते हुए की थी, यद्यपि उस समय अनेक व्यक्तियों ने उसके विलम्बों के लिए उसकी निन्दा की थी। उपयुक्त समय आने पर आपको फेबियस की भाँति कठोर प्रहार करना चाहिए, अन्यथा आपकी प्रतीक्षा निरर्थक और निष्फल होगी।"[1] इस नीति का अनुसरण करते हुए फेबियन सोसायटी ने समाज में शनैः-शनैः सुधार करके समाजवाद को लाने पर बल दिया।

फेबियन सोसायटी के संस्थापकों तथा आरम्भिक सदस्यों में तत्कालीन ब्रिटिश समाज के अत्यन्त प्रतिभाशाली तथा बाद में विभिन्न क्षेत्रों में अद्भुत कीर्ति कमाने वाले होनहार युवक सम्मिलित थे। इनमें विश्व-विख्यात नाटककार जार्ज बर्नार्ड शॉ, सुप्रसिद्ध साहित्यिक एच० जी० वैल्स, सिडनी वैब, सिडनी ओलिवियर, ग्राहम वालास, एनी बीसेण्ट, एडवर्ड पीज़, बीट्रिस पीटर वैब, रैम्ज़े मैकडानल्ड, पेथिक लारेन्स, केयर हार्डी तथा जी० डी० एच० कोल थे। शॉ १८८४ से १९११ तक इसकी कार्यकारिणी का सदस्य तथा कई वर्षों तक इसके 'श्रम अनुसन्धान विभाग' का अध्यक्ष रहा। उसने समाजवाद पर अनेक लेख और पुस्तिकाएँ लिखीं और जब उसे यह विश्वास हो गया कि वह अपने आर्थिक लेखों के स्थान पर नाटकों द्वारा समाजवाद का अधिक प्रचार कर सकता है तो उसने इन्हें लिखना आरम्भ किया। अन्य व्यक्ति भले ही शॉ के नाटकों को महत्वपूर्ण समझें, किन्तु उसने ७० वर्ष की आयु में यह घोषणा की थी कि उसे अपनी साहित्यिक कृतियों की अपेक्षा समाजवाद की आस्था पर अधिक गर्व है। फेबियन सिद्धान्तों के विकास में वैब दम्पति का नाम उल्लेखनीय है, ये दोनों विभिन्न सामाजिक स्तरों से सम्बन्ध रखते थे, किन्तु समाजवाद के प्रति निष्ठा के कारण ये इस सोसायटी के सदस्य बने, परिणयसूत्र में आबद्ध हुए और दोनों मृत्युपर्यन्त संयुक्त रूप से समाजवाद से सम्बद्ध विषयों पर अनुसन्धान करके नवीन कृतियों का सृजन करते रहे। इस प्रसंग में इस दम्पति का परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है।

सिडनी तथा बीट्रिस वैब—सिडनी वैब ने १८५९ में निम्न मध्यम वर्ग में जन्म लिया, सम्पन्न न होने पर भी उसके माता-पिता ने उसे शिक्षा पाने के लिए स्विट्ज़रलैण्ड तथा जर्मनी भेजा। बाद में उसने अपनी शिक्षा लन्दन विश्वविद्यालय में पूर्ण की। इस प्रकार ग्रीन आदि की भाँति उसका सम्बन्ध ऑक्सफोर्ड तथा कैम्ब्रिज के पुराने विश्वविद्यालयों से नहीं था, वह प्राचीन रूढ़ियों और विचारों से स्वतन्त्र था। १९ वर्ष की आयु में उसने सिविल सर्विस में प्रवेश किया (१८७८), १८८१ में वह लन्दन की कौण्टी कौन्सिल का सदस्य चुना गया और १८ वर्ष तक इसके कार्यों में उत्साहपूर्ण भाग लेता रहा। १८९१ में उसने सरकारी नौकरी छोड़ दी, वह फेबियन

१. कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० १०२

सोसायटी के समाज-सुधार के तथा लेखन के कार्य में लग गया। १८९२ में उसने बीट्रिस पीटर नामक युवती से विवाह किया। यह इंगलैण्ड के उत्तर में निवास करने वाले, खेती छोड़कर उद्योग-धन्धे अपनाने वाले एक अत्यन्त समृद्ध कुल में उत्पन्न हुई थी, इसका पिता रिचर्ड पीटर कुछ समय ग्रेट ब्रिटेन की ग्रेट वैस्टर्न रेलवे कम्पनी का अध्यक्ष था, सारी दुनिया में उसका व्यवसाय फैला हुआ था। बीट्रिस ने घर में ही शिक्षा ग्रहण की। उसके पिता का परिचय इंगलैण्ड के सभी प्रमुख व्यक्तियों से था, अतः बीट्रिस को इन सबसे लाभ उठाने का अवसर मिला। उसे आरम्भ से बौद्धिक विषयों में, सामाजिक तथा औद्योगिक अनुसन्धान में विशेष अनुराग था। लन्दन की निर्धन जनता की परिस्थितियों के बारे में चार्ल्स बूथ द्वारा किए गए सामाजिक अनुसन्धान में उसने बहुत कार्य किया। इसके बाद सिडनी के साथ विवाह होने के बाद उसे अपनी पत्नी की सम्पत्ति से इतनी आय होने लगी कि पति-पत्नी आजीवन निश्चिन्त होकर अध्ययन, लेखन और प्रचार-कार्य में लगे रहे। दोनों ने मिलकर बीस से अधिक ग्रन्थ लिखे हैं। सिडनी वैब ने लन्दन स्कूल ऑफ इक्नामिक्स (London School of Economics) की स्थापना में बहुत भाग लिया, वह १९०२ से १९१९ तक यहाँ सार्वजनिक प्रशासन के विषय का प्रोफेसर रहा, १९२२ में पार्लियामैण्ट का सदस्य बना, १९२४ तथा २९ के मजदूर मन्त्रिमण्डलों का सदस्य बना, १९२९ में उसने रैम्जे मैकडानल्ड के आग्रह से लार्डसभा में मजदूर दल की स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिए लार्ड पैसफील्ड की पदवी स्वीकार की। अपनी पत्नी की मृत्यु के चार वर्ष बाद १९४७ में सिडनी वैब का देहावसान हुआ।

फेबियन सोसायटी का उद्देश्य और आदर्श—ग्रेट ब्रिटेन में समाजवाद की प्रचारक इस संस्था का प्रादुर्भाव बड़े विलक्षण ढंग से हुआ। एबर्डीन निवासी एक विद्वान् तथा पर्यटक प्रचारक थामस डेविडसन (१८४०–१९००) "इस संसार की दुष्टतापूर्ण प्रवृत्तियों से क्षुब्ध होकर उत्कृष्ट कोटि के सज्जन पुरुषों का एक समाज" बनाना चाहता था। १८८३ में उसने लन्दन में 'नव-जीवन समाज' (Fellowship of the New Life) नामक विषय पर व्याख्यान देकर एक ऐसे संगठन की स्थापना की कि जिसका उद्देश्य "उच्चतम नैतिक सम्भावनाओं के अनुसार समाज का पुनर्निर्माण करना था।"[1] यही 'नव-जीवन समाज' था, इसका लक्ष्य "प्रत्येक व्यक्ति में आदर्श चरित्र का विकास करना था।" इस समाज के कुछ सदस्य इस पारलौकिक आदर्श के साथ-साथ इस संसार की समस्याओं के समाधान तथा ऐहिक कल्याण के लिए भी उत्सुक थे। उन्होंने जॉन स्टुअर्ट मिल के तथा हेनरी जार्ज के विचारों से प्रेरणा ग्रहण करते हुए फेबियस की मन्दगामी नीति के अनुसार समाज का सुधार करने के लिए फेबियन सोसायटी की स्थापना की। इसका उद्देश्य इंगलैण्ड में, विशेषतः शिक्षित मध्यम वर्ग में समाजवादी सिद्धान्तों का प्रचार करना तथा ब्रिटिश सरकार और स्थानीय संस्थाओं को इस बात के लिए प्रेरित करना था कि वे इन सिद्धान्तों को शनैः-शनैः व्यावहारिक रूप प्रदान करें।

---

१. ग्रे—दी सोशलिस्ट ट्रेडीशन, पृ० ३०७

फेबियनों के नाम से प्रसिद्ध इस सोसायटी के सदस्यों ने आरम्भ में जो शपथ ली थी, वह इनके उद्देश्यों पर सुन्दर प्रकाश डालती है[1]—"इस सोसायटी के सदस्य यह घोषणा करते हैं कि (पूँजीवाद की) प्रतियोगिता पद्धति (Competitive System) में बहुसंख्या को पीड़ा पहुँचाकर इने-गिने व्यक्तियों के लिए सुख-सुविधा की सुनिश्चित व्यवस्था की जाती है, किन्तु हमारे समाज का पुनर्निर्माण इस ढंग से होना चाहिए कि (साधारण जनता को) निश्चित रूप से सामान्य कल्याण और सुख की प्राप्ति हो सके।" कुछ समय बाद सितम्बर १८८४ में इस सोसायटी ने बर्नार्ड शॉ द्वारा तैयार किए गए अपने उद्देश्यों के एक घोषणा-पत्र को स्वीकार किया। इसमें उपर्युक्त प्रतिज्ञा की अपेक्षा अधिक स्पष्ट शब्दों में समाजवाद को स्वीकार करते हुए यह कहा गया था किसी-न-किसी रूप में 'भूमि' का राष्ट्रीयकरण करके इसे राष्ट्र की सम्पत्ति बना दिया जाना चाहिए तथा राज्य को उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में (निजी उद्योगों के साथ) प्रतिद्वन्द्विता करनी चाहिए।

आरम्भ में इस सोसायटी ने अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए कोई स्वतन्त्र दल न बनाकर, सभी दलों में अपने सिद्धान्तों के प्रचार से सर्वत्र प्रसार और प्रवेश (Permeation) की नीति को अपनाया। इसके सदस्य उस समय के राजनीतिक दलों—विशेषतः उदार दल में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने लगे, राजनीतिक दलों के चुनाव आन्दोलनों में भाग लेने लगे, इन्होंने स्वतन्त्र मजदूर दल (Independent Labour Party) तथा मजदूर दल की स्थापना और विकास में सहयोग दिया। इसके सदस्यों ने व्याख्यानों, पुस्तकों, पुस्तिकाओं, ट्रैक्टों आदि से अपने सिद्धान्तों का प्रबल प्रचार किया। १८८८-८९ में इन्होंने ७०० व्याख्यान दिए; इसी प्रकार शॉ, वैब और एनी बीसेण्ट जैसे व्यक्तियों ने इस सोसायटी के लिए सैकड़ों निबन्ध और अनेक पुस्तिकाएँ लिखीं। १९०६ में इस सोसायटी ने अपने सिद्धान्तों के प्रसार के लिए एक ग्रीष्मकालीन विद्यालय चलाया, १९१२ में एक अनुसन्धान विभाग (Fabian Research Department) खोला। इसके सदस्यों ने अपने लेखों और व्याख्यानों में इस बात को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया कि समाजवाद नैतिक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से किस प्रकार न्यायोचित है और किस प्रकार पार्लियामैण्ट के कानूनों तथा प्रशासन के विभिन्न कार्यों से समाजवाद को शनैः-शनैः लाया जा सकता है। शॉ के शब्दों में, "फेबियन इस बात पर सहमत हो गए कि वे क्रान्तिकारी कार्यों के आनन्द को छोड़ दें और सामान्य संसदीय पद्धति से क्रियात्मक सुधारों का कठिन कार्य करें।" कोल के मत में उनका विश्वास था कि समाजवाद की प्रगति क्रान्ति द्वारा राज्य की सत्ता हस्तगत करके ही नहीं प्राप्त की जा सकती, अपितु इसका वास्तविक उपाय जनता को इस बात का बौद्धिक विश्वास करा देना है कि नैतिक भावना से प्रेरित होकर सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए समाजवाद को लाना आवश्यक है। बलपूर्वक कार्य करने की अपेक्षा बुद्धिपूर्वक कार्य करने से समाजवाद अधिक स्थायी एवं सुदृढ़ रूप से प्रतिष्ठित होगा। फेबियनों द्वारा प्रतिपादित समाजवाद के प्रमुख सिद्धान्त अग्रलिखित थे :

१. कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० १०२

प्रमुख सिद्धान्त—(क) परिवर्तन सम्बन्धी मन्तव्य—क्रमिक विकास की शनैश्चर नीति—मार्क्स और लेनिन समाजवाद को लाने के लिए क्रान्ति की अनिवार्यता में अटूट विश्वास रखते थे, फेबियन इतनी ही अधिक आस्था शान्तिपूर्ण साधनों में और समाज में शनैः-शनैः परिवर्तन करने में रखते हैं। खरगोश और कछुए की सुप्रसिद्ध कथा में श्रेष्ठ बताई गई धीरे-धीरे आगे बढ़ने वाली **कच्छप नीति** में उनका दृढ़ विश्वास है। उनके नाम से ही यह स्पष्ट है कि उत्पादन के साधनों पर समाज के स्वामित्व को वे वैध और शान्तिपूर्ण उपायों से शनैः-शनैः लोगों की सहमति प्राप्त करके पाना चाहते हैं। क्रान्ति द्वारा लोगों पर समाजवाद को बलपूर्वक लागू करने के स्थान पर इसे शान्तिपूर्वक लाना चाहिए, इसकी ओर 'एक-एक कदम' उठाते हुए बढ़ना चाहिए। शॉ के मतानुसार अन्य समाजवादी दलों की अपेक्षा फेबियन सोसायटी की एक बड़ी विशेषता "वैध उपायों से समाजवाद की ओर आगे बढ़ना है।" सिडनी वैब ने अपने लेखों में क्रमिकता की अनिवार्यता (Inevitability of Gradualness) पर बहुत बल दिया है और यह कहा है कि समाज में परिवर्तन लाने के लिए चार बातों का अवश्य पालन किया जाना चाहिए—(अ) यह परिवर्तन लोकतन्त्रीय रीति से अर्थात् अधिकांश लोगों की सहमति से होना चाहिए। (आ) यह शनैः-शनै क्रमिक रूप से होना चाहिए। (इ) अधिकांश जनता द्वारा इसे अनैतिक नहीं समझा जाना चाहिए। (ई) यह परिवर्तन कम-से-कम इंगलैण्ड में वैध एवं शान्तिपूर्ण उपायों से होना चाहिए।[1]

फेबियन क्रमिकवाद की दो विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं : **पहली** विशेषता तो यह है कि इसके मतानुसार आदर्श समाजवाद का कोई निश्चित रूप नहीं है, समाजवाद की ओर प्रगति एक निरन्तर जारी रहने वाली प्रक्रिया है, उसकी कोई ऐसी सीमा नहीं है जहाँ पहुँचकर यह समाप्त हो जाती है। इसने शनैः-शनैः शाश्वत रूप से बढ़ते जाना है, कहीं रुकना नहीं है। **दूसरी** विशेषता यह है कि समाजवाद को लाने के प्रयत्न केवल समाजवादियों द्वारा नहीं किए जाते, अपितु व्यावहारिक बुद्धि रखने वाले राजनीतिज्ञ समाजवादी न होते हुए भी राज्य के हस्तक्षेप और नियन्त्रण के क्षेत्र को बढ़ाकर समाजवादी समाज के निर्माण में सहायक होते हैं।[2]

(ख) भूमि और पूँजी पर समाज का स्वामित्व—मूल्यविषयक सिद्धान्त—फेबियन वर्तमान आर्थिक विषमता दूर करने के लिए भूमि तथा औद्योगिक पूँजी को पूँजीपतियों के वैयक्तिक प्रभुत्व से मुक्त करके उसे समाज के नियन्त्रण और स्वामित्व में इसलिए लाना चाहते हैं कि इन दोनों से प्राप्त होने वाले लाभों का उपभोग सभी लोग समान रूप से कर सकें। भूमि और औद्योगिक पूँजी पर समाज के स्वामित्व का समर्थन फेबियन अपने मूल्यविषयक सिद्धान्त के आधार पर करते हैं।[3] वे मूल्य का आधार मार्क्स की भाँति श्रम को नहीं मानते हैं (पृ० ३४७), उनके मतानुसार

---

१. फेबियन एसेज़, पृ० ३२

२. ग्रे—दी सोशलिस्ट ट्रेडीशन, पृ० २

३. कोकर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १०४

मूल्य का मूल कारण समाज है, समाज वस्तुओं के मूल्य को उत्पन्न करता और बढ़ाता है। इनके सिद्धान्त पर रिकार्डो के लगान के सिद्धान्त का तथा जार्ज के एकल कर (Single Tax) के सिद्धान्त का गहरा प्रभाव पड़ा है। रिकार्डो का यह सिद्धान्त है कि सब भूमियाँ एक जैसी उपजाऊ नहीं होती हैं, कुछ भूमियाँ अधिक उपज वाली और कुछ कम उपज वाली होती हैं। कम उपजाऊ भूमि की उपज के आधार पर ही लगान निश्चित होता है, यदि ऐसा न हो तो इस भूमि पर खेती बन्द हो जाए। सबसे कम उपज वाली भूमि को सीमान्त भूमि (Marginal Land) कहते हैं। इसकी अपेक्षा अधिक उपजाऊ भूमियों पर जो अधिक उत्पादन होता है वही आर्थिक लगान (Rent) होता है। उदाहरणार्थ 'क', 'ख', 'ग', 'घ' नामक चार प्रकार की विभिन्न उर्वरा-शक्ति रखने वाली भूमियों से क्रमश: ४०० रु०, ३०० रु०, २०० रु० तथा १०० रु० आय होती है। १०० रु० की आय वाली 'घ' नामक भूमि सीमान्त भूमि है। इससे शेष तीनों 'क', 'ख', 'ग' भूमियों का लगान क्रमश: ३०० रु०, २०० रु० तथा १०० रु० निश्चित होगा। यही रिकार्डो के मतानुसार आर्थिक लगान (Economic Rent) है।

रिकार्डो इस लगान को जमींदार की अपने श्रम से न कमायी जाने वाली **अनुपार्जित आय** (Unearned Income) समझता है, क्योंकि यह उसे बिना किसी श्रम के मिलती है, उसने भूमि की उर्वरा-शक्ति बढ़ाने में कोई भाग नहीं लिया है। जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ, अन्न की माँग बढ़ने से किसान कम पैदावार करने वाली जमीनों पर खेती करने लगता है, इसका स्वाभाविक परिणाम लगान में वृद्धि होती है। अतः जमींदार को अधिक मात्रा में लगान मिलने का श्रेय उसके प्रयत्न या पुरुषार्थ को नहीं है, अपितु समाज में होने वाली जनसंख्या की वृद्धि को है। इसलिए फेबियन लोगों का मत है कि मूल्य की उत्पत्ति श्रम से नहीं, अपितु समाज की विभिन्न परिस्थितियों से होती है, इसका लाभ पूँजीपति की जेब में न जाकर, समाज को मिलना चाहिए; यह तभी हो सकता है जब भूमि पर समाज का स्वामित्व स्थापित करके उसका राष्ट्रीयकरण कर दिया जाए।

समाज द्वारा भूमि का मूल्य उत्पन्न करने तथा बढ़ाने के अनेक प्रसिद्ध उदाहरण दिए जाते हैं। यदि किसी भूमि के पास से सड़क निकल जाती है, कारखाना बन जाता है, तो उस भूमि का मूल्य कई गुना अधिक बढ़ जाता है। जो भूमि पहले एक रुपया प्रति वर्ग फुट के हिसाब से बिकती थी, वही अब चार-पाँच रुपये प्रति वर्ग फुट के हिसाब से बिकने लगती है। भूमि का मूल्य उसकी स्थिति (site) पर निर्भर होता है। नगर के मध्य या बाजार के बीच में स्थित जमीन के टुकड़ों का मूल्य नगर के बाहर के टुकड़ों की अपेक्षा कई गुना अधिक होता है। इस मूल्य-वृद्धि का कारण इन टुकड़ों की स्थिति है, न कि मालिक का श्रम। नगर के बीच के टुकड़े समाज की दृष्टि से अधिक उपयोगी समझे जाते हैं, अतः सामाजिक उपयोगिता (Social Utility) के कारण इनके मूल्य बढ़ जाते हैं। इनमें इनके स्वामियों का कोई पुरुषार्थ या परिश्रम न होने के कारण वे इनकी मूल्य-वृद्धि से होने वाले लाभ को **अनुपार्जित आय** (Unearned Income) के रूप में प्राप्त करते हैं। फेबियन विचारधारा के

अनुसार यह आय सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम है, अतः इसका लाभ समाज को ही मिलना चाहिए।

फेबियनों की यह विशेषता है कि उन्होंने सामाजिक कारणों से होने वाली मूल्य-वृद्धि के सिद्धान्त को भूमि तक सीमित न रखते हुए उसे औद्योगिक पूँजी के क्षेत्र में भी लागू किया। उन्होंने इस बात को भली-भाँति प्रदर्शित किया कि व्यापार में तथा उद्योग में अनियन्त्रित प्रतिस्पर्द्धा की पद्धति में पूँजीपति अपनी पूँजी पर जो लाभ प्राप्त करते हैं वे उसके परिश्रम तथा योग्यता से बहुत अधिक होते हैं, वे व्यवसाय की विशेष स्थिति, जनसंख्या में वृद्धि, जनता की समृद्धि बढ़ने, युद्ध छिड़ने आदि विशेष परिस्थितियों का परिणाम होते हैं। शॉ ने लिखा है कि फेबियन हेनरी जार्ज के ऋणी हैं, किन्तु उन्होंने जार्ज की भूमि-कर तक सीमित युक्तियों का क्षेत्र विस्तृत करते हुए इनके आधार पर समस्त औद्योगिक क्षेत्र के पुनर्निर्माण पर बल दिया है।[1]

इस प्रकार फेबियनों के समाजवाद का लक्ष्य समाज के सभी सदस्यों को उन मूल्यों का लाभ पहुँचाना है जिनका निर्माण समाज द्वारा होता है। इस लक्ष्य की पूर्ति शनैः-शनैः भूमि पर तथा औद्योगिक पूँजी पर समूचे समाज के तथा इसके प्रतिनिधि राज्य के स्वामित्व स्थापित करने से हो सकती है। इस प्रसंग में फेबियन लोगों द्वारा 'समूचे समाज' पर बल दिया जाना बड़ा महत्वपूर्ण है। इसका यह अर्थ है कि वे मार्क्सवादियों की भाँति केवल श्रमिक और सर्वहारा वर्ग को नहीं, अपितु पूरे समाज को, समाज के सभी वर्गों को उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व देना चाहते हैं।[2]

(ग) राज्यविषयक सिद्धान्त—राज्य के कार्यों में वृद्धि से समाजवाद की स्थापना—मार्क्सवादी राज्य को पूँजीपति आदि विशेष वर्गों द्वारा श्रमिक वर्ग के उत्पीड़न का साधन समझते हैं (ऊपर पृ० ३५६)। किन्तु फेबियन लोकतन्त्रीय राज्य को "जनता का प्रतिनिधि और उनके हितों की पूरी देखभाल करने वाला ट्रस्टी (Trustee)" समझते हैं। यह उनका संरक्षक, उनकी ओर से व्यवसाय करने वाला, उनका प्रबन्धक, उनका सचिव तथा उनकी पूँजी को लगाने वाला है। राज्य इन सब कार्यों को बड़ी योग्यतापूर्वक और विश्वसनीय रीति से संचालित कर सकता है, अतः उसके कार्यों में निरन्तर विस्तार होना चाहिए। इन कार्यों के लिए राज्य को अधिक सक्षम और सशक्त बनाना चाहिए, इसके लिए कई बातें आवश्यक हैं : मताधिकार का विस्तार हो, शासन करने वाले कर्मचारी अधिक योग्य हों, सबको शिक्षा की समान सुविधाएँ प्राप्त हों। इन सुधारों के अतिरिक्त राज्य के शासनयन्त्र में अन्य किसी मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। यदि एक लोकतन्त्रीय राज्य के नागरिक अपनी वर्तमान शक्तियों का अच्छी तरह से उपयोग करेंगे तो वे केन्द्रीय और स्थानीय सरकारों की सहायता से शनैः-शनैः भूमि से तथा औद्योगिक पूँजी से होने

---

१. कोकर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १०४; हेनरी जार्ज के विचारों के लिए देखिए कोकर की पुस्तक, पृ० ९३-९४

२. कोकर— पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १०५

वाले सभी लाभ सम्पूर्ण समाज को प्रदान करने में समर्थ होंगे। फेबियन राज्य के कार्यों में क्रमशः वृद्धि को समाजवाद को लाने का प्रधान साधन समझते हैं। राज्य यह कार्य कम्पनियों पर नियन्त्रण और स्वामित्व स्थापित करके बड़ी सुगमता से कर सकता है। सिडनी वैब ने यह प्रदर्शित किया कि सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों (Joint Stock Companies) के विकास से समाजवाद की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हो रहा है। इस समय इंगलैण्ड में एक-तिहाई से अधिक व्यवसाय ये कम्पनियाँ कार्य कर रही हैं, इनके हिस्से शेयर-बाजार में प्रतिदिन बिकते रहते हैं, यदि राज्य इन कम्पनियों के हिस्से खरीद ले तो इनके व्यापार पर उसका स्वामित्व बड़ी सुविधापूर्वक स्थापित हो जाएगा। यह समाजवाद को लाने की बड़ी सुगम विधि है। श्रीमती बीसेण्ट ने कहा था कि पूँजीपति अचेतन रूप से पूँजीवाद की समाप्ति का मार्ग प्रशस्त बना रहे हैं। जब कई पूँजीपति किसी वस्तु के उत्पादन पर एकाधिकार स्थापित करने के लिए अपने एक संघ (Trust) का निर्माण करते हैं तो इस संघ पर अधिकार करके इस पर राज्य का स्वामित्व स्थापित करना आसान हो जाता है। कुछ फेबियन तो राज्य के प्रत्येक कार्य को, यहाँ तक कि फेरी करके सामान बेचने वालों को अनुमति देने (Hawker's License) तक को भी समाजवाद की दिशा में उठाया जाने वाला कदम समझते हैं।

(घ) **स्थानीय संस्थाओं के कार्यों में वृद्धि से समाजवाद का प्रसार**—राज्य के कार्यों में अत्यधिक वृद्धि होने से केन्द्रीकरण (Centralisation) के दुष्परिणाम उत्पन्न होने की आशंका है। इससे काम कम हो जाएगा, क्षमता घट जाएगी, निर्णय होने में तथा इसके कार्यरूप में परिणत होने में बहुत विलम्ब हो जाएगा। इसके अतिरिक्त यह सम्भव भी नहीं है कि लन्दन या दिल्ली में बैठी सरकार प्रान्तों के तथा जिलों के सभी कार्यों को करती रहे। इसके दुष्परिणामों को रोकने के लिए फेबियन कहते हैं कि नगरपालिकाओं और जिला परिषदों (County Councils) को भी अधिकाधिक कार्य अपने हाथ में लेने चाहिएँ। इस समय नगरपालिकाएँ सफाई, प्राथमिक शिक्षा, चिकित्सा, सड़कें, प्रकाश, बिजली आदि प्रदान करने के अनेक कार्य करती हैं, इनमें वृद्धि करते हुए उन्हें अन्य भी अनेक कार्य दिए जा सकते हैं। कुछ समय तक फेबियन विचारकों ने नगरपालिकाओं के कार्य बढ़ाने पर इतना बल दिया कि फेबियनवाद को नगरपालिकाओं के कार्यों द्वारा स्थापित किए जाने वाले समाजवाद (Municipal Socialism) से अभिन्न समझा जाने लगा। आवश्यक वस्तुओं पर समाज का नियन्त्रण स्थापित करने के लिए फेबियन विचारकों की सबसे अधिक क्रियात्मक योजना चुनावों में नगरपालिकाओं पर अधिकार करना था। सिडनी वैब ने बिर्मिघम में जोसेफ चेम्बरलेन द्वारा प्रस्तुत किए गए उदाहरण का अनुसरण करते हुए स्थानीय संस्थाओं द्वारा किए जाने वाले सार्वजनिक कार्यों के असीम विस्तार की योजना प्रस्तुत की।

(ङ) **ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया लोकतन्त्र और समाजवाद की दिशा में अनिवार्य प्रगति को सूचित करती है**—फेबियन मार्क्सवादियों की भाँति अपने सिद्धान्तों को ऐतिहासिक और आर्थिक तथ्यों के आधार पर प्रतिष्ठित करते हैं। मार्क्स ने

इतिहास के अध्ययन से यह परिणाम निकाला था कि उसमें आरम्भ से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की प्रक्रिया के अनुसार वर्ग-संघर्ष चल रहा है और इसमें अन्तिम विजय निश्चित रूप से समाजवाद की होगी (पृ० ३२८), इतिहास की सभी घटनाओं का मूल प्रेरक कारण आर्थिक परिस्थितियाँ होती हैं। फेबियन विचारकों ने इतिहास के अध्ययन के आधार पर मार्क्स के सिद्धान्तों से सर्वथा भिन्न परिणाम निकाले। उनका यह मत था कि इतिहास में निरन्तर प्रगति हो रही है, यह प्रगति लोकतन्त्र और समाजवाद की दिशा में है। सिडनी वैब ने इतिहास के उदाहरणों से इस बात को भली-भाँति स्पष्ट किया है।[1] उसने इंगलैण्ड के इतिहास के आधार पर 'लोकतन्त्र की अदम्य प्रगति' को प्रदर्शित करते हुए बताया है कि १८३२ के सुधार कानून (Reform Act) से केवल कुलीन वर्ग तक सीमित मताधिकार मध्यम वर्ग को प्राप्त हुआ, १८६७ के तथा बाद के कानूनों ने इसे श्रमिक वर्ग को भी प्रदान करते हुए इंगलैण्ड को सच्चा लोकतन्त्र बनाया। इसी समय औद्योगिक क्षेत्र में होने वाले परिवर्तनों से समाजवाद की दिशा में अविच्छिन्न प्रगति होने लगी, 'कारखाना कानूनों' ने मजदूरों की दशा में सुधार किया, पुराने वैयक्तिक पूँजी से स्थापित किए जाने वाले उद्योगों के स्थान पर सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों (Joint Stock Companies) और संगठित उद्योगों (Corporate Enterprises) का विकास होने लगा, उद्योगों की व्यवस्था में पूँजीपतियों का पुराना वैयक्तिक तत्व और प्रभाव कम होने लगा। पहले कारखाने का मालिक और प्रबन्धक एक ही होता था, अब बड़े कारखाने सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों द्वारा चलाए जाते हैं, इनमें हिस्से खरीदने वाले एवं स्वामित्व रखने वाले तथा इनकी प्रबन्ध-व्यवस्था करने वाले व्यक्ति अलग-अलग होते हैं। अब प्रबन्ध और स्वामित्व की व्यवस्थाएँ अलग हो गई हैं। बड़े पैमाने पर व्यवसाय की पद्धति ने छोटे पैमाने पर व्यक्तिगत पुरुषार्थ करके व्यवसाय करने वालों को लगभग समाप्त कर दिया है। अनियन्त्रित पूँजीवाद ने पुराने आर्थिक व्यष्टिवाद की समाप्ति कर दी है। वर्तमान आर्थिक जगत् के सामने अब दो ही विकल्प रह गए हैं—पहला विकल्प बड़े पैमाने पर चलने वाले उद्योगों को समाप्त करके इनसे समाज को होने वाले लाभों से वंचित करना है, ये लाभ प्रतिस्पर्द्धा को बन्द करके अनावश्यक बरबादी को रोकना तथा वस्तुओं के लागत-मूल्य को घटाना है। दूसरा विकल्प इन उद्योगों पर सरकार का नियन्त्रण स्थापित करके इनके लाभ सारे समाज को पहुँचाना है। आधुनिक राज्य दूसरे विकल्प को ग्रहण करते हुए स्वयमेव समाजवाद की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इस प्रकार ऐतिहासिक प्रक्रिया द्वारा समाजवाद का आगमन तथा अवतरण एक अनिवार्य घटना है।

कार्यक्रम की नीति—उपर्युक्त सिद्धान्तों को क्रिया-रूप में परिणत करने के लिए, मजदूरों की आर्थिक दशा उन्नत करने के लिए तथा धनियों की अधिक सम्पत्ति और अनुपार्जित आय को कम करने की व्यवस्था करके वर्तमान औद्योगिक सभ्यता के लाभ सब वर्गों को समान रूप से पहुँचाने के लिए फेबियन विचारक निम्नलिखित

१. देखिए 'फेबियन एसेज इन सोशलिज्म' में वैब का लेख—समाजवाद का ऐतिहासिक आधार (दी हिस्टारिकल बेसिस आफ सोशलिज्म)।

उपायों का अविलम्ब अवलम्बन करने पर बल देते हैं—(१) **उद्योगविषयक सामाजिक कानून**—काम के घण्टे कम करने, बेकारी, बीमारी आदि के संकटों से परित्राण पाने, न्यूनतम मजदूरी देने, सफाई और सुरक्षा तथा शिक्षा की व्यवस्था करने वाले कानूनों का निर्माण किया जाए। (२) सार्वजनिक उपयोग की वस्तुओं से सम्बन्ध रखने वाले उद्योगों पर राज्य का अथवा नगरपालिकाओं का स्वामित्व स्थापित किया जाए। (३) उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाली विशाल सम्पत्तियों पर, भूमि से तथा उद्योगों में लगाई गई पूँजी से होने वाली अनुपार्जित आयों पर कर लगाया जाए। फेबियन लोगों ने पिछली दो बातों पर बहुत बल दिया है। उन्हीं के प्रभाव से इंगलैण्ड तथा स्काटलैण्ड में नगरपालिकाएँ सार्वजनिक उपयोगिता के अधिकाधिक कार्य करने लगी हैं। इंगलैण्ड में १९१० के बजट में भू-सम्पत्ति पर, पूँजी विनियोग से होने वाली आय पर, उपयोग में न लाई जाने वाली भूमि पर तथा उपयोग में आने वाली भूमि की अनुपार्जित मूल्य-वृद्धि पर विशेष कर लगाए गए थे।

फेबियनवाद की विशेषताएँ—उपर्युक्त विवरण से इसकी कई मौलिक विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। **पहली** विशेषता इसका मध्यमवर्गीय आन्दोलन होना है। ग्रे के शब्दों में, "यह केवल मध्यमवर्गीय लोगों का ही नहीं, अपितु अत्यधिक बुद्धिमान् एवं प्रतिभासम्पन्न लोगों का आन्दोलन है।" बर्नार्ड शॉ, एच० जी० वैल्स, सिडनी वैब जैसे दिग्गज विद्वान् इस आन्दोलन के प्रवर्त्तक और प्रचारक थे। ग्रे के शब्दों में लन्दन के बैठकखानों में कोरे बुद्धिवादियों (Highbrows) ने फेबियनवाद को जन्म दिया था।[1] आरम्भ में इसके समर्थकों में काफी बड़ी संख्या ब्रिटिश सिविल सर्विस में लगे हुए उन व्यक्तियों की थी जो प्रशासन में उत्कृष्टता और क्षमता लाने के प्रबल पोषक थे। मार्क्सवाद की भाँति यह श्रमिकों का अथवा उनमें लोकप्रिय होने वाला आन्दोलन नहीं था। इसकी **दूसरी** विशेषता यह थी कि यह आरम्भ में समाजवादी आन्दोलन नहीं था। पहले यह बताया जा चुका है कि थामस डेविडसन द्वारा समाज के पुनर्निर्माण, आध्यात्मिक उन्नति और नैतिक पुनरुत्थान के लिए स्थापित किए गए नव-जीवन समाज से फेबियन सोसायटी का जन्म हुआ था। किन्तु शनैः-शनैः जब इसने यह अनुभव किया कि समाज का पुनर्निर्माण केवल समाजवाद से ही सम्भव है तो फेबियन सोसायटी इस ओर आकृष्ट हुई। इसकी **तीसरी** विशेषता किसी विशेष राजनीतिक दल से सम्बद्ध न होना था। ये सभी दलों में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करके उन्हें अपने कार्यक्रम का भक्त और समर्थक बनाना चाहते थे। फेबिअन सोसायटी के सदस्य ब्रिटेन के प्रसिद्ध अनुदार तथा उदार दलों में घुसकर खमीर की भाँति उन्हें अपने प्रभाव से ओतप्रोत करने (Permeation) की नीति में विश्वास रखते थे। अतः आरम्भ में इनका किसी विशेष दल से सम्बन्ध नहीं था। **चौथी** विशेषता क्रमिकवाद (Gradualness) में विश्वास रखने के कारण इनका क्रान्तिकारी न होना था। ये समाजवाद को शनैः-शनैः क्रान्ति के बिना ही स्थापित करना चाहते थे और इनके मत में राज्य के कार्य में की जाने वाली प्रत्येक वृद्धि समाजवाद की दिशा में बढ़ाया

१. ग्रे—दी सोशलिस्ट ट्रेडीशन, पृ० ३८५

जाने वाला पग था। उदाहरणार्थ, फेरी वालों को अपने काम की अनुमति देना समाजवाद की प्रगति का प्रमाण था।[१] **पाँचवीं** विशेषता बुद्धिवाद और लोकतन्त्र में गहरी आस्था थी। इस आन्दोलन के प्रवर्त्तक अपने समय में इंगलैण्ड के सर्वोच्च प्रतिभाशाली एवं अधिकतम बुद्धिमान् व्यक्ति थे। उन्हें श्रमिकों के साथ होने वाले अत्याचारों से इतनी व्यथा नहीं थी जितनी वेदना इस बात से थी कि राज्यों का शासन-प्रबन्ध बुद्धिमत्तापूर्ण रीति से नहीं किया जा रहा। लोकतन्त्र के दोषों को जानते हुए भी वे उसमें श्रद्धा रखते थे। शॉ ने ब्रिटिश लोकतन्त्र की खिल्ली उड़ाते हुए कहा था कि एक फेरी वाला राजकीय अनुमति (License) के बिना अपना व्यापार नहीं कर सकता है, किन्तु कोई भी बेवकूफ आदमी पार्लियामैण्ट का सदस्य चुना जा सकता है।[२] किन्तु फेबियनों का यह विश्वास था कि लोकतन्त्र के ये दोष शीघ्र ही दूर हो जाएँगे।

मार्क्सवाद से तुलना और भेद—फेबियनवाद तथा मार्क्सवाद के प्रधान उद्देश्य में बड़ी समानता है, दोनों वर्तमान आर्थिक विषमता को दूर करके समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं। किन्तु इस समानता के बावजूद दोनों में कई बड़े भेद हैं: (१) फेबियनवाद शान्ति का उपासक है, मार्क्स क्रान्ति में विश्वास रखता है। फेबियनों का यह विश्वास है कि समाजवाद की स्थापना शनैः-शनैः विकासवादी प्रक्रिया से अहिंसात्मक और लोकतन्त्रीय साधनों से की जानी चाहिए। मार्क्स वर्ग-संघर्ष, क्रान्ति एवं हिंसात्मक साधनों से तथा सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता कायम करके समाजवाद को स्थापित करना चाहता है। (२) फेबियन राज्य को समाजवाद की स्थापना का प्रधान साधन समझते हैं, मार्क्सवादी वर्तमान राज्य को पूँजीपतियों के शोषण का यन्त्र मात्र समझते हुए इसके विध्वंस के लिए कटिबद्ध हैं। (३) फेबियन मूल्य के विषय में मार्क्स द्वारा प्रतिपादित श्रम-सम्बन्धी सिद्धान्त (Labour Theory of Value) को तथा अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) के सिद्धान्त (ऊपर पृ० ३४६-४७) को स्वीकार नहीं करते हैं, अपितु इसके स्थान पर समाज को वस्तुओं का मूल्य उत्पन्न करने का प्रधान कारण समझते हैं, उनके मतानुसार सब पदार्थों का मूल्य सामाजिक उपयोगिता (Social Utility) के आधार पर निश्चित होता है (देखिए ऊपर पृ० ४३१-३२)। मूल्य की उत्पत्ति न तो केवल श्रम से होती है, न ही केवल माँग और पूर्ति के कठोर नियम से, अपितु यह समूची सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम है। चूँकि मूल्य सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न होता है, अतः उसमें होने वाली वृद्धि का लाभ समाज को ही मिलना चाहिए। (४) फेबियनों ने मार्क्स की भाँति इतिहास के गम्भीर अध्ययन पर बल दिया था, किन्तु वे इससे सर्वथा भिन्न परिणामों पर पहुँचे थे। मार्क्स इतिहास के आधार पर वर्ग-संघर्ष (Class Struggle) और क्रान्ति को तथा सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता को आवश्यक समझता था। किन्तु फेबियन यह समझते थे कि इतिहास की प्रगति लोकतन्त्र और समाजवाद की दिशा में हो रही है, ये दोनों समाज का कल्याण और

---

१. ग्रे—दी सोशलिस्ट ट्रेडीशन, पृ० ३६६

२. वही पुस्तक, पृ० ३६७-६८

उन्नति करने वाली शक्तियाँ हैं। लोकतन्त्र का विकास समाजवाद की प्रगति में सहायक सिद्ध होगा। आर्थिक विकास की प्रक्रिया न केवल मजदूरों को निर्धन बना रही है, अपितु उद्योगों पर पूँजीपतियों के स्वामित्व और नियन्त्रण को शिथिल कर रही है। सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियों की संख्या बढ़ रही है, उद्योगों का स्वामित्व और प्रबन्ध-व्यवस्था अलग हो रही है, लोकतन्त्रात्मक राज्य में उद्योगों पर अधिकाधिक नियन्त्रण स्थापित करके शान्तिपूर्ण रीति से समाजवाद की स्थापना की जानी चाहिए। (५) मार्क्सवाद वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त में दृढ़ आस्था रखता है, उसके मतानुसार भविष्य में मध्यम वर्ग का लोप हो जाएगा (पृ० ३२८-२९), श्रमिक और सर्वहारा वर्ग उसका शोषण करने वाले पूँजीपति वर्ग को क्रान्ति की ज्वालाओं में भस्म कर देगा। फेबियनवाद इन सब बातों को नहीं मानता है। पहले बताया जा चुका है कि इस विचारधारा के प्रवर्त्तक प्रधान रूप से मध्यम वर्ग से सम्बन्ध रखने वाले कोरे बुद्धिवादी व्यक्ति थे। इनका मार्क्सवाद की भाँति श्रमिकों के आन्दोलन से कोई सीधा और गहरा सम्बन्ध नहीं था। वे मार्क्सवाद की भाँति पूँजीपतियों द्वारा श्रमिकों के शोषण पर बल न देकर, समाज के सभी वर्गों को सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न होने वाली मूल्य-वृद्धि का लाभ पहुँचाना चाहते थे। मार्क्सवादी यह विश्वास रखते हैं कि वास्तविक संघर्ष मजदूरों और पूँजीपतियों में है। किन्तु फेबियनों के मतानुसार यह संघर्ष समाज अथवा समुदाय (Community) में तथा सामाजिक परिस्थितियों से अनुचित लाभ उठाने वाले व्यक्तियों में है।[1]

फेबियनवाद का इंगलैण्ड पर प्रभाव और मूल्यांकन—फेबियनवाद ब्रिटिश बुद्धिजीवियों की विचारधारा थी, इसने ब्रिटेन पर ही अपना विशेष प्रभाव डाला। इसका **पहला** प्रभाव ब्रिटेन में समाजवाद को लोकप्रिय और सम्मानास्पद बनाना था। ब्रिटिश लोग शनैः-शनैः विकासवादी प्रक्रिया द्वारा लोकतन्त्रीय ढंग से, वैध एवं शान्तिपूर्ण उपायों से तथा जनता की सहमति से सभी राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन करने के पक्षपाती थे। अतः क्रान्तिकारी उद्देश्यों में विश्वास रखने वाला मार्क्सवाद ब्रिटिश लोगों की प्रकृति के प्रतिकूल था। यद्यपि मार्क्स ने अपने पिछले जीवन का भाग लन्दन में बिताया था, फिर भी उसके सिद्धान्त इंगलैण्ड में कई कारणों से लोकप्रिय नहीं हुए। पहला कारण यह था कि ब्रिटेन का श्रमिक आन्दोलन सुधारवादी था, क्रान्तिकारी नहीं था, उसे मार्क्स के क्रान्ति के सिद्धान्त में कोई दिलचस्पी नहीं थी। दूसरा कारण यह था, कि इंगलैण्ड में १८६५ से ८५ के बीच में पास होने वाले अनेक कानूनों से मताधिकार का विस्तार हुआ था, श्रमिकों के हितों की सुरक्षा की दृष्टि से कई कानून बनाए गए थे, यहाँ सब लोगों को राजनीतिक स्वतन्त्रता पर्याप्त मात्रा में प्राप्त थी और लोगों का यह विश्वास था कि सभी सामाजिक परिवर्तन शनैः-शनैः होने चाहिएँ। जिस समय फेबियन सोसायटी की स्थापना हुई उस समय हिंसा, हत्या, रक्तपात और क्रान्ति के साथ सम्बद्ध किया जाने वाला

---

१. कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० १०५

समाजवाद इंगलैण्ड में बहुत बदनाम था। फेबियनों ने विशुद्ध बौद्धिक आन्दोलन द्वारा समाजवाद को शान्तिपूर्ण क्रमिक विकास एवं अनुपार्जित आय की समस्याओं के साथ सम्बद्ध किया, इस प्रकार इसे सर्वथा एक नवीन रूप प्रदान किया तथा ब्रिटिश लोगों की प्रकृति और स्वभाव के अनुकूल बनाकर समाजवाद को लोकप्रिय बनाया। ग्रे के शब्दों में, "यदि फेबियनों का उद्देश्य समाजवाद के विषय में मध्यम वर्ग की आशंकाओं को निर्मूल करना तथा समाजवाद को सम्मानास्पद सिद्धान्त बनाना था तो उन्हें इस विषय में आशातीत सफलता मिली।"[1] इसका **दूसरा** प्रभाव स्थानीय स्वशासन के क्षेत्र को अत्यधिक विकसित करना था। पहले (पृ० ४३३) यह बताया जा चुका है कि फेबियन स्थानीय संस्थाओं द्वारा सार्वजनिक उपयोगिता के विभिन्न कार्य किए जाने पर तथा इस प्रकार समाजवाद स्थापित करने पर बहुत बल देते थे। १८८८–९४ के वर्षों में ग्रेट ब्रिटेन की स्थानीय स्वशासन पद्धति में अनेक महत्वपूर्ण सुधार किए गए, फेबियनों ने इनके अनुसार निर्वाचित की जाने वाली नवीन संस्थाओं के चुनावों में उत्साहपूर्वक भाग लिया, इनमें अपने अनेक सदस्य चुनवाए और इनके माध्यम से अपनी समाजवादी योजनाओं को क्रियान्वित करने का प्रयास करते हुए इन संस्थाओं के विकास में बड़ा योगदान दिया। **तीसरा** प्रभाव श्रमिक संघ आन्दोलन (Trade Union Movement) में भाग लेकर इसे पुष्ट एवं सुदृढ़ बनाना था। इस सोसायटी ने इस आन्दोलन के साथ मिलकर स्वतन्त्र मजदूर दल (Independent Labour Party) की स्थापना की, १८९४ में 'श्रमिक संघ आन्दोलन का इतिहास' (History of Trade Unionism) तथा १८९७ में 'औद्योगिक लोकतन्त्र' (Industrial Democracy) नामक ग्रन्थ प्रकाशित किए। **चौथा** प्रभाव मजदूर दल का विकास है। १८८३ में स्वतन्त्र मजदूर दल बनाया गया था, किन्तु उसके पास अपना कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं था, फेबियन सोसायटी ने यह कार्यक्रम इसे प्रदान किया। चिरकाल तक दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहा। १९१८ में मजदूर दल का कार्यक्रम सुप्रसिद्ध फेबियन सिडनी वैब ने तैयार किया। रैम्ज़े मैकडानल्ड, एटली आदि सभी प्रसिद्ध नेता फेबियन सोसायटी से सम्बद्ध थे। १९२४ में बने पहले मजदूर मन्त्रिमण्डल में सिडनी वैब व्यापार मण्डल का अध्यक्ष (President of the Board of Trade) तथा १९२९ के दूसरे मजदूर मन्त्रिमण्डल में उपनिवेशमन्त्री था। १९२९ में लार्डसभा में मजदूर दल का प्रभाव बढ़ाने के लिए प्रधानमन्त्री रैम्ज़े मैकडानल्ड ने सिडनी वैब को लार्ड पैसफील्ड बनाया था। **पाँचवाँ** प्रभाव ब्रिटेन में समाज कल्याण के कानूनों का बहुत बड़ी संख्या में पास किया जाना तथा इसे जन-कल्याणकारी राज्य (Welfare State) का रूप प्रदान करना था। कोकर ने फेबियनों के प्रभाव का मूल्यांकन करते हुए यह सत्य ही लिखा है कि फेबियन समाजवादियों ने सिद्धान्त की अपेक्षा व्यवहार के क्षेत्र में अधिक देन दी है। उन्होंने ग्रेट ब्रिटेन की वास्तविक आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के बारे में तथ्यों को बड़े परिश्रम से तथा बुद्धिमत्तापूर्ण रीति से एकत्र किया और इनकी व्याख्या की। इन तथ्यों के

---

१. ग्रे—दी सोशलिस्ट ट्रेडीशन, पृ० ४००

आधार पर ही इंगलैण्ड की केन्द्रीय तथा स्थानीय सरकारों ने शनैः-शनैः पूरी सावधानी बरतते हुए ऐसे कानून पास किए जिनसे वहाँ एक हल्के प्रकार का समाजवाद स्थापित हो गया है। इसका प्रधान श्रेय फेबियनों को है।[1]

इंगलैण्ड में विकासशील समाजवाद की एक अन्य विचारधारा श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism) का भी विकास हुआ। यह फेबियनवाद के दोषों के संशोधन करने के लिए उत्पन्न हुई थी। फेबियनवादी श्रमिकों के हितों पर बल न देकर, सम्पूर्ण समाज के हितों पर बल देते थे; वे उद्योगों के क्षेत्र में श्रमिकों को स्वशासन देने के भी समर्थक न थे। अतः इन दोषों को दूर करने के लिए श्रेणी समाजवाद की विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ। किन्तु यह संघवाद (Syndicalism) की विचारधारा के साथ सम्बद्ध है। अतः इन दोनों का अगले अध्याय में प्रतिपादन किया जाएगा। इससे पहले यहाँ संक्षेप में लोकतन्त्रीय समाजवाद का संक्षिप्त परिचय दिया जाएगा।

लोकतन्त्रीय समाजवाद
(Democratic Socialism)

जिन देशों में प्रजातन्त्र की पद्धति प्रचलित है वहाँ समाजवाद के लक्ष्य को पूरा करने के लिए लोकतन्त्रीय विधियों और सिद्धान्तों और साधनों का उपयोग किया जाता है, अतः इन देशों में विकसित होने वाले समाजवाद को 'लोकतन्त्रीय समाजवाद' कहा जाता है। इस प्रकार का समाजवाद उन राष्ट्रों में अधिक सफल हुआ है जहाँ लोकतन्त्र की परम्पराएँ और पद्धतियाँ सुविकसित एवं सुदृढ़ हो चुकी हैं। ऐसे देशों के प्रमुख उदाहरण ग्रेट ब्रिटेन, नार्वे, स्वीडन, हालैण्ड, बेल्जियम, स्विट्ज़रलैण्ड, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, इज़राइल तथा भारतवर्ष हैं। इन देशों में लोकतन्त्र एवं वैधानिक शासन की पद्धति को सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है। यहाँ समाजवादी निम्नलिखित कार्यक्रमों द्वारा अपने लक्ष्य को वैध उपायों से पूरा करने का प्रयत्न करते हैं—निर्धन एवं विशेषाधिकार वंचित वर्गों की उन्नति के लिए अधिक अवसरों की व्यवस्था करना, सारी जनता के लिए शिक्षा की सुविधा करके आगे बढ़ने के सब नागरिकों को समान अवसर देना, जन्ममूलक विषमता की समाप्ति करना, धर्म, नस्ल, लिंग अथवा सामाजिक वर्गों के आधार पर किए जाने वाले भेद-भाव के व्यवहार का अन्त करना, समूचे समुदाय को हित पहुँचाने की दृष्टि से आर्थिक व्यवस्था का नियन्त्रण और पुनःसंगठन करना, बेरोजगारी दूर करते हुए सब व्यक्तियों को पूरा काम देना, वृद्ध, बीमार और बेकार व्यक्तियों को अपनी असहाय दशा में समाज की ओर से सुरक्षा (Social Security) तथा आर्थिक सहायता प्रदान करना, कस्बों और नगरों को नए सिरे से योजनाबद्ध रीति से बसाने की व्यवस्था करना, गन्दी बस्तियों (Slums) को नष्ट करके नए मकानों को बनाना, सभी व्यक्तियों के लिए चिकित्सा की सुविधाओं की व्यवस्था करना, प्रतियोगिता और लाभ (Competition and Profit) के

१. कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० १०७

स्थान पर सहयोग के आधार पर समाज का पुनर्निर्माण करना। लोकतन्त्रीय समाजवादी इन सब उद्देश्यों को पूरा करने के लिए सर्वथा वैध, अहिंसक एवं शान्तिपूर्ण तथा संसदीय उपायों का आश्रय लेते हैं। वे समाजवाद के उद्देश्य की पूर्ति के साथ-साथ व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा पर बल देते हैं। उनके मतानुसार लोकतन्त्र की सच्ची सफलता इसमें नहीं है कि वोट का अधिकार सब नागरिकों को समान रूप से मिले, अपितु इसमें है कि सब नागरिकों को शिक्षा और उन्नति के लिए समान अवसर प्राप्त हों, सबको काम मिले तथा आर्थिक विषमता को दूर किया जाए। इन देशों में राजनीतिक संगठन बनाने पर तथा विचार, लेखन एवं भाषण की स्वतन्त्रता पर बहुत बल दिया जाता है। लोकतन्त्रीय समाजवाद का सर्वोत्तम उदाहरण ग्रेट ब्रिटेन है। यहाँ चिरकाल से लोकतन्त्र की परम्पराएँ पुष्ट होती रही हैं। अतः यहाँ समाजवाद के उद्देश्य को लोकतन्त्रीय ढंग से पूरा किया गया है। यह कार्य यहाँ मजदूर दल ने द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सत्ता हस्तगत करने पर बड़ी तेजी से और सफलतापूर्वक किया है। पहले (पृ० ४२६-२९) यह बताया जा चुका है कि इंगलैण्ड में फेबियनवाद का विकास किस प्रकार हुआ। इन लोगों ने विकासशील समाजवाद की पद्धति का अनुसरण किया और शनैः-शनैः पार्लियामैण्ट के कानूनों द्वारा आर्थिक विषमता को दूर करते हुए सब नागरिकों को जीवन-यापन की सुविधा देने का और बीमारी, बेकारी, बुढ़ापे आदि के संकटों में आर्थिक सहायता देने का प्रयास किया है तथा अनेक बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation) किया है।

लोकतन्त्रीय समाजवाद उन्हीं देशों में सफल हुआ जहाँ लोकतन्त्र की सुदृढ़ परम्पराएँ विद्यमान हैं, किन्तु जहाँ ऐसी परम्पराएँ नहीं हैं वहाँ समाजवादियों को सफलता नहीं मिली है। इसका सुन्दर उदाहरण जर्मनी है। यहाँ १८७० से १९१८ तक सोशल डैमोक्रैटिक पार्टी (Social Democratic Party) समाजवाद का लक्ष्य प्राप्त करने में विफल रही, क्योंकि पहले यहाँ बिस्मार्क की और बाद में कैसर द्वितीय की अधिनायकता थी। लोकतन्त्रीय संस्थाएँ दिखावे के रूप में काम कर रही थीं। बिस्मार्क सोशल डैमोक्रैटों को राज्य का शत्रु समझता था और उसने यहाँ मजदूरों के हित के लिए विभिन्न कानून बनाकर राजकीय समाजवाद (State Socialism) की स्थापना की और समाजवादियों को जेल में ठूँस दिया। इसी प्रकार प्रथम विश्वयुद्ध के बाद १९१९ से १९३३ तक के समय में लोकतन्त्रीय संस्थाओं के सुदृढ़ न होने के कारण जर्मनी में समाजवादी दल कुछ भी न कर सके। रूस में भी लोकतन्त्रीय समाजवाद १९१७ की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद सफल नहीं हुआ क्योंकि यहाँ इससे पहले ज़ारों का निरंकुश शासन होने के कारण लोकतन्त्र की परम्पराएँ विकसित नहीं हुई थीं। यहाँ वैधानिक और शान्तिपूर्ण उपायों से सामाजिक और आर्थिक सुधार होना असम्भव था, अतः यहाँ साम्यवादी क्रान्ति द्वारा समाजवाद को लाया गया।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि समाजवादी शान्तिपूर्ण और वैधानिक उपायों से अपने लक्ष्य को पूरा करना चाहते हैं और साम्यवादी निरंकुश शासन एवं हिंसापूर्ण क्रान्तियों द्वारा समाज में परिवर्तन लाना चाहते हैं। जिन देशों में

लोकतन्त्रीय परम्पराएँ सुविकसित एवं सुदृढ़ होती हैं वहाँ समाजवादी प्रबल हो जाते हैं और जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ साम्यवादी दल सत्ता हस्तगत कर लेते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय का फ्रांस इसका एक सुन्दर उदाहरण है। इस युद्ध के छिड़ने से पहले फ्रांस में लोकतन्त्रीय परम्पराएँ अधिक सुदृढ़ थीं, इसलिए उस समय तक यहाँ समाजवादी दल सबसे अधिक शक्तिशाली राजनीतिक दल था, किन्तु जब १९४० में जर्मनी ने फ्रांस को पराजित कर दिया, उस समय यहाँ साम्यवादी गुप्त रीति से अपने राजनीतिक संगठन प्रबल बनाने लगे। उस समय की परिस्थिति समाजवादियों की अपेक्षा साम्यवादियों के लिए अधिक अनुकूल थी क्योंकि फ्रांस जैसे देशों में लोकतन्त्रीय समाजवादी उसी समय अच्छा कार्य कर सकते हैं जब उन्हें अपने विचारों के प्रचार की पूरी स्वतन्त्रता हो, वे अपनी पार्टी की सदस्यता का कार्ड खुले रूप से ले जा सकें और उन्हें गुप्त रूप से बमों को ले जाने की आवश्यकता न हो। इस प्रकार के व्यक्ति प्रायः परिवार वाले, सिविल सर्विस में अथवा किसी अन्य अच्छे धन्धे में स्थायी रूप से कार्य करने वाले व्यक्ति होते हैं; ऐसे व्यक्ति अवैध, हिंसात्मक, आतंकवादी (Terrorist) कार्यों में प्रायः भाग नहीं लेते हैं। इसके विपरीत साम्यवादी दलों में प्रायः ऐसे व्यक्ति भर्ती होते हैं जो बड़े उग्र विचारों के होते हैं और वे अपनी धुन के पीछे पागल होते हैं। उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए हिंसावादी और अवैध एवं आतंकवादी उपायों का प्रयोग करने में किसी प्रकार का संकोच या झिझक नहीं होती है। वे किसी भी प्रकार से सत्ता हस्तगत करना चाहते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के चार वर्षों में जर्मन आधिपत्य के समय जब फ्रेंच लोगों के सामने गुप्त रीति से हिंसात्मक कार्यवाहियाँ करने के अतिरिक्त कोई रास्ता न रहा तो यह परिस्थिति फ्रांस में साम्यवाद के विकास के लिए बड़ी उर्वर सिद्ध हुई। १८७० से १९४० तक फ्रांस में समाजवादियों का बोलबाला रहा, किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के चार वर्षों में साम्यवादी वहाँ इतने प्रबल हो गए कि द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर इन्हें लोकतन्त्रीय समाजवादियों से दुगुने वोट मिले। साम्यवादी दल फ्रांस का सबसे शक्तिशाली राजनीतिक दल बन गया। इसके विपरीत द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ग्रेट ब्रिटेन में हुए चुनावों में लोकतन्त्रीय समाजवाद का पोषण करने वाले मजदूर दल को सबसे अधिक वोट मिले। इसने वहाँ शनैः-शनैः लोकतन्त्रीय पद्धति से समाजवाद के लक्ष्य को पूरा करने का प्रयास किया।

तेरहवाँ अध्याय

श्रमिक संघवाद और श्रेणी समाजवाद तथा अराजकतावाद

सामान्य परिचय—इंगलैण्ड में जिस समय पिछले अध्याय में वर्णित विकासशील समाजवाद की तथा फेबियनवाद की विचारधारा का प्रादुर्भाव हो रहा था, उसी समय में—१९वीं शताब्दी के अन्त में—इससे सर्वथा भिन्न और प्रतिकूल विचार रखने वाली एक अन्य विचारधारा का फ्रांस में विकास हुआ। इसे श्रमिक संघवाद (Syndicalism) की विचारधारा कहा जाता है क्योंकि यह उत्पादन के साधनों पर समाज या राज्य के स्थान पर श्रमिकों के संघों का स्वामित्व और नियन्त्रण स्थापित करना चाहती है। फ्रेंच भाषा में श्रमिकों के संघ को सिण्डीकेट (Syndicate) कहा जाता है; श्रमिक संघवादी राज्य और सरकार का अन्त करके समाज के संचालन की सम्पूर्ण व्यवस्था ऐसे श्रमिक संघों के हाथ में देना चाहते थे, अतः इस सिद्धान्त को 'श्रमिक संघवाद' का नाम दिया गया है। मार्क्सवाद की भाँति यह एक उग्र क्रान्तिकारी विचारधारा है, यह न केवल पूँजीवाद का अन्त करने के लिए कटिबद्ध है, परन्तु अराजकवादियों की भाँति राज्य की संस्था का भी समूलोन्मूलन करना चाहती है। इसका उद्देश्य एक ऐसे समाज का निर्माण करना है जिसमें श्रमिक संघ ही सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था का संचालन करेंगे; उत्पादन के साधनों पर, उत्पादन की प्रणाली और नीति पर इन संघों का नियन्त्रण और प्रभुत्व होगा। फेबियनवाद की भाँति श्रमिक संघवाद अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए क्रमिक, शान्तिपूर्ण, वैध और संसदीय उपायों में आस्था नहीं रखता, वह राजनीतिक आन्दोलनों को निरर्थक समझता है, उसका एकमात्र अगाध विश्वास इस बात में है कि श्रमिकों के संघों द्वारा किए जाने वाले हिंसापूर्ण साधनों—सीधी कार्यवाही (Direct Action), हड़ताल, तोड़-फोड़ (Sabotage) और विध्वंस जैसी कार्यवाहियों से पूँजीवाद की समाप्ति और राज्य की संस्था का विनाश कर दिया जाए। जिस प्रकार फेबियनवाद इंगलैण्ड की विशिष्ट परिस्थितियों में उत्पन्न हुआ था, उसी प्रकार श्रमिक संघवाद फ्रांस की विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम था।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि—फ्रांस में इस सिद्धान्त के विकसित होने के कई कारण थे : **पहला** कारण यह था कि यहाँ के श्रमिक एक शताब्दी के कटु अनुभवों से राज्य द्वारा उनके हित एवं कल्याण का सम्पादन किए जाने में विश्वास खो चुके थे; १७८९, १८३०, १८४८, १८७१ में फ्रांस में क्रान्तियाँ हुई थीं, इन सबका घोषित उद्देश्य पीड़ित, पददलित और निर्धन जनता को सुखी बनाना था। इनमें श्रमिक वर्ग ने बहुत बड़ा भाग लिया था। किन्तु इनसे श्रमिकों की आशाएँ पूरी नहीं हुईं, प्रत्येक क्रान्ति के बाद पेरिस में तथा अन्य बड़े नगरों में रक्त की नदियाँ बहाते हुए मजदूरों का भीषण दमन किया गया, इनके संघों को अवैध घोषित किया गया। बार-बार इस

प्रकार का व्यवहार होने से श्रमिकों में राज्य के प्रति रोष एवं घृणा के भाव उत्पन्न हो गए। इनमें राज्य-विरोधी भावना को बढ़ाने वाला **दूसरा** कारण यह था कि इस समय फ्रांस में राज्य के उच्च पदाधिकारियों के भ्रष्टाचार, गोलमाल और गड़बड़-घोटाले के कुछ ऐसे काण्ड प्रकाश में आए, जिनसे उस समय के शासक बहुत बदनाम हुए और तत्कालीन राज्य का शासन-संचालन करने वाले व्यक्तियों की सदाशयता में जनता को गम्भीर सन्देह और अविश्वास उत्पन्न हो गया। फ्रांस के गणराज्य पर तथा राजनीतिज्ञों पर कलंक का टीका लगाने वाली ऐसी प्रधान घटनाएँ निम्नलिखित थीं—

(१) **पानामा कम्पनी का गोलमाल**—यह कम्पनी फ्रांस की सरकार द्वारा १८९४ में पानामा नहर बनाने के लिए स्थापित की गई थी, मुनाफे के प्रलोभन देकर इसकी पूँजी इकट्ठी की गई। इस कम्पनी का निर्माण करने वालों में सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ, मन्त्री तथा फ्रेंच पार्लियामैण्ट के सदस्य थे। कुछ समय बाद कम्पनी दिवालिया घोषित की गई क्योंकि मन्त्री और राजनीतिज्ञ इसका पैसा हड़प कर गए थे।

(२) **ग्रेवी-विल्सन काण्ड** (Grevy-Wilson Episode)—ग्रेवी फ्रांस के गणराज्य का १८७९ से ८७ तक राष्ट्रपति था, उसने अपनी कन्या का विवाह एक अंग्रेज विल्सन से किया था। विल्सन ने अपने श्वसुर के उच्च पद का लाभ उठाते हुए इस बात का प्रचार किया कि वह इस सम्बन्ध के कारण लोगों को ऊँची नौकरियाँ और ठेके दिलवा सकता है और ऐसे कार्यों को कराने के लिए उसने लोगों से खूब रिश्वत लेनी शुरू की। इससे राष्ट्रपति की बड़ी बदनामी हुई, उस पर अभियोग चलाया गया, इसमें यद्यपि ग्रेवी निर्दोष सिद्ध हुआ, किन्तु साधारण जनता में इसके कारण सरकार की बहुत बदनामी हुई।

(३) **बूलांजे काण्ड** (Boulanger Affair)—यह एक आकर्षक व्यक्तित्व रखने वाला महत्वाकांक्षी सेनापति था, राजनीति में प्रवेश करने के बाद तथा पार्लियामैण्ट का सदस्य चुना जाने के बाद वह शीघ्र ही युद्धमन्त्री बना। लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए वह जोशीली, उग्र देशभक्तिपूर्ण वक्तृताएँ दिया करता था और इनके आधार पर प्रायः प्रबल बहुमत से चुना जाता था। जनता को उसने यह विश्वास कराने का प्रयत्न किया कि वह नैपोलियन की भूमिका ग्रहण करते हुए १८७० की फ्रेंच पराजय का कलंक धोने के लिए जर्मनी पर आक्रमण के समय सेनाओं का नेतृत्व करेगा। वस्तुतः वह फ्रेंच गणराज्य के विरोधी राजतन्त्रवादियों तथा अन्य असन्तुष्ट वर्गों की कठपुतली था, अतः १८८९ में जब फ्रेंच सरकार ने सीनेट में उस पर राजद्रोह का अभियोग चलाने का निश्चय किया तो वह बड़ी कायरता प्रदर्शित करते हुए विदेश भाग गया और उसने आत्महत्या कर ली। जनता को उससे बड़ी आशाएँ थीं, उन पर तुषारपात होने से मजदूर राजनीतिज्ञों में तथा सेनापतियों में विश्वास खो बैठे और उनके विरोधी बन गए।

(४) **ड्रेफस काण्ड** (Dreyfus Affair)—कप्तान अल्फ्रेड ड्रेफस फ्रांस के युद्ध-विभाग में एक छोटे पद पर काम करता था। १८९४ में उस पर यह आरोप लगाया गया कि वह जर्मन लोगों को गुप्त सैनिक जानकारी देता रहा है। सैनिक न्यायालय में अभियोग चलाया जाने पर वह दोषी पाया गया, उसे अपमानित और

सैनिक पद से वंचित करके आजीवन काले पानी की सजा दे दी गई। किन्तु कुछ समय बाद नवीन साक्षी से यह पता लगा कि वास्तविक अपराधी मेजर एस्टरहेज़ी नामक एक अन्य व्यक्ति था, ड्रेफस को अकारण ही दण्ड दिया गया था। जब ड्रेफस के मामले की दुबारा जाँच की माँग की गई तो सरकार ने इस मामले पर लीपापोती करने का प्रयत्न किया। किन्तु इस बीच में ड्रेफस पर मामला चलाने वाले कर्नल हेनरी ने आत्महत्या की और इससे पूर्व यह घोषणा की कि ड्रेफस को अपराधी सिद्ध करने वाला जाली प्रमाण उसने तैयार किया था, मेजर एस्टरहेज़ी (Esterhazy) भी अपना अपराध स्वीकार करते हुए इंगलैण्ड भाग गया। इससे यह मामला तूल पकड़ गया, जनता को राजनीतिज्ञों की ईमानदारी में प्रबल सन्देह उत्पन्न हो गया। प्रसिद्ध फ्रेंच साहित्यिक ज़ोला ने, क्लेमेन्शो, वाल्डेक-रूसो आदि राजनीतिज्ञों ने ड्रेफस के मामले की पुनः जाँच कराये जाने पर बल दिया। दूसरी बार पुनः ड्रेफस को सैनिक न्यायालय ने दोषी पाया। इस निर्णय के विरुद्ध तीव्र आन्दोलन और प्रबल असन्तोष होने के कारण १९०६ में फ्रांस के सर्वोच्च न्यायालय ने इस पर विचार करते हुए ड्रेफस को सर्वथा निर्दोष सिद्ध किया। इस काण्ड से राज्य द्वारा किए जाने वाले अन्यायों को इतने अधिक स्पष्ट रूप से जनता के सामने लाया गया कि श्रमिक जनता में राज्य के प्रति आस्था की भावना को गहरी ठेस लगी।

तीसरा कारण श्रमिक नेताओं का फ्रेंच संसद् का सदस्य बनकर रंग बदलना था। मिलेराँ (Millerand), ब्रियाँ (Briand), विवियानी (Viviani) जैसे अपने सुप्रसिद्ध नेताओं को श्रमिकों ने बड़ी आशाओं से चुनकर पार्लियामैण्ट में भेजा था। संसद् में जाने से पहले ये उग्र क्रान्तिकारी थे, किन्तु संसद् का सदस्य बनने के बाद ये क्रान्ति-विरोधी, सुधारवादी, समझौतावादी और प्रतिक्रियावादी बन गए। इससे श्रमिकों में राजनीतिक दलों और संसदीय पद्धति के प्रति विरक्ति और घृणा के भाव उत्पन्न हुए, उन्होंने पार्लियामैण्ट तथा राज्य के द्वारा अपने सुधार की आशा छोड़ दी।

चौथा कारण फ्रांस के श्रमिक आन्दोलन का विकास था। इसे आरम्भ से ही राज्य के भीषण दमन का प्रतिरोध करना पड़ा था। फ्रेंच राज्य-क्रान्ति के समय १७९१ में श्रमिक संघ बनाने पर तथा हड़ताल करने पर पाबन्दी लगा दी गई थी। अतः औद्योगिक क्रान्ति होने पर श्रमिक संघ गुप्त समितियों के रूप में बनने लगे, इन्होंने १८३० तथा १८४८ की क्रान्तियों में इसी रूप में तथा हड़तालों आदि की विध्वंसक कार्यवाहियों में ही भाग लिया। १८६४ में नैपोलियन प्रथम ने श्रमिकों का समर्थन पाने के लिए इन्हें संघ बनाने तथा हड़ताल करने का अधिकार कई प्रतिबन्धों के साथ दिया, किन्तु १७९१ के काले कानून की अधिकांश व्यवस्थाएँ पूर्ववत् बनी रहीं। १८७१ में पेरिस कम्यून के आन्दोलन में भाग लेने के कारण श्रमिकों का बुरी तरह दमन किया गया। इसके बाद १८८४ में ही १७९१ के काले कानून को रद्द किया गया। उपर्युक्त भीषण दमन से श्रमिकों को यह विश्वास हो गया था कि राज्य और पूँजीपति दोनों उनके विरोधी हैं। राज्य अपनी दमन नीति से पूँजीपतियों के शोषण-कार्य में सहायता करता है, इस प्रकार एक उनका दमन करने में तथा दूसरा शोषण करने में लगा हुआ है। इन दोनों का उन्मूलन किया जाना चाहिए।

श्रमिक संघों पर लगाए गए प्रतिबन्ध हट जाने से श्रमिक आन्दोलन का विकास होने लगा। इनकी शक्ति का लाभ उठाने के लिए विभिन्न राजनीतिक दल इनमें प्रवेश करने लगे, इससे इनमें सैद्धान्तिक मतभेद और वाद-विवाद बढ़ गए और श्रमिकों की शक्ति इनमें क्षीण होने लगी। श्रमिकों ने शीघ्र ही अनुभव किया कि राजनीतिज्ञ अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए उनका लाभ उठाना चाहते हैं, अतः उन्हें राजनीतिज्ञों से वितृष्णा और घृणा उत्पन्न हुई, उन्होंने अपने राजनीतिक दलों में सम्मिलित होने के स्थान पर अपने श्रमिक संगठनों को ही सुदृढ़ करने का निश्चय किया।

फ्रांस के श्रमिक संगठन—फ्रांस में श्रमिकों से सम्बन्ध रखने वाले बूर्स (Bourse) तथा सिण्डीकेट नामक दो प्रकार के संगठनों का विकास हुआ। जब तक १७९१ का श्रमिक संघों पर पाबन्दी लगाने वाला कानून बना हुआ था, तब तक कोई ट्रेड यूनियन नहीं बन सकती थी। इस समय बूर्स नामक ऐसे संगठनों का प्रादुर्भाव हुआ जो किसी एक क्षेत्र में रहने वाले तथा बाहर से वहाँ आने वाले मजदूरों को काम दिलाने के, उन्हें ठहराने के, बीमारी में उनकी सहायता करने आदि के अनेक उपकारपूर्ण कार्य किया करते थे। ये उनकी धर्मशाला, पुस्तकालय, सूचना-केन्द्र तथा चिकित्सालय के श्रमिकों को लाभ पहुँचाने वाले विभिन्न कार्य करते थे। बूर्स के स्थानीय संगठन की एक बड़ी विशेषता यह भी थी कि इसमें एक स्थान में रहने वाले एक व्यवसाय के नहीं, अपितु लुहारी, बढ़ईगीरी आदि विभिन्न शिल्पों तथा व्यवसायों से सम्बन्ध रखने वाले मजदूर एकत्र होते थे। १८८७ में श्रमिक संघों पर लगी पाबन्दी हट जाने से पेरिस तथा अन्य नगरों में ऐसे **श्रमसदन** (Bourses du Travail—Chambers of Labour) प्रबल होने लगे, इनका उपयोग श्रमिकों की समस्याओं पर विचार करने के सभा-स्थलों के रूप में होने लगा, श्रमकल्याण के कार्यों के लिए नगरपालिकाएँ इन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करने लगीं। फर्नार्द पेल्लोतियेर (Fernard Pellotier) के नेतृत्व में ये शीघ्र ही श्रमिक आन्दोलन के तथा हड़तालों को संगठित करने के शक्तिशाली केन्द्र बन गए। इन सब स्थानीय श्रमसदनों का एक राष्ट्रीय संगठन बनाया गया और १९०२ में वह 'श्रम के सामान्य संघ' (C.G.T.) के साथ मिल गया।

दूसरे प्रकार का संगठन श्रमिक संघ या **सिण्डीकेट** (Syndicate) था। यह लुहारी, बढ़ईगीरी, सूती वस्त्र आदि के एक ही उद्योग या शिल्प (Craft) में लगे हुए मजदूरों का संगठन था। १८८७ में इस प्रकार के श्रमिक संघों पर से पाबन्दी हटने के बाद इन संघों का निर्माण तेजी से हुआ। इसकी एक बड़ी विशेषता एक ही उद्योग या व्यवसाय से सम्बद्ध होना इसे श्रमसदन से पृथक् करती थी। इसीलिए सिण्डीकेट स्थानीय स्तर पर बूर्स या श्रमसदन से छोटी इकाई होती थी। इन सिण्डीकेटों का भी केन्द्रीय संगठन होने लगा। १८९५ में सब सिण्डीकेटों ने अपना एक संघ बनाया, यह 'श्रम के सामान्य संघ' (Confederation Generale du Travail or General Confederation of Labour) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसको संक्षेप में इसके फ्रेंच नाम के पहले अक्षरों के आधार पर सी० जी० टी० (C.G.T.) कहा जाता है।

इसने सब राजनीतिक दलों से पृथक् रहने की तथा श्रमिकों की मुक्ति के लिए उन्हें संगठित करने की घोषणा की। बूर्सों तथा सिण्डीकेटों के इन केन्द्रीय संगठनों ने संयुक्त होकर अत्यधिक क्रान्तिकारी नीति का अनुसरण करते हुए वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को पराकाष्ठा तक पहुँचाया और सामान्य हड़तालों को तथा तोड़-फोड़ और विध्वंस के अन्य कार्यों को करते हुए पूँजीपतियों के तथा राज्य के विरुद्ध प्रबल युद्ध की घोषणा की। इससे फ्रांस में संघवाद के सिद्धान्त का उत्कर्ष हुआ। इसके प्रधान प्रचारक और दार्शनिक निम्नलिखित व्यक्ति थे :

प्रमुख विचारक—श्रमिक संघवाद का प्रधान उद्देश्य श्रमिकों के अपने ही प्रयत्नों—हड़ताल आदि की हिंसापूर्ण प्रत्यक्ष कार्यवाहियों से पूँजीवाद और राज्य को समाप्त करके उद्योगों के नियन्त्रण और स्वामित्व की तथा सामान्य रूप से समाज के संचालन की व्यवस्था अपने हाथों में लेनी थी। इस विचारधारा के प्रधान प्रवर्त्तक पेल्लोतियेर (Pellotier, 1867–1901), जार्जेस सोरेल (Georges Sorel, 1847–1922), ह्यूबर्ट लैगरडेल्ले (Hubert Lagardelle) तथा एडवर्ड बर्थ थे। इनमें प्रधान स्थान पहले दो विचारकों का है। पेल्लोतियेर मध्यम वर्ग में उत्पन्न होने पर भी शीघ्र ही पहले उग्र गणराज्यवादी, फिर समाजवादी बना, वह बाकुनिन के अराजकतावादी विचारों से बहुत प्रभावित था, समाजवादी राजनीतिक नेताओं के प्रभाव से श्रमिकों को मुक्त रखने के लिए उसे १८९४ में बूर्सों के राष्ट्रीय संघ का मन्त्री बनाया गया। उसके अनथक उद्योग और पुरुषार्थ से यह संगठन शक्तिशाली बना।

सोरेल—यह सड़कों और पुलों का निर्माण करने वाला एक सिविल इंजीनियर था, सुदूर देहातों और गाँवों में काम करते हुए उसने अपने खाली समय को काटने के लिए विभिन्न ग्रन्थों का स्वाध्याय किया। ४५ वर्ष की आयु में सरकारी सेवा से अवकाश ग्रहण करके उसने अपना शेष जीवन विशुद्ध बौद्धिक कार्यों—अध्ययन और लेखन कार्य में लगाया, उसने बीसियों लेख और पुस्तकें लिखीं। इनमें 'हिंसाविषयक विचार' (Reflections on Violence) सबसे अधिक प्रसिद्ध है। उसके विचारों और लेखों का फ्रांस, रूस और इटली में क्रान्ति के सिद्धान्तों में विश्वास रखने वाली तत्कालीन तरुण पीढ़ी पर बड़ा जबर्दस्त प्रभाव पड़ा। इसका एक बड़ा प्रमाण यह है कि १९२२ में सोरेल के देहावसान के बाद रूस और इटली की सरकारों ने यह इच्छा प्रकट की थी कि वे उसकी समाधि पर स्मारक बनाना चाहती हैं।[1]

सोरेल का अध्ययन अत्यन्त अव्यवस्थित था, उसने किसी एक मत या विषय का नियमित रूप से अध्ययन नहीं किया था; अपितु उसे जो विषय अधिक पसन्द आता था, उसे पढ़ने लगता था, उसका कोई निश्चित राजनीतिक सिद्धान्त भी नहीं था, उसने विभिन्न समयों पर हेनरी पंचम का, कट्टर मार्क्सवाद का, राजतन्त्र का, क्रान्तिकारी श्रमिक संघवाद का और लेनिन का समर्थन किया था। वह क्रियात्मक राजनीति से दूर रहते हुए विचारों के जगत् में ही डूबा रहता था। उसके ग्रन्थों और लेखों में

१. लैंकास्टर—मास्टर्स आफ पोलिटिकल थाट, तृतीय खण्ड, पृ० २७७

उसके अध्ययन की भाँति बड़ी अव्यवस्था दिखाई देती है। उसके 'हिंसाविषयक विचार' को तो एक सम्पादक ने व्यवस्थित रूप दे दिया, किन्तु अन्य कृतियों में सम्पादन के अभाव में बड़ा वैविध्य, असंगति और विरोध दिखाई देता है। फिर भी उसके प्रधान विचार निम्नलिखित थे :—

सोरेल हिंसा का पुजारी होने पर भी नैतिकता में गहरी आस्था रखता था। वह राज्य को नैतिकता और भलाई का शत्रु मानता था, इसीलिए इसका विनाश चाहता था। उसे तत्कालीन राजनीतिज्ञों से एवं मध्यमवर्गीय पूँजीपतियों के भ्रष्टाचार से बड़ी चिढ़ थी, उसके मतानुसार इनके स्थान पर समाज का नेतृत्व नैतिक, गुणी, परिश्रमी, आदर्श श्रमिकों को ग्रहण करना चाहिए। ऐसे श्रमिकों के संघों को भ्रष्टाचार के मूलस्रोत—राज्य और पूँजीवाद पर कुठाराघात करते हुए समाज-संचालन की सारी शक्ति अपने हाथ में ले लेनी चाहिए। सोरेल के विचार की एक विशेषता बुद्धिवाद का विरोध है तथा अबौद्धिकता (Irrationalism) का समर्थन है। इतिहास के अध्ययन के आधार पर उसे यह विश्वास हो गया था कि मानव-जाति में उत्कर्ष और अपकर्ष का चक्र चलता रहता है, उत्कर्ष के चरम शिखर पर पहुँचकर अपकर्ष होने लगता है। अपकर्ष का कारण बुद्धिवाद होता है, पुरानी यूनानी सभ्यता ने बड़ा उत्कर्ष किया था, किन्तु जब इसमें सुकरात जैसे बुद्धिवादी उत्पन्न हुए तो इसका पतन होने लगा। इस विषय में वह सुप्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक बर्गसों (Bergson) का सिद्धान्त मानता था कि मनुष्य अपने कार्य सोच-विचारकर नहीं, अपितु अन्तःप्रेरणा (Intuition) से करता है। राजनीतिज्ञ बुद्धि का दुरुपयोग करते हुए स्वार्थसिद्धि एवं जनता का शोषण करते हैं; राजनीतिज्ञों का काम वेश्याओं जैसा है, वे प्रगति और लोकतन्त्र के नारे लगाकर लोगों को बहकाते हैं।[1] लोकतन्त्र वस्तुतः वर्तमान युग के ह्रास और पतन का सूचक है, इसी के कारण राजनीति में भ्रष्टाचार चरम सीमा पर पहुँच गया है और नैतिकता का लोप हो रहा है। इस परिस्थिति में आशा की किरण सच्चे, परिश्रमी और ईमानदार मजदूर हैं, इन्हें अपनी संगठित शक्ति से आम हड़तालें कराके राज्य का और पूँजीवाद का उन्मूलन कर देना चाहिए। इसमें होने वाली हिंसा से हमें नहीं घबराना चाहिए।

सोरेल ने हिंसा का नैतिक विवेचन करते हुए यह बताया है कि यह दो प्रकार की होती है—अल्पसंख्या द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली तथा बहुसंख्या द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली। जब मुट्ठी-भर राजनीतिज्ञ और उनके खुशामदी बुद्धिवादी राज्य की सत्ता बनाए रखने के लिए और बहुसंख्यक मजदूरों का दमन करने के लिए शक्ति (Force) का प्रयोग करते हैं तो यह हिंसा अनैतिक, अवैध और भ्रष्टाचारपूर्ण होती है। किन्तु जब बहुसंख्यक श्रमजीवी राज्य का विध्वंस करने के लिए इसका प्रयोग करते हैं तो यह हिंसा (Violence) सर्वथा वैध और नैतिक होती है। यह मनुष्यों में पौरुष, वीरता, साहस आदि के गुणों का विकास करती है।[2] सोरेल का यह तर्क हमें यज्ञों में

१. लैंकास्टर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २७९
२. लैंकास्टर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २९६

किए जाने वाले पशु-वध के सम्बन्ध में प्रसिद्ध इस उक्ति का स्मरण कराता है कि वेदों में प्रतिपादित यज्ञों के लिए की जाने वाली हिंसा हिंसा नहीं होती है (वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति)।

श्रमिक संघवाद के प्रमुख सिद्धान्त—इसका **पहला** सिद्धान्त **वर्ग-संघर्ष** (Class Struggle) का है। यह वस्तुतः मार्क्स ने प्रतिपादित किया था (देखिए ऊपर पृ० ३२८)। किन्तु सोरेल का मत यह है कि मार्क्स के इस सिद्धान्त में कई दोष और मलिनताएँ रह गई हैं, उसने आम हड़ताल आदि के उपायों का कोई प्रतिपादन नहीं किया है। श्रमिक संघवादी मार्क्स के सिद्धान्त को खोट मिला सोना समझते हैं और इसे प्रत्यक्ष कार्यवाही की अग्नि में तपाकर खरा सोना बनाना चाहते हैं। यह संघर्ष सदैव जारी रहना चाहिए, इससे श्रमिक जागरूक, चुस्त और सावधान बने रहते हैं, उनमें आलस्य और सुस्ती नहीं आने पाती है। श्रमिकों को सदैव संघर्ष की भावना सामने रखनी चाहिए, किसी प्रकार के समझौते की कोई बात नहीं करनी चाहिए। समझौते की वृत्ति पतन की ओर ले जाने वाली तथा पथ-भ्रष्ट करने वाली है।

दूसरा सिद्धान्त **राज्य का विरोध** है। इसका **पहला** कारण यह है कि राज्य श्रमिकों का सबसे बड़ा शत्रु है, क्योंकि पूँजीपति राज्य की सहायता से ही श्रमिकों का शोषण करते हैं। राज्य पूँजीपतियों की कार्यकारिणी समिति और उनकी इच्छाओं और स्वार्थों की पूर्ति के साधन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। **दूसरा** कारण यह है कि समाजवादी क्रान्ति होने के बाद भी राज्य की संस्था श्रमिकों का कल्याण नहीं कर सकती है, क्योंकि राज्य का शासन नौकरशाही (Bureaucracy) द्वारा चलता है। नौकरशाही जनसाधारण की आवश्यकताओं को नहीं समझ पाती है। जनता एवं श्रमिकों की माँगों के प्रति नौकरशाही में कोई सहानुभूति नहीं होती, इसलिए वह उनका कल्याण नहीं कर सकती है। अतः मार्क्सवादियों के सर्वथा प्रतिकूल मत रखते हुए श्रमिक संघवादी क्रान्ति के बाद भी राज्य की सत्ता को अस्वीकार करते हैं। राज्य के विरोध का **तीसरा** कारण यह है कि राज्य की शक्ति सदैव एक केन्द्र पर संगठित होती है, वह सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए एकरूप नीति का अनुसरण करता है, इसलिए वह समाज में निवास करने वाले विभिन्न वर्गों के हितों की समुचित देखभाल नहीं कर सकता है। राज्य सबको एक लाठी से हाँकने का प्रयत्न करता है, इसीलिए वह विभिन्न वर्गों के स्वार्थों और हितों का पूर्णतया संरक्षण नहीं कर सकता है। श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए राज्य का अन्त होना चाहिए। संघवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य में अनेक प्रकार के वर्ग होने के कारण वह बहुलवादी (Pluralistic) है। उसमें शासक-शासित, शोषक-शोषित आदि विभिन्न वर्ग हैं, इनमें वर्ग-सहयोग और एकता सम्भव नहीं है, अतः भावी आदर्श समाज का संगठन बहुलवादी प्रणाली द्वारा होना चाहिए, उसमें कृत्रिम रूप से बलपूर्वक एकता स्थापित करने वाले राज्य का कोई स्थान नहीं है। **चौथा** कारण राज्य का मध्यमवर्गीय संस्था होना है। भविष्य में भी राज्य ऐसा होगा, इसके संचालक मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवी होंगे। ये श्रमिकों की समस्याओं और माँगों को न तो समझ सकते हैं और न ही उनसे सहानुभूति रखते हैं। ऐसे व्यक्तियों द्वारा संचालित राज्य की कोई आवश्यकता नहीं है। **पाँचवाँ** कारण राज्य का अक्षमतापूर्ण

रीति से शासन करना है, इसमें मुट्ठी-भर नौसिखिए राजनीतिज्ञ शासन की सब जटिल समस्याओं के बारे में नियम बनाते हैं। यह राज्य का बाहर से शासन करना है। संघवादी नेता लेविन (Levine) के मतानुसार आदर्श शासन-व्यवस्था आन्तरिक होनी चाहिए, यह तभी हो सकती है जब नागरिक अपने श्रमिक संघों द्वारा स्वयमेव सारी व्यवस्था करें। यही सच्चा लोकतन्त्र है। इसमें राज्य जैसी बाहर से नियन्त्रण करने वाली, निरंकुश, दमनकारी संस्था की आवश्यकता नहीं रह जाएगी।

तीसरा सिद्धान्त **मध्यम वर्ग का विरोध** है। श्रमिक संघवादियों का मत है कि मध्यम वर्ग के लोग कभी भी सच्चे हृदय से पूँजीवाद के विरोधी नहीं होते हैं, उनका पूँजीपतियों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, वे इस बात का प्रयत्न करते रहते हैं कि स्वयमेव पूँजीपति बन जाएँ। मध्यम वर्ग के बुद्धिजीवी केवल कीर्ति कमाने की लालसा से साम्यवादी बनते हैं, उनमें क्रान्ति की भावना नहीं होती है, वे इसका ढोंग मात्र करते हैं। समाजवाद के सभी रूप इन चालाक मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों की देन हैं, किन्तु वस्तुतः ये मजदूरों की आवश्यकताएँ और समस्याएँ नहीं समझ सकते, इसलिए मजदूर वर्ग का नेतृत्व मध्यम वर्ग नहीं कर सकता है, वह केवल उसे पथ-भ्रष्ट ही कर सकता है। अतः 'मजदूर आन्दोलन' के लिए मजदूरों का ही नेतृत्व होना चाहिए, मध्यम वर्ग में इस विषय में विश्वास करना श्रमिक वर्ग के लिए अत्यन्त हानिकर है। मध्यम वर्ग मजदूरों के शोषण में पूँजीपतियों को सहयोग देता है, उनकी विचारधारा और मनोवृत्ति श्रमिकों के अनुकूल नहीं है। श्रमिक संघों की सदस्यता स्वीकार करने पर भी मध्यमवर्गीय व्यक्ति अपनी स्वाभाविक मनोवृत्ति का परित्याग करने में असमर्थ होते हैं, वे मूलतः क्रान्तिकारी नहीं, अपितु सुधारवादी हैं, अतः श्रमिक संघवाद की विचारधारा में इस वर्ग का कोई स्थान या महत्व नहीं है।

चौथा सिद्धान्त **पार्लियामेण्ट या संसद् का तथा सब प्रकार की विधानसभाओं का विरोध** है। श्रमिक संघवादी संसद् को पूँजीपतियों द्वारा तथा उनकी स्वार्थसिद्धि के लिए संचालित की जाने वाली संस्था समझते हैं। उनके मत में संसदीय सरकार का अभिप्राय है समझौते एवं समन्वय द्वारा नियम बनाना और राज्य का संचालन करना। संसद् की विशेषता है समझौतावाद तथा सुधारवाद। इसमें अन्य दलों के साथ सहयोग करते हुए काम चलाना पड़ता है। क्रान्तिकारी श्रमिक नेताओं के लिए संसद् का वातावरण विषैला और दम घोटने वाला होता है, इसमें उन्हें क्रान्ति की भावनाओं को कुण्ठित करना पड़ता है। नमक की खान में जाकर जिस प्रकार सब नमक हो जाता है, इस प्रकार संसद् में प्रवेश करके कट्टर क्रान्तिवादी श्रमिक नेता सुधारवादी बन जाते हैं, समझौते की बातें करने लगते हैं, अतः श्रमिक नेता को संसद् का सदस्य नहीं बनना चाहिए, विधानसभाओं का बहिष्कार करना चाहिए, अन्यथा श्रमिकों के क्रान्तिकारी नेता मिलेराँ, ब्रियाँ और विवियानी की तरह कायर और दब्बू बन जाएँगे। किसी समय में फ्रांस में श्रमिकों के ये नेता शेरों की तरह दहाड़ते थे, किन्तु संसद् में प्रवेश ने तथा मन्त्रिपदों के प्रलोभन ने इन्हें भीगी बिल्ली बना दिया। अतः क्रान्तिकारियों को संसद् को तथा संसदीय कार्यक्रम को दूर से ही तिलांजलि देनी चाहिए। इसके विरोध का **दूसरा** कारण इस व्यवस्था के भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन देना

है, इसमें आकर भले लोग भी भ्रष्टाचारी बन जाते हैं, पहले (पृ० ४४३) इस विषय में पानामा नहर कम्पनी के गोलमाल की तथा अन्य गड़बड़ों की चर्चा की जा चुकी है। पालियामैंण्ट में जाकर सदस्यों की प्रवृत्ति प्रायः पैसा कमाने की तथा अपना घर भरने की हो जाती है, श्रमिक नेता इस चक्कर में फँसकर श्रमिकों के हित एवं क्रान्ति को भूल जाते हैं और स्वार्थसिद्धि के लिए कुचक्रों और षड्यन्त्रों में लीन हो जाते हैं। **तीसरा** कारण संसद् द्वारा श्रमिकों के हितों का सम्पादन न करना है। स्वार्थी राजनीतिज्ञों और पूंजीपतियों की मुट्ठी में होने के कारण संसद् श्रमिकों के कल्याण के कार्य नहीं कर सकती; वह ऐसे नियम तभी बनाती है जब श्रमिक आन्दोलन करके पूंजीपतियों और राजनीतिज्ञों को ऐसे कानून बनाने के लिए बाधित करते हैं। भय के बिना कोई संसद् श्रमिकों के लिए उपयोगी कार्य नहीं कर सकती है। अतः ऐसी संस्था श्रमिकों के लिए सर्वथा निरर्थक और बेकार है।

पांचवां सिद्धान्त **प्रजातन्त्र का विरोध** है। यह कई कारणों से किया जाता है। **पहला** कारण इसका श्रमिक संघवादियों के मौलिक सिद्धान्त वर्ग-संघर्ष के प्रतिकूल होना है, क्योंकि लोकतन्त्र का अन्तिम उद्देश्य विभिन्न विवाद करने वाले दलों में समझौता कराते हुए समाज में शान्ति और एकता स्थापित करना होता है। प्रजातन्त्र विभिन्न दलों में सहयोग और सामंजस्य की भावना उत्पन्न करना चाहता है, जबकि श्रमिक संघवाद का उद्देश्य वर्ग-विग्रह की भावना को भड़काना है, उसके मतानुसार सहयोग और समझौते की भावना निरी धोखाधड़ी है, संघर्ष सब प्रकार के अच्छे गुणों को जन्म देता है, अतः वह समझौते पर आधारित प्रजातन्त्र में कोई आस्था नहीं रखता है। इस आन्दोलन के एक नेता लैगरडेल्ले के शब्दों में लोकतन्त्र का आधार "चालाकियां, गोलमाल, अस्पष्ट बातें करना (Equivocation), रियायतें, समझौते तथा लोगों को सन्तुष्ट बनाए रखना (Conciliation) है।" इस कारण राजनीतिज्ञों को अपने मतदाताओं को प्रसन्न करने के लिए हीन, निकृष्ट, अनैतिक और भ्रष्टाचारपूर्ण उपायों का अवलम्बन करना पड़ता है, इस कारण लोकतन्त्र में कभी भी मनुष्य की नैतिक भावनाओं और गुणों का विकास नहीं हो पाता है, इसमें स्वार्थी तथा पूंजीपति राजनीतिज्ञों का बोलबाला होने से प्रजातन्त्र में जनता को न्याय नहीं मिल पाता है। ड्रेफस का मामला इसका सुन्दर उदाहरण है। सोरेल को लोकतन्त्र से तभी घृणा हो गई जब उसे यह ज्ञात हुआ कि ड्रेफस के मामले में कितना घोर अन्याय हुआ है तथा लोकतन्त्रीय व्यवस्था के कारण उसे न्याय नहीं मिला।[1] लोकतन्त्र के विरोध का **दूसरा** कारण लोकतन्त्र का अक्षमतापूर्ण शासन है। इसकी एक विशेषता सब विषयों पर आलोचना एवं वाद-विवाद करने की खुली छूट देना है। यह समझा जाता है कि इससे सब पक्ष सामने आ जाते हैं और इनके आधार पर समुचित निर्णय लिया जा सकता है। श्रमिक संघवादी इससे सहमत नहीं है, उनका यह कहना है कि वर्तमान समय में राज्य-सम्बन्धी प्रश्न इतने जटिल और क्लिष्ट हो गए हैं कि उन पर साधारण जनता द्वारा स्वतन्त्र विचार नहीं हो सकता है, इन पर समुचित विचार के लिए

---

१. लैंकास्टर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २८१

विशेषज्ञों की आवश्यकता है, इस दशा में समुचित निर्णय करके क्षमतापूर्ण रीति से शासन किया जा सकता है। **तीसरा** कारण लोकतन्त्र के पक्ष में दिए जाने वाले इस तर्क की निस्सारता है कि यह बहुमत का तथा साधारण जनता का शासन है। वस्तुतः इसमें मुट्ठी-भर पूँजीपति अपने पैसे के बल पर वोट खरीद लेते हैं, अपने पिट्ठुओं को पार्लियामैण्ट में चुनवा लेते हैं और बहुमत के नाम पर अपनी स्वार्थसिद्धि करते हुए गुलछर्रे उड़ाते हैं। लोकतन्त्र वास्तव में सिद्धान्तशून्य किन्तु अपनी भाषण कला से जनता को बेवकूफ बना सकने वाले कुछ थोड़े से धूर्त राजनीतिज्ञों का शासन है, ये अपनी स्वार्थसिद्धि और सौदेबाजी में लगे रहते हैं।[1] इस प्रकार लोकतन्त्र मनुष्यों के नैतिक पतन और दिवालियेपन का प्रमाण है।

छठा सिद्धान्त **राजनीतिक दलों का विरोध** है। श्रमिक संघवादी वर्ग (Class) की तुलना में दल (Party) को एक कृत्रिम और अस्वाभाविक संगठन मानते हैं।[2] लैगरडेल्ले ने इस बात पर बहुत बल दिया है कि वर्ग ऐतिहासिक विकास का स्वाभाविक परिणाम है, इसके सब व्यक्ति समान आर्थिक बन्धनों और आवश्यकताओं के कारण आपस में जुड़े रहते हैं, इनमें अत्यधिक एकरूपता और एकता होती है, मजदूर वर्ग के सभी व्यक्ति अपनी आर्थिक परिस्थितियों के कारण पूँजीवाद के विनाश के लिए कटिबद्ध हैं। किन्तु राजनीतिक दल में ऐसा नहीं होता है, उसमें विभिन्न वर्गों और स्तरों के व्यक्ति बौद्धिक विश्वासों की समानता के कारण एकत्र होते हैं; उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड के उदार दल को लीजिए, इसमें उदारवादी सिद्धान्तों में आस्था रखने वाले लार्ड, बड़े-बड़े जमींदार, पूँजीपति, मध्यमवर्गीय व्यक्ति और रेलों पर काम करने वाले कुली और मजदूर भी सम्मिलित होते हैं। इन सब को पार्टी के एक सूत्र में जोड़ने वाला बन्धन समान आर्थिक स्वार्थ नहीं, अपितु उदारवादी सिद्धान्तों में बौद्धिक आस्था रखना है। वर्ग आर्थिक हितों के सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित है, राजनीतिक दल या पार्टी बौद्धिक विश्वासों की बालू की नींव पर खड़ी हुई है। अतः पार्टी कोई भी कार्य, सुदृढ़ रूप से संगठित न होने के कारण, वर्ग जैसी सफलता के साथ सम्पन्न नहीं कर सकती। कृत्रिम और अस्वाभाविक होने के कारण पार्टी के माध्यम से कार्य करना मजदूरों के लिए अवांछनीय और अहितकर है।

सातवाँ सिद्धान्त **राजनीतिक कार्यक्रम का विरोध** है। श्रमिक संघवादियों का यह विश्वास है कि श्रमिकों का उद्धार राजनीतिक कार्यक्रम से नहीं हो सकता है। राजनीतिक कार्यक्रम का अभिप्राय राजनीतिक दल बनाना, चुनाव लड़ना, पार्लियामैण्ट में बहुमत प्राप्त करके मन्त्रिमण्डल बनाना और राज्य एवं सरकार के माध्यम से अपने उद्देश्यों को क्रियान्वित करना है। श्रमिक संघवादी राजनीतिक कार्यक्रम की दलदल में नहीं फँसना चाहते हैं। उनका यह कहना है कि यह कार्यक्रम राजनीतिक दलों के माध्यम से पूरा किया जाता है, किन्तु ये दल अपने उद्देश्य की पूर्ति में सहायक नहीं हो सकते हैं क्योंकि इनमें विभिन्न वर्गों और स्वार्थों वाले समाजवादी पूँजीपति,

---

१. लैंकास्टर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २८२

२. ग्रे—दी सोशलिस्ट ट्रेडीशन, पृ० ४१४-१५

जमींदार, मध्यमवर्गीय व्यक्ति, मजदूर और किसान आदि सभी प्रकार के व्यक्ति सम्मिलित होते हैं। अतः इनका कार्यक्रम इन सब वर्गों के व्यक्तियों के समझौते से निश्चित होता है, यह कार्यक्रम ऐसा रखना पड़ता है जो सभी को स्वीकरणीय हो। यह बहुत ही मृदु और शिथिल होता है, ऐसी पार्टियों से श्रमिकों के कल्याण के लिए क्रान्तिकारी कार्यक्रम कभी स्वीकार नहीं किए जा सकते हैं। अतः श्रमिकों का उद्धार श्रमिकों की अपनी संस्थाओं से ही हो सकता है, यह राजनीतिक दलों से कभी सम्भव नहीं है। वस्तुतः श्रमिकों के लिए राजनीतिक कार्यक्रम की अपेक्षा आर्थिक कार्यक्रम अधिक लाभप्रद और उपयोगी है। यह इनमें जितनी सुदृढ़ एकता की भावना उत्पन्न कर सकता है, राजनीतिक कार्यक्रम कभी उतनी एकता नहीं पैदा कर सकता। चुनावों के राजनीतिक कार्यक्रम में सभी मजदूर एक ही उम्मीदवार को वोट नहीं देते, किन्तु मजदूरी की दर बढ़वाने के लिए हड़ताल का नारा लगाने पर सब श्रमिक एक स्वर से इसका समर्थन करते हैं। श्रमिक एकसाथ हड़ताल कर सकते हैं, किन्तु एक ही प्रत्याशी को सभी वोट नहीं दे सकते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि राजनीतिक कार्यक्रम मजदूरों की एकता में विघ्न डालने वाला है। फिर ऐसे कार्यक्रम में कई बड़े खतरे हैं। राजनीतिज्ञ बड़े स्वार्थी होते हैं, वे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए मजदूरों का शोषण करते हैं, उनके वोट पाने के लिए पहले वे झूठे आश्वासनों के सब्ज बाग दिखलाते हैं और अपना मतलब पूरा होने पर उन्हें धोखा दे देते हैं। राजनीतिक कार्यक्रम की दलदल में फँसकर श्रमिक नेता मन्त्रिपदों के प्रलोभन में आ जाते हैं, मन्त्री की कुर्सी पर बैठकर क्रान्तिकारी सिद्धान्तों को भूल जाते हैं और हड़तालों में मजदूरों पर गोलियाँ चलवाने वाली सरकार का समर्थन करते हैं। अतः 'छल-कपटपूर्ण राजनीति की दलदल' से श्रमिकों को दूर ही रहना चाहिए।

आठवाँ सिद्धान्त देशभक्ति का विरोध है। श्रमिक संघवादियों के मतानुसार मजदूरों का कोई अपना देश या मातृभूमि नहीं होती है। मजदूरों के लिए वही स्वदेश है जहाँ उन्हें अपना पेट भरने के लिए मजदूरी मिल जाए। संसार-भर के मजदूरों के आर्थिक हित और स्वार्थ गहरी समानता रखते हैं, सब देशों में मजदूरों का एक ही शत्रु पूँजीवाद है। सब का लक्ष्य इसका उन्मूलन करना है, क्योंकि इसके रहते हुए उनकी स्थिति में सुधार नहीं हो सकता है। भूखे, नंगे, पीड़ित व्यक्तियों के लिए देशभक्ति की भावना खोखला आदर्श मात्र है। इसकी निरर्थकता १९०५ की एक घटना ने श्रमिकों के लिए भली-भाँति स्पष्ट कर दी थी। इसमें फ्रांस की जर्मनी के साथ लगी हुई पूर्वी सीमा पर होने वाली एक हड़ताल को फ्रांसिसी और जर्मन सेनाओं ने मिलकर बुरी तरह से कुचला। इससे श्रमिक संघवादियों (Syndicalists) ने यह परिणाम निकाला कि पूँजीपति अपने वर्ग के स्वार्थों की सिद्धि के लिए देशभक्ति की भावना को नगण्य समझते हुए विदेशी सेनाओं द्वारा अपने देश के श्रमिकों का दमन करवाने में कोई संकोच नहीं करता है। ऐसी दशा में श्रमिकों को देशभक्ति की भावना से कोई लाभ नहीं है। वस्तुतः पूँजीपति अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए ही बचपन से पाठशालाओं में बच्चों को देशभक्ति का पाठ पढ़ाने की व्यवस्था करते हैं ताकि समय आने पर वे पूँजीपतियों की स्वार्थसिद्धि के लिए अपना रक्त बहा सकें।

नवाँ सिद्धान्त सैनिकवाद का विरोध है। मजदूरों द्वारा की जाने वाली हड़तालों को राज्य सेना की सहायता से भंग करता है। इस दमन के कारण सिण्डीकेलिस्ट या श्रमिक संघवादी सेना का विरोध करते हैं। उन्होंने सैनिकों में इस बात का प्रचार किया कि वे मजदूरों की सन्तान हैं, सेना में भर्ती होने से पहले वे मजदूर थे, सेना से अवकाश ग्रहण करने के बाद भी वे श्रमिक जीवन को स्वीकार करेंगे, सैनिक होते हुए भी उनके सम्बन्ध अपने श्रमजीवी परिवारों से बने हुए हैं। वे श्रमिक हैं और श्रमिक बने रहेंगे, कुछ समय तक धारण की जाने वाली सिपाही की वर्दी उनके वर्ग को तथा उनके स्थायी हितों को नहीं बदल सकती है, अतः सैनिकों को राजनीतिज्ञों के आदेश पर अपने मजदूर भाइयों पर गोलियाँ नहीं चलानी चाहिएँ। इसके अतिरिक्त उन्हें अपने राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र के साथ किए जाने वाले युद्धों में भी कोई भाग नहीं लेना चाहिए, क्योंकि वर्तमान युद्ध पूँजीपति अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए, साम्राज्य के विस्तार के लिए, अपने कारखानों का तैयार माल बेचने की मण्डियाँ प्राप्त करने के लिए और उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चा माल प्राप्त करने के लिए लड़ते हैं। इन युद्धों से श्रमिकों का कोई लाभ नहीं है, अतः श्रमिक संघवादी इनका उग्र विरोध करते हैं।

दसवाँ सिद्धान्त बौद्धिकता का विरोध तथा अन्धश्रद्धा (Myth) **का उग्र समर्थन है।** पहले यह बताया जा चुका है कि श्रमिक संघवादी विचारधारा का प्रमुख दार्शनिक सोरेल बुद्धिवाद को सभ्यता के पतन का चिह्न समझता है, वह सुप्रसिद्ध दार्शनिक बर्गसों (Bergson) का अनुयायी था। इसे आधुनिक युग में बुद्धिवाद के विरुद्ध विद्रोह करने का श्रेय दिया जाता है।[1] सोरेल ने इसका अनुसरण करते हुए इस सिद्धान्त का प्रचार किया कि मनुष्य अपने कार्य सोच-विचारकर बुद्धिपूर्वक नहीं करता है, अपितु अन्तःप्रेरणा (intuition) से करता है। सोरेल के मतानुसार इतिहास के सभी बड़े कार्य अन्धश्रद्धा से प्रेरित होकर होते हैं; उदाहरणार्थ, ईसाइयत के विकास को लीजिए। इस धर्म के आरम्भिक समय में तत्कालीन शासकों ने कठोर एवं क्रूर दमन द्वारा इसे कुचलना चाहा, किन्तु वे सफल नहीं हो सके क्योंकि ईसाई

---

१. हेनरी बर्गसों (१८५९-१९४१) यहूदी वंशोत्पन्न नोबल पुरस्कार विजेता, फ्रेंच दार्शनिक था। दार्शनिक होते हुए भी इसकी रचनाएँ इतनी सरस, सुबोध और मनोहारिणी हैं कि उसे १९२७ में साहित्य के विषय का नोबल पुरस्कार मिला था। शोपनहार तथा नीटशे की भाँति उसने बुद्धि की निन्दा की है। वह बुद्धि को आत्मसंरक्षण करने वाली वस्तुओं का साधन मानता है और इससे प्राप्त होने वाले ज्ञान को बड़ा दोषपूर्ण और अधूरा मानता है। बुद्धि हमें सम्पूर्ण यथार्थ सत्ता के कुछ अंशों का अपूर्ण ज्ञान कराते हुए इस विषय में सत्य ज्ञान की भ्रान्ति ही करा सकती है, सच्चा बोध नहीं दे सकती है। बुद्धि से प्राप्त ज्ञान की भ्रान्ति को उसने सिनेमा के उदाहरण से समझाया है, इसमें वास्तव में कुछ अलग-अलग स्थिर चित्र (snapshots) होते हैं, इन्हें पर्दे पर जब तेजी से दिखाया जाता है, तो हमारी बुद्धि इन सब चित्रों को जोड़कर उनमें सातत्य (continuity) की—सब घटनाओं के क्रमशः एकसाथ होने की भ्रान्ति उत्पन्न कर देती है। बुद्धि द्वारा उत्पन्न ज्ञान भ्रान्तिपूर्ण है। मनुष्य अपने सभी कार्य बुद्धि से नहीं किन्तु अन्तःप्रेरणा (intuition) से करता है (लैंकास्टर—मास्टर्स आफ पोलिटिकल थाट, पृ० २७४-७५; विल ड्यूरेंट—स्टोरी आफ फिलासिफी, पृ० ४६४)। बर्गसों की प्रसिद्ध रचनाएँ Creative Evolution तथा The Two Sources of Morality and Religion हैं।

एक अन्धश्रद्धा से प्रेरित होकर इस दमन का निर्भीकतापूर्वक प्रतिरोध करते रहे। यह अन्धश्रद्धा 'ईसामसीह के पुनर्जन्म' में अविचल आस्था थी, उनको यह अटूट विश्वास था कि ईसा का पुनरुत्थान होगा तथा सब प्राणियों के न्याय के लिए निर्धारित तिथि पर ईश्वर उनके दमन का अन्यायपूर्ण कार्य करने वालों को समुचित दण्ड देगा। यद्यपि यह अन्धश्रद्धा सर्वथा मिथ्या थी, क्योंकि ईसामसीह का पुनर्जन्म नहीं हुआ, फिर भी इसने ईसाइयत को इतना प्रभावशाली बनाया कि चौथी शताब्दी में वह रोमन साम्राज्य का राजधर्म बन गया। अन्धश्रद्धा का दूसरा उदाहरण सोलहवीं शताब्दी में लूथर आदि धर्मसुधारकों का योरोप के धार्मिक पुनर्निर्माण के सपने लेने तथा ऊँची कल्पनाएँ करना था। यद्यपि इन्होंने पूर्ण रूप से क्रियात्मक रूप नहीं धारण किया, किन्तु इनसे योरोप का धार्मिक कायाकल्प हो गया। अन्धश्रद्धा का तीसरा उदाहरण १८वीं शताब्दी के स्वतन्त्रता और समानता के राजनीतिक सिद्धान्त थे। ये सर्वथा अयुक्तियुक्त और असम्भव थे, किन्तु फिर भी इन सिद्धान्तों ने १९वीं शताब्दी के योरोपियन जगत् पर गहरा प्रभाव डाला। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि अन्धश्रद्धा (Myth) समाज के सामने बहुत-सी आदर्श परिस्थितियाँ स्थापित करने का बड़ा चित्ताकर्षक चित्र उपस्थित करती है। यद्यपि इन परिस्थितियों को कभी पूर्ण रूप से व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सकता है, फिर भी मनुष्यों के विचारों, आचरण और क्रियाओं पर ये गहरा प्रभाव डालती रहती हैं, उन्हें बड़े-से-बड़ा त्याग और बलिदान के लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित करती हैं। यह आवश्यक नहीं कि अन्धश्रद्धा (Myth) सत्य हो, वह प्राय: मिथ्या होती है, ईसा का पुनर्जन्म और भूतल पर भगवान् के राज्य (Kingdom of God) की स्थापना नहीं हुई थी, किन्तु इस कल्पना ने उस समय के व्यक्तियों में ऐसी भावना भर दी थी कि ईसाइयत एक शक्तिशाली आन्दोलन बन गया। सोरेल के मतानुसार इसी प्रकार श्रमिक संघवादियों को मजदूरों में उनके भावी स्वर्ण युग के सम्बन्ध में तथा आम हड़ताल के ब्रह्मास्त्र द्वारा सब प्रकार के कष्टों से मुक्त स्वर्ण युग के धरती पर अवतीर्ण कराने की अन्धश्रद्धा मजदूरों में उत्पन्न करनी चाहिए। मजदूर बुद्धिपूर्वक सोचकर कभी हड़ताल नहीं कर सकते हैं क्योंकि उन्हें हड़ताल के दिनों में मजदूरी नहीं मिलती है, वे स्वयं तथा उनके बच्चे भूखे मरने लगते हैं। किन्तु यदि भावी स्वर्ण युग में अन्धश्रद्धा होगी तो वे अपनी भावनाओं के वशीभूत होकर इस ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करने में संकोच नहीं करेंगे, उन्हें अपने नीरस दैनिक कार्य की अपेक्षा हड़ताल, तोड़-फोड़, उत्पात के कार्यों में अधिक आनन्द आएगा और ऐसी अन्धश्रद्धा से ही नूतन समाज का निर्माण सम्भव है।

ग्यारहवाँ सिद्धान्त यह है कि क्रान्ति द्वारा राज्य की समाप्ति होने पर श्रमिक संघवादी **समाज के नियन्त्रण का अधिकार केवल श्रमिकों को ही देना** चाहते हैं। उनका मत है कि वस्तुओं का उत्पादक होने के नाते उन्हें समाज में अधिकतम अधिकार और प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए, इस व्यवस्था में ही मजदूर सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकते हैं। इसी में मजदूरों के व्यक्तित्व का शक्तिशाली एवं चरम विकास हो सकेगा। श्रमिक संघवाद का यह दावा है कि वह एकमात्र सच्चा श्रमिक आन्दोलन

है क्योंकि वह समाज के संचालन की सम्पूर्ण सत्ता श्रमिकों के हाथ में सौंपना चाहता है और इस आन्दोलन के सिद्धान्तों का विकास श्रमिकों द्वारा किया गया है। इससे पहले के सभी आन्दोलन दार्शनिकों के दिमाग की उपज थे। ये सभी उच्च एवं मध्यम वर्ग के व्यक्ति थे। अतः ये श्रमिकों की वास्तविक समस्याओं को समझने में असमर्थ रहे हैं। किन्तु श्रमिक संघवादी नेता स्वयमेव श्रमिक होने के कारण यथार्थ रूप में श्रमिकों की समस्याओं का समुचित समाधान करने वाला आन्दोलन प्रस्तुत कर सके हैं। श्रमिक संघवादियों का **बारहवाँ** सिद्धान्त प्रत्यक्ष कार्यवाही में विश्वास रखना है।

श्रमिक संघवादी कार्यक्रम : प्रत्यक्ष कार्यवाही (Direct Action) **का महत्व और इसके विभिन्न रूप**—प्रत्यक्ष कार्यवाही का अभिप्राय ऐसी कार्यवाही से है जो श्रमिक अपने हितों की सिद्धि के लिए स्वयमेव किसी अन्य माध्यम—राजनीतिक दल, पार्लियामैण्ट आदि की सहायता लिए बिना ही करते हैं। उदाहरणार्थ, श्रमिकों की मजदूरी की दर में वृद्धि का एक उपाय तो राजनीतिक आन्दोलन करके विधानसभा द्वारा ऐसी वृद्धि के लिए कानून पास करवाना है, इसमें यह वृद्धि राज्य के माध्यम से होने के कारण राजनीतिक आन्दोलन की अप्रत्यक्ष कार्यवाही द्वारा हुई है। दूसरी ओर श्रमिक स्वयमेव हड़ताल करके मिल-मालिकों को यदि मजदूरी बढ़ाने के लिए विवश कर देते हैं तो यह प्रत्यक्ष कार्यवाही है। पहले यह बताया जा चुका है कि श्रमिक संघवादियों को प्रजातन्त्र पर, संसद् पर तथा संसदीय राजनीतिक कार्यक्रम पर कोई आस्था नहीं है, अतः वे इन सब का विरोध करते हैं, इसीलिए वे श्रमिकों द्वारा की जाने वाली प्रत्यक्ष अथवा सीधी कार्यवाही पर बल देते हैं। उनका यह मत है कि पूंजीपतियों का निरन्तर विरोध होना चाहिए। पूंजीपति श्रम के बिना श्रमिकों को कोई सुविधा नहीं देगा। मजदूरों को उनके विरुद्ध सदैव संघर्ष, गृहयुद्ध और क्रान्ति का वातावरण बनाए रखना चाहिए। उनके कार्यक्रम में हड़ताल का प्रधान स्थान था। किन्तु हड़ताल प्रतिदिन नहीं हो सकती है, अतः छापामार युद्ध-प्रणाली (Guerilla Warfare) का उपयोग करते हुए श्रमिकों को गुप्त रीति से पूंजीपतियों के विरुद्ध संघर्ष जारी रखना चाहिए। इस रीति से संघर्ष जारी रखने के प्रधान साधन निम्नलिखित हैं—

१. मन्दगति से काम करना या केकेन्नी (Cacanny)[1] **तथा शान्तिपूर्ण एवं गुप्त ढंग से काम बिगाड़ना**—मिल-मालिक तथा पूंजीपति मजदूरों को बहुत कम वेतन देते हैं, इसलिए मजदूरों को उनका काम भी बहुत कम मात्रा में और मन्दगति से करना चाहिए ताकि उत्पादन कम हो और पूंजीपतियों को घाटा उठाना पड़े। श्रमिक संघवादियों का मत है कि यदि मजदूर को पैसा कम दिया जाता है, उसे कम मेहनत करनी चाहिए, अधिक मजदूरी मिलती है तो अधिक काम करना चाहिए। 'खरी मजदूरी चोखा काम' के सिद्धान्त का पालन करना चाहिए, क्योंकि यह बाजार का

१. इस उपाय का अवलम्बन और इस शब्द का प्रयोग पहले स्काटलैण्ड में हुआ था। यह अंग्रेजी के दो शब्दों call canny से मिलकर बना है। इसका अर्थ मजदूरों को सावधान (canny) होकर अथवा मन्दगति से काम करने के लिए कहना है ताकि पूंजीपति का उत्पादन अभीष्ट गति और मात्रा में न हो तथा उसे घाटा उठाना पड़े।

सामान्य नियम है। उदाहरणार्थ, यहाँ छः, आठ और दस रुपये किलो के अंगूर मिलते हैं, आठ रुपये वाला अंगूर छः रुपये वाले से और दस रुपये वाला आठ रुपये किलो वाले अंगूर से अधिक अच्छा होगा। आप जितने अधिक पैसे खर्च करेंगे उतनी अधिक अच्छी चीज ले सकेंगे। इसी तरह श्रमिकों को भी यदि अच्छा वेतन मिलेगा तो वे अच्छा काम करेंगे। वर्तमान समाज में पूंजीपति अपना मुनाफा बढ़ाने के लिए श्रमिकों को कम वेतन देते हैं, अतः श्रमिकों को भी उचित है कि वे कम और खराब काम करें, कामचोरी की नीति अपनाएँ।

२. **गुप्त तोड़-फोड़ या अन्तर्ध्वंस** (Sabotage)[१]—इसका अभिप्राय उन कार्यों से है जो मिल-मालिक या पूंजीपति को हानि पहुंचाने के लिए श्रमिकों द्वारा जान-बूझकर किए जाते हैं। इसे गुप-चुप रीति से कई प्रकार से किया जा सकता है—जैसे जमींदार की खेती करते हुए उसमें निकृष्ट कोटि का बीज बोना, इस ढंग से बोना कि फसल खराब हो जाए, माल भेजते समय गलत पता लिखना जिससे माल कानपुर की जगह रामपुर पहुंच जाए, रेलवे मजदूरों का माल गलत गाड़ी में रख देना, थान लपेटते समय चुपके से थान के बीच के हिस्से में ऐसा पाउडर या तेजाब डालना जिससे थान खराब हो जाए, मशीनों के पुर्जे निकालकर उन्हें बेकार कर देना अथवा इनकी तोड़-फोड़ करना, माल की तैयारी करते हुए उनमें खराबी पैदा कर देना, पूरे नियमों का पालन करते हुए चीजों को इतनी अच्छी तरह तैयार करना कि उनके उत्पादन की मात्रा कम हो जाए और लागत बढ़ जाए, जैसे मेज की वार्निश करते हुए एक घण्टे के स्थान पर चार घण्टे लगाना, जब तक निरीक्षक की दृष्टि रहे तभी तक काम करना, उसकी आँख हटते ही काम बन्द कर देना, हर सम्भव उपाय से मालिक को क्षति पहुँचाना, ग्राहक को चुपके से लागत-मूल्य या उस वस्तु के छिपे हुए दोष बताना। कई बार तोड़-फोड़ या अन्तर्ध्वंस का कार्य नियमों का कठोर रीति से अक्षरशः पालन करते हुए किया जाता है। सामान्य रूप से गाड़ी लेट हो जाने पर ड्राइवर गति तेज करके देरी को कम कर देते हैं। किन्तु श्रमिक संघवादी ऐसा नहीं करते, वे गतिविषयक नियमों का अक्षरशः पालन करते हैं, इससे गाड़ियाँ घण्टों लेट हो जाती हैं। तोड़-फोड़ के कार्यों का उद्देश्य पूंजीपति की सम्पत्ति को सब प्रकार से हानि पहुँचाकर उसे अपनी माँगें पूरी करने के लिए विवश करना है। सोरेल के अतिरिक्त अन्य सभी सिण्डीकेटवादी विचारक तोड़-फोड़ और मन्दगति से काम करने के उपायों का समर्थन करते

---

१. 'सेबोटाज' शब्द का बड़ा मनोरंजक इतिहास है। यह फ्रेंच भाषा से आया है और इसकी व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है। पहली व्युत्पत्ति लकड़ी के जूते का अर्थ देने वाले फ्रेंच शब्द साबो (Sabot) से बताई जाती है। यह कहा जाता है कि आरम्भ में मजदूर मशीनों में खराबी पैदा करने के लिए उनमें अपने लकड़ी के जूते डाल दिया करते थे (कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० २४०; कालिजिएट वैब्स्टर डिक्शनरी, पृ० १२८१)। दूसरी व्युत्पत्ति ब्रूअर की डिक्शनरी आफ फ्रेज एण्ड फेबल (अष्टम संशोधित संस्करण, १९६३, पृ० ७८९) में यह दी गई है कि १९१२ में फ्रांस में रेल की आम हड़ताल में रेल की लाइनों को जोड़ने वाले पुर्जों (Sabot) को काट दिया गया था, उस समय से असन्तुष्ट हड़तालियों द्वारा मशीनों और कारखानों की सामग्री को जान-बूझकर पहुँचाई जाने वाली क्षति और तोड़-फोड़ को सेबोटाज (Sabotage) कहा जाने लगा।

हैं। किन्तु सोरेल ने दो कारणों से नैतिक आधार पर इन उपायों का विरोध किया है: पहला कारण यह है कि पूँजीवाद के उन्मूलन के बाद मजदूरों ने इन्हीं मशीनों से उत्पादन-कार्य करना है। यदि मजदूर इन मशीनों को खराब कर देंगे तो अन्ततोगत्वा इसका दुष्परिणाम उन्हें भुगतना पड़ेगा। दूसरा कारण यह है कि नूतन समाज के निर्माण का कार्य परिश्रमी, ईमानदार और सच्चे मजदूरों से ही हो सकता है, किन्तु यदि उपर्युक्त उपायों का अवलम्बन करते हुए मजदूरों को कामचोरी की आदतें सिखाई गईं तो इसका उनके चरित्र पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा, वे आलसी, भद्दे ढंग से काम करने वाले, सुस्त, अविश्वसनीय और धोखेबाज बन जाएँगे।

३. बहिष्कार[1] तथा नामपत्र (Boycott and Label)[2]—बहिष्कार का अभिप्राय यह है कि मजदूर ऐसे सभी मिल-मालिकों और कारखानों से कोई सम्बन्ध न रखें जो मजदूरों के साथ अच्छा व्यवहार न करते हों या उन्हें पूरी मजदूरी नहीं देते। ऐसे कारखानों से कोई माल नहीं खरीदना चाहिए, इनमें मजदूरी नहीं करनी चाहिए। नामपत्र या लेबल (Label) का यह अभिप्राय है कि श्रमिक संघों द्वारा स्वीकृत कारखानों से तैयार माल पर इस आशय का एक नामपत्र या परचा चिपका दिया जाना चाहिए कि इसे अमुक नामधारी प्रामाणिक संस्था ने ही बनाया है, मजदूरों को ऐसे प्रामाणिक नामपत्रों से अंकित माल ही खरीदना चाहिए।

४. हड़ताल (Strike)—श्रमिक संघवादी अपनी प्रत्यक्ष कार्यवाही में हड़ताल को सबसे ऊँचा स्थान देते हैं। तोड़-फोड़ या अन्तर्ध्वंस, बहिष्कार, नामपत्र तथा मन्दगति से काम करना (Cacanny) तो पूँजीपतियों के साथ लड़े जाने वाले छापामार युद्ध के अंग हैं और हड़ताल के ब्रह्मास्त्र का प्रयोग उनके साथ सीधी, खुली और जमकर लड़ी जाने वाली लड़ाई में होता है। हड़ताल का अर्थ मजदूरों का संगठित रूप से काम बन्द कर देना है। सिण्डीकेटवादियों के मतानुसार मजदूरों के लिए हड़ताल की वही उपयोगिता है जो साधारण सेना के लिए कवायद या ड्रिल की होती है। यह मजदूरों को अनुशासन और संगठन का पाठ पढ़ाती है। यह सत्य है कि हड़ताल में मजदूरों को कष्ट उठाना पड़ता है, किन्तु इन हड़तालों से उनमें क्रान्ति की भावना प्रबल होती है, उन्हें अपने भीतर विद्यमान प्रसुप्त इस महान् शक्ति का बोध होता है कि वे सम्पूर्ण समाज के आर्थिक और सामाजिक जीवन को अस्तव्यस्त करके पूँजीपति वर्ग से अपनी माँगें किस प्रकार मनवा सकते हैं। अतः श्रमिक संघवादी प्रत्येक सम्भव उपाय से हड़ताल करवाने का प्रयत्न करते हैं, उनके मतानुसार हर हड़ताल पूँजीवाद के विरुद्ध लड़ी जाने वाली लड़ाई है, इसमें सफलता प्राप्त करने से

---

१. ग्रे—दी सोशलिस्ट ट्रेडीशन, पृ० ४२३

२. बहिष्कार के वर्तमान रूप के आविष्कार का श्रेय आयर्लैण्ड को है। आयर्लैण्ड में ब्रिटिश जमींदारों के कारिन्दे आयरिश किसानों पर भीषण अत्याचार करके उनसे बड़ी कठोरतापूर्वक लगान वसूल करते थे। किसानों ने इनसे मुक्ति पाने के लिए ऐसे कारिन्दों का सामाजिक बहिष्कार अर्थात् उनके साथ कोई सम्बन्ध न रखने का निश्चय किया। इस शस्त्र का प्रयोग सर्वप्रथम कैप्टन चार्ल्स सी. बायकाट (१८३२-९७) के विरुद्ध बड़ी सफलतापूर्वक प्रयुक्त किया गया, अतः ऐसे बहिष्कार को उसके नाम से बायकाट (Boycott) कहा जाने लगा, १८८० से इस शब्द का खूब प्रयोग होने लगा।

अन्तिम विजय अधिकाधिक निकट आती जाती है और मजदूर इस कला में प्रशिक्षित होते जाते हैं। प्रत्येक हड़ताल श्रमिक क्रान्ति की दिशा में आगे बढ़ने वाला पग है। यह सफल हो तो अच्छा है, किन्तु विफल होने पर भी लाभप्रद है क्योंकि आज की पराजय मजदूरों को अपनी त्रुटियों और दोषों का ज्ञान कराती है, इन्हें दूर करके कल वे अपनी पराजय को विजय में बदल सकते हैं। हड़ताल सफल हो या विफल, इससे वर्गीय संघर्ष की तथा मजदूरों में भ्रातृत्व की भावना प्रबल होती है।

हड़तालें दो प्रकार की होती हैं—विशिष्ट (Particular) या छोटी हड़तालें तथा आम या सार्वभौम हड़ताल (General Strike)। किसी विशेष उद्योग में तथा विशेष माँगों को पूरा करने के लिए की गई हड़ताल विशिष्ट हड़ताल होती है। इसका क्षेत्र और उद्देश्य सीमित होते हैं। ऐसी छोटी-मोटी हड़तालें प्रायः होती रहती हैं। इन हड़तालों का चरम उत्कर्ष सार्वभौम हड़ताल में होता है। इसका अभिप्राय एक-साथ सभी उद्योगों में और सम्भव हो तो समूचे देश में कराई जाने वाली ऐसी हड़ताल से है जिससे सभी प्रकार का कारोबार, व्यापार, व्यवसाय बन्द हो जाए, जिससे पूंजीपतियों पर और सरकार पर इतना दबाव पड़े कि वे समस्त सत्ता और अधिकार मजदूरों को सौंपने को तैयार हो जाएँ। इस संघर्ष में मजदूरों की विजय होगी और वे समाज का पुनर्निर्माण करने में समर्थ होंगे। कई देशों में सार्वभौम हड़तालों ने उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की है। १८९३ में, अन्य उपायों के विफल होने पर बेल्जियम की जनता सामान्य हड़ताल और व्यापक प्रदर्शनों के बल से अपनी सरकार को इस बात के लिए बाधित करने में सफल हुई कि वह मताधिकार का विस्तार करे। १९०२ में स्वीडन में तथा १९०७ में आस्ट्रेलिया में इसी उपाय के अवलम्बन से जनता को विस्तृत मताधिकार प्राप्त हुआ। १९०५ में रूस में सेण्ट पीटर्सबर्ग के मजदूरों की तथा समूचे देश में विस्तीर्ण रेलों की आम हड़ताल से विवश होकर ज़ार ने राजनीतिक प्रशासन में सुधारों की घोषणा की। आजकल भारत में इसी उद्देश्य से विरोधी दल 'बम्बई बन्द', 'कलकत्ता बन्द' आदि विभिन्न 'बन्दों' का संगठन करते हैं।

आम हड़ताल के विचार का प्रादुर्भाव श्रमिक संघवाद से बहुत पहले हुआ था। रसेल ने इसके आविष्कार का श्रेय राबर्ट ओवन के एक अनुयायी लन्दन-निवासी विलियम बेनबौ (William Benbow) को दिया है, उसने १८३१ में सर्वप्रथम आम हड़ताल के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था[1]। डिज़रायली ने अपने उपन्यास 'सिबिल' में इसका वर्णन ऐसे **राष्ट्रीय अवकाश** (National Holiday) के नाम से किया है जब सब काम बन्द हो जाने के कारण सारा राष्ट्र छुट्टी मनाएगा। १९वीं शताब्दी के मध्य में प्रबल औद्योगिक विकास के साथ श्रमिकों की भृति में वृद्धि होने से आम हड़ताल का विचार ठण्डा पड़ गया, किन्तु नवम्बर १८८८ में प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन (First International) के सम्मेलन में फ्रेंच अराजकवादी पौजे (Pouget) ने इसका विशद प्रतिपादन किया। १८९२ में प्रसिद्ध फ्रेंच श्रमिक नेता ब्रियाँ (Briand) ने फ्रांस के श्रमिक संघ सम्मेलन को इसका सिद्धान्त स्वीकार करने की प्रेरणा की क्योंकि वह इसे

---

१. रसेल—रोड्स टु फ्रीडम, पृ० ८३

श्रमिकों द्वारा क्रान्ति करने का प्रधान साधन समझता था। उस समय जूल्स गुइस्डे (Jules Guesde) आदि फ्रेंच समाजवादी इसके घोर विरोधी थे। उनका यह कहना था कि जब तक मजदूर पूर्ण रूप से संगठित न हो जाएँ तब तक इसकी विफलता निश्चित है, अतः इस शस्त्र का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। किन्तु पौजे तथा पेल्लोतियेर के प्रचार से श्रमिक संघों के सामान्य संगठन (C.G.T.) ने इसे अन्त में स्वीकार कर लिया और यह श्रमिक संघवाद के कार्यक्रम का प्रधान अंग बन गया।[1]

सार्वभौम हड़ताल के महत्व की मीमांसा करते हुए सोरेल ने कहा है कि यह राजनीतिक क्रान्तियों की निरर्थकता को सूचित करती है। राजनीतिक क्षेत्र में विभिन्न माँगें स्वीकार कराने के लिए बीसियों हड़तालें करानी पड़ती हैं, इसमें मजदूरों को बहुत अधिक परेशानियाँ उठानी पड़ती हैं। आम हड़ताल एक बार में सब समस्याओं का समाधान करते हुए राज्य की समाप्ति करके सारी शासन-सत्ता मजदूरों को सौंप देगी। इस विषय में **दूसरी** महत्वपूर्ण बात यह है कि सामाजिक परिवर्तन और क्रान्ति फेबियन लोगों के मतानुसार क्रमिक रीति से शनैः-शनैः होना सम्भव नहीं है, यह आम हड़ताल द्वारा सहसा, विद्युत् गति से होगी और समाज का आमूलचूल परिवर्तन कर देगी। **तीसरा** महत्व इस बात में है कि आम हड़ताल से छोटी-मोटी हड़तालें भी विशेष गरिमा रखने लगती हैं क्योंकि प्रत्येक छोटी हड़ताल अन्तिम बड़ी हड़ताल का अग्रदूत बनती है, मजदूरों को इसकी कला का प्रशिक्षण देती है। इस विषय में **चौथी** बात यह है कि हड़ताल के मूल्य को उसकी ऊपरी सफलता से नहीं आँकना चाहिए। विफल होने वाली हड़तालें भी मजदूरों में पूंजीपतियों के तथा राज्य के विरुद्ध घोर घृणा के भाव उत्पन्न करती हैं, अपने वर्ग के हितों के प्रति जागरूकता की तथा वर्ग-चेतना की भावना को सुदृढ़ बनाती हैं। एक आम हड़ताल का यह बड़ा लाभ है कि इसमें विभिन्न उद्योगों के मजदूर एक उद्देश्य के लिए संगठित होते हैं, उनमें एकता तथा क्रान्ति की भावना सुदृढ़ होती है, यह एक सामान्य, आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति को लाने का अधिकतम प्रभावशाली साधन है। जिस हड़ताल से श्रमिक संघ तथा अन्य आन्दोलनकारी अपने क्षुद्र और विशिष्ट उद्देश्यों को पूरा करना चाहते हैं, उससे श्रमिक संघवादी सामाजिक क्रान्ति के महान् उद्देश्य को पूर्ण करना चाहते हैं।

नवीन श्रमिक संघवादियों ने सार्वभौम या आम हड़ताल के सिद्धान्त में कुछ संशोधन किया है। पुराने संघवादियों का यह विश्वास था कि सब मजदूरों द्वारा काम बन्द कर देने मात्र से ही आम हड़ताल में सफलता मिल जाएगी, इसके लिए किसी प्रकार के हिंसापूर्ण कार्यों का अवलम्बन करना आवश्यक नहीं होगा। किन्तु नवीन संघवादियों के मतानुसार मजदूरों को आम हड़ताल करने से पहले बाजारों के माल को खूब लूट लेना चाहिए ताकि हड़ताल के समय में उनके पास खाने-पीने की सामग्री की कोई कमी न रहे। काम बन्द करने से पहले मशीनों को इस ढंग से तोड़-फोड़ देना चाहिए कि नए मजदूर बुलाकर कारखानों को चालू न किया जा सके। सार्वभौम हड़ताल के लिए यह आवश्यक नहीं है कि सभी मजदूर काम छोड़ दें; यदि कोयले की

१. ग्रे—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४१८

खानों, बिजली, लोहे, रेल आदि के प्रधान उद्योगों (Key industries) में लगे हुए मजदूर काम छोड़ दें, तो भी समस्त आर्थिक जीवन अस्तव्यस्त हो जाता है और इसे ही आम हड़ताल समझा जाना चाहिए, क्योंकि प्रमुख उद्योगों में काम बन्द होने से अन्य उद्योग स्वयमेव बन्द हो जाते हैं। श्रमिक संघवादियों की दृष्टि में आम हड़ताल की विशेष उपयोगिता इसके माध्यम से एक सामान्य आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति को कराने में है। ऐसा महान् मौलिक सामाजिक परिवर्तन राजनीतिक क्षेत्र के तथा श्रमिक संघों के किसी अन्य कार्यक्रम से नहीं हो सकता है, अतः अन्य उपायों की तुलना में क्रान्ति करने के इस साधन की श्रेष्ठता, शक्तिमत्ता और प्रभाव में कोई सन्देह नहीं है। सोरेल के मतानुसार मजदूरों में इस उपाय के प्रति ऐसी अन्धश्रद्धा (Myth) उत्पन्न कर देनी चाहिए कि इससे प्रेरित होकर वे हड़ताल के दिनों में बड़े-से-बड़ा आर्थिक कष्ट प्रसन्नतापूर्वक सहन करें और क्रान्ति को सफल बनाएँ। आम हड़ताल में इस बात की भी परवाह नहीं करनी चाहिए कि अधिकांश मजदूर उसके विरोधी हैं क्योंकि सभी बड़े कार्य दृढ़ संकल्प रखने वाली अल्पसंख्या से या मुट्ठी-भर लोगों द्वारा हुए हैं।

भावी समाज की रूपरेखा—श्रमिक संघवादियों को राज्य के उन्मूलन और क्रान्ति के बाद स्थापित होने वाले समाज की रूपरेखा प्रस्तुत करने में अधिक दिलचस्पी नहीं है। सोरेल का यह मत था कि ऐसा समय आने पर मनुष्य स्वयमेव अपनी अन्तः प्रेरणा से उस समाज का रूप निश्चित कर लेंगे, हमें अभी उस समाज की कल्पना करने में अपना समय और शक्ति नहीं नष्ट करनी चाहिए। फिर भी पातौ (Pataud) और पौजे (Pauget) जैसे कुछ विचारकों ने भावी समाज का एक चित्र १९०९ में अपनी एक फ्रेंच पुस्तक में प्रकाशित किया था।[1] इसके अनुसार भावी समाज की निम्न-लिखित विशेषताएँ होंगी—(१) नवीन समाज में पूँजीवाद का और राज्य की संस्था का कोई स्थान नहीं होगा, यह पूर्ण रूप से राज्यहीन (Anarchist) व्यवस्था होगी। उत्पादन के साधनों पर तथा राजसत्ता पर पूर्ण रूप से मजदूरों का नियन्त्रण होगा। (२) समाज का संचालन और प्रवन्ध-कार्य मजदूर संघों द्वारा होगा। यही संघ विभिन्न उद्योगों को चलाएँगे। कृषकों, खानें खोदने वालों, कपड़ा बुनने वालों, मोचियों, डाक्टरों, शिक्षकों आदि विभिन्न व्यवसाय करने वालों के अपने पृथक् और स्थानीय संघ (Syndicate) होंगे। प्रत्येक गाँव, कस्बे या नगर में विद्यमान संघ अपने क्षेत्र के संघों का निर्माण करेंगे, क्षेत्रीय संघों के ऊपर प्रत्येक व्यवसाय का एक राष्ट्रीय संघ होगा। प्रबन्ध-व्यवस्था के सामान्य कार्य इन संघों द्वारा किए जाएँगे, विभिन्न उद्योगों में कारखानों की इमारतों, मशीनों आदि पर इनका स्वामित्व होगा और यही संघ उत्पादन के विभिन्न कार्यों की देखरेख करेंगे। प्रत्येक उद्योग का राष्ट्रीय संघ अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होगा, इसका नियन्त्रण करने वाली तथा इस पर प्रभुसत्ता रखने वाली वर्तमान राज्य जैसी कोई शक्ति नहीं होगी। इस समाज की प्रधान विशेषता इसका अराजक (Stateless) होना तथा अनेक संघों की सत्ता रखने के कारण

१. कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० २४३

बहुलवादी (Pluralistic) होना है। वर्तमान समय में एक देश में पूर्ण प्रभुसत्ता-सम्पन्न एक ही राज्य होता है, श्रमिक संघवादी समाज में इस राज्य के स्थान पर विभिन्न उद्योगों के कई दर्जन स्वतन्त्र और समान अधिकार रखने वाले संघ होंगे। इसमें सम्पूर्ण आर्थिक और राजनीतिक शक्ति अनेक श्रमिक संघों में बँटी होगी। (३) प्रत्येक संघ का प्रबन्ध उसमें काम करने वाले श्रमजीवी उत्पादकों के हाथ में रहेगा। जो श्रमजीवी नहीं हैं, उन्हें कोई अधिकार नहीं प्राप्त होगा। समष्टिवादी उत्पादन के साधनों पर समाज के सभी वर्गों का स्वामित्व और नियन्त्रण मानते हैं, किन्तु श्रमिक संघवादी यह नियन्त्रण केवल उत्पादन करने वाले मजदूरों को ही देना चाहते हैं। अतः श्रमिक संघवाद को **उत्पादकों की सत्ता का दर्शन** भी कहा जाता है। (४) इसमें राज्य की दमनकारी शक्ति के विभिन्न साधनों—न्यायालयों और जेल-खानों को समाप्त कर दिया जाएगा। ये अपराधियों को दण्ड देने के लिए बनाए गए हैं, वर्तमान समय में अपराधों का मूल कारण पूँजीवाद के दुष्परिणाम से उत्पन्न होने वाली बेकारी, गरीबी और भुखमरी है। किन्तु नवीन समाज में पूँजीवाद का अन्त हो जाने के कारण अपराध समाप्त हो जाएँगे। वर्तमान दण्ड-व्यवस्था के स्थान पर नवीन संघवादी व्यवस्था में समाज के प्रति अपराध करने वालों को नए प्रकार के दण्ड दिए जाएँगे। मुनाफाखोरों के विरुद्ध सामाजिक बहिष्कार (Social boycott) के साधन का प्रयोग किया जाएगा। आलसी, कामचोर, निठल्ले तथा नवीन सामाजिक व्यवस्था में सहयोग न करने वाले व्यक्तियों को देश-निर्वासन का दण्ड दिया जाएगा। प्रत्येक संघ अपने सदस्यों के मामले सुनकर उनके 'मनुष्यता-विरोधी कार्यों' (Anti-human Acts) के लिए उन्हें बहिष्कार आदि के नैतिक दण्ड देगा।[1]

आलोचना—श्रमिक संघवाद के उपर्युक्त कार्यक्रम की, समाज-व्यवस्था की और सिद्धान्तों की कई दृष्टियों से प्रबल आलोचना की गई है। उनके कार्यक्रम पर निम्नलिखित आक्षेप किए जाते हैं। प्रमुख आक्षेप उनके प्रधान कार्यक्रम 'सार्वभौम हड़ताल' के सम्बन्ध में है। ग्रे के मतानुसार हड़तालों में कई गम्भीर दोष हैं[2] : **पहला** दोष यह है कि इनसे लाभ कम तथा हानि अधिक होती है, ये उत्पादन में बाधा उत्पन्न करती हैं, श्रमिकों को बड़ी हानि और परेशानी पहुँचाती हैं और सामाजिक शान्ति को भंग करती हैं, उपद्रवी तत्वों को उभरने का अवसर प्रदान करती हैं और सामाजिक सम्बन्धों को दूषित एवं विषाक्त बनाती हैं। अधिकांश हड़तालें विफल होती हैं, वे कटुता, घृणा और विद्वेष की भावनाओं को पैदा करती हैं। **दूसरा** दोष यह है कि हड़ताल अन्ततोगत्वा अपने मूल उद्देश्य को ही विफल कर देती है। हड़ताल केवल मिल-मालिकों के ही विरुद्ध नहीं होती है, वह समूचे समाज पर डाला जाने वाला एक भीषण दबाव है, मजदूर इस दबाव से अपनी माँगें पूरी करवाना चाहते हैं और सब लोगों को यह चुनौती देते हैं कि समाज का काम उनके बिना नहीं चल सकता और इसलिए उसे उनकी माँगें मान लेनी चाहिएँ। किन्तु यदि जनता उनकी यह चुनौती स्वीकार कर लेती है, राज्य सेना की सहायता से सब कार्य चला लेता है और

१. कोकर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २४३-४४
२. ग्रे—दी सोशलिस्ट ट्रेडीशन, पृ० ४२७-२६

यह सिद्ध हो जाता है कि जनता उनके सहयोग के बिना भी अपने कार्य कर सकती है तो मजदूरों की दशा बड़ी दयनीय हो जाती है, उनका आम हड़ताल का ब्रह्मास्त्र बुरी तरह कुण्ठित हो जाता है, भविष्य में इसके प्रयोग से अपनी माँगें मनवाने की सम्भावना समाप्त हो जाती है। उदाहरणार्थ, यदि रेलें हड़ताल करती हैं तो लोग बसों से यात्रा आरम्भ कर देते हैं। यह सम्भव है कि रेलों की हड़ताल बसों की स्थिति इतनी सुदृढ़ कर दे कि वे रेलों के साथ तीव्र प्रतिस्पर्द्धा करके उन्हें बड़ी हानि पहुँचाएँ और रेलें आय घट जाने के कारण अपने कर्मचारियों को पहले जैसा बोनस न दे सकें। खनिकों की हड़ताल से लोग कोयले के स्थान पर गैस का प्रयोग करने लगें, यदि हड़ताल लम्बी चले और तेल का प्रयोग बढ़ जाए तो खनिकों की स्थायी हानि होगी, हड़ताल से अपने आर्थिक हितों की सिद्धि में उनका विश्वास शिथिल हो जाएगा। **तीसरा** दोष हड़तालों का मजदूरों पर पड़ने वाला प्रतिकूल प्रभाव है। सोरेल यह कहता है कि हड़तालों की विफलता इस दृष्टि से लाभकर है कि इनसे श्रमिकों का संगठन सुदृढ़ होता है, किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी है कि इनका श्रमिकों के संगठन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है, हड़तालें विफल होने पर मजदूरों में मतभेद और वैमनस्य बहुत बढ़ जाता है, उनके संघों में फूट पड़ जाती है। इससे क्रान्ति की भावना पुष्ट होने के स्थान पर क्षीण होने लगती है। मजदूरों को इन हड़तालों से इतना कष्ट उठाना पड़ता है कि वे इन उपायों का प्रयोग अपने लिए हानिकर समझते हुए सुधारवादी बनने लगते हैं। एक बड़ी हड़ताल की विफलता के बाद सभी मजदूर नेता एक-दूसरे पर दोष डालते हुए अपने साथियों की कटु आलोचना करने लगते हैं। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि हड़तालों की विफलता भी श्रमिकों के लिए सुपरिणाम उत्पन्न करती है। **चौथा** दोष हड़तालों की सफलता का अनिष्ट परिणाम उत्पन्न करना है क्योंकि ऐसी सफलता श्रमिकों में यह भावना पैदा करती है कि वे संगठित होकर उचित या अनुचित कोई भी माँग स्वीकार करा सकते हैं, इससे उनमें उच्छृंखलता और अराजकता की प्रवृत्ति बढ़ती है, जनता में शान्तिपूर्ण, वैध उपायों से अपनी माँगें मनवाने की वांछनीय आस्था कम हो जाती है। यह स्थिति समाज की स्थिरता और शान्ति बनाए रखने के लिए अत्यन्त भयावह है, समाज में हिंसा और अनैतिकता को प्रोत्साहित करने वाली है। इससे समाज में रचनात्मक कार्य की अपेक्षा विध्वंसात्मक कार्य की प्रवृत्ति बढ़ेगी। रैम्ज़े मैकडानल्ड के शब्दों में तोड़-फोड़ की नीति द्वारा औद्योगिक सम्पत्ति का विनाश होगा, इससे सामाजिक प्रगति अवरुद्ध हो जाएगी। **पाँचवाँ** दोष यह है कि श्रमिक संघवादी यह मान लेते हैं कि हड़तालें केवल जोश दिलाने से तथा अन्धश्रद्धा उत्पन्न करने से सफल हो जाएँगी, इनके लिए दूरदर्शितापूर्ण आयोजन की आवश्यकता नहीं है। यह ठीक वैसी ही मूर्खतापूर्ण बात है जैसे यह कल्पना करना कि थोड़े से सैनिकों के वीरतापूर्ण कार्यों से महायुद्ध जीता जा सकता है। इनकी वीरता से एक लड़ाई तो जीती जा सकती है किन्तु महायुद्ध को जीतने के लिए अनुभवी सेनापतियों के स्टाफ द्वारा सुचिन्तित दूरदर्शितापूर्ण योजनाओं का निर्माण आवश्यक है। इसी प्रकार नूतन समाज का निर्माण केवल जोश में आकर की

गई हड़तालों से सम्भव नहीं है।[1] **छठा** दोष हड़ताल से पहले मशीनों की तोड़-फोड़ का है। यदि मजदूरों ने हड़ताल से पहले लूटमार और मशीनों का विध्वंस किया तो इसकी समाप्ति पर उन्हें क्या लाभ होगा। मशीनें सोने के अण्डे देने वाली मुर्गियाँ हैं, इन्हें नष्ट कर देने से वे इनके अण्डे कैसे प्राप्त कर सकेंगे। **सातवाँ** दोष हड़ताल पर बल देते हुए, राजनीतिक कार्यक्रम की उपेक्षा करना है। राजनीति से अलग रहना श्रमिकों के लिए हितकर नहीं है, क्योंकि इससे राज्य की शक्ति पूर्ण रूप से उनके विरोधियों के हाथ में आ जाएगी और हड़ताल करने पर वे श्रमजीवियों का दमन सुगमता से कर सकेंगे।

श्रमिक संघवाद के भावी समाज-संगठन में और सिद्धान्तों में प्रधान दोष निम्नलिखित हैं—(१) श्रमिक संघवाद उद्योगों के नियन्त्रण और संचालन की सारी शक्ति उत्पादकों के संघों के हाथ में देना चाहता है। इसमें स्वभावत: उत्पादक अपने हितों का अधिक ध्यान रखेंगे, अन्न, वस्त्र आदि आवश्यक वस्तुओं का मूल्य अधिक लाभ कमाने की दृष्टि से मनमाने ढंग से बढ़ा देंगे, इस प्रकार उपभोक्ताओं को उल्टे उस्तरे से मूंडने लगेंगे, इनके हितों के समुचित संरक्षण की कोई व्यवस्था न होने से इन्हें बड़ी हानि उठानी पड़ेगी। (२) उत्पादकों में एकाधिकार की प्रवृत्ति बढ़ने से उद्योगों में नई विधियों के आविष्कार और उन्नति की सम्भावना कम हो जाएगी। अधिकांश श्रमजीवी पुराने ढर्रे पर ही चलना पसन्द करेंगे, उत्पादन पर एकाधिकार होने से उन्हें वस्तुओं का उत्पादन करते हुए मूल्य कम करने की चिन्ता नहीं होगी, वे इसे कम करने वाले आविष्कारों और सुधारों की ओर कोई ध्यान नहीं देंगे, इस प्रकार औद्योगिक प्रगति और विकास अवरुद्ध हो जाएगा। (३) श्रमिक संघवाद की दृष्टि संकीर्ण और एकांगी है। वह केवल श्रमजीवियों और उत्पादकों के हितों को ही देखता है। यह एकपक्षीय दृष्टिकोण विभिन्न पक्ष रखने वाले समाज के सर्वांगीण विकास के लिए घातक है। (४) श्रमिक संघवाद भावी समाज में केवल विभिन्न संघों की सत्ता मानता है। इन संघों में परस्पर संघर्ष उत्पन्न हो सकते हैं। ऐसी दशा में इनके विवादों का निर्णय कौन करेगा ? इनमें पारस्परिक समन्वय और सहयोग की भावना कौन उत्पन्न करेगा ? इस कार्य के लिए एक विशेष संस्था का होना आवश्यक है। यह संस्था राज्य ही हो सकती है। राज्य के अभाव में श्रमिक संघवाद की भावी समाज-व्यवस्था में, विभिन्न संघों में तालमेल, सामंजस्य और सहयोग नहीं स्थापित हो सकता है। (५) श्रमिक संघवाद द्वारा लोकतन्त्र और देशभक्ति की भावनाओं का विरोध अत्युक्तिपूर्ण तथा अव्यावहारिक है। ये भावनाएँ वर्तमान युग में इतनी प्रबल और आवश्यक हैं कि इनका विरोध या अपलाप नहीं किया जा सकता। १९१४ में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर फ्रांस में इन भावनाओं की प्रबलता ने श्रमिक संघवाद को अपना स्वरूप बदलने के लिए बाधित किया।

श्रमिक संघवाद की नवीन विचारधारा—१९१४ में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर जर्मनी ने फ्रांस पर आक्रमण किया। उस समय इसके सिद्धान्तों की कड़ी परीक्षा

---

१. ग्रे—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४२८

का अवसर आया। इस समय फ्रांस की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता खतरे में थी। प्रत्येक फ्रेंच अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए उद्यत हो रहा था, अतः श्रमिक संघवादियों के लिए यह सम्भव नहीं था कि वे राष्ट्रीयता और सैनिकवाद का विरोध करके देशद्रोही बनते। श्रमिकों के सामान्य संघ (C.G.T.) के प्रधानमन्त्री जौहो (Jouhaux) ने ४ अगस्त को यह घोषित किया—"श्रमिक संघवादी स्वतन्त्रता के सैनिक हैं, जर्मनी ने फ्रांस पर अन्यायपूर्ण हमला किया है, मातृभूमि की रक्षा के लिए सभी श्रमिकों को इस युद्ध में भाग लेना चाहिए।" अतः इस राष्ट्रीय संकट के समय श्रमिक-संघवाद का क्रान्तिकारी रूप लुप्त हो गया, जौहो ने सरकारी प्रचारक का पद स्वीकार किया। अधिकांश संघवादियों ने अपने युद्ध-विरोधी तथा राष्ट्रीयता-विरोधी उग्र सिद्धान्तों को तिलांजलि देते हुए सरकार के साथ सहयोग किया, किन्तु एक अल्पसंख्या अब भी पुराने विचारों से चिपकी रही और युद्ध की समाप्ति पर इस क्रान्तिवादी अल्पसंख्या के कारण इस विचारधारा के अनुयायियों में कई कारणों से मतभेद बढ़ने लगे : **पहला** कारण १९१७ में बोल्शेविक क्रान्ति के बाद रूस में स्थापित हुई सरकार के साथ सहयोग का प्रश्न था। सामान्यतः श्रमिक संघवादी इसका समर्थन करने के पक्ष में थे, किन्तु कुछ कट्टर सिद्धान्तवादी सोवियत संघ के विरोधी थे, क्योंकि वहाँ शक्ति के आधार पर संचालित होने वाले राज्य की संस्था विद्यमान थी, वहाँ नागरिकों को पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं थी, राज्य की रक्षा के लिए लाल सेना थी। **दूसरा** कारण घरेलू प्रश्नों पर मतभेद था। फ्रेंच नागरिकों को विधानसम्मत स्वतन्त्रता दिलाने तथा श्रमिकों की दशा का सुधार करने के लिए कट्टर सिद्धान्तवादी आम हड़ताल कराने के पक्ष में थे। १९२० में सामान्य श्रम संघ के नेता इनके दबाव में आकर रेल के मजदूरों की हड़ताल का समर्थन करने के लिए पहली मई को एक आम हड़ताल करने को विवश हो गए। किन्तु यह पूर्ण रूप से विफल हुई। इस कारण दोनों पक्षों के मतभेद बढ़ने से इस दल में फूट पड़ गई। जनवरी १९२२ में उग्र क्रान्तिकारी विचार रखने वाली अल्पसंख्या ने **श्रमिकों का सामान्य संयुक्त संघ** (General Confederation of United Labour—C. G. T. U.) के नाम से नया राष्ट्रीय संगठन बनाया। शीघ्र ही इसकी सदस्य-संख्या पुराने संगठन के आधे सदस्यों के लगभग हो गई, इसने साम्यवाद के क्रान्तिकारी सिद्धान्तों को अपनाया।

इसी समय पुराने संगठन (C.G.T.) ने क्रान्तिकारी सिद्धान्तों को तिलांजलि देते हुए नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इनके निर्माण में जौहो (Jouhaux) तथा पेरो (Perrot) ने बड़ा भाग लिया। इनका प्रतिपादन मैक्सिम लीराय (Maxime Leroy) ने एक फ्रेंच पुस्तक 'श्रमिक संघवाद की नवीन पद्धतियाँ' (Techniques nouvelles du Syndicalisme) में किया। इसमें यह बताया गया कि सिद्धान्तों का यह परिवर्तन युवावस्था से प्रौढ़ावस्था में प्रवेश करने की भाँति है, जिस प्रकार इस आयु में आकर तरुणाई का उद्दाम यौवन, उच्छृंखलता और चंचलता समाप्त हो जाती है, इसका स्थान समझदारी और गम्भीरता ले लेती है, उसी प्रकार युद्धोत्तर संघवादी सिद्धान्तों में प्रौढ़ता और परिपक्वता आई है। इनमें निम्नलिखित महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं—(१) वर्ग-संघर्ष के संकीर्ण दृष्टिकोण का परित्याग करते हुए समाज के सभी

वर्गों के पारस्परिक सहयोग पर बल दिया जाने लगा। सहयोग की यह भावना युद्धजन्य परिस्थितियों में अत्यन्त आवश्यक थी और युद्धोत्तर युग में भी इसे उपयोगी माना जाने लगा। पहले श्रमिक संघवादी उत्पादन केवल श्रमिकों का कार्य समझते थे, अब वे उसे श्रमिकों के अतिरिक्त प्रबन्ध करने वाले प्रशासकों, वैज्ञानिकों, शिल्पियों, कलाकारों, विक्रेताओं और उपभोक्ताओं के सहयोग से सम्पन्न होने वाला कार्य मानने लगे। (२) दूसरा परिवर्तन हिंसा का तथा सीधी कार्यवाही का परित्याग है। प्रथम विश्वयुद्ध के तथा युद्ध के बाद के वर्षों के अनुभव ने यह भली-भाँति स्पष्ट कर दिया था कि कोरी सैनिक शक्ति से, बल और विजय द्वारा किन्हीं समस्याओं का स्थायी समाधान नहीं हो सकता है। हिंसा समझदारी, बुद्धि और विवेक को समाप्त करके पाशविक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करती है। यह तानाशाही, मनमाने निरंकुश स्वेच्छाचारी शासन तथा सुदृढ़ केन्द्रीय संगठन को उत्पन्न करती है, इसका लोकतन्त्र तथा सभी स्थानीय संस्थाओं को अधिकतम स्वतन्त्रता देने की इच्छा रखने वाले शान्तिप्रिय श्रमिक संघवाद से कोई समन्वय नहीं हो सकता है। अतः नवीन संघवाद ने क्रान्तिकारी हिंसापूर्ण उपायों का परित्याग किया। (३) पुराने संघवादी उद्योगों का संचालन और नियन्त्रण एकमात्र श्रमिक एवं उत्पादक वर्ग को देना चाहते थे। नवीन विचारधारा ने प्रत्येक सार्वजनिक उद्योग में समान प्रतिनिधित्व रखने वाली तीनों पक्षों की सिम्मलित प्रबन्ध-समितियों को उद्योग के संचालन का अधिकार प्रदान किया। ये तीन पक्ष इस प्रकार थे—(क) हाथ से काम करने वाले मजदूर, (ख) उपभोक्ता, (ग) जनता। निजी उद्योगों के लिए उन्होंने मिल-मालिकों और मजदूरों द्वारा संयुक्त प्रबन्ध-व्यवस्था का प्रस्ताव किया। नवीन योजना में मजदूरों को हड़ताल करने का अधिकार दिया गया है, किन्तु इसको पहले की भाँति महत्वपूर्ण नहीं माना गया है। (४) उद्योगों की प्रबन्ध-व्यवस्था के लिए एक आर्थिक परिषद् (Economic Council) का प्रस्ताव किया गया है। इसका कार्य विभिन्न उद्योगों के उत्पादन और वितरण की व्यवस्था की सामान्य योजनाएँ तैयार करना तथा प्रत्येक उद्योग का प्रबन्ध करने वाली परिषद् द्वारा तैयार एवं निर्धारित की गई प्रशासन की सामान्य नीति को सम्पुष्ट अथवा रद्द करना, विभिन्न उद्योगों की नीतियों में तालमेल तथा समन्वय करना है। (५) नवीन संघवादी राज्य की सत्ता को स्वीकार करते हैं, किन्तु वे इसके कार्यों में कुछ संशोधन चाहते हैं तथा इसकी बाध्य करने वाली शक्ति (Coercive power) को न्यूनतम मात्रा तक सीमित करने के इच्छुक हैं।[१] वे राज्य की सत्ता इसलिए स्वीकार करते हैं कि वह नागरिकों के विभिन्न स्वार्थों में होने वाले संघर्षों का न्यायालयों द्वारा निर्णय कर सके, विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा कर सके तथा विदेशों के साथ अपना सम्बन्ध बनाए रखने में समर्थ हो सके। किन्तु इसका सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों के सहयोग से उत्पादन की व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाना तथा साधारण जनता को शिक्षा तथा कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए साधन प्रस्तुत करना और मजदूरों की बौद्धिक ज्ञान की पिपासा को तथा प्राविधिक (Technical) आविष्कार करने की भावना को प्रोत्साहित करना है।

१. कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० २५६

श्रमिक संघवाद का प्रसार और क्षीणता—यह प्रधान रूप से फ्रांस में प्रथम विश्वयुद्ध से पहले विकसित होने वाली विचारधारा थी, फ्रांस के साथ लगे स्पेन और इटली में भी इसका प्रसार हुआ। लैटिन भाषा से उत्पन्न भाषाओं का व्यवहार करने वाले फ्रांस, स्पेन और इटली में इसका प्रसार होने के कारण ग्रे ने इसे लैटिन जातियों का उबाल कहा है।[1] इनके अतिरिक्त सं० रा० अमेरिका में १९०५ में इन्हीं सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाला एक संगठन 'विश्व के औद्योगिक मजदूर' (Industrial Workers of the World—I.W.W.) नाम से स्थापित हुआ। इंगलैण्ड में भी फ्रांस के श्रमिक संघवाद से तथा अमेरिका की उपर्युक्त संस्था से प्रेरणा प्राप्त करते हुए टॉम मान (Tom Mann), गाई बोमैन, बेन टिलेट (Ben Tillet) तथा विल थोर्न (Will Thorn) ने 'औद्योगिक श्रमिक संघवादी संघ (Industrial Syndicalist League) का तथा १९११ से १९१३ तक की आम हड़तालों का संगठन किया।

किन्तु इन सभी देशों में यह आन्दोलन शीघ्र ही क्षीण होने लगा। पहले बताया जा चुका है कि प्रथम विश्वयुद्ध से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण फ्रांस में इसके सिद्धान्तों में बड़ा परिवर्तन आने लगा। १९१७ की बोल्शेविक क्रान्ति की सफलता ने भी इसे बड़ा धक्का पहुँचाया, इसके बाद सभी देशों के क्रान्तिकारी विचारकों का प्रधान प्रेरणा-स्रोत और पथ-प्रदर्शक लेनिन आदि रूसी क्रान्तिकारी बन गए। फ्रांस में १९२०-२१ में तथा इटली में १९२२-२३ में बड़े पैमाने पर होने वाली हड़तालों की विफलता ने इस आन्दोलन को बहुत धक्का पहुँचाया। इनके विफल होने पर मजदूर रूस की ओर आशा-भरे नेत्रों से देखने लगे। १९२४ में मुसोलिनी ने तथा इसके बाद स्पेन में जनरल फ्रांको ने इस आन्दोलन को कुचल दिया। किन्तु इस विचारधारा ने क्षीण हो जाने पर भी राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में पर्याप्त प्रभाव छोड़ा।

श्रमिक संघवाद का प्रभाव और मूल्यांकन—श्रमिक संघवाद अराजकतावाद, मार्क्सवाद तथा मजदूर आन्दोलन की विचारधाराओं का विचित्र सम्मिश्रण था। इसे मार्क्सवाद की भाँति यद्यपि बड़ी सफलता नहीं मिली, किन्तु इसने राजनीतिक चिन्तन को अपने विचारों से समृद्ध और प्रभावित किया। इसका **पहला** प्रभाव इटली पर पड़ा। मुसोलिनी सोरेल की रचनाओं का बड़ा श्रद्धालु पाठक था। उसके संघबद्ध राज्य (Corporate State) के संगठन और सिद्धान्त पर इसका स्पष्ट असर है; यद्यपि फासिस्ट इटली के व्यावसायिक संघों में मजदूर इन संघों का संचालन करने वाले इनके अधिपति नहीं, अपितु दास थे। **दूसरा** प्रभाव रूस पर पड़ा, यहाँ न केवल सामाजिक क्रान्ति लाने में इसके हिंसापूर्ण साधनों को आदर्श माना गया, अपितु अल्पसंख्यक वर्ग द्वारा क्रान्ति करने तथा व्यावसायिक संघ (Industrial Union) बनाने के सिद्धान्तों को भी माना गया। **तीसरा** प्रभाव इस आन्दोलन द्वारा राज्य की प्रभुसत्ता (Sovereignty), एकत्ववाद (Monism) तथा पूर्णाधिकारवादी (Absolutist) एवं आदर्शवादी (देखिए ऊपर पृ० ४६०-६१) विचारों को चुनौती देना तथा बहुलवादी (Pluralistic) विचारधारा को पुष्ट करना था। **चौथा** प्रभाव

१. ग्रे—दी सोशलिस्ट ट्रेडीशन, पृ० ४०८

श्रमिक आन्दोलनों को शक्तिशाली बनाना था। इसने सुधार चाहने वाले नेताओं की नीति का विरोध करते हुए मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष की भावना को जीवित तथा जागृत बनाए रखा। **पाँचवाँ** प्रभाव अबौद्धिक (Irrational) अथवा बुद्धिवाद-विरोधी (Anti-intellectual) प्रवृत्तियों को तथा लोकतन्त्र-विरोधी (Anti-democratic) भावना को प्रोत्साहित करना था। सोरेल ने बर्गसों के अपवाद के अतिरिक्त सुकरात से वर्तमान समय तक के सभी दार्शनिकों, विशेषज्ञों और विद्वानों को गालियाँ दी थीं और इन्हें परोपजीवी अर्थात् दूसरे के परिश्रम पर गुलछर्रे उड़ाने वाला निन्दनीय सामाजिक वर्ग बताया था। वह लोकतन्त्र का कट्टर विरोधी था, क्योंकि यह सदैव विविधता में एकता के मार्ग को, वाद-विवाद और विचार-विमर्श द्वारा समझौते और समन्वय के पथ को ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है। समझौता मृत्यु है, संघर्ष जीवन है; अतः लोकतन्त्र मृत्यु की ओर ले जाने वाला मार्ग है, संघर्ष मानव-जाति को उन्नति की ओर अग्रसर करता है।[1] प्रथम विश्वयुद्ध के बाद विश्व के दो महान् शक्तिशाली राष्ट्रों—मुसोलिनी के फासिस्ट इटली तथा हिटलर के नाज़ी (Nazi) जर्मनी ने सोरेल के लोकतन्त्र-विरोधी विचारों को मूर्त्त रूप दिया और कहा कि उनके आन्दोलन किसी युक्तियुक्त विचार पर नहीं, अपितु एक विशेष नस्ल (Race) पर, संकल्प-शक्ति (Will) और अन्तर्दृष्टि पर आधारित थे। सोरेल वर्तमान युग में अबौद्धिकता का प्रतीक है। **छठा** प्रभाव इंगलैण्ड में श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism) की विचारधारा का विकास था। अब यहाँ इसका वर्णन किया जाएगा। किन्तु इससे पूर्व श्रमिक संघवाद की मार्क्सवाद से तुलना आवश्यक प्रतीत होती है।

मार्क्सवाद से तुलना—श्रमिक संघवाद के कई मौलिक विचार—वर्ग-संघर्ष, क्रान्तिकारी उपायों का अवलम्बन, पूंजीवाद का उन्मूलन, अतिरिक्त मूल्य, पूंजीपतियों द्वारा मजदूरों के शोषण के लिए राज्य की संस्था का उपयोग किया जाना, लोकतन्त्र की निन्दा—मार्क्सवाद से गहरा सादृश्य रखते हैं। किन्तु इन समानताओं के होते हुए भी दोनों में अनेक महत्वपूर्ण भेद हैं: (१) मार्क्सवाद राज्य का लोप शनैः-शनै करना चाहता है, श्रमिक संघवादी इसे एकदम करने के लिए आतुर हैं। (२) मार्क्सवाद एक राजनीतिक आन्दोलन है, वह राजनीतिक उपायों से और राज्य की सहायता से समाजवाद को लाना चाहता है। किन्तु श्रमिक संघवाद हड़ताल आदि की प्रत्यक्ष कार्यवाही द्वारा समाज में आमूलचूल परिवर्तन करना चाहता है। (३) श्रमिक संघवादी केवल श्रमिकों तथा उत्पादकों के ही हितों को महत्वपूर्ण समझते हुए उन्हें सारी सत्ता सौंपना चाहते हैं। किन्तु मार्क्सवादी श्रमिकों के अतिरिक्त अन्य वर्गों के हितों को भी ध्यान में रखना चाहते हैं। (४) मार्क्स ने इस बात पर बल दिया था कि सर्वहारा वर्ग की दरिद्रता और कष्ट निरन्तर बढ़ते जाएँगे, इससे मजदूरों में क्रान्ति तथा वर्ग-संघर्ष की भावना अधिकाधिक तीव्र होगी, किन्तु सोरेल का यह विश्वास था कि हड़तालें मजदूरों की सम्पन्नता में वृद्धि करने वाले युग में ही अधिक सफल होती हैं, क्योंकि उसी समय वे अपने उज्ज्वल भविष्य की सुनहरी कल्पना से

१. लैंकास्टर—मास्टर्स आफ पोलिटिकल थाट, खं० ३, पृ० २९९

प्रेरित होकर किसानों और कारीगरों के साथ मिलकर सुगमतापूर्वक हड़तालें कर सकते हैं।[१] (५) सोरेल तथा अन्य संघवादी विचारक मार्क्स के आर्थिक और राजनीतिक नियतिवाद (Determinism) में विश्वास नहीं रखते थे, वे यह नहीं मानते थे कि पूँजी का केन्द्रीकरण, मजदूर वर्ग की संख्या में तथा गरीबी में वृद्धि होना, मध्यम वर्ग का कम होना, मजदूरों तथा पूँजीपतियों के संघर्ष को उग्र बनाकर पूँजीवाद का अन्त अवश्यमेव कर देगा। उनके मतानुसार मजदूरों को इन परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए पूँजीवाद का उच्छेद अपने प्रयत्नों से बलपूर्वक करना होगा।

श्रेणी समाजवाद
(Guild Socialism)

सामान्य परिचय—यह विचारधारा ग्रेट ब्रिटेन में १६०५–२५ के बीच में विकसित हुई। इसे फ्रेंच श्रमिक संघवाद (Syndicalism) का समानान्तर[२] एवं ब्रिटिश रूप माना जाता है। यह संघवादी विचारधारा की भाँति नूतन भावी समाज का संगठन पूँजीवादी अन्यायपूर्ण वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था का अन्त करके श्रमिक संघों (Trade Unions) के आधार पर करना चाहती है, किन्तु इन श्रमिक संघों के वर्तमान रूप को बदलकर वह इन्हें मध्यकालीन योरोप में प्रचलित कारीगरों के संघों (Guilds) के आदर्श पर ढालने की इच्छुक है। ऐसे संघ न केवल मध्यकालीन योरोप में थे, अपितु प्राचीन भारत के इतिहास में भी पाए जाते हैं। बौद्धकालीन भारत पर प्रकाश डालने वाले जातक साहित्य से हमें ज्ञात होता है कि उस समय लगभग प्रत्येक शिल्प या व्यवसाय में लगे हुए व्यक्तियों का अपना एक पृथक् संगठित समूह होता था, इसे श्रेणी कहा जाता था।[3] बढ़ई (बढ्ढकि), चमार (चम्मकार), चित्रकार, सुनार, दन्तकार (हाथी-दांत का काम करने वाले), जौहरी, चटाइयाँ, छाबड़ियाँ आदि बनाने वाले (नलकार), कुम्हार, रंगरेज़ (रजक), मछुए, नाविक आदि विभिन्न धन्धे और पेशे करने वालों की, यहाँ तक कि चोरों की भी श्रेणियाँ होती थीं। इनमें से प्रत्येक श्रेणी में एक हजार तक शिल्पी या कारीगर होते थे। ये श्रेणियाँ अपने संघ का प्रधान या मुखिया (पामोक्ख या ज्येष्ठक) चुनती थीं; प्रत्येक शिल्प का संचालन और नियन्त्रण करती थीं, कच्चे माल की खरीद, तैयार माल की बिक्री, उपज का और श्रम के समय का नियन्त्रण, मिलावट रोकना, बाहर के शिल्पियों के मुकाबले से बचने के लिए व्यापार की रोकथाम, नए व्यक्तियों को शिल्प सिखाने के नियम, मजदूरी की दर तय करने का काम इन्हीं श्रेणियों के हाथ में था। मध्यकालीन योरोप में इसी प्रकार के सभी कार्य करने वाले कारीगरों तथा शिल्पियों की श्रेणियों

१. कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० २४६-४७

२. कोल—सैल्फ गवर्नमैण्ट इन इण्डस्ट्री, पृ० ३२१

३. जयचन्द्र विद्यालंकार—भारतीय इतिहास की रूपरेखा, खं० १, पृ० ३७४-७५, प्राचीन भारत की श्रेणियों के विस्तृत परिचय के लिए देखिए : फिक—सोशल आर्गेनिजेशन इन ऐंशेण्ट इंडिया; श्री रमेशचन्द्र मजूमदार—कारपोरेट लाइफ इन ऐंशेण्ट इण्डिया।

(Guilds) का बहुत प्रचलन था। इस शताब्दी के पहले दशक में कुछ ब्रिटिश विचारकों ने इस प्रकार की श्रेणियों का पुनरुज्जीवन करते हुए इनके आधार पर समाजवाद को सुप्रतिष्ठित करने की योजना प्रस्तुत की। अतः इस विचारधारा को श्रेणीमूलक अथवा श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism) का नाम दिया जाता है।

प्रादुर्भाव और विकास : इसके प्रवर्त्तक—यह विचारधारा प्रधान रूप से ग्रेट ब्रिटेन में विकसित हुई। इसका प्रादुर्भाव, १९०६ में ए० जे० पैण्टी (Penty) की पुस्तक 'गिल्ड पद्धति का पुनरुज्जीवन' (The Restoration of the Guild System) के प्रकाशन से हुआ। पैण्टी एक कलाकार और वास्तुशिल्पी (Architect) था। उसका यह विचार था कि वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था ने श्रमिकों का जीवन अत्यन्त कलाशून्य, नीरस और शुष्क बना दिया है, आलपीन जैसी छोटी वस्तु तक का उत्पादन भी बीसियों छोटे-छोटे हिस्सों में बँट गया है, कारखानों में अत्यन्त छोटे कार्यों को नीरस रूप से अनन्त रूप में दोहराते रहना ही मजदूरों का काम रह गया है। इससे वे सुन्दर एवं कलात्मक वस्तुओं के सृजन और निर्माण से प्राप्त होने वाले आनन्द से वंचित हो गए हैं। समाजवाद की योजनाएँ आर्थिक हैं, उनसे उन्हें अपने जीवन में सौन्दर्य और सृजन का वास्तविक आनन्द नहीं मिल सकता है। श्रमिकों को यह तभी मिल सकता है, जब उस मध्यकालीन श्रेणी व्यवस्था (Guild System) को पुनः लाया जाए जिसमें विभिन्न कारीगर और शिल्पी अपने व्यवसायों का सम्पूर्ण नियन्त्रण और देखभाल स्वयमेव करते हुए कलात्मक वस्तुओं के सृजन से अपने जीवन में अलौकिक आनन्द अनुभव किया करते थे। पैण्टी की यह विचारधारा केवल ऊँची उड़ान लेने वाली और कल्पनालोक में विहार करने वाली (utopian) थी, क्योंकि वर्तमान युग की प्रगति को रोककर मध्ययुग की पुरानी परिस्थितियों को लाना सम्भव नहीं था, अतः यह विचारधारा कई वर्षों तक क्रियात्मक रूप नहीं धारण कर सकी।

किन्तु ऐसा संयोग १९०९ में आया। इस समय से ब्रिटेन में श्रमिकों का असन्तोष उग्र रूप धारण करने लगा। इसमें श्रमिक संघ बहुत बड़ा भाग लेने लगे। इन परिस्थितियों में एक अध्यापक ए० आर० ओरेज (A. R. Orage) तथा एक पत्रकार और सार्वजनिक व्याख्याता एस० जी० हॉब्सन (S. G. Hobson) ने फेबियन सोसायटी के सदस्यों द्वारा प्रकाशित किए जाने वाले एक पत्र 'नवयुग' (New Age) में इस बात का प्रतिपादन करना शुरू किया कि वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था में अत्यधिक केन्द्रीकरण से उत्पन्न होने वाले दोषों को दूर करने के लिए विभिन्न उद्योगों में श्रमिकों द्वारा स्वशासन की व्यवस्था स्थापित की जाए, यह व्यवस्था मध्यकालीन श्रेणियों के आदर्श पर वर्तमान मजदूर संघों का पुनर्गठन करके स्थापित की जाए। ओरेज और हॉब्सन के इस विषय में लिखे गए लेखों का संग्रह 'राष्ट्रीय श्रेणियाँ—भृति-पद्धति तथा इससे मुक्ति पाने के बारे में की जाने वाली गवेषणा' (National Guilds—An Inquiry into the Wage System and the Way Out) के नाम से १९१४ में प्रकाशित हुआ। इस आन्दोलन को शीघ्र ही कुछ अन्य

बुद्धिजीवियों—जार्ज डगलस हावर्ड कोल (G. D. H. Cole), प्रोफेसर टानी (Tawny), बर्ट्रेण्ड रसेल—का समर्थन प्राप्त हुआ। इनमें से इस विचारधारा का सर्वोत्तम व्याख्याता कोल आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय का मेधावी स्नातक और फैलो था। वह कुछ समय तक फेबियन सोसायटी के अनुसन्धान विभाग में कार्य करता रहा था, किन्तु सैद्धान्तिक मतभेदों के कारण उसने इस सोसायटी को छोड़ दिया। वह फ्रेंच श्रमिक संघवादियों से तथा प्रोफेसर मेटलैण्ड के विचारों से बहुत प्रभावित हुआ। उसने अपने बीसियों लेखों और पुस्तकों में श्रेणी समाजवाद की विचारधारा का विस्तृत विवेचन किया।[1]

उपर्युक्त विचारकों के लेखों से ब्रिटेन में यह विचारधारा लोकप्रिय होने लगी। १९१२ के बाद 'ब्रिटिश मजदूर आन्दोलन' पर इसका प्रभाव पड़ने लगा। १९१५ में इस विचारधारा का प्रचार करने लिए राष्ट्रीय श्रेणी संघ (Notional Guilds League) बनाया गया, इसने अपने विचारों के प्रचार के लिए 'दी गिल्डस्मैन (The Guildsman) तथा बाद में 'दी गिल्ड सोशलिस्ट' (The Guild Socialist) नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित की। प्रथम विश्वयुद्ध के समय इसके सिद्धान्तों का खूब प्रचार हुआ, युद्ध के बाद आने वाली मन्दी में श्रेणी समाजवादियों को वर्तमान भृति-पद्धति की आलोचना करते हुए अपने नवीन प्रस्ताव रखने का स्वर्ण अवसर मिला। १९१९ की औद्योगिक परिस्थितियों में श्रेणी समाजवादियों को एक क्षेत्र में अपने विचारों को क्रियात्मक रूप प्रदान करने का मौका मिला। उस समय उद्योगप्रधान नगरों और बस्तियों में मकानों की भारी कमी अनुभव की जा रही थी, निजी उद्योग तथा सरकार —दोनों ही इस समस्या का समाधान करने में सफल नहीं हुए। इस समय भवन-निर्माण कार्य में लगे मजदूरों ने यह दावा किया कि वे इस समस्या का सफलतापूर्वक समाधान करते हुए सस्ते मकान बना सकते हैं, बशर्ते कि उन्हें उनका रोजगार बनाए रखने और वेतन दिए जाने की गारण्टी दी जाए। १९२० में मैन्चेस्टर जिले में भवन-निर्माण के कार्य में लगे अनेक संघों ने मिलकर एक भवन-निर्माता श्रेणी (Builders' Guild) बनाई, हॉब्सन इसके मन्त्री बने। इन्होंने मैन्चेस्टर की नगरपालिका के सामने यह प्रस्ताव रखा कि वे आवश्यक भवनों का निर्माण करने के लिए उद्यत हैं। इंगलैण्ड और वेल्ज़ के अन्य नगरों में भी इसी प्रकार भवन-निर्माता श्रेणियाँ बनीं। इन सबने मिलकर राष्ट्रीय स्तर पर 'राष्ट्रीय भवन संघ' (National Building Guild) का निर्माण किया। कइ महीने की वार्ता के बाद राष्ट्रीय सरकार इस बात के लिए तैयार हो गई कि वह इस श्रेणी द्वारा तैयार किए जाने वाले मकानों के लिए अपेक्षित धनराशि नगरपालिकाओं को दे तथा नगरपालिकाएँ इस श्रेणी की विभिन्न शाखाओं को ठेके देकर उनसे भवन निर्माण कराएँ। बीस शहरों में ऐसे ठेके दिए गए, हजार के लगभग मकान बनाए गए। कहा जाता था कि इस श्रेणी ने ये मकान निजी ठेकेदारों की अपेक्षा कम लागत में बनाए और मजबूती की दृष्टि से भी ये मकान अधिक अच्छे थे। किन्तु

---

१. कोल की निम्नलिखित पाँच कृतियाँ उल्लेखनीय हैं—सैल्फ गवर्नमैण्ट इन इण्डस्ट्री (लन्दन, १९१७), लेबर इन दी कामनवैल्थ (न्यूयार्क, १९१८), केआस एण्ड आर्डर इन इण्डस्ट्री (लन्दन, १९२०), सोशल थियोरी (न्यूयार्क, १९२०), गिल्ड सोशलिज़म रिस्टेटिड (१९२०)।

१९२१ में राष्ट्रीय सरकार ने भवन-निर्माण के लिए स्थानीय संस्थाओं को अनुदान देना वन्द कर दिया। मजदूरी की दर गिरने से तथा बेकारी बढ़ने से भवन-निर्माता श्रेणी के लिए इस कार्य को अधिक देर तक चलाना सम्भव न रहा और १९२२ में भवन-निर्माता श्रेणी भंग हो गई। इसी समय से श्रेणी समाजवाद के आन्दोलन में क्षीणता आने लगी। अतः १९२५ में राष्ट्रीय श्रेणी संघ (National Guilds League) को भंग कर दिया और इसके साथ ही इस विचारधारा का प्रभाव समाप्त हो गया, कोल ने श्रेणी समाजवाद के अधिकांश सिद्धान्तों को तिलांजलि दे दी।[1]

श्रेणी समाजवाद द्वारा वर्तमान समाज की आलोचना—इसका पहला सिद्धान्त वर्तमान पूँजीपति औद्योगिक समाज में मजदूर की स्थिति को नितान्त दयनीय बनाने वाली भृति-पद्धति की कटु आलोचना तथा पूँजीवाद का उन्मूलन है। श्रेणी समाजवादी वर्तमान व्यवस्था की आलोचना आर्थिक, नैतिक और मनोवैज्ञानिक आधार पर करते हैं। **आर्थिक आधार** पर वे वर्तमान व्यवस्था की आलोचना करते हुए कहते हैं कि विभिन्न वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण उन पर लगे श्रम से होता है, किन्तु श्रमिक को अपने श्रम का पूरा मूल्य नहीं मिलता है, उसे कम-से-कम मजदूरी दी जाती है, उसके परिश्रम का अधिकांश भाग अतिरिक्त मूल्य (Surplus Value) के रूप में जमींदार, मिल-मालिक और पूँजीपति लगान, मुनाफे तथा सूद के रूप में हड़प कर जाते हैं। वर्तमान समय में मजदूर दासों की भाँति मजदूरी पर काम करने वाले बन गए हैं। श्रम एक अत्यन्त पवित्र वस्तु है, वह सभी वस्तुओं का निर्माण करती है, किन्तु उसे इस समय बाजार में बिकने वाली अन्य वस्तुओं की भाँति बना दिया गया है। कोल इसे मक्खन जैसी तथा हॉब्सन 'खाद' जैसी वस्तु बताते हैं। बाजार में पूँजीपति अन्य कच्चे माल की भाँति मजदूरी की दर कम-से-कम देना चाहता है। मजदूरों को अपना पेट भरने के लिए इस दर पर काम करने को विवश होना पड़ता है। यह अत्यन्त क्रूरतापूर्ण, अमानवीय, अपमानजनक और शोचनीय स्थिति है। वर्तमान व्यवस्था में मजदूर मनुष्य न रहकर, वस्तुएँ तैयार करने के लिए आवश्यक कच्चे माल या मशीनों की भाँति जड़ वस्तु बन गए हैं, उन्हें व्यक्ति न कहकर केवल 'हाथ' मात्र (Mill Hand) कहा जाता है। उन्हें मशीनों के पुर्जों की भाँति अन्य व्यक्तियों की देखरेख में प्रायः एक ही प्रकार का काम करना पड़ता है। इससे उन्हें अपनी सृजन-शक्ति का या मौलिक प्रतिभा दिखाने का कोई अवसर नहीं मिलता, कारखाने के प्रबन्ध या संचालन में वे कोई हिस्सा नहीं लेते हैं। इससे उनकी विभिन्न शक्तियों को विकास का अवसर नहीं मिलता और वे शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं। मजदूरों की दयनीय दशा के अतिरिक्त वर्तमान औद्योगिक पद्धति का एक बड़ा दोष यह है कि पूँजीवाद में उत्पादन को प्रोत्साहन नहीं मिलता है। श्रमिक अपनी दशा सुधारने के लिए बाध्य होकर हड़तालें करता है, इससे उत्पादन बन्द हो जाता है। इसके अतिरिक्त जब मजदूर कारखाने में काम करता है तो वह सोचता है कि उसे अधिक परिश्रम से काम करने में कोई लाभ नहीं है क्योंकि उसे तो केवल निश्चित वेतन मिलना है,

१. कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० २६४; लेडलर—सोशल इक्नामिक मूवमैण्ट्स, पृ० ३४२-४३

चाहे वह अधिक काम करे या कम करे; अधिक परिश्रम से काम करने से होने वाला लाभ तो पूँजीपति को अतिरिक्त मूल्य के रूप में मिलेगा, उसके लिए मजदूर क्यों मेहनत करे ? वह अतिरिक्त मूल्य को चोरी समझता है और **अधिक काम करके चोर को चोरी में सहायता नहीं पहुँचाना चाहता**। कोल के शब्दों में, "पूँजीपति मालिक के लिए अच्छा काम करने का अर्थ चोर को अधिक सफलता के साथ चोरी करने में सहायता पहुँचाना है।[1] अतः वर्तमान व्यवस्था में उत्पादन के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं है। **तीसरा** दोष पूँजीवादी व्यवस्था में मुनाफे की भावना से उत्पादन का किया जाना है। पूँजीपति की दृष्टि सदैव अपने लाभ पर रहती है, वह उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करता है जिनसे उसे खूब लाभ होने की सम्भावना हो, भले ही समाज को उससे हानि हो। समाज के हित की दृष्टि से यह स्थिति वांछनीय नहीं है। उदाहरणार्थ, अनेक डाक्टरों के मतानुसार धूम्रपान कैन्सर की प्रवृत्ति को बढ़ाता है, किन्तु सिगरेट बनाने वाली कम्पनियाँ अपने मुनाफे को बनाए रखने के लिए जनता के स्वास्थ्य का ध्यान न रखते हुए अपना उत्पादन निरन्तर बढ़ाती जा रही हैं।

दूसरी आलोचना नैतिक दृष्टिकोण से की जाती है। श्रेणी समाजवादी सम्पत्ति पर अधिकार के वर्तमान सिद्धान्त को ठीक नहीं समझते हैं। इस समय यह माना जाता है कि सम्पत्ति को उपभोग करने का अधिकार केवल उसके स्वामी को है, वह इसका यथेच्छ उपभोग कर सकता है, क्योंकि वह उसे विरासत में मिली है या अन्य किसी प्रकार से उपलब्ध हुई है। उसके इस अधिकार में समाज कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। किन्तु श्रेणी समाजवादी इस विषय में एक स्पेनिश पत्रकार सिनोर डि मिज़्तू (Sinor De Maeztu) के मत को मानते हुए कहते हैं कि अधिकार नैसर्गिक या आत्मगत (Subjective) न होकर विषयगत (Objective) या कार्यमूलक (Functional) होते हैं। जब हम समाज के लिए कोई अच्छा या उपयोगी कार्य करते हैं तभी हमें अधिकार प्राप्त होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रोफेसर टानी ने यह प्रतिपादित किया है कि सम्पत्ति का अधिकार हमें तभी मिल सकता है जब हम उससे समाज को लाभ पहुँचाने वाला कार्य करें, यदि हम ऐसा नहीं करते तो हमें सम्पत्ति रखने का या उत्पादन सम्बन्धी कोई अधिकार नहीं है। आधुनिक अर्थ-व्यवस्था में पूँजीपति कोई उपयोगी कार्य नहीं करता, वह सट्टेबाजी करता हुआ केवल अधिक-से-अधिक मुनाफा कमाने का प्रयत्न करता है। ऐसे निठल्ले बैठने वाले तथा उपयोगी सामाजिक कार्य न करने वाले पूँजीपति को सब अधिकार और शक्तियाँ देने वाली व्यवस्था ठीक नहीं है।[2]

तीसरी आलोचना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से की जाती है। वर्तमान व्यवस्था में मजदूर को किसी प्रकार का मानसिक आनन्द या सन्तुष्टि नहीं मिलती है। सृजन की प्रक्रिया अत्यन्त आनन्ददायी है। एक कलाकार, कवि या शिल्पी को अपनी कृति के निर्माण से अद्भुत आनन्द मिलता है, ऐसा ही आनन्द मध्यकालीन श्रेणियों में वस्त्र आदि विभिन्न वस्तुओं का निर्माण करने वाले शिल्पियों को आता था, वे अपने कार्य को आदि से अन्त तक बड़ी सफाई से करते थे, अपने द्वारा बनाई वस्तु के सौन्दर्य से

१. कोल—सैल्फ गवर्नमैण्ट इन इण्डस्ट्री, पृ० २३५
२. इस विषय के विवेचन के लिए देखिए टानी की पुस्तक Acquisitive Society।

उन्हें गौरव की अनुभूति होती थी, ग्राहक की सन्तुष्टि से वे फूले नहीं समाते थे। किन्तु आजकल श्रम-विभाजन के कारण मजदूर अत्यन्त छोटे-छोटे कार्यों को आठ घण्टे मशीन की भाँति बड़े नीरस रूप से करता है, वह किसी वस्तु में अपनी वैयक्तिक कला या योग्यता का प्रदर्शन नहीं कर सकता है, किसी वस्तु को अपना बनाया हुआ नहीं कह सकता है। वह अपना हस्त-कशौल दिखाने की तथा अपनी कृति पर गर्व करने की तथा इससे विलक्षण मनोवैज्ञानिक आनन्द पाने की अनुभूति से सर्वथा वंचित हो गया है। औद्योगिक युग की मशीनों ने उसके मानवीय आनन्दों को चकनाचूर करते हुए उसे बिलकुल जड़ बना दिया है।

चौथी आलोचना वर्तमान समाज के राजनीतिक संगठन की है। यह इस समय लोकतन्त्र पर आधारित है। किन्तु राजनीतिक लोकतन्त्र की व्यवस्था बड़ी दोषपूर्ण है, इसमें मनुष्यों के विभिन्न हितों का सही प्रतिनिधित्व नहीं होता है क्योंकि इसमें प्रतिनिधियों का चुनाव प्रादेशिक (Territorial) आधार पर होता है। उदाहरणार्थ, हमारे देश में विधानसभाओं और संसद के लिए एक निश्चित जनसंख्या के आधार पर निर्वाचन क्षेत्र बने होते हैं, इसमें रहने वाले सभी व्यक्ति एक प्रतिनिधि का चुनाव करते हैं। उदाहरणार्थ, श्री जवाहरलाल नेहरू इलाहाबाद जिले के फूलपुर निर्वाचन क्षेत्र से संसद् के लिए चुने जाते थे। इस क्षेत्र में कई लाख मतदाता निवास करते हैं। ये किसान, मजदूर, कारीगर, जुलाहे, वकील, डाक्टर, इंजीनियर, व्यापारी, अध्यापक, विद्यार्थी आदि विभिन्न प्रकार के व्यवसाय करने वाले हैं, इन सबके अपने अलग-अलग प्रकार के हित हैं, फिर भी इनमें से प्रत्येक व्यक्ति के अपने बीसियों प्रकार के कार्य (Functions) और हित हैं। उदाहरणार्थ, एक ही व्यक्ति रामचन्द्र अध्यापक होने के साथ-साथ फुटबाल के एक क्लब का, आर्यसमाज का, उपभोक्ता सहकारी संघ का तथा कांग्रेस का सदस्य है। इसी प्रकार उसके पड़ोसी के भी बीसियों प्रकार के कार्य और हित हो सकते हैं। वर्तमान व्यवस्था में प्रादेशिक या भौगोलिक निर्वाचन क्षेत्रों (Territorial or Geographical Constituencies) की व्यवस्था के आधार पर चुने जाने वाले व्यक्ति भले ही श्री जवाहरलाल नेहरू जैसे विलक्षण प्रतिभा एवं गुणसम्पन्न क्यों न हों, किन्तु वे अपने क्षेत्र के सभी मतदाताओं—किसानों, मजदूरों, वकीलों, इंजीनियरों, अध्यापकों, डाक्टरों के विभिन्न पेशों या व्यवसायों के हितों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते हैं। अतः वर्तमान व्यवस्था को प्रतिनिधिमूलक (Representative) कहना सर्वथा भ्रान्तिमूलक है, यह वस्तुतः गलत प्रतिनिधित्व करने वाली (Misrepresentative) है। कोल ने प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की खिल्ली उड़ाते हुए लिखा है कि "मुझसे इस बात का अनुरोध करना कि मैं किसी व्यक्ति को अपनी समस्त समस्याओं के लिए प्रतिनिधि बनाऊँ, मेरी बुद्धि का अपमान करना है।" अतः श्रेणी समाजवादी यह चाहते है कि प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की वर्तमान व्यवस्था के स्थान पर विभिन्न व्यवसायों और पेशों—कृषि, व्यापार, उद्योग, वकालत आदि के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था हो, किसान, मजदूर, व्यापारी, आदि विभिन्न प्रकार का व्यवसाय करने वाले व्यक्ति अपने पेशों के लोगों में से अपने प्रतिनिधि चुनें, ये अपने हितों की पूरी जानकारी रखने के कारण अपने पेशों का सच्चा प्रतिनिधित्व कर सकेंगे।

वर्तमान लोकतन्त्र का दूसरा बड़ा दोष यह है कि यह मजदूरों को इस बात का अधिकार नहीं देता है कि वे अपने काम की परिस्थितियों का निर्धारण कर सकें। इस समय इस व्यवस्था में सब अधिकार पैसे द्वारा मजदूरों के वोट खरीदने में समर्थ पूँजीपतियों के हाथ में हैं, उनका शासन पर पूरा अधिकार है, वे अपने स्वार्थों को दृष्टि में रखते हुए मजदूरों के लिए मनमाने कानून बनाते हैं। इस प्रकार वर्तमान समाज में मजदूरों को वोट देने का राजनीतिक अधिकार होते हुए भी शासन तथा उद्योगों की व्यवस्था में उन्हें कोई शक्ति या सत्ता प्राप्त नहीं है। अतः हमारा समाज "लोकतन्त्रात्मक नहीं है, इसमें लोकतन्त्रीय सिद्धान्त राज्य के छोटे-से क्षेत्र तक सीमित हैं।" अतः वर्तमान लोकतन्त्र ढोंग और पाखण्ड मात्र है। इस शोचनीय स्थिति को दूर करने के लिए राजनीतिक लोकतन्त्र (Political Democracy) के साथ-साथ **औद्योगिक लोकतन्त्र** (Industrial Democracy) स्थापित होना चाहिए, यह मजदूरों की श्रेणियाँ (Guilds) बनाकर तथा उन्हें उद्योगों की व्यवस्था के संचालन में पूरे अधिकार देकर ही हो सकता है।

मौलिक सिद्धान्त—(१) भृति-पद्धति की समाप्ति—श्रेणी समाजवादी उपर्युक्त दोषों को दूर करने के लिए वर्तमान समाज का पुनःसंगठन निम्नलिखित सिद्धान्तों के आधार पर करना चाहते हैं: **पहला** सिद्धान्त वर्तमान मजदूरी प्रथा (Wage System) की समाप्ति है। कोल के कथनानुसार यह प्रथा चार प्रकार से मजदूर की स्थिति को दयनीय और अपमानजनक बनाती है—(अ) यह श्रम को मजदूर से अलग करके उसे एक ऐसी वस्तु बना देती है जिसे खरीदा और बेचा जा सकता है। (आ) मिल-मालिक या पूंजीपति मुनाफा होने की दशा में ही मजदूरी देता है। (इ) मजदूरी या भृति लेने के बदले में मजदूर उत्पादन के संगठन का सम्पूर्ण नियन्त्रण मिल-मालिक को सौंप देता है। (ई) वह अपने परिश्रम से उत्पादित वस्तु पर अपना अधिकार छोड़ देता है।[1] इसके परिणामस्वरूप इस समय मजदूर को अपने श्रम के बदले मजदूरी या भृति (Wages) मिलती है। यदि बीमारी या बेरोजगारी में वह अपना श्रम बेचने में असमर्थ है तो उसे भूखा मरना पड़ता है, इस समय उसे उत्पादन की व्यवस्था और संगठन में कोई अधिकार नहीं है, उसे अपना श्रम बेचने के कारण मिल-मालिकों के आदेशों का पालन आँख मूंदकर करना पड़ता है। इस प्रकार वह न केवल अपना श्रम अपितु अपना शरीर भी मालिकों को बेचता है, इस पर मिल-मालिक का अधिकार हो जाता है। पुराने जमाने में दास-प्रथा (Slavery) थी, किन्तु वर्तमान व्यवस्था में मजदूरी की प्रथा (Wage System) ने एक नए ढंग की भृतिमूलक दासता (Wagery) को उत्पन्न किया है, इसमें उद्योगपतियों के स्वेच्छाचारी नियन्त्रण ने न केवल मजदूरों के शरीर पर प्रभुत्व स्थापित किया है, अपितु उनकी आत्मा को भी कुचल डाला है।[2] मजदूरों का इस दुरवस्था से उद्धार तभी हो सकता है जब मजदूरी की प्रथा को समाप्त कर दिया जाए, उद्योग-धन्धों में स्वशासन की व्यवस्था स्थापित

---

१. कोल—सैल्फ गवर्नमैण्ट इन इण्डस्ट्रीज, पृ० १५४-५५

२. नाइल्स कारपैण्टर—गिल्ड सोशलिज़्म, पृ० १४२-४४

की जाए तथा निम्नलिखित सिद्धान्तों को स्वीकार किया जाए—(क) प्रत्येक श्रमिक को मानव होने के नाते वेतन मिलना चाहिए, न कि श्रम बेचने की मजदूरी (Wages)। मजदूर को **मजदूरी** (Wages) नहीं, **वेतन** (Pay) मिलना चाहिए। मजदूरी की प्रथा का उन्मूलन होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति मनुष्य होने के नाते समाज के लिए उपयोगी कार्य करता है, अतः उसे वेतन पाने का अधिकार है। (ख) बेकार और बीमार होने पर भी व्यक्ति को वेतन मिलना चाहिए। (ग) श्रमिकों को उत्पादन-व्यवस्था का संगठन करने में और नियन्त्रण करने में अधिकार मिलना चाहिए। (घ) उत्पादित वस्तुओं पर श्रमिकों का अधिकार होना चाहिए। इन्हें क्रियान्वित करने का उपाय औद्योगिक लोकतन्त्र (Industrial Democracy) की व्यवस्था है।

(२) **औद्योगिक लोकतन्त्र** (Industrial Democracy)—श्रेणी समाजवादियों का यह मत है कि वर्तमान समय में लोकतन्त्र की पद्धति राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित होने के कारण अत्यन्त दोषपूर्ण है (पृ० ४७३-७४)। इसे उद्योग-धन्धों के क्षेत्र में विस्तीर्ण करके श्रमिकों को उद्योगों के संचालन में पूरा अधिकार देना चाहिए, इससे मजदूरों के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होगा, वे अपनी उत्पादित वस्तुओं के निर्माण में सृजन का आनन्द ले सकेंगे और उनकी वर्तमान शोचनीय दुर्दशा का अन्त होगा। यह औद्योगिक लोकतन्त्र राजनीतिक लोकतन्त्र की भाँति आवश्यक है और इसकी स्थापना के लिए उद्योगों के क्षेत्र में व्यावसायिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था आवश्यक है।

(३) **व्यवसायमूलक प्रतिनिधित्व** (Functional Representation)—कोल के मतानुसार मनुष्य जिन कार्यों में तथा विषयों में अभिरुचि रखते हैं उनको सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिए वे विभिन्न समूहों और संगठनों का निर्माण करते हैं; धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा अन्य बीसियों प्रकार के कार्य करने के लिए चर्च, श्रमिक संघ, सहकारी समितियाँ, नगरपालिकाएँ बनाई जाती हैं। आजकल इन्हें एक सर्वशक्तिशाली राज्य के अधीन समझा जाता है, किन्तु श्रेणी समाजवादी इन्हें स्वतन्त्र रूप से सहयोगपूर्ण रीति से कार्य करने वाली संस्थाएँ मानते हैं। राज्य अथवा **कम्यून** (Commune) सम्पूर्ण समुदाय (Community) से सम्बन्ध रखने वाले पुलिस, आग बुझाने आदि के सामान्य कार्यों को ही करता है। किन्तु ये कार्य करने से राज्य को अन्य सभी संगठनों की अपेक्षा अधिक ऊँचा स्थान या शक्ति नहीं मिल जाती है। सच्चा लोकतन्त्र तभी स्थापित होगा जब समाज के सभी संगठनों, समुदायों और समूहों को लोकतन्त्रात्मक पद्धति से अपने सभी कार्य करने का अवसर दिया जाए, राज्य किसी मजदूर संघ या धार्मिक संगठन को अपने आदेशों से नियन्त्रित न करे, अपितु इन संगठनों को अपने सम्पूर्ण कार्य करने की पूरी स्वाधीनता हो। कोल के मतानुसार एक नागरिक को केवल अपने निवास-स्थान से पार्लियामैण्ट के लिए प्रतिनिधि चुनने का ही अधिकार नहीं होना चाहिए, अपितु उसे अपने से सम्बन्ध रखने वाले तथा विभिन्न कार्य करने वाले सभी संगठनों के लिए विभिन्न प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होना चाहिए। दूसरे शब्दों में प्रतिनिधित्व (Representation) प्रादेशिक न होकर व्यवसायमूलक या कार्यात्मक (Functional) होना चाहिए। इसे क्रियान्वित करने के लिए प्रत्येक उद्योग में नियन्त्रण तथा संचालन का कार्य

श्रमिकों को देना चाहिए। श्रमिक अपने को विभिन्न श्रेणियों में संगठित करके उत्पादन की समूची व्यवस्था, प्रबन्ध तथा नियन्त्रण अपने हाथ में ले लेंगे। दूसरे शब्दों में प्रत्येक उद्योग में स्वशासन की व्यवस्था हो जाएगी। उद्योग-धन्धों के अतिरिक्त सामाजिक व्यवस्था के शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई आदि अन्य कार्य करने के लिए विभिन्न नागरिक श्रेणियाँ (Civic Guilds) होंगी। इन श्रेणियों का सामान्य स्वरूप निम्नलिखित होगा।

श्रेणियों (Guilds) **का स्वरूप, विशेषताएँ और संगठन**—श्रेणी समाजवादियों का यह कथन है कि समाज में सच्चे एवं पूर्ण लोकतन्त्र की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि इसका संगठन कार्यमूलक अथवा व्यवसायात्मक आधार (Functional basis) पर हो। कोल के मतानुसार समाज में जितने व्यवसाय और कार्य हैं, उनके लिए उतनी ही संख्या में पृथक् रूप से निर्वाचित प्रतिनिधियों की श्रेणियाँ होनी चाहिएँ।[1] ओरेज ने श्रेणी का लक्षण करते हुए कहा है कि "यह ऐसे व्यक्तियों का एक स्वशासित समूह है जो समाज के किसी विशिष्ट कार्य को करने के लिए संगठित हुए हों तथा इसके लिए समाज के प्रति उत्तरदायी हों।"[2] इस लक्षण से श्रेणी की तीन विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं : **प्रथमतः**, एक श्रेणी में हाथ से तथा मस्तिष्क से काम करने वाले उस उद्योग से सम्बद्ध—मजदूर, इंजीनियर, प्रबन्धक आदि सभी व्यक्ति सम्मिलित होते हैं। इस दृष्टि से श्रेणी वर्तमान मजदूर संघों (Trade Unions) से भिन्न है। इस समय मालिक और मजदूरों के दो सर्वथा पृथक् और भिन्न वर्ग हैं, ट्रेड यूनियन या श्रमिक संघ के सदस्य केवल मजदूर ही होते हैं, इनमें मिल-मालिक या प्रबन्धक सम्मिलित नहीं होते हैं, किन्तु श्रेणी का संगठन इससे सर्वथा भिन्न है। इसमें कारखाने की व्यवस्था करने वाले प्रबन्धक और मजदूर दोनों सम्मिलित होते हैं, यह इन दोनों से मिलकर बनने वाला संगठन है। इस कारण श्रेणी की विशेषता एक उद्योग में काम करने वाले सभी व्यक्तियों को इसमें **सम्मिलित करना** (Inclusiveness) है। **दूसरी** विशेषता प्रत्येक श्रेणी का अपने क्षेत्र में पूर्ण रूप से स्वायत्तशासी (Self-governing) होना है। जब तक किसी श्रेणी का कार्य सन्तोषजनक रीति से चल रहा है तब तक इसके कार्यों में कोई बाह्य हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए, इसके सब सदस्यों को सम्पूर्ण व्यवस्था चलाने का पूरा उत्तरदायित्व दिया जाना चाहिए। इस दशा में कार्य उत्तम रीति से होगा, उद्योगों का संचालन कुछ पूँजीपतियों को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से नहीं, अपितु समाज को तथा बहुसंख्यक श्रमिकों को लाभ पहुँचाने की दृष्टि किया जाएगा। **तीसरी** विशेषता श्रेणी का लोकतन्त्रीय प्रणाली के रूप में संचालित किया जाना है। इसके सभी महत्वपूर्ण निर्णय बहुमत द्वारा किए जाएँगे। प्रबन्धकों और व्यवस्थापकों की तथा अन्य पदाधिकारियों की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा होगी। श्रेणियाँ उद्योगों का संचालन केवल मजदूरों के हितों की दृष्टि से नहीं, अपितु सम्पूर्ण कारखाने और उद्योग की दृष्टि से करेंगी। इनका प्रधान कार्य सार्वजनिक हितों की सुरक्षा तथा उत्पादन में वृद्धि करना होगा।

---

१. जी० डी० एच० कोल—सैल्फ गवर्नमैण्ट इन इण्डस्ट्रीज, पृ० ३३-३४

२. ओरेज—एन एल्फाबैट आफ इक्नामिक्स, पृ० ५३

श्रेणी समाजवादियों के मतानुसार प्रत्येक सामाजिक उद्देश्य और कार्य के लिए एक श्रेणी होनी चाहिए। इस दशा में यह स्वाभाविक है कि समाज में श्रेणियों की संख्या बहुत अधिक हो। स्थूल रूप से इन्हें निम्न प्रकारों में बाँटा जा सकता है—(क) **औद्योगिक श्रेणियाँ** (Industrial Guilds)—ये वस्त्र, भवन-निर्माण आदि विभिन्न उद्योगों से सम्बन्ध रखती हैं और उत्पादन-कार्य करती हैं। ये मुख्य रूप से उत्पादकों के संगठन हैं। हॉब्सन ने इंगलैण्ड में निम्नलिखित नौ प्रधान उद्योगों की श्रेणियाँ स्थापित करने पर बल दिया—(१) यातायात, (२) कृषि, (३) खानें, (४) धातुएँ, मशीनें, औजार तथा इंजीनियरी की वस्तुएँ, (५) भवन-निर्माण, फर्नीचर और सजावट, (६) कागज, मुद्रण, पुस्तकें तथा लेखन-सामग्री, (७) वस्त्रोद्योग, (८) पहनने योग्य कपड़े बनाना, (९) भोज्य पदार्थ, तम्बाकू, पेय पदार्थ तथा निवासगृह एवं होटल-व्यवसाय। (ख) **उपभोक्ताओं की श्रेणियाँ** (Consumers' Guilds)—इनका प्रधान कार्य उपभोग योग्य वस्तुओं के वितरण की समुचित व्यवस्था करना है। (ग) **समाजसेवा सम्बन्धी नागरिक श्रेणियाँ** (Civic Guilds)—ये शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई, कानूनी सहायता, मनोरंजन, अभिनय, नाटक आदि की सामाजिक सेवाओं की व्यवस्था करती हैं। (घ) **कृषिविषयक श्रेणियाँ** (Agricultural Guilds)—इनका प्रधान कार्य खेती की व्यवस्था तथा अन्न आदि का उत्पादन है, किन्तु ये औद्योगिक श्रेणियों से कुछ भेद रखती हैं। इनके सदस्य कृषकों के अतिरिक्त गाँवों के लुहार, बढ़ई, चमार आदि अन्य वर्ग भी होंगे। ये न केवल उत्पादकों के, अपितु गाँवों के उपभोक्ताओं के भी संगठन होंगे। इनमें किसानों का छोटे खेतों पर वैयक्तिक स्वामित्व होगा, जबकि उद्योगों में कारखानों पर वैयक्तिक स्वामित्व के स्थान पर समाज का स्वामित्व स्थापित किया जाएगा। पत्रकारिता, कला, लेखन आदि के कुछ व्यवसायों के बारे में कोल और हॉब्सन का मत है कि ये श्रेणियों के संगठन से बाहर रहने चाहिएँ।

श्रेणियों के राष्ट्रीय एवं स्थानीय स्तर पर संगठन के बारे में दो प्रकार के मत हैं। मध्यकालीन श्रेणियों को आदर्श मानने वाले पैण्टी तथा टेलर आदि विचारक इनका संगठन स्थानीय (Local) स्तर पर ही करना चाहते हैं, उनके मतानुसार उद्योगों के विकेन्द्रीकरण तथा स्थानीय स्वशासन से ही श्रमिकों को सच्ची स्वतन्त्रता और आनन्द, तथा वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था से व मशीनों से उन पर होने वाले भीषण अत्याचारों से उन्हें मुक्ति मिल सकती है। दूसरी ओर कोल आदि अधिकांश श्रेणी समाजवादी यह समझते हैं कि वर्तमान परिस्थितियों में इनका मध्ययुग की ओर लौटना असम्भव है, अतः श्रेणियों का संगठन स्थानीय (Local), क्षेत्रीय (Regional) तथा राष्ट्रीय (National) स्तर पर किया जाना चाहिए। इसका विकास नीचे से ऊपर की ओर स्थानीय स्तर से राष्ट्रीय स्तर की ओर होना चाहिए।

स्थानीय श्रेणी का संगठन प्रत्यक्ष लोकतन्त्रात्मक (Direct democratic) रीति से होगा। एक उद्योग में एक श्रेणी होगी, इसमें कार्य करने वाले सभी व्यक्ति इसके सदस्य होंगे। इनके ऊपर प्रादेशिक श्रेणियाँ होंगी। इनके सदस्य स्थानीय

श्रेणियों द्वारा निर्वाचित होंगे और ये अपने से ऊपर की राष्ट्रीय श्रेणी के सदस्यों को निर्वाचित करेंगे। ये श्रेणियाँ भावी समाज का नवनिर्माण करेंगी।

भावी समाज का स्वरूप—कोल के मतानुसार भावी समाज में स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करने वाली श्रेणियाँ तथा अन्य संस्थाओं का स्वरूप निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जाएगा—

श्रेणी (उत्पादन सम्बन्धी कार्य)	**सहकारी संस्थाएँ** (उपभोग सम्बन्धी कार्य)	**संघ** (सामान्य विषय)
राष्ट्रीय (फौलाद, लोहा, जहाज आदि)	**राष्ट्रीय** (यातायात, शिक्षा आदि)	**राष्ट्रीय**
प्रादेशिक (कपड़ा, जल, बिजली आदि)	**प्रादेशिक** (प्रकाश, शिक्षा, मार्ग आदि)	**प्रादेशिक**
स्थानीय (लुहारी, बढ़ईगीरी)	**स्थानीय** (खाद्यान्न, जूता, कागज आदि)	**स्थानीय**

उपर्युक्त तालिका में प्रदर्शित स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय संस्थाएँ क्रमशः स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय विषयों की व्यवस्था एवं प्रबन्ध करेंगी। उत्पादन सम्बन्धी स्थानीय विषय लुहारी, बढ़ईगीरी आदि स्थानीय आवश्यकताओं को पूरा करने वाले लघु उद्योग हैं, स्थानीय श्रेणी इनका संचालन करेगी; इसी प्रकार गाँवों या छोटे कस्बों में उपभोग में आने वाले अनाज, कागज, जूता आदि के वितरण का प्रबन्ध स्थानीय सहकारी संस्थाएँ करेंगी। इन दोनों स्थानीय संस्थाओं में उत्पन्न होने वाले विवादों तथा समस्याओं का समाधान स्थानीय स्तर पर एक संघ द्वारा होगा, संघ दोनों के सामान्य हितों तथा विषयों पर विचार करते हुए इनमें समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करेगा। इसी प्रकार प्रादेशिक स्तर पर कपड़े, बिजली, जल आदि का प्रबन्ध प्रादेशिक श्रेणी करेगी; प्रकाश, शिक्षा, मार्ग आदि की व्यवस्था प्रादेशिक सहकारी संस्था तथा इन दोनों के समन्वय का कार्य प्रादेशिक संघ करेगा। राष्ट्रीय स्तर पर लोहा, फौलाद, पोत आदि महत्वपूर्ण वस्तुओं का उत्पादन राष्ट्रीय श्रेणी; यातायात, शिक्षा का प्रबन्ध राष्ट्रीय सहकारी समिति तथा दोनों के सामान्य विषयों की व्यवस्था संघ करेगा। सम्पूर्ण समाज के उत्पादन और वितरणविषयक नियमों और नीति का निर्धारण संघ, श्रेणियों और समितियों की संयुक्त बैठकों में किया जाएगा, इनमें समन्वय कराना, वेतन, आय-व्यय, मूल्य, कर, बैंक, शान्ति, न्यायालय और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों का संचालन संघ द्वारा किया जाएगा। विवादास्पद विषयों में इसका कार्य सर्वोच्च न्यायालय की भाँति विवादों का निबटारा करना होगा। कोल वर्तमान समय में राज्य द्वारा किए जाने वाले कार्य एक संघ या कम्यून द्वारा करवाना चाहता है।

इस नूतन व्यवस्था में मजदूर स्वयमेव श्रेणियों द्वारा व्यवसायों का संचालन करेंगे, पूंजीवाद की और अतिरिक्त मूल्य की बुराइयों का अन्त हो जाएगा, आधुनिक समाज-व्यवस्था के उपर्युक्त (देखिए पृ० ४७१) दोष दूर हो जाने के बाद श्रमिकों को पूर्ण मनोवैज्ञानिक सन्तोष होगा, अपना कार्य उन्हें रुचिकर, गौरवपूर्ण और आनन्दप्रद लगेगा, सामाजिक हित की दृष्टि से उत्पादन बढ़ाने में प्रोत्साहन मिलेगा, मजदूरी की प्रथा समाप्त हो जाएगी, उद्योगों का सारा कार्य लोकतन्त्रात्मक प्रणाली से चलेगा तथा सच्चे लोकतन्त्र का अभ्युदय होगा। राज्य का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त सीमित होगा, उसका कार्य-क्षेत्र शनैः-शनैः घटता चला जाएगा, उसका स्थान संघ या **कम्यून** (Commune) ले लेगा। राज्य की यह स्थिति श्रेणी समाजवाद की एक प्रधान विशेषता है। अतः यहाँ अब इस पर विचार किया जाएगा।

राज्य की स्थिति : (क) हॉब्सन का मत—इस विषय में श्रेणी समाजवादियों में दो मत हैं। पहले मत का प्रतिपादन हॉब्सन ने तथा दूसरे मत का विवेचन कोल ने किया है। हॉब्सन ने वर्तमान राज्य की सत्ता को मानते हुए उसके कार्य कम कर दिए हैं, किन्तु कोल ने राज्य की सत्ता को अस्वीकार करते हुए उसके स्थान पर कम्यून (Commune) नामक एक नई संस्था की कल्पना की है।

हॉब्सन का यह विचार था कि श्रेणी समाजवाद में राज्य की सत्ता समूचे समुदाय के हितों का प्रतिनिधित्व और संरक्षण करने की दृष्टि से आवश्यक है क्योंकि विभिन्न श्रेणियाँ अपने-अपने हितों का प्रतिनिधित्व करती हैं, इन सब में समन्वय करने वाली, इनके विवादों का निर्णय करने वाली, सम्पूर्ण समाज के हित की दृष्टि से इनका संचालन करने वाली सर्वोच्च शक्ति के रूप में राज्य की संस्था का बने रहना वांछनीय है। यद्यपि श्रेणियों को अपने आन्तरिक प्रबन्ध में पूर्ण स्वशासन प्राप्त होगा, किन्तु राज्य विभिन्न श्रेणियों में होने वाले झगड़ों में तथा उत्पादक श्रेणियों और उपभोक्ता समितियों में होने वाले विवादों में अन्तिम निर्णायक (Final Arbiter) होगा। उत्पादन के साधनों पर राज्य का स्वामित्व होगा, इसे विभिन्न श्रेणियों पर कर लगाने का, दीवानी और फौजदारी कानून बनाने तथा लागू करने का अधिकार होगा। राज्य आन्तरिक उपद्रवों से सुरक्षा की व्यवस्था करेगा, विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा के लिए सेना रखेगा तथा दूसरे देशों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का भी नियन्त्रण करेगा। इस प्रकार हॉब्सन श्रेणी समाजवाद की भावी व्यवस्था में सर्वोपरि एवं प्रभुसत्तासम्पन्न (Sovereign) राज्य की सत्ता को स्वीकार करता है।

(ख) **कोल का मत**—किन्तु कोल कई कारणों से वर्तमान प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य का उग्र विरोध करता है : **पहला** कारण यह था कि वह मार्क्स की भाँति (देखिए ऊपर पृ० ३५९) राज्य को पूँजीपतियों द्वारा मजदूरों के भीषण शोषण और दमन का साधन समझता है। कोल राज्य को बल (Coercion) पर आधारित एवं प्रधान रूप से अत्याचार करने वाली संस्था मानता है। श्रमिकों का उद्धार राज्य की संस्था के उन्मूलन से ही हो सकता है। **दूसरा** कारण कोल का फिग्गिस आदि द्वारा प्रतिपादित बहुलवादी (Pluralistic) विचारधारा का अनुयायी होने के कारण राज्य

का विरोध करना है। आगे यह बताया जाएगा कि बहुलवादी विचारक राज्य को सर्वोच्च प्रभुसत्तासम्पन्न एवं सर्वशक्तिमान् संस्था न मानते हुए, अन्य विभिन्न संस्थाओं की भाँति इसे एक संघ या समूह मानते हैं। समाज में विशेष प्रयोजनों की पूर्ति के लिए अनेक संघ या समूह बनाए जाते हैं। उदाहरणार्थ, मजदूरों के हितों की सुरक्षा के लिए मजदूर-संघ या ट्रेड-यूनियन बनाए जाते हैं, धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आर्यसमाज आदि की संस्थाएँ बनाई जाती हैं। मनुष्य अपनी रुचियों और प्रवृत्तियों के अनुसार विभिन्न संघों का निर्माण करते हैं, इनमें सम्मिलित होते हैं। ये सब संघ अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र और समान अधिकार रखने वाले होते हैं। राज्य भी इसी प्रकार का एक संघ है, उसे अन्य संघों से अधिक अथवा उनके ऊपर कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। राज्य की यह विशेषता है कि उसमें सभी व्यक्ति सम्मिलित होते हैं, अतः इसका प्रयोजन वही होना चाहिए जो सब व्यक्तियों को सुखपूर्वक निवास करने के लिए सामान्य प्रयोजन हो। कोल के मतानुसार यह प्रयोजन वस्तुओं के उपभोग का है। अतः राज्य का प्रधान उद्देश्य उपभोक्ताओं के हितों का प्रतिनिधित्व करना होना चाहिए। इस रूप में यह अन्य समूहों या संघों के समान है, इसे विशेष अधिकार प्राप्त नहीं हैं। कोल के मतानुसार सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता, सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापी, सार्वभौम राज्य की कल्पना अब अतीत की वस्तु हो गई है,[1] आधुनिक जटिल एवं अनेक संघों वाले समाज में ऐसी संस्था का अस्तित्व सम्भव नहीं है।

राज्य के विरोध का **तीसरा** कारण कोल द्वारा राष्ट्रीयकरण से समाजवाद लाने वाले समष्टिवादियों (Collectivists) का प्रबल विरोध है। कोल यह मानता है कि उत्पादन के साधनों पर राज्य को स्वामित्व देकर उससे श्रमिकों के उद्धार की आशा रखना दुराशामात्र है, क्योंकि राज्य यह कार्य एक नौकरशाही (Bureaucracy) के माध्यम से कराएगा और इसमें लालफीताशाही चलेगी, श्रमिकों की कोई सुनवाई नहीं होगी, अतः उनकी दयनीय दशा में कोई सुधार नहीं होगा। इस समय राज्य द्वारा जो उद्योग या कार्य चलाए जा रहे हैं उनमें भी श्रमिकों की दशा सन्तोषजनक नहीं है। उदाहरणार्थ, डाकखाने में काम करने वाले डाकियों और चपरासियों की दशा सन्तोषजनक और आदर्श नहीं है। अतः राज्य से श्रमिकों की दशा नहीं सुधर सकती, उसका एकमात्र उपाय श्रमिकों की अपनी श्रेणियाँ ही हैं। राज्य के रहते हुए इनका उद्धार सम्भव नहीं है, अतः राज्य की संस्था का अन्त होना चाहिए। **चौथा** कारण प्रादेशिक प्रतिनिधित्व (Territorial Representation) के कारण राज्य का प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा शासन (Representative Government) की भ्रान्त धारणा पर आधारित होना है।[2] इसमें यह सिद्धान्त मान लिया गया है कि एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व कर सकता है। वस्तुतः किसी व्यक्ति के लिए किन्हीं दूसरे व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करना सम्भव नहीं है, 'क' नामक व्यक्ति 'ख' 'ग' 'घ' नामक व्यक्तियों का नहीं, अपितु उनके एक विशेष कार्य या उद्देश्य के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व कर सकता है। अतः 'ख' 'ग' 'घ' को

१. कोल—सोशल थियोरी, पृ० ११
२. कोल—गिल्ड सोशलिज्म, पृ० १०८-९

प्रादेशिक आधार पर एक वोट का अधिकार देने के स्थान पर उनके विभिन्न उद्देश्यों और कार्यों की पूर्ति के लिए बनाए गए सभी संगठनों के लिए वोट देने का अधिकार होना चाहिए। वर्तमान राज्य में कार्यमूलक प्रतिनिधित्व (Functional representative) की व्यवस्था न होने से राज्य की व्यवस्था दोषपूर्ण है, इसका उन्मूलन होना चाहिए। **पाँचवाँ** कारण एक ऐतिहासिक युक्ति है। कोल का कहना है कि मनुष्य ने राज्य का निर्माण किया है, वह एक अधिक उत्कृष्ट संस्था बनाकर उसका अन्त भी कर सकता है। उसके मतानुसार यह नवीन संस्था कम्यून (Commune) है।

कम्यून का स्वरूप—यह किसी प्रदेश में रहने वाले सब व्यक्तियों के समुदाय (Community) के सामुदायिक हितों का प्रतिनिधित्व करने के कारण कम्यून या संघ कहलाती है। यह वर्तमान राज्य से सर्वथा भिन्न है, इसका निर्माण विभिन्न प्रकार के उत्पादन तथा उपभोगविषयक कार्य करने वाली (Functional) परिषदों से चुने हुए प्रतिनिधि करते हैं। स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय स्तर पर इसकी तीन प्रकार की संस्थाएँ होती हैं। इनके कार्यों को कोल ने चार समूहों में बाँटा है: **पहले** समूह के कार्य आर्थिक विषयों का नियमन, मूल्य का नियन्त्रण, विभिन्न उद्योगों में आर्थिक साधनों का वितरण, कर लगाना तथा बैंकों की व्यवस्था करना होता है। **दूसरे** समूह के कार्य विभिन्न श्रेणियों तथा विभिन्न कार्य करने वाली संस्थाओं (Functional Bodies) में उत्पन्न होने वाली नीति सम्बन्धी विवादों का निर्णय करना है। **तीसरे** समूह में विभिन्न कार्य और प्रयोजन पूर्ण करने वाली श्रेणियों और समितियों में कार्यों और अधिकारों का बँटवारा करना तथा इनके 'संवैधानिक' कानून तैयार करने के कार्य आते हैं। **चौथे** समूह में विविध प्रकार के अनेक कार्यों का समावेश किया जाता है, जैसे (क) युद्ध की घोषणा तथा शान्ति सन्धि करना, सेनाओं का प्रबन्ध करना, (ख) वैदेशिक सम्बन्धों की व्यवस्था करना, (ग) शहरों, कस्बों तथा विभिन्न क्षेत्रों की सीमाओं का निर्धारण करना, (घ) निजी सम्पत्ति का नियन्त्रण करना। **पाँचवें** समूह में ऐसे कार्य और अधिकार आते हैं जिनसे व्यक्तियों तथा विभिन्न श्रेणियों और समितियों को कम्यून के कानूनों और निर्णयों का पालन करने के लिए बाधित होना पड़े।[1]

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि कोल का कम्यून वर्तमान राज्य की अपेक्षा कम प्रभुसत्तासम्पन्न (Sovereign) है। उसके कार्य और अधिकार कम हैं, वर्तमान राज्य में केन्द्रित सत्ता को कोल ने विभिन्न श्रेणियों में तथा सहकारी समितियों में बाँटकर विकेन्द्रित करने का प्रयत्न किया है ताकि भावी समाज सत्ता के केन्द्रीकरण से उत्पन्न होने वाले स्वच्छन्द और अत्याचारी शासन के दुष्परिणामों से बचा रहे।[2]

कार्यक्रम और साधन— श्रेणी समाजवादी उपर्युक्त सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करने के लिए विशेष साधनों का अवलम्बन करना चाहते हैं। उनके मतानुसार पूँजीवादी समाज से श्रेणी समाजवादी समाज का निर्माण प्रधान रूप से एक

---

१. कोल—गिल्ड सोशलिज्म रिस्टेटिड, पृ० १३९-४०

२. कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० २८३

स्वाभाविक और क्रमिक विकास की प्रक्रिया द्वारा होना चाहिए। वे सामान्य रूप से वैध और शान्तिपूर्ण उपायों का समर्थन करते हैं। इस विषय में उनके प्रधान उपाय निम्नलिखित हैं—(१) **राजनीतिक उपायों को अपर्याप्त समझते हुए आर्थिक कार्यक्रम पर बल देना**—श्रेणी समाजवादियों का यह विश्वास है कि अभीष्ट सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए राजनीतिक साधनों—पार्लियामैण्टों तथा विधानसभाओं पर भरोसा नहीं किया जा सकता। कोल के मतानुसार यह कई कारणों से सम्भव नहीं है : **पहला** कारण यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था में ऐसा नहीं हो सकता कि समूचा मजदूर वर्ग एकसाथ मिलकर वोट दे और मजदूरों की सरकार बनाने में समर्थ हो। **दूसरा** कारण यह है कि संसदीय पद्धति बड़ी मन्दगामी है, इसमें एक कानून बनने में कई वर्ष लग जाते हैं, इस हिसाब से समाज में अभीष्ट परिवर्तन लाने के लिए एक शताब्दी का समय लग जाएगा।[1] **तीसरा** कारण वर्तमान शासन का पूँजीवादी आधार पर संगठित होना है, यह समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने में समर्थ नहीं है। **चौथा** कारण यह है कि राजनीतिक साधनों से ऐसा मौलिक परिवर्तन करने का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि शासक वर्ग इसका विरोध करने के लिए कटिबद्ध हो जाएगा और वह सामाजिक क्रान्ति को सफल नहीं होने देगा। अतः राजनीतिक साधनों से सामाजिक परिवर्तन सम्भव नहीं है, इसके लिए निम्नलिखित आर्थिक उपायों का अवलम्बन करना पड़ेगा :

श्रमिक संघों का पुनःसंगठन—सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए श्रमिकों को अपनी शक्ति पर भरोसा रखते हुए श्रमिक संघों का पुनःसंगठन करना चाहिए। इन संघों को पूँजीवादी व्यवस्था में अपने लिए अधिक मजदूरी और सुविधाएँ प्राप्त करके ही सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए, अपितु मजदूरी की प्रथा को समाप्त करने के लिए प्रबल आन्दोलन करना चाहिए। इन संघों के उद्योगों (Industries) को संगठित करते हुए सुदृढ़ बनाना चाहिए। एक उद्योग के सभी कार्यकर्त्ताओं को, मैनेजर से चपरासी तक सभी व्यक्तियों को, इसमें सम्मिलित होना चाहिए; इन संघों का एक बड़ा दोष यह है कि इनमें अब तक केवल हाथ से काम करने वाले मजदूर ही होते हैं, किन्तु इनमें शारीरिक एवं बौद्धिक रूप से दोनों प्रकार का श्रम करने वाले सभी व्यक्तियों के सम्मिलित होने से इनके प्रभाव और शक्ति में वृद्धि होगी, ऐसे संयुक्त संगठन में पूँजीपति फूट नहीं डाल सकेंगे। इन श्रमिक संघों को अपना इतना अधिक विस्तार करना चाहिए कि मजदूरी करने वाले सभी नर-नारी इन संघों में सम्मिलित हो जाएँ। यह स्थिति आने पर ये अपने संयुक्त संगठन के बल से पूँजीपतियों से अपनी माँगें मनवाने में समर्थ होंगे, पूँजीपति इनका शोषण नहीं कर सकेंगे।

(२) **क्रमशः अधिकाधिक अधिकार अपहरण करने की नीति** (The Policy of Encroaching Control)—उपर्युक्त ढंग से संगठित होने और शक्तिशाली बनने के बाद मजदूरों की यह नीति होनी चाहिए कि वे शनैः-शनैः उद्योगों के प्रबन्ध में तथा कारखानों के संचालन में अधिकाधिक अधिकारों की माँग करने लगें। ये माँगें छोटी बातों से शुरू होकर उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाएँगी। उदाहरणार्थ, पहले इन

१. लेडलर—सोशल इक्नामिक मूवमेण्ट्स, पृ० ३३५

संघों की यह माँग होगी कि मजदूरों के कार्य-निरीक्षकों (Foremen) की नियुक्ति में श्रमिक संघों से परामर्श लिया जाए। इस माँग के स्वीकार करने पर दूसरी माँग यह रखी जाएगी कि निरीक्षक लोग मजदूरों द्वारा चुने जाएँ, तीसरी माँग यह होगी कि किसी भी मजदूर को उसके साथी मजदूरों की सहमति के बिना पदच्युत न किया जाए, चौथी माँग कारखाने के प्रबन्धकों के मजदूरों द्वारा चुने जाने की होगी, पाँचवीं माँग यह होगी कि मिल-मालिक मजदूरों को पृथक् रूप से मजदूरी न बाँटकर सारी धनराशि मजदूरों की एक कार्य-समिति (Works Committee) को सौंप दिया करें। इस प्रकार मजदूर शनैः-शनैः अपनी माँगें मनवाते हुए मिल-मालिकों के अधिकारों का अपहरण (Encroachment) करते जाएँगे और अन्त में वे उद्योगों की सारी व्यवस्था, प्रबन्ध और संचालन मिल-मालिकों से अपने हाथों में ले लेंगे। लेडलर ने लिखा है कि अधिकारापहरण की नीति मजदूरों के कार्यक्रम में श्रेणी समाजवादियों की एक विशिष्ट देन है।[1] कुछ विचारकों ने पूँजीपतियों के मुनाफों के सम्बन्ध में भी इस नीति को अपनाने की सलाह दी है। उनका कहना है कि श्रमिक संगठन को इतना सुदृढ़ कर लिया जाए कि श्रमशक्ति पर उनका एकाधिकार स्थापित हो जाए, मिल-मालिक इनकी इच्छा के बिना कहीं से एक भी मजदूर अपनी मशीनें चलाने के लिए प्राप्त न कर सकें। ऐसी स्थिति हो जाने पर मजदूर अपने वेतन में वृद्धि के लिए हड़तालें करें तो मिल-मालिकों को अन्य मजदूर न मिलने के कारण श्रमिक संघों की माँगें मानने को विवश होना पड़ेगा, अधिक मजदूरी देने से उनके मुनाफे में कमी होगी, इस प्रकार कई हड़तालों के द्वारा मजदूर मिल-मालिकों के लाभ में भारी कमी कर सकते हैं।

इस प्रकार के अधिकारापहरण से सहसा कोई महान् परिवर्तन होने की आशा नहीं है, किन्तु यह पूँजीवाद की नींव को खोखला करने का काम अवश्य शुरू कर देगा, इससे मजदूरों की शक्ति में वृद्धि होगी, वे पूँजीवाद पर सीधा हमला करने के लिए शक्ति और साहस बटोर सकेंगे। कारखानों पर इस प्रकार अधिकार करने का एक बड़ा लाभ यह होगा कि मजदूरों को कारखानों के संचालन एवं प्रबन्ध करने की कला का उत्तम प्रशिक्षण मिल जाएगा, वे पूँजीपतियों को इस बात की चुनौती देने में समर्थ होंगे कि वे कारखानों की व्यवस्था उनकी अपेक्षा अधिक कुशलता के साथ कर सकते हैं।

(३) **सामूहिक ठेका** (Collective Contract)—**तीसरा** उपाय सामूहिक ठेके का है। इसमें मजदूर दैनिक मजदूरी पर काम करने के स्थान पर मिल-मालिक से यह ठेका कर लेंगे कि इतने समय में इतना माल तैयार कर दिया जाएगा। एक बार ठेका देने के बाद मिल-मालिक मजदूरों का कोई निरीक्षण या प्रबन्ध नहीं करेगा। मजदूर अपनी इच्छानुसार व्यवस्था करके काम पूरा कर देंगे और इस ठेके को पूरा करने से प्राप्त हुई धनराशि को आपस में बाँट लेंगे।

(४) **चौथा** उपाय पूँजीपतियों के उद्योगों की प्रतिस्पर्द्धा में मजदूरों द्वारा अपने उद्योग स्वयमेव स्थापित करना है। यह उपाय ऐसे उद्योगों में ही सफल हो सकता है

१. लेडलर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३३६.

जिनमें अधिक पूँजी या महँगी मशीनें लगाने की आवश्यकता न हो। भवन-निर्माण, दर्जी आदि के कार्य इसी प्रकार के उद्योग हैं, पहले (पृ० ४७०-७१) यह बताया जा चुका है कि मकान बनाने के काम में भवन-निर्माण श्रेणियों को इंगलैण्ड में कुछ सफलता मिली थी।

(५) **सीधी कार्यवाही** (Direct Action) **का विरोध**—कुछ श्रेणी समाजवादी समाज में अभीष्ट परिवर्तन लाने के लिए श्रमिक संघवादियों की भाँति हड़ताल आदि की सीधी कार्यवाही करने का प्रबल समर्थन करते थे, किन्तु कोल आदि अधिकांश विचारक हिंसापूर्ण उग्र उपायों के विरोधी थे। उनका कहना था कि वर्तमान परिस्थितियों में मजदूर पूंजीपतियों के विरुद्ध विद्रोह करने में सफल नहीं हो सकते; क्योंकि उन्हें राज्य की सैनिक शक्ति का प्रबल समर्थन प्राप्त है। 'सीधी कार्यवाही' में तथा हड़ताल का साधन अपनाने में एक बड़ा दोष यह है कि इसमें मजदूरों को भीषण आर्थिक हानि उठानी पड़ती है तथा उनके बीबी-बच्चों को भूखा मरना पड़ता है। वे इस उपाय के प्रयोग में तभी सफल हो सकते हैं-जब उनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो, इसमें बहुत समय लगेगा। अतः इस समय सीधी कार्यवाही करना मजदूरों के लिए हानिप्रद और घातक है। कोल ने १९१७ की बोल्शेविक क्रान्ति का उदाहरण देकर उग्र उपायों का समर्थन करने वालों के तर्क का उत्तर देते हुए कहा था कि रूस की क्रान्ति इसलिए सफल हो सकी कि वहाँ की सरकार बहुत निर्बल, नपुंसक और अक्षम थी। ग्रेट ब्रिटेन या अन्य देशों में सरकार एवं पूँजीपतियों के शक्तिशाली होने के कारण उग्र उपायों के सफल होने की सम्भावना नहीं है। अतः श्रेणी समाजवादी व्यवस्था लाने के लिए शान्तिपूर्ण एवं वैध उपायों का अवलम्बन करना चाहिए।[1]

श्रेणी समाजवाद की आलोचना—इसका **पहला** दोष यह है कि यह श्रेणी (Guild) के जिस मौलिक विचार पर आधारित है वह भ्रान्तिपूर्ण और अव्यावहारिक है। मध्ययुग की श्रेणी-पद्धति को आधुनिक उद्योगों पर लागू करना असम्भव है। पेण्टी ने मशीनों द्वारा उत्पादन के स्थान पर अपने हाथों से उत्पादन करने वाली मध्यकालीन हस्तोद्योगप्रधान श्रेणियों के पुनरुज्जीवन पर बहुत बल दिया था। वर्तमान औद्योगिक विकास की, बड़े पैमाने पर उत्पादन की, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की तथा अन्य आधुनिक परिस्थितियों को देखते हुए पुरानी श्रेणियों की व्यवस्था को अब फिर से लाना उल्टी गंगा बहाने जैसा असम्भव और निरर्थक प्रयास है। मध्ययुग की श्रेणियों को आदर्श समझने वाले विचारक यह भूल जाते हैं कि इनमें निचले दर्जे के मजदूरों—फेरी लगाकर काम करने वाले श्रमिकों (Journeymen) की दशा अत्यन्त दयनीय थी, इनके मनमाने और एकाधिकारवादी नियमों से उस समय उद्योगों का गला घुट रहा था। आर्थिक विकास में बाधक होने के कारण ही उस समय समाज को हानि पहुँचाने वाली इन श्रेणियों का अन्त हुआ था। श्रेणी-पद्धति (Guild System) तथा आधुनिक उद्योगवाद दो सर्वथा भिन्न प्रकार की पद्धतियाँ हैं, पहली छोटे पैमाने पर स्थानीय क्षेत्र में हाथ से काम करने वाले कुशल शिल्पियों द्वारा संचालित की जाने वाली पद्धति है,

१. लेडलर—सोशल इक्नामिक मूवमैण्ट्स, पृ० ३३८

दूसरी बड़े पैमाने पर मशीनों द्वारा उत्पादन की व्यवस्था करने वाली, अकुशल श्रमिकों के श्रम का प्रयोग करने वाली राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन रखने वाली व्यवस्था है। इन दोनों का समन्वय करना सम्भव नहीं है।

दूसरा दोष श्रेणी समाजवादियों की वर्तमान भृति-पद्धति (Wages System) की तथा मुनाफे के लिए उत्पादन की पद्धति की अतिरंजित, अत्युक्तिपूर्ण और अयथार्थ आलोचना है। कोल तथा हॉब्सन ने यह माना है कि श्रम श्रमिक से पृथक् की जा सकने वाली, बाजार में खरीदी और बेची जा सकने वाली वस्तु (Commodity) मात्र है। हॉब्सन ने इसे खाद्य पदार्थ बताया है। वस्तुतः यह सर्वथा भ्रान्त कल्पना है। चेतन तथा सजीव मजदूर के श्रम की खाद जैसी जड़ वस्तुओं के साथ कोई तुलना नहीं हो सकती है। ग्रे ने इस विषय में ठीक ही लिखा है कि हॉब्सन अपनी खाद के साथ यथेच्छ व्यवहार कर सकता है, वह उससे तर्क नहीं करेगी, उसे गाली (Expostulate) नहीं देगी, अपने विवादों के निर्णय के लिए किसी ह्विटली परिषद् (Whitley Council) के निर्णय के लिए आग्रह नहीं करेगी, कोई हड़ताल (Stay-in Strike) नहीं करेगी, यह अपने निश्चित कार्य को पूरा करने से इनकार नहीं कर सकती है। श्रम को श्रमिक से पृथक् नहीं किया जा सकता है।...वस्तुओं को गोदामों तथा अन्न-भण्डारों में एकत्र करना सम्भव है, किन्तु श्रम को वस्तुओं की भाँति संचित करके अगले साल प्रयोग में लाना सम्भव नहीं है। अतः श्रम को वस्तु समझना ठीक नहीं है। इसी प्रकार यह कहना भी सत्य नहीं है कि उद्योगों का संचालन मुनाफे की नहीं, अपितु सामाजिक उपयोग की भावना से होना चाहिए। वस्तुतः लाभ या मुनाफा अर्थशास्त्र की एक अत्यन्त जटिल परिभाषा है। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री केन्स (Keynes) ने लिखा है कि यदि आर्थिक क्षेत्र में सब परिस्थितियों का सन्तुलन ठीक बना रहे तो मुनाफा नहीं होना चाहिए। इन बारीकियों में न जाते हुए इस विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि किसी भी कार्य को करने से पहले उसके बारे में हिसाब अवश्य लगाया जाता है कि उस पर कितना व्यय होगा तथा उससे कितनी आय होगी। यह एक सार्वभौम सिद्धान्त है, इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। इस विषय में यह भी कहा जा सकता है कि यदि व्यवसायों को सामाजिक उपयोग तथा लाभ—दोनों की दृष्टि से चलाया जाए तो अधिक अच्छा रहेगा।

तीसरा दोष राज्यविषयक विचारों में है। कोल ने राज्य की सत्ता से इनकार करते हुए इसे केवल उपभोक्ताओं का संघ मात्र माना है, वास्तव में ऐसी स्थिति नहीं है। राज्य में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो उसे अन्य सभी प्रकार के संगठनों, समूहों और सम्प्रदायों से पृथक् करती हैं। अन्य सभी संगठनों का सदस्य बनना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है, किन्तु राज्य का सदस्य बनना अनिवार्य है, सबको बाध्य होकर इसका सदस्य बनना पड़ता है। अनिवार्यता और व्यापकता की इन विशेषताओं के अतिरिक्त राज्य की दण्ड-व्यवस्था और अनुशासन इसके सब सदस्यों पर आवश्यक रूप से लागू होता है। मैं यदि किसी क्लब का सदस्य बनता हूँ तो उसके नियम मुझ पर तभी तक लागू होते हैं जब तक मैं अपनी इच्छा से उन नियमों को अपने पर लागू करना चाहता हूँ। मेरी इच्छा के विरुद्ध यदि मुझ पर कोई नियम या दण्ड लागू किए

जाते हैं तो मैं उस क्लब की सदस्यता छोड़कर उससे पृथक् हो सकता हूँ। किन्तु राज्य के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। उसके नियम उसमें रहने वाले सभी प्रजाजनों पर अनिवार्य रूप से लागू होते हैं। उदाहरणार्थ, क्लब का चन्दा न देने पर क्लब मुझे अपनी सदस्यता से निकाल देता है, मैं उससे पृथक् हो जाता हूँ। किन्तु यदि मैं राज्य को आय-कर नहीं देता हूँ तो मैं इससे बचने के लिए आसानी से दूसरे देश में नहीं जा सकता हूँ। क्लब की दण्ड-व्यवस्था इसके सदस्यों पर भले ही लागू न हो सके, किन्तु राज्य की दण्ड-व्यवस्था सब प्रजाजनों पर आवश्यक रूप से लागू होती है।

कोल ने प्रभुसत्ता (Sovereignty) से सम्पन्न राज्य की कड़ी आलोचना करते हुए कम्यून का विकल्प प्रस्तुत किया है, किन्तु उसने इसे ऐसा निर्वीर्य और नपुंसक बना दिया है कि यह विभिन्न श्रेणियों के पारस्परिक विवादों और समस्याओं के सुलझाने में समर्थ नहीं होगा। समाज में शान्ति और न्याय की व्यवस्था बनाए रखने तथा सब विवादों का दृढ़तापूर्वक समाधान करने के लिए एक शक्तिशाली अन्तिम सत्ता को मानना आवश्यक है, यह सत्ता राज्य है। कोल को कम्यून के रूप में इसे मानने को बाधित होना पड़ा है।

चौथा दोष श्रेणियों और संघों द्वारा उद्योगों के संचालन में कई कठिनाइयों और बुराइयों का उत्पन्न होना है। श्रेणी समाजवादी उद्योगों में लोकतन्त्र की प्रणाली को लागू करके राजनीतिक लोकतन्त्र के साथ-साथ औद्योगिक लोकतन्त्र (Industrial Democracy) की व्यवस्था को लाना चाहते हैं। किन्तु इनमें **पहली** बड़ी कठिनाई यह है कि इससे कारखानों के संचालन में अनुशासन आदि की गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न हो जाएँगी। उदाहरणार्थ, श्रेणी समाजवादियों के मतानुसार कारखानों के निरीक्षक और प्रबन्धक मजदूरों द्वारा चुने जाने चाहिएँ, मजदूरों को ही उन्हें पदच्युत करने का अधिकार देना चाहिए। किन्तु इस प्रकार निर्वाचित और पदच्युत किया जा सकने वाला निरीक्षक या प्रबन्धक मजदूरों पर किसी प्रकार का नियन्त्रण या अनुशासन रखने में और उनसे काम लेने में सफल नहीं हो सकता है।[1] जो निरीक्षक दिन में मजदूरों से पूरा काम लेने का प्रयत्न करेगा, उसे मजदूर शाम को अपने संघ में प्रस्ताव करके पदच्युत कर देंगे। यह स्थिति लगभग वैसी ही है जैसी विद्यार्थियों द्वारा अपने परीक्षक स्वयमेव नियुक्त करने पर उत्पन्न होगी। अधिकारी के पास कुछ सत्ता अवश्य रहनी चाहिए। वह उसी के आधार पर अपने वशवर्तियों से काम ले सकता है, किन्तु यदि उसके वशवर्तियों ने ही उसकी नियुक्ति और मुक्ति करनी हो तो वह उनके सामने हाथ जोड़कर खड़ा रहेगा, उनसे किसी प्रकार का कार्य नहीं ले सकेगा। यह स्थिति अराजकता और अनुशासनहीनता को उत्पन्न करने वाली है। **दूसरी** कठिनाई यह है कि मजदूरों में प्रबन्ध करने की तथा उद्योगों का संचालन करने की प्रतिभा एवं क्षमता नहीं हो सकती है। ग्रे ने इसका एक मनोरंजक दृष्टान्त देते हुए कहा है कि ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रेस में काम करने वाले कम्पोज़ीटर भले ही यूनानी वर्णमाला का ज्ञान रखते हों, किन्तु उनका संघ इस प्रेस की व्यवस्था करने में तथा इस बात का

---

१. लेडलर—सोशल इक्नामिक मूवमैण्ट्स, पृ० ३४१

निर्णय करने में समर्थ नहीं हो सकता है कि विश्वविद्यालय की ओर से एक यूनानी लेखक हिसियड (Hesiod) के ग्रन्थों का नवीन संस्करण प्रकाशित किया जाए या न किया जाए। प्रबन्ध की पेचीदगियाँ सामान्य मजदूर की समझ से बाहर की बात हैं। तीसरी कठिनाई यह है कि यदि विभिन्न श्रेणियों तथा संघों को अपने सम्बन्ध में नियम बनाने की पूरी स्वाधीनता दे दी जाए और इन पर कोई अंकुश या नियन्त्रण न रखा जाए तो सार्वजनिक हितों को तथा अन्य वर्गों को बहुत बड़ी हानि पहुँचने की आशंका है। उदाहरणार्थ, उत्पादक श्रेणियों का हित इसी बात में है कि उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं का मूल्य अधिक रखा जाए, किन्तु उपभोक्ताओं की दृष्टि से यह वृद्धि वांछनीय नहीं है। संघों द्वारा स्वतन्त्रता के दुष्परिणाम की सम्भावना का एक सुन्दर उदाहरण अध्यापक-संघ ('Teachers' Guild) का है। श्रेणी समाजवादी व्यवस्था के अनुसार शिक्षाविषयक सभी नियमों का निर्धारण इस व्यवसाय में लगे अध्यापकों के संघ या श्रेणी द्वारा होना चाहिए। यह अध्यापक-संघ ऐसे नियम बना सकता है जो इसके हितों की दृष्टि से ठीक हों, किन्तु सार्वजनिक हित की दृष्टि से वांछनीय न हों; जैसे सब विद्यार्थियों के लिए २५ वर्ष की आयु तक पढ़ना अनिवार्य हो तथा एक अध्यापक के पास तीन से अधिक विद्यार्थी न हों।[1] ये दोनों सुधार शिक्षा के दृष्टिकोण से उत्तम हो सकते हैं, इनसे विद्यार्थी अधिक योग्य बनेंगे, किन्तु सार्वजनिक हित की दृष्टि से यह व्यवस्था वांछनीय नहीं है। श्रेणियों तथा संघों को पूर्ण स्वायत्त शासन देने से अराजकता उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों का जन्म होना सम्भव है, अतः यह व्यवस्था सार्वजनिक हित के प्रतिकूल है।

पाँचवाँ दोष श्रेणी समाजवाद का आर्थिक तथा राजनीतिक प्रश्नों को सर्वथा भिन्न वर्गों में विभक्त करना तथा दो पृथक् संस्थाओं—श्रेणियों तथा कम्यूनों—को सौंपना है। वर्तमान परिस्थितियों ने इन दोनों को अन्योन्याश्रित और सम्बद्ध बना दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का व्यापार एवं उद्योग पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों का विभाजन ठीक नहीं है। **छठा** दोष व्यावसायिक प्रतिनिधित्व (Functional Representative) का है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रादेशिक प्रतिनिधित्व (Territorial Representative) की व्यवस्था में कुछ दोष हैं, किन्तु व्यावहारिक प्रतिनिधित्व में तो इससे भी बड़े दोष हैं। इससे समाज बीसियों वर्गों में विभक्त हो जाएगा। इन सब वर्गों के सदस्यों का दृष्टिकोण, केवल अपने वर्ग तक सीमित होने के कारण, अत्यन्त संकीर्ण और संकुचित हो जाएगा, इससे राष्ट्रीय एकता खण्डित होने लगेगी। **सातवाँ** दोष श्रेणी समाजवादियों द्वारा उत्पादन की सम्पूर्ण व्यवस्था श्रेणियों को सौंप देना है, वे राज्य को तथा उपभोक्ताओं को इसमें हस्तक्षेप का अधिकार नहीं प्रदान करते हैं। इससे उत्पादन पर श्रेणियों का एकाधिपत्य (Monopoly) स्थापित हो जाएगा और समाज को इसके दुष्परिणाम भोगने के लिए बाधित होना पड़ेगा। श्रेणी अपनी वस्तुओं का मूल्य अधिक बढ़ा सकती है, उपभोक्ताओं को बाधित होकर अधिक मूल्य देना पड़ेगा। यह सम्भव है कि इस बीच में श्रेणियाँ

१. ग्रे—दी सोशलिस्ट ट्रेडीशन, पृ० ४५६

अधिक मुनाफा कमाने के लिए निकृष्ट कोटि की वस्तुएँ उत्पन्न करें। जब ग्राहक गन्दी वस्तुओं को ऊँचे मूल्य पर खरीदना बन्द कर देंगे तो वस्तुओं की माँग कम होने से कारखाने बन्द होने लगेंगे, मजदूरों की दशा बिगड़ने लगेगी। सर्वत्र अव्यवस्था और अराजकता का साम्राज्य होगा, देश का आर्थिक जीवन अस्तव्यस्त हो जाएगा, देश दिवालियापन की ओर अग्रसर होगा। **आठवाँ** दोष इस विचारधारा का अत्यधिक बौद्धिक और काल्पनिक होना है। इसके अधिकांश विचारक इंगलैण्ड के बुद्धिजीवी मध्यम वर्ग के थे, जीवन की कठोर वास्तविकताओं से इनका कोई सम्बन्ध न था। अतः इन्होंने वास्तविक तथ्यों की ओर आँख मूँदते हुए श्रेणियों द्वारा उत्पादन की सर्वथा अव्यावहारिक योजनाएँ बनाईं। यही कारण है कि यह आन्दोलन इंगलैण्ड में थोड़े से वर्ष चलकर समाप्त हो गया। यह प्रथम विश्वयुद्धजन्य परिस्थितियों से उत्पन्न समस्याओं का समाधान करने में विफल सिद्ध हुआ।

मूल्यांकन और प्रभाव—किन्तु उपर्युक्त दोष होते हुए भी इस श्रेणी समाजवाद की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि इसने आगे चलकर प्रभाव डालने वाले नए विचारों को उत्पन्न किया, समूचे श्रमिक आन्दोलन को एक नई चेतना और जागृति प्रदान की और लोकतन्त्र के दोषों को अधिक स्पष्ट किया। ग्रे के मतानुसार श्रेणी समाजवादियों को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने समाजवाद को चौराहे पर खड़े तथा रास्ता भटके हुए ऐसे बालक के तुल्य बना दिया जिसे यह पता नहीं है कि उसे किस दिशा में जाना है।[1] श्रेणी समाजवादियों ने बुद्धिजीवी होने के कारण उस समय प्रचलित सभी प्रकार की समाजवादी धारणाओं—समष्टिवाद, फेबियनवाद, राष्ट्रीयकरण, लोकतन्त्र आदि की कटु आलोचना की। किन्तु उन्होंने समाजवाद के पुराने सिद्धान्तों को भ्रान्तिपूर्ण और खोखला सिद्ध करते हुए इनके स्थान पर किन्हीं नवीन सिद्धान्तों में आस्था को नहीं उत्पन्न किया।

फिर भी हमें यह मानना पड़ेगा कि उन्होंने आधुनिक विचारधारा पर गहरा प्रभाव डाला है। सं० रा० अमेरिका जैसे पूँजीवादी देश में रूज़वैल्ट की नवीन आर्थिक नीति (New Deal) में इसके कई सिद्धान्तों को अपनाया गया है। १६३३ के राष्ट्रीय आर्थिक पुनरुद्धार कानून (National Recovery Act) के द्वारा सं० रा० अमेरिका की संघीय सरकार को श्रमिकों के कार्य करने के घण्टों, मजदूरी की दरों, मूल्यों एवं उत्पादन-पद्धति का निर्धारण करने के सम्बन्ध में असाधारण अधिकार दिए गए हैं, किन्तु वह इनका प्रयोग इनसे सम्बन्ध रखने वाले सभी वर्गों के परामर्श एवं सहयोग से करेगी। किसी विशेष उद्योग में काम के घण्टों तथा मजदूरी की दरों को तय करने के पहले वह उस उद्योग के मिल-मालिकों तथा श्रमिकों के प्रतिनिधियों में वार्ता चलाकर समझौता कराने का प्रयत्न करेगी, मूल्यों का निर्धारण उपभोक्ताओं से परामर्श करने के बाद किया जाएगा। इसमें ऐसी व्यवस्था की गई है कि मूल्य आदि के महत्वपूर्ण प्रश्नों का निर्धारण न तो निजी उद्योगपतियों की दृष्टि से हो और न ही मजदूरों की दृष्टि से; अपितु सरकार द्वारा सब सम्बद्ध पक्षों से समुचित

---

१. ग्रे—दी सोशलिस्ट ट्रेडीशन, पृ० ४५७

परामर्श करने के बाद सबके सम्मिलित प्रयत्न से हो।[1] श्रेणी समाजवाद की एक बड़ी देन यह है कि लोकतन्त्र का सिद्धान्त केवल राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित न हो, यह समूचे आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन के क्षेत्रों में लागू किया जाए। उसकी मौलिक माँग यह है कि समाज के सम्पूर्ण ढाँचे को लोकतन्त्रात्मक प्रणाली के आधार पर संगठित किया जाए। अब शनैः-शनैः इस सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप दिया जा रहा है। यह श्रेणीवाद की विलक्षण सफलता है।

श्रेणी समाजवाद की एक बड़ी विशेषता यह है कि यह **श्रमिक संघवाद और समष्टिवाद का मध्यम मार्ग** है। गैटिल के शब्दों में यह दोनों के सुन्दर समन्वय को सूचित करता है। इसने संघवादियों का यह विचार अपना लिया है कि उत्पादन-कार्य की तथा कारखानों एवं उद्योगों की प्रबन्ध-व्यवस्था के संचालन का भार उत्पादकों अथवा श्रमिकों के हाथ में ही होना चाहिए। किन्तु श्रमिक संघवाद का एक बड़ा दोष यह है कि यह केवल उत्पादकों के हितों पर ही बल देता है, किन्तु श्रेणी समाजवाद उत्पादकों के साथ उपभोक्ताओं के हितों को भी महत्वपूर्ण मानता है। उसके मतानुसार विभिन्न उद्योग संघों (Occupational Unions) अथवा श्रेणियों के रूप में संगठित श्रमिक ही उद्योगों का नियन्त्रण करते हैं और राज्य का प्रतिनिधित्व करने वाले उपभोक्ता उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखते हैं। श्रमिक संघवादी राज्य को पूर्ण रूप से समाप्त करने के पक्ष में हैं (ऊपर पृ० ४६०), इसके विपरीत समष्टिवादी प्रत्येक कार्य राज्य द्वारा कराना चाहते हैं। श्रेणी समाजवादी न तो राज्य की समाप्ति करना चाहते हैं और न ही समष्टिवादियों की भाँति राज्य को व्यापक अधिकार देना चाहते हैं। वे इन दोनों मतों के बीच का मार्ग अपनाते हुए राज्य को रखना चाहते हैं, किन्तु इसका कार्य-क्षेत्र बहुत संकुचित कर देते हैं (देखिए ऊपर पृ० ४७६)। इस प्रकार राज्य के बारे में वे मध्यम मार्ग का अवलम्बन करते हैं। समाजवाद को लाने के साधनों में भी वे उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों के बीच का रास्ता अपनाते हैं। श्रमिक संघवादियों के हिंसापूर्ण और अवैध उपायों का अवलम्बन उन्हें वांछनीय नहीं प्रतीत होता है। वे समष्टिवादियों की भाँति शान्तिपूर्ण और वैध उपायों का समर्थन करते हैं। उनकी अधिकारापहरण (Encroaching Control) की नीति तथा सामूहिक ठेके (Collective Contracts) दोनों शान्तिमय पद्धतिया हैं। किन्तु इन्हें अपनाते हुए भी वे समष्टिवादियों के राजनीतिक और संसदीय कार्य की पद्धतियाँ अपनाने का विरोध करते हैं। इस विषय में उनका मत श्रमिक संघवादियों से मिलता है। आवश्यकता पड़ने पर वे श्रमिक संघवादियों की भाँति क्रान्तिकारी उपायों के अवलम्बन के पक्ष में हैं। वस्तुतः श्रेणी समाजवाद पर मार्क्सवाद, फेबियनवाद, बहुलवाद, श्रमिक संघवाद, विकासशील समाजवाद आदि विभिन्न विचारधाराओं का प्रभाव है और उन्होंने श्रमिक संघवाद और समष्टिवाद की अच्छी बातों को अपनाया है, इसलिए उसे इन दोनों का समन्वय तथा मध्यम मार्ग कहा गया है।

---

१. कोकर— रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० २८४

अराजकतावाद
(Anarchism)

१६वीं शताब्दी में समाजवाद के साथ ही अराजकतावादी (Anarchist) विचारधारा का विकास हुआ। यह विचारधारा राज्य की सत्ता को न केवल अनावश्यक, अपितु अवांछनीय मानती है और इसके साथ ही समाजवादियों की भाँति वैज्ञानिक सम्पत्ति की संस्था और धार्मिक सत्ता का उग्र विरोध करती है। इस विचारधारा के अनुसार स्थापित किए जाने वाले नवीन समाज में शासन-सत्ता अथवा सरकार, वैयक्तिक सम्पत्ति, धार्मिक संस्थाओं, गुरुओं और आचार्यों का सर्वथा अभाव होगा। इस विचारधारा को दो बड़े वर्गों में बाँटा जाता है : पहले वर्ग के विचारक व्यक्तिवादी (Individualist) विचारक कहे जाते हैं। इनमें विलियम गाडविन (१७५६–१८३६), थामस हागस्किन (१७८७–१८६९) तथा पियरे जोसेफ, और प्रूदों (१८०९–१८६५) हैं। इनके विचारों का पहले वर्णन किया जा चुका है। **दूसरा** वर्ग रूसी विचारकों का है। इन्होंने इस सिद्धान्त का सबसे अधिक क्रमबद्ध तथा विस्तृत प्रतिपादन किया है। ये विचारक माइकेल बाकुनिन (१८१४–१८७६) तथा प्रिन्स पीटर क्रोपाटकिन (१८४२–१९२१) हैं। इनकी रचनाओं में हमें अराजकतावाद का विशद परिचय मिलता है। अतः यहाँ इन दोनों विचारकों का ही वर्णन किया जाएगा।

बाकुनिन (१८१४–१८७६)—माइकेल बाकुनिन का जन्म एक कुलीन रूसी परिवार में हुआ था। उनके पिता राजदूत के पद पर थे। बचपन में बाकुनिन को एक सैनिक स्कूल में शिक्षा दी गई और कुछ समय तक वे एक सैनिक अधिकारी के रूप में कार्य करते रहे, किन्तु जब रूस ने पोल लोगों के विद्रोह को बड़ी क्रूरता से कुचला तो इसे देखकर उन्हें सैनिक जीवन से विरक्ति हो गई, उन्होंने सेना की नौकरी छोड़कर दर्शन का अध्ययन आरम्भ किया; किन्तु वे इससे भी जल्दी ऊब गए और क्रान्तिकारी बने। ड्रेस्डन में उन्होंने क्रान्ति का संगठन किया, इसके परिणामस्वरूप ये शीघ्र ही इस नगर से निकाल दिए गए। इसके बाद वे स्विट्ज़रलैण्ड गए किन्तु उन्हें जल्दी ही वहाँ से पेरिस जाना पड़ा। पेरिस में उनकी भेंट कार्ल मार्क्स, एंगल्ज़, प्रूदों तथा अन्य क्रान्तिकारी विचारकों से हुई। वे प्रूदों के विचारों से बहुत प्रभावित हुए। फ्रांस से वे प्राग (Prague) चले गए और यहाँ आस्ट्रिया के विरुद्ध स्लावों के विद्रोह को संगठित करने का प्रयत्न करने लगे। इसमें सफलता न मिलने पर वे पुनः ड्रेस्डन गए और यहाँ एक क्रान्ति में भाग लेने पर उन्हें प्राणदण्ड दिया गया। किन्तु इस प्रकार दण्डित करने के स्थान पर रूस ने उन्हें आस्ट्रिया को सौंप दिया। आस्ट्रिया की सरकार ने उन्हें दूसरी बार प्राणदण्ड दिया, किन्तु बाद में इसे घटाकर आजीवन कारावास में बदल दिया। दो वर्ष तक आस्ट्रिया के कारावास में सजा भोगने के बाद उन्हें यह दण्ड भोगने के लिए रूस भेज दिया गया। रूसी सरकार ने उन्हें साइबेरिया में निर्वासित कर दिया। यहाँ से १८६१ में भागकर बाकुनिन पश्चिमी योरोप पहुँचे और इसके बाद उन्होंने अपना सारा शेष जीवन अराजकतावादी क्रान्ति के प्रचार और प्रसार में लगाया। इस समय उनका कार्ल मार्क्स से प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय

संगठन (First International) में एक प्रश्न पर उग्र मतभेद तथा वाद-विवाद हुआ। कार्ल मार्क्स समाजवाद लाने के लिए संक्रान्तिकालीन व्यवस्था के रूप में अस्थायी रूप से सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता स्थापित करने के पक्ष में थे। किन्तु बाकुनिन संक्रान्ति काल में भी किसी प्रकार की राजनीतिक सत्ता स्थापित करने के घोर विरोधी थे। इस मतभेद के परिणामस्वरूप बाकुनिन प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संगठन से अलग हो गए और उन्होंने अराजकतावादी क्रान्ति के लिए अपना एक पृथक् संगठन बनाया। बाकुनिन का उत्तरी योरोप के मजदूरों पर बहुत कम प्रभाव पड़ा, किन्तु दक्षिणी योरोप में इटली, स्पेन और दक्षिणी फ्रांस में उनके सिद्धान्तों को बड़ी लोकप्रियता और सफलता मिली। १८७६ में बाकुनिन का देहान्त हो गया।

बाकुनिन का जीवन प्रधान रूप से अराजकतावादी शासन की स्थापना के लिए प्रबल आन्दोलन और संगठन करने में बीता, उन्हें अपने विचारों को लेखबद्ध करने का अधिक समय नहीं मिला। उनकी रचनाएँ यद्यपि बड़ी प्रभावशाली, स्पष्ट तथा पैनी हैं, फिर भी उनमें क्रमबद्धता और व्यवस्था का अभाव है। सच्ची बात तो यह है कि बाकुनिन का जीवन क्रान्ति के लिए आन्दोलन करने में इतना अधिक व्यस्त रहा है कि उन्हें शान्तिपूर्वक बैठकर लिखने का अवसर ही नहीं मिला और उनकी रचनाएँ मृत्युपर्यन्त अधूरी ही रहीं। वस्तुतः बाकुनिन की प्रसिद्धि उनकी रचनाओं के लिए इतनी नहीं है, जितनी उनके द्वारा क्रान्तियाँ सफल बनाने के लिए किए गए उग्र प्रयत्नों के कारण है। उनका प्रभाव लेखक के रूप में कम और अराजकतावादी आन्दोलन के संगठनकर्त्ता के रूप में अधिक है। उन्होंने अपनी सारी शक्ति इस आन्दोलन को सफल बनाने में तथा इसके लिए गुप्त संस्थाओं का संचालन करने में लगाई। बाकुनिन का यह दृढ़ विश्वास था कि राज्य को एक उग्र क्रान्ति के बिना नष्ट नहीं किया जा सकता है। अतः वे आतंकवादी अराजकतावाद (Terrorist Anarchism) के जन्मदाता माने जाते हैं। यह समझा जाता है कि उन्होंने **कार्य द्वारा प्रचार** के सिद्धान्त का श्रीगणेश किया। इसका अभिप्राय यह था कि कुछ प्रमुख राजनीतिक नेताओं की और घृणित पूँजीपतियों की हत्या की जाए। यह कहा जाता है कि बाकुनिन के सिद्धान्तों से प्रेरणा प्राप्त करके उसके अनुयायियों ने संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति मैककिनली, फ्रांस के राष्ट्रपति कार्नो तथा इटली के राजा हम्बर्ट की हत्या की थी।

बाकुनिन के सिद्धान्त : (क) राज्य का विरोध—अराजकतावादी सिद्धान्त उनके मतानुसार वैज्ञानिक आधार पर सुप्रतिष्ठित है। उनका यह कहना था कि मनुष्य धीरे-धीरे विकास की एक लम्बी प्रक्रिया द्वारा अपनी पाशविक प्रवृत्तियों तथा प्रेरणाओं का परित्याग करता हुआ ऊँचा उठ रहा है और ऐसी स्थिति की ओर बढ़ रहा है जिसमें उच्च नैतिक आदर्शों का प्राधान्य है। राजनीतिक सत्ता, वैयक्तिक सम्पत्ति और धर्म मनुष्य के आरम्भिक विकास के समय की स्वाभाविक संस्थाएँ हैं और वे उसकी भौतिक इच्छाओं और आकांक्षाओं से सम्बन्ध रखती हैं। वैयक्तिक सम्पत्ति के कारण मनुष्य भौतिक वस्तुओं में गहरी दिलचस्पी लेने लगता है। राज्य अपने कानून द्वारा वैयक्तिक सम्पत्ति का संरक्षण करता है और धर्म राज्य तथा सम्पत्ति का संरक्षक है। ये सभी संस्थाएँ मनुष्य के आरम्भिक विकास की दशा में

पाई जाती हैं और मानवीय विकास के प्राकृतिक नियमों के अनुसार समाज का अधिक उच्चतर विकास होने पर इन संस्थाओं का लुप्त होना अनिवार्य है।

बाकुनिन नैतिक और बौद्धिक कारणों के आधार पर राज्य को बहुत बड़ी बुराई समझते हुए इसकी प्रबल आलोचना करता है। उसके मतानुसार नैतिक दृष्टि से राजनीतिक सत्ता मनुष्य के लिए दोहरा अभिशाप है। यह न केवल इस सत्ता का प्रयोग करने वाले शासक वर्ग का, अपितु शासित वर्ग का नैतिक अधःपतन करती है। शासन-सत्ता का प्रयोग करने वालों में इसके नशे से मदान्ध होकर अहंकारी, अत्याचारी और स्वार्थी बन जाना स्वाभाविक है, इसके परिणामस्वरूप वे शासितों के हितों की उपेक्षा करने लगते हैं। शासितों के लिए भी राज्य की संस्था बुरी है, क्योंकि उन्हें इसमें स्वयमेव विचार करके अपनी इच्छा से काम करने के स्थान पर दूसरे की इच्छा तथा आदेश से बाधित होकर काम करना पड़ता है। किसी अन्य व्यक्ति के आदेश से किया जाने वाला कार्य नैतिक अथवा बौद्धिक नहीं हो सकता, क्योंकि नैतिकता और बुद्धिमत्ता किसी अच्छे कार्य को स्वयमेव यह सोचकर करने में है कि यह कार्य अच्छा है। राज्य के आदेश से काम करने वालों में इस प्रकार का चिन्तन और नैतिकता विकसित नहीं हो सकती है, अतः राज्य शासित वर्ग में नैतिक और बौद्धिक गुणों का विकास करने में बाधक है।

(ख) **धर्म का विरोध**—इसी प्रकार बाकुनिन धर्म का भी उग्र विरोध करता है। उसके मतानुसार धार्मिक सत्ता या चर्च मनुष्य को भगवान् पर भरोसा रखने का आदेश देता है और इस प्रकार वह मनुष्य की अपनी गरिमा और महत्व में उसके आत्मविश्वास को शिथिल करता है, उसे परावलम्बी तथा परमुखापेक्षी बनाता है। धर्म राज-सत्ता का सहायक और समर्थक होने के कारण अवांछनीय है। उसका यह कहना है कि यदि हमें मानव की गरिमा का सच्चा और सही विकास करना है तो हमें मनुष्य-समाज से भगवान के विचार का समूलोन्मूलन करना होगा। धर्म इसलिए भी मनुष्य के लिए हानिकर है कि यह उसमें अन्धविश्वास और कपोलकल्पना को पुष्ट करता है, उसके बुद्धिवाद पर अंकुश लगाता है। अतः धर्म के स्थान पर हमें ज्ञान-विज्ञान की प्रतिष्ठा करनी चाहिए।

बाकुनिन अराजकतावादी समाज के लक्ष्य की प्राप्ति का साधन विकास और क्रान्ति दोनों को ही समझता है। अराजकतावाद वैज्ञानिक विधि से और क्रान्तिकारी पद्धति से प्राप्त किया जा सकता है। मानवीय विकास की घटनाओं की स्वाभाविक धारा स्वयमेव अराजकतावादी लक्ष्य की ओर आगे बढ़ रही है। अराजकतावादियों का कार्य केवल इतना ही है कि वे इस धारा के मार्ग में आने वाली रुकावटों को दूर करें। ये रुकावटें सामाजिक क्रान्ति के स्वाभाविक नियमों की जानकारी न होना और राज्य, वैयक्तिक सम्पत्ति और धर्म की संस्थाएँ हैं। इन रुकावटों को दूर करने के लिए एक प्रबल क्रान्ति करनी होगी। यह केवल मतदान द्वारा नहीं की जा सकती; इसमें रक्तपात भी होगा। बाकुनिन को दृढ़ विश्वास था कि क्रान्ति सम्भवतः १९वीं शताब्दी की समाप्ति से पहले ही हो जाएगी। यह सामाजिक विकास का अनिवार्य परिणाम होगी, फिर भी इसे लाने के लिए आवश्यक संगठन और कार्य

करने की जरूरत थी। यह कार्य जनता को शिक्षा देकर श्रौर गुप्त षड्यन्त्र करके किया जा सकता है। राज्यों ने श्रराजकतावाद का दमन करने के लिए उग्र नीति श्रपनायी थी। श्रतः श्रराजकवातादियों के लिए यह श्रावश्यक हो गया था कि वे श्रपना श्रान्दोलन गुप्त संस्थाश्रों के माध्यम से करें। इन संस्थाश्रों का प्रधान कार्य राजनीतिक नेताश्रों तथा पुलिस के महत्वपूर्ण श्रधिकारियों की हत्या करके जनता का ध्यान इस श्रोर श्राकृष्ट करना था तथा जनता को ऐसी शिक्षा देना था कि वे श्रपने श्रार्थिक श्रौर राजनीतिक श्रन्धविश्वासों के मोहजाल को भंग कर सकें श्रौर नवीन श्रराजकतावादी समाज की स्थापना में पूरा सहयोग दे सकें। बाकुनिन ने नवीन श्रराजकतावादी समाज के संगठन की कोई विस्तृत रूपरेखा नहीं प्रस्तुत की है। इस नवीन समाज का स्पष्ट एवं विस्तृत चित्र हमें क्रोपाटकिन की रचनाश्रों में मिलता है।

क्रोपाटकिन (१८४२-१९२१)

जीवन—रूसी श्रराजकतावादी विचारकों में पीटर एलेक्सेविच क्रोपाटकिन श्रसाधारण महत्व रखता है। सहृदय, परदुख कातर, समत्ववादी, सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक श्रौर साधु-स्वभाव विचारक, कठिनाइयों श्रौर कष्टों को प्रसन्नातापूर्वक झेलने वाले, दीन-दुखियों के हित के लिए श्रपने वैयक्तिक सुख श्रौर स्वार्थ को तिलांजलि देने वाले तथा श्रराजकतावाद को श्रपनी प्रतिभा से वैज्ञानिक रूप प्रदान करने वाले, प्राणि-शास्त्र के इतिहास से इसे पुष्ट बनाने वाले तथा श्रपने उच्च, विशुद्ध सच्चरित्र एवं भ्रष्टाचार रहित जीवन से इसे सम्मानित बनाने वाले क्रोपाटकिन का जन्म एक उच्च सैनिक परिवार में हुश्रा। यह परिवार उस समय रूस में बड़ा सम्मानित था श्रौर इस वंश के व्यक्तियों के साथ प्रिन्स या राजकुमार का विशेषण लगाया जाता था, किन्तु बचपन से ही क्रोपाटकिन की प्रवृत्ति त्यागपूर्ण, समानतावादी तथा साधु जीवन व्यतीत करने की श्रोर थी। इन्होंने बचपन में ही राजकुमार की उपाधि को त्याग दिया। १५ वर्ष की श्रायु में वे कुलीन परिवारों के बच्चों को शिक्षा देने वाले एक सैनिक स्कूल में प्रविष्ट हुए। वे बड़े प्रतिभाशाली श्रौर श्रध्ययनशील थे। उत्तम शिक्षा ग्रहण करने के बाद उनकी नियुक्ति श्रपने परिवार की परम्परा के श्रनुसार सेना में सम्राट् के बाल-परिचारक (Page) के रूप में उनके वैयक्तिक श्रनुचर वृन्द में हुई। इस पद पर रहते हुए उन्हें सम्राट् के निकट सम्पर्क में श्राने का श्रवसर मिला तथा दरबारी जीवन का प्रत्यक्ष एवं गहरा श्रनुभव प्राप्त हुश्रा। रूसी सम्राट् द्वारा मनमाने ढंग से तथा प्रतिशोधपूर्ण रूप से काम करने का इन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्हें दरबारी जीवन से वितृष्णा श्रौर राजतन्त्र में श्रनास्था होने होने लगी। इस समय उन्होंने श्रपना सारा समय तत्कालीन ज्ञान-विज्ञान के श्रध्ययन में लगाया। दरबारी जीवन से दूर जाने तथा साहसपूर्ण कार्य करने की दृष्टि से १८६२ में क्रोपाटकिन ने सुदूर साइबेरिया में श्रामूर नदी के निकटवर्ती प्रदेश में कज़्ज़ाक घुड़सवार सेना में एक उच्च पद के लिए श्रावेदन-पत्र दिया। ५ वर्ष तक साइबेरिया में काम करते हुए उन्हें सेना में तथा श्रन्य क्षेत्रों में सरकार द्वारा थोपे जाने वाले श्रनुशासन से बड़ी विरक्ति हुई। वे सैनिक जीवन की श्रपेक्षा पूर्वी एशिया के पहाड़ों में, वहाँ के

सामाजिक जीवन में और प्राणियों के वैज्ञानिक अध्ययन में गहरी दिलचस्पी लेने लगे। साइबेरिया के पहाड़ों की भौगोलिक रचना पर जब उनका एक वैज्ञानिक निबन्ध प्रकाशित हुआ तो उससे इन्हें बड़ी प्रसिद्धि मिली, इसके आधार पर उनसे शाही भौगोलिक परिषद् (Imperial Geographical Society) के सचिव का सम्मानित पद स्वीकार करने को कहा गया। इस प्रतिष्ठत पद को स्वीकार करके वे अपने जीवन को बड़े ठाठबाठ एवं सुख-सुविधा के साथ बिता सकते थे, किन्तु इस समय उनके हृदय में उस समय के निर्धन वर्ग की दशा सुधारने की उमंग उत्पन्न हो चुकी थी। वे अभिजात और निर्धन वर्ग के जीवनों के बीच की गहरी खाई को अच्छी तरह समझ चुके थे, अतः उन्होंने इस पद को अस्वीकार करते हुए लिखा कि उन्हें "जीवन के उन उच्चतर आनन्दों के उपभोग का उस समय तक कोई अधिकार नहीं है जब तक उनके चारों ओर दरिद्रता का साम्राज्य है और सड़ी-गली रोटी के टुकड़ों के लिए संघर्ष चल रहा हो।"

१८७२ में स्विट्ज़रलैण्ड की यात्रा करने पर उनकी भेंट पूर्ववर्णित रूसी अराजकतावादी क्रान्तिकारी माइकेल बाकुनिन से हुई; वे उसके अराजकतावादी विचारों से प्रभावित हुए। कुछ समय तक वे स्विट्ज़रलैण्ड के घड़ीसाज़ों के स्वेच्छा-पूर्ण रीति से बनाए गए जूरा नामक संघ के सदस्यों के बीच में रहे। वे इनमें सहयोग की और स्वेच्छापूर्वक रीति से पालन किए जाने वाले अनुशासन की भावना से बड़े प्रभावित हुए। यह अनुशासन राजकीय नियन्त्रण से सर्वथा मुक्त था। इसे उन्होंने आदर्श समझा और रूस लौटकर ऐसी व्यवस्था की स्थापना के लिए एक गुप्त क्रान्तिकारी संस्था में प्रवेश किया। वे कुछ समय तक मजदूरों के बीच में काम करते रहे, किन्तु १२ वर्ष बाद जब पुलिस को इस गुप्त संस्था का पता चला तो उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। १८७६ में वे जेल के हस्पताल से भागकर विदेश चले गए और अगले चालीस वर्ष विदेश में ही रहे। १८८२ में इन्हें फ्रांस में गिरफ्तार कर लिया गया और ५ साल की सजा दी गई, किन्तु फ्रेंच पार्लियामैण्ट में इसका विरोध किया गया और बाद में वे फ्रांस से इंगलैण्ड चले आए। अगले तीस वर्षों तक १९१७ में रूसी क्रान्ति होने तक वे लन्दन में ही रहे। कार्ल मार्क्स की भाँति क्रोपाटकिन भूगोल, कृषि, अराजकतावाद आदि विभिन्न विषयों पर लेख लिखकर अपनी आजीविका का उपार्जन करते रहे। १९१४ में विश्वयुद्ध छिड़ने पर इन्होंने उसका स्वागत किया क्योंकि इन्हें आशा थी कि इससे राष्ट्रीय राज्यों के समाप्त होने की प्रक्रिया में तेजी आएगी। १९१७ में रूस की क्रान्ति होने पर ये स्वदेश वापिस लौट गए। अस्थायी सरकार में इन्हें मन्त्रिपद स्वीकार करने के लिए कहा गया, किन्तु इन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। अक्टूबर १९१७ में बोल्शेविक क्रान्ति के बाद वे इसके उग्र विरोधी बन गए। उनका कहना था कि लेनिन के साथी "रूस के शत्रु हैं तथा ऐसे डाकू हैं जिन्होंने क्रान्ति को समाप्त कर दिया है। साम्यवाद, रूस को एक स्वेच्छापूर्ण संघ बनाने के स्थान पर ऐसा संगठन बना रहा है जिससे लोग घृणा करने लगेंगे।" अपने जीवन की संध्यावेला इस महान् सन्त ने मास्को से चालीस मील दूर दिमित्रोव नामक देहाती स्थान में काफी कष्टपूर्ण परिस्थितियों में **नीतिशास्त्र के**

उद्गम और विकास पर एक पुस्तक लिखने में बितायी। ८ फरवरी १९२१ को निमोनिया से इस महान् तपस्वी साधक का स्वर्गवास हो गया।

कृतियां, विचारों का विकास तथा पद्धति—क्रोपाटकिन की पहली और प्रसिद्धतम रचना **पारस्परिक सहयोग** (Mutual Aid) है। १८८८ में थामस हक्सली ने उस समय की एक सुप्रसिद्ध पत्रिका Nineteenth Century में 'जीवन के लिए संघर्ष' (Struggle for Existence) नामक लेख लिखा था। इसमें चार्ल्स डार्विन के विकासवाद का प्रबल पोषण किया गया था। इस लेख का प्रत्युत्तर देते हुए क्रोपाटकिन ने १८९० से ९६ तक कई निबन्ध लिखे। इन निबन्धों का संग्रह १९०२ से **पारस्परिक सहयोग** (Mutual Aid) के नाम से प्रकाशित हुआ। डार्विन का मूल सिद्धान्त **जीवन के लिए संघर्ष** तथा **योग्यतम की विजय** (Survival of the Fittest) था। क्रोपाटकिन ने अपने साइबेरिया जाने से पहले ३ वर्ष पूर्व छपी हुई डार्विन की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'ओरिजन आफ स्पीशीज़' का अध्ययन किया था और साइबेरिया में उसका इरादा पहले डार्विन के मत को पुष्ट करने वाले नवीन प्रमाणों की खोज करना था, किन्तु इस प्रकार का अन्वेषण करते हुए उसे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि ऐसा संघर्ष प्राणि-जीवन में बहुत कम पाया जाता है; इसके विपरीत प्रकृति में, पशुजगत में, किसानों तथा कज़्ज़ाक जातियों में सहयोग के उदाहरण अधिक संख्या में मिलते हैं। कई वर्षों तक इस सामग्री का संकलन करने के बाद १८८० से उसने अपने नवीन सिद्धान्त का निर्माण किया। इसकी प्रेरणा उसे एक रूसी प्राणिशास्त्री कार्ल केसेलर द्वारा १८८० में दी गई रिपार्ट से मिली। इसमें विस्तृत वैज्ञानिक निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण के आधार पर यह सिद्ध किया गया था कि विभिन्न प्राणियों के विकास में संघर्ष के स्थान पर सहयोग की भावना ने अधिक भाग लिया है। क्रोपाटकिन ने केसेलर (Kesseler) के सिद्धान्त को सामाजिक क्षेत्र में लागू किया और यह बताया कि मानव-इतिहास का निर्माण करने में सहयोग की भावना ने, प्राचीन सर्वसम्मत रूढ़ियों और रिवाजों ने तथा स्वेच्छा-पूर्ण रीति से किए गए समझौतों ने कानून की अपेक्षा अधिक बड़ा भाग लिया है। सामाजिकता अथवा समाज में सब लोगों के एकसाथ मिलकर रहने की भावना प्राकृतिक संघर्ष की भाँति प्रकृति का एक स्वाभाविक नियम है। यह जीवन के लिए संघर्ष की अपेक्षा अधिक लाभदायक है। जीवन-संघर्ष में योग्यतम (Fittest) वे नहीं हैं जो शारीरिक दृष्टि से शक्तिशाली हैं; अपितु वे हैं जो सहयोग करने में कुशल हैं। जो प्राणी सहयोग करना जानते हैं उनकी संख्या बढ़ती जाती है। क्रोपाटकिन ने इस सिद्धान्त की पुष्टि प्राणिजगत् के निम्नतम स्तर के तथा आरण्यक जातियों, ग्रामीण समाजों, मध्यकालीन श्रेणियों और आधुनिक युग के संघों के उदाहरणों से की। उसका यह मत था कि मानव-जीवन का विकास होने के साथ-साथ इसमें स्वेच्छापूर्ण रीति से स्थापित हाने वाले संघों की संख्या बढ़ती जाएगी और ये वर्तमान राज्य का स्थान ले लेंगे। इस प्रकार अराजकतावाद की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। राजनीतिक सत्ता से विहीन समाज स्वतन्त्र एवं स्वेच्छापूर्ण संगठनों से बनेगा। इसमें उत्पादन के साधनों तथा उत्पादित पदार्थों पर सबका सामूहिक

(Communal) स्वामित्व होगा; प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकताओं के अनुसार दिया जाएगा।

क्रोपाटकिन के अन्य ग्रन्थ **एक क्रान्तिकारी के संस्मरण** (Memoirs of a Revolutionist, 1899 ; Conquest of Bread, 1892 ; **खेत, कारखाने तथा कर्मशालाएँ** (Fields, Factories and Workshops, 1901) हैं। १९०५ में रूसी क्रान्ति की विफलता के बाद क्रोपाटकिन ने अराजकतावाद की दृष्टि से क्रान्तियों का विशेष अध्ययन किया और फ्रेंच राज्य-क्रान्ति पर अपना ग्रन्थ **महान् फ्रेंच राज्य-क्रान्ति** (The Great French Revolution, 1789-93) प्रकाशित किया (१९०९)। उसमें यह प्रतिपादित किया गया था कि क्रान्ति के विचारों का जन्मदाता कुलीन वर्ग था और इसे कार्यरूप में परिणत करने का कार्य साधारण जनता ने किया।

क्रोपाटकिन ने अपनी रचनाओं में वैज्ञानिक भावना का प्रदर्शन किया और अपने सिद्धान्तों का समर्थन विकासवादी तथा ऐतिहासिक सिद्धान्तों के आधार पर किया। उसका यह विश्वास था कि मनुष्य की प्रकृति और समाज के सम्बन्ध में गवेषणा करके सही परिणामों पर पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि इस क्षेत्र में भी हम उसी पद्धति का अनुसरण करें जिस पद्धति का अवलम्बन करते हुए प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में अनुसन्धान का कार्य किया जाता है। वह प्राणिशास्त्र और भूगोलशास्त्र का विद्यार्थी था, अतः उसने इन क्षेत्रों में निरीक्षण और अनुसन्धान की पद्धति का अनुसरण करते हुए अपने अराजकतावादी सिद्धान्तों के सामान्य नियमों का वैज्ञानिक रीति से प्रतिपादन किया और इनकी पुष्टि अनेक प्रकार के प्रमाणों से की। उसकी यह विशेषता है कि उसने अपने राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन प्राकृतिक अधिकारों के सम्बन्ध में मानी जाने वाली दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक (Metaphysical) धारणाओं के आधार पर नहीं, अपितु विकास के वास्तविक क्रम में पाए जाने वाले विचारों के आधार पर किया क्योंकि उसका यह विचार था कि प्राकृतिक विकास के नियम प्राणिजगत् और मानव-समाज के क्षेत्रों में समान रूप से लागू होते हैं।

(क) राज्य सम्बन्धी विचार—क्रोपाटकिन के राज्य सम्बन्धी विचारों का मूल आधार उसके द्वारा प्रतिपादित की जाने वाली पारस्परिक सहयोग की भावना है। पहले यह बताया जा चुका है कि उसने १९०२ में प्रकाशित अपनी इसी नाम की पुस्तक में इस विचार की पुष्टि रूसी जन-जीवन तथा साइबेरिया के प्राकृतिक जीवन और पशु-पक्षियों के उदाहरणों से करते हुए यह बताया था कि पारस्परिक सहयोग का नियम सारे सामाजिक जीवन में ओतप्रोत है। यह सामाजिक विकास के इस मौलिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि आप दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार कीजिए जैसा व्यवहार आप अपने साथ करवाना चाहते हैं। किन्तु अभी तक मानव-समाज इस लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सका है। इसका कारण यह है कि इस लक्ष्य की प्राप्ति और मानव-समाज की प्रगति में तीन बड़ी बाधाएँ—राज्य, वैयक्तिक सम्पत्ति और धर्म हैं। जब तक इन बाधाओं का उन्मूलन नहीं होगा तब तकमनुष्य प्रगति नहीं कर सकेगा।

क्रोपाटकिन के मतानुसार मानव-प्रगति में पहली और सबसे बड़ी बाधा राज्य है। मानव-जाति के उषाकाल में और आदिम जातियों में किसी प्रकार की राजनीतिक सत्ता अथवा राज्य की व्यवस्था नहीं पाई जाती है। इन आदिम जातियों के सामाजिक मामलों का नियन्त्रण कानून से नहीं, अपितु परम्परा से चले आने वाले रीति-रिवाजों से होता था। उन दिनों की सामाजिक व्यवस्था सरकार के शासन पर अवलम्बित न होकर, पारस्परिक समझौते पर आधारित थी। सरकार अथवा शासन की उत्पत्ति काफी समय बाद कुछ ऐतिहासिक कारणों से हुई। वस्तुतः राज्य का प्रादुर्भाव पुरोहित वर्ग एवं सैनिक वर्ग के कुछ अल्पसंख्यक समूहों द्वारा इस उद्देश्य से किया गया कि वे जनता को गुलाम बनाकर रख सकें। इससे वे अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए अभीष्ट काम करा सकें और उन पर शासन कर सकें। इन उद्देश्यों से प्रेरित होकर इन वर्गों ने अपने को सत्तारूढ़ बनाए रखने के लिए नए कानूनों का निर्माण किया। इन कानूनों में कुछ हिस्सा तो पुरानी परम्पराओं और रिवाजों का था, किन्तु अधिकांश भाग ऐसे नए नियमों का था जिनका निर्माण अल्पसंख्यक शासक वर्ग ने सामान्य जनता को अपनी गुलामी में बनाए रखने के लिए किया था। समाज में इस प्रकार स्थापित होने वाली यह व्यवस्था मानवीय प्रगति में सबसे बड़ी बाधा बनी हुई है।

अतीत काल में राज्य ने मानव-समाज के लिए कोई भी अच्छा काम नहीं किया है। यह कहा जाता है कि राज्य का प्रधान कार्य रक्षा करना है, किन्तु राज्य ने लालची पूँजीपतियों और क्रूर जमींदारों के शोषण से किसानों और मजदूरों की कोई रक्षा नहीं की है, अपितु शोषण करने वाले वर्गों को अपना संरक्षण प्रदान करते हुए उन्हें समृद्ध और धनी बनाने में सहयोग दिया है। राज्य ने व्यक्ति की विभिन्न प्रकार की स्वतन्त्रताओं की रक्षा नहीं की। साधारण जनता को उसी हद तक भाषण, लेखन और संघ बनाने की स्वतन्त्रता दी है जहाँ तक कि इसका प्रयोग समाज के विशेषाधिकारप्राप्त वर्ग के विरुद्ध नहीं किया जाता है। राज्य द्वारा अब तक किए गए कार्य इस बात को प्रमाणित करते हैं कि उसने साधारण जनता के अधिकारों का संरक्षण नहीं किया, अपितु इसका शोषण करने वाले वर्गों को सब प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की हैं। इन तथ्यों को देखते हुए क्रोपाटकिन राज्य का जो लक्षण करता है, उससे इसका शोषक रूप बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। उसके मतानुसार, "राज्य जमींदार, सैनिक नेता, न्यायाधीश, पुरोहित और पूँजीपति का एक-दूसरे के हितों को सुरक्षित बनाए रखने वाला ऐसा समाज है जिसमें ये सब जनता पर अपनी सत्ता बनाए रखने, उसका शोषण करने तथा स्वयमेव धनी बनने के लिए एक-दूसरे का समर्थन करते हैं।"

क्रोपाटकिन नैतिक दृष्टि से भी राज्य की आलोचना करता है। उसका यह मत है कि चाहे कोई व्यक्ति कितना ही अच्छा क्यों न हो, राजनीतिक सत्ता उसे अवश्य विवेकशून्य, अहंकारी, स्वार्थी और भ्रष्टाचारी बना देती है। उसके शब्दों में कोई भी व्यक्ति उसी समय तक अच्छा रह सकता है जब तक उसे प्रभुता न दी जाए। वस्तुतः प्रभुता एक ऐसा मद है जो मनुष्यों के विवेक और नैतिकता को

बिलकुल नष्ट कर देता है। क्रोपाटकिन का यह विचार तुलसीदास की इस उक्ति के अनुरूप ही है, "अस को नर उपज्यो जग माँहि। प्रभुता पाई जाहि मद नाहीं॥"

क्रोपाटकिन यह मानता है कि वर्तमान परिस्थितियों में शनैः-शनैः राज्य अनावश्यक होता चला जा रहा है, क्योंकि इस समय राज्य द्वारा किया जाने वाला कोई भी कार्य ऐसा नहीं है जो उसके बिना अन्य माध्यमों से इसकी अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह से न हो सकता हो। इस समय राज्य का पहला और प्रधान कार्य विदेशी शत्रुओं से देश की रक्षा करना और आन्तरिक उपद्रवों का दमन करना माना जाता है। विदेशी शत्रुओं से रक्षा का कार्य राज्य द्वारा स्थायी सेना (Standing Army) रखकर किया जाता है। किन्तु इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जब देश पर विदेशी आक्रमण का संकट उपस्थित होने पर स्वदेश की रक्षा की भावना से अनुप्राणित स्वेच्छापूर्ण संगठन पर आधारित नागरिकों की सेनाओं ने स्थायी फौज की अपेक्षा अधिक सफलतापूर्वक विदेशी शत्रुओं का प्रतिरोध किया है। फ्रेंच राज्य-क्रान्ति की घटनाएँ इसकी जीती-जागती मिसाल हैं।

क्रोपाटकिन राज्य के सभी प्रकारों का, भले ही वे राजतन्त्र हों या प्रजातन्त्र, समान रूप से विरोध करता है। उसकी उपर्युक्त आलोचना राज्य के सभी प्रकारों पर समान रूप से लागू होती है। १९वीं शताब्दी में निरंकुश राजतन्त्रों का स्थान कुछ देशों में संसदीय सरकारें ले रही थीं और अनेक देशों में सार्वभौम मताधिकार पर आधारित प्रतिनिधि-मूलक शासनतंत्र (Representative Government) स्थापित किए जाने पर बल दिया जा रहा था। क्रोपाटकिन ऐसी पद्धति को सर्वथा अव्यावहारिक समझता था, क्योंकि उसकी सम्मति में साधारण जनता में यह क्षमता नहीं थी कि वह सार्वजनिक मामलों की व्यवस्था कुशलतापूर्वक कर सके। उसे सरकारों द्वारा किए जाने वाले कार्यों और समस्याओं का कोई ज्ञान नहीं था। इस विषय में उसका कहना था, "प्रतिनिधिमूलक शासन-व्यवस्था ने अपना उद्देश्य पूरा कर लिया है, इसने राजदरबार द्वारा किए जाने वाले शासन पर घातक प्रहार किया है, किन्तु उसे भावी समाजवादी समाज की सरकार का मूल स्रोत समझ लेना बहुत बड़ी भ्रान्ति होगी।"[१]

राज्य के साथ ही क्रोपाटकिन ने वैयक्तिक सम्पत्ति के दुष्परिणामों का बड़ा सजीव और मार्मिक चित्रण किया। उसके मतानुसार वैयक्तिक सम्पत्ति समाज में अन्याय की व्यवस्था को पुष्ट करने वाली है क्योंकि इसमें मुट्ठी-भर लोग वर्तमान और पिछली पीढ़ियों के मनुष्यों के संयुक्त प्रयत्नों द्वारा उत्पन्न की गई सम्पत्ति पर एकाधिकार स्थापित कर लेते हैं। इस समय में जो उत्पादन हो रहा है वह पिछली शताब्दियों में किए गए अन्वेषणों, खोजों और विभिन्न व्यक्तियों के किए गए परिश्रमों से बनी हुई मशीनों से किया जा रहा है। प्रत्येक आविष्कार, प्रत्येक प्रकार की उन्नति और मानवीय सम्पत्ति में वृद्धि मनुष्य के अतीतकालीन एवं वर्तमानकालीन भौतिक तथा मानसिक प्रयत्नों का परिणाम है। इस प्रकार सबके सामूहिक प्रयत्न से उत्पादित सम्पत्ति के किसी भी अंश पर किसी व्यक्ति को अपना एकमात्र स्वत्व करने का और यह कहने का अधिकार नहीं है कि 'यह वस्तु मेरी है और आपकी नहीं है'।

१. एनार्किस्ट कम्यूनिज़्म, पृ० २८

(ख) **वैयक्तिक सम्पत्ति के दुष्परिणाम**—वर्तमान सामाजिक परिस्थितियाँ भी वैयक्तिक सम्पत्ति के दुष्परिणामों को भली-भाँति स्पष्ट कर रही हैं। इस समय इस व्यवस्था के कारण जहाँ एक ओर सामान्य जनता में निर्धनता, दुःख-दैन्य, बेरोजगारी, भूखे मरते हुए अस्थिकंकालशिष्ट बच्चे और कर्ज के बोझ से दबे हुए म्रियमाण किसान दिखाई देते हैं, वहाँ दूसरी ओर हम धनी वर्ग को भोग-विलास, ऐश्वर्य और प्रदर्शन का अत्यन्त आलसी जीवन बिताते हुए देखते हैं। यह सारी आर्थिक व्यवस्था राजनीतिक पद्धति से जुड़ी हुई है। जब राज्य के साथ-साथ वैयक्तिक सम्पत्ति का उन्मूलन कर दिया जाएगा तो समाज में गरीबी, दुःख-दारिद्रय के साथ-साथ धनी लोगों द्वारा किया जाने वाला अपव्यय, भोग-विलास और प्रदर्शन भी समाप्त हो जाएगा।

(ग) **नवीन समाज की रूपरेखा**—राज्य और वैयत्तिक सम्पत्ति की व्यवस्थाएँ समाप्त हो जाने के बाद जिस नवीन समाज का प्रादुर्भाव होगा उसका स्वर्णिम चित्र प्रस्तुत करते हुए क्रोपाटकिन ने लिखा है कि इसमें सरकारी शासन-सत्ता का सर्वथा अभाव होगा, स्वेच्छापूर्ण रीति से बनाए गए संगठनों में मनुष्य प्रेमपूर्वक रहेंगे। समान उद्देश्यों से प्रेरित होकर अपनी इच्छाओं को पूरा करने के लिए वे अपने संगठन बनाएँगे। भवन-निर्माण, सड़कों और औजार बनाने के लिए अनेक प्रकार के आर्थिक संगठन बनेंगे। ये सब स्वेच्छापूर्वक रीति से किए गए अनुबन्धों पर आधारित होंगे। इनमें से प्रत्येक संघ में ऐसे निकम्मे और झगड़ालू व्यक्ति हो सकते हैं जो उनको सौंपे गए कार्यों और दायित्वों को पूरा न करें; इन्हें संघ की सदस्यता से निष्कासित और बहिष्कृत किया जाएगा। व्यक्तियों और संघों के बीच में होने वाले विवादों का निर्णय स्वेच्छापूर्वक स्थापित की गई पंचायतों द्वारा किया जाएगा। आर्थिक दृष्टि से नवीन समाज में पूर्ण साम्यवाद होगा। न केवल उत्पादन के साधनों—मशीनों, कारखानों, कच्चे माल, भूमि आदि पर समूचे समुदाय या समाज का स्वामित्व होगा, अपितु वैयक्तिक उपभोग का विषय समझी जाने वाली वस्तुओं—मकानों, वस्त्रों, खाद्य पदार्थों, कोयला, गैस आदि सभी वस्तुओं पर भी सबका स्वामित्व होगा, सबको आवश्यकतानुसार वस्तुएँ दी जाएँगी। उत्पादन और वितरण की इस नई व्यवस्था में किसी व्यक्ति को किसी प्रकार का अभाव नहीं होगा। सब व्यक्ति अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार अपना पेशा चुनेंगे। उन्हें अपना पेट भरने के लिए अनिच्छापूर्वक विवश होकर काम नहीं करना होगा। इस नई व्यवस्था में वे अधिक कुशलतापूर्वक और परिश्रम से कार्य करेंगे। क्रोपाटकिन ने अपनी पुस्तक **'खेत, कारखाने तथा कर्मशालाएँ'** में इस बात को बड़े विस्तारपूर्वक बताया है कि यदि वैज्ञानिक विधि से उत्पादन के कार्य को संगठित किया जाए तो बहुत थोड़े मजदूरों की सहायता से समाज में इतना अधिक उत्पादन हो सकता है कि यह सब मनुष्यों की आवश्यकताओं और सुख-सुविधाओं की पूर्ति बड़ी सुगमता से कर सकता है।

यह नवयुग कपोलकल्पना ही नहीं है। क्रोपाटकिन ने इस स्वर्णविहान की पहली झलक का बड़ा मनोरम चित्र उपस्थित करते हुए लिखा है कि इस समय समाज में सरकार द्वारा किए जाने वाले कार्यों की संख्या नागरिकों द्वारा स्वेच्छापूर्वक सहयोग-पूर्ण रीति से किए जाने वाले कार्यों की तुलना में लगातार कम हो रही है। प्रतिदिन

लाखों कार्य सरकारी हस्तक्षेप के बिना पूरे किए जा रहे हैं। अब समझौतों का पालन ईमानदारी से केवल राजकीय दण्ड से भयभीत होकर नहीं किया जाता, अपितु इस इच्छा से किया जाता है कि दूसरे व्यक्तियों का विश्वास आपको सदैव प्राप्त रहे, आप अपने वचन का पालन इसलिए करें कि यह समाज के लिए हितकर है। स्वेच्छापूर्ण समझौतों द्वारा बड़ी-बड़ी रेल कम्पनियाँ और निर्माताओं के संघ बन रहे हैं। वैज्ञानिक अध्ययन के लिए तथा रेडक्रास जैसे मानवीय सेवा-कार्यों के लिए बनाए जाने वाले स्वेच्छापूर्ण संगठनों की संख्या में बड़ी वृद्धि हो रही है। पहले सरकार द्वारा किए जाने वाले कार्य अब जनता के संगठनों द्वारा किए जाने लगे हैं। इसके कुछ उदाहरण वैयक्तिक दान से स्थापित संग्रहालय, पुस्तकालय, विद्यालय और उद्यान आदि की व्यवस्थाएँ हैं।[1]

क्रोपाटकिन यद्यपि यह मानता था कि सामाजिक विकास की दिशा अनिवार्य रूप से अराजकतावादी व्यवस्था की ओर है, फिर भी वह यह नहीं मानता था कि इस लक्ष्य को पूर्ण रूप से शान्तिपूर्ण और क्रमिक विकास की प्रक्रिया से प्राप्त किया जा सकता है। नवीन समाज को लाने के लिए एक क्रान्ति आवश्यक है। यह पहले एक देश में राजसत्ता के विरुद्ध विद्रोह के रूप में शुरू होगी और शीघ्र ही अन्य देशों में फैलते हुए समूचे योरोप में एक महान् क्रान्ति का रूप धारण करेगी और ३ से ५ वर्ष तक चलती रहेगी। अपनी आरम्भिक दशा में यह क्रान्ति बड़ी हिंसापूर्ण और विध्वंसात्मक होगी। वर्तमान शासकों को पदच्युत किया जाएगा, जेलखाने और किलों को नष्ट किया जाएगा, पारस्परिक सहयोग की भावना को पुनरुज्जीवित किया जाएगा। वर्तमान सड़ी-गली व्यवस्था का अन्त करने के लिए म्रियमाण आत्माओं में नवजीवन का संचार करने के लिए एक भीषण तूफान की जरूरत होगी। यह इसलिए भी आवश्यक होगा कि हम मानव-समाज में निष्ठा, आत्मत्याग और वीरता की उन भावनाओं का संचार कर सकें जिनके विना समाज सठिया जाता है, पंगु होकर नष्ट हो जाता है। राज्य की बाध्यकारी दमन-शक्ति के साधनों का बलपूर्वक समूलोन्मूलन करने के बाद जनता वैयक्तिक सम्पत्ति के उन्मूलन का महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करेगी। किसान जमींदारों को उनकी जमीनों से तथा मजदूर मिल-मालिकों को उनके कारखानों से भगा देंगे। गृहहीन लोग उन मकानों में चले जाएँगे जहाँ उनके रहने के लिए पर्याप्त स्थान होगा। समाज का यह पुनर्निर्माण विशुद्ध रूप से स्वेच्छापूर्वक किया जाएगा। इसके लिए किसी प्रकार की सरकार अथवा संक्रान्तिकालीन अधिनायकता (Transitional Dictatorship) या तानाशाही की आवश्यकता नहीं होगी, क्योंकि ऐसा होने का अर्थ क्रान्ति की समाप्ति होगा। क्रोपाटकिन के शब्दों में यदि एक बार राज्य के विघटन की प्रक्रिया शुरू होती है, अत्याचार करने वाला शासक वर्ग निर्बल होने लगता है तो स्वेच्छापूर्वक बनाए गए संघ स्वतः बनने लगेंगे। जब सहयोग सरकार द्वारा नहीं थोपा जाएगा तो स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्वयमेव स्वेच्छापूर्ण सहयोग की भावना उत्पन्न हो जाएगी। "आप राज्य को नष्ट कर दीजिए

१. एनार्किस्ट कम्यूनिज़म, पृ० २८

तो इसके ध्वंसावशेषों पर स्वतन्त्र समाज स्वयमेव खड़ा हो जाएगा।''[1]

क्रोपाटकिन ने अपने उपर्युक्त सिद्धान्तों पर की जाने वाली कुछ प्रधान आपत्तियों का उत्तर देने का प्रयत्न किया है। **पहली आपत्ति** यह है कि राजसत्ता के न रहने पर बड़ी अव्यवस्था और गड़बड़ी मच जाएगी। इस विषय में उसका यह कहना है कि अराजकता का आशय अव्यवस्था या गड़बड़ी नहीं है, इसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि राज्य की दमनकारी, अत्याचारी और शोषक सत्ता की समाप्ति हो जाए। यह कहना ठीक नहीं है कि समाज में यदि शासन-सत्ता या सरकार नहीं होगी तो अव्यवस्था मच जाएगी। हमें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि सरकार की प्रबल शक्ति द्वारा स्थापित की जाने वाली व्यवस्था समाज के लिए कोई भी उपयोगिता या महत्व नहीं रखती है। सरकार की शक्ति तनिक भी निर्बल होने पर यह व्यवस्था स्वयमेव समाप्त हो जाती है। **दूसरी आपत्ति** राजसत्ता के अभाव में समझौतों के पालन न किए जाने की है। क्रोपाटकिन का कहना है कि समझौते दो प्रकार के होते हैं: जबरदस्ती बलपूर्वक थोपे गए और स्वेच्छापूर्वक किए गए। पहले प्रकार के समझौतों में एक पक्ष इसे लाचारी में स्वीकार करता है, जैसे मजदूर मिल-मालिक को अपना श्रम विवश होकर बेचता है, क्योंकि यदि वह ऐसा न करे तो उसका परिवार भूखा मर जाएगा। राजसत्ता का भय ऐसे समझौतों का पालन करवाने के लिए आवश्यक होता है। किन्तु ऐसे समझौते अपने-आपमें अन्यायपूर्ण हैं और यदि अराजकतावादी समाज में इनका पालन नहीं होता है तो यह कोई दोष नहीं है। दूसरे प्रकार के समझौते स्वेच्छापूर्वक किए जाते हैं और इनका पालन नवीन समाज में स्वतः होता रहेगा। **तीसरी आपत्ति** काम न करने की है। यह कहा जाता है कि इस समय लोग राज्य की शक्ति से बाधित होकर काम करते हैं। इसके न रहने से स्वभावतः आलसी होने के कारण मनुष्य नई व्यवस्था में काम नहीं करेंगे। इस आक्षेप का उत्तर देते हुए क्रोपाटकिन ने कहा है कि मनुष्य का स्वभाव काम करना है, वह आलसी होकर निठल्ला पड़ा रहना पसन्द नहीं करता है। इस समय उसके काम न करने का कारण ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिनको अराजकतावाद बिलकुल समाप्त कर देगा। ये परिस्थितियाँ देर तक और अधिक परिश्रम वाले कामों के लिए बहुत थोड़ी मजदूरी देना, कारखानों की बड़ी अस्वास्थ्यजनक दशा तथा बहुत अधिक काम लेना है। जब ये परिस्थितियाँ नहीं रहेंगी तो मनुष्य स्वयमेव काम करेगा और काम न करने की कोई समस्या नहीं रहेगी। **चौथी आपत्ति** राज्य की शक्ति का और दण्ड का भय न होने पर मनुष्यों द्वारा चोरी, डकैती, हिंसा आदि के समाज-विरोधी कार्य करना है। क्रोपाटकिन का यह मत है कि आजकल समाज में चोरी जैसे अपराधों का मूल कारण मनुष्य की दुष्ट प्रकृति नहीं है, अपितु उत्पादन और वितरण की अन्यायपूर्ण व्यवस्था है। जब एक व्यक्ति भूखा मरने लगता है तब वह अपने बीबी-बच्चों का पालन करने के लिए चोरी जैसे अपराध करने के लिए बाधित होता है। जब समाज में इन अपराधों को जन्म देने वाली उत्पादन और वितरण की दूषित व्यवस्था समाप्त हो जाएगी तो

१. दी कान्क्वेस्ट आफ ब्रैड, पृ० ७५-९५, १००-१०४, ११०-१३

अपराध स्वयमेव समाप्त हो जाएंगे। नवीन समाज में प्रत्येक व्यक्ति को ऐसी दस्तकारी भी सिखाई जाएगी और ऐसी शिक्षा दी जाएगी कि वह दूसरे व्यक्तियों के हितों का पूरा ध्यान रखेगा और समाज में अपराध करने की प्रवृत्ति का अन्त हो जाएगा।

(घ) धर्म की आलोचना—क्रोपाटकिन ने परम्परागत धर्म का विरोध भी वैज्ञानिक और आध्यात्मिक कारणों के आधार पर किया है। उसके मतानुसार धर्म के दो प्रयोजन प्रतीत होते हैं : पहला प्रयोजन प्रकृति की घटनाओं की व्याख्या करने का भद्दा प्रयत्न है, किन्तु वह सृष्टि की विभिन्न घटनाओं की जो व्याख्या करता है वह सर्वथा अवैज्ञानिक होने के कारण अमान्य है। इसका दूसरा प्रयोजन ऐसी नैतिक पद्धति का निर्माण करना है जो साधारण जनता के अज्ञान और अन्धविश्वासों का लाभ उठाते हुए उनमें समाज की अन्यायपूर्ण व्यवस्था को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करने की भावना उत्पन्न करती है। इससे निर्धन अपनी गरीबी को दैवी व्यवस्था का परिणाम समझकर इसमें सन्तुष्ट रहते हैं। यह व्यवस्था सर्वथा अनैतिक और समाज के लिए हानिकारक है, अतः इसे पुष्ट करने वाले धर्म का तिरस्कार किया जाना चाहिए। किन्तु क्रोपाटकिन जनता में स्वयमेव स्वाभाविक रूप से समाज में नैतिकता की भावना उत्पन्न करने वाले धर्म को न केवल स्पृहणीय, अपितु समाज के लिए आवश्यक समझता था। उसके मतानुसार समाज में एक-दूसरे को सहयोग देने की भावना और सामूहिक हित के लिए आत्मत्याग और बलिदान की भावना जीवन-संघर्ष में किसी भी वर्ग के कल्याण के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

क्रोपाटकिन के बाद रूस में काउण्ट लियो टालस्टाय (१८२८–१६१०) ने अराजकतावाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसने राज्य और वयक्तिक सम्पत्ति का विरोध नैतिक आधार पर और ईसा की शिक्षाओं के प्रतिकूल होने के कारण किया। वह राज्य को पाशविक शक्ति पर आधारित समझता था, किन्तु उसने राज्य का विरोध क्रान्ति के स्थान पर शान्तिपूर्ण प्रतिरोध के साधनों द्वारा करने पर बल दिया। अन्तिम अध्याय में यह बताया जाएगा कि टालस्टाय के इन विचारों का महात्मा गांधी पर भी असर पड़ा और वे भी नैतिक आधार पर राज्य की सत्ता का विरोध करते हैं।

उपसंहार : अराजकतावाद का मूल्यांकन—अराजकतावादी विचारधारा १६वीं शताब्दी में प्रबल हुई और इसके प्रधान पोषक रूसी विचारक थे। पहले यह बताया जा चुका है कि क्रोपाटकिन को किस प्रकार रूसी सम्राट् का पार्श्ववर्ती सेवक होने पर राजतन्त्र से वितृष्णा और घृणा हुई। रूसी राजतन्त्र ने स्वतन्त्र जीवन की चाह रखने वाले सैकड़ों निर्दोष व्यक्तियों को जेलों में ठूँसा, साईबेरिया में निर्वासित किया, ताकि ज़ारों की निरंकुश सत्ता का कोई विरोध न कर सके। यह योरोप का एक बड़ा शक्तिशाली राजतन्त्र था और इसके द्वारा सत्ता का भीषण दुरुपयोग अपनी आँखों से देखने वाले बाकुनिन, क्रोपाटकिन तथा टालस्टाय जैसे विचारकों ने अपनी वैयक्तिक अनुभूति के आधार पर राज्य को सब बुराइयों तथा अपराधों की जड़ समझा और इसके उन्मूलन पर बल दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आधुनिक राज्य अनेक भीषण अपराधों के लिए उत्तरदायी हैं। उग्र राष्ट्रीयता की भावना से विवेकान्ध होकर राज्य

लड़ाइयाँ छेड़ते हैं और अपने नागरिकों को देशभक्ति के नाम पर बलि के बकरों की तरह से कटने के लिए लड़ाई के मोर्चों पर भेजते हैं। इसके साथ ही अपने देश में विरोधी दलों और विचारधाराओं को कुचलने के लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता का बड़ी नृशंसतापूर्वक दमन करते हैं। हिटलर के नाज़ी शासन द्वारा यहूदियों पर किए गए भीषण अत्याचार राज्य की शक्ति के दुरुपयोग का बड़ा उद्वेगजनक उदाहरण हैं। किन्तु इसके साथ ही हमें यह भी नहीं भूल जाना चाहिए कि इसके विपरीत ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं है जहाँ राज्य ने साधारण जनता के कल्याण, शिक्षा तथा सुख-सुविधाओं को बढ़ाने का प्रयत्न किया है। आजकल सर्वत्र कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की धारणा सर्वमान्य हो रही है, राज्य द्वारा किए गए अत्याचारों की तुलना में उसके द्वारा किए जाने वाले जनकल्याणकारी कार्यों पर बल दिया जा रहा है। अतः इस विषय में पाल डगलस ने यह सच ही लिखा है कि अराजकतावाद द्वारा प्रतिपादित राज्य की समझी जाने वाली बुराइयों का सर्वोत्तम प्रतिकार यही है कि राज्य अपने व्यवहार को सुधारे और नागरिकों के लिए अधिक-से-अधिक उत्तम सुविधाएँ प्रस्तुत करें।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पारस्परिक सहयोग और सहमति द्वारा संचालित किए जाने वाले अराजकतावादी समाज का आदर्श एक बहुत ऊँचा सिद्धान्त है। सच्चा अनुशासन आत्मनियन्त्रण ही है। बाह्य दमनकारी शक्तियों द्वारा स्थापित किया जाने वाला अनुशासन आत्मनियन्त्रण की तुलना में हीन कोटि का है। ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं है जिनमें आपसी समझौतों से अनेक बड़ी जटिल समस्याओं का समाधान हुआ है, फिर भी इस बात में बड़ा सन्देह है कि राज्य द्वारा अपने वर्तमान रक्षात्मक कार्य छोड़ देने का वही सुपरिणाम होगा जिसकी कल्पना अराजकतावादी विचारक करते हैं। समाज में अधिकांश व्यक्ति दण्ड के भय से बुरे काम नहीं करते हैं। जन-समुदाय में ऐसे पागल और नैतिक दृष्टि से अधःपतित लोगों की संख्या भी कम नहीं है जिन्हें अपराध करने से रोकने के लिए राज्य की दण्डात्मक व्यवस्था आवश्यक है। अराजकतावादी विचारक मनुष्य के झगड़ों और अपराधों का एकमात्र कारण वैयक्तिक सम्पत्ति को समझते हैं, किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि ज़र (सोना) और ज़मीन (भूमि) के अतिरिक्त ज़न (नारी) भी समाज के झगड़ों का एक प्रधान कारण है और इस बात की कोई गारण्टी नहीं है कि सहयोग द्वारा स्थापित अराजकतावादी समाज में स्त्रियों के प्रश्न को लेकर नैतिक अपराध नहीं होंगे। अराजकतावादी सम्प्रदाय मानव-प्रकृति की कल्पना बहुत ही ऊँचे रूप में करता है और यह समझता है कि मनुष्य एक-दूसरे की भावनाओं का आदर करते हुए शान्तिपूर्ण रीति से रहेंगे। किन्तु जब वे आजकल राज्य की दण्डात्मक व्यवस्था होने पर भी शान्तिपूर्ण रीति से नहीं रह पाते हैं तो इस व्यवस्था के अभाव में ऐसी कल्पना करना असम्भव है। यही कारण है कि बर्ट्रेण्ड रसेल जैसे आधुनिक अराजकतावादी विचारक ने भी राज्य को आवश्यक माना है। यद्यपि वर्तमान राज्य और कानून वैयक्तिक स्वतन्त्रता को सीमित करने वाले हैं और इस कारण नैतिक दृष्टि से अनुचित हैं, फिर भी पूर्ण रूप से इनकी समाप्ति नहीं की जा सकती, क्योंकि यदि राज्य की दण्डात्मक व्यवस्था समाप्त कर दी जाए तो समाज

के अधिकांश व्यक्तियों द्वारा वर्तमान समय में उपभोग करने वाली स्वतन्त्रता खतरे में में पड़ जाएगी।

पिछले सौ वर्षों के इतिहास ने भी अराजकतावादी विचारकों द्वारा राज्य की समाप्ति की कल्पना को निर्मूल और झूठा सिद्ध कर दिया है। बाकुनिन का विचार था कि १९वीं शताब्दी में ही अराजकतावादी समाज की स्थापना हो जाएगी। क्रोपाटकिन का विश्वास था कि ५ वर्ष तक चलने वाली एक महान् क्रान्ति में योरोप के राज्य समाप्त हो जाएँगे; किन्तु उसने अपने जीवन की संध्यावेला में अपनी आँखों के सामने बोल्शेविक क्रान्ति द्वारा कुछ ही वर्षों में रूस में ऐसे राज्य की स्थापना होते देखी जो उन ज़ारों के राज्य से कहीं अधिक शक्तिशाली था, जिसके विरुद्ध क्रोपाटकिन आजीवन संघर्ष करता रहा था। उसके एक अनुयायी जोहन्न मोस्ट ने शिकागो में अराजकतावादी क्रान्ति करने का प्रयत्न किया, किन्तु उसे शासक वर्ग ने शीघ्र ही पूरी तरह कुचल दिया। अतः यह कल्पना करना सर्वथा निराधार है कि राज्य के विरुद्ध एक देश में क्रान्ति होने पर यह दूसरे देशों में फैल जाएगी और इससे राज्य की सत्ता का अन्त हो जाएगा। २०वीं शताब्दी के राज्य १९वीं शताब्दी के राज्यों की तुलना में पहले की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते जा रहे हैं और वे अधिकाधिक मात्रा में ऐसे लोक-कल्याणकारी कार्यों को करने लगे हैं जिनसे उनकी उपयोगिता बढ़ गई है। अतः अब राज्य न तो अनावश्यक संस्था है और न ही पूर्ण रूप से अन्याय और अत्याचार करने वाली ऐसी बुरी संस्था है जिसका समूलोन्मूलन किया जाना चाहिए। जब तक मनुष्य में पाशविक भावनाएँ और वासनाएँ हैं तब तक इनके ऊपर नियन्त्रण रखने के लिए राज्य की दण्डात्मक व्यवस्था बनी रहनी आवश्यक है। राज्य द्वारा मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति और कल्याण के लिए किए जाने वाले कार्यों ने उसकी उपयोगिता पहले की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ा दी है। वह सुसंस्कृत एवं उन्नत जीवन के निर्माण के लिए आवश्यक बन गया है। अतः आधुनिक राजनीतिक चिन्तन में राज्य के उन्मूलन पर बल देने वाली अराजकतावादी विचारधारा का महत्व अब नगण्य हो गया है।

चौदहवाँ अध्याय

मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय

प्रादुर्भाव और विकास—उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में डार्विन ने जीवशास्त्र में विकासवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, राजनीतिक चिन्तन पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। राज्य एवं शासन-सम्बन्धी सभी समस्याओं के अध्ययन में इस सिद्धान्त का प्रयोग किया जाने लगा। स्पेन्सर ने सामाजिक क्षेत्र में जीवशास्त्र और प्राणिशास्त्र के नियमों को लागू करते हुए वैज्ञानिक सम्प्रदाय (Scientific School) को जन्म दिया (पृ० २२३)। उसने सभी राजनीतिक प्रश्नों का अध्ययन और चिन्तन जीवशास्त्र की दृष्टि से करने की पद्धति चलाई। किन्तु १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तथा बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में मनोविज्ञान का असाधारण विकास होने से राजनीतिक चिन्तन पर इसका गहरा प्रभाव पड़ने लगा। पहले राजनीतिक समस्याओं पर प्राणिशास्त्र की दृष्टि से विचार किया जाता था, अब मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार किया जाने लगा। इस प्रवृत्ति के प्रबल होने से मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय (Psychological School) का प्रादुर्भाव और विकास हुआ। इस सम्प्रदाय का जन्मदाता एक प्रतिभाशाली इंगलिश अर्थशास्त्री, बैंक-व्यवसायी (Banker), लेखक और सम्पादक वाल्टर बेगहाट (१८२६–७७) था। ग्रेट ब्रिटेन में ग्राहम वालास (Graham Wallas), मैकडूगल (Mac Dougall), विलियम ट्राटर, आर० एम० मैकाइवर और डब्ल्यू० एच० आर० रिवर्स (१८६४–१९२२) तथा एल० टी० हॉबहाउस ने; फ्रांस में गैब्रियल तार्दे (Gabriel Tarde, १८०३–१९०४), एमिल दुर्खीम (Emile Durkheim, १८५८–१९१७) तथा गुस्ताव ली बोन ने और सं० रा० अमेरिका में लेस्टर एफ० वार्ड (१८४१–१९१३), डब्ल्यू० जी० सुमनेर (१८४०–१९१०), एफ० एच० गिडिंग्स, ई० ए० रास, सी० एच० कूले (Cooley) तथा सी० ए० एल्वुड ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राजनीतिक और सामाजिक प्रश्नों का विवेचन करते हुए अनेक नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया तथा इस सम्प्रदाय के विकास में भाग लिया।

विकास के कारण—पिछली शती के अन्त में मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय के विकसित होने के कई कारण थे : **पहला** कारण राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में विकासवाद के सिद्धान्त का तथा ऐतिहासिक और तुलनात्मक पद्धतियों (Historical and Comparative methods) का प्रयोग था। इसे लागू करते हुए कुछ विद्वानों ने मानव-समाज के आरम्भिक विकास के इतिहास का अन्वेषण किया, सभ्यता के निम्न स्तरों से उच्च स्तरों तक विकसित होने वाले समाजों के नियमों का प्रतिपादन किया। इसमें उन विद्वानों का ध्यान स्वाभाविक रूप से आदिम समाजों में महत्वपूर्ण भाग लेने वाले तत्वों—परम्परा (Tradition), रिवाज (Custom), सहज बुद्धि (Instinct) आदि

की ओर आकृष्ट हुआ। इससे आदिम जातियों के मानसिक तत्वों का निरूपण आरम्भ हुआ। इसका यह परिणाम हुआ कि विभिन्न समूहों या समुदायों पर गहरा प्रभाव डालने वाली और उनके आचरण तथा व्यवहार को प्रभावित करने वाली मानसिक प्रक्रियाओं के अध्ययन पर बहुत बल दिया जाने लगा। ये प्रक्रियाएँ संकल्प (Will), बुद्धि (Reason) और विवेक से सर्वथा भिन्न अनुकरण (Imitation) और सुझाव (Suggestion) आदि की प्रवृत्तियाँ थीं। **दूसरा** कारण १९वीं शताब्दी में बार-बार बड़ी संख्या में होने वाली क्रान्तियाँ तथा क्रान्तिकारी आन्दोलन थे। बड़े शहरों में जनसंख्या के आधिक्य ने तथा साधारण जनता के विशाल समूहों और उत्तेजित भीड़ों द्वारा किए जाने वाले कार्यों ने इस बात को आवश्यक बना दिया कि भीड़ के तथा साधारण जनता के मनोविज्ञान और व्यवहार का गम्भीर अध्ययन किया जाए। **तीसरा** कारण १८६० के बाद से जन-मनोविज्ञान (Folk Psychology) के अध्ययन का श्रीगणेश था। इसे करने वाले लेज़ारस, स्टाइनहाल, विल्हैल्म वुँट (Wilhelm Wudnt) आदि विद्वान् थे। इन्होंने विभिन्न जातियों के रीति-रिवाजों, दन्तकथाओं, भाषाओं और कानूनों के अध्ययन के आधार पर उन जातियों के विशिष्ट मानसिक गुणों का निश्चय किया। इस समय राष्ट्रीयता की भावना प्रबल होने से विभिन्न देशों के व्यक्तियों के मनोविज्ञान के अध्ययन को महत्वपूर्ण समझा जाने लगा। **चौथा** कारण फ्रायड (Freud), युँग (Jung) आदि द्वारा मनोविज्ञान के अध्ययन में अचेतन मन (Sub-conscious Mind) के महत्व पर तथा सामाजिक अशान्ति और क्रान्ति के कारणों पर विचार करना था। इसी समय आर्थिक क्षेत्र में माल की खपत बढ़ाने के लिए उपभोक्ताओं की मानसिक प्रवृत्तियों की गवेषणा से राजनीति के क्षेत्र में चुनावों के समय जन-मानस पर पड़ने वाले प्रभावों का तथा प्रचार के साधनों का अनुशीलन किया जाने लगा। लोकतन्त्र का एक बड़ा आधार लोकमत (Public Opinion) है। अब लोकमत का निर्माण करने वाले तत्वों पर तथा विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा इसको प्रभावित करने के साधनों पर विचार किया जाने लगा और इस प्रकार मनोविज्ञान की एक नई शाखा—सामाजिक मनोविज्ञान (Social Psychology) का विकास हुआ। इसमें मनुष्यों के समाज में तथा विभिन्न समुदायों में व्यवहार करने के उद्देश्यों के वैज्ञानिक विश्लेषण करने की पद्धति पर बल दिया गया, इस प्रकार मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय का जन्म हुआ।

मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय के दृष्टिकोण की विशेषताएँ—इसकी **पहली** विशेषता **बुद्धिवाद के विरुद्ध विद्रोह** (Revolt against Reason) है। इससे पहले यह माना जाता था कि मनुष्य अपने सभी कार्य बुद्धिपूर्वक सोच-विचार करके किया करता है, उसको अन्य पशुओं से पृथक् करने वाली एक बड़ी विशेषता उसकी बुद्धि या विवेक (Reason) है। अरस्तू ने मानवीय मन का विश्लेषण करते हुए यह बताया था कि उसके कार्य करने के विभिन्न स्तर हैं। अपने निम्न स्तरों पर मनुष्य पशुओं की भाँति काम, क्रोध आदि की वासनाओं और मनोवेगों से प्रेरित होकर कार्य करता है, किन्तु उच्च स्तरों पर अपनी बुद्धि एवं विवेक से कार्य करता है। बुद्धि की शक्ति सब मनुष्यों में सार्वभौम रीति से पाई जाती है। मनुष्य बुद्धि की सहायता से ही सत्य का दर्शन

कर सकता है। बुद्धि उसको यथार्थ पथ का प्रदर्शन करा सकती है। काम, क्रोध आदि वासनाएँ और उग्र मनोवेग (Passions) बुद्धि को पथभ्रष्ट करने वाले तत्व हैं। हमारी भूख, प्यास तथा यौन-सम्बन्ध आदि की शारीरिक एवं भौतिक आवश्यकताओं को पूरी करने की लालसा या वासना (Concupiscence) भी हमें विवेकान्ध बनाने वाली है। मनुष्य के उत्तम जीवन का विकास तभी सम्भव है जब वह अपनी आत्मा को निम्न स्तर की कामवासना और मनोवेगों के प्रभाव से मुक्त करके बुद्धि एवं विवेक को ऊँचा स्थान देते हुए उसके अनुसार सब कार्य करे। योरोप में पुनर्जागरण (Renaissance) के समय से बुद्धि को अधिक महत्व दिया जाने लगा है। फ्रेंच राज्य-क्रान्ति के समय बुद्धि को एक नवीन देवी बनाकर उसकी पूजा की जाने लगी। हेगल ने राज्य को बुद्धि का अवतार बताया। उस समय राज्य के सभी कार्यों का मूल प्रेरणा-स्रोत बुद्धि या विवेक माना जाता था।

मनोविज्ञान की नई खोजों ने बुद्धि को उसके उच्च धरातल से नीचे गिराना शुरू किया। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया कि मनुष्य बुद्धिपूर्वक कार्य करने वाला प्राणी (Rational animal) नहीं है, अपितु वह अपनी नैसर्गिक सहज बुद्धि (Instinct) से, मानसिक प्रेरणा (Impulse) से तथा ऐसी अबुद्धिपूर्ण (Irrational or non-rational) शक्तियों से प्रेरित होकर कार्य करता है जिन पर उसका कोई प्रभाव या नियन्त्रण नहीं है। बुद्धि हमारी मार्गदर्शिका नहीं है, अपितु वह इस बात का साधन मात्र है कि हमें अभीष्ट कार्य करने की विधि बताए। वह हमें यह नहीं बता सकती कि हमें कोई कार्य क्यों करना चाहिए। वस्तुतः बुद्धि हमें बुरे काम करने के लिए 'उत्तम हेतु' प्रदान करती है। यदि बुद्धि का सम्बन्ध धर्म और नैतिकता से विच्छिन्न कर दिया जाए तो बुद्धि सत्य-असत्य, अच्छे-बुरे का विवेक करने में समर्थ नहीं हो सकती। अतः बुद्धि को महत्व देना या मनुष्य को बुद्धिपूर्वक कार्य करने वाला प्राणी कहना निरर्थक है।

दूसरी विशेषता **मानवीय प्रकृति तथा स्वभाव के अध्ययन पर बल देना** था। इस सम्प्रदाय के एक प्रवर्तक ग्राहम वालास (Graham Wallas) का यह मत था कि राजनीतिशास्त्र के लेखकों को मानवीय प्रकृति का बड़ा अधूरा ज्ञान होता है, वे यह नहीं जानते कि मनुष्य किस प्रकार सोचते हैं और कैसे कार्य करते हैं। अरस्तू आदि पुराने लेखकों ने आदर्श मनुष्य एवं समाज के सम्बन्ध में कुछ धारणाएँ बना ली हैं, सब विचारक आँख मूँदकर इनका अन्धानुसरण किए जा रहे हैं। मनोविज्ञान द्वारा की गई नवीन खोजों की ओर उनका कोई ध्यान नहीं गया है। वस्तुतः राजनीतिशास्त्र और मनोविज्ञान दोनों एक-दूसरे की खोजों से बहुत लाभ उठा सकते हैं। राजनीतिशास्त्र अब तक मनोविज्ञान की उपेक्षा करता रहा है, किन्तु अब उसे इससे लाभ उठाना चाहिए और राजनीतिशास्त्र का भावी विकास मनोवैज्ञानिक आधार पर होना चाहिए।

तीसरी विशेषता **अचेतन** (Sub-conscious) **मन की महत्ता पर बल देना** है। आधुनिक मनोविज्ञान की एक बड़ी खोज यह है कि यह हमारे चेतन या जागरूक मन (Conscious Mind) की अपेक्षा अचेतन मन को अधिक महत्व देता है और यह

मानता है कि मनुष्य अपने अधिकांश कार्य चेतन मन से बुद्धिपूर्वक सोच-विचार के नहीं, अपितु अचेतन मन की प्रक्रियाओं से प्रेरित होकर करता है। फ्रायड (Freud) आदि मनोवैज्ञानिकों ने इस पर बहुत बल दिया है। लोकतन्त्रीय शासन-प्रणाली वाले देशों में इसका बहुत महत्व है। यहाँ राजनीतिक नेताओं को जनता के मन पर अचेतन रूप से प्रभाव डालने वाली भावनाओं का पूरा ध्यान रखना पड़ता है, इनकी उपेक्षा करने वाला अथवा इनका तिरस्कार करने वाला कोई राजनीतिक दल सफलता नहीं प्राप्त कर सकता है। **चौथी** विशेषता **बुद्धि, मन और शरीर के कार्यों में एकता का विचार** है। पहले यह बताया जा चुका है कि अरस्तू इन सबको अलग धरातल रखने वाले तत्व मानता था और बुद्धि को सर्वोपरि स्थान देता था। उसके मतानुसार मनुष्य विशुद्ध बुद्धि से कार्य कर सकता था। किन्तु नवीन मनोविज्ञान का मत था कि मनुष्य सभी कार्य सहज बुद्धि एवं भावनाओं से प्रेरित होकर करता है। हमारे तर्क और बुद्धि पर मनोभावनाओं का प्रभाव पड़ता है और मनोभावनाओं पर बुद्धि का। इसी प्रकार शारीरिक कार्यों पर मानसिक दशाओं का प्रभाव पड़ता है और मानसिक दशाओं पर शारीरिक कार्यों का। यह सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन पर गहरा प्रभाव डालने वाला था, क्योंकि अब तक इसमें बुद्धि तत्व की प्रधानता मानी जाती थी। यह समझा जाता था कि मनुष्य बुद्धि से ही सब कार्य करता है, अतः राजनीतिक सिद्धान्तों का निर्माण भी बुद्धि द्वारा किया जाना चाहिए। मनोविज्ञान ने व्यावहारिक जीवन पर बल देते हुए कहा कि राजनीतिशास्त्री केवल बुद्धि के कल्पनालोक में विहार करने वाले हैं। उनके ये सिद्धान्त तब तक निरर्थक बने रहेंगे जब तक कि वे इनका सम्बन्ध मनुष्यों के क्रियात्मक व्यवहार से नहीं जोड़ेंगे, उनकी विभिन्न क्रियाओं तथा व्यवहारों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन नहीं करेंगे। राजनीतिशास्त्र में कोरा बौद्धिक चिन्तन निरर्थक है तथा कोरे क्रियात्मक राजनीतिक कार्यों का विचारों से पृथक् रूप में अध्ययन करना दोषपूर्ण है, अतः इन दोनों का—सिद्धान्तों का तथा व्यावहारिक कार्यों का—समन्वयपूर्ण अध्ययन आवश्यक है। अब यहाँ मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय के प्रसिद्ध विचारकों का वर्णन किया जाएगा।

मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय के प्रमुख विचारक : वाल्टर बेगहाट (Walter Bagehot, 1826–1877)—बेगहाट एक प्रतिभाशाली अर्थशास्त्री और व्यापारी एवं पत्रकार होने के साथ-साथ एक कुशल निबन्ध-लेखक भी था। व्यापारिक तथा पारिवारिक सम्बन्धों के कारण उसे ब्रिटिश राजनीतिक जीवन की आन्तरिक बातों का प्रामाणिक ज्ञान पाने का स्वर्ण अवसर मिला था। वह उदार दल की विचारधारा का अनुयायी तथा १८६० से मृत्युपर्यन्त सुप्रसिद्ध पत्र 'इकनामिस्ट' (Economist) का सम्पादक रहा था। उसने अपने राजनीतिक मन्तव्यों का प्रतिपादन The English Constitution (1867) में तथा Physics and Politics (1869) में किया है। पहली पुस्तक में उसने अब तक संविधान-विशेषज्ञों द्वारा नीरस कानूनी भाषा में प्रतिपादित किए जाने वाले विषय को अत्यन्त सरस, सजीव एवं हृदयग्राही रूप में उपस्थित किया और दूसरी पुस्तक से राजनीतिशास्त्र में मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय की आधारशिला रखी है।

बेगहाट की पुस्तक का नाम यदि जीवशास्त्र और राजनीति (Biology and Politics) अथवा मनोविज्ञान तथा राजनीति (Psychology and Politics) होता तो अधिक अच्छा होता, क्योंकि इसमें जीवशास्त्र एवं मनोविज्ञान के तथा विकासवाद के सिद्धान्तों के आधार पर आधुनिक राजनीतिक घटना-चक्र की व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया था। उसका यह मत था कि स्थिरता और व्यवस्था को बनाए रखने के लिए आरम्भिक समाजों में अत्यधिक कठोर, सदैव पालन किए जाने वाले रीति-रिवाज (Customs) विकसित होते हैं। किन्तु शीघ्र ही इन कठोर रिवाजों के कारण समाज में जड़ता आ जाती है, इस दशा में समाज की उन्नति के लिए पुराने रिवाजों का भंग होना तथा नए विचारों एवं संस्थाओं का विकसित होना आवश्यक हो जाता है। इन दोनों में बेगहाट ने अनुकरण (Imitation) के महत्व पर बहुत बल दिया। उदाहरणार्थ, आरम्भिक समाजों में युद्ध में विजय पाने की प्रबल लालसा के कारण सफल योद्धाओं की रणपद्धति का और विचारों का अनुकरण किया जाता था। इस विषय में पुरानी 'लीक' पर ही चलने पर बल दिया जाता था, इसमें परिवर्तन को हानिकर तथा अवांछनीय समझा जाता था। उसके मतानुसार समाज का निर्माण करने वाली प्रधान शक्ति रूढ़ियों या रिवाजों का समूह (Cluster of customs) है। किन्तु रिवाजों का पालन करने वाले समाज जड़ हो जाते हैं, इस जड़ता को भंग करने तथा प्रगति देने के लिए एक दूसरी मनोवैज्ञानिक शक्ति—वाद-विवाद की सहज बुद्धि (Instinct for discussion) कार्य करती है। कुछ मानव-समाज विचारों की स्वतन्त्रता तथा परमतसहिष्णुता पर बल देते हैं, रूढ़िवाद पर विजय पाते हुए नवीन विचारों को ग्रहण करते हैं और उन्नति के पथ पर आगे बढ़ते हैं। फिर भी समाज में रूढ़िवादी प्रतिगामी शक्तियों का प्राबल्य बना रहता है, इस कारण स्वतन्त्र विचार द्वारा होने वाली उन्नति बड़ी मन्द गति से होती है। "एक पीढ़ी में यद्यपि कुछ प्रतिभाशाली व्यक्ति काफी आगे बढ़ते हैं, तथापि इस पीढ़ी के अधिकांश व्यक्ति अपने से पहली पीढ़ी की अपेक्षा बहुत कम आगे बढ़ते है।"

महत्व एवं मूल्यांकन—बेगहाट ने सर्वप्रथम समाज एवं राज्य के विकास तथा प्रगति में सहायक होने वाले मनोवैज्ञानिक तत्वों का निरूपण किया, अतः उसे मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय का जन्मदाता समझा जाता है।[1] उसने राजनीतिक जीवन की दो मनोवैज्ञानिक बातों पर बल दिया—(क) इसमें अचेतन रूप से अनुकरण (Unconscious imitation) करने की प्रवृत्ति होती है। (ख) इसमें बुद्धि, युक्ति या तर्क से सोच-विचार करके काम नहीं किए जाते हैं। उसने राजनीति में झण्डा, नारे आदि के प्रतीकों (Symbols) पर भी बल दिया, जिनसे प्रेरित होकर राजनीतिक कार्य किए जाते हैं; उसके बाद ही ग्राहम वालास, मैकडूगल आदि ने सहज बुद्धि तथा सामूहिक मन (Group mind) से किए जाने वाले कार्यों का विस्तृत, क्रमबद्ध और शास्त्रीय विवेचन किया। अतः उसे मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय का जन्मदाता समझा जाता है। इसके साथ ही संविधान के क्षेत्र में उसने पहली बार संसदीय (Parliamentary)

---

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० ५५५

तथा अध्यक्षीय (Presidential) शासन-प्रणालियों के अन्तर का सुस्पष्ट प्रतिपादन करते हुए यह बताया कि संसदीय पद्धति को चलाने के लिए आनुवंशिक राजतन्त्र आवश्यक नहीं है। वेगहाट के प्रभाव के महत्व का अनुमान कुछ अन्य प्रसिद्ध ब्रिटिश विचारकों द्वारा उसके विषय में प्रकट किए गए कई उद्गारों से हो सकता है। सर हेनरी मेन ने उसकी 'फिजिक्स एण्ड पोलिटिक्स' के बारे में कहा था कि वह अन्य किसी पुस्तक की अपेक्षा इससे बहुत अधिक प्रभावित हुआ है। ब्राइस का कहना है कि यदि वह अपनी पद्धति को राजनीति के क्षेत्र में लागू करने के लिए अधिक देर तक जीवित रहता तो उसका प्रभाव वैसा ही पड़ता जैसा १९वीं शताब्दी के मध्य में मांतेस्क्यू का अथवा टाक्वेविल्ले (Tocqueville) का पड़ा था। डायसी के शब्दों में बेगहाट ने बर्क के बाद किसी भी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा ब्रिटिश संविधान के सिद्धान्तों को तथा क्रियात्मक रूप को अधिक स्पष्ट किया था।

ग्राहम वालास (Graham Wallas)—बेगहाट के सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन करने वाला यह ब्रिटिश विचारक १८५८ में एक पादरी के परिवार में उत्पन्न हुआ, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में शिक्षा पाने के बाद इसने 'लन्दन स्कूल ऑफ इकनॉमिक्स' की स्थापना में भाग लिया तथा यहाँ बहुत समय तक राजनीतिशास्त्र का प्राध्यापक रहा। वह अपने विषय का प्रकाण्ड विद्वान् होने के साथ-साथ कुशल प्रशासक भी था। उसने लन्दन विश्वविद्यालय की सीनेट में, लन्दन स्कूल बोर्ड में, लन्दन की जिला परिषद् (County Council) में, सिविल सर्विस-विषयक शाही कमीशन में महत्वपूर्ण कार्य किया। वह फेबियन सोसायटी का सदस्य और इससे प्रकाशित किए जाने वाले निबन्धों का लेखक था। उसके महत्वपूर्ण ग्रन्थ **राजनीति में मानव-प्रकृति** (Human Nature in Politics, 1908), **महान् समाज** (The Great Society, 1914) तथा **हमारी सामाजिक विरासत** (Our Social Heritage, 1921) हैं। उसने इन ग्रन्थों में राजनीति पर प्रभाव डालने वाले मनोवैज्ञानिक तत्वों के निरूपण पर अधिक बल दिया। उसका यह मत है कि "राजनीति में अधिकांश घटनाएँ सहज बुद्धि, सुझाव और अनुकरण से अचेतन रूप में की जाने वाली प्रक्रियाओं का परिणाम होती हैं।" चेतन रूप से बुद्धिपूर्वक किए जाने वाले कार्य बहुत ही कम होते हैं। वालास ने ये परिणाम उसे अध्यापक, प्रशासक और व्यावहारिक राजनीतिज्ञ के रूप में प्राप्त हुए अनुभवों के आधार पर तथा इंगलैण्ड और अमेरिका के तत्कालीन राजनीतिक जीवन के गम्भीर विश्लेषण के आधार पर निकाले थे। उसके प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

पहला सिद्धान्त मनोविज्ञान और राजनीतिशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध और सहयोग पर बल देना है। उसका यह कहना है कि मनोविज्ञान के क्षेत्र में नवीन खोजों से बड़ी प्रगति हुई है, किन्तु राजनीतिशास्त्र ने इसका कोई लाभ नहीं उठाया है। उसने अपनी पुस्तक **राजनीति में मान-प्रकृति** का आरम्भ इस वाक्य से किया है कि "इस समय राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की दशा असन्तोषजनक है।" इसका कारण यह है कि लोकतन्त्र ने मनुष्यों के हृदयों में कुछ आकांक्षाओं और आशाओं को उत्पन्न किया था, किन्तु वे पूरी नहीं हुई हैं। जनता यह समझती है कि "लोकतन्त्र

के विफल होने का कारण दोषपूर्ण राजनीतिक व्यवस्थाएँ अर्थात् मताधिकार का विस्तृत न होना तथा समुचित मात्रा में शिक्षा का प्रसार न होना है।" किन्तु वालास के मत में इसका सबसे बड़ा कारण मानवीय प्रकृति के स्वरूप को भली-भाँति न समझना और मनोविज्ञान को राजनीतिशास्त्र का मूल आधार न बनाना है। उसने इस बात पर बहुत बल दिया कि मनोविज्ञान से राजनीतिशास्त्र को मानवीय प्रकृति का ज्ञान पाने में पूरा लाभ उठाना चाहिए और इसके आधार पर ही राजनीतिक सिद्धान्तों का तथा क्रियात्मक व्यवहार का निर्धारण होना चाहिए। राजनीतिशास्त्री अब तक एक ऐसे बुद्धिसम्पन्न और बुद्धि से काम करने वाले आदर्श मानव का काल्पनिक वर्णन करते रहे हैं जो राजनीति के वास्तविक जगत् में कहीं नहीं मिलता है। वस्तुतः इस क्षेत्र में हमें ऐसे मनुष्य के दर्शन होते हैं जो विभिन्न मनोभावनाओं (Emotions), मनोवेगों (Impulses) और सहज बुद्धियों (Instincts) से प्रेरित होकर कार्य करता है और अपने बहुत कम कार्य बुद्धि से सोच-विचारकर करता है। उपयोगितावादी तथा आदर्शवादी यह मानते थे कि मनुष्य पहले अपने लिए किसी अभीष्ट लक्ष्य को निश्चित करता है, इसे प्राप्त करने के उपाय सोचता है और इनके अनुसार अपने विभिन्न राजनीतिक कार्य करता है। वालास इस प्रकार की बौद्धिक प्रक्रिया द्वारा कार्य करने को एक बहुत बड़ी बौद्धिक भ्रान्ति (Intellectual fallacy) समझता है। इसे पुष्ट करने के लिए वह यह कहता है कि यदि कोई व्यक्ति एक दिन में अपने किए जाने वाले कार्यों का विस्तृत लेखा रखे तो उसे स्वयमेव यह ज्ञात हो जाएगा कि उसके अधिकांश कार्य बुद्धिपूर्वक नहीं, अपितु स्वभाववश सहज बुद्धि से सुझाव और अनुकरण के कारण होते हैं, बुद्धिपूर्वक किए जाने वाले कार्यों की संख्या बहुत ही कम है। इससे वालास यह परिणाम निकालता है कि राजनीतिक कार्यों में बुद्धि की अपेक्षा मनुष्यों के स्वभाव, सुझाव, अनुकरण तथा विभिन्न प्रकार की मनोभावनाएँ अधिक भाग लेती हैं, अतः मनुष्यों के राजनीतिक व्यवहार को समझने के लिए उनके मनोभावों को और मानसिक प्रकृति को समझना आवश्यक है। यह मनोविज्ञान से ही सम्भव है, अतः राजनीतिशास्त्र का आधार मनोविज्ञान होना चाहिए। जिस प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में तथा अपराधियों को सुधारने के क्षेत्र में मनोविज्ञान से सहायता ली गई है, उसी प्रकार राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में भी मनोविज्ञान से पूरा लाभ उठाया जाना चाहिए। इसकी सहायता से यदि हम मानवीय प्रकृति का यथार्थ स्वरूप जान सकेंगे तो राजनीतिक घटनाओं को अधिक अच्छी तरह समझ सकेंगे।

दूसरा सिद्धान्त मानवीय प्रकृति का प्रतिपादन है। राजनीतिशास्त्र में मनुष्य की सभी मनोभावनाएँ और सहज बुद्धियाँ उपयोगी नहीं होती हैं। इनमें अधिक महत्वपूर्ण मनोभाव निम्नलिखित हैं—प्रेम, भय, सम्पत्ति प्राप्त करने की लालसा, लड़ने की मनोवृत्ति, सन्देह और जिज्ञासा की सहज बुद्धि, दूसरों से आगे बढ़ने की आकांक्षा, सुख प्राप्त करने की इच्छा। राजनीति में मनुष्य इन मनोभावनाओं से प्रेरित होकर कार्य करता है। ये मनोभावनाएँ (Impulses) कुछ विभिन्न परिस्थितियों

में—उद्दीपक या उत्तेजक कारणों (Stimuli) के होने पर ही कार्य करती हैं और इनका प्रभाव उद्दीपक परिस्थिति के स्वरूप पर निर्भर होता है।

इस विषय में वालास द्वारा प्रतिपादित कुछ नियम इस प्रकार हैं—(१) किसी गम्भीर प्राणिशास्त्रीय आवश्यकता (Biological need) की सहज बुद्धि से प्रेरित की गई मनोभावना की शक्ति उस मनोभावना की शक्ति से कम होती है जो समाचारपत्रों या पुस्तकों की सहायता से, बुद्धि एवं तर्क द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार के कृत्रिम उद्दीपक (Artificial stimulation) से उत्पन्न की जाती है। मनुष्य को अपनी सहज बुद्धियों का और मनोवेगों का ज्ञान नहीं होता है, ये अचेतन रूप से उसके कार्यों पर प्रभाव डालते रहते हैं। वह इनका बुद्धिपूर्वक नियन्त्रण करने में असमर्थ होता है। वह बहुत ही कम काम बुद्धि से सोच-विचारकर करता है। इससे वालास ने यह परिणाम निकाला है कि राजनीति में भी मनुष्य अधिकांश कार्य सहज बुद्धि से करता है, अतः जो राजनीतिक नेता जनता की इन मनोभावनाओं को उभाड़ सकते हैं, वे उन नेताओं की अपेक्षा अधिक सफल होंगे जो जनता से तर्क और बुद्धि के आधार पर अपीलें करते हैं।

(२) **दूसरा** नियम यह है कि मानवीय मनोवेग भी समूह के रूप में मनुष्यों के एकत्र होने पर अधिक प्रबलता से और तेजी से कार्य करते हैं। उदाहरणार्थ, अकेला व्यक्ति किसी मकान को या मोटरगाड़ी को आग लगाने में या लूटपाट करने में संकोच करता है, किन्तु उत्तेजित भीड़ विवेकान्ध और उत्तरदायित्व की भावना से शून्य होने के कारण आग लगाने या लूटपाट करने में कोई संकोच नहीं करती है। भीड़ में मनुष्य बुद्धि और विवेक खो बैठता है, उसमें आदिम मानव-समूह (Primitive herd) की क्रोध, भय, सुरक्षा आदि की मनोभावनाएँ उद्‌बुद्ध हो जाती हैं।

(३) **तीसरा** नियम राजनीतिक जीवन में प्रतीकों (Symbols) का महत्व है। वालास के मत में बार-बार प्रयुक्त किए जाने वाले शब्दों, नारों, चिन्हों और वस्तुओं के साथ विशेष भावनाएँ जुड़ जाती हैं, इनका नाम सुनाई देते ही विशिष्ट भावनाएँ उद्‌बुद्ध हो जाती हैं। राष्ट्र, राजनीतिक दल, राष्ट्रध्वज, न्याय, स्वतन्त्रता, समानता ऐसे ही शब्द हैं। मनुष्य इनका पूरा महत्व समझे बिना इनके साथ ही कुछ भावनाएँ जोड़ देते हैं और इनकी रक्षा के लिए बड़े-से-बड़ा खतरा उठाने को तैयार हो जाते हैं। जब १९६२ में चीन ने तथा १९६५ में पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण किया तो भारत के सभी व्यक्ति और राजनीतिक दल अपने मतभेद भुलाकर राष्ट्र की रक्षा के लिए सन्नद्ध हो गए। किसी देश के राष्ट्रीय ध्वज का अपमान होने पर उसके सभी नागरिकों में भीषण रोष की भावना का संचार होता है। कुशल राजनीतिज्ञ इन प्रतीकों और नारों का महत्व समझते हैं। वे चुनावों में इनका पूरा लाभ उठाते हैं। विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रतीक इसी दृष्टि से बनाए जाते हैं। उदाहरणार्थ, कांग्रेस पार्टी ने किसानों का वोट पाने के लिए बैलों की जोड़ी का चुनाव-चिह्न स्वीकार किया। सोवियत रूस के झण्डे में किसानों और मजदूरों का प्रतीक हँसिया तथा हथौड़ा है। ये प्रतीक जनता के मन पर गहरा प्रभाव डालते हैं। इनसे प्रभावित होकर जनता अपने राजनीतिक कार्य करती है, न कि बुद्धिपूर्वक सोच-विचारकर।

वालास के मत में अधिकांश जनता की मानसिक स्थिति भीड़ की मनोवृत्ति जैसी बुद्धिशून्य और अविवेकपूर्ण होती है। नगरों के विकास ने, रेडियो, प्रेस और सिनेमा ने इस प्रवृत्ति को बहुत बढ़ा दिया है। अब भीड़ जैसी मनोवृत्ति पैदा करने के लिए भीड़ के रूप में एकत्र होना आवश्यक नहीं रहा, रेडियो आदि के उपर्युक्त साधनों से यह मनोवृत्ति अपने घरों में बैठे हुए व्यक्तियों में भी उत्पन्न की जा सकती है। अब लोकमत पर प्रभाव डालने वाले बुद्धिशून्य (Non-rational) तत्वों में बहुत वृद्धि हो गई है।

ग्राहम वालास ने अपनी पहली रचनाओं में राजनीति में बुद्धि एवं तर्कपूर्ण रीति से कार्य करने को अत्यन्त गौण स्थान प्रदान किया है, किन्तु पिछली रचनाओं में इस प्रकार के कार्य का कुछ महत्व माना है और राजनीतिक नेताओं द्वारा अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए जनता को बहकाने, पथभ्रष्ट करने तथा शोषण करने से बचाने के लिए समाज द्वारा समुचित शिक्षा की व्यवस्था किए जाने पर बल दिया है। उसका यह मत है कि ऐसी शिक्षा से जब मनुष्यों को उन पर अचेतन रूप से प्रभाव डालने वाली मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं का ज्ञान हो जाएगा तो वे अन्य व्यक्तियों द्वारा किए जाने वाले शोषण से सावधान हो जाएँगे, अपनी बुद्धि का उपयोग करते हुए वे अपने पर अधिक अच्छा नियन्त्रण रख सकेंगे। यदि वे ऐसा नियन्त्रण करना सीख लें तो मानवीय बुद्धि की सहायता से एक अधिक अच्छे नूतन समाज का निर्माण करना सम्भव हो सकेगा।

विलियम मैकडूगल (१८७१–१९३८)—यह वालास का समकालीन तथा मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय का प्रबल पोषक था। पहले सं० रा० अमेरिका में हावर्ड विश्वविद्यालय में तथा बाद में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में यह मनोविज्ञान का प्राध्यापक रहा। उसने वालास की भाँति राजनीतिक घटनाओं के मूल प्रेरक कारण बुद्धिभिन्न या तर्केतर तत्व (Non-rational factors) माने। उसके विचार वालास के विचारों से गहरा सादृश्य रखते हुए भी इस बात में भिन्न थे कि वह वालास द्वारा माने जाने वाले अनुकरण, सुझाव और स्वभाव की मनोवृत्तियों के स्थान पर नैसर्गिक सहज बुद्धि (Instinct) को अधिक महत्व देता है। वालास ने अपनी सामग्री राजनीतिक जीवन से ग्रहण की थी, मैकडूगल ने प्रयोगशाला में किए जाने वाले परीक्षणों के आधार पर अपने सिद्धान्तों को पुष्ट किया। उसने मनुष्य के मन के विकास की विभिन्न प्रक्रियाओं का स्पष्ट प्रतिपादन अपने इन दो ग्रन्थों में किया—(१) **सामाजिक मनोविज्ञान प्रवेशिका** (Introduction to Social Psychology, 1908), (२) **सामूहिक मन** (Group Mind, 1920)। मैकडूगल के बाद अनेक फ्रेंच तथा अमेरिकन विचारकों ने मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय को पुष्ट किया।

मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय का महत्व तथा मूल्यांकन—इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इस विचारधारा ने राजनीतिक चिन्तन को कई बहुमूल्य देनें दी हैं। इसने कई नई समस्याओं पर प्रकाश डाला है, नवीन दृष्टिकोण से राजनीतिक समस्याओं पर विचार करने की पद्धति प्रदान की है। मनोविज्ञान की खोजों ने मानवीय मन पर तथा सामाजिक सम्बन्धों पर प्रभाव डालने वाले तत्वों का स्वरूप अधिक स्पष्टता के

साथ प्रतिपादित किया है। अब हम सामाजिक और सामूहिक जीवन में सहज बुद्धि, रिवाज, प्रथा, अन्य मनोवेगों तथा मनोवृत्तियों का प्रभाव अधिक अच्छी तरह समझने लगे हैं। हमें यह ज्ञात हो गया है कि समाज अपने सदस्यों के विचारों और कार्यों को किस प्रकार नियन्त्रित करता है, राजनीतिक नेता जनता की मनोभावनाओं का अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए किस प्रकार दुरुपयोग करते हैं और इसे किस ढंग से रोका जा सकता है। इस सम्प्रदाय की **पहली** देन यह है कि इसने राजनीतिक विचारकों को इस बात के लिए बाधित किया है कि वे राजनीतिक संस्थाओं का विश्लेषण और विचार बुद्धिवाद के काल्पनिक आधार पर न करके जनता के वास्तविक व्यवहार को प्रभावित करने वाली मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों के आधार पर करें। इससे राजनीतिशास्त्र अनुभववादी (Empirical) और वैज्ञानिक बन गया है। यह जनता के वास्तविक राजनीतिक व्यवहार और घटनाओं का विश्लेषण, विवेचन और मीमांसा करते हुए उसके आधार पर कुछ परिणाम निकालता है। **दूसरी** देन अरस्तू की इस धारणा का खण्डन करना है कि मानवीय मन बुद्धि, मनोवेग (Passion) तथा वासना (Concupiscence) के तीन तत्वों से मिलकर बना है, इनमें बुद्धि का स्थान सर्वोच्च है, मनुष्य अपने सभी कार्य बुद्धिपूर्वक करता है। मनोवैज्ञानिकों ने यह प्रदर्शित किया है कि मनुष्य के अधिकांश कार्य बुद्धि से नहीं, अपितु अचेतन रूप से काम करने वाली सहज बुद्धि (Instinct), रिवाज, प्रथा या रूढ़ि, अनुकरण, सुझाव आदि की मनोभावनाओं से होते हैं। **तीसरी** देन राजनीतिशास्त्र में लोकमत और प्रचार के महत्व और प्रेरक कारणों के सम्बन्ध में की जाने वाली खोज है। **चौथी** देन सामाजिक दृष्टि से विकृत एवं दूषित समाजों के अध्ययन के श्रीगणेश से 'सामाजिक विकृतिविज्ञान' (Social Pathology) नामक नए शास्त्र का विकास है।

किन्तु इसके साथ ही हमें मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के दोषों को भी स्मरण रखना चाहिए। इसका **पहला** दोष इसका सीमित और संकुचित दृष्टिकोण है। यह विशुद्ध रूप से वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, इसका उद्देश्य केवल यह बताना है कि सामाजिक तथा राजनीतिक घटनाएँ क्यों तथा किन कारणों से प्रेरित होकर होती हैं। किन्तु राजनीतिशास्त्र केवल राजनीतिक घटनाओं की व्याख्या ही नहीं करता है, अपितु राज्य के, समाज के, मनुष्यों के आदर्शों, उद्देश्यों तथा लक्ष्यों और मूल्यों (Values) का भी वर्णन करता है; वह यदि हमें यह न बताए कि राज्य का लक्ष्य क्या होना चाहिए, उसमें शासकों के तथा शासितों के क्या कर्त्तव्य हैं तो राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का केवल शास्त्रीय महत्व होगा, उसकी व्यावहारिक उपयोगिता नहीं रहेगी। सामाजिक मनोविज्ञान हमें केवल विभिन्न संस्थाओं का स्वरूप बता सकता है, उसके लिए सभी संस्थाओं का महत्व एक जैसा है, वह राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा लोकतन्त्र में काम करने वाली मनोवृत्तियों का स्पष्टीकरण ही कर सकता है, किन्तु इनमें कौनसी पद्धति श्रेष्ठ है, उसका किसी समाज में क्या महत्व है, इसका विवेचन नहीं कर सकता। मनोविज्ञान का दृष्टिकोण तथ्यप्रधान और विश्लेषणात्मक है, वह सभ्य एवं बर्बर समाजों का वर्णन करता है। किन्तु इनके महत्व एवं श्रेष्ठता के तारतम्य का तथा इनके गुण-दोषों का विवेचन नहीं करता है। राजनीतिशास्त्र का उद्देश्य प्रधान

रूप से विभिन्न संस्थाओं के गुण-दोषों का विवेचन करना है, अतः उसमें मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण बहुत उपयोगी नहीं हो सकता है।

दूसरा दोष मनोविज्ञान द्वारा मनुष्य को एक निम्न स्तर का पशु तथा मनोवेगों और सहज बुद्धि का खिलौना या कठपुतली मात्र मानना है। उसने मनुष्य को बुद्धि-शून्य रीति से अपने मनोवेगों से आन्दोलित होकर कार्य करने वाले बन्दर या चिम्पाञ्जी के समकक्ष बना दिया है। किन्तु मनुष्य कोरा पशु नहीं है, वह बुद्धिपूर्वक विचार करने वाला प्राणी है, मननशील होने के कारण ही मनुष्य कहलाता है, उसमें भगवान् का अंश है। तुलसीदास जी ने उसका वर्णन करते हुए कहा—"ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥" इसे मनोवैज्ञानिक पशुतुल्य मानते हुए बुद्धि का प्रयोजन यही मानता है कि वह इससे अपनी इच्छाओं या वासनाओं की पूर्ति करता है। जिस प्रकार चिम्पाञ्जी अपने पिंजरे से बाहर गिरे हुए केले को पाने के लिए अपनी बुद्धि का प्रयोग करता है, वैसे ही मनुष्य के लिए बुद्धि का उपयोग केवल अपनी खाद्यवस्तुओं का संग्रह और आत्मसंरक्षण करना है। मनोवैज्ञानिकों का यह दृष्टिकोण मनुष्य को पशु बनाने वाला, उसे हीन स्थिति में ले जाने वाला तथा बुद्धि के महत्व को घटाने वाला है। यह सर्वथा अयथार्थ और मिथ्या है, अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को सत्य नहीं माना जा सकता।

पन्द्रहवाँ अध्याय

बहुलवाद

(Pluralism)

सामान्य परिचय—प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के समय विकसित होने वाली यह विचारधारा बहुलवादी (Pluralistic) या बहुसमुदायवादी इसलिए कहलाती है कि यह इससे पहले राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में विकसित होने वाली उस एकत्ववादी या अद्वैतवादी (Monistic) विचारधारा का प्रबल विरोध करती है जो समाज में एकमात्र राज्य की संस्था को ही सम्पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न (Sovereign), सर्वनियन्ता, सर्वशक्तिशाली और सर्वोच्च संगठन समझती है, अन्य सब सामाजिक संगठनों, समुदायों और समूहों को इसके अधीन या वशवर्ती मानती है। केवल राज्य को एकमात्र अन्तिम एवं सर्वोपरि सत्ता मानने से इसे एकत्ववादी या अद्वैतवादी (Monistic) सिद्धान्त कहते हैं। इसके सर्वथा विपरीत प्रभुसत्तासम्पन्न तथा सर्वोच्च सत्ताधारी एक राज्य के स्थान पर अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र और राज्य के समकक्ष शक्ति तथा अधिकार रखने वाले अनेक समुदायों में विश्वास रखने वाला सिद्धान्त 'बहुलवाद' कहलाता है। इसके अनुसार मनुष्य अपने सामाजिक विकास के लिए अनेक प्रकार के धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा व्यवसायात्मक (Professional) संगठन, समुदाय अथवा संस्थाएँ बनाता है। इनमें से कोई भी संगठन दूसरे संगठन की अपेक्षा श्रेष्ठ नहीं है, सभी व्यक्ति के विकास के लिए समान रूप से आवश्यक होने के कारण बराबरी का दर्जा रखते हैं। राज्य को इन सब संगठनों से ऊँचा और श्रेष्ठ मानने की आवश्यकता नहीं है, इस प्रकार आदर्श समाज का संगठन राज्य की अध्यक्षता में एककेन्द्रीय या एकात्मक (Unitary) नहीं है, अपितु अनेक स्वतन्त्र और समकक्ष संगठनों को स्वीकार करने के कारण एकत्ववाद (Monism) का विरोधी बहुसमुदायवादी, बहुकेन्द्रीय तथा संघात्मक (Federal) है। यह राज्य की एकत्ववादी धारणा (Monistic concept) का उग्र विरोध करता है। अतः बहुलवाद को समझने के लिए पहले इसे समझना आवश्यक है।

राज्य का एकत्ववादी सिद्धान्त (Monistic Theory of the State)—राज्य को सर्वोच्च प्रभुसत्तासम्पन्न और सर्वोपरि संगठन मानने का एकत्ववादी सिद्धान्त मध्ययुग के अन्त में तथा आधुनिक युग के आरम्भ में फ्रांस, इंगलैण्ड, स्पेन आदि में राष्ट्रीय राज्यों के प्रादुर्भाव और विकास के साथ परिपुष्ट हुआ।[1] इससे पहले मध्ययुग में राज्य समाज का सर्वोपरि संगठन नहीं था, इसका अपने क्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों पर पूर्ण नियन्त्रण नहीं था, किन्तु यह रोमन चर्च, पवित्र रोमन

१. कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० ४९९-५००

सम्राट्, राजा, सामान्त, राजा से विशेषाधिकार प्राप्त करने वाले नगर (Chartered Town), श्रेणी (Guild) आदि अनेक समूहों में बँटा हुआ था। मनुष्य इन सबके प्रति निष्ठा रखते थे और इनके द्वारा बनाए नियमों का पालन करते थे। मध्ययुग के अन्त में नवीन आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों से तथा धर्मसुधार आन्दोलन से उपर्युक्त संस्थाओं के अधिकारों को चुनौती दी जाने लगी। इंगलैण्ड, फ्रांस आदि के राजा अपने प्रदेश में सर्वोच्च होने का तथा पोप की प्रभुता का विरोध करने के लिए नवीन राजनीतिक अधिकारों का दावा करने लगे, इनका समर्थन करने वाले विचारक नवीन युक्तियाँ और आधार प्रस्तुत करने लगे। इस समय यह कहा जाने लगा कि राजा को अपने देश में सब नागरिकों पर निर्बाध एवं निरंकुश (Absolute) अधिकार प्राप्त हैं, उसके अधिकार पोप के, सामन्तों के, स्वायत्तशासी नगरों के या श्रेणियों के अधिकारों से किसी भी प्रकार मर्यादित या सीमित नहीं होते हैं। १६वीं शताब्दी में फ्रांस में जीन बोदें (Jean Bodin) ने इस नवीन सिद्धान्त का सुस्पष्ट प्रतिपादन करते हुए कहा कि राजा को अपनी प्रजा पर निरंकुश अधिकार प्राप्त हैं, वह प्रभुसत्ता (Sovereignty) से सम्पन्न होता है, इस सत्ता का अर्थ है अपने नागरिकों तथा प्रजाजनों पर उच्चतम अधिकार; यह अधिकार किन्हीं भी कानूनों से सीमित या मर्यादित नहीं होता है। उसके मतानुसार, "प्रभुसत्ता का प्रधान लक्ष्य सब नागरिकों के लिए सामान्य रूप से कानून बनाने की शक्ति है।"[१] बोदें के बाद हॉब्स तथा रूसो ने प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का समर्थन किया, १६वीं शताब्दी में आस्टिन ने इसका चरम विकास किया (देखिए ऊपर पृ० ५७)। उसने विभिन्न प्रकार की विधियों—धार्मिक या दैवी कानून (Divine Law), नैतिकता तथा रिवाज (Custom), फैशन, सम्मान, औचित्य आदि के कानूनों का विस्तृत विश्लेषण करते हुए यह बताया कि एक स्वतन्त्र राजनीतिक राज्य के कानून प्रभुसत्तासम्पन्न, निश्चित एवं सर्वश्रेष्ठ मानव (a determinate human superior) से प्रादुर्भूत होने वाले आदेश होते हैं। ऐसे आदेश देने वाला मानव किसी अन्य व्यक्ति के अधीन नहीं होता है और उसके आदेशों का पालन अधिकांश व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। ऐसे प्रभुसत्तासम्पन्न व्यक्ति (Sovereign) का प्रत्येक आदेश कानून होता है, इसके अतिरिक्त कोई अन्य आदेश कानून नहीं हो सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक स्वतन्त्र राज्य में एक ऐसी प्रभुशक्तिसम्पन्न सत्ता होती है जो स्वयमेव सर्वोपरि और सर्वोच्च रहते हुए अपने प्रजाजनों के लिए कानून का निर्माण करती है, इसके अधिकार अमर्यादित और निरंकुश होते हैं। अतः इसे **निरंकुशवादी** (Absolutist) सिद्धान्त भी कहते हैं। १६वीं शताब्दी में राष्ट्रीयता का विकास होने के साथ-साथ इस सिद्धान्त को प्रबलता प्राप्त हुई।

इसके अनुसार यह माना जाने लगा कि प्रत्येक स्वतन्त्र देश में राज्य की एक ही सत्ता सर्वप्रधान, सर्वोपरि तथा सर्वोच्च होती है, इसमें निवास करने वाले अन्य सभी व्यक्ति तथा समुदाय इसके अधीन होते हैं। यह अपने क्षेत्र के अन्तर्गत सभी

१. हरिदत्त वेदालंकार—पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन, द्वितीय संस्करण, पृ० ३६२-६३

व्यक्तियों तथा समुदायों का नियन्त्रण करता है तथा इनके लिए नियम और कानून बनाता है। उसकी शक्ति एवं अधिकार असीमित, अमर्यादित और निरंकुश हैं, वह किसी भी समुदाय पर मनमाने ढंग से बन्धन लगा सकता है, उस समुदाय की समाप्ति भी कर सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज की समग्र शक्ति एक ही बिन्दु पर केन्द्रित होती है, यह बिन्दु राज्य है, इसे धर्म, अर्थ, व्यवसाय, समाज, संस्कृति, आचार-विचार आदि के सभी क्षेत्रों में सब प्रकार का नियन्त्रण करने का, सभी प्रकार के कार्य करने का तथा कानून बनाने का अधिकार है।

राज्य की सर्वोच्च सत्ता इसकी कई विशेषताओं से स्पष्ट है। इसकी **पहली** विशेषता यह है कि इसकी सदस्यता इसके अधिकार-क्षेत्र में सर्वव्यापी होती है, इसका यह अभिप्राय है कि एक राज्य की सीमाओं के भीतर रहने वाले सभी व्यक्ति अनिवार्य रूप से उस राज्य के नागरिक या सदस्य समझे जाते हैं। कोई भी व्यक्ति राज्य की सदस्यता से पृथक् नहीं हो सकता है। किन्तु राज्य के अतिरिक्त अन्य सभी समुदायों की सदस्यता ऐच्छिक होती है। प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य की **दूसरी** विशेषता यह है कि इसकी आज्ञाएँ और कानून न मानने पर व्यक्ति राज्य के न्यायालयों द्वारा दण्डित होता है, उसे प्राणदण्ड तक की सजा दी जा सकती है। किन्तु अन्य समुदाय नियम भंग करने वाले अपने सदस्यों को जेलखाने में भेजने या मृत्युदण्ड देने का सामर्थ्य नहीं रखते हैं। उनके पास अपने नियमों का पालन बाधित रूप से करवा सकने वाली शक्ति का अभाव होता है। वे राज्य की भाँति सब पर लागू होने वाले कानून नहीं बना सकते हैं। राज्य की **तीसरी** विशेषता बाह्य एवं वैदेशिक सम्बन्धों में सर्वथा स्वतन्त्र होना है, एक राज्य अन्य राज्यों के साथ मतभेद होने पर अपने विवाद को युद्ध द्वारा तय कर सकता है, किन्तु राज्य के भीतर रहने वाले अन्य समुदायों को ऐसा करने की स्वतन्त्रता नहीं होती है। यदि एक समुदाय का अन्य समुदायों से मतभेद और विवाद होता है, तो इसका निर्णय राज्य ही करता है और यह निर्णय अन्य समुदायों को मानना पड़ता है। इन सब विशेषताओं से राज्य की प्रभुसत्ता की सर्वोच्च सर्वमान्यता स्पष्ट सिद्ध होती है। यही 'राज्य का एकत्ववादी सिद्धान्त' (Monistic Theory of State) है।

बहुलवाद की उत्पत्ति के कारण—बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में बहुलवाद का प्रादुर्भाव कई कारणों से हुआ : **पहला** कारण हेगल के तथा राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों से राज्य को प्राप्त होने वाली असाधारण शक्ति के विरुद्ध होने वाली प्रतिक्रिया थी। पहले बताया जा चुका है (पृ० १४४) कि हेगल ने राज्य को भूमण्डल पर भगवान् का अवतरण बताते हुए उसे अमर्यादित अधिकार प्रदान किए थे। इनसे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का तथा अन्य अधिकारों का हनन होने लगा था। अतः व्यक्ति की स्वाधीनता के प्रबल समर्थकों ने इसका समूलोन्मूलन करने के लिए कटिबद्ध राज्य की सर्वोच्च सत्ता का प्रबल विरोध किया। यह स्मरण रखना चाहिए कि 'बहुलवाद' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग करने वाले हेरल्ड जोसेफ लास्की (Harold Joseph Laski) ने प्रधान रूप से व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए ही इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। **दूसरा** कारण लोकतन्त्र में प्रादेशिक प्रतिनिधित्व

(Territorial Representation) की व्यवस्था से असन्तोष तथा इसके स्थान पर व्यवसायात्मक या कार्यात्मक प्रतिनिधित्व (Functional Representation) की पद्धति को स्वीकार करने वाले श्रेणी समाजवादियों (Guild Socialists) तथा श्रमिक संघवादियों (Syndicalists) के सिद्धान्तों का प्रबल होना था। पहले (पृ० ४७९-८०) इनका प्रतिपादन करते हुए यह बताया जा चुका है कि ये सभी विचारधाराएँ राज्य का उग्र विरोध करने वाली थीं। कोल ने स्पष्ट रूप से राज्य को अन्य संघों की तुलना में बहुत गौण स्थान प्रदान किया था, वह राज्य को अन्य संघों की भाँति एक संघ मानता था। इसने बहुलवादी सिद्धान्त के पोषण में सहायता प्रदान की। **तीसरा** कारण १९वीं शताब्दी में राज्य के कार्यों में निरन्तर वृद्धि होना था। पहले राज्य का आदर्श कम-से-कम कार्य करना था, किन्तु औद्योगिक क्रान्ति की नवीन परिस्थितियों तथा नवीन दृष्टिकोण के कारण राज्य ने अपने प्रजाजनों के सर्वविध कल्याण के सभी कार्यों को करना आरम्भ किया। इससे राज्य को इतने अधिक कार्य करने पड़े कि उसकी क्षमता कम होने लगी, राज्य के कार्यों में तथा केन्द्रीकरण में वृद्धि का स्वाभाविक परिणाम नौकरशाही में वृद्धि होती है, क्योंकि राज्य अपने कार्य सरकारी कर्मचारी बढ़ाकर ही पूरा करता है, किन्तु सरकारी कार्यों का विस्तार होने के साथ इनमें शिथिलता और मन्द गति आने लगती है। राज्य में विभिन्न कार्यों के केन्द्रीकरण के दुष्परिणामों का वर्णन करते हुए वार्ड ने लिखा है—"इससे केन्द्र में पक्षाघात या लकवा (Apoplexy) तथा दूरवर्त्ती सिरों (Extremities) पर पाण्डु रोग (Anaemia) हो जाता है।" इस परिस्थिति में विकेन्द्रीकरण आवश्यक प्रतीत होने लगता है। बहुलवादी राज्य की वर्तमान बुराइयों को दूर करने के लिए राज्य के अतिरिक्त अन्य समुदायों को भी अधिकार देकर विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करना चाहते हैं। **चौथा** कारण जर्मन लेखक गियर्के, ब्रिटिश लेखक मेटलैण्ड और फिग्गिस (Figgis) का प्रभाव था। १९वीं शताब्दी के अन्त में ओटो वान गियर्के (Otto Von Gierke) ने तथा मेटलैण्ड ने मध्यकालीन समाज के सम्बन्ध में नवीन अन्वेषण करते हुए यह बताया कि उस समय समाज में राज्य के अतिरिक्त अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व और इच्छा रखने वाले अनेक समुदाय या संघ थे, प्रत्येक संघ अपने सदस्यों के लिए नियमों का निर्माण करता था, इनके सदस्य इन नियमों का पालन करते थे। इनका समाज में महत्वपूर्ण स्थान था। ये संघ मनुष्यों की वास्तविक आवश्यकताओं को पूरा करते थे और अपने क्षेत्र में सर्वोच्च तथा राज्य के हस्तक्षेप से सर्वथा मुक्त होते थे। डॉ० जे० एन० फिग्गिस (J. N. Figgis) ने चर्च की अथवा धार्मिक संघ की संस्था पर बल देते हुए इस मत का प्रतिपादन किया कि मनुष्य अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों और आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए अनेक प्रकार के संघ बनाता है, राज्य इन सब संघों से ऊपर तथा इन पर प्रभुत्व रखने वाली संस्था नहीं है, अपितु वह विभिन्न संघों और समूहों में समन्वय तथा सहयोग स्थापित करने वाली संस्था है। इन दोनों लेखकों ने राज्य की पूर्ण प्रभुसत्ता अस्वीकार करते हुए भी राज्य की उच्च कानूनी स्थिति मानी थी। किन्तु फ्रेंच विचारक लिओन ड्युग्वी (Leon Duguit) ने तथा डच विचारक क्रैब (Krabbe) ने इनसे आगे बढ़ते हुए

राज्य की प्रभुसत्ता (Sovereignty) को ही अस्वीकार किया। फ्रेंच विचारक ड्युग्वी (Duguit) ने चार्ल्स बेनोइस्ट की सम्मति उद्धृत करते हुए कहा कि, "प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य का विचार दकियानूसी (Antiquated) तथा रहस्यात्मक है,...यह निरर्थक तथा निरर्थक से भी अधिक गयाबीता (worse than useless) तथा खतरनाक है।" **पाँचवाँ** कारण अन्तर्राष्ट्रीयतावादियों द्वारा राज्य की प्रभुसत्ता पर प्रबल आक्रमण था। वे वर्तमान समय के भीषण युद्धों का मूल कारण राज्यों को उच्छृङ्खल तथा उन्मत्त बनाने वाली प्रभुसत्ता के विचार को समझते थे, क्योंकि यह उन्हें सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मनमाने कार्य करने की पूरी स्वाधीनता प्रदान करता था।

छठा कारण इस समय सं० रा० अमेरिका में विलियम जेम्स (William James), जान ड्यूई (John Dewy) आदि विचारकों द्वारा विकसित किया जाने वाला फलवाद, व्यवहारवाद या क्रियात्मक परिणामवाद (Pragmatism) का नवीन दर्शन था। इसके अनुसार सत्य की एकमात्र कसौटी उसकी व्यावहारिकता (Workability) या व्यावहारिक परिणाम या फल है; जो हितकर है, वह सत्य है। पुराने दार्शनिक सत्य को एक तथा निरपेक्ष (One and Absolute) सत्ता मानते थे। किन्तु व्यवहारवाद के अनुसार सत्य एक निरपेक्ष, पूर्ण तथा एक सत्ता नहीं है, यह परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न परिणाम उत्पन्न करने के कारण अनेक (Plural) रूपों वाला होता है। जिस परिस्थिति में जिस बात के मानने से काम चले, प्रस्तुत समस्या का हल हो, उस दशा में वही सत्य है। अतः सत्य निरपेक्ष (Absolute) न होकर सापेक्ष (Relative) होता है, एक न होकर अनेक (Plural) होता है।[1] यह दर्शन पारमार्थिक या शाश्वत सत्य में तथा तर्कप्रणाली में विश्वास नहीं रखता, अपितु क्रियात्मक परिणामों, फलों और प्रभावों को तथा अनुभव को अधिक महत्वपूर्ण मानता है। आज एक बात हमारे लिए सत्य है क्योंकि वह उपयोगी तथा हितकर है, कल इसके उपयोगी न रहने से वही बात मिथ्या हो सकती है। वस्तुतः यह दर्शन मनोविज्ञान की इस धारणा पर आश्रित है कि मनुष्यों को वही विश्वास सत्य प्रतीत होते हैं जो उनकी मनोभावनाओं के अनुकूल होते हैं। यही कारण है कि समाज में उचित-अनुचित की धारणाएँ बदलती रहती हैं, इसकी नैतिकता निरपेक्ष नहीं होती है।

लास्की ने अपने अध्यापन कार्य के आरम्भिक वर्ष (१९१४-२०) अमेरिका में बिताए थे। वह इस समय अमेरिका में प्रचलित व्यवहारवाद की विचारधारा से बहुत प्रभावित हुआ, उसने इसे राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में लागू करते हुए यह कहा कि राज्य समाज के अन्य संगठनों की भाँति मानव-जीवन को पूर्ण एवं सुखी बनाने में लगा हुआ है, यह इस कार्य के लिए बनाए जाने वाले अनेक संगठनों में से एक है और इसे अपनी उपयोगिता अपने व्यावहारिक कार्यों, परिणामों या फलों से सिद्ध करनी चाहिए, न कि अपने उद्देश्यों की घोषणा से। राज्य की उपयोगिता इस व्यवहार की

---

१. हैलोवैल—मेन करेण्ट्स इन पोलिटिकल थाट, पृ० ५४४। इसकी आलोचना के लिए देखिये, बर्ट्रेण्ड रसेल—हिस्टरी आफ वैस्टर्न फिलासफी, पृ० ८४५

कसौटी (pragmatic test) से आँकी जानी चाहिए कि यह अपने नागरिकों के लिए उत्तम जीवन की परिस्थितियों का निर्माण करने में कितना सफल सिद्ध हुआ है। फ्रेंच विचारक ड्युग्वी (Duguit) के शब्दों में राज्य की कसौटी जनता की सेवा या इसे लाभ पहुँचाना है।[1] **सातवाँ** कारण प्रथम महायुद्ध में राज्य को दिए जाने वाले अत्यधिक अधिकारों के विरुद्ध उत्पन्न होने वाली स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। इन सब कारणों से प्रोत्साहित होकर निम्नलिखित लेखकों ने इसका प्रतिपादन किया।

बहुलवादी विचारक—इस सिद्धान्त के प्रवर्तन और प्रचार में प्रधान भाग ब्रिटिश विचारकों ने लिया है। इनमें हेरल्ड जोसेफ लास्की (Laski), लिण्डसे (Lindse), अर्नेस्ट बार्कर (Ernest Barker), जी० डी० एच० कोल के नाम उल्लेखनीय हैं। फ्रांस में इस प्रकार के विचार ड्युग्वी (Duguit) के अतिरिक्त दुर्खीम तथा पाल बोंकौर (Paul Boncour) ने रखे। अमेरिका में मैकाइवर ने तथा विशेषतः कुमारी फोलेट (Miss Follet) ने इन विचारों का विस्तृत विवेचन किया। ये सब लेखक समाज में अन्य संगठनों और समूहों की तुलना में राज्य की सर्वोपरि सत्ता का, उसकी प्रधान विशेषता—प्रभुसत्ता (Sovereignty) का प्रबल खण्डन करते हैं। इन के मतानुसार आस्टिन द्वारा प्रतिपादित प्रभुसत्ता का सिद्धान्त (Doctrine of Legal Sovereignty) बड़ा हानिकारक और निरर्थक है। लिण्डसे ने लिखा है[2]—"यह बात स्पष्ट है कि प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य का सिद्धान्त खण्डित हो चुका है।" लास्की के मतानुसार, "यह बात असम्भव है कि राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में प्रभुसत्ता के कानूनी सिद्धान्त को वैध सिद्ध किया जा सके।" राजनीतिशास्त्र के लिए यह एक स्थायी लाभ होगा यदि इसमें से प्रभुसत्ता के सम्पूर्ण विचार को बिलकुल निकाल दिया जाए।" कोल का यह कहना था कि "सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता, सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापी तथा सार्वभौम राज्य की बात अब अतीत की वस्तु हो गई है।" क्रैब के मतानुसार, "प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को राजनीतिशास्त्र से हटा देना चाहिए।" अब यहाँ यह बताया जाएगा कि बहुलवादी विचारक विशेषतः लास्की किन कारणों के आधार पर राज्य की प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को आपत्तिजनक और हानिप्रद समझते हैं।

राज्य की प्रभुसत्ता पर बहुलवादी आक्षेप (Pluralistic attacks on the Sovereignty of State)—बहुलवादी विचारक कई कारणों के आधार पर आस्टिन द्वारा प्रतिपादित प्रभुसत्ता के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए अपने पक्ष का समर्थन करते हैं। उनकी प्रमुख आलोचनाएँ तथा आक्षेप निम्नलिखित हैं: **पहला** आक्षेप समाज की वर्तमान स्थिति और रचना के आधार पर किया जाता है। राज्य की प्रभुसत्ता के समर्थक समाज में राज्य के संगठन को सर्वोपरि मानते हुए उसमें एकत्व (Monism) या एकता (Unity) के सिद्धान्त को मानते हैं। उनका यह कहना है कि राज्य जैसा केवल एक ही संगठन है, किन्तु उसके सर्वथा विपरीत बहुलवादी दर्शन (Pluralistic Philosophy) से प्रभावित लास्की का यह मत है कि हम जिस प्रकार

१. हर्बर्ट डीन—दी पोलिटिकल आइडियाज़ आफ हेरल्ड जे० लास्की, पृ० २१
२. कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० ५०४

एकत्व रखने वाले विश्व (Universe) में न रहकर, नानात्व रखने वाले जगत् (Multiverse) में रहते हैं, उसी प्रकार हमारे समाज का संगठन भी एकात्मक (Unitary) न होकर संघीय (Federal) है। इसमें सर्वोपरि सत्ता रखने वाली एकमात्र संस्था राज्य नहीं है, अपितु जिस प्रकार एक संघ का निर्माण अनेक राज्यों से मिलकर होता है, उसी प्रकार हमारे समाज का निर्माण अनेक प्रकार के पारिवारिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, व्यावसायिक संगठनों से मिलकर होता है। अतः इस समाज का संगठन एकात्मक (Unitary) न होकर बहुलवादी (Pluralistic) है। एक राज्य में रहने वाले न केवल राज्य के नागरिक होते हैं, अपितु अपने परिवार के तथा अनेक धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संगठनों के सदस्य भी होते हैं। वे न केवल राज्य के प्रति निष्ठा और भक्ति रखते हैं, उसके आदेशों और नियमों का पालन करते हैं, अपितु इन समुदायों के प्रति भी भक्ति रखते हुए इनके नियमों का पालन करते हैं। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष का एक नागरिक अपने धर्म के प्रति निष्ठा रखता हुआ सनातन धर्म सभा, आर्य समाज या रोमन कैथोलिक चर्च आदि धार्मिक समुदायों का, कांग्रेस, जनसंघ, साम्यवादी दल आदि राजनीतिक संगठनों का सदस्य हो सकता है; अपने पेशे तथा कार्य के अनुसार विभिन्न व्यावसायात्मक संगठनों का का सदस्य हो सकता है। ये सब समुदाय अपने सदस्यों के लिए नियमों का निर्माण करते हैं और इनके सदस्य इन नियमों का पालन करते हैं।

यह स्पष्ट है कि आजकल केवल राज्य ही नियमों का निर्माण नहीं करता है, अपितु विभिन्न प्रकार के समुदाय भी नियमों को बनाते हैं और नागरिक राज्य के नियमों के पालन के साथ-साथ इनके नियमों का भी पालन करते हैं। कई बार इन समुदायों के तथा राज्य के नियमों में विरोध होता है, उस समय यह आवश्यक नहीं है कि राज्य के नियमों को माना जाए। इन संगठनों ने राज्य पर दबाव डालकर अपने अनेक नियम मनवा लिए हैं। उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड और फ्रांस में पहले मजदूरों को अपने श्रमिक संघ (Trade Unions) बनाने के अधिकार नहीं थे, हड़ताल करना अवैध कार्य था। किन्तु मजदूरों ने अपने संघों द्वारा आन्दोलन करके हड़ताल करने तथा श्रमिक संघ बनाने के अधिकार प्राप्त कर लिए। अन्य सुसंगठित समुदायों के सामने भी राज्य का यही हाल है। राज्य इन्हें बलपूर्वक नहीं दबा सकता है, इन पर अपने आदेश जबरदस्ती नहीं लागू कर सकता है। लास्की ने इसके कई बहुत सुन्दर उदाहरण दिए हैं। इंगलैण्ड में पार्लियामैण्ट सर्वोच्च प्रभुसत्तासम्पन्न संस्था समझी जाती है, किन्तु कोई भी ब्रिटिश संसद् इस बात का साहस नहीं कर सकती है कि वह रोमन कैथोलिकों को मताधिकार से वंचित कर दे या श्रमिक संघों को समाप्त करने का कानून बनाए या मजदूरों से वोट का अधिकार छीन ले। ब्रिटिश पार्लियामैण्ट ने यद्यपि आयर्लैण्ड को होमरूल देने का कानून १९१४ में पास किया, इसके अनुसार समूचे आयर्लैण्ड को होमरूल या स्वशासन मिलना था, किन्तु उसके उत्तरी भाग—अल्स्टर के राजभक्त ब्रिटिश नागरिकों ने इस कानून का उग्र विरोध किया, इस कारण ब्रिटिश सरकार इस कानून को क्रियान्वित न कर सकी। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि आस्टिन जैसे विधानशास्त्री राज्य की सर्वशक्तिशाली प्रभुसत्ता के

असीम, अमर्यादित और निरंकुश होने के सम्बन्ध में भले ही कुछ भी क्यों न कहें, वस्तुतः यह रूढ़ि, परम्परा तथा लोकमत से सदैव मर्यादित होती है।

उपर्युक्त विवेचन से कई बातें स्पष्ट होती हैं—(१) समाज का संगठन एकात्मक (Unitary) नहीं, अपितु बहुलवादी (Pluralistic) तथा संघात्मक (Federal) है। उसमें राज्य के अतिरिक्त अन्य अनेक धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, व्यवसायात्मक समूह हैं। (२) समाज के कानूनों तथा नियमों के निर्माण का स्रोत केवल राज्य नहीं, अपितु अन्य अनेक संगठन और समुदाय भी हैं। ये अपने सदस्यों के लिए विभिन्न प्रकार के नियम बनाते हैं। इन समुदायों के नियम-निर्माण के कार्य को राज्य स्वीकार करता है। (३) किसी राज्य के नागरिक केवल राज्य के प्रति ही निष्ठा या राजभक्ति नहीं रखते, वे इसके अतिरिक्त उन सभी समुदायों के प्रति निष्ठा रखते हैं जिनकी सदस्यता वे स्वीकार करते हैं। (४) राज्य की प्रभुसत्ता अमर्यादित और असीम नहीं है। ऊपर इसके कई उदाहरण दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त लास्की का यह भी मत है कि यदि उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता हो कि समाज की रचना एकात्मक (Unitary) न होकर संघात्मक (Federal) है तो इससे यह स्वाभाविक परिणाम निकलता है कि राज्य की सत्ता एवं अधिकार भी संघीय होना चाहिए अर्थात् जिस प्रकार एक राजनीतिक संघ (Federation) में शासन-सत्ता के सब अधिकार केन्द्रवर्ती संघीय राज्य में तथा उसका निर्माण करने वाले राज्यों में बँटे होते हैं, उसी प्रकार समाज में सब अधिकार राज्य में तथा अन्य समुदायों या संगठनों में बँटे होने चाहिएँ। इस दशा में राज्य की सर्वोपरि प्रभुसत्ता (Sovereignty) का विचार बिलकुल निरर्थक और बेकार हो जाता है।

प्रभुसत्ता पर **दूसरा** आक्षेप ऐतिहासिक दृष्टिकोण के आधार पर किया जाता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि आस्टिन के पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य की सत्ता कभी नहीं रही। प्राचीन काल में भारत में अथवा यूनान में कोई ऐसा राज्य नहीं था। अरस्तू ने यद्यपि राज्य को सब सामाजिक संगठनों में सर्वोच्च बताया था, तथापि उसे कानून से ऊँचा नहीं समझा जाता था। सामान्यतः परम्परागत नियमों, रूढ़ियों तथा दैवी आदेशों को राजकीय नियमों से अधिक प्रबल समझा जाता था। प्राचीन भारत में धर्म का स्थान राजा की आज्ञा से ऊपर था। कौटिल्य के मतानुसार राजा की आज्ञा धर्मानुकूल होनी चाहिए, राजा धर्म से ऊपर नहीं, किन्तु धर्म के अधीन है।[1] मध्यकालीन राज्यों पर कई प्रकार के धार्मिक एवं सामाजिक बन्धन थे, योरोप में उस समय प्रभुसत्ता रोमन कैथोलिक चर्च, पवित्र रोमन सम्राट्, राजा, औद्योगिक और व्यापारिक श्रेणियों तथा राजाधिकारप्राप्त नगरों में बँटी हुई थी। प्रभुसत्ता के विचार का प्रादुर्भाव राष्ट्रीय राज्यों के विकास के साथ हुआ है, यह 'राजाओं के दैवी अधिकार' के सिद्धान्त (Divine Right of Kings) के साथ उत्पन्न होने वाले निरंकुश शासन का परिणाम था। प्रभुसत्ता का सिद्धान्त राज्य के लिए आवश्यक नहीं है, अपितु कई कारणों से व्यक्ति के विकास के लिए घातक है, अतः इस सिद्धान्त को

---

१. हरिदत्त वेदालंकार—पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन, पृ० ३३-३४

समाप्त करके वर्तमान काल के राज्यों को प्राचीन एवं मध्यकाल के राज्यों की भाँति प्रभुसत्ता से शून्य बना देना समुचित प्रतीत होता है।

तीसरा आक्षेप इस सिद्धान्त का व्यक्ति के विकास में बाधक होना है। लास्की मिल के समान व्यक्ति की स्वतन्त्रता का परम उपासक था, उसके मतानुसार राज्य का उद्देश्य व्यक्ति को अपने सर्वांगीण विकास के लिए तथा आध्यात्मिक, भौतिक और नैतिक प्रगति के लिए सभी आवश्यक सुविधाएँ प्रदान करना है। उसके कथनानुसार मानव-जीवन का चरम लक्ष्य व्यक्ति का विकास है, अतः व्यक्ति प्रधान तथा साध्य है; राज्य इसकी तुलना में गौण स्थान रखने वाला एवं विकास का साधन मात्र है। उसी राज्य को प्रभुसत्तासम्पन्न माना जा सकता है जो व्यक्ति की प्रगति के सर्वोच्च ध्येय में सहयोग प्रदान करे। वह राज्य को व्यक्ति की प्रगति तथा आत्म-सन्तुष्टि का साधन मानता है, व्यक्ति का विकास और सन्तुष्टि बहुमुखी होती है। वह राज्य जैसी किसी अकेली संस्था से पूर्ण नहीं हो सकती है, इसके लिए मनुष्य नाना प्रकार के धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और व्यवसायात्मक संगठन तथा समुदाय बनाता है। ये सब मनुष्य के विकास के लिए राज्य की भाँति आवश्यक हैं और उसके समकक्ष हैं। इन सब संस्थाओं के कार्यों में और नियमों में सामंजस्य स्थापित करना लास्की के मतानुसार व्यक्ति का ही कार्य है। दो या अधिक समुदायों में विरोध होने की दशा में प्रत्येक व्यक्ति स्वयमेव अपने लिए अपनी विवेक-बुद्धि से यह निर्णय करेगा कि वह दो समुदायों के आदेशों में से किसके आदेश का पालन करे, यह निर्णय इस बात पर आधारित होगा कि कौनसा आदेश उसके व्यक्तित्व के निर्माण में अधिक सहायक है। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाए तो यह ज्ञात होगा कि प्रभुसत्ता न तो राज्य में निहित है, न किसी अन्य समुदाय में; यह वस्तुतः मनुष्य के विवेकशील अन्तःकरण (Conscience) में ही निहित है।

लास्की व्यक्ति के नैतिक विकास का आधार होने के कारण अन्तःकरण को असाधारण महत्व देता है। उसके मतानुसार हमें राज्य के केवल उन्हीं आदेशों का पालन करना चाहिए जिन्हें हमारा अन्तःकरण हमारे विकास के लिए उचित एवं आवश्यक समझता है। उसके शब्दों में, "मैं केवल उसी राज्य के प्रति राजभक्ति और निष्ठा रखता हूँ (उसी के आदेशों का पालन करता हूँ), जिस राज्य में मेरा नैतिक विकास पर्याप्त रूप से होता है।...हमारा पहला कर्त्तव्य अपने अन्तःकरण के प्रति सच्चा रहना है।"[1] राज्य मनुष्य द्वारा उसके विकास के लिए बनाए गए अनेक समुदायों में से एक है। ये सब समुदाय मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक हैं, इसलिए इनमें से कोई भी एक समुदाय मेरे समग्र व्यक्तित्व के विकास के लिए कानून या नियम नहीं बना सकता है। अतः राज्य चर्च, श्रमिक संघ, राजनीतिक दलों, व्यावसायिक संगठनों की भाँति केवल एक समुदाय मात्र है, उसे मेरी सम्पूर्ण निष्ठा पाने का कोई अधिकार नहीं है। यदि किसी विषय में विभिन्न समुदायों में

---

१. लास्की – अथारिटी इन दी माडर्न स्टेट, पृ० ६५

इस बात में संघर्ष होता है कि वे मेरी निष्ठा (Allegiance) प्राप्त करते हुए मुझसे अपने आदेशों का पालन कराएँ तो राज्य को मेरी निष्ठा पाने का कोई विशेष अधिकार नहीं है। उसे इसके लिए मुझ पर कोई विशेष सत्ता प्राप्त नहीं है कि वह मुझे अपने आदेश का पालन करने के लिए बाधित कर सके। मेरे अन्तःकरण को इस बात की पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त है कि वह अपने नैतिक विकास की दृष्टि से राज्य के आदेश का पालन करते हुए अन्य समुदायों के आदेशों का पालन करे। इस विषय में लास्की जॉन लाक और जॉन स्टुअर्ट मिल जैसे ब्रिटिश विचारकों की 'व्यक्ति की स्वतन्त्रता' को असाधारण महत्व देने वाली परम्परा का अनुसरण करता है और अपने अन्तःकरण के प्रतिकूल और नैतिक विकास में बाधक होने वाले राज्य के आदेश की अवहेलना करने का अधिकार व्यक्ति को प्रदान करता है। ऐसी परिस्थिति में राज्य की आज्ञाओं का पालन मनुष्यों की इच्छा पर निर्भर हो जाएगा, इससे समाज में सुव्यवस्था और अनुशासन नहीं रहेगा, अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। इसे रोकने के लिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कुछ प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है। किन्तु लास्की ने ऐसा कोई प्रतिबन्ध व्यक्ति पर लगाना स्वीकार नहीं किया है, वह समाज की सुव्यवस्था से व्यक्ति के नैतिक विकास एवं प्रगति को अधिक महत्व देता है। इस प्रकार राज्य के नियमों का पालन करना व्यक्ति की इच्छा पर छोड़ते हुए उसने सामाजिक अराजकता को अधिक श्रेयस्कर समझा है।

चौथा आक्षेप औचित्य के आधार पर किया जाता है। बहुलवादियों का यह मत है कि इस समय राज्य के प्रभुसत्तासम्पन्न होने से इसे अन्य समुदायों पर तथा व्यक्तियों पर अपरिमित, अमर्यादित और असीम अधिकार प्राप्त हैं, यह सर्वथा अनुचित है; क्योंकि यदि हम समुदायों की वास्तविक स्थिति पर विचार करें तो हमें यह प्रतीत होगा कि ऐसा कोई कारण नहीं है जिसके आधार पर राज्य को ऐसे अपरिमित अधिकार देना न्यायोचित सिद्ध किया जा सके। राज्य इन पर उसी दशा में ऐसे अधिकार रख सकता था जब उसने उन्हें जन्म दिया होता अथवा अपने कार्यों की दृष्टि से वह इनसे उत्कृष्ट या श्रेष्ठ होता। किन्तु इन दोनों में से कोई भी बात ठीक नहीं है। ये समुदाय राज्य द्वारा नहीं बनाए गए हैं, इनमें से परिवार, धार्मिक समुदाय, जात-बिरादरी आदि राज्य से बहुत पहले सामाजिक आवश्यकताओं के कारण स्वतन्त्र रूप से प्रादुर्भूत हुए हैं। इनके जन्म तथा विकास में राज्य ने कोई भाग नहीं लिया है। श्रमिक संघों (Trade Unions) तथा ब्रिटिश श्रमिक समुदायों को विभिन्न समयों पर राज्य ने कुचलने तथा नेस्तनाबूद करने का पूरा प्रयत्न किया है। किन्तु राज्य का प्रबल विरोध होते हुए भी उन्होंने अपनी सत्ता और शक्ति बनाए रखी है। अतः यह स्पष्ट है कि ऐसे समुदायों को बनाने का श्रेय राज्य को नहीं है और इस कारण इनको राज्य के अधीन मानना ठीक नहीं है। इसी प्रकार कार्यों की दृष्टि से भी राज्य अधिक महत्वपूर्ण और ये समुदाय गौण स्थान रखने वाले नहीं हैं। यदि राज्य देश में शान्ति और न्याय-व्यवस्था बनाए रखने का, विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा करने का, यातायात, शिक्षा और स्वास्थ्य सम्बन्धी व्यवस्थाएँ प्रस्तुत करने का कार्य करता है तो परिवार सन्तानों का पालन-पोषण करता है, धार्मिक समुदाय नागरिकों की आध्यात्मिक

आवश्यकताओं को पूर्ण करते हुए उनके शाश्वत कल्याण का पथ प्रशस्त करता है, व्यावसायिक और औद्योगिक संगठन उनके आर्थिक हितों की रक्षा करते हैं। इस प्रकार समुदायों के कार्य राज्य के कार्यों से कम महत्व नहीं रखते हैं। वस्तुतः मनुष्य-जाति में अब तक विद्या, कला, विज्ञान, सभ्यता, संस्कृति की जो अभूतपूर्व उन्नति हुई है उसका अधिकांश श्रेय राज्य से भिन्न अन्य समुदायों को है। राज्य प्रायः नवीन आविष्कारों का तथा प्रगति का विरोधी रहा है। इस परिस्थिति में उसे प्रभुसत्ता देकर अन्य समुदायों पर नियन्त्रण प्रदान करना तथा उनका भाग्यविधाता बना देना नितान्त अनुचित है। इससे प्रगति और उन्नति के सब द्वार बन्द हो जाएँगे, नागरिक जीवन का वैविध्य और समृद्धि लुप्त हो जाएगी; अतः राज्य के अतिरिक्त अन्य सभी समुदायों को अपने क्षेत्र में स्वाधीन और राज्य के समकक्ष होना चाहिए। राज्य को इन पर सर्वोच्च एवं प्रभुसत्तासम्पन्न संगठन बनाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

पाँचवाँ आक्षेप लोकतन्त्र के आधार पर किया जाता है। सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य में नहीं, किन्तु बहुलवादी व्यवस्था में ही सम्भव है। वर्तमान लोकतन्त्र में शासन पर जनता का कोई वास्तविक नियन्त्रण नहीं है। इसमें चार-पाँच वर्ष बाद आम निर्वाचन होते हैं, इस समय जनता को वोट देने का अधिकार मिलता है। इसके बाद पाँच वर्ष तक जनता को शासन में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने का कोई अधिकार नहीं है। इस समय जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों में बहुमत रखने वाली राजनीतिक पार्टी अपना मन्त्रिमण्डल बनाकर शासन करती है। यह शासन सरकारी कर्मचारियों की एक विशाल नौकरशाही (Bureaucracy) द्वारा किया जाता है। इसके अनुसार सब व्यक्तियों को राज्य के आदेशों के पालन के नाम पर इस नौकरशाही की दासता करनी पड़ती है। यह व्यक्ति के विकास में बाधक है और लोकतन्त्र का उपहास है। सच्चा लोकतन्त्र तो व्यक्ति के विकास में सहायक होता है तथा इसका अभिप्राय व्यक्ति द्वारा शासन के **सभी कार्यों में सक्रिय भाग लेना** है। यह केवल बहुलवादी व्यवस्था में ही सम्भव है। मनुष्य में राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि विविध प्रकार की इच्छाएँ और आकांक्षाएँ होती हैं। राज्य में उसकी केवल राजनीतिक इच्छाओं की सन्तुष्टि हो सकती है, अन्य इच्छाओं की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार के समुदायों का अस्तित्व अनिवार्य है। इनके द्वारा जनता विभिन्न विषयों पर विचार-विमर्श करके नियम बनाकर इन विषयों से सम्बद्ध अपनी इच्छाएँ पूरी कर सकती है। विभिन्न समुदायों से परामर्श करके जब राज्य अपने कानून बनाएगा तो ये जनता की वास्तविक इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करेंगे तथा जनता की आकांक्षाओं का वास्तविक प्रतिबिम्ब होंगे। अतः वास्तविक लोकतन्त्र की स्थापना केवल ऐसे बहुलवादी (Pluralistic) समाज में ही सम्भव है जिसमें सर्वोच्च प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य की संस्था न रहे।

राज्य की प्रभुसत्ता पर **छठा** आक्षेप कानून के स्वरूप के आधार पर किया जाता है। आस्टिन ने राज्य को कानून का एकमात्र मूल स्रोत माना था और यह कहा था कि कानून प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य का आदेश मात्र होता है। किन्तु सर हेनरी मेन, द्युग्वी (Duguit) तथा क्रैब (Krabbe) आदि ने कानून के स्वरूप की गम्भीर मीमांसा

करते हुए ग्रास्टिन की धारणा को सर्वथा निराधार बताया है। इनके मतानुसार राज्य न तो कानूनों का निर्माता है और न इनसे ऊपर है। सर हेनरी मेन के मतानुसार कानून को किसी भी प्रकार सर्वोच्च प्रभुसत्ता का आदेश नहीं माना जा सकता है। प्रत्येक समाज में अनादि काल से ऐसी प्रथाएँ, परम्पराएँ, रीति-रिवाज चले आ रहे हैं जो किसी प्रभुसत्तासम्पन्न व्यक्ति द्वारा प्रचारित किए गए आदेश नहीं हैं; ये नियम हमारे समाज में प्रचलित धार्मिक और नैतिक विश्वासों के प्रतिबिम्ब होते हैं। कोई भी शासक इनके परिवर्तन में तब तक समर्थ नहीं होता जब तक जनता की सत्य, न्याय, औचित्य, नैतिकता और धर्मविषयक भावनाओं में परिवर्तन न हो। प्राचीन काल के समाजों के लिए यह उक्ति सत्य है कि उनमें राजा का प्रभुत्व नहीं था, अपितु प्रथा और परम्परा का शासन था। राजा इन प्रथाओं और परम्पराओं की अवहेलना नहीं कर सकता था। अतः हेनरी मेन के शब्दों में, "कानून किसी निरंकुश कानून-निर्माता की इच्छा का परिणाम या उसका आदेश नहीं है, अपितु विविध प्रगतिशील मन्दगामी तथा दीर्घकालीन शक्तियों का परिणाम है।" आस्टिन कानून को केवल प्रभुसत्ता का आदेश मानकर उसके शक्ति के तत्व पर अनावश्यक बल देता है, किन्तु कानून का पालन बहुत बड़ी मात्रा में दण्ड के भय से नहीं, अपितु अभ्यास और आदत से किया जाता है।

फ्रेंच विधिशास्त्री **ड्युग्वी** (Duguit) ने कानून को हमारे सामाजिक जीवन का परिणाम माना है। हम कानून का पालन दण्ड के भय से नहीं, अपितु इसलिए करते हैं कि वह समाज के हित में है, इसके बिना सामाजिक व्यवस्था का कायम रह सकना सम्भव नहीं है। उसके मतानुसार कानूनों का मूल स्रोत सामाजिक सुदृढ़ता (Social Solidarity) की भावना है। यह सुदृढ़ता जनता के विश्वासों, रीति-रिवाजों, औचित्य भावना तथा सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं से मिलकर बनी होती है। कानून वे नियम हैं जिनके आधार पर सामाजिक दृढ़ता बनी रह सकती है, अतः कानून का मूल स्रोत सामाजिक दृढ़ता को उत्पन्न करने वाले जनता के विश्वास, औचित्य बुद्धि और सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं में है, राज्य के आदेशों में नहीं है। जिस प्रकार वैज्ञानिक प्राकृतिक नियमों की खोज करके उनकी घोषणा कर देता है उसी प्रकार राज्य सामाजिक सुदृढ़ता के लिए आवश्यक नियमों को ढूँढ़कर कानून के रूप में उनकी घोषणा कर देता है। इसलिए राज्य कानूनों का निर्माता नहीं, अपितु उनका अन्वेषक या घोषणा करने वाला ही है। डच विद्वान् **क्रैब** (Krabbe) के मतानुसार कोई नियम कानून के रूप में इस कारण मान्य नहीं होता कि वह राज्य का आदेश है या राज्य ने उसे बनाया है, अपितु वह इसलिए मान्य होता है कि समाज में न्यायोचित समझा जाता है, उदाहरणार्थ, चोरी करना या नरहत्या इसलिए अपराध नहीं है कि राज्य ने उसे अपने आदेश द्वारा ऐसा बना दिया है, अपितु इसलिए अपराध है कि समाज की नैतिक बुद्धि इसे अनुचित और गर्हित समझती है। अतः राज्य को कानून का स्रष्टा और निर्माता समझना सर्वथा भ्रान्त कल्पना है और इसके आधार पर राज्य को प्रभुसत्तासम्पन्न मानना यथार्थ एवं सत्य नहीं है।

सातवाँ आक्षेप अन्तर्राष्ट्रीयता के आधार पर किया जाता है। लास्की ने प्रभुसत्तासम्पन्न राष्ट्रीय राज्यों (National Sovereign State) के विचार को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और मानव-जाति के कल्याण के लिए महान् संकट माना है तथा इस आधार पर इस विचार की उग्र आलोचना की है। इसने मानव-जाति को तथा विश्व को कृत्रिम रूप से कुछ थोड़े से राष्ट्रीय राज्यों में बाँट दिया है, इनमें से प्रत्येक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में तथा दूसरे देशों के साथ व्यवहार में अपने को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र समझता है, इससे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई है, राष्ट्रीय संघर्ष उत्पन्न हो गए हैं। इसने विभिन्न राष्ट्रों में वैमनस्य और तनाव की भावना उत्पन्न कर दी है। इस दूषित सिद्धान्त के साथ राष्ट्रों के चिपके रहने के कारण राष्ट्रसंघ (League of Nations) विश्वशान्ति स्थापित करने के प्रयत्नों में सफल नहीं हो सका और संयुक्त राष्ट्रसंघ (United Nations) विफलता के पथ पर अग्रसर हो रहा है। अतः प्रभुसत्ता का विचार जितनी जल्दी लुप्त हो जाए, मानव-जाति का उतना ही अधिक कल्याण होगा।

लास्की ने इस समस्या का प्रतिपादन करते हुए यह लिखा है कि "एक निरंकुश, स्वतन्त्र और प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य अपने सदस्यों से इस बात की माँग करता है कि वे उसके प्रति निष्ठा रखें, वह अपनी पूरी शक्ति का प्रयोग करते हुए नागरिकों से अपने आदेशों का पालन करवाता है। यह बात मानव-जाति के हितों के प्रतिकूल है।...इस समय विश्व में सब देशों की एक-दूसरे पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति (World interdependence) बढ़ रही है। सब व्यक्तियों की वास्तविक निष्ठा विश्व के प्रति होनी चाहिए। हमारा वास्तविक कर्त्तव्य सब व्यक्तियों के समग्र हितों का ध्यान रखना होना चाहिए।...हमारी समस्या यह नहीं है कि हम इंगलैण्ड के हित का मानव-जाति के हित के साथ समन्वय करें, अपितु हमारी समस्या इस रीति से कार्य करना है कि इंगलैण्ड की नीति मानव-जाति का पोषण और वृद्धि करने वाली हो।"[1] अणुबमों की विभीषिका ने प्रभुसत्ता के खतरों को बहुत बढ़ा दिया है। कोई भी प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य मनमाने ढंग से अणुबमों का प्रयोग करके मानव-जाति के तथा वर्तमान सभ्यता के विध्वंस को सम्भव बना सकता है, अतः इस समय अणुआयुधों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाने के और निरस्त्रीकरण के प्रयत्न हो रहे हैं, किन्तु इनकी सफलता में सबसे बड़ी बाधा यह है कि राज्य अपनी प्रभुसत्ता पर कोई भी प्रतिबन्ध लगाने के लिए तैयार नहीं हैं। राज्य भले ही इस पर प्रतिबन्ध लगाने का विरोध करें, किन्तु मानव-जाति को विध्वंस एवं अराजकता से बचाने के लिए यह आवश्यक है कि इसे उत्पन्न करने वाले प्रभुसत्ता के विचार को कम-से-कम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में तिलांजलि दी जाए, सब व्यक्ति अपने को किसी विशेष राष्ट्र का नागरिक न समझकर उसके प्रति निष्ठा रखने का संकीर्ण दृष्टिकोण न रखें, अपितु अपने को विश्व का नागरिक समझें तथा सम्पूर्ण मानव-जाति के कल्याण के प्रति अपनी निष्ठा रखें। यह स्थिति राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के विचार का परित्याग करने से ही उत्पन्न होगी।

---

१. लास्की—ग्रामर आफ पालिटिक्स, पृ० ६४-६५

अतः अन्तर्राष्ट्रीय हित के और मानवीयता के दृष्टिकोण से इस विचार की अन्त्येष्टि कर देनी चाहिए।

बहुलवाद में राज्य की स्थिति और स्वरूप—बहुलवादी विचारकों में से अराजकतावादी (Anarchists) तथा श्रमिक संघवादी (Syndicalists) और श्रेणी समाजवादी (Guild Socialists) राज्य के घोर विरोधी हैं, ये उसका समूलोन्मूलन करना चाहते हैं। किन्तु अधिकांश बहुलवादियों का ऐसा मत नहीं है। वे राज्य की सत्ता को बनाए रखना चाहते हैं, किन्तु उसे सर्वोच्च अथवा सर्वोपरि प्रभुसत्ता (Sovereignty) नहीं देना चाहते हैं। वे राज्य के नहीं, अपितु उसकी प्रभुसत्ता के उग्र विरोधी हैं, क्रैब जैसे विचारक प्रभुसत्ता के विचार को ही राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र से बाहर निकाल देना चाहते हैं। बहुलवादियों का यह मत है कि राज्य तो बना रहना चाहिए, किन्तु उसके पास प्रभुसत्ता नहीं रहनी चाहिए, उसके स्वरूप में ऐसा मौलिक अन्तर आना चाहिए कि वह सर्वोच्च संगठन न रहकर अन्य समुदायों के समकक्ष हो, वह 'समुदायों का समुदाय' (Association of Associations) होना चाहिए। **बार्कर** के मतानुसार राज्य तथा समाज का संगठन संघीय (Federal) होना चाहिए। इसका यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार संघीय राज्य में केन्द्रीय सरकार के अधिकार मर्यादित होते हैं और संघ का निर्माण करने वाली इकाइयों या रियासतों को अपने आन्तरिक मामलों में पूरी स्वतन्त्रता होती है, इसी प्रकार समाज के संगठन में राज्य के अधिकार सीमित होने चाहिएँ तथा विभिन्न समुदायों को अपने आन्तरिक क्षेत्रों में पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए।

वस्तुतः प्रायः सभी बहुलवादी विचारक राज्य की सत्ता को अनिवार्य मानते हैं और उसे कई प्रकार के महत्वपूर्ण कार्य सौंपते हैं। ये कार्य दो वर्गों में बाँटे जा सकते हैं: **पहले** वर्ग में विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा, आन्तरिक शान्ति की व्यवस्था, न्याय-प्रबन्ध और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध हैं; ये राज्य के अपने विशिष्ट कार्य हैं, इन कार्यों की दृष्टि से राज्य अन्य समुदायों के समकक्ष होगा। **दूसरे** वर्ग में आने वाले राज्य के कार्य विभिन्न समुदायों में विवाद उत्पन्न होने पर इनका निर्णय करना तथा इनमें समन्वय और सामंजस्य स्थापित करना है। समाज की एकता को बनाए रखने की दृष्टि से यह कार्य बड़ा महत्वपूर्ण है। बार्कर ने इसे राज्य का सर्वश्रेष्ठ कार्य माना है तथा इसके आधार पर राज्य को सर्वोच्च स्थान दिया है। यह कार्य ऐसा है जो एक मात्र राज्य ही कर सकता है और इस कारण उसकी स्थिति अन्य समुदायों की अपेक्षा अधिक ऊँची हो जाती है। गियर्के के मत में राज्य को समाज के सामान्य हितों की रक्षा का सर्वोपरि अधिकार प्राप्त रहेगा। फिग्गिस राज्य का एक बड़ा कार्य विभिन्न समुदायों में सामंजस्य स्थापित करना मानता है। फ्रेंच विचारक दुर्खीम (Durkheim) तथा पाल बोंकौर (Paul Boncour) के मत में राज्य का कार्य विभिन्न समुदायों की नीति का निर्धारण, इनमें समन्वय तथा सामंजस्य स्थापित करना, समाज की एकता को बनाए रखना और किसी भी समुदाय को अन्य समुदायों पर तथा अपने ही समुदाय के सदस्यों पर अत्याचार करने से रोकना है। बहुलवाद का उग्रतम समर्थक लास्की राज्य को न केवल विभिन्न समुदायों में समन्वय स्थापित

करने का कार्य देता है, अपितु उसे राष्ट्रीय उद्योगों के संचालन तथा व्यवस्था का महत्वपूर्ण कार्य भी सौंपता है। बहुलवादी की स्थिति एकत्ववादी (Monist) और अराजकतावादी (Anarchist) के बीच की है। पहला राज्य को प्रभुसत्तासम्पन्न एवं सर्वशक्तिशाली बनाना चाहता है, दूसरा उसकी समाप्ति करना चाहता है। बहुलवादी उसकी सत्ता को बनाए रखते हुए उसे प्रभुसत्ता के विशेषाधिकार से वंचित करना चाहता है।

बहुलवाद की आलोचना—इस विचारधारा का **पहला** गम्भीर दोष समाज में अराजकता को निमन्त्रण देना है। इस समय राज्य अपनी प्रभुसत्ता और विशेष स्थिति के कारण शक्ति को महत्व देने वाले समाज में शान्ति बनाए हुए है। यदि उसे राज्य से छीन लिया जाए और व्यक्ति को राज्य के आदेशों का पालन करने में पूरी स्वाधीनता दे दी जाए तो सब व्यक्ति मनमाने कार्य करने लगेंगे, चारों ओर मध्यकाल जैसी अशान्ति एवं अराजकता मच जाएगी। विभिन्न समुदायों में झगड़े बढ़ने से गृहयुद्ध की वैसी स्थिति पैदा हो जाएगी जैसी मध्यकालीन इतिहास में दिखाई देती है। उस समय सत्ता विकेन्द्रित थी, अतः अशान्ति, अव्यवस्था तथा कलह का साम्राज्य था। उदाहरणार्थ, ब्रिटेन में १७वीं शताब्दी में स्टुअर्ट वंश के समय सत्ता विकेन्द्रित हुई थी, अतः इंगलैण्ड गृहयुद्ध का अखाड़ा बन गया। किन्तु पहले (पृ० ५२४) यह बताया जा चुका है कि लास्की जैसे उग्र बहुलवादी विचारक मनुष्य के नैतिक विकास को अव्यवस्था और अराजकता से अधिक महत्व देते हैं। उसे स्टुअर्ट काल की अशान्ति, राज्य की प्रभुसत्ता के समर्थन के आधार पर पूँजीवाद के शोषण के लिए स्थापित की जाने वाली शान्ति से अधिक अच्छी और वांछनीय प्रतीत होती है। **दूसरा** दोष इसमें एक भीषण अन्तर्विरोध का पाया जाना है। बहुलवादी अराजकता की उपर्युक्त कठिनाई एवं आपत्ति को दूर करने के लिए यह कहते हैं कि राज्यों को विभिन्न समुदायों के वादविवादों का निर्णय करने के लिए और इनमें सामंजस्य स्थापित करने तथा सामान्य नीति का निर्धारण करने के कार्य एवं आवश्यक अधिकार दिए जाने चाहिएँ। यदि राज्य को ये अधिकार मिल जाएँ तो वह स्वतः अन्य समुदायों से ऊँचा उठ जाएगा, अपने निर्णयों को मनवा सकने के लिए उसे प्रभुसत्ता प्राप्त हो जाएगी। इस प्रकार बहुलवादी एक बड़े आत्म-विरोध में फँस जाते हैं, एक ओर तो वे राज्य को अन्य समुदायों के समकक्ष मानते हैं, उसे प्रभुसत्ता से वंचित करते हैं; दूसरी ओर वे राज्य को विभिन्न समुदायों से ऊपर तथा उनके विवादों का निर्णय कराने के लिए आवश्यक प्रभुशक्ति प्रदान करते हैं। यह बड़ा मनोरंजक अन्तर्विरोध है। अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए वे बड़े जोश के साथ प्रभुसत्ता का विरोध करते हैं और उसे राजनीति की शब्दावली तक से भी निकाल देना चाहते हैं, दूसरी ओर जब वे राज्य के वास्तविक संगठन का वर्णन करते हैं तो उन्हें विवश होकर राज्य की सर्वोपरि स्थिति और प्रभुसत्ता को स्वीकार करना पड़ता है।[1] लास्की जैसा उग्र बहुलवादी भी इस दोष से नहीं बच सका है। सिद्धान्ततः उसने राज्य की

---

१. कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट।

प्रभुसत्ता का जितना प्रबल खण्डन किया है, समाज के संस्थात्मक संगठन के वर्णन में उतनी ही प्रबलता से राज्य को व्यापक अधिकार प्रदान किए हैं।

तीसरा दोष इनका कानूनविषयक भ्रान्तिपूर्ण दृष्टिकोण है। बहुलवादी विचारक **ड्युग्वी** (Duguit) तथा **क्रैब** (Krabbe) आस्टिन के इस मत का खण्डन करते हैं कि कानून प्रभुसत्तासम्पन्न व्यक्ति का आदेश मात्र होता है। ड्युग्वी के मत में कानून प्रधान रूप से समाज के मनोविज्ञान पर, उसकी भौतिक, मानसिक और नैतिक आवश्यकताओं पर अवलम्बित होता है, समाज की सुदृढ़ता को बनाए रखने वाले नियमों को ही कानून बनाया जाता है। डच विधानशास्त्री क्रैब के मतानुसार कानून का एकमात्र स्रोत औचित्य की बुद्धि (Feeling or Sense of Right) है। इसी पर सब कानून आधारित होते हैं। किसी समाज में कभी कोई ऐसा कानून नहीं बन सकता जिसे वहाँ के अधिकांश व्यक्ति अनुचित समझते हों। उदाहरणार्थ, चोरी या हत्या को वैध बनाने वाला कानून इसलिए नहीं बन सकता क्योंकि इसे समाज के लगभग सभी व्यक्ति ठीक नहीं समझते हैं। अतः कानून सामाजिक सदृढ़ता अथवा औचित्य की बुद्धि से उत्पन्न होता है, इसे किसी राजा या पार्लियामैण्ट के आदेश से नहीं बनाया जाता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ड्युग्वी तथा क्रैब के उपर्युक्त मतों में बहुत बड़ी सचाई है। किन्तु यह पूर्ण रूप से सत्य नहीं है। प्रत्येक कानून के दो पक्ष होते हैं—**पहला** पक्ष तो उसके विषय (Content) या मूल वस्तु से सम्बद्ध होता है और **दूसरा** पक्ष उसके कानून की विधि या पद्धति (Form) से सम्बद्ध होता है। उदाहरणार्थ, चोरी के कानून को लीजिए। इसका विषय तो चोरी को अपराध बनाना है तथा इस की पद्धति इसे राजा के आदेश से, पार्लियामैण्ट या विधानसभा के कानून से दण्डनीय अपराध घोषित करना है। ड्युग्वी तथा क्रैब कानून के पहले पक्ष पर बल देते हैं और आस्टिन दूसरे पक्ष पर। दोनों का दृष्टिकोण एकपक्षीय तथा अपूर्ण है। ड्युग्वी और क्रैब की इस आलोचना में सचाई है कि राज्य के आदेश मात्र से कोई नियम कानून नहीं बन जाता है, यदि वह समाज में प्रचलित भावनाओं के विरुद्ध है तो उसे राज्य द्वारा जबर्दस्ती क़ानून बना दिए जाने पर उसका इतना उग्र विरोध होता है कि उसे अन्त में विवश होकर राज्य को रद्द करना पड़ता है। ब्रिटिश सरकार ने प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर भारत में नागरिकों की स्वतन्त्रता पर प्रबल प्रतिबन्ध लगाने वाला 'रौलट कानून' पास किया था, किन्तु गांधी जी के नेतृत्व में जनता द्वारा उग्र विरोध होने पर इसे वापिस लेना पड़ा। अतः ड्युग्वी तथा क्रैब के मत में बहुत सचाई है। किन्तु इसके साथ ही हमें इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि समाज में कोई विचार कितना ही सर्वमान्य क्यों न हो, जब तक उस पर राज्य के आदेश की मुहर नहीं लगती तब तक वह रिवाज ही रहता है, कानून का रूप नहीं धारण करता है; अतः इसे कानूनी रूप देने के लिए राज्य का आदेश होना आवश्यक है। अतः वर्तमान समय में कानून का एक प्रधान स्रोत राज्य की विधानसभाएँ और पार्लियामैण्टें ही हैं। राज्य सामाजिक दृष्टि से आवश्यक विषयों पर लोकमत का ध्यान रखते हुए कानून बनाता है, अतः राज्य को भले ही कानून का एकमात्र स्रोत न माना जाए, किन्तु उसे कानून का

स्वरूप निश्चित करने वाला तथा इसे घोषित करने वाला एक स्रोत अवश्य मानना चाहिए।

चौथा दोष बहुलवादियों की यह भ्रान्ति है कि यदि अन्य समुदायों पर से राज्य का नियन्त्रण हटा लिया जाएगा तो व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के बहुमुखी विकास का स्वतन्त्रतापूर्ण एवं बन्धनमुक्त वातावरण उपलब्ध होगा। वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। जो लोग समुदायों की स्वतन्त्रता के नाम पर राज्य के नियन्त्रण का विरोध करते हैं, वे अपने हाथ में सत्ता आने पर व्यक्ति के अधिकारों का हनन करने में कोई संकोच नहीं करते हैं। उदाहरणार्थ, पश्चिम में चर्च के समर्थक धार्मिक संगठनों के राज्य के नियन्त्रण से मुक्त होने पर बहुत बल देते हैं। किन्तु मध्ययुग में जब चर्च के हाथ में शासन-सत्ता थी तो इसने अपने से तनिक भी भिन्न मत रखने वालों का भीषण दमन किया; इटली, स्पेन और हालैण्ड का मध्यकालीन इतिहास वहाँ होने वाले धार्मिक अत्याचारों से रक्तरंजित है। इटली में ब्रूनो (१५४८–९९ ई०) को इसलिए चिता पर जबर्दस्ती जलाया गया था कि वह चर्च द्वारा माने जाने वाले इस सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखता था कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। गैलिलिओ (१५६४–१६४२ ई०) को इसी विश्वास के कारण बुढ़ापे में जेल की यातना भुगतनी पड़ी थी कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। कई परिस्थितियों में इन समुदायों का अपने सदस्यों पर नियन्त्रण वर्तमान राज्य की अपेक्षा अधिक कठोर तथा अत्याचारपूर्ण हो सकता है। ए० इ० जिमर्न ने हमें चेतावनी दी है कि "आज जो व्यक्ति राज्य की निरंकुश सत्ता के विरुद्ध आवाज उठा रहे हैं, वे यह साधारणतः भूल जाते हैं कि पड़ोसियों के अत्याचार से अधिक भीषण अत्याचार नहीं हो सकते। समुदाय जितना छोटा होगा, आपके जीवन और कार्यों पर उतना ही अधिक कठोर नियन्त्रण होगा।"[1] राज्य के नियन्त्रण से और नौकरशाही की दासता से मुक्त होने के लिए छोटे समुदायों की स्वतन्त्रता का समर्थन करने से बहुलवाद में व्यक्ति के नैतिक विकास की लगभग वही स्थिति होगी जो चूल्हे से निकलकर भाड़ में गिरने वाले की होती है।

पाँचवाँ दोष बहुलवादियों द्वारा प्रभुसत्ता के विचार का भ्रान्तिपूर्ण तथा अत्युक्तिपूर्ण खण्डन करना है, वे प्रभुसत्ता के ऐसे विचार की आलोचना करते हैं जिसका समर्थन सम्भवतः हेगल के अतिरिक्त अन्य कोई दार्शनिक नहीं करता है। बहुलवादी प्रायः राज्य की निरंकुशता एवं सर्वशक्तिमत्ता की आलोचना करते हैं, किन्तु हॉब्स, रूसो, आस्टिन आदि राज्य की ऐसी शक्ति नहीं मानते हैं। वे केवल यही कहते हैं कि राज्य अन्य संगठनों के समकक्ष नहीं, अपितु उनसे श्रेष्ठ है, राज्य किसी अन्य समुदाय के अधीन या उत्तरदायी नहीं है। राज्य पर अनेक प्रकार के नैतिक और धार्मिक बन्धन हैं, वह इनके नियन्त्रण से मुक्त और स्वतन्त्र नहीं है।

छठा दोष इसका देशभक्ति-विरोधी होना है। लास्की का बहुलवाद अन्तर्राष्ट्रीयता पर तथा विश्व का नागरिक होने पर और इसके प्रति निष्ठा रखने पर बल देता

१, कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० ५१७

है। राज्य के प्रति निष्ठा रखने में भले ही कुछ दोष हों, किन्तु इस बात में सन्देह नहीं किया जा सकता है कि देशभक्ति वर्तमान राष्ट्रीय जीवन में असाधारण महत्व रखती है। दो विश्वयुद्धों ने इसे भली-भाँति सिद्ध कर दिया है, इसका अपलाप एवं उपेक्षा करने वाला सिद्धान्त सत्य नहीं हो सकता है।

सातवाँ दोष बहुलवाद का भ्रान्त धारणाओं पर आधारित होना तथा समाज के विभिन्न समुदायों में कलहों की वृद्धि कराना है। यह सिद्धान्त राज्य को एवं इसके भीतर विद्यमान सभी समुदायों को समानता का दर्जा देता है और समान अधिकार प्रदान करता है। यदि इनमें राज्य सर्वोच्च न माना जाए और इनके पारस्परिक विवादों का निर्णायक न बने तो इनमें सदैव संघर्ष की ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाएगी जिसमें मानवीय प्रगति पूर्ण रूप से अवरुद्ध हो जाएगी। बहुलवादी विभिन्न समुदायों के लिए स्वतन्त्रता की माँग विशेष रूप से करते हैं, यदि इन्हें ऐसी स्वतन्त्रता दी जाए तो उस दशा में यह बात विशेष रूप से आवश्यक है कि इन समुदायों के अत्याचारों से व्यक्तियों की रक्षा के लिए राज्य की सर्वोच्च और सर्वोपरि सत्ता बनी रहे। इसका एक अतीव उपयोगी कार्य विभिन्न समुदायों में होने वाले संघर्षों में मध्यस्थता, सुलह-सफाई, वादविवाद-निर्णय और शान्ति स्थापना करना है।

आठवाँ दोष अन्तर्राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण से राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के विचार की भ्रान्तिपूर्ण आलोचना है। हम पहले देख चुके हैं कि लास्की का यह मत है कि विश्व का राष्ट्रीय राज्यों के रूप में विभाजन बड़ा कृत्रिम है तथा इन राष्ट्रों की प्रभुसत्ता विश्वशान्ति और मानव-जाति के कल्याण के लिए महान् संकट और अभिशाप है। इनमें से लास्की का पहला विचार—मानव-जाति के राष्ट्रों में विभाजन की कृत्रिमता ठीक नहीं है। विशिष्ट परिस्थितियों में रहने वाले, समान भाषा, जाति, इतिहास, परम्परा, धार्मिक विश्वास, रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार, और आकांक्षाएँ रखने वाले जनसमूहों ने स्वाभाविक रूप से विकास करते हुए वर्तमान राष्ट्रीय राज्यों (National States) का रूप धारण किया है। इन्हें कृत्रिम कहना ठीक नहीं है। इन राज्यों को अपना स्वाभाविक विकास करते हुए मानव-जाति की उन्नति और कल्याण में सहयोग देने का अवसर दिया जाना चाहिए। इनकी उग्र राष्ट्रीयता विश्व-शान्ति के लिए संकट बन सकती है, किन्तु लास्की की यह बात नहीं मानी जा सकती कि प्रभुसत्तासम्पन्न राष्ट्रीय राज्य अपने-आपमें विश्वशान्ति के लिए कोई खतरा है। ऐसे राज्यों ने मानव-जाति की प्रगति में बड़ा भाग लिया है। समुचित प्रशिक्षण से इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति में भी सहायक बनाया जा सकता है, अतः प्रभुसत्तासम्पन्न राष्ट्रीय राज्य को समाप्त करने के स्थान पर उसे मानव-जाति के लिए कल्याणकारी बनाना अधिक श्रेयस्कर है।

मूल्यांकन और महत्व—बहुलवाद के सिद्धान्तों में उपर्युक्त दोष होते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि इसने कई उपयोगी कार्य किए हैं : इसका **पहला** कार्य व्यक्ति के नैतिक विकास को महत्व देना, उसे असाधारण गरिमा प्रदान करना तथा उसे साध्य समझना है। **दूसरा** कार्य इस बात पर बल देता है कि राज्य को हम अपनी निष्ठा और भक्ति इसलिए प्रदान करते हैं कि वह हमारे नैतिक विकास के प्रयोजन

को पूरा करता है, यदि वह हमारे व्यक्तित्व के विकास में बाधक है तो हम उसके आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य नहीं हैं। **तीसरा** कार्य मनुष्य के विकास के लिए अन्य समुदायों की महत्ता पर तथा इनके द्वारा किए जाने वाले उपयोगी कार्यों पर बल देना है। इन समुदायों का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है, राज्य ने इनका निर्माण नहीं किया है। कई अवसरों पर नैतिक उन्नति के प्रयोजन से मनुष्य के लिए यह अधिक श्रेयस्कर होता है कि वह राज्य के आदेशों की अपेक्षा विशिष्ट समुदायों के आदेशों का पालन करे। **चौथा** कार्य प्रभुसत्ता के वास्तविक स्वरूप का स्पष्टीकरण था। बहुलवादियों के उपर्युक्त आक्षेपों से रक्षा करने के लिए एकत्ववादियों (Monists) ने प्रभुसत्ता का नवीन ढंग से प्रतिपादन किया, इसके सम्बन्ध में बोदँ के समय से कही जाने वाली अनेक रहस्यात्मक, दुरूह, अस्पष्ट बातों की मलिनताओं से मुक्त करते हुए इसे सुस्पष्ट और सुबोध बनाया। उनका यह कहना था कि वर्तमान समय के अत्यधिक जटिल रीति से संगठित समाज में विद्यमान विभिन्न समुदायों को एक सूत्र में पिरोने के लिए, समूचे समाज में कानूनों की एकरूपता बनाए रखने के लिए, विभिन्न समुदायों में समन्वय, सौहार्द और सामंजस्य स्थापित करने के लिए एक ऐसी अन्तिम सर्वोच्च शक्ति होनी चाहिए जिसे सब नागरिक, सब अधिकारी और सभी समुदाय स्वीकार करते हों। प्रभुसत्ता का केवल यही अभिप्राय है कि राज्य को प्रधान रूप से एक ऐसी सामाजिक संस्था माना जाए जिसे मनुष्य विभिन्न व्यक्तियों और समुदायों के संकीर्ण दृष्टिकोणों से तथा स्वार्थों से ऊपर उठकर, समाज में सामान्य रूप से शान्ति स्थापित करने के लिए बनाएं रखें; जो व्यक्तियों और समुदायों में होने वाले संघर्षों का निर्णय करे और इनमें समन्वय बनाए रखे। मैक्सी के शब्दों में, "इस संस्था का सर्वशक्तिशाली होना तथा नैतिक दृष्टि से निर्विवाद रूप से श्रेष्ठ होना आवश्यक नहीं है, इसके लिए केवल यही आवश्यक है कि इसे विभिन्न समुदायों में सामंजस्य बनाए रखने के लिए तथा समाज में शान्ति एवं व्यवस्था कायम रखने के लिए अपेक्षित कानूनी तथा राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों।"[1] इस रूप में राज्य की उपयोगिता बहुलवादियों को भी स्वीकार करनी पड़ती है, इस दृष्टि से प्रभुसत्ता का परम्परागत विचार बिलकुल ठीक है, उसे राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र से बहिष्कृत (expurged) नहीं किया जा सकता है।

इस अध्याय में राज्य की प्रभुसत्ता एवं शक्ति को कम करने का प्रयत्न करने वाले बहुलवादियों (Pluralists) के मत का विचार किया गया है, अगले अध्याय में राज्य को सब प्रकार के अधिकार देकर अधिक-से-अधिक शक्तिशाली बनाने का समर्थन करने वाली समग्राधिकारवादी (Totalitarian) फासिस्ट और नाज़ी विचारधाराओं का वर्णन किया जाएगा।

---

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० ६३३

सोलहवाँ अध्याय

समग्राधिकारवादी विचारधारा

फासिज़्म तथा नाज़ीवाद

सामान्य स्वरूप—पिछले अध्याय में वर्णित बहुलवादी (Pluralistic) विचारधारा राज्य की प्रभुसत्ता तथा शक्ति को व्यक्ति के विकास में बाधक मानते हुए उसे क्षीण, नियन्त्रित और विकेन्द्रित करना चाहती है; इसके सर्वथा विपरीत समग्राधिकारवादी या समग्रवादी (Totalitarian) विचारधारा है, यह व्यक्ति को गौण समझते हुए समूची शक्ति राज्य को प्रदान करना चाहती है। इसका उद्देश्य सन्तानोत्पादन से कविता लिखने तक जीवन के सभी क्षेत्रों में राज्य को असीम, अपरिमित और अमर्यादित अधिकार प्रदान करना है। यह मनुष्यों के राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा अन्य सभी प्रकार के आचार-विचार, व्यवहार और कार्यों पर राज्य का पूर्ण नियन्त्रण और प्रभुत्व स्थापित करने का प्रबल समर्थन करती है। अतः जीवन के सभी क्षेत्रों में राज्य को पूर्ण अधिकार देने के कारण इसे समग्राधिकारवादी, समग्रवादी या सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) विचारधारा कहा जाता है।

इस विचारधारा का प्रादुर्भाव १९२२ में इटली में मुसोलिनी के नेतृत्व में फासिज़्म के रूप में तथा ११ वर्ष बाद १९३३ में जर्मनी में नाज़ीवाद के रूप में हुआ। इनके विकास का प्रधान कारण दोनों देशों में प्रथम विश्वयुद्ध के कारण उत्पन्न अतीव जटिल और विषम परिस्थितियाँ थीं। इन दोनों देशों में मुसोलिनी और हिटलर ने समूची राजनीतिक शक्ति अपने हाथों में केन्द्रित करके अधिनायकतन्त्र (Dictatorship) स्थापित किया। ये अपने देशों के सर्वेसर्वा, निरंकुश तानाशाह बन बैठे, इन्होंने लोकतन्त्र की हत्या की, उदारवाद, स्वतन्त्रता, व्यक्तिवाद और शान्ति की उदात्त परम्पराओं को तिलांजलि दी, समाजवाद और साम्यवाद का उग्र विरोध किया। कुछ समय तक इन विचारधाराओं को अत्यधिक सफलता मिली। १९३९ में द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू होने से पूर्व विश्व की राजनीति में हिटलर की धाक जम चुकी थी, लोकतन्त्र तथा उदारवाद पर विश्वास रखने वाले देश—ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस अत्यन्त निर्बल प्रतीत हो रहे थे। १९४० में फ्रांस की पराजय के कारण लोकतन्त्र की शासन-पद्धति बहुत बदनाम हुई। हिटलर समूचे योरोप का भाग्य-विधाता बन गया। उसकी विचारधारा उसकी सैनिक सफलताओं के कारण विश्व में बड़ी लोकप्रिय हुई। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध में जुलाई १९४३ में इटली के, तथा मई १९४५ में जर्मनी के पराजित होने पर नाज़ीवादी और फासिस्ट विचारधाराएँ क्षीण हो गईं।

१९७५ तक फासिस्ट विचारधारा का सर्वोत्तम रूप स्पेन में दिखाई देता था; जनरल फ्रांको ने यहाँ १९३९ में गृहयुद्ध में सफलता पाकर अपना फासिस्ट शासन

स्थापित किया था। इससे सात वर्ष पहले १९३२ में मुसोलिनी के पदचिह्नों पर चलते हुए सालाज़ार (Salazar) ने पुर्तगाल में अधिनायक बनकर फासिस्ट शासन स्थापित किया; इसका अन्त ४२ वर्ष बाद १९७४ में हुआ है। जापान में इस विचारधारा की प्रबलता १९३२ से १९४५ तक बनी रही। कुछ समय तक हंगरी में होर्थी ने, पोलैण्ड में पिलसुदस्की ने, आस्ट्रिया में डालफस ने, फ्रांस में पेताँ ने तथा अर्जण्टायना में पेरों (Peron) ने फासिस्ट शासन स्थापित किए। ब्रिटेन में ओसवाल्ड मोसले के नेतृत्व में १९३२ से ३९ तक फासिस्ट विचारधारा का काफी प्रसार हुआ। इस समय इन विचारधाराओं का प्रभाव क्षीण हो गया है, किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले के १०-१५ वर्षों में विश्व में सर्वत्र इनका प्रसार हो रहा था। यहाँ पहले फासिज़्म का तथा बाद में नाज़ीवाद का संक्षिप्त विवेचन किया जाएगा।

मुसोलिनी (१८८३–१९४३)—फासिज़्म का प्रवर्त्तक बेनिटो मुसोलिनी इटली में एक अराजकतावादी तथा बाद में मार्क्सवादी बनने वाले गरीब लुहार एलेसैन्दो के घर उत्पन्न हुआ। "पूँजीवाद के अन्याय को दूर करने वाले सभी व्यक्ति उसके पिता के घर में शरण पाते थे।" मुसोलिनी का आरम्भिक जीवन बड़ी निर्धनता और कष्ट में बीता। बचपन में वह घास की बनी चटाई पर सोता रहा, किसी तरह हाई स्कूल की परीक्षा पास करके उसने १९०१ में प्राथमिक पाठशाला में पढ़ाने का डिप्लोमा लिया।[1] कुछ समय तक एक प्राथमिक पाठशाला में एक स्थानापन्न अध्यापक के रूप में काम करने के बाद उसने कमाई करने के लिए विदेश जाने का निश्चय किया और नाम मात्र की धनराशि (२ लायर १० सैण्टिस्मी) लेकर वह स्विट्ज़रलैंड चला गया। यहाँ उसने एक मांस-विक्रेता बूचड़ की दूकान पर तथा राज के साथ उसका तसला उठाने वाले मजदूर के रूप में कार्य किया, काम न मिलने पर उसे एक बार २६ घण्टे तक भूखा रहना पड़ा। यह कहा जाता है कि स्विट्ज़रलैण्ड देखने आए हुए कुछ अंग्रेज यात्री जब वन में एक स्थान पर अपने स्वादिष्ट भोजन का आनन्द ले रहे थे तो वह पास की एक झाड़ी से निकलकर उस पार्टी पर चील की तरह झपट्टा मारकर वहाँ से खाद्य पदार्थ लेकर भाग गया। जुलाई १९०२ में लोज़ान (Lausanne) में उसे आवारागर्दी के लिए गिरफ्तार किया गया, किन्तु नवम्बर तक वह यहाँ इटालियन राजों (Masons) के संघ का मन्त्री बन गया। जनवरी १९०३ में बढ़इयों की एक हड़ताल कराने के लिए उसे स्विट्ज़रलैण्ड से निर्वासित किया गया। किन्तु १९०४ में वह पुनः वहाँ चला गया।

इस समय वह कट्टर मार्क्सवादी, साम्यवादी और ईसाईमत का उग्र विरोधी था। अब उसने पत्रकार का पेशा ग्रहण किया। उसने धर्म की निन्दा करते हुए लिखा—"ईसा मसीह कहते हैं कि भवगान् के आगे सिर झुकाओ (Resign), हम कहते हैं कि विद्रोह करो।" इस समय लिखे गए उसके एक लेख का शीर्षक था—'ईश्वर की सत्ता नहीं है'। मुसोलिनी के युवा मस्तिष्क पर जर्मन दार्शनिक नीट्शे (१८४४–१९००) तथा फ्रेंच विचारक सोरेल (१८४७–१९२२) की रचनाओं का गहरा प्रभाव

१. जार्ज काटलिन—ए हिस्टरी आफ दी पोलिटिकल फिलासफर्स, पृ० ७१४-१५

पड़ा। उसने अपनी एक जेल-यात्रा में नीट्शे पर 'शक्ति के दर्शन' के नाम से लिखे एक लेख में यह लिखा था कि "वह पिछली शताब्दी के अन्तिम चरण का अधिकतम असाधारण विचारक है।" सोरेल से उसने अन्धश्रद्धा और विश्वास का विचार ग्रहण करते हुए लिखा कि "मानव-जाति को विश्वास (Credo) की आवश्यकता है। विश्वास ही पहाड़ों को हिला सकता है क्योंकि यह इनके हिलने की भ्रान्ति (Illusion) को उत्पन्न करता है। सम्भवतः जीवन की एकमात्र वास्तविकता भ्रान्ति है।" इस समय एक ग्रीष्मकालीन विद्यालय (Summer School) में वह इटालियन समाजशास्त्री तथा लोकतन्त्र के कट्टर विरोधी परेतो (Pareto) का शिष्य रहा, वह इसके दर्शन से इतना प्रभावित था कि उसने इटली का सर्वेसर्वा बनने के बाद उसे फासिस्ट सीनेट का सदस्य बनने के लिए आमन्त्रित किया। प्रथम विश्वयुद्ध से पहले वह कट्टर समाजवादी तथा उग्र क्रान्तिकारी एवं समाजवादी पत्र 'अवन्ती' (Avanti) का सम्पादक था। युद्ध छिड़ने पर उसने कुछ समय तक अन्य समाजवादियों की भाँति युद्ध-विरोधी तथा इटली को इस लड़ाई से पृथक् रखने वाले आन्दोलन का नेतृत्व किया।

किन्तु शीघ्र ही स्वभावतः शक्ति का उपासक तथा शान्तिवाद का विरोधी होने के कारण उसके विचारों में मौलिक परिवर्तन आया। उसने एक नवीन पत्र Popolo d' Italia (इटली की जनता) का सम्पादक बनकर इस बात का प्रबल प्रचार आरम्भ किया कि इटली को युद्ध में भाग लेना चाहिए। नवम्बर १६१४ में युद्ध का समर्थन करने के कारण इटली की समाजवादी पार्टी ने उसे दगाबाज घोषित करते हुए अपने दल से निकाल दिया, अब उसने भी समाजवादी सिद्धान्तों को तिलांजलि दे दी। उसके प्रचार आन्दोलन के परिणामस्वरूप इटली मित्रराष्ट्रों की ओर से युद्ध में सम्मिलित हुआ। १६१८ में मित्रराष्ट्र विजयी हुए, किन्तु विजेता होने पर भी पेरिस के शान्ति सम्मेलन से इटली की आशाएँ पूरी नहीं हुई[1] तथा इससे इटली में उग्र असन्तोष उत्पन्न हुआ।

फासिज्म का उत्कर्ष—इस निराशा और असन्तोष से इटली में तत्कालीन संसदीय सरकार बहुत बदनाम हुई और फासिज़्म का उत्कर्ष हुआ। यह वस्तुतः इटली में किसानों और मजदूरों की साम्यवादी क्रान्ति को विफल बनाने के लिए जमींदारों और पूँजीपतिओं द्वारा समर्थित और सहायता पाने वाला आन्दोलन था। फासिज़्म की सफलता के मुख्य कारण—तत्कालीन लोकतन्त्रीय सरकार की युद्धोत्तर इटली की समस्याओं को सुलझाने में नितान्त अक्षमता, अराजकता और कम्यूनिज़्म का आतंक तथा जनता के सभी वर्गों का तत्कालीन समाजवादी सरकार से प्रबल असन्तोष था। दुकानदार सरकार से इसलिए नाराज़ थे कि समाजवादी सरकार मूल्य निश्चित कर रही थी और कर बढ़ा रही थी। जमींदारों को कृषकसंघों से तथा भूमि के पुनर्वितरण से अनेक आशंकाएँ थीं। मिल-मालिक हड़तालों तथा मजदूरों की बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत थे। पूँजीपति सरकार से इसलिए रुष्ट थे कि वह उनकी वैयक्तिक

---

१. हरिदत्त वेदालंकार—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, षष्ठ संस्करण, पृ ०२६

सम्पत्ति की रक्षा करने में असमर्थ थी। मध्यम वर्ग भी तत्कालीन संसदीय सरकार के शासन में असुरक्षा का अनुभव कर रहा था। फौजी सेवा से मुक्त हुए सिपाही, विद्यार्थी तथा अन्य युवक विभिन्न 'मजदूर आन्दोलनों' से तथा राजनीतिज्ञों की अयोग्यता से व्यथित एवं परेशान थे। वे किसी भी ऐसे आन्दोलन में प्रसन्नतापूर्वक सम्मिलित होने को तैयार थे जो इटली में एक सुदृढ़ एवं शक्तिशाली सरकार स्थापित कर सके।

फासिस्ट दल का नामकरण और संगठन—मुसोलिनी ने इस परिस्थिति का पूरा लाभ उठाते हुए अपने फासिस्ट दल का संगठन किया। उसने इस दल के संगठन के लिए आवश्यक नियमों और विभिन्न व्यवस्थाओं का निर्माण रोम के प्राचीन गौरवपूर्ण इतिहास की परम्पराओं और रीति-रिवाजों के आधार पर किया। यह इस दल के नामकरण से ही स्पष्ट है। फासिस्ट शब्द लैटिन भाषा के 'फासीज़' (Fasces) शब्द से निकला है, इसका अर्थ फरसा तथा लाठियों का समूह या गट्ठर होता है। फरसा (Axe) तथा लाठियाँ प्राचीन रोम में राजा की शक्ति और अनुशासन के प्रतीक थे। उस समय यह रिवाज था कि रोमन गणराज्य में प्रतिवर्ष निर्वाचित होने वाले तथा कांसुल (Consul) कहलाने वाले सर्वोच्च शासकों तथा अन्य उच्च अधिकारियों के आगे-आगे उनकी शक्ति के प्रतीक रूप में उनके पद के अनुकूल छः से बारह लाठियों को तथा इनके बीच में एक फरसे को एक गट्ठे में बाँधकर ले जाया जाता था। मुसोलिनी ने इसी परम्परा को ग्रहण किया। १९१९ में साम्यवाद का विरोध करने के लिए राष्ट्रीय फासिस्ट दल (Partio Nazionale Fascista) का संगठन किया। मुसोलिनी के नेतृत्व में इस दल ने उपर्युक्त परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए अक्टूबर १९२२ में इटली की शासन-सत्ता हस्तगत कर ली। मुसोलिनी इटली का पूरा तानाशाह और सर्वेसर्वा बन गया।

फासिस्ट विचारधारा के निर्माता—सामान्य रूप से पहले किसी विचारधारा या दर्शन का जन्म होता है और इसके बाद उसके अनुसार राजनीतिक कार्य होते हैं। आगे यह बताया जाएगा कि हिटलर ने पहले अपनी आत्मकथा **'मेरा संघर्ष'** (Mein Kampf) में अपने विचार और कार्यक्रम प्रस्तुत किया, बाद में उसे मूर्त्त रूप प्रदान किया। किन्तु फासिज़्म में इससे सर्वथा विपरीत पहले राजनीतिक सत्ता प्राप्त की गई और बाद में अपनी सत्ता तथा कार्यों को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए इसके दार्शनिक सिद्धान्त गढ़े गए और इन्हें विभिन्न स्रोतों से ग्रहण किया गया। इस कार्य में तीन व्यक्तियों ने विशेष भाग लिया। पहला मुसोलिनी था। वह एक पत्रकार रह चुका था, अब उसने बड़े उत्साह से और विस्तार से फासिस्ट विचारधारा के विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इस कार्य में विश्वविद्यालय के दो प्रोफेसरों ने भी सहयोग दिया। इनमें से पहला अल्फ्रेडो रोक्को (Alfredo Rocco, 1875–1935) पडुआ विश्वविद्यालय में कानून का प्रोफेसर था और बाद में मुसोलिनी ने उसे १९२५ से ३२ तक अपना न्याय एवं कानून का मन्त्री बनाया। दूसरा गिओवान्नी जैण्टीले (Giovanni Gentile, 1875–1944) हेगल मतानुयायी दार्शनिक था, वह

नेपल्ज़, पलेरमो, पीसा तथा रोम के विभिन्न विश्वविद्यालयों में प्राध्यापक तथा १९२२ से २४ तक इटली का शिक्षामन्त्री भी रहा।

सत्तारूढ़ होने से पहले फासिस्टों ने कोरे सिद्धान्तों के लिए घोर घृणा प्रकट करते हुए कहा था कि वे शुष्क सिद्धान्तों पर नहीं, अपितु क्रिया पर बल देने वाले हैं। उस समय फासिज़्म का एकमात्र कार्यक्रम हिंसा द्वारा सत्ता प्राप्त करना तथा उसे अपने हाथों में बनाए रखना था। मुसोलिनी के शब्दों में, "हमारा कार्यक्रम स्पष्ट है, हम इटली का शासन करना चाहते हैं। जनता हमसे कार्यक्रमों के बारे में पूछती है; किन्तु ये तो पहले ही बहुत अधिक हैं। इटली के उद्धार के लिए कार्यक्रमों की नहीं, किन्तु मनुष्यों की तथा संकल्प-शक्ति की कमी है। सिद्धान्त तो लोहे की जंजीरें होती हैं।···फासिस्ट इटालियन राजनीति में स्वच्छन्द विचरण करने वाले जिप्सी हैं, किन्हीं निश्चित सिद्धान्तों से न बँधे होने के कारण वे इटालियन जनता के भावी कल्याण के एकमात्र लक्ष्य की ओर सतत रूप से अग्रसर हो रहे हैं।" इससे यह स्पष्ट है कि सत्ता प्राप्त करने तक मुसोलिनी का कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं था। उसके अनुयायी आरम्भ से शक्ति प्राप्त करने पर, युद्ध की भावना पर, सैनिक अनुशासन एवं कठोर कार्यवाही पर, नैतिक भावना की अवहेलना पर, नेता के आदेशों को आँख मूँदकर पालने पर तथा व्यक्ति की अपेक्षा राज्य को महत्वपूर्ण मानने पर अधिक बल दे रहे थे। किन्तु उनके सिद्धान्तों का निर्माण सत्ता प्राप्ति के बाद हुआ। उन्होंने अपना नया चिन्तन करने के स्थान पर अपने अभिप्राय और इच्छा से अनुकूलता रखने वाले अनेक विचारकों से विचार ग्रहण किए। ये विचार विभिन्न प्रकार के कई स्रोतों से लिए गए थे। मैक्सी के कथनानुसार फासिज़्म बड़ी चतुराई से मिश्रित किए गए अनेक तत्वों का विचित्र सम्मिश्रण है। इसमें मेकियावेली, हॉब्स, फिक्टे (Fichte), हेगल, ट्रीट्श्के, नीट्शे, मार्क्स, सोरेल, मोस्का, शोपनहार, बर्गसों, जेम्स और परेतो के विचारों को ग्रहण किया गया है[1] अतः फासिस्ट विचारधारा इन सबका एक विचित्र पंच-मेल या खिचड़ी बन गई है। यहाँ इसके विभिन्न स्रोतों का प्रतिपादन करने के बाद इसके प्रमुख सिद्धान्तों का परिचय दिया जाएगा।

फासिस्ट विचारधारा के विभिन्न स्रोत—मैकगवर्न के मतानुसार फासिस्ट तथा नाज़ी विचारधारा चार प्रधान स्रोतों से परिपुष्ट हुई है।[2]

पहली विचारधारा को **सामाजिक डार्विनवाद** (Social Darwinism) का नाम दिया जाता है। इसे यह नाम देने का यह कारण है कि चार्ल्स डार्विन ने प्रकृति में सतत रूप से चलने वाले विकट जीवन-संघर्ष (Struggle for life) का तथा योग्यतम प्राणी के जीवित बचे रहने (Survival of the fittest) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। इसे डार्विनवाद (Darwinism) कहा जाता है। आस्ट्रियन समाजशास्त्री गुमप्लोवीच (Gumplowicz, 1838–1909) आदि कुछ विचारकों ने

---

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० ६३८। फासिज़्म पर विभिन्न विचारकों के प्रभाव के लिए देखिए : कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० ४८३-८४

२. मैकगवर्न—फ्राम लूथर टु हिटलर, पृ० ६१७

इसे सामाजिक क्षेत्र में लागू करते हुए कहा कि प्राकृतिक क्षेत्र की भाँति समाज में व्यक्तियों में तथा समुदायों में भी निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। इसमें वही समुदाय विजयी होता है जो अधिक शक्तिशाली, सुदृढ़ और अनुशासनबद्ध होता है। इसी को सामाजिक डार्विनवाद की विचारधारा कहा जाता है। मुसोलिनी और हिटलर इस पर अत्यधिक बल देते हुए संघर्ष को मानव-समाज की उन्नति और प्रगति का मूल कारण समझते थे। नीट्शे का अनुकरण करते हुए मुसोलिनी यह मानता था कि मानव-इतिहास एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर प्रभुत्व पाने के लिए संघर्ष करने का इतिहास है। इसीलिए फासिज़्म ने युद्ध पर तथा युद्धों द्वारा साम्राज्यवाद की स्थापना पर बहुत बल दिया। मुसोलिनी कहा करता था कि जिस प्रकार नारी की पूर्णता मातृत्व से होती है उसी प्रकार पुरुष की पूर्णता का विकास युद्ध से होता है। फासिज़्म का विश्वास है कि सार्वभौम शान्ति न तो सम्भव है और न उपयोगी। युद्ध ही मानवीय शक्ति को उच्चतम शिखर पर पहुँचाता है। हिटलर ने इसी का अनुमोदन करते हुए लिखा था कि सभ्यता का उदय आर्य-जाति द्वारा निम्नकोटि की जातियों पर विजय प्राप्त करने से हुआ था। अतः फासिज़्म एवं नाज़ीवाद यह मानते थे कि सबल राष्ट्रों को यह अधिकार है कि वे निर्बल राष्ट्रों को दबाएँ तथा अपने राज्य का विस्तार करते हुए साम्राज्य का निर्माण करें।

दूसरा प्रधान स्रोत **अबुद्धिवाद** (Irrationalism, Anti-intellectualism) की विचारधारा थी। इसका प्रतिपादन अमेरिकन दार्शनिक विलियम जेम्स (१८४२–१९१०), फ्रेंच दार्शनिक बर्गसों (ऊपर देखिए पृ० ४४७), जर्मन दार्शनिक नीट्शे (१८४१–१९००), शोपनहार (१७८८–१८६०), फ्रेंच विचारक सोरेल (देखिए ऊपर पृ० ४४७), इटालियन दार्शनिक परेतो (१८४८–१९२३) आदि ने किया था। इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य विवेकशील, सोच-विचारकर कार्य करने वाला बुद्धिवादी (Rational) प्राणी नहीं है, अपितु वह अपने सभी कार्य बुद्धि के स्थान पर अन्तःप्रेरणा (Intuition), अन्धश्रद्धा (Myth) और विश्वास से प्रेरित होकर करता है। पहले (पृ० ५३७) मुसोलिनी पर सोरेल के प्रभाव का उल्लेख किया जा चुका है। फासिज़्म तथा नाज़ीवाद ने जनता को प्रभावित करने वाले नवीन अन्धविश्वासों का निर्माण किया था। मुसोलिनी के शब्दों में, "हमने अपनी अन्धश्रद्धा (Myth) उत्पन्न की है। हमारी अन्धश्रद्धा राष्ट्र है, राष्ट्र की महत्ता में विश्वास है। श्रद्धा पर्वतों को प्रकम्पित कर सकती है, बुद्धि इन्हें नहीं हिला सकती है। बुद्धि केवल उपकरण (tool) मात्र है, यह जन-समुदाय या भीड़ को प्ररणा देने वाली शक्ति नहीं हो सकती है। एक आधुनिक व्यक्ति में यह श्रद्धा असीम मात्रा में भरी जा सकती है। मेरे लिए जनता भेड़ों का रेवड़ मात्र है। यदि आप उनका नेतृत्व करना चाहते हैं तो आपको उत्साह और दिलचस्पी की दोहरी लगाम से उनका पथप्रदर्शन करना चाहिए।"[1]

नीट्शे का यह विचार था कि जनता पर शासन बुद्धि से नहीं, अपितु उत्कृष्ट कोटि के मनुष्य—अतिमानव या पुरुषोत्तम (Superman) द्वारा होना चाहिए।

१. मैकगवर्न—फ्राम लूथर टु हिटलर, पृ० ५४४-४५

फासिज़्म के मत में यह वीर पुरुष दल का नेता या **दूचे** (Duce) के रूप में मुसोलिनी तथा नाज़ीवाद में **फ्यूहरर** (Fuehrer) के रूप में हिटलर था। यह नेता अपनी अन्तःप्रेरणा से जनता का पथ-प्रदर्शन करता है और मूर्ख, भावुक, निर्बल तथा श्रद्धालु जनता अपने वीर नेता के आदेश का पालन आँख मूँदकर करती है। रोक्को ने कहा था—"मुसोलिनी की अन्तःप्रेरणा निर्भ्रान्ति (Infallible) या कभी कोई गलती न करने वाली है, संकट के समय यह उसकी सहायता करती है।" इटली का यह नारा था कि "मुसोलिनी सदैव ठीक सोचता है और ठीक कार्य करता है।" इटली की जनता अपनी बुद्धि से नहीं, अपितु नेता के प्रति अन्धश्रद्धा की भावना से सभी कार्य करती थी।

तीसरा स्रोत **परम्परावाद** (Traditionalism) का था। शासक बनने से पहले मुसोलिनी परम्परा का विरोधी था, वह नवीन समाज का निर्माण करना चाहता था। किन्तु शासक बनने पर, उसे यह अनुभव हुआ कि अपनी सत्ता को स्थायी बनाए रखने के लिए उसे इटली के प्राचीन गौरवपूर्ण रोमन साम्राज्य की, राजतन्त्र की तथा रोमन कैथोलिक चर्च की शानदार परम्पराएँ बहुत सहायक सिद्ध हो सकती हैं। इटालियन अपने उस अतीत को बड़े गर्व से स्मरण करते थे जब भूमध्यसागर के चारों ओर के प्रदेशों में रोम का साम्राज्य विस्तीर्ण था और यह रोमन झील बना हुआ था। मुसोलिनी ने इस बात का प्रयत्न किया कि वह एबिसीनिया आदि को जीतकर एक बार पुनः भूमध्यसागर को रोमन झील बनाए। साधारण जनता पोप में तथा रोमन कैथोलिक चर्च में अगाध श्रद्धा रखती थी। उसने नास्तिक तथा धर्म-विरोधी (देखिए ऊपर पृ० ५३६) होते हुए भी जनता का समर्थन पाने के लिए फरवरी १९२९ में पोप के साथ समझौता (Vatican Italian Accord) करके १८७० से चले आने वाले विवाद को शान्त किया, पोप का आशीर्वाद तथा जनता की सहानुभूति और सहयोग प्राप्त किया। इसीलिए उसने राजतन्त्र को भी सुरक्षित रखा। वह सदैव इस बात पर बल देता था कि किसी राष्ट्र की विशेषता उसके अतीत की गौरवपूर्ण ऐतिहासिक परम्पराएँ होती हैं। इटली महान् देश था, उसकी शानदार परम्पराएँ थीं। फासिज़्म का उद्देश्य इटली की प्राचीन परम्पराओं का तथा रोमन साम्राज्य का पुनरुज्जीवन और उसके विस्तृत वैभव का पुनरुत्थान करना था।

चौथा स्रोत **आदर्शवाद** (Idealism) की विचारधारा है। आदर्शवादी विचारक रूसो, काण्ट (पृ० १११), फिक्टे, हेगल (पृ० १२७) और बोसांके (पृ० २०६) फासिज़्म तथा नाज़ीवाद के आध्यात्मिक पूर्वज (Spiritual Ancestor) माने जाते हैं। हिटलर को हेगल का राजनीतिक शिशु कहा जाता है, क्योंकि वह भौतिकवाद (Materialism) के स्थान पर आदर्शवाद को ऊँचा स्थान देता है। ये मार्क्स के 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' (Economic Interpretation of History) में विश्वास नहीं रखते, मनुष्यों को आर्थिक स्वार्थों से प्रेरित होकर कार्य करने वाला नहीं मानते हैं। ऐसा होने पर मनुष्य भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से सन्तुष्ट रहने वाला पशु बन जाएगा, मनुष्य नहीं रहेगा। मुसोलिनी के शब्दों में—"फासिज़्म भौतिकवाद के सिद्धान्तों को अस्वीकार करता है।"[1] फासिज़्म पवित्रता और वीरता में

१. मैकगवर्न—फ्राम लूथर टु हिटलर, पृ० ५५५

विश्वास रखता है, इसका यह अभिप्राय है कि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उसके कार्यों का प्रेरक कारण आर्थिक नहीं है।...इतिहास की आर्थिक व्याख्या को अस्वीकार करने के साथ-साथ अपरिवर्तनीय तथा अपरिवर्तनशील वर्ग-युद्ध (Class Struggle) के विचार को भी अस्वीकार किया जाता है। फासिज़्म सुख के भौतिक विचार को रद्द करता है।...इसका यह अभिप्राय है कि फासिज़्म यह नहीं मानता कि सुख (Happiness) और कल्याण (Well-being) एक ही हैं।...यदि ऐसा मान लिया जाए तो मनुष्य पशुओं के धरातल तक पहुँच जाएंगे।"[1] मुसोलिनी ने भौतिक सन्तुष्टि को पशुता का सूचक मानते हुए बेन्थम के उपयोगितावाद, मार्क्स के समाजवाद तथा भौतिक प्रगति को उच्च स्थान देने वाले उदारवाद का खण्डन किया। वह इन्हें १८वीं तथा १९वीं शताब्दी की पुरानी विचारधाराएँ मानता था। उसके मतानुसार आदर्शवाद पर बल देने वाली फासिस्ट विचारधारा ही बीसवीं शताब्दी के लिए उपयुक्त थी।

इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य अपने भौतिक सुखों और स्वार्थों की अपेक्षा कुछ नैतिक और राजनीतिक आदर्शों को अधिक ऊँचा समझता है, वह अपने जीवन को अपने राष्ट्र एवं जाति के हित के लिए समर्पित कर देता है। इसके मतानुसार समाज का, राज्य का तथा राष्ट्र का हित सर्वोपरि है, यह व्यक्ति के हित से उच्च है। अतः आदर्श नागरिक का लक्ष्य समाज की सेवा, राज्य और राष्ट्र का कल्याण करना है, न कि निजी स्वार्थ की सिद्धि करना। उसकी नैतिक प्रगति तभी सम्भव है जब वह वैयक्तिक स्वार्थ को राज्य के हित से गौण माने और राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों के पालन पर अधिक बल दे।

पहले (पृ० १४२-४३) यह बताया जा चुका है कि हेगल राज्य को विश्वात्मा का विकास मानते हुए व्यक्ति द्वारा उसके आदेशों के पालन में ही उसकी सच्ची स्वतन्त्रता समझता है। रूसो, ग्रीन, बोसांके (पृ० २०७) राज्य को समाज की सामान्य इच्छा (General Will) की अभिव्यक्ति मानते हैं। अतः राज्य व्यक्ति का विरोधी न होकर, उसका सहयोगी एवं पूरक है। व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह राज्य की आज्ञाओं और इच्छाओं का पालन करे। व्यक्ति की **स्वतन्त्रता** अपनी इच्छानुसार मनमाने कार्य करने में नहीं है, अपितु उन कार्यों को करने में है जो उसे नैतिक दृष्टिकोण से करने चाहिएँ। काण्ट ने इन कार्यों के निर्णय करने का भार व्यक्ति की चेतना को सौंपा था। हेगल यह कार्य राज्य को सौंपता है, क्योंकि वह राज्य को नैतिकता का मूर्त्त रूप मानता है, उसके अनुसार व्यक्ति सच्चे अर्थों में तभी स्वतन्त्र होता है जब वह पूर्णरूप से अपने-आपको राज्य के अधीन कर देता है और अपने सम्पूर्ण जीवन का संचालन उसके आदेशों के अनुसार करता है।

फासिज़्म और नाज़ीवाद राज्य को सर्वोच्च मानते हुए व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध आवाज उठाने का, मौलिक अधिकारों की माँग करने का कोई हक नहीं देते हैं क्योंकि ये अधिकार व्यक्ति को महत्वपूर्ण एवं स्वामी बना देते हैं और राज्य को गौण

---

१. सेबाइन—ए हिस्टरी आफ पोलिटिकल थ्योरी, पृ० ७४८-४९

तथा दास। फासिज़्म व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा अधिकारों को केवल वहीं तक स्वीकार करता है जहाँ तक वे राज्य के हित में साधक हों, बाधक न हों। मुसोलिनी के शब्दों में, "फासिस्ट राज्य में वे स्वतन्त्रताएँ कम कर दी जाती (Curtail) हैं जो निरर्थक एवं हानिकारक हैं; किन्तु आवश्यक स्वतन्त्रताओं की रक्षा की जाती है। इन सब बातों में व्यक्ति निर्णय नहीं कर सकता है, राज्य ही इनका निर्णय करता है। राज्य को यह अधिकार प्रदान करने का कारण यह है कि यह एक राजनीतिक संस्था न होकर आध्यात्मिक सत्ता है।" "राज्य एक आध्यात्मिक और नैतिक सत्ता है।··· यह एक ऐसा संगठन है जिसके प्रादुर्भाव और विकास में आत्मा की अभिव्यक्ति (Manifestation) होती है।···राज्य जनता की आत्मा को अभिव्यक्त करता है।"[1] अतः फासिज़्म में राज्य को हेगल आदि की आदर्शवादी विचारधारा के अनुसार सर्वोच्च स्थान देते हुए व्यक्ति को इसके आदेशों का पालन करने के लिए तथा इसके चरणों में अपना सर्वस्व समर्पित करने के लिए कहा जाता है।

पाँचवाँ स्रोत व्यवहारवाद (Pragmatism) की विचारधारा है। पहले (पृ० ५२०) इसका वर्णन करते हुए यह बताया जा चुका है कि इसके अनुसार सत्य की शाश्वत सत्ता नहीं है, यह परिस्थितियों के अनुसार परिणाम के आधार पर बदलता रहता है। सत्य वही है, जो हितकर है; जो अहितकर है, वह असत्य है। मुसोलिनी ने कहा था कि उसके फासिस्ट दर्शन का मूल आधार व्यवहारवाद है। इसका अनुसरण करते हुए उसने राजनीतिक शासन-सत्ता प्राप्त करने एवं सुदृढ़ बनाए रखने के लिए सभी प्रकार के साधनों का—क्रान्ति, हिंसा और हत्या का अवलम्बन किया। उसके प्रतिपक्षी इन्हें अनैतिक, गर्हित एवं निन्दनीय समझते थे, किन्तु उसका यह कहना था कि प्रत्येक युग एवं पीढ़ी के अपने नियम और नैतिकता होती है। किसी युग के लिए उन्हीं नियमों तथा सिद्धान्तों को सच्चा माना जा सकता है जो उस युग के लक्ष्यों एवं आदर्शों की पूर्ति में सहायक हों। नैतिकता के नियम भी समय के साथ बदलते रहते हैं। मुसोलिनी नैतिकता के शाश्वत नियमों का विरोधी था और अपनी आवश्यकतानुसार इनमें परिवर्तन करने में कोई संकोच नहीं करता था

इस प्रकार मुसोलिनी का व्यवहारवादी दर्शन कोरा अवसरवाद (Opportunism) था। अपनी सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार उसने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए जिस सिद्धान्त को उचित समझा, उसका समर्थन किया। अपनी सत्ता सुदृढ़ करने के लिए उसने राज्य को व्यक्ति से ऊँचा स्थान दिया, व्यक्ति को राज्य का दास बनाने में कोई संकोच नहीं किया। 'वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा' के अनुसार कुछ विचारकों ने अवसरवाद के कारण अपने सिद्धान्त बदलने वाले फासिज़्म की तुलना विभिन्न प्रेमियों को रिझाने के लिए अपने रूप बदलने वाली वेश्या से की है। सत्ता पाने से पहले मुसोलिनी कट्टर धर्म-विरोधी और नास्तिक था, पदारूढ़ होने पर अपने शासन के लिए जनता का समर्थन पाने के निमित्त उसने ईश्वर की दुहाई दी, पोप के साथ समझौता करके उसकी धार्मिक प्रधानता स्वीकार की। किसी समय वह सोरेल

---

१. मुसोलिनी—फासिज़्म : डाक्ट्रिन एण्ड इंस्टीट्यूशन्स, पृ० २७

के विचारों से प्रभावित, श्रमिकों के कल्याण की कामना करने वाले संघवादी (Syndicalist) आन्दोलन का कट्टर समर्थक था, बाद में वह श्रमिक आन्दोलन का घोर विरोधी बन गया। पहले वह उग्र समाजवादी तथा साम्यवादी था, बाद में उसने इटली में इसका उन्मूलन करने का पूरा प्रयत्न किया। किसी समय शान्ति का समर्थन करने वाले मुसोलिनी ने बाद में युद्ध का प्रबल पोषण किया। लोकतन्त्र के उपासक ने इटली में प्रजातन्त्र की परम्पराओं का हनन करते हुए सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) राज्य स्थापित किया। इटली का अधिनायक बनने से एक वर्ष पूर्व उसने घोषणा की थी कि वह किसी प्रकार की तानाशाही को स्वीकार नहीं करेगा; सत्ता प्राप्त करते ही उसने अपने पुराने समाजवादी साथियों को जेलों में ठूँसा, मरवाया और देश छोड़ने के लिए बाधित किया, क्योंकि अपनी सत्ता सुदृढ़ करने के लिए वह प्रत्येक हथकंडे को उचित एवं न्याय्य समझता था। स्वार्थपूर्ति और सत्ता को बनाए रखना उसके जीवन का लक्ष्य था, इसे पूर्ण करने वाला प्रत्येक कार्य उसकी दृष्टि में न्यायोचित, नैतिक और सत्य था। फासिज़्म के मूल स्रोतों का वर्णन करने के बाद इसके प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन किया जाएगा।

प्रमुख सिद्धान्त : (१) उग्र राष्ट्रीयता—फासिस्टों ने राष्ट्र की महिमा के गीत गाए और उसे अत्यधिक महत्व प्रदान किया। राष्ट्र विभिन्न व्यक्तियों से मिलकर बनने वाला निर्जीव समुदाय मात्र नहीं, अपितु समान भाषा, रीति-रिवाज, परम्परा, धर्म आदि के बन्धनों से एक सूत्र में बँधा हुआ, अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व, इच्छा-शक्ति और विशिष्ट उद्देश्य रखने वाला सजीव (Organic) संगठन है। यह एक आध्यात्मिक, स्थायी और सतत रूप से बनी रहने वाली सत्ता है। यह अपनी जनता के जीवन का भाग्य-विधाता है, इससे पृथक् किसी व्यक्ति की कोई सत्ता नहीं हो सकती है। सब नागरिकों का प्रधान कर्त्तव्य राष्ट्र के आदेशों का पालन करना है। फासिस्ट शासन ने रेडियो तथा समाचारपत्रों द्वारा जनता में उग्र एवं उत्कट राष्ट्रीयता के, उनमें प्राचीन रोम के लुप्त गौरव और वैभव को पुरुज्जीवित करने के और राष्ट्र को भगवान् समझते हुए उसके लिए सर्वस्व सर्मपित करने के भाव उत्पन्न करने का पूरा प्रयत्न किया।

(२) **राज्य की स्थिति**—फासिज़्म राष्ट्र की भाँति समाज में राज्य को सर्वोच्च स्थिति प्रदान करता है, वह इसे सब व्यक्तियों से तथा अन्य सभी संस्थाओं और समुदायों से ऊँचा मानता है। मुसोलिनी के मतानुसार, "प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक व्यक्ति राज्य के अन्तर्गत एवं राज्य के लिए है, राज्य के बाहर या उसके विरुद्ध कोई नहीं हो सकता है।" राज्य को प्रत्येक क्षेत्र में सब व्यक्तियों पर पूर्ण निरंकुश प्रभुसत्ता प्राप्त है; राज्य की तुलना में और उसके विरुद्ध व्यक्तियों के कोई अधिकार नहीं हैं।

राज्य का कार्य-क्षेत्र असीम, अमर्यादित और विशाल है। अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण करने वाले व्यक्तिवादी विचारक राज्य को कम-से-कम अधिकार देना चाहते थे, मुसोलिनी इसके विपरीत राज्य को अधिकतम अधिकार देने का पक्षपाती था। उसने कहा था—"फासिस्ट राज्य रात के समय चक्कर काटने वाले चौकीदार

की भाँति केवल लोगों की जान और माल की रक्षा करने वाला नहीं है, इसका उद्देश्य अपने नागरिकों के लिए भौतिक समृद्धि की व्यवस्था नहीं है, अपितु यह राष्ट्र के राजनीतिक, न्यायिक और आर्थिक संगठन के लिए बनाई गई एक आध्यात्मिक सत्ता है।"

(३) **राज्य का सर्वाधिकारवादी** (Totalitarian) **तथा सम्पूर्ण सत्तावादी** (Authoritarian) **संगठन**—राज्य की उपर्युक्त स्थिति से स्पष्ट है कि उसे व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हस्तक्षेप करने और नियम बनाने के अधिकार प्राप्त हैं। व्यक्ति के अपने कोई स्वाभाविक या प्राकृतिक अधिकार नहीं हैं, सब अधिकार और सत्ता राज्य को ही प्राप्त है। मुसोलिनी के शब्दों में, "राज्य की फासिस्ट विचारधारा व्यक्तिवाद का विरोध करती है, राज्य की महत्ता पर बल देती है और व्यक्ति को केवल वहीं तक स्वीकार करती है जहाँ तक उसके हित राज्य के हितों के अनुकूल हैं। राज्य एक ऐतिहासिक सत्ता के रूप में मनुष्य के अन्तःकरण तथा सार्वभौम इच्छा का प्रतिनिधि है।···राज्यविषयक फासिस्ट विचारधारा सर्वव्यापी (all embracing) है, इससे बाहर किसी भी मानवीय या आध्यात्मिक मूल्य रखने वाली वस्तु की न तो कोई सत्ता है और न ही कोई महत्व है। इस प्रकार फासिज़्म समग्राधिकारवादी (Totalitarian) है, फासिस्ट राज्य जनता के समग्र जीवन की सम्भावनाओं को विकसित करता है।"[१] वह व्यक्ति के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, बौद्धिक और नैतिक जीवन पर कठोर नियन्त्रण स्थापित करता है।

फासिस्ट इटली में तथा नाज़ी जर्मनी में इसी सिद्धान्त के आधार पर नागरिकों की सभी वैयक्तिक स्वतन्त्रताओं का हनन करते हुए उनके सम्पूर्ण जीवन को नियन्त्रित किया गया। विज्ञान, साहित्य, कला, संगीत, सिनेमा, थियेटर, विद्यालय और विश्वविद्यालयों तक पर राज्य का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित किया गया। बालक-बालिकाओं के संगठन बनाकर उन्हें आरम्भ से नवीन विचारों के अनुसार ढाला जाने लगा। प्रेस, रेडियो, समाचारपत्र तथा प्रचार के सभी साधन राज्य के अधीन थे। किसी व्यक्ति को राज्य के किसी कार्य के विरोध में अपनी स्वतन्त्र सम्मति प्रकट करने का कोई अधिकार नहीं था। सब लोगों की गतिविधियों पर राज्य की ओर से खुफिया पुलिस द्वारा कड़ी देखरेख रखी जाती थी। राज्य से तनिक भी भिन्न या विरोधी मत रखने वालों को गोली से उड़ा दिया जाता था, जेलखानों में ठूँस दिया जाता था अथवा इनसे 'वन्दी शिविरों' (Concentration Camps) में कठोर कार्य लिया जाता था। धार्मिक क्षेत्र में भी राज्य के प्रभुत्व को स्वीकार किया गया। मुसोलिनी ने यद्यपि पोप से समझौता कर लिया, तथापि जर्मनी में हिटलर ने धर्म पर राज्य का नियन्त्रण स्थापित किया। वहाँ यह घोषणा की गई कि जर्मनी का भावी धर्म नाज़ीवाद होगा; इसका पैगम्बर, पोप और मसीहा हिटलर होगा। मुसोलिनी ने पोप को स्वीकार करते हुए भी इस बात पर बल दिया कि राज्य को नैतिकता के नियम निर्धारित करने का अधिकार है। मुसोलिनी के शब्दों में, "राज्य के अपने कोई

---

१. मैकगवर्न—फ्राम लूथर टु हिटलर, पृ० ५६८

धार्मिक सिद्धान्त (Theology) नहीं हैं, किन्तु उसकी अपनी नैतिक नियमावली (Moral Code) अवश्य है। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह इस नियमावली के अनुसार अपने नागरिकों के आचार-व्यवहार का नियन्त्रण करे।" इससे यह स्पष्ट है कि फासिस्ट विचारधारा व्यक्ति के आर्थिक और नैतिक विचारों पर तथा जीवन के सभी क्षेत्रों पर अपना प्रभुत्व और पूर्ण नियन्त्रण स्थापित करना चाहती है।

(४) **लोकतन्त्र का विरोध**—फासिस्ट लोकतन्त्र के प्रबल शत्रु थे। उन्हें इस पर आधारित संसदीय शासन-प्रणाली में कोई आस्था नहीं थी। वे लोकतन्त्र को मूर्खतापूर्ण, भ्रष्टाचारी, मन्दगामी, अस्वाभाविक, काल्पनिक, अव्यावहारिक और अदक्षतापूर्ण शासन समझते थे। उनके मत में जनतन्त्र "सड़ने वाली लाश" के समान था। वे संसद् को "बातूनी लोगों की ऐसी दुकान समझते थे जो कभी कोई ठोस कार्य नहीं करती है।" वे लोकतन्त्र के मौलिक सिद्धान्तों—समानता, स्वतन्त्रता, सहिष्णुता, व्यक्ति की महत्ता और गरिमा में कोई विश्वास नहीं रखते थे। मुसोलिनी ने तत्कालीन इटली की राजनीतिक परिस्थितियों से क्षुब्ध होकर अपने एक लेख 'संसद् का सत्यानाश हो' (Down with Parliament) में लिखा था कि "इटली की संसद् एक जहरीला (Noxious) फोड़ा है, यह समूचे राष्ट्र के रक्त को दूषित कर रहा है, अतः इसका तत्काल समूलोन्मूलन होना चाहिए।" अन्यत्र मुसोलिनी ने लोकतन्त्र का विरोध करते हुए लिखा है[1]—फासिज़्म लोकतन्त्र की समूची जटिल विचारधारा का विरोध तथा खण्डन करता है।...यह इस बात को अस्वीकार करता है कि बहुमत बहुसंख्या में होने के कारण मानव-समाज का संचालन कर सकता है। यह इस बात से भी इनकार करता है कि बहुसंख्या (संसद् में) समय-समय पर विचार-विमर्श करके शासन कर सकती है। फासिज़्म मनुष्य-जाति में अपरिवर्तनशील, लाभकारी और फलप्रद विषमता को स्वीकार करता है, सब लोगों को मताधिकार देकर इस विषमता को स्थायी रूप से कभी दूर नहीं किया जा सकता है। लोकतन्त्र का यह लक्षण किया जा सकता है कि "यह थोड़े-थोड़े समय बाद चुनावों के अवसर पर लोगों को यह भुलावा देने का साधन है कि प्रभुसत्ता उनमें निहित है, जबकि वास्तव में यह मुट्ठी-भर अनुत्तरदायी और पर्दे के पीछे रहने वाले व्यक्तियों के हाथ में होती है।"

लोकतन्त्र में व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा अधिकारों को बहुत महत्व दिया जाता है। फासिज़्म इनकी उपेक्षा करता हुआ सैनिक अनुशासन पर तथा आँख मूँदकर राज्य की आज्ञाओं के पालन पर बल देता है। फासिस्टों का प्रसिद्ध नारा था—**"विश्वास रखो, आज्ञा पालन करो, लड़ो"** (Credee, Obbedize Combattere, *i.e.*, Have faith, obey, fight).

(५) **नेता का शासन और अधिनायकता** (Dictatorship)—फासिज़्म लोकतन्त्रीय शासन-प्रणाली के स्थान पर नेता तथा अधिनायक द्वारा शासन पर बल देता है। उसके मतानुसार जनता में अधिकांश व्यक्ति मूर्ख और अयोग्य होते हैं,

---

१. मुसोलिनी—दी पोलिटिकल एण्ड सोशल ड्राक्ट्रिन आफ फासिज़्म, पृ० १४

केवल थोड़े-से व्यक्ति ही बुद्धिमान् और समझदार होते हैं। इनका यह कर्त्तव्य है कि वे अपने अभागे मूर्ख भाइयों का समुचित पथ-प्रदर्शन करते हुए इन पर शासन करें। जिस प्रकार कुछ व्यक्ति कवि, चित्रकार, गवैये और वैज्ञानिक की स्वाभाविक योग्यता लेकर उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार कुछ व्यक्ति शासन करने की योग्यता लेकर पैदा होते हैं। ऐसे व्यक्तियों का यह कर्त्तव्य है कि वे शासन करें। उनके हाथ में शासन की बागडोर रहने से जनता को सर्वोत्तम ढंग की शासन-व्यवस्था प्राप्त होती है तथा वर्तमान समय में संख्या पर आधारित लोकतन्त्र के स्थान पर गुणों पर आधारित (Qualitative) सच्चा लोकतन्त्र स्थापित होगा। इस प्रकार शासन करने की स्वाभाविक योग्यता से सम्पन्न नेता अपने एक महान् नेता या अधिनायक के नेतृत्व में एकत्र होते हैं। हिटलर ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि थोड़े-से बुद्धिमानों का यह कर्त्तव्य है कि वे जनता की बहुसंख्या को एक सुदृढ़ शासन प्रदान करें।[1] इटली और जर्मनी में ऐसे बुद्धिमान् नेता मुसोलिनी तथा हिटलर थे। नेता के पास शासन करने की निरंकुश शक्ति होती है, अतः इसका शासन अधिनायकतन्त्र या तानाशाही (Dictatorship) कहलाता है। इटली में शासन करने वाले नेता को **दूचे** (Duce) तथा जर्मनी में **फ्यूहरर** (Fuehrer) कहा जाता था। विधान-निर्माण, शासन-प्रबन्ध और न्यायपालिका के सभी अधिकार शनैः-शनैः इन अधिनायकों के हाथ में आ गए, इन्होंने सुदृढ़ केन्द्रीय सरकार बनाकर राज्य की सभी संस्थाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया, सभी स्थानीय अधिकारियों को अपनी इच्छा से नियुक्त करते हुए समूचे शासन पर अपना प्रभुत्व सुदृढ़ किया। इसे अधिक शक्तिशाली बनाए रखने के लिए विरोधी दलों का सफाया किया गया, केवल फासिस्ट या नाज़ी दल को वैध माना गया। यहाँ दल और सरकार में अभेद था, फासिस्ट दल का नेता मुसोलिनी ही इटली के शासन का अध्यक्ष था, वह सरकार और दल का निरंकुश शासक था। १९३९ में इटली में पुराने निर्वाचित प्रतिनिधि सदन (Chamber of Deputies) के स्थान पर एक नए ढंग का प्रतिनिधि सदन Chamber of Fascional Corporations स्थापित किया गया, इसके सभी सदस्य मुसोलिनी द्वारा नियुक्त किए जाते थे। लोकतन्त्र का इससे अधिक क्या उपहास हो सकता है कि जनता द्वारा निर्वाचित होने वाले सदस्य अधिनायक द्वारा नियुक्त किए जाएँ। जर्मनी में वहाँ की संसद् 'राइखस्टाग' (Reichstag) ने अपने सब अधिकार स्वयमेव हिटलर को सौंप दिए थे। इतिहास में मुसोलिनी तथा हिटलर के अधिनायकतन्त्रों से अधिक शक्तिशाली शासन पहले कभी स्थापित नहीं हुए थे। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि इन दोनों देशों में अधिनायक अपने देश की जनता का प्रबल समर्थन पाने में सफल हुए। इसे उन्होंने उचित एवं अनुचित बलप्रयोग, अन्धश्रद्धा, देशभक्ति, प्रथा एवं प्रचार के सभी आधुनिक साधनों—समाचारपत्र, रेडियो आदि की सहायता से प्राप्त किया।

(६) **पूंजीवाद का समर्थन**—फासिज़्म पूंजीवाद का पोषक और समाजवाद का विरोधी है। पहले यह बताया जा चुका है कि साम्यवाद के आतंक से भयभीत

---

१. हिटलर—मीन काम्फ, पृ० ६६०-६१, ६६५

पूँजीपतियों, महाजनों, व्यापारियों, जमींदारों तथा उद्योगपतियों ने मुसोलिनी की सहायता मुक्तहस्त से की थी। जर्मनी में भी हिटलर को पूँजीपतियों से समर्थन प्राप्त हुआ था। अतः ये दोनों विचारधाराएँ समाजवाद की कट्टर विरोधी हैं। पूँजीवाद की सबसे बड़ी बुराई शोषण है, मुट्ठी-भर पूँजीपति असंख्य किसानों और मजदूरों का शोषण करते हैं। समाजवाद इसीलिए इस व्यवस्था का विरोध करता है, किन्तु फासिज़्म ऐसी व्यवस्था को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करता है और उसे सुदृढ़ बनाता है। रजनी पामदत्त आदि कुछ समाजवादियों ने यह विचार प्रकट किया है कि फासिज़्म मरणासन्न पूँजीवाद का अन्तिम सहारा है।[1] फासिज़्म मजदूरों और मिल-मालिकों के सम्मुख अपने दो विभिन्न रूप या मुखौटे रखता है: मजदूरों से वह कहता है कि वह पूँजीवाद का विरोधी है और पूँजीपतियों से कहता है कि वह समाजवाद का शत्रु है। वह इन दोनों से भिन्न एक तीसरा हल प्रस्तुत करता है। इसे संघबद्ध या निगमात्मक राज्य (Corporate State) कहा जाता है। आगे इसका वर्णन किया जाएगा। आदर्श रूप से यह नवीन हल प्रस्तुत करते हुए भी फासिज़्म ने श्रमजीवियों की अपेक्षा पूँजीपतियों का अधिक साथ दिया। उसने ऐसी व्यवस्था स्थापित की जिसमें मजदूर वर्ग को निःशुल्क सिनेमागृहों की तथा छुटियाँ मनाने के सस्ते केन्द्रों की थोड़ी सुविधाएँ देते हुए अधिकांश सुविधाएँ पूँजीपतियों को प्रदान की गईं। वह समाजवाद के सर्वथा विपरीत यह मानता है कि व्यक्ति का सम्पत्ति पर तथा उत्पादन के साधनों पर अधिकार होना चाहिए, वैयक्तिक सम्पत्ति की तथा उत्पादन-प्रणाली पर व्यक्तिगत स्वामित्व की व्यवस्था हितकर है। वह सुव्यवस्था बनाए रखने के लिए तथा हड़तालों का दमन करने के लिए साम्यवादियों के विरुद्ध कठोर कार्यवाही का समर्थन करता है।

किन्तु पूँजीवाद का समर्थक होते हुए भी फासिज़्म इसका व्यक्तिवादियों की भाँति अन्धभक्त नहीं है। अपने मौलिक सिद्धान्त—राज्य की सर्वोपरि सत्ता एवं महत्व को स्वीकार करने के कारण फासिज़्म व्यक्तिवाद के इस सिद्धान्त को नहीं मानता है कि सम्पत्ति पर मनुष्य का जन्मसिद्ध या प्राकृतिक अधिकार है। उसके मतानुसार मनुष्य के अन्य सभी अधिकारों की भाँति यह अधिकार भी उसे राज्य से मिला है और राज्य के हित की दृष्टि से उसे व्यक्तिगत सम्पत्ति पर अथवा उत्पादन की वैयक्तिक प्रणाली पर नियन्त्रण करने का पूर्ण अधिकार है। राज्य आवश्यकता पड़ने पर सार्वजनिक हित की दृष्टि से वैयक्तिक सम्पत्ति का अपहरण भी कर सकता है।

(७) **निगमात्मक राज्य** (Corporate State)—फासिस्ट आर्थिक क्षेत्र में इसे अपनी सबसे बड़ी तथा निराली देन समझते थे। इसके अनुसार राज्य व्यक्तियों का निर्जीव समूह मात्र नहीं है, अपितु विभिन्न आर्थिक कार्य करने वाले संघों या निगमों (Corporations) का सजीव समुदाय है। व्यक्ति इन संघों में सम्मिलित होकर राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों को पूरा करते हैं। ये संघ विभिन्न

---

१. रजनी पामदत्त—फासिज़्म : एन एनलिसिस, पृ० ३८

व्यवसायों या पेशों के आधार पर बनाए जाते हैं। प्रत्येक उद्योग और व्यवसाय में मजदूरों तथा मालिकों के पृथक्-पृथक् संघ होते हैं। उच्च स्तर पर इन्हीं संघों को निगम या कारपोरेशन (Corporation) कहा जाता है। इन सब निगमों से ही मिलकर राज्य का निर्माण होता है, अतः इसे निगमात्मक राज्य (Corporate or Corporative State) कहा जाता है। इसका मौलिक विचार यह है कि राज्य का निर्माण और संगठन पृथक् व्यक्तित्व रखने वाले नागरिकों से नहीं, अपितु विशिष्ट उद्योगों, व्यवसायों और पेशों में काम करने वाले व्यक्तियों के समुदायों या निगमों से होता है। राज्य के ऐसे संगठन का विचार बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में श्रमिक संघवाद (ऊपर पृ० ४४९), श्रेण समाजवादी तथा बहुलवाद ने प्रस्तुत किया था। इनका विचार यह था कि सभी उद्योगों का संचालन श्रमिक संघों द्वारा किया जाना चाहिए और इनसे बनने वाले महासंघ को राज्य का स्थान ले लेना चाहिए। मुसोलिनी श्रमिक संघवाद की विचारधाराओं से प्रभावित हुआ तथा उसने १९३४ के निगम कानून (Corporation Act) द्वारा इटली को एक निगमात्मक राज्य बनाया।

इस कानून के अनुसार इटली में सिण्डीकेट (Syndicate) तथा निगम या कारपोरेशन (Corporation) नामक दो प्रकार की संस्थाएँ बनाई गईं। प्रत्येक जिले में प्रत्येक व्यवसाय और पेशे के दो सिण्डीकेट बनाए गए, एक सिण्डीकेट में उस व्यवसाय से सम्बद्ध सब मालिक (Employer) और दूसरे में मजदूर सम्मिलित होते थे। विभिन्न जिलों के इन स्थानीय सिण्डीकेटों से विभिन्न उद्योगों के राष्ट्रीय संघ (National Federation) बनाए गए। इन राष्ट्रीय संघों से कुछ महासंघ (Confederation) बनाए गए। प्रत्येक महासंघ में अनेक उद्योगों से सम्बद्ध प्रतिनिधि होते थे। इस प्रकार इटली में कुल नौ महासंघ स्थापित किए गए। कृषि, उद्योग, वाणिज्य तथा बैंकिंग से सम्बद्ध एक-एक महासंघ मालिकों का तथा एक-एक महासंघ श्रमिकों का था। इस प्रकार इन आठ महासंघों के अतिरिक्त नवाँ महासंघ कलाकारों का था।

इस प्रकार मालिकों और श्रमिकों की तीन प्रकार की संस्थाएँ—सिण्डीकेट, राष्ट्रीय संघ (National Federation) तथा राष्ट्रीय महासंघ (National Confederation) बन गईं। इनका प्रधान कार्य मजदूरों के विवादों का निर्णय करना तथा सामूहिक ठेके लेना था। यदि किसी विवाद का इनसे निर्णय न हो सके तो इसे पंच-निर्णय (Arbitration) के लिए दिया जाता था, इसका निर्णय सन्तोषजनक न होने की दशा में राजकीय श्रमिक-न्यायालयों को इस विषय में अन्तिम निर्णय करने का अधिकार था। इटली में हड़ताल तथा तालाबन्दी (Lock-out) गैर-कानूनी घोषित किए गए। प्रत्येक उद्योग में मालिकों तथा श्रमिकों के सिण्डीकेटों की सदस्यता अनिवार्य नहीं, अपितु ऐच्छिक थी। किन्तु एक उद्योग में एक ही सिण्डीकेट हो सकता था और इसके लिए राज्य से मान्यता प्राप्त करना आवश्यक था। इस प्रकार मान्यता-प्राप्त सिण्डीकेट अपने उद्योगों के सभी मालिकों तथा श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार रखता था। इन सिण्डीकेटों पर विभिन्न कानूनों और नियमों द्वारा

राज्य का कठोर नियन्त्रण स्थापित किया गया। राज्य फासिस्ट विचारधारा के समर्थक सिण्डीकेटों को ही मान्यता देता था। एक कानून के द्वारा यह व्यवस्था की गई कि इन सिण्डीकेटों के अधिकारी योग्य, नैतिक तथा राष्ट्र के प्रति वफादार होने चाहिएँ। इससे इन पर फासिस्ट पार्टी के व्यक्तियों का पूरा प्रभुत्व स्थापित हो गया, क्योंकि उस समय इटली में 'योग्य और नैतिक' व्यक्ति केवल इस विचारधारा के कट्टर अनुयायी थे।

उपर्युक्त नौ सिण्डीकेटों के अतिरिक्त ५ फरवरी १९३४ के कानून से इटली में २२ कारपोरेशन या **निगम** स्थापित किए गए। ये सिण्डीकेटों से मौलिक भेद रखने वाले सर्वोच्च संगठन थे। सिण्डीकेटों में एक व्यवसाय से सम्बद्ध एक ही प्रकार के व्यक्ति—मालिक या मजदूर सम्मिलित होते थे, किन्तु कारपोरेशन या निगम में तीन प्रकार के सदस्य होते थे—(१) मजदूरों के प्रतिनिधि, (२) मालिकों के प्रतिनिधि, (३) राज्य द्वारा नियुक्त प्रतिनिधि, इन्हें उपभोक्ताओं (Consumers) का प्रतिनिधि समझा जाता था। इन निगमों का संगठन, नियमन और नियन्त्रण पूर्ण रूप से राज्य के हाथ में था। किसी भी निगम का निर्णय केन्द्रीय सरकार की सहमति के बिना क्रिया रूप में परिणत नहीं किया जा सकता। प्रत्येक निगम का कार्य अपने क्षेत्र के उद्योगों में, मालिकों तथा श्रमिकों के सिण्डीकेटों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना, उत्पादन का नियन्त्रण करना, वस्तुओं का मूल्य तथा श्रमिकों का वेतन निर्धारित करना था। इन सिण्डीकेटों तथा निगमों से इटली की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था पर फासिस्ट राज्य का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया, क्योंकि २२ निगमों की राष्ट्रीय परिषद् (National Council of Corporations) की केन्द्रीय समिति में न केवल फासिस्ट दल का महामन्त्री तथा राज्य के मन्त्री सम्मिलित होते थे, अपितु इसका सभापति शासन का अध्यक्ष मुसोलिनी स्वयमेव होता था।[1] इस प्रकार यह न केवल राजनीतिक संस्थाओं का, अपितु राष्ट्र के आर्थिक जीवन का प्रधान नियामक और नियन्त्रण करने वाला था।

फासिज़्म का उपर्युक्त सिद्धान्त ऊपरी दृष्टि से श्रमिक संघवाद (Syndicalism) के राज्यविषयक सिद्धान्त से सादृश्य रखता हुआ प्रतीत होता है। श्रमिक संघवाद सभी उद्योगों का संचालन श्रमिक संघों द्वारा करना चाहता है, मुसोलिनी ने ये अधिकार निगमों या कारपोरेशनों को प्रदान किए हैं। अतः मैक्सी ने लिखा है कि फासिज़्म का निगमविषयक विचार (Corporative idea) फासिस्ट वेशभूषा में श्रमिक संघवाद ही है। किन्तु इस सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यह केवल ऊपरी या प्रतीयमान सादृश्य है, वस्तुतः इन दोनों के सिद्धान्तों में गहरे मौलिक भेद या अन्तर हैं: **पहला भेद** वर्ग-संघर्ष के सम्बन्ध में है। पहले (पृ० ४४८) यह बताया जा चुका है कि मार्क्सवाद और समाजवाद की भाँति श्रमिक संघवाद वर्ग-संघर्ष में तथा पूंजीपति वर्ग के उन्मूलन में गहरी आस्था रखता है। उसके श्रमिक संघों या सिण्डीकेटों का एक प्रधान उद्देश्य पूंजीवाद का विध्वंस करके सारी सत्ता अपने हाथ

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० ६४५

में लेना है, वह केवल मजदूरों के संगठनों को ही स्वीकार करता है, उसके यहाँ मिल-मालिकों या पूँजीपतियों के संघों का कोई स्थान नहीं है। फासिज़्म इसके सर्वथा प्रतिकूल मिल-मालिकों और श्रमिकों के सिण्डीकेटों की व्यवस्था करता है, उसके निगमों या कारपोरेशनों में दोनों वर्गों के प्रतिनिधि होते हैं। उसका उद्देश्य वर्ग-संघर्ष (Class Struggle) के स्थान पर राज्य के हित एवं कल्याण की दृष्टि से विभिन्न वर्गों में सहयोग (Class collaboration) और सामंजस्य स्थापित करना एवं राज्य के समूचे आर्थिक जीवन को नियन्त्रित करना है। **दूसरा** भेद श्रमिक संघों के अधिकारों का है। श्रमिक संघवादी अराजकतावादी हैं, वे राज्य की सत्ता का उन्मूलन करके उद्योगों के संचालन के सम्पूर्ण अधिकार इन स्वायत्तशासी (Selfgoverning) सिण्डीकेटों को देना चाहते हैं। इसके सर्वथा विपरीत फासिस्ट विचारधारा राज्य को अधिकतम शक्तिशाली संगठन बनाकर सिण्डीकेटों और कारपोरेशनों पर राज्य का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित करती है, इनकी मान्यता और सत्ता राज्य पर निर्भर है। ये स्वतन्त्र, स्वायत्तशासी संगठन न होकर, सरकार के आदेशों पर कार्य करने वाले राज्य के विभाग मात्र थे। इस व्यवस्था में राज्य ने प्रत्येक बड़े उद्योग से सम्बन्ध रखने वाले मिल-मालिकों और मजदूरों के संघ बना दिए, इन्हें अपने उद्योगों का नियन्त्रण करने के अधिकार दिए गए, किन्तु इन पर राज्य का प्रबल नियन्त्रण और अंकुश था। एकमात्र फासिस्ट दल की सत्ता को स्वीकार करने वाला राज्य ही मिल-मालिकों और मजदूरों के सभी विवादों का अन्तिम निर्णायक था।

निगमात्मक राज्य की मौलिक मान्यताएँ तथा इनकी आलोचना—यह दो मान्यताओं पर आधारित है : **पहली** मान्यता यह है कि मनुष्य को सामान्य रूप से एक नागरिक के रूप में राज्य के राजनीतिक जीवन में भाग नहीं लेना चाहिए, किन्तु उसे मजदूर, किसान, वकील, डाक्टर या अपने अन्य किसी पेशे के आधार पर ही अपने व्यवसायात्मक संगठन (Functional Organisation) के माध्यम से ही राजनीतिक कार्यों में भाग लेना उचित है। इसका यह कारण है कि सामान्य राजनीतिक समस्याएं इतनी अधिक जटिल होती हैं कि अधिकांश व्यक्ति उन्हें समझने में समर्थ नहीं होते हैं, वे केवल अपने व्यवसायों या पेशों से सम्बद्ध समस्याएँ ही समझ सकते है। **दूसरी** मान्यता यह है कि समाज एवं राज्य से सम्बन्ध रखने वाली जटिल समस्याओं को समझने का सामर्थ्य मुट्ठी-भर गिने-चुने लोगों में ही होता है, ये जनता के स्वाभाविक नेता तथा शासन करने वाला विशिष्ट अभिजात वर्ग (Ruling Elite) होता है। प्लेटो ने इसे दार्शनिक राजाओं (Philosopher Kings) का वर्ग माना था और लोकतन्त्र को मूर्खों का शासन कहा था। फासिज़्म इसे सही मानता हुआ लोकतन्त्रीय शासन-व्यवस्था के स्थान पर फासिस्ट पार्टी के अभिजात वर्ग के शासन पर बल देता है।

किन्तु फासिस्टों की निगमात्मक राज्य की कल्पना तथा लोकतन्त्र का विरोध कई कारणों से निराधार प्रतीत होता है : (१) वर्तमान समय में आर्थिक और राजनीतिक प्रश्न इतने अधिक सम्बद्ध हो गए हैं कि इनका पृथक्करण करना सम्भव नहीं रहा। उदाहरणार्थ, विदेशों से आयात किए जाने वाले माल पर चुंगी लगाने का

प्रश्न प्रधान रूप से आर्थिक है, किन्तु इसके साथ अन्य देशों से राजनीतिक सम्बन्धों का प्रश्न इससे इतना अधिक गुँथा हुआ है कि इसे विशुद्ध आर्थिक प्रश्न नहीं समझा जाता है। सं० रा० अमेरिका तथा अन्य उन्नत देशों द्वारा एशिया और अफ्रीका के औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े देशों के विकास के लिए दी जाने वाली सहायता केवल आर्थिक प्रश्न ही नहीं है, अपितु इसके अनेक महत्वपूर्ण सैनिक तथा राजनीतिक पहलू भी हैं। फासिस्टों की मान्यता के अनुसार सामान्य व्यक्ति अपने पेशों से सम्बद्ध आर्थिक प्रश्न तो समझ सकते हैं, किन्तु राजनीतिक प्रश्नों को समझने में असमर्थ हैं। किन्तु उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि आर्थिक प्रश्न राजनीतिक प्रश्नों से सम्बद्ध है। यदि वे आर्थिक प्रश्न समझ सकते हैं तो उनमें राजनीतिक समस्याओं को समझने का भी सामर्थ्य है। अतः इस विषय में फासिस्टों की उपर्युक्त युक्ति बड़ी निस्सार और निर्बल प्रतीत होती है।

(२) लोकतन्त्र यह मानता है कि सामान्य मनुष्य राजनीति की जटिल समस्याओं को भले ही न समझे, किन्तु इतना अवश्य जानता है कि उसे क्या कष्ट हैं और उनका प्रतिकार होना चाहिए। शासक वर्ग प्रायः जनता के कष्टों से अनभिज्ञ होता है। जूता किस जगह काटता है, इसे उसके पहनने वाले के अतिरिक्त कोई नहीं जान सकता है। लोकतन्त्र में भी यही स्थिति है। अरस्तू ने इसके लिए अतिथि का सुन्दर उदाहरण दिया है। आपके घर में आने वाला मेहमान भले ही आपके रसोइये की भाँति स्वादिष्ट भोजन न बना सकता हो, किन्तु वह स्वादिष्ट खाने को पहचानने या परखने की समझ अवश्य रखता है।[1] फासिस्टों के मतानुसार रसोइये को न केवल अपने बनाए भोजन के स्वादिष्ट होने का अन्तिम निर्णय करने वाला होना चाहिए, अपितु उसे यह भी अधिकार होना चाहिए कि वह आवश्यकता पड़ने पर शक्ति के प्रयोग से अपने मेहमानों से यह बात स्वीकार करा सके कि उसका बनाया हुआ रद्दी भोजन भी अत्यन्त स्वादिष्ट है।

(३) फासिस्ट विचारकों की यह मान्यता सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है कि जनता का कोई विशेष वर्ग अन्य वर्गों की अपेक्षा राजनीतिक समस्याओं को समझने में अधिक समर्थ है और इस कारण यह राष्ट्र का स्वाभाविक नेता होता है। विद्यालयों या महाविद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा मनुष्य के ज्ञान (Knowledge) में वृद्धि कर सकती है, किन्तु यह शिक्षा उसके निर्णय (Judgement), विवेक, विभिन्न समस्याओं के स्वरूप को पहचानने और परखने की शक्ति में वृद्धि करे, ऐसा आवश्यक नहीं है। परख या निर्णय की शक्ति व्यक्ति में चरित्र से, अनुभव से, परिपक्व विचारों, दूरदर्शिता, विवेक और बुद्धि से तथा स्वाभाविक गुणों से आती है। इनका पाठ नेता तैयार करने के लिए बनाए गए फासिस्ट स्कूलों में नहीं पढ़ाया जा सकता है। सुकरात ने दर्शन पढ़ाने वाले किसी स्कूल में शिक्षा नहीं ली थी, फिर भी वह अपने युग का महान् दार्शनिक था। ईसा मसीह ने किसी विश्वविद्यालय से धर्म के विषय में पी-एच० डी० नहीं प्राप्त की थी, किन्तु वह एक महान् धर्म का संस्थापक था। लिंकन

---

१. एबेन्स्टाइन—टूडेज़ इज़्म्स, पृ० ११२

और चर्चिल राजनीति की शिक्षा देने वाले किसी विद्यालय या महाविद्यालय में नहीं गए, फिर भी वे अपने समय के महान् राजनीतिज्ञ थे। नेतृत्व के लिए आवश्यक बुद्धिमत्ता और नैतिक साहस आदि गुणों के विकास में स्कूली शिक्षा से सहायता मिल सकती है, किन्तु इसके लिए इस शिक्षा को अनिवार्य समझना ठीक नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि शासन करने की तथा नेता बनने की क्षमता जिस सूझ-बूझ, समझ, विवेक, बुद्धि और नैतिक साहस पर आधारित है, वे गुण केवल एक विशिष्ट वर्ग में ही नहीं पाए जाते, अपितु समूची सामान्य जनता में निहित हैं। अतः फासिज़्म का अभिजात वर्ग द्वारा शासन (Rule by Elite) का सिद्धान्त सत्य नहीं। इसके विपरीत, लोकतन्त्र की धारणा सही है। जिस प्रकार पूर्ण सत्य का ज्ञान भगवान् के अतिरिक्त शायद ही किसी व्यक्ति को होता हो, फिर भी प्रत्येक व्यक्ति उसका आंशिक आभास पा सकता है; उसी प्रकार शासन का पूर्ण ज्ञान भले ही किसी को न हो सके, किन्तु उसका आंशिक ज्ञान सभी व्यक्तियों को होता है, अतः सभी व्यक्ति शासन के कार्यों में भाग लेने की सामर्थ्य रखते हैं, शासन करना कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की बपौती या विशेष गुण नहीं है।

(४) फासिज़्म जिस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में वैयक्तिक स्वतन्त्रता के विचार के स्थान पर राज्य की अनियन्त्रित और निरंकुश सत्ता स्थापित करता है, उसी प्रकार इसका निगमात्मक राज्य का विचार आर्थिक क्षेत्र में कल्याणकारी राज्य (Welfare State) के विचार को तिलांजलि देता है। इसका लक्ष्य व्यक्ति के हित के स्थान पर राज्य की शक्ति में वृद्धि करना और राष्ट्र के सभी साधनों को युद्ध-व्यवस्था (War economy) के लिए तैयार करना है। किन्तु जब जून १९४० में इटली के द्वितीय महायुद्ध में सम्मिलित होने पर इस व्यवस्था की परीक्षा का अवसर हुआ तो यह फासिस्ट राज्य इसमें बुरी तरह विफल हुआ। यह विफलता केवल राजनीतिक और सैनिक क्षेत्र में ही नहीं, अपितु आर्थिक क्षेत्र में भी हुई। बीस वर्ष से एक शक्तिशाली नवीन रोमन साम्राज्य बनाने का प्रलोभन देकर इटली की निर्धन जनता के सुख और समृद्धि का बलिदान करते हुए उसे युद्ध के लिए तैयार किया गया था, किन्तु इसका अवसर आने पर रणक्षेत्र में भारी पराजय के साथ आर्थिक क्षेत्र में भी इटली को भीषण विफलता का मुँह देखना पड़ा। इस युद्ध से उसने साम्राज्य और सम्पत्ति खोई, उसे आर्थिक बरबादी और निर्धनता मिली, उसे अपने उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ा।

अन्य सिद्धान्त : हिंसा, युद्ध, अन्तर्राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद—मुसोलिनी तथा फासिस्ट विचारक राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए हिंसा का समर्थन कई युक्तियों के आधार पर करते हैं : **पहली** युक्ति यथार्थवादी (Realistic) दृष्टिकोण की है, प्रकृति का यह स्वाभाविक नियम है कि जब दो परस्पर समझौता न कर सकने वाली शक्तियों का सामना होता है तो इसका अन्तिम निर्णय सदैव किसी आध्यात्मिक या दार्शनिक शक्ति से न होकर, भौतिक शक्ति से होता है। हिंसा के समर्थन की **दूसरी** युक्ति मनोवैज्ञानिक है। मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी, लोभी, लालची, असाहसिक तथा सार्वजनिक हित की कोई परवाह न करने वाला होता है। उसमें उत्साह, साहस, शूर-

वीरता, बलिदान तथा देशभक्ति के गुणों का तभी विकास होता है जब उसके नेता उसे संघर्ष एवं युद्ध के लिए प्रेरित करते हैं। जिस प्रकार मातृत्व से नारी में बच्चे के प्रति ममता, प्रेम, बलिदान आदि के उत्तम गुणों का विकास होता है, उसी प्रकार पुरुष में पौरुष, शूरता, साहस आदि के गुणों का विकास युद्ध में पड़ने से होता है। हिंसा बुरी नहीं, अपितु सामाजिक बुराइयों को दूर करने वाली अच्छी वस्तु है। मुसोलिनी ने शक्ति और हिंसा से राजनीतिक सत्ता प्राप्त की थी और इसका प्रयोग करते हुए १९२२ में आम हड़तालों को बन्द किया था। उस समय इसने उसका समर्थन करते हुए कहा था कि ४८ घण्टों तक हिंसा का प्रयोग करने से वे परिणाम पैदा हुए जो ४८ वर्ष तक उपदेश देने और प्रचार करने से भी न उत्पन्न होते। "जब हिंसा इस प्रकार शरीर की सड़ांद (gangrene) का उन्मूलन करती है तो यह नैतिक दृष्टि से पवित्र और आवश्यक हो जाती है।"[1]

इस प्रकार हिंसा और युद्ध का समर्थन करते हुए फासिस्ट विचारक इन्हें असाधारण गौरव और महत्व प्रदान करते हैं। वे युद्ध का समर्थन कई कारणों के आधार पर करते हैं : **पहला** कारण यह है कि इससे अयोग्य और निर्बल राष्ट्रों का सफाया होता है; इससे संसार में योग्य, सभ्य और सबल राष्ट्रों का प्रभुत्व स्थापित होता रहता है। **दूसरा** कारण युद्ध द्वारा मनुष्य में शूरवीरता, साहस त्याग, बलिदान आदि के गुणों का विकास करना है, यदि ये गुण किसी राष्ट्र में न हों तो वह म्रियमाण और पतनोन्मुख हो जाता है, अतः मुसोलिनी शान्ति को अहितकर समझता था। उसका यह कहना था कि "मुझे न केवल शाश्वत शान्ति में आस्था नहीं है, किन्तु मुझे यह मनुष्य के मौलिक गुणों के विकास करने में बाधक प्रतीत होती है।" अतः मेरे विचार में "सारे राष्ट्र को सैनिक बनाया जाना चाहिए। मैं इटली के राष्ट्र को सदैव युद्ध की स्थिति में समझता हूँ।"

फासिस्ट अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी युद्ध को श्रेयस्कर समझते हैं और साम्राज्यवाद में दृढ़ विश्वास रखते हैं। मुसोलिनी के कथनानुसार सरकार का अर्थ ही साम्राज्य अथवा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से दूसरे राष्ट्रों पर शासन करने वाला राष्ट्र है। मुसोलिनी का यह विश्वास था कि सभ्य राष्ट्रों का यह कर्त्तव्य है कि वे पिछड़े हुए असभ्य राष्ट्रों को सभ्यता का पाठ पढ़ाने के लिए उन्हें जीतें तथा अपने साम्राज्य का अंग बनाएँ। मुसोलिनी ने स्वयमेव एबिसीनिया पर हमला करके उसे बमों और विषैली गैसों से सभ्यता का पाठ पढ़ाने का प्रयास किया था। इटली और जर्मनी में स्त्रियों का प्रधान कार्य साम्राज्य निर्माण के उद्देश्य से लड़े जाने वाले युद्धों में तोपों का शिकार बनने के लिए वीर योद्धा उत्पन्न करना था। फासिस्टों तथा नाज़ियों का विचार था कि जनता को अपनी उन्नति एवं गौरव के लिए स्वतन्त्रता की अपेक्षा अनुशासन को, आराम की अपेक्षा त्याग, तपस्या तथा बलिदान को एवं मक्खन की अपेक्षा बन्दूकों को अधिक महत्व देना चाहिए।

फासिज़म के गुण-दोष तथा मूल्यांकन—अपने आरम्भिक काल में फासिस्ट शासन इटली के लिए अनेक अंशों में वरदान सिद्ध हुआ, इसने नाना प्रकार के

१. कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० ४८०

राजनीतिक विवादों, भ्रष्टाचार और अराजकता से पीड़ित इटालियन जनता को सुरक्षा एवं क्षमतापूर्ण प्रशासन प्रदान किया। इससे राष्ट्रीय वित्त तथा राजस्व की दशा में भारी सुधार हुआ। इसने औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि की, दलदलें सुखाकर तथा अन्य प्रकार से राष्ट्रीय साधनों में वृद्धि की, शिक्षा की सुविधाओं को बढ़ाया, मजदूरों और मिल-मालिकों के विवादों को सुलझाया, चर्च के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किए, इटली की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति सुदृढ़ की, इसके राष्ट्रीय अभिमान को उद्दीप्त, जागृत और सन्तुष्ट किया। मुसोलिनी के मतानुसार फासिज़्म ने इटली को उसकी सभी अभीष्ट वस्तुएँ प्रदान कीं, वे ये थीं—सड़कें, पुल, नालियाँ, घरों में तथा कारखानों में सुरक्षा, ठीक समय पर चलने वाली गाड़ियाँ, सुव्यवस्थित उद्योग तथा इटली के उज्ज्वल भविष्य में तथा राष्ट्रीय अभिमान में विश्वास।[1] कुछ अमेरिकन विचारकों ने फासिज़्म की प्रशंसा के गीत इसलिए गाए कि इसने यह सिद्ध कर दिया था कि "जब लोकतन्त्रीय शासन अक्षम, अयोग्य तथा दिवालिया सिद्ध हो जाते हैं, उस समय शक्तिशाली व्यक्तियों के नेतृत्व में अधिनायकवाद सफल सिद्ध होते हैं। ये ऐसे शासनयन्त्रों का निर्माण करते हैं जो कुछ काम करके दिखाते हैं।" इटली में एक अमेरिकन राजदूत ने १९२८ में मुसोलिनी की अत्युच्च राजनीतिज्ञता (Super Statesmanship) की प्रशंसा करते हुए कहा था—"मनुष्यों की अधिकतम संख्या पर मौलिक एवं स्थायी प्रभाव डालने की दृष्टि से इटली का नेता (Duce) अब इस भूमण्डल का और वर्तमान युग का महानतम व्यक्ति है।"[2]

किन्तु इटली के ही कुछ प्रसिद्ध विद्वानों और प्रोफेसरों, विशेषत: गेतानो साल्वेमिनी (Gaetano Solvemini), सिल्वियो त्रेनिन (Silvio Trenin), भूतपूर्व प्रधानमन्त्री फ्रांसिस्को नित्ती (Francesco Nitti), कौण्ट कार्लो स्फोर्जा ने फासिस्ट शासन की उपर्युक्त प्रशंसा को अतिरंजित तथा अत्युक्तिपूर्ण बताया है, उनका यह कहना है कि इटली का आर्थिक और राजनीतिक संकट फासिस्टों द्वारा सत्ता हस्तगत करने से दो वर्ष पूर्व ही १९२० के अन्त तक समाप्त हो चुका था। फासिस्टों ने देश की अर्थव्यवस्था में कोई बड़ा सुधार नहीं किया, इस समय मजदूरों की मजदूरी जीवन-निर्वाह के व्यय की तुलना में घटी, देश की समृद्धि में कोई वास्तविक वृद्धि नहीं हुई, नागरिकों की प्राकृतिक स्वतन्त्राओं का अपहरण हुआ, मुसोलिनी शूरवीर नहीं, किन्तु महत्वाकांक्षी था, राजनीतिज्ञ अथवा आदर्शवादी नेता नहीं, अपितु पूँजीपतियों तथा सैनिकवादियों (Militarists) की कठपुतली था। उनका यह कहना है कि यह कोरा झूठ है कि फासिज़्म इटली में लोकप्रिय था, यदि ऐसा होता तो इसे यहाँ सदैव दमन और जासूसी का जाल बिछाकर, आतंक राज्य स्थापित करके शासन बनाए रखने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

फासिज़्म के दोष—फासिस्ट शासन के गुण-दोषों की तुलना में उसके दोषों का पलड़ा ही भारी प्रतीत होता है। उसका **पहला** दोष सभी प्रगतिशील विचारों

---

१. कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० ४८८

२. वही पुस्तक, पृ० ४८९

—लोकतन्त्र, उदारवाद, समानता, स्वतन्त्रता का विरोध है। यह लोगों को स्वतन्त्रतापूर्वक सोचने-विचारने तथा अपना मत प्रकट करने की स्वाधीनता नहीं देता। **दूसरा** दोष राज्य को तथा राष्ट्र को अत्यधिक महत्व देकर व्यक्ति को उसका दास बना देना है। इसमें व्यक्ति के विकास को राष्ट्र के नाम पर बलिदान कर दिया जाता है। **तीसरा** दोष इस व्यवस्था का निरंकुशतापूर्ण तानाशाही शासन (Dictatorship) है। अधिनायकवाद द्वारा इटली में भले ही कितनी सड़कें और पुल बनाए गए हों, किन्तु उसने वहाँ मानवता का निर्माण नहीं किया है। उसके द्वारा होने वाले लाभ हानियों की तुलना में नगण्य हैं। कोकर ने इस विषय में यह ठीक ही लिखा है कि अपने सर्वोत्तम रूप में भी अधिनायकवाद का संगठन गम्भीर चारित्रिक दोषों को दूर करने वाले सुधारगृह (House of Correction) या जेलखाने की भाँति होता है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति को एक कार्य सौंपा जाता है तथा उस पर इस बात की कड़ी देख-रेख रखी जाती है कि वह इस कार्य को किस ढंग से तथा कितनी मात्रा में पूरा करता है। समाज में अपराधी तथा गम्भीर दोषग्रस्त व्यक्तियों के लिए तो यह व्यवस्था ठीक हो सकती है, किन्तु सामान्य एवं उत्कृष्ट योग्यता रखने वाले मनुष्यों के लिए समुचित नहीं है। किसी राष्ट्र के सार्वजनिक और सांस्कृतिक जीवन का यदि इस प्रकार किसी विशेष केन्द्र से भारी दमन-व्यवस्था के साथ संचालन किया जाता है तो यह इसके साहित्य, कला, विज्ञान और विद्या के विकास की सम्भावना को समाप्त कर देता है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने 'विज्ञान और अधिनायकवाद' पर १९ शब्दों के अपने लघु लेख में **अधिनायकवाद के दुष्परिणाम** का विवेचन करते हुए यह ठीक ही लिखा है कि "एक अधिनायकवाद का तात्पर्य सब दिशाओं में प्रतिबन्ध लगाना है, इसका परिणाम सभी कार्यों को बेकार बनाना (Stultification) होता है। विज्ञान भाषण की स्वतन्त्रता के वातावरण में ही उन्नति कर सकता है।"[1]

साहित्य और विज्ञान की प्रगति रोकने के अतिरिक्त अधिनायकवाद अन्य बहुत सी भीषण बुराइयाँ उत्पन्न कर देता है। इसमें लोगों को दण्ड के भय से जबरदस्ती कार्य करने की आदत डाली जाती है। इसका यह परिणाम होता है कि उनमें स्वेच्छापूर्वक कानून पालन करने की तथा अपने पर अनुशासन रखने की वांछनीय मनोवृत्ति लुप्त हो जाती है। भय और दबाव के साधनों पर अत्यधिक बल देने से नागरिकों के मन और आत्मा का समुचित विकास नहीं हो पाता, वे डण्डे से हाँके जाने वाले पशुओं के समान बन जाते हैं, उनकी स्वाभाविक चेतना, पुरुषार्थ और उद्यम की भावना बहुत क्षीण हो जाती है। वे अपनी उन्नति के लिए अधिनायक या नेता पर ही निर्भर हो जाते हैं। ये नेता अपनी शक्ति बनाए रखने के लिए शान्तिकाल में भी आतंक और भय तथा युद्ध के उन्माद का वातावरण बनाए रखते हैं। इनमें देश की प्रगति या उन्नति नागरिकों के स्वाभाविक प्रयत्नों पर नहीं, अपितु अधिनायक की शक्ति पर निर्भर होती है। अधिनायक ही इनका देवता होता है, उसकी आंख मूँदते ही देश में अराजकता और अव्यवस्था मच जाती है। अधिनायक देश में अपनी स्थिति सुदृढ़

---

१. कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० ४६०

बनाए रखने के लिए युद्धों पर बल देते हैं और देश को सर्वनाश के पथ पर अग्रसर करते हैं। अधिनायकवाद का एक अन्य दोष यह है कि इसमें नेता को निर्भ्रान्त देवता मानने के कारण उसकी भूलों का उस प्रकार संशोधन नहीं हो सकता जैसे लोकतन्त्र में सम्भव है। उदाहरणार्थ, द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने पर ब्रिटेन की अनेक कमजोरियाँ प्रकट हुई, ब्रिटिश जनता एवं पार्लियामैण्ट ने तत्कालीन प्रधानमन्त्री नेविल चेम्बरलेन को इनके लिए उत्तरदायी ठहराया। इसके परिणामस्वरूप चेम्बरलेन को त्याग-पत्र देना पड़ा, चर्चिल प्रधानमन्त्री बना, उसने युद्ध का कुशलतापूर्वक संचालन करते हुए ब्रिटेन को विजयी बनाया। अधिनायकवादी देशों में ऐसा परिवर्तन सम्भव नहीं है। हिटलर ने रूस पर हमला करके तथा दूसरा मोर्चा खोलकर भारी भूल की, किन्तु जर्मनी में उसे अपने पद से हटाने की हिम्मत जर्मन जनता में नहीं थी, अतः अन्त में इसका भीषण दुष्परिणाम उसे भुगतना पड़ा। जर्मनी और इटली में अधिनायकवाद का अन्तिम परिणाम इनका भीषण विध्वंस, विनाश, बरबादी और तबाही के अतिरिक्त कुछ नहीं हुआ। अधिनायकवाद ने इनको जितना लाभ पहुँचाया था, उससे कहीं अधिक हानि पहुँचाई। इतिहास की साक्षी भी अधिनायकवाद के प्रतिकूल है। फ्रेंच राजाओं, रूसी ज़ारों, तुर्की के सुल्तानों तथा चीनी सम्राटों के निरंकुश शासन के विवरणों से यह स्पष्ट है कि इनमें भ्रष्टाचार और कुशासन का बोलबाला रहा, प्रजा सदैव पीड़ित और पददलित रही। इससे जनता को लाभ कम तथा हानि अधिक पहुँची। जर्मनी और इटली के अधिनायकवाद के प्रशंसक यह भूल जाते हैं कि युद्ध के बाद सभी देशों में विषम समस्याएँ उत्पन्न हो गई थीं। ब्रिटेन, फ्रांस आदि में लोकतन्त्रों ने बड़ी सफलतापूर्वक अपनी मुद्रापद्धतियों को ठीक किया, बाजारों को सन्तुलित किया, सार्वजनिक सुशासन की व्यवस्था की।

फासिज़्म द्वारा इटली में स्थापित अधिनायकवाद का एक बड़ा दोष कोरी पाशविक शक्ति पर आधारित होना है। इटली के दो महान् विचारकों ने इसकी कड़ी आलोचना करते हुए मुसोलिनी के पतन से बहुत पहले १९३२ में ही इसके अवश्यं-भावी विध्वंस की घोषणा की थी। प्रसिद्ध इटालियन दार्शनिक क्रोचे (Croce) ने लिखा था—"इतिहास हमें क्या शिक्षा देता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शक्ति पर आधारित शासन पतनोन्मुख (Decadent) राज्यों में ही जीवित बने रह सकते हैं। उन्नति करने वाले राज्यों में ऐसे शासन अस्थायी रूप से ही बने रह सकते हैं। ऐसे दमनकारी शासन अपना विरोध करने वाली जिन शक्तियों का दमन करना चाहते हैं, उनके दमन से और भी अधिक हिंसापूर्ण विस्फोट उत्पन्न होते हैं।" इटली के एक अन्य विचारक फेरेरो (Suglielmo Ferrero) ने प्राचीन रोमन साम्राज्य को ध्यान में रखते हुए लिखा था—"एक शक्ति जिसका निर्माण करती है, दूसरी शक्ति उसका विध्वंस कर देती है। रोमन साम्राज्य का निर्माण सेनाओं से हुआ था, इसका विध्वंस भी इसे उत्पन्न करने वाली सेनाओं से हुआ। इस साम्राज्य के साथ ही, उसी समय प्राचीन सभ्यता का भी अन्त हो गया जब इसकी सरकार ने किसी कानूनी अधिकार का समर्थन न होने पर कोरी शक्ति से ही शासन करना आरम्भ किया।"[1] यह युक्ति

१. कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट

फासिज़्म पर पूर्ण रूप से लागू होती है। इसका अभ्युदय और उत्कर्ष हिंसा और शक्ति से हुआ और इसकी समाप्ति भी स्वदेशवासियों द्वारा मुसोलिनी को गोली मार देने से तथा द्वितीय विश्वयुद्ध में पराजित होने से हुई।

फासिज़्म तथा साम्यवाद की तुलना—इन दोनों में कई महत्वपूर्ण समानताएँ और भेद हैं : **पहली** समानता यह है कि ये दोनों युद्धजन्य परिस्थितियों का परिणाम थे। प्रथम विश्वयुद्ध के समय नवम्बर १९१७ में रूस में बोल्शेविक साम्यवादी क्रान्ति हुई। फासिज़्म प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर इटली में उत्पन्न होने वाली जटिल परिस्थितियों में से प्रादुर्भूत हुआ था। दोनों देशों में नेताओं ने तत्कालीन अराजक परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए अपनी स्थिति सुदृढ़ की। फासिज़्म द्वितीय विश्वयुद्ध की ज्वालाओं में भस्म हो गया, किन्तु रूसी साम्यवाद इसकी आग में तपकर कुन्दन बनकर तथा प्रबल शक्तिशाली होकर निकला। **दूसरी** समानता समग्राधिकारवादी (Totalitarian) शासन-पद्धति में विश्वास तथा शक्ति पर बल देना, आतंक और भय का शासन स्थापित करना, प्रजातन्त्र और संसदीय प्रणाली का विरोध करना है। दोनों राज्य में एक ही दल की सत्ता बनाए रखने तथा समस्त विरोधी दलों का समूल विध्वंस करने पर बल देते हैं। **तीसरी** समानता राज्य को महत्वपूर्ण तथा साध्य एवं व्यक्ति को गौण और साधन समझना है। **चौथी** समानता संघर्ष और हिंसा में अगाध विश्वास रखना है। साम्यवाद वर्ग-संघर्ष को अनिवार्य मानता है और फासिज़्म विभिन्न राष्ट्रों में होने वाले संघर्ष एवं युद्ध को अवश्यम्भावी तथा हितकर मानता है। **पाँचवीं** समानता यह है कि दोनों उदारवाद (Liberalism) के मौलिक सिद्धान्तों—व्यक्ति की गरिमा तथा महत्व, सब व्यक्तियों की मौलिक समानता और स्वतन्त्रता के विचारों का खण्डन करते हैं।

उपर्युक्त समानताओं के होते हुए दोनों विचारधाराएँ मौलिक रूप से एक-दूसरे की विरोधी हैं। इनके प्रधान भेद निम्नलिखित हैं—(१) साम्यवादी पूँजीवाद तथा साम्राज्यवाद के कट्टर विरोधी हैं। किन्तु फासिस्ट इन दोनों के समर्थक हैं। (२) साम्यवादियों का एक प्रधान सिद्धान्त वर्ग-संघर्ष (Class Struggle) है (ऊपर पृ० ३२८)। वे पूँजीपतियों का समूलोन्मूलन करके एक वर्गहीन समाज बनाना चाहते हैं। किन्तु फासिस्ट समाज में विद्यमान सभी वर्गों की वर्तमान स्थिति को बनाए रखना चाहते हैं और इनमें सामंजस्य, समन्वय और सहयोग (Class-cooperation) की भावना पर बल देते हैं। (३) फासिस्ट राज्य की संस्था को असाधारण गौरव एवं महत्व प्रदान करते हैं (ऊपर पृ० ५४५-४६); किन्तु साम्यवादी राज्य को केवल संक्रमण-कालीन व्यवस्था (Transitional stage) मानते हैं, उनके मतानुसार पूँजीपति वर्ग समाप्त हो जाने पर राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी और यह संस्था विलुप्त हो जाएगी (ऊपर पृ० ३६२)। लेनिन के शब्दों में राज्य सर्वहारा वर्ग का पूँजीपति वर्ग से वर्ग-युद्ध करने का विशेष हथियार (Bludgeon) मात्र है, इससे अधिक कुछ भी नहीं है। (४) साम्यवाद एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति के, तथा एक वर्ग या राष्ट्र द्वारा दूसरे वर्ग या राष्ट्र के—सभी प्रकार के शोषण का कट्टर विरोधी है। किन्तु फासिज़्म राज्य द्वारा व्यक्ति के, उन्नत और सभ्य राष्ट्रों द्वारा पिछड़े हुए असभ्य

राष्ट्रों के शोषण का प्रबल समर्थक है। (५) साम्यवाद नास्तिक है, धर्म एवं चर्च का विरोध करता है। मार्क्स धर्म को जनता के लिए अफीम समझता है। मुसोलिनी भी पहले ऐसा ही मानता था, बाद में अपनी सत्ता सुदृढ़ बनाए रखने के लिए उसने १९२९ में पोप से समझौता किया। फासिस्टों ने चर्च का पूरा समर्थन किया तथा उससे अधिकतम लाभ उठाने का प्रयत्न किया। (६) फासिज़्म बुद्धिवाद का प्रबल विरोधी है (ऊपर पृ० ५४०), किन्तु साम्यवाद बुद्धिवाद पर आधारित है, इसका विकास मार्क्स से माओ तक एक सुदीर्घ बुद्धिवादी परम्परा, वाद-विवाद, विचार-विमर्श और गम्भीर चिन्तन से हुआ है। इसमें द्वन्द्वात्मक पद्धति (पृ० ३०९) को अत्यधिक महत्व दिया जाता है। यह बुद्धिवादी प्रक्रिया है। (७) साम्यवाद भौतिकवाद के सिद्धान्त में आस्था रखते हुए यह मानता है कि मनुष्य आर्थिक उद्देश्यों से प्रेरित होकर सभी कार्य करता है। फासिज़्म आदर्शवाद पर आधारित है और यह राज्य को एक नैतिक तथा आध्यात्मिक सत्ता समझता है। (८) साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीयता में विश्वास रखते हैं, वे राष्ट्रीय राज्य (National State) के विचार को पूँजीपति वर्ग द्वारा उत्पन्न की हुई संस्था समझते हैं। मार्क्स ने पूँजीवाद के उन्मूलन के लिए संसार के सभी राष्ट्रों के मजदूरों को एक होने का आह्वान किया (पृ० ३४०), किन्तु फासिस्ट राष्ट्रीय राज्य को ही सामाजिक संगठन का सर्वोत्तम रूप समझते हैं।

नाज़ीवाद का अभ्युदय—जर्मनी में इटली के फासिज़्म से गहरा सादृश्य रखने वाली नाज़ीवाद की विचारधारा का विकास हुआ। यह भी फासिज़्म की भाँति विश्वयुद्ध से उत्पन्न परिस्थितियों का परिणाम था। इस विचारधारा का प्रवर्त्तक हिटलर जर्मनी में नहीं, किन्तु आस्ट्रिया में उत्पन्न हुआ था। वियना में पेण्टर का कार्य करते हुए उसके भावी विचार परिपक्व हुए[1], वह कम्यूनिस्टों तथा यहूदियों से घोर घृणा करने लगा, जर्मन जाति की श्रेष्ठता और महत्ता में उसे अगाध विश्वास हो गया, लोकतन्त्र और संसदीय शासन-प्रणाली में उसकी कोई आस्था नहीं रही। प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर वह जर्मन सेना में भर्ती हुआ। लड़ाई में अपने वीरतापूर्ण कृत्यों से उसने एक पुरस्कार भी पाया, यहाँ उसे साधारण जनता का मनोविज्ञान समझने का सुअवसर मिला। १९१८ में जर्मनी की हार ने उसे विक्षिप्त कर दिया। वह सर्वश्रेष्ठ जर्मन जाति की पराजय मानने को तैयार नहीं था। उसके मतानुसार पराजय का प्रधान कारण समाजवादियों तथा यहूदियों का देशद्रोह था। उसने इस भीषण अपमान का प्रतिशोध लेने के उद्देश्य से जर्मनी के राष्ट्रीय गौरव को पुनरुज्जीवित करने का तथा वर्साय की सन्धि (Treaty of Versailles) की कलंककालिमा को धोने का संकल्प किया। शीघ्र ही म्यूनिक में उसने अपने इस संकल्प को क्रियात्मक रूप देने के लिए एक दल का निर्माण किया। युद्ध के बाद अधिकारियों ने हिटलर को राजनीतिक सभाओं की देखभाल के लिए गुप्तचर नियत किया। अपने इस कार्य में उसका परिचय म्यूनिक शराबखाने (Beer Hall) के पिछले कमरे में बैठक करने वाले तथा अपने को जर्मन श्रम दल (Labour Party) का नाम देने वाले छः व्यक्तियों की एक पार्टी से हुआ,

---

१. इसके आरम्भिक जीवन के लिए देखिए—काटलिन, पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ७३१-३३

हिटलर इसका सातवाँ सदस्य बना। उसने इसके विस्तार में अपनी पूरी शक्ति लगा दी, वह शीघ्र ही इसका नेता बन गया। उसने इस दल का नया नामकरण—राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन श्रम दल (National Socialist German Labour Party) किया। इसी के पहले दो शब्दों के जर्मन संक्षेप से नाज़ी या नात्सी शब्द बना है।

नाज़ी पार्टी में शीघ्र ही उसने अपने जैसे विचार वाले अनेक भूतपूर्व सैनिकों—हर्मान गोरिंग, कैप्टन रोम (Roem), रुडोल्फ हैस, पाल जोसेफ गोबल्स, अल्फ्रेड रोज़नबर्ग को एकत्र कर लिया। आगे चलकर यही नाज़ी दल के प्रधान आधारस्तम्भ बने। नवम्बर १९२३ में इस दल द्वारा तत्कालीन सरकार के विरुद्ध विद्रोह (Putsch) के एक विफल प्रयत्न में हिटलर को पाँच वर्ष के कारावास का दण्ड मिला; किन्तु आठ महीने बाद ही उसे जेल से मुक्त कर दिया गया। जेल में रहते हुए उसने अपनी सुप्रसिद्ध आत्मकथा 'मेरा संघर्ष' (Mein Kampf) लिखा। यह नाज़ीवाद का पवित्र धर्मग्रन्थ है। इसमें उसने अपने भावी कार्यक्रम और सिद्धान्तों पर विस्तृत प्रकाश डाला। इसमें प्रतिपादित महत्वपूर्ण कार्य और सिद्धान्त निम्नलिखित थे—जर्मनी के लिए अपमानजनक वर्साय की सन्धि को रद्द करना, जर्मनी पर युद्ध छेड़ने का दोष लगाने वाली सन्धि की धाराओं का निराकरण, जर्मनी से देशद्रोही यहूदियों का निष्कासन, आस्ट्रिया, पोलैण्ड, चैकोस्लावाकिया आदि विभिन्न विदेशी राज्यों में रहने वाले जर्मनों को सम्मिलित करते हुए एक नवीन जर्मन साम्राज्य का निर्माण करना, सब नागरिकों को रोजगार दिलाना, अच्छे जीवन के साधनों को प्राप्त करना, सूद की ऊँची दरों की समाप्ति, सब ट्रस्टों तथा बड़ी दुकानों का राष्ट्रीयकरण, कृषि-विषयक सुधार, वृद्ध व्यक्तियों की राज्य द्वारा देखभाल, धार्मिक सहिष्णुता, शस्त्रास्त्रों में अन्य देशों के साथ समानता, जर्मन या नार्डिक नस्ल की श्रेष्ठता, ग्रेट ब्रिटेन और इटली के साथ मैत्री करके फ्रांस तथा सोवियत रूस का विनाश। हिटलर का यह कार्यक्रम इतना व्यापक और विस्तृत था कि इसमें जनता के प्रत्येक वर्ग के लिए बड़े आकर्षक प्रलोभन और आश्वासन थे। अतः उसका यह कार्यक्रम और नाज़ी पार्टी बड़ी लोकप्रिय हुई।

१९३० की भीषण मन्दी में पूँजीपतियों ने नाज़ी दल का समर्थन किया, इस पार्टी को राष्ट्रीय महत्व प्राप्त हुआ। १९३२ के चुनावों में जर्मन पार्लियामैण्ट (Reichstag) में नाज़ी पार्टी सबसे बड़ा दल था। वान पापेन द्वारा किए गए एक षड्यन्त्र के फलस्वरूप हिटलर जर्मनी का प्रधानमन्त्री (Chancellor) बना (३० जनवरी १९३३)। सत्ता हाथ में आते ही उसने अपने विरोधियों का प्रबल दमन किया, उन्हें मौत के घाट उतारा, जेलों में ठूँसा या जर्मनी से निष्कासित किया। केवल नाज़ी दल को वैध घोषित करते हुए अन्य राजनीतिक दलों को कुचल दिया गया। १९३४ में हिटलर प्रधानमन्त्री के साथ जर्मनी का राष्ट्रपति तथा शासनाध्यक्ष बना, और उसने Fuehrer का पद ग्रहण किया। इसके बाद वह जर्मनी का तानाशाह तथा सर्वेसर्वा था। उसने मुसोलिनी की भाँति सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) शासन स्थापित किया, सब प्रकार की स्वतन्त्रताओं और मानवीय मूल्यों का हनन करते हुए अभूतपूर्व शक्ति रखने वाले अधिनायकतन्त्र की स्थापना की। इस विषय में

वह मुसोलिनी से भी आगे बढ़ गया, "गुरु गुड़ और चेला चीनी" की कहावत चरितार्थ हुई। उसने समूचे देश के आर्थिक साधनों को जर्मनी की सैनिक शक्ति प्रबल बनाने में लगाया, वर्साय की सन्धि की सभी अपमानजनक व्यवस्थाओं को क्रमशः छिन्न-भिन्न करते हुए सितम्बर १९३९ में द्वितीय विश्वयुद्ध छेड़ा। इस लड़ाई के आरम्भ में उत्कृष्ट सैनिक संगठन के कारण हिटलर को विलक्षण सफलता मिली, कुछ समय तक वह समूचे योरोप का भाग्यविधाता बना, किन्तु अन्त में जर्मनी की भीषण पराजय हुई। ३० अप्रैल १९४५ को हिटलर ने अपनी नवपरिणीता पत्नी इवा ब्राउन के साथ मिलकर आत्महत्या की और नाज़ीवाद की विचारधारा का अन्त हुआ।

नाज़ीवाद और फासिज़्म के प्रधान सिद्धान्त लगभग एक जैसे हैं। अतः यहाँ नाज़ीवाद के सिद्धान्तों का संक्षिप्त वर्णन किया जाएगा।

नाज़ीवाद के प्रेरणा-स्रोत—हिटलर के नेतृत्व में नाज़ियों ने इटली में मुसोलिनी के सत्तारूढ़ होने के ११ वर्ष बाद शासनसूत्र ग्रहण किया था। दोनों विचारधाराएँ समग्राधिकारवादी, अधिनायकवादी, लोकतन्त्र एवं उदारवाद की विरोधी, शक्ति एवं हिंसा की प्रबल समर्थक, समानता, स्वतन्त्रता और मानवीयता का गला घोंटने वाली, विचारों की स्वाधीनता का दमन करने वाली, उग्र सैनिकवादी, साम्राज्यवादी तथा उपनिवेशों की माँग करने वाली हैं। नाज़ी तथा फासिस्ट विचारधाराओं में इतना अधिक सादृश्य है कि यह कल्पना करना स्वाभाविक है कि नाज़ियों ने अपने अधिकांश विचार फासिस्टों से ग्रहण किए हैं, वे राजनीतिक चिन्तन और प्रशासन के क्षेत्र में फासिज़्म का अनुसरण करने वाले थे। उनके विचारों का मूल प्रेरणा-स्रोत रोम और मुसोलिनी थे।

किन्तु यह कल्पना बहुत भ्रान्तिपूर्ण है। यह सम्भव है कि नाज़ीवाद ने दो-एक सामान्य विचार फासिज़्म से ग्रहण किए हों, किन्तु उपर्युक्त विचारों के मूल स्रोत जर्मनी में पहले से ही विद्यमान थे, अतः नाज़ियों को इनके लिए फासिज़्म के मूल स्रोत से प्रेरणा ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं थी। नाज़ीवाद और नाज़ी दर्शन के प्रत्येक प्रमुख सिद्धान्त के बीज जर्मनी में पहले से ही पाए जाते थे। मैक्सी ने लिखा है कि "सौ वर्ष से भी अधिक समय से जर्मनी में उन राजनीतिक विचारों और पद्धतियों का पोषण हो रहा था जो नाज़ियों की आवश्यकताओं के सर्वथा अनुकूल थे।"[1] निरंकुश शासन, समग्राधिकारवादी राज्य, सैनिकवाद, शक्ति का प्रयोग, सब प्रकार की स्वतन्त्रताओं का हनन, स्वाधीन विचारों का दमन, आतंक राज्य आदि सभी विशेषताएँ जर्मनी में चिरकाल से चली आ रही थीं। वस्तुतः नाज़ियों ने फासिस्टों से चिन्तन के क्षेत्र में जितनी बातें ग्रहण कीं, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक अपनी देन दी। इससे उन्होंने जर्मन शासन को सम्भवतः सबसे अधिक शक्तिशाली और भयंकर राज्य बनाया।

फासिस्ट और नाज़ी विचारधाराओं में घनिष्ठ साम्य होते हुए भी एक बड़ा अन्तर यह है कि फासिस्ट विचारधारा मुसोलिनी के सत्तारूढ़ होने के तथा निरंकुश शासन स्थापित करने के बाद अपने कार्यों को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए बनाई

---

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० ६४९

गई थी। किन्तु नाज़ियों ने पहले अपनी योजना प्रस्तुत की, विचारों का प्रचार किया, इसके बाद पदारूढ़ होकर जर्मनी का शासनसूत्र अपने हाथ में लिया। नाज़ी विचार-धारा को सर्वप्रथम १९२० में गाटफ्रीड फेडर (Gottfried Feder) ने अपनी पुस्तक The Political and Economic Programme of the National Socialist German Workers' Party में प्रतिपादित किया। इसका विस्तृत विवरण १९२४ में हिटलर ने अपनी आत्मकथा 'मेरा संघर्ष' (Mein Kampf) में प्रस्तुत किया। १९३० में आल्फ्रेड रोज़नबर्ग ने इस विषय में The Myth of The Twentieth Century नामक पुस्तक प्रकाशित की। ये सब नाज़ी दर्शन के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनका निर्माण और प्रकाशन १९३३ में नाज़ियों के शासनारूढ़ होने से पहले हो चुका था।

नाज़ीवाद के प्रमुख सिद्धान्त : (१) प्रजातिवाद (Racialism)—नाज़ी विचारधारा का एक प्रधान सिद्धान्त प्रजाति (Race) के विचार को अत्यधिक महत्व देना था। हिटलर ने कहा था कि "इस संसार में जाति के सिवाय शेष सभी कुछ कूड़ा-करकट है" (All that is not race is trash)। नाज़ियों की मान्यता थी कि मानव-समाज में गोरी जातियाँ काली अथवा पीली जातियों (Yellow Races) से श्रेष्ठ हैं। गोरी जातियों में ट्यूटन (Teuton) तथा ट्यूटनों में जर्मन अथवा नार्डिक (Nordic) या आर्य जाति सर्वश्रेष्ठ है। जर्मन जाति की श्रेष्ठता का कारण उसमें रक्त की पवित्रता है। रूसियों में मंगोल जातियों के रक्त का मिश्रण हुआ है, फ्रेंच लोगों में अन्य जातियों का रक्त मिश्रित है। केन्द्रीय योरोप की विभिन्न जातियों की भी यही स्थिति है। अमेरिका में तो योरोप की सभी जातियों का मिश्रण हुआ है। अतः विशुद्धतम होने से जर्मन जाति सर्वोच्च है, उसकी धमनियों में विशुद्ध नार्डिक रक्त प्रवाहित हो रहा है। संसार में सभ्यता के विकास का श्रेय इसी जाति को है। प्रकृति ने विकासवाद के नियम के अनुसार उत्कृष्ट गुणों वाली जर्मन जाति को यह स्वाभाविक अधिकार प्रदान किया है कि वह असभ्य एवं बर्बर काली और पीली जातियों पर प्रभुत्व स्थापित करके इन्हें सभ्यता का पाठ पढ़ाए।

प्रजातिवाद के ये विचार नाज़ियों की मौलिक खोज या सूझ नहीं थी। इन्हें उन्होंने १९वीं शताब्दी के फ्रेंच पुरातत्वज्ञ, कूटनीतिज्ञ तथा लेखक गोबिनो (Gobeneau, 1816–62) तथा जर्मन नागरिकता स्वीकार करने वाले एक ब्रिटिश लेखक हौस्टन स्टीवर्ट चैम्बरलेन (१८५५–१९२७) से ग्रहण किया था। गोबिनो ने सर्वप्रथम १८५४ तथा १८८४ में प्रकाशित अपने 'मानव-जातियों की असमानता' नामक फ्रेंच निबन्ध में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि संसार की सभी नस्लों में गौरवर्ण आर्य या ट्यूटन सर्वश्रेष्ठ हैं। चैम्बरलेन ने इसका विस्तृत समर्थन तथा अनुमोदन अपने एक जर्मन ग्रन्थ में किया (१८९९)। इसका अंग्रेजी अनुवाद १९११ में The Foundations of The Nineteenth Century के नाम से प्रकाशित हुआ। जर्मन सम्राट् कैसर विल्हैल्म द्वितीय उस ग्रन्थ से अत्यधिक प्रभावित था, वह प्रत्येक जर्मन को यह पढ़ने की प्रेरणा करता था। उसने इस बात का प्रयत्न किया कि जर्मनी के प्रत्येक पुस्तकालय में इस ग्रन्थ की एक प्रति अवश्य रखी जाए। उसके प्रयत्नों से जर्मनी में जातिवाद के विचार बड़े लोकप्रिय हुए।

नाज़ीवाद ने जर्मन जाति की श्रेष्ठता के उपर्युक्त विचार को अपनाते हुए इस को परिष्कृत एवं परिमार्जित किया तथा इसमें कई नई बातें जोड़कर इसे सर्वथा नवीन रूप प्रदान किया : **पहली** नई बात रोज़नबर्ग द्वारा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन था कि प्रत्येक जाति की अपनी विशिष्ट आत्मा होती है, उसे अपना यथार्थ स्वरूप समझकर इस आत्मा को पहचानना चाहिए, इसके अनुसार अपने विशिष्ट कार्यों को करना चाहिए, इस विषय में अपनी जाति में एक नई भावना और प्रबल अन्धविश्वास उत्पन्न करना चाहिए, इससे बीसवीं शताब्दी में एक नवीन प्रकार के उत्कृष्ट मानव-प्रकार का विकास होगा। यह जर्मनी में ही सम्भव है। जर्मन जाति को भगवान् ने विश्व की अन्य सभी जातियों पर शासन करने तथा पिछड़ी हुई काली-पीली जातियों को सभ्य बनाने का कार्य सौंपा है। हिटलर के समय में जर्मन जनता के मन में यह अन्धविश्वास कूट-कूटकर भरा गया। **दूसरी** नई बात सुप्रजननशास्त्र (Eugenics) के सिद्धान्त को असाधारण महत्व देना था। इनके अनुसार विकास की प्रक्रिया में वंश-परम्परा या आनुवंशिकता (Heredity) को वातावरण (Environment) से अधिक महत्वपूर्ण समझते हुए राज्य का यह कर्त्तव्य माना गया कि वह नार्डिक जाति के श्रेष्ठ व्यक्तियों की संख्या बढ़ाने के सब उपाय करे। वंश-परम्परा से संक्रान्त होने वाली बीमारियों से पीड़ित विवाहित पुरुषों को सन्तानोत्पादन में असमर्थ या बांझ बनाने के कानून पास किए गए; ऐसी व्याधियों से ग्रस्त नर-नारियों को विवाह करने से रोका गया। जाति की शुद्धता और रक्त की पवित्रता को बनाए रखने के लिए नार्डिक लोगों के लिए अन्य जातियों के व्यक्तियों के साथ विवाह करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। **तीसरी** बात जातीयता के आधार पर यहूदियों का निर्वासन और भीषण दमन था। हिटलर जाति की शुद्धता पर इतना अधिक बल देता था कि उसने लाखों यहूदियों को मरवा दिया, उसके भयंकर अत्याचारों से तथा आतंक से भयभीत होकर लाखों यहूदी जर्मनी छोड़कर अन्य देशों में भाग गए। **चौथी** नई बात जाति के आधार पर नैतिकता के मूल्यों और मानदण्ड में उग्र परिवर्तन करना था। मैक्सी (पृ० ६५७) ने लिखा है कि मेकियावेली ने केवल राजनीति और नैतिकता का पृथक्करण किया था, किन्तु हिटलर ने नैतिकता को जातिवाद के सिद्धान्त पर आधारित करके उसे इसकी दासी बना दिया। जातिवाद के अनुसार सब जातियाँ एक-सी नहीं हैं, अतः उनके नैतिक मूल्य भी एक-जैसे नहीं हैं। निकृष्ट कोटि की काली-पीली जातियों के नैतिक नियम निकृष्ट हैं, नार्डिक जाति सर्वश्रेष्ठ है, अतः उसके नैतिक नियम भी उत्कृष्ट हैं। नार्डिक जिन कार्यों को करते हैं वे ठीक हैं तथा मानव-जाति के लिए हितकर हैं। उदाहरणार्थ, यदि नार्डिक जर्मनी मंगोल रक्त से मिश्रित पोलैण्ड पर या निकृष्ट प्रकार की ट्यूटन जाति वाले हालैण्ड पर हमला करता है तो उसका यह कार्य सर्वथा न्यायोचित है। संसार में न्याय-अन्याय के और नैतिकता के विषय में जातिवाद से निरपेक्ष और सार्वभौम मानदण्ड नहीं हैं। "राजा करे सो न्याँव, पासा पड़े सो दाँव" के अनुसार जर्मन लोग जो कुछ करें, वही न्यायोचित है। नाज़ी जर्मनी में जातिवाद अपने उग्रतम रूप में प्रकट हुआ। फासिज़्म में पहले इस

सिद्धान्त का कोई महत्व नहीं था। बाद में नाज़ियों के प्रभाव से फासिस्टों ने जातिवाद को थोड़ा-सा ही महत्व दिया।

(२) **राज्यविषयक विचार**—नाज़ी फासिस्टों की भाँति व्यक्ति को गौण तथा साधन मानते हुए राज्य को अत्यधिक महत्व देते थे। फासिस्टों के राज्यविषयक विचार पर बर्क व सेविग्नी (Savigny) के परम्परावाद (Traditionalism) का तथा हेगल के आध्यात्मिक आदर्शवाद का प्रभाव था। नाज़ियों ने इसमें महत्वपूर्ण परिवर्तन करते हुए राज्य को अत्यधिक शक्तिशाली बनाया। इस विषय में नाज़ियों का **पहला** परिवर्तन यह था कि हिटलर फासिस्टों की भाँति राज्य को साध्य (End) और अपने-आपमें 'एक आध्यात्मिक तथा नैतिक तथ्य' नहीं समझता था। उसने अपनी आत्मकथा 'मेरा संघर्ष' में बार-बार इस बात पर बल दिया है कि राज्य साध्य नहीं, किन्तु साधन (Means) है। हिटलर उसे जातीय एकता (Racial Unity), जातीय शुद्धता तथा जातीय विकास को प्रोत्साहित करने का साधन समझता था। इसी कारण नाज़ी हेगल द्वारा प्रतिपादित राज्य के इस विचार से सहमत नहीं थे कि यह संसार में भगवान् का प्रयाण (March of God in the world) है, वे विकासवादी सिद्धान्त में दृढ़ आस्था रखते हुए राज्य को जातीय पवित्रता और उत्कर्ष को बनाए रखने का प्रधान साधन मानते थे। हेगल से यह मौलिक मतभेद होने पर भी नाज़ी राज्य को हेगल की भाँति सर्वशक्तिशाली, निरंकुश तथा असीम अधिकारों से सम्पन्न मानते थे।

दूसरा परिवर्तन राष्ट्र (Volk) को असाधारण महत्व देना था। यह जातीय शुद्धता पर बल देने का परिणाम था। फासिस्ट राज्य को महत्व देते थे, किन्तु नाज़ी जर्मन नस्ल (Race) और भाषा के आधार पर बने राष्ट्र के निर्माण के लिए प्रयत्नशील थे। उनके मतानुसार राष्ट्रीयता पर आधारित राज्य ही शक्तिशाली बन सकता था, क्योंकि उसमें नस्ल, भाषा, परम्परा, रीति-रिवाज, आचार-विचार और धर्म की समानता के कारण सुदृढ़ एकता और सहयोग की भावना होती है, यह विभिन्न नस्लों तथा भाषाओं (Polyglot) वाले राज्य में कभी नहीं हो सकती है। नाज़ियों का ध्येय विभिन्न राज्यों में बँटे हुए जर्मनों को एक राष्ट्र के रूप में संगठित करना था, इसी दृष्टि से हिटलर ने आस्ट्रिया को हड़पा, म्यूनिक समझौते द्वारा चैकोस्लोवाकिया के सूडेटन जर्मन लोगों द्वारा बसे हुए प्रदेश प्राप्त किए थे। इस तरह नाज़ियों का प्रयत्न जर्मन राज्य को जर्मन राष्ट्र (Volks) में परिणत करने का था।

तीसरा परिवर्तन राज्य में नेतृत्व पर तथा नाज़ी दल पर बल देना था। नाज़ी कई बार अपने राज्य को Voelkischer Fuehrer State अर्थात् **'राष्ट्रीय नेता का राज्य'** कहते थे क्योंकि इसका संचालन नेता (Fuehrer) द्वारा होता था। नाज़ियों ने नेता के सिद्धान्त को तो फासिस्टों से ग्रहण किया, किन्तु इसका विकास उनकी अपेक्षा अधिक उच्चतम सीमा तक किया। इटली में नेता फासिस्ट पार्टी का तथा शासन का अध्यक्ष था, किन्तु राज्य का कानूनी अध्यक्ष राजा था। नाज़ी जर्मनी में नेता के रूप में हिटलर न केवल नाज़ी पार्टी का और शासन का अध्यक्ष था, अपितु जर्मन जाति, जर्मन राष्ट्र तथा जर्मन राज्य का भी अध्यक्ष था। वह न केवल जर्मनी के राज्य में रहने वाले, अपितु जर्मनी से बाहर के अन्य राज्यों में रहने वाले जर्मनों

का भी नेता था। उसे समूची जर्मन जाति की आकांक्षाओं और इच्छाओं का मूर्तरूप तथा प्रतिनिधि समझा जाता था। वह जर्मन जनता का तथा उनकी समूची राजनीतिक पद्धति में कभी भूल न करने वाला, निर्भ्रान्त पथप्रदर्शक तथा अध्यक्ष था। उसके वचन जर्मन जनता के लिए कानून थे, वह उनका भगवान् था। गोरिंग के शब्दों में, "जिस प्रकार रोमन कैथोलिकों का यह मत है कि धार्मिक मामलों में पोप निर्भ्रान्त है, उसी प्रकार नाज़ियों का विश्वास है कि राजनीतिक मामलों में एडोल्फ हिटलर निर्भ्रान्त है। उसकी इच्छा ही कानून है। प्रकृति के नियम इस बात की माँग करते हैं कि शासन-सत्ता ऊपर से नीचे की ओर तथा उत्तरदायित्व नीचे से ऊपर को जाना चाहिए। शीर्ष स्थान में स्थित नेता सभी कार्यों के लिए जनता के प्रति उत्तरदायी है।" उस समय जर्मनी में हिटलर को न केवल राजनीतिक नेता अपितु धार्मिक क्षेत्र में भी मसीहा माना जाता था। हर्र हैंस केर्ल (Herr Hans Kerrl) ने कहा था—"जिस प्रकार ईसा मसीह ने अपने बारह शिष्यों द्वारा रोमन साम्राज्य का विध्वंस करने वाली ईसाइयत को जन्म दिया था, वैसी ही बात हम जर्मनी में देख रहे हैं; एडोल्फ हिटलर सच्चा पवित्र देवदूत (Holy Ghost) है।" "इटली में मुसोलिनी ने राजा की तथा पोप की पृथक् सत्ता को स्वीकार किया था; किन्तु जर्मनी में इनका स्थान हिटलर ने नेता के रूप में स्वयं ग्रहण किया था; वहाँ बचपन से हिटलर के प्रति भक्तिभाव उत्पन्न करने वाली रचनाएँ बच्चों को रटाई जाती थीं। प्रत्येक जर्मन बच्चे को पाठशाला में अपनी पाठ्य पुस्तक में यह पाठ स्मरण कराया जाता था—"हमारे नेता एडोल्फ हिटलर, हम आपसे प्रेम करते हैं, आपके लिए प्रार्थना करते हैं, हम आपका भाषण सुनना चाहते हैं, हम आपके लिए कार्य करना चाहते हैं।"

इस प्रकार जर्मनी में हिटलर का नेतृत्व और प्रभुत्व इटली में मुसोलिनी के प्रभाव की अपेक्षा अधिक व्यापक, सुदृढ़ और शक्तिशाली था। इसे नाज़ी दल की सहायता से पुष्ट किया गया था। १९३३ के एक कानून से जर्मनी में इसे एकमात्र वैध राजनीतिक दल बना दिया गया तथा अन्य सभी दलों को गैर-कानूनी घोषित करके समाप्त कर दिया गया। नाज़ी दल के नेता ही सभी उच्च सरकारी पदों पर नियत किए जाते थे, मजदूरों के संगठन भी इनके नियन्त्रण में थे। नाज़ी नेताओं और नीतियों का विरोध करने वालों को गोली से उड़ा दिया जाता था, जेलखानों में ठूंस दिया जाता था अथवा 'बन्दी शिविरों' (Concentration Camps) में कैद करके उनसे बाधित श्रम के कठोर कार्य कराए जाते थे। चारों ओर सरकारी जासूसों का जाल बिछा हुआ था, सरकार का तनिक भी विरोध करने वाला व्यक्ति 'बन्दी शिविर' में भेज दिया जाता था। व्यक्ति की स्वतन्त्रता को बुरी तरह कुचलने वाले तथा उसके स्वाधीन विचारों के लिए उस पर भीषण अत्याचार करने वाले जघन्य 'बन्दी शिविरों' को संस्कृति के विकास के लिए बड़ा आवश्यक और उपयोगी माना जाता था, क्योंकि इनमें पथभ्रष्ट व्यक्तियों को सन्मार्ग पर लाने के लिए 'दयालुतापूर्ण' प्रयास किए जाते थे।

चौथा परिवर्तन भू-राजनीति (Geopolitics) के आधार पर नाज़ीराज्य के सिद्धान्त को नवीन शास्त्रीय रूप प्रदान करना था। प्रजातिवाद की भांति भू-राजनीति का सिद्धान्त भी पुराना था। मैकिंडर (Mackinder) तथा जेलन (Kjellen) पहले

ही यह प्रतिपादित कर चुके थे कि राष्ट्र एक सजीव व्यक्ति की भाँति अपना जीवन-यापन करने के लिए कुछ स्थान (Living Space) चाहता है। इसे जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक स्थान या लेबनज्रौम (Lebensraum) कहा जाता था। प्रत्येक राष्ट्र इसके होने पर ही अपने सभी गुणों और योग्यताओं का विकास करके संसार को लाभ पहुँचा सकता है। नाज़ियों ने इस सिद्धान्त को अपने राज्यविस्तार के लिए उपयोगी समझते हुए इसे अपना एक प्रधान मन्तव्य बनाया। उनका यह कहना था कि सर्वश्रेष्ठ जाति होते हुए भी जर्मन जनता के पास उसके समुचित जीवन-निर्वाह के लिए अपेक्षित भूमि या प्रदेश की बहुत कमी है। जर्मनी में आबादी निरन्तर बढ़ रही है, इसलिए उसे उससे छीने गए उपनिवेश पुनः वापिस दिए जाने चाहिएँ और उसके विशाल साम्राज्य में मध्य योरोप के जो प्रदेश प्रथम विश्वयुद्ध से पहले सम्मिलित थे, वे उसे प्राप्त होने चाहिएँ। हिटलर के परामर्शदाता कार्ल हौस होफर (१८६९–१९४६) ने जर्मन भू-राजनीति के सिद्धान्तों का विशद प्रतिपादन किया। इनके आधार पर जर्मनी ने आस्ट्रिया, चैकोस्लोवाकिया आदि पड़ोसी राज्यों के प्रदेश को मनमाने ढंग से हड़पने के कार्य को न्यायोचित सिद्ध किया।

(३) **व्यक्ति का स्थान**—यद्यपि नाज़ियों ने फासिस्टों की भाँति राज्य को अत्यधिक गौरवपूर्ण स्थान नहीं दिया, फिर भी व्यक्ति को हीन स्थान देने में वे फासिस्टों से पीछे नहीं थे। वे काण्ट (१७२४–१८०४) तथा फिक्टे (Fichte, 1762–1814) के इस विचार से सहमत थे कि व्यक्ति को कोई अधिकार नहीं प्राप्त होते, उसके केवल कर्त्तव्य होते हैं। उनका एक मौलिक मन्तव्य यह था कि व्यक्ति के लिए सच्ची स्वतन्त्रता इस बात में निहित है कि वह राष्ट्र के कल्याण का कार्य करे। एक जर्मन तब तक स्वतन्त्र नहीं हो सकता जब तक जर्मन राष्ट्र राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र न हो। अतः "व्यक्ति कुछ नहीं है, राष्ट्र (Das Volk) सभी कुछ है।" उसे राष्ट्र के लिए अपने सभी हितों को बलिदान कर देना चाहिए। उसके जीवन में स्वतन्त्रता, संकल्प, आत्मनिर्णय और वैयक्तिक पुरुषार्थ का कोई स्थान नहीं है, उसे राष्ट्र के प्रति भक्ति और निष्ठा रखनी चाहिए, अनुशासन में रहते हुए उसके सभी आदेशों को शिरोधार्य करने में सच्ची स्वाधीनता माननी चाहिए। वे नागरिकों के जीवन के सभी क्षेत्रों पर राज्य के सूक्ष्मतम निरीक्षण और अधिकतम नियन्त्रण के सिद्धान्त को समुचित मानते थे। उनकी दृष्टि में व्यक्ति के जीवन का कोई भी क्षेत्र इससे अछूता नहीं था; धर्म, शिक्षा, चित्रकला, वास्तुकला, संगीत, साहित्य, विज्ञान, मनोरंजन, फैशन तथा अर्थ-व्यवस्था आदि सभी क्षेत्रों में राज्य का पूरा नियन्त्रण होना चाहिए। इसीलिए नाज़ी-राज्य सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) तथा निरंकुश सत्तावादी (Authoritarian) राज्य कहलाता है। सम्भवतः इससे अधिक सर्वाधिकार-वादी राज्य इतिहास में पहले कोई नहीं हुआ था।

(४) **बुद्धिवाद का विरोध** (Irrationalism)—नाज़ियों ने फासिज़्म द्वारा स्वीकार किए गए बुद्धिवाद के विरोध (Anti-intellectualism) को पराकाष्ठा तक पहुँचाया। १९वीं शताब्दी का आरम्भ उदारवाद की लोकतन्त्रीय विचारधारा और बुद्धिवाद के साथ हुआ था, उस समय मनुष्य को मननशील और विचारपूर्वक काम

करने वाला प्राणी माना जाता था; किन्तु २०वीं शताब्दी का आरम्भ मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय द्वारा बुद्धिवाद के विरोध से हुआ (ऊपर पृ० ५०६)। जर्मन विचारक शोपनहार, नीट्शे, अमेरिकन दार्शनिक विलियम जेम्स, फ्रेंच विचारक बर्गसों, सोरेल, इटालियन राजनीतिशास्त्री मोस्का (१८५८–१९४१) तथा समाजशास्त्री परेतो (१८४८–१९२३) ने बुद्धि एवं विवेक (Reason) को हीन स्थान देते हुए सहजबुद्धि (Instinct), इच्छा-शक्ति (Will) तथा अन्तर्दृष्टि (Intuition) को उच्च स्थान दिया। नाज़ियों ने बुद्धिवाद के विरोध का प्रबल समर्थन किया। उनका यह कहना था कि अधिकांश पढ़े-लिखे और सुशिक्षित व्यक्ति मूर्ख और बुद्धिशून्य होते हैं। वे अपने से सम्बन्ध रखने वाले मामलों में भी बुद्धिपूर्वक सोचने का कष्ट नहीं करते हैं। उनमें निष्पक्ष विचार करने की सामर्थ्य नहीं होती है। वे भावनाओं से तथा पहले से ही बनी हुई धारणाओं और पक्षपातों से प्रेरित होकर कार्य करते हैं। जनता को आसानी से बेवकूफ बनाया जा सकता है, समुचित प्रचार से तथा उनकी मनोभावनाओं के अनुकूल रूप में उपस्थित करके बड़े-से-बड़ा झूठ उनके लिए विश्वसनीय सत्य का रूप धारण कर सकता है।

नाज़ी विचारकों के अनुसार मनुष्य का बुद्धिमान् तथा विचारशील प्राणी न होना बहुत अच्छी बात है। यदि अधिकांश व्यक्ति पूर्ण रूप से बुद्धिवादी और तार्किक हो जाएँ तो वे सब अपनी निराली सम्मतियाँ और मतभेद प्रकट करेंगे तथा उन्हें एक सूत्र में पिरोकर शक्तिशाली समाज का निर्माण करना सम्भव न होगा। विचारशील मनुष्य प्रायः अस्थिरमति, दोलायमान, आगा-पीछा सोचने वाले, संकल्प-विकल्पयुक्त, किसी निर्णय पर न पहुँचने वाले, निष्क्रिय, घोर स्वार्थी तथा व्यष्टिवादी होते हैं। वे किसी कार्य के लिए अपना सफल एवं शक्तिशाली संगठन नहीं बना सकते हैं। जो राज्य अधिक शक्तिशाली बनना चाहता है उसे अपनी जनता को अधिक बुद्धिवादी नहीं बनने देना चाहिए, उसे लोगों को उत्तम विचारक बनाने के स्थान पर उत्तम नागरिक बनाना चाहिए। इसके लिए शारीरिक शिक्षा की, नैतिक शिक्षा की एवं औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए; किन्तु उच्च कोटि के दर्शन, तर्कशास्त्र, इतिहास आदि के अध्ययन की कोई व्यवस्था नहीं करनी चाहिए। उच्च शिक्षा केवल उन व्यक्तियों को दी जानी चाहिए जो जातीय दृष्टि से विशुद्ध जर्मन हों तथा राष्ट्र के प्रति अगाध निष्ठा रखते हों। नेताओं को भी अधिक बुद्धिवादी नहीं होना चाहिए। वे सामान्य जनता की अपेक्षा इतने अधिक समझदार अवश्य होने चाहिएँ कि जनता की बेवकूफी का लाभ उठा सकें, अपने कार्यक्रम की योजना बना सकें, उसे क्रियान्वित कर सकें और राज्य की समस्याओं का सफलतापूर्वक समाधान कर सकें। उन्हें इतना अधिक बुद्धिवादी नहीं होना चाहिए कि वे नेतृत्व के आवश्यक गुणों—पौरुष, साहस, उत्साह, अपने उद्देश्य के प्रति एकाग्रचित्तता से कार्य करने के सामर्थ्य को खो बैठें।[1]

नाज़ियों ने उपर्युक्त अबुद्धिवाद (Irrationalism) से कई **महत्वपूर्ण परिणाम** निकाले हैं : पहला परिणाम लोकतन्त्र का विरोध तथा चुनी हुई अल्पसंख्या द्वारा

---

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० ६५९

शासन (Rule by Minority or Elite) है। हिटलर प्लेटो की भाँति लोकतन्त्र का कड़ा आलोचक था। उसके मत में अधिकांश व्यक्ति बुद्धिशून्य, मूर्ख, कायर और निकम्मे होते हैं, ऐसे व्यक्ति स्वयमेव अपना शासन करने में असमर्थ हैं। अतः प्रजातन्त्र की प्रणाली एक सबसे बड़ा भ्रम है। मनुष्यों की असली आवश्यकता और वास्तविक इच्छा यह है कि उनका शासन मुट्ठी-भर ऐसे व्यक्ति करें जिनमें सोचने तथा कार्य करने की शक्ति हो। ऐसे व्यक्ति समाज के भद्रवर्ग (Elite) या समझदार वर्ग का निर्माण करते हैं। इस अल्पसंख्या द्वारा ही राज्य का शासन होना चाहिए।[1] नाज़ियों का यह कहना था कि राजनीतिक भद्रवर्ग द्वारा शासन की व्यवस्था से जनता के अधिकारों का हनन नहीं होता, अपितु यह व्यवस्था मानवीय प्रकृति के पूर्णतया अनुकूल होने से सर्वथा स्वाभाविक एवं आवश्यक है।

दूसरा परिणाम साम्यवाद (Communism) का तथा जनता द्वारा बुद्धि एवं चिन्तन के आधार पर चलाई जाने वाली सभी शासन-प्रणालियों का विरोध करना था। साम्यवाद का सिद्धान्त इस कल्पना पर आधारित है कि सब मनुष्य अपने सभी कार्य आर्थिक स्वार्थों से प्रेरित होकर करते हैं तथा सभी सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं का स्वरूप मनुष्य के आर्थिक कार्यों से निश्चित होता है (ऊपर पृ० ३१७)। किन्तु नाज़ियों के मतानुसार यह कल्पना सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि अधिकांश व्यक्तियों में इतनी बुद्धि या समझ नहीं है कि वे अपने आर्थिक हितों की पहचान कर सकें। अतः साम्यवाद से जनता का शोषण कभी बन्द नहीं होगा, अपितु इससे एक नए प्रकार का, पहले की अपेक्षा अधिक बुरा शोषण आरम्भ हो जाएगा। साम्यवाद का दूसरा बड़ा दोष भौतिकवाद है। यह मनुष्य को विशुद्ध रूप से आर्थिक कारणों से प्रेरित होकर कार्य करने वाला प्राणी मान लेता है, यह बिलकुल गलत है। मनुष्य के विभिन्न कार्यों के प्रधान श्रोत श्रद्धा, विश्वास, संकल्प, विशाल दृष्टि (vision) होते हैं।

तीसरा परिणाम नाज़ियों का सोरेल की भाँति (ऊपर पृ० ४५३) सामाजिक अन्धश्रद्धा (Social Myth) पर बहुत बल देना था। नाज़ियों के मतानुसार मनुष्य बुद्धि और विवेक से कार्य करने वाला प्राणी नहीं था। किन्तु यदि मनुष्य बुद्धिमान् और विवेकशील प्राणी नहीं है तो उसका जीवन किस तत्व से प्रेरित होता है और किस प्रकार पथप्रदर्शन पाता है; नाज़ियों की दृष्टि में यह तत्व श्रद्धा या विश्वास था। नाज़ी बुद्धि के स्थान पर सारे समाज के लिए एक ऐसी अन्धश्रद्धा सुप्रतिष्ठित करना चाहते थे जिससे प्रेरित होकर सभी पूरी शक्ति के साथ इसके लिए कार्य करें। इस अन्धश्रद्धा के लिए सत्य होने की आवश्यकता नहीं थी, किन्तु यह ऐसी होनी चाहिए जिसका समूची जनता पर प्रबल भावनात्मक प्रभाव पड़े और यह उन्हें बड़े-से-बड़े बलिदान का कार्य करने के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित कर सके। नाज़ियों का मत था कि अन्धश्रद्धा न होने पर राष्ट्र का कोई महान् लक्ष्य या प्रेरक तत्व नहीं रहता, ऐसे राष्ट्र का पतन अवश्यम्भावी है। हिटलर के कथनानुसार प्रथम विश्वयुद्ध

---

१. सर्ज चैंटोकिन—दी रेप आफ दी मासेज़ (एलायन्स बुक कोर, १९४०), पृ० २४८

में ब्रिटेन की विजय इसलिए हुई कि उसने 'स्वतन्त्रता' रूपी अन्धश्रद्धा का प्रचार खुलेआम किया; जर्मनी की पराजय का कारण यह था कि उसने ऐसी किसी अन्धश्रद्धा से जर्मन लोगों को प्रोत्साहित नहीं किया। अतः नाज़ी लोगों ने जर्मनी में कई प्रकार की अन्धश्रद्धाओं का निर्माण किया। १९२९-३० के आर्थिक संकट के समय जर्मनी में समाजवादियों तथा साम्यवादियों ने जर्मनी की दुरवस्था का कारण पूँजीवादी प्रथा को बताया, किन्तु हिटलर ने इसका कारण वर्साय की सन्धि, यहूदी, अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद और यहूदी साम्यवाद बताया तथा जर्मनी में कई प्रकार की अन्धश्रद्धाएँ उत्पन्न कीं: पहली अन्धश्रद्धा नेतृत्वविषयक थी, उनका नेता हिटलर कभी गलती नहीं कर सकता था। दूसरी अन्धश्रद्धा राष्ट्रीय अन्धश्रद्धा थी, इसका अभिप्राय यह था कि जर्मन राष्ट्र ही सर्वोच्च है। तीसरी अन्धश्रद्धा यह थी कि जर्मन या नार्डिक जाति संसार में सर्वश्रेष्ठ है तथा सब पर शासन करने वाली (Herrenvolk) है, उसे अपने जीवनयापन का स्थान (Lebensraum, living space) चाहिए। नाज़ी पार्टी और जर्मन राज्य ने इन अन्धश्रद्धाओं को तत्कालीन जर्मन जनता में प्रचार के सभी साधनों की सहायता से पूरी तरह भर दिया था।

नाज़ियों ने अबुद्धिवाद से **चौथा** परिणाम यह निकाला था कि सब मनुष्यों के लिए कोई सार्वभौम या शाश्वत सत्य नहीं हो सकता है और यदि कोई ऐसा सत्य हो तो भी वह जनता के लिए निरर्थक और निरुपयोगी है। मनुष्यों में इतनी बुद्धि नहीं है कि वे ऐसे शाश्वत सत्यों का ज्ञान प्राप्त कर सकें, अतः वे जिस सत्य को जानने में असमर्थ हैं, वह उनके लिए उपयोगी कैसे हो सकता है? इस क्षेत्र में हमें सापेक्षवाद (Relativity) का अनुसरण करते हुए यह मानना पड़ता है कि सत्य के अनेक प्रकार हैं, प्रत्येक राष्ट्र या जनता इनमें से अपनी प्रकृति के अनुरूप अपनी सामाजिक परिस्थितियों से अनुकूलता रखने वाले किसी सत्य को स्वीकार कर लेती है। यह सिद्धान्त केवल नैतिक और सामाजिक क्षेत्र में ही नहीं, अपितु सभी क्षेत्रों में—गणित, भौतिकशास्त्र आदि सभी विज्ञानों में भी लागू होता है। इस कारण नाज़ी इस बात पर बल देते थे कि न केवल जर्मनी की अपनी नैतिकता, राजनीति-विज्ञान और अर्थशास्त्र हैं, अपितु प्राणिशास्त्र, भौतिकशास्त्र, गणित तथा रसायनशास्त्र भी हैं। वे जर्मन नैतिकता को सत्य तथा यहूदी नैतिकता को असत्य और हेय मानते थे।

अबुद्धिवाद का **पाँचवाँ** परिणाम शक्ति और हिंसा का सिद्धान्त था। मनुष्य बुद्धिवादी नहीं हैं, उन्हें बुद्धिपूर्वक किसी कार्य के लिए प्रेरित नहीं किया जा सकता, अतः उन्हें अन्धश्रद्धा से प्रोत्साहित करना चाहिए और इसके लिए शक्ति तथा हिंसा का प्रयोग करना उचित है। नाज़ी 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' (Might is Right) के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे। हिटलर कहता था—"जिसे जिन्दा रहना है, उसे लड़ना चाहिए। जो इस दुनिया में लड़ना नहीं चाहता है, उसे जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं है।" युद्ध-प्रेमी जर्मन जनता पर उसकी इन शिक्षाओं का बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने पददलित और पराजित जर्मनी को कुछ समय तक विश्व की सबसे बड़ी शक्ति बना दिया। नाज़ी सोरेल की भाँति हिंसा और युद्ध में अगाध विश्वास रखते थे। किन्तु सोरेल की हिंसा मजदूर वर्ग से सम्बन्ध रखने वाली (Proletarian) तथा

पूँजीपति वर्ग का उन्मूलन करने वाली हिंसा थी। नाज़ी इसकी तुलना में मध्यम वर्ग की ऐसी हिंसा का समर्थन करते थे जो मजदूरों का नियन्त्रण करती थी और उन्हें जर्मनी के लिए हितकर कार्यों में लगाती थी।

अर्थव्यवस्था—नाज़ी साम्यवाद के उग्र विरोधी थे तथा राज्य द्वारा कठोर रीति से संचालित एवं नियन्त्रित की जाने वाली अर्थव्यवस्था के पक्ष में थे। नाज़ियों को मध्यम वर्ग से समर्थन मिला था, यह पूंजीवाद का विनाश नहीं चाहता है, अतः नाज़ियों ने ऐसे राष्ट्रीय समाजवाद (National Socialism) का नारा लगाया जिसमें पूँजीवाद को सुरक्षित रखते हुए इसकी सब बुराइयों को राज्य की शक्ति से दूर किया जाना था और राष्ट्र के आर्थिक मामलों की राज्य द्वारा ऐसी व्यवस्था की जानी थी कि राज्य के आर्थिक हितों को व्यक्ति के हितों से अधिक महत्व दिया जाए। अतः नाज़ियों ने पूँजीवाद और वैयक्तिक सम्पत्ति को सुरक्षित रखते हुए प्रत्येक आर्थिक प्रक्रिया पर सरकार का प्रबल नियन्त्रण स्थापित किया। हड़तालें तथा तालाबन्दी अवैध घोषित की गईं। श्रमिकों के न्यायालय बनाए गए, राज्य ने सभी वस्तुओं का मूल्य तथा मजदूरी की दर निश्चित की। कृषि पर भी कठोर सरकारी प्रतिबन्ध लगाए गए। जर्मनी को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनाने (Autarchy) का प्रयत्न किया गया।

नाज़ीवाद का प्रभाव और मूल्यांकन—१९४०-४१ में ऐसा प्रतीत होता था कि नाज़ीवाद और फासिज़्म की विचारधाराएँ संसार में सर्वत्र लोकतन्त्र पर विजयी होंगी; सब देशों में अधिनायकवादी, सर्वाधिकारवादी शासन स्थापित हो जाएँगे; प्रजातन्त्र के मौलिक सिद्धान्तों का, जनता के बहुमत द्वारा निर्वाचित तथा उत्तरदायी संसदीय शासन-प्रणाली का अन्त हो जाएगा; समानता, स्वतन्त्रता और उदारवाद का सिद्धान्त इतिहास की वस्तु बन जाएँगे; मानवीयता व नैतिकता की अन्त्येष्टि हो जाएगी, कोरी शक्ति तथा नग्न पाशविकता का साम्राज्य स्थापित होगा। किन्तु इतिहास इस बात का साक्षी है कि केवल बल पर आधारित कोई शासन चिरस्थायी नहीं हो सकता है, कुछ समय बाद उसका पतन अवश्यम्भावी है। २२ वर्ष तक सत्तारूढ़ रहने के बाद मुसोलिनी का तथा १२ वर्ष तक शासनसूत्र सम्भालने के बाद हिटलर का पतन हो गया। शक्ति पर आधारित राज्य मानव-प्रकृति के प्रतिकूल होने के कारण शीघ्र नष्ट होते हैं। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध की ज्वालाओं में भस्म होने के बाद भी नाज़ीवाद के अवशेष बचे हुए हैं। वस्तुतः नाज़ीवाद प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी में उत्पन्न होने वाली विशिष्ट परिस्थितियों, निराशा, असन्तोष और रोष का तथा इनसे लाभ उठाने वाले चतुर नेताओं द्वारा उत्पन्न की गई भावना का परिणाम था और यह पुनः किसी समय किसी देश में उपर्युक्त परिस्थितियों में उत्पन्न हो सकता है। इससे सदैव सावधान रहने की तथा इसका समूलोन्मूलन करने की आवश्यकता है!

सत्रहवाँ अध्याय

प्रजातन्त्र

लोकतन्त्र की लोकप्रियता—इस समय प्रजातन्त्र या लोकतन्त्र (Democracy) सबसे अधिक लोकप्रिय शासन-प्रणाली है। वर्तमान युग को प्रजातन्त्र का युग कहा जा सकता है। प्लेटो, अरिस्टाटल आदि पुराने यूनानी विचारकों द्वारा प्रतिपादित शासन-प्रणालियों में से राजतन्त्र (Monarchy) तथा कुलीनतन्त्र (Aristocracy) लगभग समाप्त हो गए हैं, प्रायः सभी देशों में प्रजातन्त्र का प्राधान्य है। आजकल यद्यपि विश्व के प्रमुख देश दो विरोधी गुटों तथा विचारधाराओं में बँटे हुए हैं, तथापि ये दोनों गुट अपने को लोकतन्त्र का उपासक कहते हैं। एक ओर सं० रा० अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस तथा पश्चिमी योरोप के अन्य देश अपने को प्रजातन्त्र-प्रणाली का रक्षक बताते हुए रूस, चीन आदि साम्यवादी देशों में लोकतन्त्र का अभाव बताते हैं; दूसरी ओर रूस और चीन तथा इनके अनुयायी अपने को 'जनता का सच्चा गणराज्य या लोकतन्त्र' बताते हुए पश्चिमी देशों के लोकतन्त्र की खिल्ली उड़ाते हैं। एशिया तथा अफ्रीका के अन्य देशों में भी भले ही लोकतन्त्र के मौलिक सिद्धान्तों की हत्या की जाती हो, किन्तु यह प्रजातन्त्र के नाम की दुहाई देकर की जाती है। पाकिस्तान में अयूब का सैनिक शासन था, किन्तु इसे मौलिक प्रजातन्त्र (Basic Democracy) का नाम दिया जाता था। इण्डोनेशिया में सुकर्ण के तानाशाही शासन को उसके समुचित पथ-प्रदर्शन में चलाया जाने वाला लोकतन्त्र (Guided Democracy) कहा जाता था। किसी भी देश में कितना ही तानाशाही या अधिनायकवादी शासन क्यों न हो, वह अपने को 'प्रजातन्त्र' कहलाने में गौरव अनुभव करता है। इस शब्द के साथ ऐसी भावनाएँ जुड़ गई हैं, इसे इतना अधिक अच्छा समझा जाने लगा है कि सभी अपने को 'लोकतन्त्र' कहने में गर्व अनुभव करते हैं। यह बात एक ओर जहाँ लोकतन्त्र की लोकप्रियता और व्यापकता को सूचित करती है, वहाँ दूसरी ओर इसने लोकतन्त्र के स्वरूप के सम्बन्ध में बड़ी गड़बड़ तथा भ्रान्ति उत्पन्न कर दी है। अतः यहाँ पहले लोकतन्त्र के लक्षणों तथा सामान्य विशेषताओं का परिचय दिया जाएगा।

प्रजातन्त्र की परिभाषा—'प्रजातन्त्र' का शब्दार्थ प्रजा अथवा जनता का तन्त्र अर्थात् शासन है। इसका यह अर्थ हमें अमेरिकन राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन द्वारा गैटिसबर्ग के सुप्रसिद्ध भाषण में १९ नवम्बर १८६३ में की गई प्रजातन्त्र की परिभाषा का स्मरण कराता है। इसके अनुसार "प्रजातन्त्र जनता का, जनता द्वारा तथा जनता के लिए किया जाने वाला शासन है।"[1] प्रो० सीली के मतानुसार लोकतन्त्र वह शासन-व्यवस्था है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति भाग लेता हो। डायसी (Dicey) ने इसका

---

१. दी कलेक्टिड वर्क्स आफ अब्राहम लिंकन, बेस्टर द्वारा सम्पादित, खण्ड ७, पृ० २३

कुछ संशोधन करते हुए कहा है कि लोकतन्त्र वह शासन-व्यवस्था है जिसमें राष्ट्र का अधिकांश भाग शासन करने वाला हो। आधुनिक लोकतन्त्रों का गम्भीर अध्ययन करने वाले लार्ड ब्राइस के शब्दों में, "हिराडोटस के समय से 'प्रजातन्त्र' शब्द का प्रयोग शासन के उस स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए किया जाता है जिसमें शासन करने की शक्ति किसी विशेष वर्ग या वर्गों में निहित न होकर समाज के सदस्यों में समूह रूप में अवस्थित होती है।"[१] जॉन स्टुअर्ट मिल के मतानुसार यह ऐसी शासन-व्यवस्था है जिसमें समूची जनता अथवा जनता की बहुत बड़ी संख्या अपने द्वारा कुछ निश्चित वर्षों के बाद चुने जाने वाले प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन करने का कार्य करती है।

प्रजातन्त्र की ये सब प्रसिद्ध परिभाषाएँ इस बात पर बल देती हैं कि यह समूची जनता द्वारा या जनता के बहुत बड़े भाग द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा जनता के हित की दृष्टि से की जाने वाली शासन-व्यवस्था है। ये सब लक्षण बहुत सुन्दर हैं, किन्तु प्रजातन्त्र के स्वरूप पर पूरा प्रकाश नहीं डालते हैं। ये उसे केवल एक शासन-प्रणाली के रूप में ही समझते हैं, किन्तु लोकतन्त्र वस्तुतः एक बहुकोणीय हीरे की भाँति है; उसका एक नहीं, अपितु अनेक पक्ष हैं। प्रजातन्त्र का यथार्थ स्वरूप जानने के लिए हमें इसके विभिन्न पक्षों का समुचित ज्ञान पाना आवश्यक है।

प्रजातन्त्र के विभिन्न पक्ष—इसका **पहला** और प्रधान रूप उसका राजनीतिक पक्ष अथवा एक विशेष प्रकार की शासन-व्यवस्था है। यह व्यवस्था राजतन्त्र (Monarchy) और कुलीनतन्त्र (Aristocracy) से भिन्न है। राजतन्त्र में शासन-सत्ता एक व्यक्ति में तथा कुलीनतन्त्र में अनेक व्यक्तियों में निहित होती है, किन्तु प्रजातन्त्र में यह प्रजा के अधिकांश व्यक्तियों में होती है। इसका **दूसरा** पक्ष सामाजिक है। इसके अनुसार यह केवल राजनीतिक शासन-पद्धति ही नहीं, अपितु समानता के सिद्धान्त पर आधारित एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था भी है जिसमें किसी प्रकार की ऊँच-नीच की, जात-पात की, स्पृश्यता तथा अस्पृश्यता की भेद-भावना नहीं है। उदाहरणार्थ, भारत में १९५० के भारतीय संविधान द्वारा राजनीतिक दृष्टि से 'पूर्ण प्रभुतासम्पन्न लोकतन्त्रीय गणराज्य' की स्थापना की गई है, किन्तु जब तक इसके एक बड़े अंग हिन्दू समाज में छुआछूत और जातिमूलक ऊँच-नीच की भावना है, तब तक हमारा समाज पूर्ण रूप से लोकतन्त्रीय नहीं है। **तीसरा** पक्ष आर्थिक है। इसके अनुसार लोकतन्त्र एक आर्थिक व्यवस्था भी है। साम्यवादी और समाजवादी इस पर सबसे अधिक बल देते हैं। उनका यह कहना है कि जनता के सभी व्यक्तियों को वोट का समान अधिकार दे देना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उनको पेट भरने का भी समान अधिकार दिया जाना चाहिए, सब व्यक्तियों को अपनी योग्यता के अनुसार जीविका उपार्जन करने की सुविधा होनी चाहिए, किसी व्यवसाय या रोजगार के करने में कोई कृत्रिम बन्धन या रुकावटें नहीं होनी चाहिएँ। राज्य को इस बात की व्यवस्था करनी चाहिए कि कोई व्यक्ति भूखा न मरे, वह बेकार न रहे, उसे समुचित काम और

---

१. ब्राइस—माडर्न डेमोक्रेसीज़, खण्ड १, पृ० २३

मजदूरी मिले, उसके काम करने की परिस्थितियाँ ठीक ढंग की हों, बीमारी, बुढ़ापे तथा आकस्मिक दुर्घटनाओं से उत्पन्न संकटों से उसकी सुरक्षा की समुचित व्यवस्था की जाए। साम्यवादी यह समझते हैं कि सच्चा लोकतन्त्र पूंजीवाद के उन्मूलन से ही सम्भव है; जब तक पूँजीपति रहेंगे, तब तक समाज में आर्थिक विषमता बनी रहेगी, धनी लोग पैसे के बल पर गरीबों के वोट खरीदते रहेंगे, सच्चे लोकतन्त्र के लिए उत्पादन के साधनों पर मुट्ठी-भर पूँजीपतियों के स्थान पर राज्य का स्वामित्व होना चाहिए, ताकि इसका लाभ समूची जनता को मिल सके, उद्योगों के संचालन की व्यवस्था मजदूरों के हाथ में होनी चाहिए, सं० रा० अमेरिका, ब्रिटेन आदि में ऐसी आर्थिक व्यवस्था न होने के कारण वे उन देशों के लोकतन्त्र को कोरा ढोंग तथा दिखावा समझते हैं। **चौथा** पक्ष नैतिक दृष्टिकोण का है। इसके अनुसार समाज में धनी एवं निर्धन, शिक्षित एवं अशिक्षित, नर तथा नारी आदि सभी व्यक्तियों को उन्नति और विकास का समान अवसर मिलना चाहिए। इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की एक अपनी विशिष्ट गरिमा (Dignity) या महिमा है, सब व्यक्तियों के व्यक्तित्व को समान रूप से महत्व दिया जाना चाहिए, इन्हें अपनी योग्यताओं के विकास के लिए समान सुविधाएँ मिलनी चाहिएँ। पहले (पृ० ११७) बताया जा चुका है कि काण्ट ने इस बात पर बल देते हुए यह कहा था कि कोई भी व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के सुख, सुविधा या कल्याण का साधन मात्र न माना जाकर, स्वयमेव एक साध्य (An end in itself) माना जाना चाहिए। इस दृष्टि से लोकतन्त्र एक विशिष्ट प्रकार की जीवन-पद्धति (A way of life) है, वह प्रत्येक व्यक्ति को महत्वपूर्ण मानने तथा उसके विकास के समान अवसर देने के आध्यात्मिक आदर्श पर बल देती है। बार्कर के शब्दों में, "लोकतन्त्र में दो प्रधान बातें हैं। पहली बात यह है कि मनुष्य की आत्मा के कार्य करने का एक सिद्धान्त है, इसके अनुसार व्यक्तिगत जीवन के राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में, मनुष्यों की स्वतन्त्र आत्माओं को स्वतन्त्रतापूर्वक निश्चित किए गए लक्ष्यों को प्राप्त करने के कार्य करने की पूरी स्वाधीनता होनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि लोकतन्त्र राजनीतिक समुदाय में उपर्युक्त सिद्धान्त को कार्यरूप में परिणत करने वाली संस्थाओं की एक पद्धति है।"[1]

उपर्युक्त चारों पक्षों की व्यवस्थाओं से मिलकर ही आदर्श अथवा पूर्ण लोकतन्त्र की स्थापना होना सम्भव है। किन्तु ऐसा लोकतन्त्र बहुत ही कम दिखाई देता है। इस समय जिन देशों में लोकतन्त्र की व्यवस्था प्रचलित है वहाँ ये सब पक्ष समान रूप से नहीं पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ, सं० रा० अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन आदि लोकतन्त्रीय व्यवस्था को विकसित करने वाले देशों में इनके राजनीतिक तथा नैतिक पक्ष पर जितना बल दिया जाता है उतना आर्थिक व्यवस्था पर बल नहीं दिया जाता है। रूस, चीन तथा इनके समर्थक समाजवादी देशों में राजनीतिक पक्ष की अपेक्षा आर्थिक पहलू पर अधिक बल दिया जाता है। इसलिए इन दोनों प्रकार के देशों के लोकतन्त्र में बहुत भेद है। यह भेद इसलिए और भी अधिक बढ़ जाता है कि दोनों लोकतन्त्र

---

१. बार्कर—रिफ्लैक्शन्स ऑन गवर्नमैण्ट, पृ० ३१५

के स्वरूप का निर्माण करने वाले मौलिक तत्वों को समान रूप से महत्वपूर्ण नहीं समझते हैं। इन दोनों के भेद को समझने के लिए पहले प्रजातन्त्र के मौलिक तत्वों का ज्ञान आवश्यक है।

प्रजातन्त्र के मौलिक विचार—प्रजातन्त्र के निर्माण के लिए निम्नलिखित मौलिक विचारों और मान्यताओं का होना तथा इनको क्रियात्मक रूप देना आवश्यक है।

(१) **वैयक्तिक स्वतन्त्रता**—इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी इच्छानुसार विचार करने, उन विचारों को प्रकट करने तथा व्यवहार करने की अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए। व्यक्ति पर कोई अनावश्यक बन्धन नहीं लगाने चाहिएँ। पिछली शताब्दी के आरम्भ में यह सिद्धान्त व्यक्तिवाद (Individualism) के प्रभाव के कारण इतना अधिक प्रबल था कि उस समय अहस्तक्षेप (Laissez faire) की नीति को आदर्श समझा जाता था, इसके अनुसार राज्य को किसी भी क्षेत्र में अपने नियम बनाकर कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, व्यक्ति को उसके जीवन के समस्त क्षेत्रों में इच्छानुसार कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए। अब यद्यपि इस विचार में बहुत संशोधन हो गया है, विभिन्न क्षेत्रों में राज्य के हस्तक्षेप को उचित एवं आवश्यक माना जाने लगा है, फिर भी लोकतन्त्र की आज भी यह एक मौलिक मान्यता है कि व्यक्ति को अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता देनी चाहिए, यह सामान्य नियम होना चाहिए, इस पर प्रतिबन्ध या नियन्त्रण लगाना इसका अपवाद मात्र होना चाहिए। इसमें सबको अपने विचार रखने और प्रकट करने की, भाषण देने की, विचारों को प्रकाशित करने की, अपने विचारों के अनुसार समुदाय या संगठन बनाने की, अपने धर्म का पालन करने की, इच्छानुसार उद्योग एवं व्यवसाय करने की स्वाधीनता होनी चाहिए।

(२) **उदारवाद और सहिष्णुता** (Liberalism and Toleration)—सब व्यक्तियों को अपने विचारों को रखने में तभी पूरी स्वतन्त्रता मिल सकती है जब वे अपने से भिन्न अन्य व्यक्तियों को भी विचार रखने की स्वाधीनता दें, यह उनके विचारों के प्रति उदारता तथा सहिष्णुता का दृष्टिकोण रखने से ही हो सकता है। इसे उदारवाद इसीलिए कहा जाता है कि अधिनायकवादी या निरंकुश शासन की व्यवस्था की भाँति इसमें किसी एक विचार, मत या आचरण-पद्धति को सब पर बलपूर्वक थोपने का प्रयास नहीं किया जाता है, किन्तु अपने से भिन्न विचारों, धर्मों, विश्वासों या आचरणों के प्रति आदर का, उदारता का तथा सहिष्णुता का भाव रखा जाता है।

(३) **बुद्धिवादी अनुभववाद** (Rational Empiricism)—एबेन्स्टाइन ने इसे लोकतन्त्र का एक बहुत बड़ा सिद्धान्त बताया है। इसका यह अभिप्राय है कि प्रजातन्त्र बुद्धिवाद पर पूरा विश्वास रखता है। उसकी यह मान्यता है कि जिस प्रकार भौतिक विज्ञानों के क्षेत्र में बुद्धि का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार मानवीय सम्बन्धों के क्षेत्र में भी बुद्धि का तथा अपने पिछले अनुभवों का पूरा उपयोग किया जाना चाहिए। यह मत बुद्धिवाद के विरोधी फासिस्टों, नाज़ियों और कम्यूनिस्टों के सर्वथा

प्रतिकूल है। उनका यह सिद्धान्त है कि उनका नेता भगवान् की तरह से निर्भ्रान्त और सर्वज्ञ है, उस नेता को सब सत्यों का ज्ञान है (ऊपर पृ० ५६५), साम्यवादी वर्ग-संघर्ष को (पृ० ३२८), फासिस्ट राष्ट्र को (पृ० ५४४) तथा नाज़ी नस्ल या प्रजाति (Race) के विचार को सबसे बड़ा शाश्वत सत्य मानते हैं। दूसरी ओर लोकतन्त्रवादी जॉन लॉक (१६३२–१७०४) द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त में अगाध विश्वास रखते हैं कि हमारा समूचा ज्ञान अनुभव पर आधारित है, यह अन्तिम रूप से निश्चित और स्थायी नहीं है, अपितु इसमें नवीन अनुभवों की वृद्धि से परिवर्तन होते रहते हैं, कोई भी ज्ञान शाश्वत रूप से तथा अन्तिम रूप से सत्य नहीं है। बर्ट्रेण्ड रसेल ने इस दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए लिखा है कि सच्चा उदारवादी (Liberal) व्यक्ति यह नहीं कहता है कि "यह सत्य है"; किन्तु वह यह कहता है कि "वर्तमान परिस्थितियों में मैं यह सोचता हूँ कि सम्भवत: यह सम्मति सर्वोत्तम है।"[1]

प्रजातन्त्रवादी भौतिक विज्ञानों में प्रयुक्त की जाने वाली, तर्क एवं अनुभववाद पर आधारित वैज्ञानिक पद्धति द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में भी ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया में विश्वास रखता है। इसमें अपनी सम्मति के प्रति कोई दृढ़ आग्रह, आस्था या विश्वास न रखने वाले के प्रति तथा विभिन्न सम्मति रखने वाले के प्रति विद्वेष या वैमनस्य की भावना वैसी कट्टर भावना नहीं होती है जैसी कुछ धार्मिक समुदायों में, नाज़ियों में तथा फासिस्टों में पाई जाती है। उदाहरणार्थ, इस्लाम के सुप्रसिद्ध खलीफा उमर के बारे में प्रसिद्ध है कि जब अरब सेनाओं द्वारा मिश्र जीतने पर सिकन्दरिया के महान् पुस्तकालय के बारे में उससे पूछा गया तो उसने इसे जलाने की आज्ञा इस आधार पर दी कि इस पुस्तकालय की पुस्तकों में बताई गई बातें यदि 'कुरान शरीफ' में प्रतिपादित सत्यों के अनुकूल हैं तो इनकी कोई आवश्यकता नहीं, यदि प्रतिकूल हैं तो उनका विनाश होना चाहिए, दोनों दशाओं में पुस्तकालय को जला देना चाहिए। नाज़ी जर्मनी या फासिस्ट इटली में नेता की सम्मति से तनिक भी मतभेद रखने वाले को तत्काल गोली से उड़ा दिया जाता था या जेलखाने में ठूँस दिया जाता था। किन्तु प्रजातन्त्रवादी एक वैज्ञानिक का दृष्टिकोण रखता है। जिस प्रकार एक वैज्ञानिक किसी समस्या पर अध्ययन करने के लिए, पहले उस विषय से सम्बन्ध रखने वाले सभी प्रमाणों को तथा अन्य आवश्यक सामग्री एकत्र करके उनके आधार पर किसी सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार लोकतन्त्र में किसी निर्णय पर पहुँचने से पहले उस विषय से सम्बद्ध सभी पक्षों की बातें सुनी जाती हैं, उसके बाद ही कोई निर्णय किया जाता है। इसमें विभिन्न सम्मति रखने वाले विरोधी दलों को आवश्यक समझा जाता है तथा उनका स्वागत किया जाता है, न कि फासिस्ट तथा नाज़ी जर्मनी की भाँति एक ही दल को रखते हुए, अन्य सभी दलों का भीषण दमन किया जाता है। लोकतन्त्र आलोचना को सत्य तक पहुँचने का साधन समझता है, वह हितबुद्धि से तथा ईमानदारी से की जाने वाली आलोचना को बुरी नहीं समझता तथा इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं मानता है, किन्तु नाज़ी, फासिस्ट,

---

१. एबेन्स्टाइन—टूडेज़ इज़्म्स, पृ० १२६

या साम्यवादी के लिए राज्य द्वारा माने जाने वाले सिद्धान्त की आलोचना महापाप, जघन्य अपराध और कुफ्र है। लोकतन्त्र स्वतन्त्र विचार के उन्मुक्त वातावरण में विश्वास रखता है, अधिनायकवाद इसे अपने लिए घातक समझता है।

(४) **व्यक्ति का महत्व तथा गरिमा** (Emphasis and dignity of individual)—लोकतन्त्र के सभी सिद्धान्तों और नीतियों का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति को केन्द्र मानते हुए इसके विकास में सहायक होना है तथा इस पर बल देना है। फासिस्ट व्यक्ति की अपेक्षा राज्य को, नाज़ी जर्मन जाति को तथा साम्यवादी सर्वहारा वर्ग को अधिक महत्व देते हैं। इन सभी सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) राज्यों में राज्य की संस्था को अत्यधिक महत्व दिया गया है, राज्य और व्यक्ति की स्थिति स्वामी और सेवक जैसी मानी गई है। पहले (पृ० १४६-४७) बताया जा चुका है कि इस विचारधारा का जन्मदाता समझा जाने वाला हेगल यह मानता था कि व्यक्ति की सच्ची स्वतन्त्रता राज्य द्वारा दिए गए आदेशों का पालन करने में है, वह राज्य के लिए अपने को बलिदान करके अपनी वैयक्तिकता को नष्ट करता है तथा पूर्ण रूप से राज्य का अंग बनता है। इसके सर्वथा विपरीत जॉन लॉक ने व्यक्तिवाद तथा व्यक्ति के महत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा था कि उसका विकास राज्य का अन्धानुकरण करने में नहीं, अपितु उसका प्रतिरोध करने में है। यदि राज्य उसके स्वतन्त्रतापूर्वक जीवनयापन करने में या सम्पत्ति का उपभोग करने में बाधक बनता है तो उसे राज्य का विरोध करना चाहिए, प्रजातन्त्रवादी के लिए व्यक्ति का जीवन, स्वतन्त्रता और सुख असाधारण महत्व रखते हैं, सर्वाधिकारवादी राज्य के प्रति कर्त्तव्य, अनुशासनबद्धता और बलिदान को अधिक महत्व देता है।

पश्चिमी देशों की विचारधारा में व्यक्ति को गरिमा और महत्व तीन पुरानी परम्पराओं के कारण प्राप्त हुआ है : **पहली** परम्परा यहूदी धर्म का यह विचार है कि सब मनुष्य भगवान् के पुत्र होने के कारण एक-दूसरे के भाई हैं। **दूसरी** परम्परा ईसा का आत्मा को अविनश्वर मानने का सिद्धान्त है। यह आत्मा सब मनुष्यों में समान रूप से पाई जाती है, अतः सब मनुष्य आध्यात्मिक दृष्टि से समान हैं। **तीसरी** परम्परा स्टोइक विचारधारा[1] का यह सिद्धान्त है कि मनुष्य का सच्चा स्वरूप उसके भौतिक शरीर—मांस, मज्जा या रक्त नहीं, अपितु इनका प्रयोग करने वाली आत्मा तथा बुद्धि है। उसका सबसे बड़ा कार्य अपने स्वरूप को जानना तथा बुद्धिसंगत, तर्कानुकूल सिद्धान्तों और प्रयोजनों के लिए कार्य करना है। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि एवं विवेक के अनुसार सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म, उचित-अनुचित को निश्चित करने का तथा उसके अनुसार कार्य करने का अधिकार है।

(५) **राज्य का साधन होना**—प्राचीन काल से राजनीतिक विचारकों में इस प्रश्न पर मतभेद रहा है कि राज्य व्यक्ति के विकास में सहायता देने वाला साधन या उपकरण मात्र है अथवा अपने-आपमें विशिष्ट महत्व और स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखने वाला कोई उद्देश्य या साध्य है। पश्चिमी विचारधारा में प्लेटो तथा अरस्तू का यह

---

१. हरिदत्त वेदालंकार—पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, पृष्ठ २०५

मत था कि राज्य स्वयमेव एक स्वतन्त्र जीवन से तथा सजीव एकता (Organic Unity) से सम्पन्न एवं अपना विशिष्ट प्रयोजन रखने वाला संगठन है, इसके प्रयोजन व्यक्ति के उद्देश्यों से अधिक उत्कृष्ट होते हैं। यह प्रयोजन उच्चतम नैतिक भलाई (Highest Moral Good) का है। इस कारण यह व्यक्ति के आध्यात्मिक और नैतिक विकास का मूलस्रोत है। इसके विपरीत यहूदी धर्म तथा ईसाई धर्म की व्यक्ति के महत्व पर बल देने वाली यह विचारधारा थी कि मनुष्य के जीवन में सबसे अधिक महत्व रखने वाली वस्तु भगवान् के आदेशों के अनुसार जीवन का संचालन करना है, कोई भी पार्थिव शक्ति या राज्य बाइबल में प्रतिपादित दैवी व्यवस्था का उल्लंघन नहीं कर सकती। राज्य का एकमात्र कार्य यही है कि वह मनुष्य के लिए शान्तिपूर्ण व्यवस्था की ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करे कि मनुष्य इनमें ईश्वरीय आदेशों का पालन करते हुए अपना जीवन बिता सके। मनुष्य का उद्देश्य अपने आध्यात्मिक जीवन का विकास करना है, राज्य उसका साधन मात्र है। बुद्धिवाद को तथा मानव के महत्व को गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करने वाली (Rationalist and Humanist) विचारधारा ने राज्य को साधन मानते हुए यह कहा कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विवेक या बुद्धि द्वारा सत्य-असत्य का तथा उचित-अनुचित का निर्णय करते हुए राजनीतिक क्षेत्र में अपने कर्त्तव्यों का निर्धारण करना चाहिए, राज्य अपने आदेश और शक्ति से किसी असत् या अनैतिक कार्य को सत्य या नैतिक बनाने का सामर्थ्य नहीं रखता है। अतः लोकतन्त्रवादी सिद्धान्त राज्य को व्यक्ति के विकास का साधन मानते हुए गौण स्थान देता है, उसके कार्य-क्षेत्र को संकुचित करता है जबकि सर्वाधिकारवादी सिद्धान्त राज्य को सर्वशक्तिशाली, सर्वज्ञ, सब अधिकारों से सम्पन्न और व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण मानता है, वह किसी भी क्षेत्र में व्यक्ति के विवेक और बुद्धि को सर्वोच्च नहीं मानता है, राजनीतिक क्षेत्र में, शिक्षा, कला, धर्म, अर्थव्यवस्था आदि सभी क्षेत्रों में राज्य द्वारा पूर्ण नियन्त्रण को स्थापित करना चाहता है ताकि नागरिक किसी भी क्षेत्र में अपने विवेक या बुद्धि का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग न कर सकें। इसमें राज्य व्यक्ति के विकास का साधन न रहकर स्वयमेव साध्य बन जाता है।

(६) **स्वतःप्रवृत्ति** (Voluntarism)—लोकतन्त्र का एक महत्वपूर्ण मौलिक मन्तव्य स्वतःप्रवृत्ति अर्थात् अपनी आत्मा की प्रेरणा से स्वेच्छापूर्वक कार्य करना है। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने विवेक से सत्-असत् का निश्चय करके स्वयमेव स्वेच्छापूर्वक अपने कर्त्तव्यों और कार्यों का पालन करना चाहिए। लोकतन्त्र का यह विचार है कि मनुष्य की विशेषता इसी बात में निहित है कि उसके सब कार्य स्वतः-प्रेरणा और स्वतःस्फूर्ति से हों। पशुओं को डण्डे से हाँका जाता है, इसका डर न रहने पर वे कोई कार्य नहीं करते। मनुष्य पशु नहीं है, वह केवल दण्ड के भय से कार्य नहीं करता। दण्ड के भय से किए जाने वाले नियमपालन चिरस्थायी नहीं होते, इनका पालन तभी तक होता है जब तक दण्ड का भय होता है। किन्तु जिन नियमों का पालन अपने बुद्धि और विवेक के आधार पर स्वतःप्रेरणा से किया जाता है, वह चिरस्थायी होता है, क्योंकि उसके लिए बाहर से किसी प्रेरणा देने वाले की आवश्यकता

नहीं होती है। इसीलिए लोकतन्त्रीय राज्यों—ग्रेट ब्रिटेन, सं० रा० अमेरिका आदि में स्वेच्छापूर्ण प्रयत्नों के आधार पर बीसियों धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संगठन बने हुए हैं, इनके कुछ उदाहरण श्रमिक उद्योग-संघ, निजी शिक्षा संस्थाएँ तथा विभिन्न राजनीतिक दल हैं। प्रजातन्त्र में लोग सब बातों के लिए राज्य पर निर्भर रहने की अपेक्षा अपनी समस्याएँ स्वयमेव हल करने का प्रयत्न करते हैं। किसी देश के प्रजातन्त्र की एक बड़ी कसौटी यह भी है कि उसके नागरिकों में स्वावलम्बन की और स्वेच्छापूर्ण संगठनों द्वारा अपनी समस्याएँ हल करने की भावना कितनी अधिक है।

(७) **कानून का शासन** (Rule of Law)—प्रजातन्त्र में कानून की सत्ता सर्वोच्च समझी जाती है। इसके मतानुसार कानून की सत्ता राज्य के निर्माण से पहले की है, मनुष्य इस कानून के अनुसार कुछ अधिकार लेकर उत्पन्न होता है; कोई भी राज्य मनुष्य के मौलिक अधिकारों के अथवा मानवीय विवेक और बुद्धि के आधारभूत सिद्धान्तों के विरुद्ध समुचित प्रक्रिया (Due Process) के बिना कानून नहीं बना सकता है। यदि कोई राज्य ऐसा कानून बनाता है तो प्रजाजनों को उसके विरुद्ध विद्रोह का अधिकार है, क्योंकि शासन का यह मौलिक सिद्धान्त है कि वह शासितों की सहमति (Consent) पर आधारित होना चाहिए। इन सबकी इसमें सहमति है कि राज्य का शासन कानून के अनुसार चलना चाहिए। इस पर यह आपत्ति की जा सकती है कि यह सिद्धान्त विद्रोह, क्रान्ति तथा अराजकता के मार्ग को प्रशस्त करने वाला है। प्रजातन्त्र के सुप्रसिद्ध व्याख्याता तथा १६८८ की गौरवपूर्ण ब्रिटिश क्रान्ति के समर्थक जॉन लॉक ने इसका उत्तर देते हुए कहा था कि (i) कुशासन तथा अत्याचारपूर्ण व्यवस्था की दशा में न केवल लोकतन्त्र में, अपितु अन्य सभी 'पवित्र एवं दैवी' समझी जाने वाली शासन-प्रणालियों में भी विद्रोह की सम्भावना बनी रहती है, अतः यह केवल प्रजातन्त्र का ही विशेष दोष नहीं है। (ii) मनुष्य 'सार्वजनिक मामलों की प्रत्येक छोटी कुव्यवस्था' पर नहीं, अपितु गम्भीर भ्रष्टाचार और कुशासन होने पर ही विद्रोह करते हैं। (iii) लॉक ने यह भी स्पष्ट किया है कि जनता की सहमति से किया जाने वाला शासन तथा इससे उन्हें प्राप्त होने वाला विद्रोह का अधिकार ही क्रान्तियों एवं विद्रोह के विरुद्ध सुरक्षा पाने का सर्वोत्तम साधन है। लॉक के मत की पुष्टि इस बात से होती है कि ग्रेट ब्रिटेन और सं० रा० अमेरिका के लोकतन्त्रीय शासन प्रजा को विद्रोह का अधिकार देने पर भी संसार में अधिकतम सुदृढ़ और सफल शासन सिद्ध हुए हैं, वहाँ सब से कम क्रान्तियाँ हुई हैं। इसके विपरीत जिन देशों में एक उच्चतर कानून की सत्ता नहीं मानी गई है वहाँ राजनीतिक षड्यन्त्रों, हत्याओं और क्रान्तियों का बोलबाला रहा है।

(८) **साधनों की पवित्रता तथा साध्य से अभिन्नता**—लोकतन्त्र की यह मान्यता है कि साधन (Means) और साध्य (End) में कोई भेद नहीं है और दोनों पवित्र होने चाहिएँ। उदाहरणार्थ, शिक्षा नौकरी पाने का साधन है तथा व्यक्ति के विकास में सहायक होने के कारण तथा समाज में उपयोगी कार्य करने के कारण स्वयमेव साध्य भी है। एक व्यक्ति विज्ञान की उच्चतम उपाधि पाकर एक अच्छे विश्वविद्यालय में

या अनुसन्धान संस्था में कार्य करते हुए न केवल अपना सुखी जीवन बिता सकता है, अपितु नवीन आविष्कारों से अपने देश और समाज की सेवा कर सकता है। किन्तु सर्वाधिकारवादी राज्यों में ऐसा नहीं होता है। वहाँ मनमाने तौर से राज्य के कुछ लक्ष्य या साध्य निश्चित कर लिए जाते हैं, इन्हें पूर्णरूप से सत्य समझा जाता है और इन्हें पाने के लिए किसी भी प्रकार के साधनों को अनुचित नहीं समझा जाता है। हिटलर ने जर्मन जाति की उन्नति के लिए हजारों निर्दोष यहूदियों पर भीषण अत्याचार किए। साम्यवादी व्यवस्था का उद्देश्य सर्वहारा निर्धन वर्ग का कल्याण करना है, किन्तु स्तालिन ने अपनी सत्ता सुदृढ़ बनाए रखने के लिए गुप्त पुलिस का, अपने दल की शुद्धि के लिए बड़े पैमाने पर आतंक, हिंसा तथा अत्याचारपूर्ण साधनों का जो प्रयोग किया, उसकी आलोचना स्वयमेव उसके उत्तराधिकारी ख्रुश्चेव ने की है (ऊपर पृ० ४०२-३)। लोकतन्त्र हिंसा तथा हत्या के साधनों से सत्ता प्राप्त करने तथा उसे बनाए रखने को नितान्त अवांछनीय समझता है। वह जनता की सहमति से, स्वतन्त्रतापूर्वक किए जाने वाले चुनावों को ही शासन-सत्ता का सुदृढ़ आधार मानता है।

(९) **वाद-विवाद की स्वतन्त्रता**—लोकतन्त्र की यह धारणा है कि कोई भी व्यक्ति भगवान् की भाँति सर्वज्ञ और पूर्ण ज्ञानी नहीं है, हम किसी भी बात को पूर्ण सत्य के रूप में जानने में असमर्थ हैं, अतः हमें किसी भी प्रश्न पर विचार करते समय उसके पक्ष और विपक्ष की बातों को सामने लाने की अर्थात् उस प्रश्न पर सभी पहलुओं से वाद-विवाद करने की स्वतन्त्रता देने की व्यवस्था करनी चाहिए, तभी हम सत्य के समीप तक पहुँच सकेंगे। संस्कृत की यह उक्ति प्रसिद्ध है—"वादे वादे जायते तत्वबोधः।" वाद-विवाद की स्वतन्त्रता लोकतन्त्र का प्राण है। चुनावों के समय विभिन्न राजनीतिक दल जनता के सम्मुख अपने कार्यक्रम रखते हैं, इन पर विचार और विवाद होते हैं, इनके आधार पर जनता स्वतन्त्रतापूर्वक मतदान करती है और अपने शासकों को चुनती है।

(१०) **समानता**—लोकतन्त्र में सभी मनुष्यों को समान माना जाता है, यद्यपि यह सत्य है कि उनमें शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से उग्र भेद तथा घोर विषमता पाई जाती है; किन्तु इन भेदों के होते हुए भी सब मनुष्यों में एक मौलिक समानता है। भारतीय, यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि सभी धर्म सब मनुष्यों को ईश्वर का पुत्र होने के कारण समान मानते हैं। धर्म में श्रद्धा न रखने वाला भी आधुनिक लोकतन्त्रवादी यह मानता है कि धर्म, नस्ल, जाति, लिंग वर्ग, राष्ट्रीयता आदि के बीसियों भेद होते हुए भी सब मनुष्यों में इस बात में समानता है कि वे बुद्धिसम्पन्न और विवेकशील प्राणी हैं; वे सभी उत्पन्न होने पर जीने का, स्वतन्त्रतापूर्वक रहने का और सुखी रहने का समान अधिकार रखते हैं। उन्हें स्वतन्त्रतापूर्वक जीवनयापन करने का, उन्नति के समान अवसर पाने का तथा समाज से न्याय पाने का समान एवं स्वाभाविक अधिकार है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रजातन्त्र एक विशेष प्रकार के विचारों, विश्वासों तथा इनके अनुसार यापन की जाने वाली एक विशिष्ट प्रकार की जीवन-पद्धति (Way of life) है। मैक्सी के शब्दों में, "बीसवीं शताब्दी में लोकतन्त्र

राजनीतिक सिद्धान्तों से एक अधिक बड़ी वस्तु है, यह एक शासन-पद्धति से और एक सामाजिक व्यवस्था से अधिक ऊँची चीज है। यह एक ऐसी जीवन-पद्धति के लिए की जाने वाली खोज है जिसमें न्यूनतम बल-प्रयोग का सहारा लेते हुए मनुष्यों के स्वेच्छापूर्ण और स्वतन्त्र बुद्धि से किए जाने वाले कार्यों का समन्वय किया जा सके। प्रजातन्त्र का यह विश्वास है कि ऐसी जीवन-पद्धति समूची मानव-जाति के लिए सर्वोत्तम है तथा मनुष्य के भविष्य एवं विश्व के स्वरूप के साथ अधिक अनुकूलता रखने वाली है।"[1] प्रजातन्त्र के उपर्युक्त मौलिक मन्तव्य उसके दार्शनिक पक्ष को सूचित करते हैं, अब उसके राजनीतिक पक्ष का निरूपण किया जाएगा।

प्रजातन्त्र का राजनीतिक पक्ष : इसकी विशेषताएँ—प्रजातन्त्र को सामान्य रूप से एक प्रकार की राजनीतिक पद्धति तथा शासन-प्रणाली समझा जाता है। इसकी **पहली** विशेषता प्रभुसत्ता का जनता में निहित होना तथा जनता की सहमति से शासन का संचालन किया जाना है। इसका यह अभिप्राय है कि इस शासन-पद्धति में अन्तिम सत्ता मतदाताओं के हाथ में होती है, इनके द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों से ही देश का शासन करने वाली सरकार का निर्माण होता है। यह सरकार जनता की इच्छा के अनुसार तथा उसके हित के लिए शासन करती है। सरकार का निर्माण करने वाले प्रतिनिधियों का निर्वाचन चार-पाँच वर्ष की नियत अवधि के बाद होता है। यदि जनता अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों के शासन से सन्तुष्ट नहीं है तो अगले निर्वाचन में वह अपने वोट दूसरे प्रतिनिधियों को देकर सरकार को बदल सकती है। **दूसरी** विशेषता वयस्क मताधिकार की है, इसमें २१ वर्ष या इससे अधिक आयु रखने वाले प्रत्येक नर-नारी को निर्वाचनों में मतदान का अधिकार प्रदान किया जाता है। १९वीं शताब्दी के अन्त तक मताधिकार बहुत सीमित था, स्त्रियों को प्रायः कहीं भी मतदाता नहीं बनाया गया था, पुरुषों में भी केवल धनियों तथा सम्पत्ति रखने वालों को ही मताधिकार प्राप्त था। बीसवीं शताब्दी में शनैः-शनैः मतदाताओं में नर-नारी, धनी-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षित का भेद मिटाते हुए सभी वयस्क स्त्री-पुरुषों को मतदान का अधिकार देकर सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना की गई।

तीसरी विशेषता विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा लोकतन्त्र का संचालन है। इसकी सफलता के लिए इनकी सत्ता आवश्यक है। इंगलैण्ड में अनुदार और मजदूर दल, सं० रा० अमेरिका में रिपब्लिकन तथा डेमोक्रेटिक पार्टी, भारत में कांग्रेस, साम्यवादी दल, स्वतन्त्र दल, जनसंघ आदि विभिन्न दल लोकमत को शिक्षित और संगठित करते हैं, चुनाव के लिए उम्मीदवार खड़े करते हैं, निर्वाचन लड़ते हैं, बहुसंख्या में विजयी होने पर सरकार का निर्माण करते हैं, बहुसंख्या न प्राप्त करने पर विरोधी दल का निर्माण करके सरकार की आलोचना करते हैं। लोकतन्त्र में कम-से-कम दो दलों की सत्ता आवश्यक समझी जाती है; एक बहुसंख्यक दल सरकार का निर्माण करता है तथा अल्पसंख्यक दल उसकी आलोचना तथा विरोध करता है। यदि जनता सरकार के कार्य से सन्तुष्ट न हो तो वह अगले चुनाव में सत्तारूढ़ दल

---

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज़, पृ० ६९०

को वोट न देकर विरोधी दल को वोट देती है और वह बहुसंख्या में चुने जाने पर शासन की बागडोर सम्भालता है तथा अल्पसंख्यक दल विरोधी दल के रूप में कार्य करता है। अतः दलीय व्यवस्था लोकतन्त्र का प्राण है। इसमें वोटरों को अपना मत देने में पूरी स्वाधीनता रहती है। किन्तु अधिनायकवादी नाज़ी जर्मनी या फासिस्ट इटली जैसे देशों में केवल एक ही दल को मान्यता दी जाती है, विरोधी दलों को कानून द्वारा निषिद्ध घोषित किया जाता है। वहाँ मतदाता केवल एक ही दल को वोट दे सकते हैं।

चौथी विशेषता सरकार की आलोचना का अधिकार है। इसमें जनता को सरकार की आलोचना करने की खुली छूट होती है। वह भाषणों से, सभाओं के आयोजनों से, पत्र-पत्रिकाओं से तथा पुस्तकों के प्रकाशन से सरकार के कार्यों का विरोध कर सकती है। अतः भाषण, लेखन, मुद्रण, प्रकाशन की तथा विचारों की अभिव्यक्ति के सभी साधनों की स्वतन्त्रता लोकतन्त्र के लिए आवश्यक समझी जाती है। युद्ध आदि की असाधारण परिस्थितियों में जनता की इन स्वतन्त्रताओं पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं, किन्तु इन परिस्थितियों के समाप्त होते ही जनता को पूरी स्वतन्त्रता दी जाती है। सर्वाधिकारवादी देशों में जनता की इन स्वतन्त्रताओं को राज्य के लिए घातक और भयावह समझकर, इनका बुरी तरह दमन किया जाता है। **पाँचवीं** विशेषता बहुमत द्वारा निर्णय है। लोकतन्त्र का अर्थ जनता की सहमति से शासन करना है, किन्तु किसी भी विषय में जनता एकमत नहीं हो सकती, अतः लोकतन्त्र में सभी विषयों में बहुमत का निर्णय मान्य समझा जाता है। यह नियम सार्वजनिक चुनाव से लेकर संसद् की विभिन्न समितियों तक समान रूप से लागू होता है। इसे इसलिए नहीं माना जाता कि बहुमत का निर्णय सदैव ठीक होता है, अपितु इसलिए स्वीकार किया जाता है कि इसके अतिरिक्त अन्य कोई व्यावहारिक उपाय नहीं है। **छठी** विशेषता लोकमत की महत्ता है। इसमें जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि जनता की इच्छा के अनुसार ही शासन करते हैं। जनता की इच्छा भाषणों, लेखों तथा आन्दोलनों में प्रकट होती है, इनका सरकार पर प्रबल प्रभाव पड़ता है। जनमत के कारण सरकार को कई बार मन्त्रिमण्डलों में परिवर्तन करने पड़ते हैं, द्वितीय विश्वयुद्ध में लोकमत के आगे नतमस्तक होकर ब्रिटिश प्रधानमन्त्री नेविल चेम्बरलेन को तथा स्वेज़ के संकट के समय १९५६ में एन्थनी ईडन को त्याग-पत्र देने के लिए विवश होना पड़ा था। १९६२ में भारत पर चीन के आक्रमण के समय भारतीय सेनाओं की दुर्दशा के लिए भारतीय लोकमत ने तत्कालीन युद्ध-मन्त्री श्री कृष्णन् मेनन को उत्तरदायी ठहराया और उसे प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू का प्रबल समर्थन होते हुए भी अपने पद से त्याग-पत्र देना पड़ा। पहले यह जनमत केवल समाज के उच्च एवं मध्यम वर्ग तक ही सीमित था। बर्क यह कहा करता था कि साधारण किसान के चिन्तन का विषय अपने बैलों तक ही सीमित है, वह राजनीति में अपने विचारों को कैसे प्रकट कर सकता है। फ्रेंच राज्यक्रान्ति के बाद मताधिकार का विस्तार होने पर ही जनमत ने वस्तुतः जनता के मत का रूप धारण किया। वैज्ञानिक प्रगति के परिणामस्वरूप सिनेमा, रेडियो, टेलीविज़न तथा समाचारपत्रों से अब

जनमत एक बड़ी प्रभावशाली शक्ति बन गया है। **सातवीं** विशेषता व्यक्ति के मौलिक अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं को स्वीकार करना तथा न्यायालयों द्वारा सुरक्षित बनाना है। भारतीय संविधान की भाँति प्रायः सभी लोकतन्त्रीय देशों के संविधानों में नागरिकों के जीवन, सम्पत्ति, स्वतन्त्रता और समानता के अधिकारों का विशद प्रतिपादन होता है और इनकी रक्षा के लिए न्यायालयों को अधिकार दिए जाते हैं। कोई भी व्यक्ति अपने जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकारों से तब तक वंचित नहीं किया जा सकता जब तक उसके विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई अपराध न प्रमाणित कर दिया जाए। न्यायालयों को यह भी अधिकार दिया जाता है कि वे विधानसभाओं द्वारा पास किए गए ऐसे सभी कानूनों को रद्द कर दें जो संविधान द्वारा प्रतिपादित व्यक्ति के मौलिक अधिकारों के प्रतिकूल हों। सब व्यक्तियों के अधिकार समान होने चाहिएँ तथा उसमें कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए। **आठवीं** विशेषता सहिष्णुता, समझौते की तथा सतर्कता और सतत जागरूकता की भावनाएँ हैं। लोकतन्त्र में विरोधी दलों की सत्ता अनिवार्य है, वे सदैव सरकार की आलोचना करते हैं, अधिनायकवादी शासनों की भाँति इन्हें बल-प्रयोग से निर्मूल नहीं किया जा सकता है, इन्हें सन्तुष्ट करने के लिए इनके साथ समझौते करने पड़ते हैं। इसके लिए बड़ी सहिष्णुता की वृत्ति अपनानी पड़ती है और विरोधियों के दृष्टिकोण को समझना पड़ता है। यह कहा जाता है कि ब्रिटिश प्रधानमन्त्री अपनी पत्नी की मनोवृत्ति से भी अधिक अच्छी तरह अपने विरोधी दल के नेता की मनोवृत्ति को समझता है। लोकतन्त्र के लिए सतत जागरूकता की भावना भी आवश्यक है, क्योंकि मौलिक अधिकारों को संविधान में गिनाना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु सब नागरिकों में उन्हें सुरक्षित रखने की भावना तथा अपने अधिकारों का प्रयोग करने की, अपने दायित्वों को समझने की तथा उसके अनुसार आचरण करने की प्रबल आकांक्षा और प्रयास होना चाहिए। इनके प्रति उपेक्षा लोकतन्त्र के लिए घातक है। यदि नागरिक अपने मतपत्र का महत्व नहीं समझता है, वोट देने के लिए नहीं जाता है अथवा पैसे के लोभ में अपने मतपत्र को कुछ रुपयों में बेच डालता है तो वह प्रजातन्त्र के मौलिक सिद्धान्तों पर कुठाराघात करता है, उसकी नींव को खोखला बनाता है। अतः उसे सदैव अपने अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के लिए जागरूक रहना है, तभी उसकी स्वतन्त्रताएँ सुरक्षित रह सकती हैं, इसीलिए यह कहा जाता है कि 'सतत जागरूकता ही स्वतन्त्रता का मूल्य है' (Eternal vigilance is the price of liberty)।

प्रजातन्त्र का विकास—आजकल प्रजातन्त्र-प्रणाली का अनुसरण करने वाले देशों की संख्या अधिक है; इस शासन-पद्धति को श्रेष्ठ समझने वालों की बहुतायत है; किन्तु प्राचीन एवं मध्ययुग में राजतन्त्र-प्रणाली का प्राधान्य था। पश्चिमी जगत् के सुप्रसिद्ध विचारक प्लेटो तथा अरस्तू इसके उग्र आलोचक थे, वे इसे शासन का विकृत रूप मानते थे।[1] फिर भी यूनान के नगरराज्यों में ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व प्रजातन्त्र-प्रणाली का प्रचलन था, सिकन्दर के आक्रमण के समय चौथी शताब्दी ई० पू०

१. हरिदत्त वेदालंकार—पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, पृ० १२३, १७८

में उसके साथ आने वाले यूनानी यात्रियों ने भारत में अनेक गणराज्यों का वर्णन किया है, इसके अतिरिक्त बौद्ध साहित्य में भी अनेक गणराज्यों का उल्लेख मिलता है। यूनान के पुराने लोकतन्त्रीय नगरराज्यों के साथ वर्तमान राज्यों की तुलना में दो बातें उल्लेखनीय हैं: (१) इनका भौगोलिक क्षेत्र अत्यन्त संकुचित, एक नगर तथा उसके आसपास के प्रदेश तक सीमित था। एथेन्स आदि के नगरराज्य इसी प्रकार के थे। (२) इनमें प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Direct Democracy) की व्यवस्था थी, एक राज्य के सब वयस्क नागरिक एक स्थान पर एकत्र होकर शासन-कार्यों में भाग लेते थे, उस समय वर्तमान लोकतन्त्रीय राज्यों की जनता द्वारा निर्वाचन में अपने प्रतिनिधि चुनने के प्रतिनिधिमूलक प्रजातन्त्र (Representative Democracy) की व्यवस्था नहीं थी। (३) राजनीतिक विषयों में वोट देने का अधिकार केवल स्वतन्त्र नागरिकों को ही था, इनकी आबादी में बहुसंख्या रखने वाले तथा वास्तविक जनता का निर्माण करने वाले दास शासन के कार्यों में भाग लेने के अधिकार से वंचित थे। अतः यूनानी नगरराज्यों को आधुनिक अर्थ में लोकतन्त्र कहना कठिन है। प्राचीन रोम में ५१० ई० पू० में एक अत्याचारी राजा लूशियस टार्किनियस सुपरब्स के क्रूर राजतन्त्र का अन्त करके गणराज्य की स्थापना की गई। यहाँ भी यूनान की भाँति शासन-सत्ता केवल धनी एवं कुलीन व्यक्तियों (Patrician) तक सीमित थी, बाद में शनैः-शनैः निर्धन लोगों (Plebian) को शासन के कुछ अधिकार मिले। पहली शताब्दी ई० पू० की जर्मन या ट्यूटानिक जातियों में लोकतन्त्रीय संगठन की कुछ बातें पाई जाती थीं। इनकी जनपरिषदों (Folk Assemblies) में युद्ध और शान्तिविषयक तथा पंचायती भूमि के बँटवारे के प्रश्नों का निर्णय होता था। इन थोड़े से उदाहरणों के अतिरिक्त प्राचीन काल में राजतन्त्र की व्यवस्था सार्वभौम तथा सर्वमान्य थी।

मध्ययुग में भी राजतन्त्र और सामन्त-पद्धति योरोप के लगभग सभी देशों में प्रचलित थी। किन्तु राजा द्वारा प्रतिनिधियों से परामर्श लेने के प्रयोजन से जन-प्रतिनिधियों की संस्थाओं के विकास का श्रीगणेश हो रहा था। सामन्त राजा के निरंकुश शासन पर प्रतिबन्ध लगाना चाहते थे। इंगलैण्ड में राजा जॉन से बृहत् अधिकारपत्र (Magna Carta) लेना इसी प्रवृत्ति का परिणाम था। १४वीं शताब्दी तक वहाँ उच्च वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली पार्लियामैण्ट का विकास हुआ, इसकी लार्ड सभा के सदस्य लार्ड की पदवी धारण करने वाले समृद्ध, शक्तिसम्पन्न सामन्त और जमींदार होते थे तथा कामन्स सभा उस समय के प्रधान सामाजिक समुदायों (Communities), कुलीन वर्ग तथा पादरी वर्ग का प्रतिनिधित्व करने से ही यह नाम रखती थी।[1] फ्रांस आदि में विभिन्न सामाजिक वर्गों को 'एस्टेट' कहते थे, इनके प्रतिनिधियों की सभा Estates General को राजा कभी-कभी बुलाया करते थे। १५वीं-१६वीं शताब्दियों में राष्ट्रीयता का विकास होने से निरंकुश राजतन्त्रों को प्रबल पोषण मिला, स्विट्ज़रलैण्ड के अतिरिक्त अन्य देशों में लोकतन्त्रीय संस्थाएँ समाप्त होने लगीं। सत्रहवीं शताब्दी में निरंकुश राजतन्त्र तथा प्रजातन्त्र की पद्धतियों में,

---

१. रैम्ज़े म्यूर—ए शार्ट हिस्टरी आफ ब्रिटिश कामनवैल्थ, खण्ड १, पृ० १४७

इंगलैण्ड और हालैण्ड में उग्र संघर्ष हुआ। इंगलैण्ड में चार्ल्स प्रथम (१६२५–४६) तथा पार्लियामैण्ट में गृहयुद्ध छिड़ गया, १६४६ में पार्लियामैण्ट ने चार्ल्स प्रथम को प्राणदण्ड दिया, कुछ समय तक वहाँ राजतन्त्र समाप्त हो गया। १६६० में चार्ल्स द्वितीय के राजगद्दी पर बैठने के साथ इंगलैण्ड में पुनः राजतन्त्र स्थापित हुआ, किन्तु पार्लियामैण्ट की प्रभुता स्वीकार कर ली गई, १६८८ की गौरवपूर्ण क्रान्ति से यह पुष्ट हुई। जॉन लॉक ने इसका समर्थन करने के लिए लिखी गई अपनी रचनाओं में लोकतन्त्र के मौलिक सिद्धान्तों का उग्र समर्थन किया। रूसो तथा वाल्तेयर ने १८वीं शताब्दी में इनका प्रबल पोषण किया। १७७६ तथा १७८९ में होने वाली अमेरिकन तथा फ्रेंच राज्यक्रान्तियों ने प्रजातन्त्र, समानता, स्वतन्त्रता और नागरिकों के मौलिक अधिकारों तथा जनता की सहमति से शासन के तत्वों पर बल दिया और राजतन्त्र पर प्रबल कुठाराघात किया। १९वीं शताब्दी में योरोप के सभी राज्यों में लोकतन्त्रीय संविधान बनने लगे तथा मताधिकार का विस्तार होने लगा। इंगलैण्ड में १८३२, १८६६, १८८४ के सुधार कानूनों से पुरुष मताधिकार को शनैः-शनैः विस्तीर्ण किया गया तथा १९१८ और १९२८ के कानूनों से स्त्रियों को भी पुरुषों के समान मताधिकार प्राप्त हुआ।

बीसवीं शताब्दी को 'लोकतन्त्र' की शताब्दी कहा जाता है। इसमें होने वाले दो विश्वयुद्धों ने निरंकुश राजतन्त्रों का तथा सर्वाधिकारवादी अधिनायकों के तानाशाही शासनों का अन्त किया है। दोनों युद्धों का उद्देश्य विश्व में लोकतन्त्र-प्रणाली को सुरक्षित बनाना कहा जाता था। प्रथम विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप योरोप के चार बड़े राजतन्त्र—जर्मनी का होहेनजालर्न राजवंश, आस्ट्रिया का हैप्सबर्ग वंश, रूस की ज़ारशाही और टर्की की खिलाफत समाप्त हो गई। द्वितीय विश्वयुद्ध की ज्वालाओं ने इटली के फासिस्ट तथा जर्मनी के नाज़ी शासन को भस्मसात् कर दिया। दोनों युद्धों के मध्यवर्तीकाल (१९१९–३९) के बीच में हिटलर, स्तालिन और मुसोलिनी के उत्थान से प्रजातन्त्र-प्रणाली के लिए एक महान् संकट उत्पन्न हो गया था; किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध से यह समाप्त हो गया। जिस प्रकार प्रथम विश्वयुद्ध के बाद योरोप के अनेक देशों में लोकतन्त्रीय शासनों की स्थापना हुई थी, उसी प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् एशिया तथा अफ्रीका में योरोपियन प्रभुत्व से स्वाधीन होने वाले भारत आदि अनेक देशों में लोकतन्त्रीय संविधान स्वीकार किए गए। लोकतन्त्रीय पद्धति का समर्थन प्रधान रूप से निम्नलिखित युक्तियों के आधार पर किया जाता है।

प्रजातन्त्र के पक्षपोषकों के तर्क—प्रजातन्त्र का समर्थन विभिन्न समयों में विभिन्न प्रकार के तर्कों के आधार पर किया जाता है : **पहला** तर्क प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त (Doctrine of Natural Rights) है। इसके अनुसार मनुष्य को प्रकृति ने जन्म से ही कुछ विशेष अधिकार प्रदान किए हैं। इनकी सुरक्षा केवल प्रजातन्त्र-प्रणाली में सम्भव है। इसका प्रयोग मध्ययुग के अन्त में किया जाता था। **दूसरा** तर्क उपयोगितावाद (Utility) का अथवा अधिकांश लोगों को सुख देने का है। यह व्यवस्था प्रजातन्त्र-प्रणाली में ही की जा सकती है, अतः यह सर्वोत्तम है। **तीसरा**

आदर्शवादी (Idealist) तर्क १९वीं शती के उत्तरार्द्ध में दिया जाने लगा था। इसके अनुसार प्रजातन्त्र-प्रणाली इसलिए श्रेष्ठ और आवश्यक है कि इसमें मानवीय व्यक्तित्व की विशेषताओं का पूर्णतम विकास सम्भव है। यहाँ इन तीनों तर्कों के विकास का संक्षिप्त परिचय दिया जाएगा।

(क) **प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धान्त**—इसका प्रतिपादन सर्वप्रथम इंगलैण्ड में १७वीं शताब्दी में चार्ल्स प्रथम के शासनकाल (१६२५–१६४९) से राजा के, राजकीय चर्च के तथा वंश-परम्परागत कुलीनों के निरंकुश अधिकारों तथा दावों का विरोध करने के लिए स्वतन्त्र व्यक्तियों (Independents), समतावादियों (Levellers) तथा पार्लियामैण्ट में सामान्य व्यक्तियों (Commoners) के अधिकारों के समर्थकों ने आरम्भ किया। समतावादियों द्वारा प्रकाशित एक पुस्तिका में १७वीं शती के मध्य में यह कहा गया था कि जनता को स्वतन्त्रता, सम्पत्ति, धार्मिक पूजा की स्वतन्त्रता तथा राजनीतिक क्षेत्र में समानता के अधिकार "आदम से तथा यथार्थ बुद्धि (Right Reason) से प्राप्त हुए हैं।" इसी समय सुप्रसिद्ध कवि जॉन मिल्टन (Milton) ने राजकीय तथा धार्मिक क्षेत्र में निरंकुश शासन के विरोध में प्रबल तर्क उपस्थित किए, इनका आधारभूत सिद्धान्त यह था कि "मनुष्य प्रकृति द्वारा समान रूप से स्वतन्त्र उत्पन्न किए गए हैं।" इस सिद्धान्त से उसने यह परिणाम निकाला था कि स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होने वाले सभी व्यक्तियों को यह अधिकार है कि वे अपनी इच्छानुसार सर्वोत्तम प्रतीत होने वाली शासन-प्रणाली से शासित हों। १६८८ में ब्रिटिश पार्लियामैण्ट द्वारा की गई क्रान्ति को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए लिखे गए ग्रन्थों में जॉन लॉक ने इसी युक्ति के आधार पर लोकतन्त्र का समर्थन करते हुए यह कहा है कि सब मनुष्यों को प्रकृति ने यह अधिकार और स्वतन्त्रता प्रदान की है कि "वे प्रकृति द्वारा बनाए गए कानूनों की सीमा के भीतर रहते हुए अपनी इच्छानुसार अपने सभी कार्यों की, सम्पत्ति की तथा शासन की व्यवस्था करें, इसके लिए उन्हें किसी अन्य व्यक्ति से पूछने की तथा उसकी इच्छा पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है।" उसका यह मत था कि प्राकृतिक दशा में मनुष्य को स्वाभाविक रूप से प्राप्त होने वाली स्वतन्त्रता केवल ऐसे ही राजनीतिक संगठन से सुरक्षित रह सकती है "जिसमें बहुसंख्या को शासन-सम्बन्धी कार्य करने का अधिकार होता है।" लॉक द्वारा प्रतिपादित विचारों का समर्थन कुछ अन्य विचारकों ने भी किया। इनका प्रतिपादन रूसो के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'सामाजिक समझौते' (Social Contract), थामस पेन के 'मानव के अधिकार' (Rights of Man) में तथा सं० रा० अमेरिका के और फ्रांस की क्रान्तियों में किए गए मानव के अधिकारों की घोषणा में किया गया। इनमें प्रजातन्त्र के इस मौलिक सिद्धान्त को माना गया है कि सभी मनुष्यों को अपनी शासन-पद्धति को निश्चित करने का तथा अपने शासकों को चुनने का प्राकृतिक और स्वाभाविक अधिकार है। वर्तमान लोकतन्त्रों का निर्माण करने वाली प्रधान घटनाएँ निम्नलिखित हैं—इंगलैण्ड में कामन्स सभा को मताधिकार का विस्तार करते हुए तथा अन्य परिवर्तनों से जनता के प्रति उत्तरदायी बनाना, सं० रा० अमेरिका का ग्रेट ब्रिटेन से स्वाधीनता प्राप्त करना, फ्रांस में निरंकुश राजतन्त्र की समाप्ति, योरोप के अन्य देशों में लोकतन्त्रीय

संविधानों की स्थापना। ये सब घटनाएँ मनुष्य के उपर्युक्त प्राकृतिक अधिकारों के आधार पर इन्हें मूर्त्त रूप देने के लिए की गई हैं। आजकल भी प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को कुछ संशोधित रूप में इस प्रकार माना जाता है कि यद्यपि सब मनुष्य बुद्धि, विद्या, सम्पत्ति और शक्ति की दृष्टि से समान नहीं हैं, फिर भी वे इस दृष्टि से समान हैं कि उन सबको प्राकृतिक रूप से जीवन बिताने का, स्वतन्त्रता का और न्याय पाने का समान अधिकार है, इसीलिए उन्हें न्याय की व्यवस्था करने वाले शासन में भाग लेने का अधिकार भी समान रूप से प्राप्त है।

(ख) **उपयोगितावादी युक्ति**—बेन्थम आदि उपयोगितावादियों का यह दृष्टि-कोण था कि राज्य का एकमात्र लक्ष्य इसका निर्माण करने वाले व्यक्तियों के कल्याण और सुख को बढ़ाना है। इस विचारधारा का उद्देश्य राज्य द्वारा प्रजा के 'अधिकतम लोगों का अधिकतम हित' (The greatest good of the greatest number) करना था। यह लोकतन्त्र में ही सम्भव है, क्योंकि यह अन्य शासनों की अपेक्षा अधिकतम हितों को अच्छी तरह से पूरा कर सकता है (देखिए ऊपर पृ० ३०)। बेन्थम के मतानुसार यदि एक व्यक्ति का राज्य होगा तो वह प्रधान रूप से केवल अपने हितों पर ध्यान देगा, यदि कुलीनतन्त्र के अनुसार थोड़े-से व्यक्तियों का शासन होगा तो ये व्यक्ति अपने वर्ग के मुट्ठी-भर लोगों के हितों पर ही ध्यान देंगे, किन्तु यदि साधारण जनता के तथा सभी व्यक्तियों के हितों की रक्षा करनी हो तो वह सभी के अर्थात् जनता के लोकतन्त्रीय शासन से ही सम्भव है। लोकतन्त्र का अभिप्राय ऐसे लोगों द्वारा शासन किए जाने से है जो अधिक-से-अधिक लोगों के कल्याण का अधिकतम ध्यान रखते हैं। उपयोगितावादियों का दावा है कि अन्य किसी भी शासन-प्रणाली की अपेक्षा लोकतन्त्र ने जनता को अधिक लाभ पहुँचाया है। इसने राजतन्त्र अथवा कुलीनतन्त्र की तुलना में जनता की शिक्षा का, दरिद्रता एवं अन्य सामाजिक विषमताओं और अन्यायों को दूर करने का अधिक भगीरथ और सराहनीय प्रयास किया है। लार्ड ब्राइस ने आधुनिक लोकतन्त्रों का व्यापक, सूक्ष्म और गम्भीर अध्ययन करने के बाद तथा अन्य शासन-प्रणालियों से इसकी तुलना करने के बाद यह परिणाम निकाला है कि प्रजातन्त्र अन्य सभी पद्धतियों की अपेक्षा अधिक उपयोगी, हितकर और लाभदायक सिद्ध हुआ है। यद्यपि अन्य शासन-प्रणालियों के समान लोकतन्त्र में कई दोष हैं, फिर भी वर्तमान युग में ये दोष अन्य प्रणालियों के दोषों की अपेक्षा जनता के लिए कम हानिकारक सिद्ध हुए हैं। इसने जनता के कष्टों को तथा अन्यायों को बड़ी मात्रा में दूर किया है, मनुष्यों के सांस्कृतिक विकास में बहुत अधिक सहायता की है। ब्राइस के शब्दों में, "यद्यपि लोकतन्त्र ने इससे आशा किए जाने वाले सभी वरदानों को हमें प्रदान नहीं किया है, फिर भी इसने पुराने युगों की अनेक क्रूरताओं, आतंकों, अन्यायों तथा अत्याचारों को कुछ देशों में बिलकुल समाप्त कर दिया है तथा अन्य देशों में इन्हें बहुत बड़ी मात्रा में कम कर दिया है। लोकतन्त्र की भले ही कितनी उग्र निन्दा की जाए, इसके समर्थक सदैव इसका यह उत्तर दे सकते हैं कि इसके स्थान में इससे अधिक उत्कृष्ट शासन-प्रणाली कौनसी है?"[1] यह स्पष्ट है कि विभिन्न शासन-

१. ब्राइस—माडर्न डेमोक्रेसीज, खण्ड २, पृ० ५८५, ६६८-६९

प्रणालियों में जनता को सबसे अधिक लाभ प्रजातन्त्र-प्रणाली से पहुँचा है, स्थायी प्रभाव और उपयोगिता की दृष्टि से कोई अन्य शासन-प्रणाली इसकी तुलना में नहीं टिक सकती है।

किन्तु आजकल उपयोगितावाद के आधार पर कई कारणों से प्रजातन्त्र का समर्थन करने पर बल नहीं दिया जाता है। यह कहा जाता है कि ब्राइस का यह कथन सत्य नहीं है कि लोकतन्त्र ने जनता को अन्य प्रणालियों की अपेक्षा अधिक लाभ पहुँचाया। प्रजातन्त्र-प्रणाली हिटलर तथा मुसोलिनी द्वारा स्थापित अधिनायकवाद (Dictatorship) जैसी क्षमतापूर्ण, शीघ्र परिणाम उत्पन्न करने वाली तथा जनता को लाभ पहुँचाने वाली शासन-पद्धति नहीं है। कमालपाशा ने तुर्की का डिक्टेटर बनकर उसका कायाकल्प कर दिया, हिटलर तथा मुसोलिनी ने जर्मनी और इटली को कुछ ही वर्षों में उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया। अतः क्षमता की दृष्टि से लोकतन्त्र अधिनायकतन्त्रों का मुकाबला नहीं कर सकते हैं। इसलिए अब इस बात पर बल दिया जाता है कि किसी शासन-प्रणाली की श्रेष्ठता की कसौटी क्षमता, सुशासन और व्यवस्था स्थापित करना, देश को समृद्ध करना तथा न्याय प्रदान करना नहीं, अपितु उसके नागरिकों के चरित्र का निर्माण करना है। लावेल ने कहा है कि सर्वोत्तम शासन-पद्धति वही है जो अन्ततोगत्वा जनता में नैतिक भावना, ईमानदारी, उद्योग, आत्म-निर्भरता तथा साहस के गुणों को उत्पन्न करती है। इस दृष्टि से आजकल लोकतन्त्र का समर्थन आदर्शवादी युक्ति अर्थात् व्यक्ति के नैतिक विकास के आधार पर किया जाता है।

(ग) **आदर्शवादी युक्ति**—१९वीं शती के उत्तरार्द्ध से प्रजातन्त्र के समर्थन में उपयोगितावाद की अपेक्षा आदर्शवादी युक्ति पर अधिक बल दिया जाने लगा है। इसमें लोकतन्त्र से जनता को प्राप्त होने वाले भौतिक सुखों को, अन्यायों तथा कष्टों के प्रतिकार को तथा सामान्य नागरिकों के लिए शिक्षा आदि की व्यवस्था की सुविधाओं को कम महत्वपूर्ण समझा जाता है; किन्तु नागरिकों की प्रसुप्त बौद्धिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों के विकास में लोकतन्त्र के सहायक होने को अधिक महत्व दिया जाता है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा था कि प्रजातन्त्र अन्य प्रणालियों से इस कारण श्रेष्ठ है कि इससे सामान्यतम नर-नारी को अपनी बुद्धि एवं चरित्र के विकास का स्वर्ण अवसर मिलता है। लोकतन्त्र-प्रणाली में अधिकांश जनता मतदान के रूप में शासन में भाग लेती है, राजनीतिक प्रश्नों पर गम्भीर चिन्तन करती है, स्थानीय स्वशासन में तथा जूरी आदि के कार्यों में भाग लेती है (देखिए ऊपर पृ० ८१), सार्वजनिक मामलों में अभिरुचि लेने पर उसे इन पर देश के व्यापक हितों के दृष्टिकोण से विचार करना पड़ता है, इससे जनता स्वार्थपूर्ण संकीर्ण दृष्टिकोण से ऊपर उठती है, क्षुद्र भावनाओं का परित्याग करती है, अतः इससे उसके बौद्धिक गुणों का, नैतिक तथा आध्यात्मिक गुणों का विकास होता है।

इसी प्रकार लोकतन्त्र स्वावलम्बन, उत्तरदायित्व तथा आत्मनिर्भरता के गुणों का विकास करने में सहायक होता है। इसमें नागरिक यह अनुभव करते हैं कि राज्य उन्हीं का है, वे अपने भाग्य का निर्माण स्वयं कर सकते हैं। राजतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र

में जनता राजा एवं उच्चवर्ग पर अवलम्बित होने के कारण पराश्रित और परमुखापेक्षी हो जाती है। स्वावलम्बन ही चरित्र की दृढ़ता का मूल है। अन्य शासन-प्रणालियों में भले ही प्रशासन अच्छा हो, किन्तु उनमें चरित्र को उन्नत एवं दृढ़ करने की क्षमता नहीं होती है। अतः यह कहा जाता है कि अच्छे-से-अच्छा शासन भी स्वशासन की अथवा प्रजातन्त्र की बराबरी नहीं कर सकता है। मिल ने इसके इन्हीं लाभों पर दृष्टि रखते हुए कहा था कि यह अन्य किसी भी शासन-प्रणाली की अपेक्षा एक उत्कृष्ट कोटि का राष्ट्रीय चरित्र बनाने में अधिक सहायक होती है। लार्ड ब्राइस का यह मत है कि वोट का अधिकार देने से व्यक्ति की गरिमा बढ़ जाती है, उसमें उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न होती है, वह यह समझने लगता है कि अपने शासकों का निर्वाचन करने में उसका भी महत्वपूर्ण स्थान है, उसे अपने वोट का प्रयोग बड़ी समझदारी, विवेक और बुद्धिमत्ता से करना चाहिए। अतः यह बात निर्विवाद है कि लोकतन्त्र-पद्धति किसी भी अन्य शासन-पद्धति की अपेक्षा मनुष्य के बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक गुणों के विकास में अधिक सहायक होने के कारण श्रेष्ठ है।

लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें—उपर्युक्त कारणों से उत्कृष्ट समझी जाने वाली प्रजातन्त्र-प्रणाली को सफल बनाने के लिए नागरिकों में कुछ विशेष गुणों का होना आवश्यक है, इनके न होने पर प्रजातन्त्र प्रायः विफल हो जाते हैं। ये गुण जिस देश में जितनी अधिक मात्रा में होंगे, वहाँ प्रजातन्त्र उतना ही अधिक सफल होगा। इसकी सफलता की **पहली** शर्त जनता में समुचित शिक्षा द्वारा नागरिकों में अपने कर्त्तव्यों के पालन तथा अधिकारों की रक्षा के लिए सतत जागरूकता की आदर्श नागरिक भावना (Civic sense) उत्पन्न करना है। यह भावना जितनी अधिक मात्रा में होगी, लोकतन्त्र उतना ही अधिक सफल होगा। जहाँ लोग सुरक्षित हैं, राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों को भली-भाँति समझते हैं और उनका पालन करते हैं, सार्वजनिक कार्यों में गहरी दिलचस्पी लेते हैं, वहाँ लोकतन्त्र के सफल होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता है। किन्तु जहाँ जनता को अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान न हो, ज्ञान होने पर भी वह इनका पालन न करे, सार्वजनिक मामलों में उपेक्षा तथा उदासीनता की वृत्ति अपनाए, मन्थरा की भांति इस मनोवृत्ति को अपनाए कि 'कोउ नृप होउ हमें का हानि, चेरी छांड़ि न होउब रानी", वोट आदि के तथा शासन-सम्बन्धी कार्यों में भाग लेना सिर-दर्द समझने लगे, वहाँ लोकतन्त्र का पतन निश्चित है। प्रायः यह देखा जाता है कि अशिक्षित नागरिक सार्वजनिक मामलों में दिलचस्पी नहीं लेता है, वह पंचायत आदि की बैठकों में भाग नहीं लेता है, यदि लेता है तो उनके मामले पूरी तरह नहीं समझ पाता है, इससे उसकी उदासीनता बढ़ जाती है। इसका प्रतिकार करने के लिए सर्वसाधारण की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध करना आवश्यक है। इस शिक्षा का अभिप्राय केवल अक्षर ज्ञान देना ही नहीं, अपितु उन्हें सामाजिक और राजनीतिक कर्त्तव्यों के तथा अधिकारों के महत्व का बोध कराना, इनके पालन के और रक्षा के लिए प्रबल भावना भरना है। जब तक ऐसा नहीं होगा तब तक सार्वजनिक मामलों में साधारण जनता द्वारा बुद्धिमत्तापूर्ण रीति से भाग न ले सकने के कारण प्रजातन्त्र सफल नहीं हो सकता है।

दूसरी शर्त यह है कि नागरिक सार्वजनिक मामलों में उच्च नैतिक चरित्र का प्रदर्शन करें, ईमानदारी और कर्त्तव्यपालन के उच्च मानदण्ड की स्थापना करें। नागरिकों में आत्म-गौरव की ऐसी भावना होनी चाहिए कि वे स्वार्थान्ध होकर सार्वजनिक दृष्टि से किसी का भी अहित न करें, गलत या अन्यायपूर्ण कार्य करने का साहस ही न कर सकें। यह नैतिक उच्चता नेताओं में और भी अधिक आवश्यक है। उन्हें आर्थिक प्रलोभनों में फँसकर अनुचित कार्य नहीं करने चाहिएँ, ईमानदारी और निर्भीकता से अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए। जनसाधारण को भी राजनीतिक दलों के मिथ्या प्रचार से अप्रभावित रहते हुए अपने नागरिक कर्त्तव्यों का पालन पूरी निष्ठा और ईमानदारी से करना चाहिए। जनता में ऐसी नैतिक उच्चता न रहने पर प्रजातन्त्र में भ्रष्टाचार पनपने लगता है। भ्रष्टाचारपूर्ण प्रजातन्त्र सम्भवतः सबसे अधिक हानि पहुँचाने वाली शासन-प्रणाली है। लार्ड ब्राइस के मतानुसार लोकतन्त्र का उत्थान और पतन जनता की उच्च एवं निकृष्ट नैतिकता तथा बौद्धिकता पर निर्भर है।

तीसरी शर्त सार्वजनिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्व की तथा सामुदायिक हित की गौरवपूर्ण भावना है। इसके अनुसार नागरिक अपने वैयक्तिक, क्षुद्र संकीर्ण स्वार्थों को समाज एवं राष्ट्र के व्यापक हितों के लिए बलिदान कर देते हैं। वे अपने हित को नहीं, अपितु अपने गाँव, जिले, प्रान्त और देश के हित को बड़ा समझते हैं। इनका उद्देश्य अपने स्वार्थपूर्ण जीवन के लिए अनुचित उपायों से सब सुविधाएँ प्राप्त करना नहीं, किन्तु समूचे समाज के और देश के हितों का ध्यान रखना है; सार्वजनिक प्रश्नों पर अपनी बिरादरी, जाति, धर्म, भाषा आदि की संकुचित दृष्टि से विचार न करके देश के व्यापक हितों के दृष्टिकोण से विचार करना है। विभिन्न प्रकार के जातीय, आर्थिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक भेदों से परिपूर्ण समाज में देश की एकता, अखण्डता और सुदृढ़ता की तथा सामुदायिक हित की भावना ही नागरिकों को इस बात की प्रेरणा देती है कि वे अपने वैयक्तिक स्वार्थों को तिलांजलि देते हुए लोकतन्त्र को सफल बनाएँ। इसका सुन्दर उदाहरण १९६२ में चीन द्वारा तथा १९६५ में पाकिस्तान द्वारा भारत पर आक्रमण होने पर देश की रक्षा के लिए भारत के हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख आदि सभी सम्प्रदायों के तथा कश्मीर से केरल तक विभिन्न भाषाभाषी तथा बीसियों मतभेद रखने वाले विभिन्न प्रान्तों के व्यक्तियों का मिलकर एक स्वर से दृढ़तापूर्वक शत्रु का प्रतिरोध करना था। यह देश की सुरक्षा की तथा सामुदायिक हित की भावना से किया गया था।

चौथी शर्त उच्च कोटि की राजनीतिक समझ-बूझ है। इस समझ के कारण जनता में चुनावों के समय अपने प्रतिनिधियों तथा शासकों को सही ढंग से चुनने की ऐसी चतुराई होनी चाहिए कि वह जोशीले भाषण देकर जनता की भावनाओं को भड़काने वाले, नारेबाजी से उन्हें बेवकूफ बनाने वाले तथा सब्ज बाग दिखाने वाले राजनीतिज्ञों के शब्दजाल में न फँस सके। जब तक किसी देश की जनता में ऐसी राजनीतिक समझ नहीं होती, तब तक इस बात की सम्भावना बनी रहती है कि हिटलर और मुसोलिनी जैसे नेता अपने आकर्षक कार्यक्रमों से, रोचक भाषणों से तथा नारेबाजी से जनता को अपने वश में करके लोकतन्त्र की संस्थाओं की समाप्ति कर

दें। किन्तु ग्रेट ब्रिटेन जैसे राजनीतिक समझ रखने वाले देशों में ऐसा सम्भव नहीं है। इसका एक सुन्दर उदाहरण इंगलैण्ड के द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर होने वाला चुनाव था। अनुदार दल के नेता चर्चिल ने इंगलैण्ड को इस युद्ध में विजयी बनाया था और एक महान् संकट से उसका उद्धार किया था, किन्तु ब्रिटिश जनता ने युद्ध की समाप्ति पर अनुदार दल के स्थान पर मजदूर दल को अधिक वोट दिए, क्योंकि वह उस समय चर्चिल के एवं अनुदार दल के नेतृत्व की अपेक्षा मजदूर दल के नेतृत्व को देश के लिए अधिक उपयोगी और महत्वपूर्ण समझती थी।

पाँचवीं शर्त स्वतन्त्रता और समानता के लिए तीव्र आकांक्षा और अभिलाषा है। लोकतन्त्र को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि जनता इन्हें अपनी वैयक्तिक सुख-सुविधाओं से अधिक महत्वपूर्ण समझे। राणा प्रताप ने अकबर का प्रभुत्व स्वीकार करके आराम से जीवन बिताने की अपेक्षा स्वतन्त्र बने रहने के लिए जंगलों में भटकना और घास की रोटियाँ खाना अधिक पसन्द किया। वह मानसिंह की भाँति अकबर से सन्धि करके सब प्रकार के सांसारिक सुखों का उपभोग कर सकता था; किन्तु उसने सांसारिक सुखों को तुच्छ समझते हुए स्वतन्त्रता को अधिक मूल्यवान् समझा। इसी प्रकार जो लोग स्वतन्त्रता को अधिक महत्व देते हैं, वही लोकतन्त्र को सफल बनाते हैं। इस प्रकार की भावना तथा स्वशासन की परम्परा के अभाव में लोकतन्त्र-विरोधी निरंकुश अधिनायकों के शासन पनपने लगते हैं। जर्मनी में ऐसी परम्परा न होने से तथा स्वतन्त्रता को अधिक महत्व न देने के कारण हिटलर को अपना अधिनायकतन्त्र स्थापित करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। भारत में जो लोग स्वतन्त्रता को महत्व नहीं देते हैं, वे प्रायः ऐसा कहते हुए सुने जाते हैं कि वर्तमान समय से अच्छी दशा तो ब्रिटिश शासन में थी जब एक रुपये में १० सेर बढ़िया बासमती तथा १६ सेर गेहूँ बिका करता था। वे यह भूल जाते हैं कि उस समय हमारी स्वतन्त्रता को अंग्रेजों ने कितनी बुरी तरह कुचला हुआ था। लोकतन्त्र का सच्चा उपासक सिंह की भाँति वन में स्वतन्त्र रूप से विचरण करते हुए भूखा रहना अधिक अच्छा समझता है, वह जंजीर में बंधे स्वादिष्ट भोजन करने वाले कुत्ते की भाँति परतन्त्रता को उत्कृष्ट नहीं समझता है। जहाँ स्वतन्त्रता और समानता की अपेक्षा सुख को अधिक महत्व दिया जाता है वहाँ प्रजातन्त्र-प्रणाली की विफलता निश्चित है।

छठी शर्त शक्तिशाली एवं स्वस्थ लोकमत (Public Opinion) की है। जनता में समुचित शिक्षा तथा नागरिक भावना के प्रसार से ऐसा जनमत उत्पन्न हो जाना चाहिए जो किसी प्रकार के भ्रष्टाचार और अन्याय को न होने दे। यह इतना प्रबल होना चाहिए कि राजनीतिज्ञ तथा नेता इससे भयभीत और ग्रस्त रहते हुए स्वार्थ-सिद्धि के लिए कभी कोई अन्यायपूर्ण, अनैतिक, नियम-विरुद्ध तथा भ्रष्टाचारपूर्ण कार्य न करें। एक स्पेनिश लेखक गैसेट (Gasset) ने लिखा है कि यों तो सभी शासन-पद्धतियाँ जनता की सहमति पर आधारित न होने की दशा में टिक नहीं सकती हैं, किन्तु प्रजातन्त्र की सफलता के लिए लोकमत का विशेष महत्व है। इसके माध्यम से सरकार के दोषों का सुधार किया जा सकता है, उसे गलत निर्णय करने से रोका

जा सकता है, यह शासन और सरकार पर सदैव कड़ी दृष्टि रखता है और उसे पथ-भ्रष्ट होने से बचाए रखता है।

सातवीं विशेषता वाद-विवाद की और विचार करने की स्वतन्त्रता, सहिष्णुता और उदारता तथा बहुमत से काम करने की भावना है। इसमें सब प्रश्नों का निर्णय खूब विचार-विमर्श से और सब पक्षों की बातें सुनने के बाद बहुमत से किया जाता है। इसमें अधिनायकवाद की भाँति विरोधी विचारों का दमन नहीं किया जाता, विभिन्न मत रखने वालों को गोली से नहीं उड़ाया जाता; अपितु उनके प्रति अत्यन्त सहिष्णुता और उदारता बरती जाती है, उनकी बातें बड़े प्रेम से सुनी जाती हैं, उन्हें बन्दूक से नहीं किन्तु बुद्धि से, तलवार से नहीं किन्तु तर्क से, गोली से नहीं किन्तु मीठी बोली से अपना पक्ष समझाने की कोशिश की जाती है, विरोधी पक्ष की आलोचना से लाभ उठाया जाता है। इसमें हिंसा, हड़ताल और शक्ति-प्रयोग के हिंसक साधनों के स्थान पर वार्त्ता (Negotiation), प्रेरणा (Persuation), समझौता (Compromise), दूसरे पक्ष की अच्छी बातों को ग्रहण करने की उदारता के अहिंसक साधनों का प्रयोग किया जाता है। प्रजातन्त्र विरोधियों का सिर फोड़ने के स्थान पर उन्हें समझा-बुझाकर अपने पक्ष में करता है; प्रेम, सहानुभूति और उदारता से उनका दिल जीतने का प्रयत्न करता है।

आठवीं शर्त यह है कि प्रजातन्त्र केवल राजनीतिक क्षेत्र में सबको मताधिकार देने मात्र से ही नहीं स्थापित हो जाता, अपितु आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में भी लोकतन्त्र की आधारभूत समानता की भावना को क्रियान्वित किया जाना चाहिए। यदि समाज में आर्थिक विषमता प्रबल होगी, धनी-निर्धन का भेदभाव अधिक होगा तो धनी अपने पैसे से गरीबों के वोट खरीदकर शासन-सत्ता पर अधिकार कर लेंगे और उसे अपने स्वार्थों की दृष्टि से संचालित करेंगे। इसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र में भी जात-पाँत का कोई भेदभाव न होने पर लोकतन्त्र सफल हो सकता है। इसका कारण स्पष्ट है। प्रजातन्त्र की सफलता सामुदायिक एकता और सुदृढ़ता की भावना पर अवलम्बित है। जब समाज में अमीर-गरीब, ऊँच-नीच के भेद और विभिन्न विरोधी वर्ग उत्पन्न हो जाते हैं तो ये प्रजातन्त्र के लिए एक अत्यन्त आवश्यक वस्तु—सामाजिक एकता पर कुठाराघात करते हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि लोकतन्त्र के लिए किसी देश में कुछ एकरूपता (Homogeneity), सजातीयता, धर्म, भाषा, इतिहास, परम्परा और नस्ल की समानता उपयोगी है। यह जिस देश में जितनी अधिक होगी वहाँ लोकतन्त्र की जटिल समस्याएँ उतनी कम होंगी। भारत में प्रजातन्त्र का विकास जातिगत, साम्प्रदायिक, धार्मिक और भाषा-सम्बन्धी मतभेदों के कारण बड़ा जटिल एवं समस्यापूर्ण है। किन्तु सं० रा० अमेरिका तथा स्विट्ज़रलैण्ड में जाति, भाषा और धर्म का भेद होते हुए भी राष्ट्रीय एकता की भावना सुदृढ़ होने के कारण तथा नागरिकों के समुचित प्रशिक्षण से प्रजातन्त्र-प्रणाली सफल हुई है। भारत में भी राष्ट्रीय एकता की भावना सुदृढ़ होने तथा नागरिक भावनाओं की वृद्धि से प्रजातन्त्र का नन्हा पौधा सुदृढ़ वट वृक्ष का रूप धारण कर सकता है।

विभिन्न राजनीतिशास्त्र-विशारदों ने प्रजातन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक तत्वों का विवेचन किया है। गार्नर ने लिखा है कि प्रजातन्त्र की आवश्यक परिस्थितियाँ निम्नलिखित हैं—जनता का उच्च नैतिक स्तर, स्वशासन की पद्धति का प्रशिक्षण, जनता में शिक्षा तथा राजनीतिक बुद्धि का प्रचुर मात्रा में पाया जाना, सार्वजनिक मामलों में गहरी दिलचस्पी लेना, सार्वजनिक मामलों में उत्तरदायित्व की भावना, बहुमत के निर्णयों को स्वीकार करने तथा पालन करने की भावना। कोकर के मतानुसार लोकतन्त्र की सफलता इन बातों पर निर्भर है—"जनता में सामान्य रूप से नागरिक भावना विद्यमान हो, सभी नागरिकों के मनों में बुद्धिपूर्ण नीति की व समानता की भावनाएँ हों, सब नागरिकों में उनके आर्थिक तथा सांस्कृतिक भेदों का अतिक्रमण करने वाली एक गहरी सहानुभूति की भावना हो, जनता में इस बात की सामान्य प्रवृत्ति हो कि वे उपर्युक्त मनोवृत्तियों से प्रभावित होकर काम करने वाले व्यक्तियों को उच्च सरकारी पदों के लिए चुनें। नागरिकों में (वंश-परम्परा से अथवा अनुभव के आधार पर) इतनी बौद्धिक और नैतिक क्षमता हो कि वे इससे अवसरवादी नेताओं (Demagogues) से उत्पन्न की जाने वाली प्रवञ्चना का प्रतिकार कर सकें तथा अपने द्वारा चुने गए नेताओं की नीतियों के सम्बन्ध में विवेकपूर्ण निर्णय कर सकें।"[1] उपर्युक्त विचारकों के विचारों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लोकतन्त्र की सफलता के लिए निम्न बातों का होना आवश्यक है—नागरिकों में प्रजातन्त्र के मौलिक सिद्धान्तों में अविचल श्रद्धा हो, वे राज्य के कार्यों में गहरी दिलचस्पी लें,[2] राजनीतिक दृष्टि से सदैव जागरूक और प्रबुद्ध हों, अपने अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के प्रति सजग हों, सामूहिक और सामुदायिक हित की तथा राष्ट्रीय एकता और कल्याण की भावनाओं से ओत-प्रोत हों, विपक्षियों तथा अल्पसंख्यकों के प्रति सहिष्णु एवं उदार हों और प्रेरणा, बुद्धि एवं तर्क की शक्ति में विश्वास रखने वाले हों।

प्रजातन्त्र के गुण—इस शासन-पद्धति के प्रधान गुण निम्नलिखित हैं—

(१) यह किसी भी अन्य प्रणाली की अपेक्षा जनता के कल्याण और हित का अधिक सम्पादन करती है क्योंकि इसमें शासन-सत्ता साधारण जनसमूह में निहित होती है और यह इसका प्रयोग अपने लिए अधिक अच्छी परिस्थितियों को पैदा करने के लिए करता है। इस प्रकार लोकतन्त्र जनता के अधिकतम भाग को अधिकतम सुख प्रदान करने का प्रयास करता है। राजतन्त्र, अधिनायकतन्त्र आदि शासन-पद्धतियाँ प्रजातन्त्र की अपेक्षा शासन-व्यवस्था तथा प्रशासन में अधिक क्षमतापूर्ण हो सकती हैं, किन्तु इनमें शासकों का ध्येय अपनी सत्ता को और स्थिति को सुदृढ़ करना, अपने विशिष्ट वर्गों के स्वार्थों एवं विशेषाधिकारों की रक्षा करना होता है, अतः इनमें प्रायः साधारण जनता के हितों की उपेक्षा होती है। अशोक जैसे जनहितकारी कार्यों में ही अपनी सम्पूर्ण

---

१. कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० ३७२

२. मिलाइए भगवान् बुद्ध का परिनिर्वाणसुत्त के आरम्भ में दिया गया उपदेश। राहुल सांकृत्यायन—बुद्धचर्या।

शक्ति लगा देने वाले शासक अपवाद रूप में ही मिलते हैं, अधिकांश राजा साधारण जनता के हितों की उपेक्षा करते हैं।

(२) यह साधारण जनता के व्यक्तित्व और चरित्र का निर्माण करने वाली एकमात्र शासन-प्रणाली है। अन्य शासन-प्रणालियों में कुछ चुने हुए व्यक्ति शासन करते हैं, अधिकांश जनता को मूक भेड़ों का रेवड़ मात्र समझा जाता है, वह अपने जीवन पर गहरा प्रभाव डालने वाले शासनविषयक निर्णयों में कोई भाग नहीं लेती है। किन्तु प्रजातन्त्र साधारण मनुष्यों को शासन में भाग लेने का बहुमूल्य अवसर देकर उनकी प्रसुप्त बौद्धिक एवं मानसिक शक्तियों के विकास में तथा व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होता है। फील्ड के शब्दों में, "लोकतन्त्र का अन्तिम औचित्य इस बात में है कि यह नागरिकों के मनों में कुछ विशेष मनोवृत्तियाँ उत्पन्न करता है, ये हैं मन का स्वतन्त्रतापूर्वक चिन्तन करना, दूसरों के प्रति सहिष्णुता तथा उदारता की भावना, सार्वजनिक मामलों में दिलचस्पी लेना, इनके बारे में चिन्तन करना तथा विवाद करने की इच्छा और समूचे समाज के प्रति उत्तरदायित्व की भावना।" ये सभी गुण व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करने वाले तथा उसको उत्तम नागरिक बनाने वाले हैं। इस कारण इस पद्धति की उत्कृष्टता निर्विवाद है।

(३) प्रजातन्त्र लोकशिक्षण का सर्वोत्तम साधन है। चुनावों के समय, सार्वजनिक महत्व रखने वाले प्रत्येक प्रश्न के सभी पहलू जनता के सामने लाये जाते हैं और इन पर गम्भीर विचार होता है। समाचारपत्रों, रेडियो, टेलीविज़न द्वारा राजनीतिक समस्याओं पर सभी दल अपने मत जनता के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। साधारण जनता इस विचार-विमर्श और राजनीतिक चर्चा में गहरी दिलचस्पी लेते हुए अपना मतदान करती है। चुनाव प्रत्येक व्यक्ति के मन को विशाल और ज्ञानपूर्ण बनाते हैं। ऐसा अवसर नागरिकों को किसी अन्य शासन-प्रणाली में नहीं मिलता है।

(४) प्रजातन्त्र जनता के नैतिक विकास में सहायक होता है और उसे ऊँचा उठाने वाला होता है। पहले (पृ० ५७६) बताया जा चुका है कि यह स्वावलम्बन, उत्तरदायित्व आदि नैतिक गुण उत्पन्न करता है, सं० रा० अमेरिका के राष्ट्रपति लावेल ने कहा था "कि किसी शासन की उत्कृष्टता की कसौटी व्यवस्था, आर्थिक समृद्धि या न्याय नहीं है, अपितु वह चरित्र है जो यह अपने नागरिकों में उत्पन्न करता है। अन्ततोगत्वा वही शासन उत्कृष्ट है जो अपनी जनता में नैतिकता की सुदृढ़ भावना, ईमानदारी, उद्योग, आत्मनिर्भरता और साहस के गुण पैदा करता है।" लोकतन्त्र इन सब गुणों को उत्पन्न करने के कारण सर्वश्रेष्ठ शासन-पद्धति है। ब्राइस ने कहा है कि व्यक्ति को वोट का अधिकार प्रदान करके प्रजातन्त्र की शासन-प्रणाली उसे एक विशेष गरिमा प्रदान करती है, वह यह अनुभव करता है कि अपने देश के शासकों को चुनने के कारण उसका एक विशेष महत्व है। इससे उसमें स्वाभिमान और गौरव की भावना जागृत होती है।

(५) यह प्रणाली देश-भक्ति की भावना पैदा करती है। इसमें देश के शासन में भाग लेने के कारण जनता शासन को अपना समझती है और इससे प्रेम करने लगती है। राजतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र की पद्धतियों में व्यक्ति शासन में कोई भाग नहीं

लेता है, उसके शासक उसकी सहमति के बिना नियत होते हैं, अतः वहाँ शासन में उसे कोई दिलचस्पी नहीं होती है, ऐसे शासन में जनता नागरिक (Citizen) नहीं, किन्तु शासक की वशवर्ती प्रजा (Subject) मात्र होती है, उसे शासन से कोई प्रीति नहीं होती है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने कहा था कि यदि किसी शासन में किसी व्यक्ति को वोट का अधिकार नहीं है और उसे वोटर बनने की आशा नहीं है तो वह या तो असन्तुष्ट रहेगा या यह अनुभव करेगा कि उसका देश के मामलों से कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु जहाँ लोगों को वोट देने का अधिकार होता है वहाँ वे समझते हैं कि सरकार उनकी अपनी है, वे इससे तथा अपने देश से अगाध प्रीति रखते हैं। बेल्जियन प्रोफेसर लाव्ले (Lavelye, 1822–1892) ने लिखा है कि फ्रांस में राज्यक्रान्ति होने के बाद ही फ्रेंच जनता ने उसी समय से अपने देश से प्रेम करना आरम्भ किया जब उन्हें अपने देश के प्रशासन में भाग लेने का अधिकार मिला।

(६) प्रजातन्त्र की पद्धति क्रान्ति के खतरों को कम करती है। क्रान्तियों का मूल कारण जनता का असन्तोष होता है। यह असन्तोष तब उत्पन्न होता है जब जनता शासन-सत्ता पाने के तथा अपनी शिकायतें दूर करने के सब साधनों से वंचित कर दी जाती है। जब जनता को अपना असन्तोष दूर करने के साधन नहीं मिलते तो वह विवश होकर शासन में अभीष्ट परिवर्तन लाने के लिए क्रान्ति करती है। लोकतन्त्र में ४-५ साल बाद होने वाले चुनावों से शासन में मनोवांछित परिवर्तन करने का शान्तिपूर्ण अवसर जनता को मिल जाता है, अतः उनका असन्तोष दूर होता रहता है, उन्हें कभी क्रान्ति करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। क्रान्ति का एक अन्य कारण सामाजिक तथा आर्थिक विषमता भी होती है। प्रजातन्त्र समानता के तत्व पर बल देकर इन विषमताओं से उत्पन्न होने वाले क्रान्ति के खतरों तथा सम्भावनाओं को भी निर्मूल कर देता है।

(७) प्रजातन्त्र की एक बड़ी खूबी सत्ता के दुरुपयोग को रोकना है। सत्ता मनुष्य को मदान्ध बना देती है, तुलसीदास जी के शब्दों में 'अस को नर उपज्यो जग-मांहीं। प्रभुता पाय नहीं मद जाहीं॥' जब सत्ता रखने वाले व्यक्ति पर कोई नियन्त्रण या अंकुश न रहे तो वह इसका दुरुपयोग करने लगता है। राजतन्त्र में, कुलीनतन्त्र में और अधिनायकतन्त्र में ऐसा ही होता है, क्योंकि वह सत्ता शासकों के पास स्थायी रूप से रहती है। किन्तु प्रजातन्त्र में मन्त्रिमण्डल सदैव अपने कार्यों के लिए पार्लियामैण्ट के प्रति उत्तरदायी है, यहाँ विरोधी दल उसके कार्यों पर कड़ी दृष्टि रखता है, उसे उच्छृंखल होने से तथा सत्ता का दुरुपयोग करने से रोकता है। सत्तारूढ़ मन्त्रिमण्डल पर प्रबल लोकमत का तथा चार-पाँच साल बाद होने वाले चुनावों का भी अंकुश होता है, यह उसे सत्ता के मद में आकर गलत कार्य करने से रोकता है। लोकतन्त्र में जनता अपने प्रतिनिधियों को सत्ता एक पवित्र धरोहर या अमानत (Trust) के रूप में जनहित के विशेष उद्देश्य के साथ देती है। यदि वे प्रतिनिधि मन्त्री बनकर जनता के आदेशों को शिरोधार्य नहीं करते, सत्ता का सदुपयोग नहीं करते, अमानत में खयानत करते हैं तो जनता अगले चुनावों में उन्हें वोट न देकर इनसे सत्ता छीन लेती है। मैकाइवर ने इसी दृष्टि से लोकतन्त्रीय शासन-पद्धति को अत्यधिक वांछनीय बताते

हुए यह कहा है[1] कि प्रजातन्त्रीय राज्य के पक्ष में एक प्रधान युक्ति यह है कि इसमें सरकार शासन-सत्ता का दुरुपयोग न किए जा सकने के मनोविज्ञान पर निर्भर होती है। जिनके पास शक्ति होती है, उनकी प्रवृत्ति सदैव इसे बढ़ाने की तथा इसका दुरुपयोग करने की होती है। यदि शक्ति अनियन्त्रित तथा उत्तरदायित्वशून्य हो तो इसके दुरुपयोग की अधिक सम्भावना होती है। अल्पतन्त्र में, यह शासकवर्ग में बड़प्पन की चेतना पैदा कर देती है, इस कारण वे शासन करने में असमर्थ हो जाते हैं। इसके विपरीत प्रजातन्त्र में शासन-सत्ता को एक धरोहर माना जाता है; शासक को न केवल प्रजा का स्वामी, अपितु उसका सेवक समझा जाता है। इससे सत्ता के दुरुपयोग करने का प्रलोभन समाप्त हो जाता है।

(८) प्रजातन्त्र की एक अन्य विशेषता यह है कि इसमें राज्य की सत्ता और शक्ति के साथ व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सुन्दर समन्वय और सामंजस्य होता है। राजतन्त्र और कुलीनतन्त्र में कानून राजा की इच्छा से बनने के कारण स्वेच्छाचारी तथा अत्याचारपूर्ण हो सकते हैं, ये वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए घातक हो सकते हैं; किन्तु प्रजातन्त्र में ऐसा सम्भव नहीं है, इसमें कानून प्रजा द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों द्वारा बनाए जाते हैं। उनका उद्देश्य सदैव व्यक्ति की स्वतन्त्रता को बढ़ाना तथा सुरक्षित बनाना होता है, अतः इसमें राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाने वाले कानून कभी शुरू नहीं कर सकता है। किसी भी अन्य प्रणाली की अपेक्षा प्रजातन्त्र में नागरिक अधिक मात्रा में स्वतन्त्रता का उपभोग करते हैं।

(९) प्रजातन्त्र की एक बड़ी विशेषता इसका समझौते (Compromise) की भावना पर आधारित होना है। इससे यह पद्धति अन्य प्रणालियों की अपेक्षा मानवीय कल्याण में अधिक सहायक होती है, क्योंकि इसमें समझौते के कारण संघर्ष की सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं। प्रजातन्त्र में शासनविषयक सभी निर्णय परस्पर विचार-विमर्श, वाद-विवाद और समझौते से किए जाते हैं, अतः इसमें राजतन्त्र या अधिनायक-तन्त्र जैसे रक्तरंजित संघर्ष नहीं होते हैं।

(१०) प्रजातन्त्र की एक अन्य खूबी यह है कि इसमें जनता की इच्छा और विशेषज्ञता (Specialisation) का सुन्दर समन्वय होता है। हार्किंग ने लिखा है कि प्रत्येक शासन-प्रणाली में वास्तविक शासक विशेषज्ञ ही होते हैं। वे अपनी विशेष योग्यता, क्षमता तथा ज्ञान के आधार पर शासन करते हैं। किन्तु विशेषज्ञों का बहुत बड़ा दोष यह है कि वे जनता के मानस को, उसकी इच्छाओं को नहीं जानते हैं। उन्हें केवल अपने ही विषय का ज्ञान होता, यह उनके दृष्टिकोण को अत्यन्त संकीर्ण बना देता है, वे जनता के कष्टों और व्यथाओं को नहीं समझ सकते हैं। उदाहरणार्थ, एक इंजीनियर पुल बनाने की कला में अत्यन्त दक्ष हो सकता है किन्तु उसे यह ज्ञान नहीं हो सकता है कि जनता पुलों के अभाव में कहाँ भीषण कष्ट पा रही है और वह किन स्थानों पर पुल बनाना चाहती है। यह बात तो जनता द्वारा चुने गए तथा उसके कष्टों को जानने वाले प्रतिनिधि ही भली-भाँति बता सकते हैं। उत्तम शासन

---

१. मैकाइवर—दी माडर्न स्टेट, पृ० २२९

वही है जिसमें जनता के सामान्य ज्ञान के साथ विशेषज्ञों के विशेष ज्ञान का समन्वय हो, जनमानस का ज्ञान रखने वाले राजनीतिज्ञ जनता के अभावों को तथा शिकायतों को दूर करने के लिए विशेषज्ञों के विशेष ज्ञान तथा विज्ञान की उन्नति का पूरा लाभ उठा सकें। लोकतन्त्र में जनता के प्रतिनिधि मन्त्री तथा शासक बनकर ऐसा ही करते हैं, अतः यह प्रणाली अत्युत्तम है। इस युक्ति में कोई बल नहीं है कि शासन विशेषज्ञों द्वारा ही होना चाहिए। विशेषज्ञ तथा अत्यधिक सुशिक्षित व्यक्तियों का शासन अभिशाप होता है, क्योंकि वे कोरे सिद्धान्तवादी, कट्टर, साधारण जनता के कष्टों तथा व्यावहारिक जीवन की वास्तविकताओं से अनभिज्ञ होते हैं, ये जन-प्रतिनिधियों की देख-रेख में ही उत्तम कार्य कर सकते हैं। अतः यह विशेषता लोकतन्त्र में ही मिलती है। उपर्युक्त गुणों के कारण उत्कृष्ट होते हुए भी लोकतन्त्र की कुछ विचारकों ने कड़ी आलोचना की है तथा इसमें कई गम्भीर दोष बताए हैं।

प्रजातन्त्र के दोष—इसके प्रधान दोष निम्नलिखित बताए जाते हैं—

(१) यह बहुसंख्या द्वारा होने वाला शासन है। जनता की बहुसंख्या मूर्ख, अज्ञानी, अशिक्षित, अयोग्य तथा अनुभवशून्य होती है। इसमें बहुत कम व्यक्ति वास्तविक अर्थ में बुद्धिमान्, विद्वान् और योग्य होते हैं। अतः प्रजातन्त्र में बहुमत के शासन का अर्थ **मूर्खों का शासन** होता है। एक सामान्य सरकारी पद पर किसी व्यक्ति को नियुक्त करने के लिए विशेष प्रकार की योग्यताएँ निश्चित की जाती हैं, विभिन्न सरकारी सेवाओं में नियुक्ति प्रतियोगिता-परीक्षाओं द्वारा की जाती है। किन्तु देश के भाग्यविधाता—विधानसभाओं तथा मन्त्रिमण्डलों के सदस्यों के लिए कोई शैक्षणिक या अन्य प्रकार की योग्यता होना आवश्यक नहीं समझा जाता है। संसार में सबसे पुराने प्रजातन्त्र इंगलैण्ड में हिसाब-किताब से सर्वथा अनभिज्ञ व्यक्ति अर्थमन्त्री तथा ब्रिटिश उपनिवेशों की भौगोलिक स्थिति को न जानने वाले उपनिवेशमन्त्री बनते रहे हैं। प्लेटो तथा अरस्तू शासन करने को एक कला समझते थे। इसे न जानने वाली बहुसंख्या द्वारा किए जाने वाले शासन की उन्होंने बड़ी निन्दा की थी तथा इसे शासन का विकृत रूप माना था।

(२) चुनावों में जनता विवेक एवं बुद्धि से काम नहीं लेती, अपितु भावनाओं के प्रवाह में बह जाती है। चतुर राजनीतिक नेता तथा दल जनता की भावनाओं को उभाड़कर वोट लेने का प्रयत्न करते हैं और इसके लिए किसी भी प्रकार के झूठ, मक्कारी और धूर्तता का प्रयोग करने में संकोच नहीं करते हैं। अतः प्रजातन्त्र में भीड़ द्वारा किए जाने वाले अविवेकपूर्ण, उत्तरदायित्वशून्य कार्यों का प्राधान्य होता है, विवेक, बुद्धि और तर्क का अभाव होता है। सब कार्यों के अच्छेपन या बुरेपन की कसौटी पार्टीबाजी या दलबन्दी होती है।

(३) प्रजातन्त्र को जनता का राज्य नहीं कहा जा सकता। इसमें चुनाव लड़ना आसान काम नहीं है। इसमें बहुत अधिक पैसा खर्च करना पड़ता है। साधारण जनता के पास न तो इतना पैसा है और न इतना समय है कि वह चुनाव लड़ सके। अतः केवल धनीमानी व्यक्ति ही चुनाव लड़ सकते हैं। आधुनिक प्रजातन्त्र सच्चे अर्थों

में प्रजातन्त्र नहीं, अपितु धनिक लोगों द्वारा शासित किए जाने वाले कुलीनतन्त्र (Oligarchy) हैं। इसमें धनी लोग पैसे के बल पर गरीबों के वोट खरीद लेते हैं।

(४) प्रजातन्त्र में जितना नैतिक पतन होता है, सम्भवतः अन्य किसी शासन-प्रणाली में इतना अधिक पतन नहीं होता है। राजनीतिक कार्यक्रम बनाते हुए वोट पाने के लिए झूठी योजनाएँ बनाई जाती हैं, झूठे वायदों से मतदाताओं को बहकाया और फुसलाया जाता है। चुनाव के समय अपने प्रतिपक्षियों और विरोधियों को बदनाम करने के लिए उन पर सब प्रकार के अनैतिक दोषों का तथा झूठे लाँछनों का आरोप किया जाता है। राजनीतिक दल सफलता पाने के लिए सब प्रकार के अनैतिक साधनों का प्रयोग करते हैं। इसमें झूठ, जालसाजी, दगाबाजी, धोखे और रिश्वतखोरी का बाजार गर्म रहता है।

(५) सर हेनरी मेन के मतानुसार प्रजातन्त्र में वैज्ञानिक और सांस्कृतिक विकास असम्भव है। उसने इंगलैण्ड के सम्बन्ध में यह लिखा है कि "मुझे यह बात सर्वथा निश्चित प्रतीत होती है कि पिछली चार शताब्दियों से इस देश में यदि निर्वाचन का अधिकार अधिकतम व्यक्तियों को दिया जाता तो न तो आर्थिक सुधार हुए होते, न राजवंशों के परिवर्तन होते, न विरोधी धार्मिक मतों के प्रति सहिष्णुता उत्पन्न होती, न कोई निश्चित कैलेण्डर या पंचांग बन पाता। अनाज कूटने तथा साफ करने की बड़ी मशीनें, विद्युत् तथा वाष्पशक्ति द्वारा संचालित करघा, कातने की मशीनें और सम्भवतः भाप से चलने वाले इंजन आदि का बहिष्कार किया जाता"। फ्रेंच विचारक गुस्ताव ली बों (Gustave Le Bon) ने लिखा है—"जिस समय यन्त्र-संचालित करघों का, वाष्पशक्ति का तथा रेलवे का विकास हुआ था, यदि उस समय प्रजातन्त्र इतना ही शक्तिशाली होता जितना आज है तो इन आविष्कारों का होना असम्भव होता या फिर क्रान्तियाँ अथवा कत्लेआम होते; सभ्यता के विकास के लिए यह सौभाग्य की बात है कि 'भीड़ की शक्ति' का जन्म इन औद्योगिक आविष्कारों के बाद ही हुआ।"

(६) प्रजातन्त्र पद्धति में दलबन्दी के कारण शासन में बड़ी अस्थिरता रहती है, सरकारें जल्दी-जल्दी बनती-बिगड़ती रहती हैं अतः वे जनता के लिए हितकर किसी नीति का स्थायी रूप से अनुसरण नहीं कर सकती हैं। फ्रांस में इतने अधिक दलों के कारण एक समय में वहाँ की सरकार की औसत आयु ९ मास थी। ऐसी सरकारें किसी स्पष्ट और निश्चित नीति का संचालन नहीं कर सकती हैं।

(७) प्रजातन्त्र बहुसंख्या का अल्पसंख्या पर अत्याचारपूर्ण शासन (Tyranny) है। इसने राजाओं की निरंकुशता का अन्त करके अपनी नवीन निरंकुशता स्थापित की है। इसमें बहुमत अपनी संख्या के बल से मदान्ध होकर अल्पमत की बातों को नहीं सुनता है और उसको कुचलने में कोई संकोच नहीं करता है।

(८) प्रजातन्त्र प्रणाली बड़ी व्ययसाध्य तथा मन्दगति से कार्य करने वाली है। इसमें जनमत के निर्णय पर और चुनावों पर बार-बार अमित धनराशि खर्च होती है, पार्लियामैण्ट के सदस्यों के तथा मन्त्रियों के वेतनों और भत्तों पर बहुत अधिक व्यय होता है। प्रधानमन्त्री और मुख्यमन्त्री अपना बहुमत बनाए रखने के लिए मन्त्रियों को बहुत बड़ी संख्या में रखते हैं। इससे शासन का व्यय बढ़ जाता है। कानून बनाने

के लिए बड़ी लम्बी-चौड़ी प्रक्रिया होती है, विचार-विमर्श में बहुत समय लगता है। अतः इसमें सब कार्य बड़ी मन्थरगति से, कछुए की चाल से होते हैं।

(९) प्रजातन्त्र युद्ध और संकटकाल की परिस्थितियों का मुकाबला करने के लिए विफल सिद्ध हुआ है। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्धों में लोकतन्त्रीय सरकारों ने भी आपातकालीन स्थिति (Emergency) घोषित करते हुए अधिनायकों जैसे विशेष अधिकार लेकर ही युद्धों का संचालन किया है। इसका यह अर्थ है कि प्रजातन्त्र स्वयमेव यह स्वीकार करते हैं कि उनमें संकटों का सफलतापूर्वक प्रतिरोध करने की शक्ति नहीं है। युद्धों के अतिरिक्त अन्य संकटों का समाधान करने के लिए भी प्रजातन्त्रों को असामान्य अधिकार लेने पड़े हैं। फ्रांस के प्रधानमन्त्री पोइंकारे (Poincare) को फ्रेंच पार्लियामैण्ट ने १९२६ में अपनी मुद्रा—फ्रांक को आर्थिक संकट से बचाने के लिए राष्ट्र की वित्तीय व्यवस्था के पुनःसंगठन का पूर्ण अधिकार प्रदान किया। विश्वव्यापी मन्दी आने पर १९३१ में ब्रिटेन को आर्थिक संकट से उबारने के लिए तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमन्त्री रैम्ज़े मैकडानल्ड ने मतदाताओं से यह अपील की कि वे उसे तथा उसके साथियों को आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए आवश्यक कदम उठाने के लिए यथेच्छ कार्यवाही करने के अधिकार का कोरा चैक (Carte blanche) प्रदान करें। १९३३ में सं० रा० अमेरिका की कांग्रेस ने राष्ट्रपति रूज़वैल्ट को आर्थिक समस्याओं के लिए अपने विवेक से असीम कार्य करने के अधिकार प्रदान किए।[1] इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि संसार के पुराने और प्रसिद्ध प्रजातन्त्र संकटकाल में सामान्य लोकतन्त्रीय उपायों से समस्या का समाधान करने में असमर्थ रहे हैं। किसी भी शासन-प्रणाली की असली कसौटी जटिल समस्याओं का और विषम परिस्थितियों का समाधान करने में है; सामान्य परिस्थितियों में, शान्ति और समृद्धि के युग में कोई भी शासन-प्रणाली कार्य कर सकती है। युद्ध और संकटकाल में प्रजातन्त्र के विफल हो जाने से यह स्पष्ट है कि इसमें कुछ गम्भीर दोष हैं।

ब्राइस ने संसार के प्रमुख प्रजातन्त्रों का निष्पक्ष एवं गम्भीर अध्ययन करके उनके छः प्रधान दोष बताए हैं—

(१) इसमें धनिक वर्ग का प्रबल प्रभाव रहता है। चुनाव व्ययसाध्य होते हैं। इन्हें जीतने के लिए राजनीतिक दलों को धन की आवश्यकता होती है। यह पूँजीपतियों और धनियों से मिलता है। धनी राजनीतिक दलों को चन्दा देने के बदले में उसका मूल्य उस दल के सत्तारूढ़ होने पर अपने स्वार्थों की रक्षा तथा रियायतें लेने के रूप में चाहते हैं। इस प्रकार सरकार पूँजीपतियों के हाथ का खिलौना बन जाती है।

(२) लोकतन्त्रीय शासन बहुत खर्चीला होता है। इसमें विधानसभाओं के सदस्यों, मन्त्रियों आदि के वेतनों तथा भत्तों में बहुत-सा रुपया व्यय होता है। विधानसभाओं के सदस्य अपने निर्वाचकों को प्रसन्न करने के लिए अनावश्यक बातों में बहुत-सी धनराशि व्यय करा देते हैं। शासन की अक्षमता और भ्रष्टाचार से भी

---

१. कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० ३४०

बहुत-सा पैसा बरबाद होता है। इन सब कारणों से लोकतन्त्र अत्यधिक खर्चीली शासन-व्यवस्था है।

(३) समानता के आदर्श पर बल देने के कारण शासनविषयक कौशल और दक्षता की उपेक्षा होने लगती है। किसी भी व्यक्ति को राजनीतिक प्रभाव होने पर, योग्यता न होने पर भी ऊँचे-से-ऊँचे पद दिए जाने लगते हैं। सरकारी नौकरियों में सं० रा० अमेरिका जैसी आपा-धापी तथा लूट की प्रथा (Spoils System) शुरू हो जाती है।

(४) प्रजातन्त्र में राजनीति एक पेशा बन जाता है, इसमें लोग देश-हित की तथा सेवा की भावना से नहीं, किन्तु पैसा कमाने के उद्देश्य से सम्मिलित होते हैं। वे इसे अपना धन्धा बना लेते हैं, अपने प्रभाव से कुछ व्यक्तियों को परमिट और लाइसेन्स दिलवाते हैं, उनके व्यापार में पत्ती डालकर उनसे अनुचित लाभ प्राप्त करते हैं, रिश्वत, बेईमानी और भ्रष्टाचार का बाजार गर्म करते हैं। राजाजी वर्तमान कांग्रेस को 'कोटा-परमिट राज' कहते हैं।

(५) दलबन्दी प्रजातन्त्र का महान् अभिशाप है। इससे जनता के स्थान पर मुट्ठी भर ऐसे लोगों (Bosses) का शासन स्थापित हो जाता है जो दल के लिए चुनाव लड़वाने और रुपया लाने में अत्यन्त पटु होते हैं। नेहरूजी की मृत्यु के बाद कांग्रेस में अतुल्य घोष, पाटिल तथा संजीवा रेड्डी के नेतृत्व में सिण्डीकेट कहलाने वाले एक गुट का प्रभाव बढ़ गया था। पार्टीबाजी के कारण पक्षपात, रिश्वत, भ्रष्टाचार और बेईमानी बढ़ती चली जाती है।

(६) चुनाव में सफल होने से ही अधिकार पाने के कारण शासक लोगों में ऐसे उचित-अनुचित कार्य करने की प्रवृत्ति पनपती है जिनसे उन्हें अगले चुनावों में अधिक वोट मिल सकें।

प्रजातन्त्र की प्रमुख आलोचनाएँ तथा आक्षेप—इस समय प्रजातन्त्र सबसे अधिक लोकप्रिय शासन-प्रणाली है, किन्तु इस पर अनेक प्रबल आक्षेप कई कारणों के आधार पर विभिन्न दृष्टिकोणों से किए गए हैं। अब तक इसके सामान्य दोषों का विवेचन किया गया है, किन्तु अब यह बताया जाएगा कि इसकी आलोचना किन कारणों से की गई है और वह कहाँ तक युक्तियुक्त है। प्रजातन्त्र की आलोचनाओं को दो प्रमुख भागों में बाँटा जा सकता है—

(क) **सैद्धान्तिक आलोचनाएँ**—ये प्रधान रूप से लोकतन्त्र के आधारभूत मौलिक सिद्धान्तों की कटु आलोचना करती हैं। इसमें प्लेटो, अरस्तू आदि प्राचीन और लैकी, मेन आदि आधुनिक विचारक सम्मिलित हैं। फासिस्ट (ऊपर पृ० ५३५–५७), नाज़ी (ऊपर पृ० ५५९–७०) और साम्यवादी विचारक (ऊपर पृ० २९८–४१३) भी लोकतन्त्र के उग्र आलोचक हैं।

(ख) **वैज्ञानिक आलोचना**—जनतन्त्र की आलोचना का यह प्रकार सर्वथा नवीन है, इसमें नवीन वैज्ञानिक खोजों तथा सिद्धान्तों के आधार पर प्रजातन्त्र के मौलिक मन्तव्यों की कटु आलोचना की जाती है। यहाँ दोनों प्रकार की आलोचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जाएगा।

सैद्धान्तिक आलोचना—लोकतन्त्र के समानता, स्वतन्त्रता आदि मौलिक सिद्धान्तों पर कई आक्षेप निम्नलिखित रूप में किए जाते हैं—

मानवीय समानता के सिद्धान्त का खण्डन—लोकतन्त्र समानता के सिद्धान्त पर आधारित है, यह मानव होने के नाते राज्य के सब व्यक्तियों को बिना किसी भेदभाव के वोट देने तथा शासन के कार्यों में भाग लेने का अधिकार प्रदान करता है। अनेक विचारक समानता के सिद्धान्त को कई कारणों से सर्वथा मिथ्या, कपोल-कल्पित और भ्रान्त कल्पना मात्र मानते हैं।

(**अ**) इनका यह कहना कि मनुष्यों के शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक गुणों में, उनकी सम्पत्ति में, उनके अनुभवों में, सामाजिक स्थिति में तथा अन्य योग्यताओं में इतना भारी अन्तर पाया जाता है कि उन्हें किसी भी तरह समान नहीं माना जा सकता है। अतः बर्क ने समानता के सिद्धान्त को बेहूदी कल्पना (Monstrous Fiction) कहा है। बेन्थम इसे अराजकतावादी हेत्वाभास (Anarchic Fallacy) मानता है। कोलरिज ने इसे किसी भी प्रकार से असमर्थनीय मन्तव्य (Indefensible Proposition) तथा कार्लाइल ने प्रलापपूर्ण बेहूदगी (Delirious absurdity) कहा है। इनके मतानुसार कोई एक भी ऐसा मानवीय गुण नहीं है जो सब मनुष्यों में समान रूप से पाया जाता है। प्रकृति ने विद्या, बुद्धि, बल, चरित्र और कार्यक्षमता की दृष्टि से मनुष्यों को समान नहीं बनाया है। विषमता प्रकृति का नियम है, इसे बदलकर सब मनुष्यों को समानता की स्थिति में नहीं लाया जा सकता है। यदि किसी प्रकार से ऐसा किया भी जा सके तो समानता और स्वतन्त्रता में विरोध होने के कारण कुछ समय बाद पुनः विषमता उत्पन्न हो जाएगी। उदाहरणार्थ, यदि सब मनुष्यों की आर्थिक विषमता दूर करके एक बार सबको समान धनराशि बाँट दी जाए तो भी कुछ समय बाद कुछ लोग अपने पुरुषार्थ और चतुराई से उसे बढ़ा लेंगे और कुछ अपने आलस्य से उसे गँवा देंगे। समाज में पुनः विषमता स्थापित हो जाएगी। यदि जबर्दस्ती समानता स्थापित की जाए तो अपनी योग्यता के अनुसार विकास की स्वतन्त्रता लुप्त हो जाएगी।

(**आ**) लोकतन्त्र में समानता के सिद्धान्त का एक बड़ा दुष्परिणाम यह है कि इसमें 'एक व्यक्ति का एक वोट' (One Man, One Vote) के मन्तव्य के आधार पर गधे-घोड़े बराबर बना दिए जाते हैं। 'सब धान बाईस पंसेरी' की लोकोक्ति चरितार्थ की जाती है। डॉ॰ राधाकृष्णन् जैसे सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् को तथा गँवार मूर्ख को, धनी को तथा निर्धन को, समान रूप से एक ही वोट का अधिकार दिया जाता है। इसमें विद्वान् और मूर्ख की सम्मति में कोई भेद न करते हुए दोनों को समान महत्व और मूल्य का समझा जाता है। इसमें वोट को गिना जाता है, उनके महत्व को तोला या आँका नहीं जाता है। गांधी जी या जवाहरलाल नेहरू के वोट की कीमत किसी भी रामू श्यामू के वोट के बराबर समझी जाती है। यह व्यवस्था समाज के लिए बड़ी हानिकारक और घातक है। गांधी जी की सम्मति को एक गँवार की सम्मति से अधिक महत्व देना चाहिए। हमें वोटों को गिनने के स्थान पर इनका मूल्य आँककर इन्हें महत्व देना चाहिए। लोकतन्त्र में ऐसा न करते हुए वोट गिने

जाते हैं और सभी निर्णय बहुमत से किए जाते हैं। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि बहुमत का निर्णय ठीक हो। सौ मूर्खों की सम्मति से एक बुद्धिमान् की सम्मति अधिक श्रेष्ठ और मूल्यवान् है। वस्तुत: समाज में बुद्धिमान् और अनुभवी लोगों की संख्या कम होती है। अत: बहुमत को मान्यता देने का अर्थ अज्ञानता और मूर्खता के साम्राज्य की स्थापना करना है।

(इ) समानता के सिद्धान्त में एक बड़ा दोष यह है कि यह कानून और प्रशासन का अत्यन्त जटिल कार्य है, किन्तु प्रजातन्त्र में इसकी कोई योग्यता न रखने वाले, किन्तु चुनाव लड़ने और वोट बटोरने में चतुर व्यक्तियों के हाथ में सारी सत्ता आ जाती है। यह समाज के लिए बड़ी खतरनाक बात है। राज्य ने यह कानून बना रखा है कि कोई भी मोटरगाड़ी चलाने से पहले व्यक्ति को गाड़ी चलाने की योग्यता प्रदर्शित करके इसे चलाने का लाइसेन्स लेना चाहिए, इसके बाद ही वह उसे चला सकता है। यह व्यवस्था सुरक्षा की दृष्टि से की गई है कि गाड़ी चलाने वाला ड्राइवर अपने अनाड़ीपन से यात्रियों की जान खतरे में न डाल दे। किन्तु राज्य की गाड़ी का संचालन करने वाले तथा कानून बनाने वाले विधायकों से हम इस बात की अपेक्षा नहीं रखते हैं कि वे शासन-यन्त्र को चलाने की योग्यता और प्रवीणता रखते हों।

(ई) फासिस्ट और नाज़ी विचारक मनुष्यों में समानता को अस्वाभाविक मानते हैं। मुसोलिनी ने समानता के सिद्धान्त को समाज को दुर्बल बनाने वाला कहा है तथा विषमताओं को समाज के लिए उपयोगी और लाभदायक माना है। समाज में केवल थोड़े-से मुट्ठी-भर श्रेष्ठ व्यक्तियों (Elite) में ही शासन करने की स्वाभाविक प्रकृति-प्रदत्त क्षमता एवं योग्यता होती है। अत: इन्हें शासन-कला में दक्ष होने के कारण ही शासन का अधिकार दिया जाना चाहिए।

किन्तु समानता के सिद्धान्त के विरोध में दी जाने वाली उपर्युक्त सभी युक्तियाँ निस्सार और तर्कहीन हैं, ये समानता के तात्पर्य को भलीभाँति यथार्थ रूप में न समझने के कारण दी जाती हैं। समानता का यह अर्थ नहीं है कि मनुष्यों में विद्या, बुद्धि, बल, धन-सम्पत्ति आदि की दृष्टि से विषमताएँ नहीं हैं, ये अनादि काल से चली आई हैं, अनन्त काल तक चलती रहेंगी। समानता का आशय इन विषमताओं के होते हुए भी सब व्यक्तियों में मनुष्यत्व की समानता है, सब नागरिकों में मनुष्यत्व पाया जाता है, भले ही वे किसी जाति, देश, राष्ट्र या सामाजिक वर्ग के क्यों न हों। हर्नशा के शब्दों में यह मानवीयता सर्वत्र जन्म और मृत्यु के बन्धनों से बँधी हुई है, सुख-दुःख का उपभोग करती है, कुछ आध्यात्मिक गुणों से सम्पन्न है। मनुष्य होने के नाते उपर्युक्त गुण सभी में समान रूप से पाए जाते हैं। हिन्दू, यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि धर्मों की मान्यता है कि विभिन्न सामाजिक तथा बौद्धिक विशेषताओं का भेद होने पर भी सभी मनुष्य भगवान् की सन्तान होने से भाई-भाई हैं। आधुनिक विचारक मानवीयता के आधार पर सब मनुष्यों को समान मानते हैं और इस बात पर बल देते हैं कि राजनीतिक शासन में भाग लेने का सबको समान अधिकार मिलना चाहिए, सब मनुष्यों को अपने विकास और उन्नति करने के समान अवसर दिए जाने चाहिएँ[१]।

१. कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० ३२७

इनका यह विश्वास है कि विद्या-बुद्धि की विषमता होते हुए भी सब व्यक्तियों में इतनी राजनीतिक समझ तथा सामान्य बुद्धि अवश्य पाई जाती है कि वे अपने हिताहित को समझते हुए ईमानदारी से अपने शासकों का चुनाव कर सकें। इस प्रकार चुने हुए शासकों या प्रतिनिधियों के लिए भी विशेष योग्यतासम्पन्न होना आवश्यक नहीं है, मन्त्रियों के रूप में इनका कार्य तो कुशल प्रशासकों से जनहित के कार्यों को करवाना है।

इसी प्रकार वोटों को गिनने के स्थान पर उनके तोलने की युक्ति में भी कोई सार नहीं है। अभी तक ऐसी किसी पद्धति का आविष्कार नहीं हुआ है जिससे एक बुद्धिमान् के और मूर्ख के, अमीर के तथा गरीब के वोटों के आपेक्षिक महत्व का सही मूल्यांकन किया जा सके। यदि इस प्रकार का मूल्यांकन करते हुए अमीरों के वोटों को गरीबों के वोटों से अधिक महत्व दिया जाएगा तो उनके हाथ में मनमाना शासन करने की सत्ता आ जाएगी, इससे निर्धन जनता पर भीषण अत्याचार होने लगेंगे। लोकतन्त्र की यह विशेषता है कि इसमें चुनावों के समय सब समस्याओं पर खूब विचार और प्रचार होता है। साधारण जनता के सामने सभी पक्षों की युक्तियाँ बड़े स्पष्ट रूप में आ जाती हैं, सब व्यक्तियों में इतनी समझ अवश्य है कि वे अपने हिताहित को समझते हुए वोट दें। इस परिस्थिति में खूब सोच-विचारकर और तोलकर ही वोट दिए जाते हैं। अतः प्रजातन्त्र में सबके समान रूप से वोट देने में कोई हानि नहीं है, नाज़ियों और फासिस्टों की **'श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा शासन'** (Rule by the Elite) की युक्ति की आलोचना पिछले अध्याय में हो चुकी है, इसके इतने भीषण दुष्परिणाम सामने आ चुके हैं कि अब इसके आधार पर समानता के विरोध में तर्क प्रस्तुत करने वालों की संख्या नगण्य ही रह गई है।

वैज्ञानिक आधार पर प्रजातन्त्र की आलोचना—वर्तमान युग में लोकतन्त्र की आलोचना इस आधार पर भी की जाती है कि यह नितान्त अवैज्ञानिक सिद्धान्त है क्योंकि मनोविज्ञान तथा प्राणिशास्त्र (Biology) के क्षेत्र में आधुनिक युग में की गई नवीन खोजें लोकतन्त्र के मौलिक मन्तव्यों का प्रबल खण्डन करती हैं। लोकतन्त्र को अवैज्ञानिक सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित युक्तियाँ दी जाती हैं—

(i) **मनोवैज्ञानिक युक्तियाँ**—मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न परिस्थितियों में मानसिक प्रक्रियाओं का सूक्ष्म निरीक्षण करने के बाद यह परिणाम निकाला है कि समूह का अंग बनने पर मनुष्यों का व्यवहार प्रायः उस व्यवहार से भिन्न होता है जो वे भीड़ से स्वतन्त्र होकर एकाकी एवं वैयक्तिक रूप में करते हैं। उदाहरणार्थ, एकाकी व्यक्ति किसी मकान को आग लगाने का, सम्पत्ति को हानि पहुँचाने का या किसी की हत्या करने का दुस्साहस बहुत ही कम करता है, किन्तु वही व्यक्ति उत्तेजित भीड़ का अंग बन जाने पर ये सब कार्य बड़ी प्रसन्नता और गर्व से करता है। मनोवैज्ञानिक इसका यह कारण बताते हैं कि भीड़ में व्यक्ति का निजी मानस समूह में विद्यमान उत्तेजना के वशीभूत होकर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक खो बैठता है, अतः वह बुद्धिहीन होकर नितान्त अनुचित कार्य करता है। जो व्यक्ति निजी रूप से बुद्धिपूर्वक शान्तिपूर्ण रीति से तथा मूक भाव से कार्य करते हैं और कानून का पालन करते हैं, वे ही

समूह में सम्मिलित होकर विवेकान्ध हो जाते हैं; मनमाना, उच्छृंखल तथा कानून-विरोधी व्यवहार करते हैं। इस समय उनमें आदिम हिंस्र प्रवृत्तियाँ जागृत हो जाती हैं, वे मनुष्यों का-सा नहीं, अपितु पशुओं-जैसा आचरण करते हैं। लोकतन्त्र इसलिए निन्दनीय और हेय है कि उसमें भीड़ की मनोवृत्ति से काम होता है। असेम्बलियों के चुनावों में तथा विधानसभाओं की बैठकों में साधारण योग्यता वाले व्यक्ति अपने विवेक से नहीं, अपितु कुछ उत्तेजनाओं के वशीभूत होकर अपना शासन और राजकीय निर्णय करते हैं। कुलीनतन्त्र या राजतन्त्र में शासन की बागडोर समझदार, बुद्धिमान्, विवेकशील गम्भीर व्यक्तियों के हाथ में रहती है, किन्तु लोकतन्त्र में शासनसूत्र का संचालन चिल्लाने और शोर मचाने वाले, बुद्धिशून्य रीति से बेकार की डींगें हाँकने वाले, सब्ज बाग दिखाने वाले तथा जनता की भावनाओं को उभाड़ने में समर्थ चतुर राजनीतिज्ञों के हाथ में होती है। मैक्सी ने लिखा है[1] कि "समूह में मनुष्य भेड़ों की भाँति एक चाल से चलने वाले, बन्दरों की भाँति अनुसरण करने वाले तथा भेड़ियों की भाँति क्रूर कार्य करने वाले होते हैं।······वे अपना सामाजिक व्यवहार समूहों में रहने वाले पशुओं की भाँति करते हैं, इसका यह आशय है कि वे सदैव अटपटे विश्वास रखने वाले, भावनाओं से उत्तेजित होकर काम करने वाले, भयभीय, असहिष्णु, क्रूर, अन्यायी, मूर्ख तथा बुद्धिशून्य होते हैं। ऐसे व्यक्तियों द्वारा चलाया जाने वाला लोकतन्त्र एक निकृष्ट प्रकार की शासन-व्यवस्था है।"

इस आक्षेप का समाधान बहुत सरल और स्पष्ट है। शासन करना न केवल लोकन्तत्र में, अपितु कुलीनतन्त्र और राजतन्त्र में भी सामूहिक कार्य है। कुलीनतन्त्र में कुलीन व्यक्ति तथा राजतन्त्र में राजा, उसके मन्त्री एवं परामर्शदाता मिलकर शासन करते हैं, वे भी सामूहिक मनोभावनाओं से लोकतन्त्र के शासकों की भाँति वशीभूत होते हैं। हमारे पास इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि राजतन्त्र में तथा कुलीनतन्त्र में सामूहिक भावनाओं का हानिकारक प्रभाव कम पड़ता है और लोकतन्त्र में अधिक पड़ता है। मैक्सी ने उपर्युक्त आक्षेप का उत्तर देते हुए लिखा है—"मनोविज्ञान अभी तक समूह की मानसिक प्रक्रियाओं के बारे में सभी बातों का ज्ञान प्राप्त करने की स्थिति से बहुत दूर है। इसने निर्विवाद रूप से इस बात को सिद्ध नहीं किया है कि सामूहिक मनोविज्ञान का अभिप्राय निश्चित रूप से कुशासन की व्यवस्था है, इसने इस बात को भी प्रमाणित नहीं किया है कि सामूहिक मनोविज्ञान के आधार पर बनने वाला लोकमत उस समय अधिक युक्तियुक्त और बुद्धिमत्तापूर्ण होता है जब इसका निर्माण किसी राजा, अधिनायक या कुलीन वर्ग (Elite Group) द्वारा शासित जनसमूह में होता है।[2]

(ii) **प्राणिशास्त्र के आधार पर असमानता की युक्ति**—लोकतन्त्र की व्यवस्था को दोषपूर्ण बताने वाली दूसरी वैज्ञानिक आलोचना यह है कि वर्तमान प्राणिशास्त्र और मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि सब मनुष्यों में कुछ जन्मजात बौद्धिक और नैतिक विषमताएँ एवं भेद होते हैं। इनके कारण सब मनुष्यों को वातावरण से

१. मैक्सी—पोलिटिकल फिलासफीज, पृ० ६८४
२. मैक्सी—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ६८६

तथा प्रशिक्षण द्वारा समान नहीं बनाया जा सकता है। सुप्रजननशास्त्र (Eugenics) का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिक (Genetists) यह मानते हैं कि मनुष्यों के जन्म का मूल कारण जननद्रव्य (Germ-plasm) विभिन्न प्रकार की बौद्धिक और मानसिक प्रवृत्तियाँ रखने वाला होता है। यह माता-पिता से सन्तान में आता है। मनुष्यों के बौद्धिक और मानसिक गुण वंशपरम्परागत (Hereditary) होते हैं। इंगलैण्ड में सुप्रसिद्ध सुप्रजननशास्त्री सर फ्रांसिस गाल्टन (Sir Francis Galton) तथा कार्ल पियर्सन (Karl Pearson) ने एवं फ्रांस में अल्फोंसे द कांदोले (Alphonse de Condolle) ने विभिन्न प्रकार की योग्यताओं वाले परिवारों और कुलों का अध्ययन करके यह परिणाम निकाला था कि विज्ञान, साहित्य तथा राजनीति आदि के विभिन्न क्षेत्रों में प्रसिद्धि और उच्च स्थिति वही व्यक्ति पाते हैं जो समाज में उत्कृष्ट योग्यता एवं स्थिति रखने वाले माता-पिता की सन्तान होते हैं। गाल्टन ने अपने अन्वेषणों से यह सिद्ध किया था कि अधिकांश ब्रिटिश वैज्ञानिक कुलीन घरानों (Nobility and Gentlemen) में उत्पन्न हुए थे।[१] अमेरिका में जे० मैकीन कैटेल (J. Mckeen Cattell) ने ८८५ प्रसिद्ध अमेरिकन वैज्ञानिकों के पूर्वजों का अनुसन्धान करने के बाद यह कहा था कि जनसंख्या में केवल ३ प्रतिशत की संख्या रखने वाले व्यावसायिक वर्गों (Professional classes) ने $\frac{२}{५}$ वैज्ञानिकों को उत्पन्न किया, किन्तु जनसंख्या के $\frac{३}{५}$ भाग वाले कृषकों ने केवल $\frac{१}{५}$ वैज्ञानिक उत्पन्न किए। इसी प्रकार के एक अन्य अध्ययन से यह सिद्ध किया गया है कि १७वीं शताब्दी में कनेक्टीकट में निवास करने वाले एक दम्पति—रिचर्ड एडवर्डस् तथा उसकी मेधावी पत्नी एलिज़ाबेथ टट्टल (Elizabeth Tuttle) के वंशजों में से दो व्यक्ति संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति बने तथा इनकी बहुत बड़ी संख्या अमेरिका की सीनेट और कांग्रेस के सदस्य, न्यायाधीश, महाविद्यालयों के अध्यक्ष, प्रोफेसर, लेखक तथा भौतिक विज्ञान विशारद बने। इसी प्रकार अमेरिका के ज्यूक (Jukes), कैल्लिकाक (Kallikak) तथा नैम (Nam) आदि परिवारों के अध्ययन से यह परिणाम निकाला गया है कि बुद्धिमान्द्य (feeblemindedness), पागलपन की प्रवृत्ति, स्वभाववश अपराध करना, आवारागर्दी, लगातार मद्यपान करना, यौन-अपराध आदि विभिन्न मानसिक और नैतिक दोष भी वंशपरम्परागत हैं।[२] बुद्धि-परीक्षाओं (Intelligence tests) की जातीय विभिन्नताओं (Racial differences) के आधार पर लोकतन्त्र का विरोध किया जाता है। उपर्युक्त वैज्ञानिक तथ्यों को प्रस्तुत करते हुए यह कहा जाता है कि लोकतन्त्र समानता के सिद्धान्त पर आधारित है, यह वंशपरम्परा के आधार पर मनुष्यों में पाई जाने वाली विषमता का विरोधी है, इस विषमता की पुष्टि वैज्ञानिक तथ्यों से प्रमाणित होती है, इसका विरोधी होने के कारण लोकतन्त्र की व्यवस्था अवैज्ञानिक और दोषपूर्ण है।

किन्तु लोकतन्त्रवादी उपर्युक्त वैज्ञानिक युक्तियों का प्रबल खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि वंशों एवं परिवारों के अध्ययन के आधार पर निकाले गए

१. कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० ३१८
२. कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० ३१७

परिणाम बड़े भ्रान्तिपूर्ण और दूषित हैं। उदाहरणार्थ, पहले जिस मेधावी एलिज़ाबेथ टट्टल के यशस्वी वंशजों का वर्णन किया गया है, उसे उसके पति रिचर्ड ने "व्यभिचार के कारण तथा अन्य अनैतिक कार्यों के आधार पर तलाक दिया था"। एलिज़ाबेथ की एक बहिन ने अपने औरस पुत्र की हत्या की थी, उसके एक भाई ने अपनी एक बहिन का वध किया था[1]। वंशपरम्परा के नवीन अध्ययन यह प्रदर्शित करते हैं कि उच्च प्रतिभाशाली, मेधावी और यशस्वी महापुरुष निम्न कुलों में उत्पन्न हुए हैं। कमल कीचड़ में पैदा होता है। हज़रत ईसा मसीह एक बढ़ई की सन्तान थे। सुप्रसिद्ध इटालियन लियोनार्दो दा विंची (१४५२–१५१६) घर में काम करने वाले एक नौकर का अवैध पुत्र था। शेक्सपीयर का पिता बूचड़ और बीथोवन का पिता पक्का पियक्कड़ था। सुकरात की माँ एक दाई थी तथा बीथोवन की एक रसोइये की लड़की[2]। फैरेडे एक गरीब लुहार का पुत्र था। कार्लाइल एक पत्थर काटने वाले राज का तथा लिंकन एक फेरी लगाने वाले (Roving) बढ़ई का बेटा था। भारत के प्रधानमन्त्री लालबहादुर शास्त्री एक निर्धन अध्यापक के घर में उत्पन्न हुए थे। मानव-जाति के अधिकांश महापुरुषों ने तथा नेताओं ने सामान्य अथवा निम्न कुलों में जन्म लिया है। अतः यह आवश्यक नहीं कि ऊँचा काम करने वाले उच्च कुल में जन्म लें। सुप्रजननशास्त्र और प्राणिशास्त्र के आधार पर प्रजातन्त्र का विरोध करना ठीक नहीं है।

लोकतन्त्र के दोष दूर करने के उपाय—अन्य शासन-पद्धतियों की भाँति लोकतन्त्र में भी कुछ मौलिक दोष हैं और इन्हें दूर करने के कई उपाय सुझाए गए हैं: **पहला** उपाय आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) का है। वर्तमान लोकतन्त्र का एक बड़ा दोष यह है कि इसमें बहुमत को बहुत अधिक महत्व दिया जाता है। उदाहरणार्थ, चुनावों में ५१ फीसदी मत प्राप्त करने वाला उम्मीदवार विजयी होता है, संसद् या विधानसभा का सदस्य बनता है। इससे केवल ५१ फीसदी मतदाताओं का ही प्रतिनिधित्व होता है, शेष ४९ फीसदी मतदाता प्रतिनिधित्व से वंचित हो जाते हैं। कई बार यह स्थिति होती है कि विरोधी दलों की अधिक संख्या होने पर वोट इतने अधिक बँट जाते हैं कि ५१ फीसदी से कम वोट पाने वाले राजनीतिक दल भी चुनावों में सफल होकर मन्त्रिमण्डलों का निर्माण करते हैं। भारत में कांग्रेस पार्टी की यही दशा है। इस दोष को दूर करने के लिए आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली का समर्थन किया जाता है। इसमें प्रतिनिधियों का चुनाव उनको मिलने वाले वोटों के अनुपात के अनुसार होता है। पार्लियामैण्टों और विधानसभाओं की विभिन्न समितियाँ इसी प्रणाली के आधार पर चुनी जाती हैं, इससे सब दलों को इनमें समुचित प्रतिनिधित्व मिल जाता है। किन्तु यह बड़ी जटिल पद्धति है, इसके आधार पर आम चुनाव कराए जाने पर संसद् में दलों की संख्या इतनी अधिक बढ़ जाती है कि बीसियों दल बन जाते हैं, किसी एक दल की कोई स्थायी और सुदृढ़ सरकार नहीं बन सकती है।

---

१. कोकर—रीसेण्ट पोलिटिकल थाट, पृ० ३६१

२. कोकर—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३६१-६२

दूसरा उपाय जनता द्वारा शासन में अधिक भाग लेने के लिए नवीन साधनों और विधियों का प्रयोग है। ये विधियाँ **प्रस्तावाधिकार** (Initiative), **निषेधाधिकार या जनमत संग्रह** (Referendum), पदच्युत करने का अधिकार (Recall), परामर्शदात्री समितियाँ तथा स्थानीय स्वशासन (Local Self-Government) का विस्तार है। इनमें से **पहले** साधन 'प्रस्तावाधिकार' का यह अभिप्राय है कि यदि एक निश्चित संख्या वाले मतदाता किसी कानून को बनाने का प्रस्ताव करते हैं तो संसद् को उस विषय में कानून बनाने के प्रश्न पर विचार करना पड़ता है। इस व्यवस्था से कानूनों को प्रस्तावित करने का अधिकार केवल पार्लियामैण्ट के सदस्यों तक ही सीमित नहीं होता, अपितु वह जनता को भी प्राप्त हो जाता है। **दूसरे** साधन 'निषेधाधिकार' का यह अर्थ है कि यदि पार्लियामैण्ट या विधानसभा द्वारा पास किया गया कोई कानून जनता को हानिकर या अवांछनीय प्रतीत होता है तो वह यह माँग कर सकती है कि इस कानून को तब तक क्रियान्वित न किया जाए जब तक इस पर जनता की सम्मति न ले ली जाए। जनता की सम्मति लेने पर यदि बहुमत इस कानून का विरोध करता है तो इसे रद्द कर दिया जाता है। इन व्यवस्थाओं से प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र में मतदाता लगभग प्रत्यक्ष लोकतन्त्र की स्थिति में पहुँच जाते हैं। स्विट्ज़रलैण्ड में ये व्यवस्थाएँ प्रचलित हैं। **तीसरा** साधन समय से पूर्व **पदच्युति** या वापस बुलाने (Recall) का है। लोकतन्त्र की सामान्य रूप से प्रचलित व्यवस्था में जो व्यक्ति एक बार संसद् या विधानसभा का सदस्य चुना जाता है वह अगला आम चुनाव होने तक चार-पाँच वर्ष अपने पद पर बना रहता है, भले ही वह मतदाताओं के प्रति तथा विधानसभा में अपने कर्त्तव्यों की घोर उपेक्षा करे। उसे अगले आम चुनाव से पहले नहीं हटाया जा सकता है। किन्तु स्विट्ज़रलैण्ड आदि कुछ देशों में यह व्यवस्था है कि यदि मतदाताओं को अपने प्रतिनिधि का कार्य सन्तोषजनक नहीं प्रतीत होता है तो मतदाता विधानसभा की नियत अवधि पूर्ण होने से पहले भी उसकी वापसी या पदच्युति की माँग कर सकते हैं।

उपर्युक्त तीनों साधन केवल स्विट्ज़रलैण्ड जैसे छोटे तथा राजनीतिक दृष्टि से अधिक उन्नत देशों में ही सफल हो सकते हैं। अन्य देशों में जनता को शासन में अधिक भाग देने के लिए प्रत्येक विभाग के लिए **परामर्शदात्री समितियों** (Advisory Committees) की व्यवस्था की जाती है। इन समितियों में सरकारी अधिकारी अपने विभागों की विभिन्न समस्याओं पर जनता के प्रतिनिधियों से विचार-विमर्श करते हैं, और उनकी सम्मति से कार्य करते हैं। लास्की ऐसी समितियों का प्रबल समर्थक है। जनता को शासन में अधिकतम भाग देने का **चौथा** साधन 'स्थानीय स्वायत्त शासन संस्थाओं' का विकास एवं विस्तार है। भारत में ग्राम-पंचायतों, क्षेत्र-समितियों, जिलाबोर्डों, नगरपालिकाओं द्वारा जनता को सार्वजनिक शासन-प्रबन्ध में अधिकाधिक भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। इनसे नागरिक दैनिक जीवन की अनेक आवश्यकताओं का स्वयमेव प्रबन्ध करते हुए लोकतन्त्र के मौलिक सिद्धान्तों का पहला पाठ पढ़ते हैं। केन्द्रीय सरकार का कार्यभार घट जाता है, जनता को शासन में भाग लेने का स्वर्ण अवसर प्राप्त होता है।

तीसरा उपाय ऐसे नियमों का बनाया जाना है जिनसे संसद् के लिए अथवा विधानसभाओं के लिए योग्य व्यक्ति ही सदस्य चुने जा सकें। इस दृष्टि से सदस्य बनने की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों के लिए शिक्षा तथा सार्वजनिक कार्यों का अनुभव रखने की विभिन्न योग्यताएँ निर्धारित की जाती हैं। **चौथा** उपाय राजनीतिक दलों की संख्या में वृद्धि के तथा दलीय पद्धति के दोषों का निवारण करना है। यदि फ्रांस की भाँति किसी देश में अधिक दल होंगे तो स्पष्ट बहुमत न होने के कारण विभिन्न दलों के संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनेंगे, ऐसे मन्त्रिमण्डल किसी भी एक दल द्वारा सहयोग न मिलने पर भंग हो जाते हैं, इससे शासन एवं सरकार में निर्बलता और अस्थायित्व आता है। किन्तु राजनीतिक दल कम होने से भी लोकतन्त्र की समस्या का पूरी तरह से समाधान नहीं होता। पार्टी-पद्धति के प्रबल होने पर, इसकी सहायता से चुने जाने वाले सदस्य बहुधा साधारण जनता की भावनाओं की अवहेलना करने लगते हैं। सदस्य जनहित की दृष्टि से नहीं, अपितु अपने दल के आदेश से मतदान करते हैं। पार्टी व्यक्ति के अन्त:करण की स्वतन्त्रता और विवेक को कुचल देती है, उसे अनुशासन के नाम पर पार्टी के आदेशों का पालन आँख मूँदकर करना पड़ता है। इन दोषों को दूर करने के लिए जनता के राजनीतिक प्रशिक्षण का समुचित प्रबन्ध करना आवश्यक है। पुस्तकों, समाचारपत्रों, रेडियो, टेलीविज़न आदि शिक्षा के सभी साधनों से नागरिकों को अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों का ज्ञान कराना चाहिए और इनकी रक्षा के प्रति सदैव जागरूक रहने का भाव उत्पन्न किया जाना चाहिए। लोकतन्त्र में धनियों के अनुचित प्रभाव को कम करने के लिए यह भी आवश्यक है कि समाज की आर्थिक व्यवस्था में ऐसे सुधार और परिवर्तन किए जाएं कि मुट्ठी-भर लोग अधिकांश व्यक्तियों पर कोई दबाव न डाल सकें, सब व्यक्ति स्वाधीनतापूर्वक निश्चिन्त होकर अपना मतदान करें तथा सार्वजनिक कार्यों में भाग ले सकें।

लोकतन्त्र का महत्व और मूल्यांकन—इसमें कोई सन्देह नहीं कि लोकतन्त्र की शासन-प्रणाली में अनेक गम्भीर दोष हैं। किन्तु क्या इन दोषों के कारण वह त्याज्य और अवांछनीय है? प्रजातन्त्र के आलोचक—फासिस्ट और नाज़ी ऐसा ही मानते हैं (देखिए ऊपर पृ० ५४६); लेकिन राजनीतिशास्त्र का सूक्ष्म एवं विशद अध्ययन करने वालों का ऐसा मत नहीं है। उनका यह कहना है कि इन दोषों के होते हुए भी लोकतन्त्र की शासन-प्रणाली राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र आदि अन्य सभी शासन-पद्धतियों की अपेक्षा जनता के कल्याण एवं हित सम्पादन की दृष्टि से अधिक प्रभावशाली और सफल सिद्ध हुई है। **लार्ड ब्राइस** ने विश्व के प्रसिद्ध लोकतन्त्रीय देशों में जाकर इस शासन-प्रणाली का गम्भीर अध्ययन किया था। उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक **आधुनिक लोकतन्त्र** (Modern Democracies) में इन दोषों को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है (देखिए ऊपर पृ० ५९८-९९); किन्तु इसके साथ ही, अन्य शासन-पद्धतियों से तुलना करने पर उन्होंने इसकी श्रेष्ठता और वांछनीयता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि "यदि हम आज की दुनिया से अपनी दृष्टि १९वीं शताब्दी की ओर पीछे ले जाएँ तो इस बात से सन्तोष प्राप्त किया जा सकता है कि जनता द्वारा की जाने वाली शासन-व्यवस्था में दुःख एवं कष्ट पैदा करने वाले अनेक कारणों का प्रतिकार कर दिया गया

है, सब लोगों के अधिकारों की समानता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया है। प्रजातन्त्र की प्रणाली से जनता को अनेक वरदान मिलने की आशा थी, वे सभी वरदान जनता को नहीं मिले हैं, किन्तु इसने अनेक पीढ़ियों से चली आने वाली तथा मनुष्यों की आत्माओं को कलंकित करने वाली क्रूरताओं, गलतियों, अन्यायों तथा अत्याचारों को कुछ देशों में बिलकुल नष्ट कर दिया है तथा अन्य देशों में इनमें बहुत बड़ी कमी कर दी है।"[1] इसका यह स्पष्ट अभिप्राय है कि भले ही लोकतन्त्र में दोष हों, उसने हमारी आशाओं को पूरा न किया हो, फिर भी लोकतन्त्र इसलिए वरणीय और वांछनीय है कि उसने अन्य शासन-प्रणालियों की तुलना में मानवीय हितों में अधिक वृद्धि की है। सी० डी० बर्न्स ने एक बड़े सुन्दर दृष्टान्त से इस बात को स्पष्ट किया है कि लोकतन्त्र अधिक उत्कृष्ट प्रणाली होने के कारण वांछनीय है, "कोई भी व्यक्ति इस बात से इनकार नहीं करता है कि वर्तमान प्रतिनिधिसभाएँ (Representative Assemblies) दोषपूर्ण हैं, किन्तु यदि कोई मोटरकार ठीक काम नहीं करती है तो बैलगाड़ी की ओर लौटकर जाना मूर्खतापूर्ण कार्य होगा।"[2] जिस प्रकार ऐसी दशा में हम बैलगाड़ी का सहारा न लेकर मोटर के दोषों को ठीक करके उससे काम लेते हैं, उसी प्रकार हमें लोकतन्त्र के दोषों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

लोकतन्त्र का सबसे बड़ा महत्व इस बात में निहित है कि यह अन्य किसी भी शासन-प्रणाली की अपेक्षा समाज की तथा सब व्यक्तियों की योग्यताओं के विकास में अधिक सहायक है। प्रसिद्ध अमेरिकन विचारक जॉन ड्यूई (John Dewy) ने इस बात पर बहुत बल दिया है।[3] उसका यह मत है कि समाज की उन्नति की सम्भावनाएँ तब तक अपने चरम विकास को नहीं प्राप्त कर सकतीं जब तक सब व्यक्तियों को अपनी योग्यताओं का विकास करने का समान अवसर न मिले; ऐसा विकास होने पर, समाज सभी व्यक्तियों की योग्यताओं का लाभ उठाकर उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है। उसके मतानुसार लोकतन्त्र का आधार मानवीय प्रकृति की योग्यता में विलक्षण विश्वास रखना तथा इसे विकास का अवसर देना है। यह किसी अन्य शासन-पद्धति में सम्भव नहीं है।

---

१. ब्राइस—माडर्न डेमोक्रेसीज, खण्ड २, पृ० ८५
२. सी० डी० बर्न्स—डेमोक्रेसी, पृ० ८०
३. जे० रैटनर द्वारा सम्पादित 'इण्टैलिजैन्स इन दी माडर्न वर्ल्ड' : जॉन ड्यूईस फिलासफी, पृ० ४०२

अठारहवाँ अध्याय

लास्की, कोल तथा रसेल की विचारधारा

बीसवीं शताब्दी के राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में हेरल्ड जोसेफ लास्की (Harold Joseph Laski, 1893–1950), जार्ज डगलस हावर्ड कोल (George Douglas Howard Cole, 1889–1959) तथा बर्ट्रेण्ड आर्थर विलियम रसेल (Bertrand Arthur William Russel, 1872–1970) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ब्रिटिश विचारकों की इस त्रिमूर्त्ति ने राजनीतिक विचारधारा पर गहरा प्रभाव डाला है। लास्की तथा कोल ने बहुलवाद एवं श्रेणी समाजवाद की विचारधाराओं के विकास में बड़ा भाग लिया है। पहले (पृ० ५२०, ४७९-८०) इनका कुछ विवेचन किया जा चुका है, अतः यहाँ इनके प्रमुख सिद्धान्तों का संक्षिप्त प्रतिपादन किया जाएगा।

लास्की

लास्की का जीवन—लास्की का जन्म हंगरी से आकर मैन्चैस्टर में बसने वाले एक समृद्ध व्यापारी तथा कट्टर यहूदी नैथन लास्की के घर में हुआ। पिता छोटी आयु में ही असाधारण प्रतिभा प्रदर्शित करने वाले पुत्र को अपने धार्मिक विधि-विधान के अनुसार आदर्श यहूदी बनाना चाहता था। किन्तु स्वभावतः विद्रोही पुत्र को प्राचीन यहूदी कर्मकाण्ड की अपेक्षा आधुनिक विज्ञान, इतिहास तथा राजनीति की समस्याओं में अधिक अनुराग था। उसकी विद्रोही प्रवृत्ति सर्वप्रथम तब प्रकट हुई जब उसने यहूदी धर्म के नियमों का उल्लंघन करते हुए अपने माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध, गुप्त रूप से स्काटलैण्ड जाकर अपने से ८ वर्ष बड़ी एक ईसाई लड़की फ्रिडा केरी (Frida Kerrey) से विवाह किया। लास्की पहली बार १९०९ में इसे एक पार्टी में मिला था तथा आनुवंशिकता (Heredity) पर दिए गए उसके एक व्याख्यान से बड़ा प्रभावित हुआ था। इस समय उसे स्वयमेव इस विषय में बड़ा अनुराग था। १७ वर्ष की आयु में उसने 'सुप्रजननशास्त्र के क्षेत्र' (On the Scope of Eugenics) पर 'वैस्टमिंस्टर रिव्यू' में एक लेख लिखा था। इस पर इस विषय के प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर फ्रांसिस गाल्टन ने उसे बधाई का एक पत्र भी लिखा था। फ्रिडा के साथ इस विषय पर तथा अन्य प्रश्नों पर दो वर्ष तक उसका पत्र-व्यवहार चलता रहा। १९११ में इन दोनों के विवाह से माता-पिता को गहरा धक्का लगा। बाप ने क्रुद्ध होकर लास्की की पढ़ाई का खर्च देना बन्द कर दिया। लास्की ने अब स्कूल की पढ़ाई समाप्त करके ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में प्रवेश लेना था। वह अपने वैध विवाह को भंग करने के लिए तैयार नहीं था। अन्त में पिता-पुत्र में यह समझौता हुआ कि ऑक्सफोर्ड में शिक्षा प्राप्त करने तक पिता उसके सब व्यय पूरे करने के लिए २०० पौंड की राशि लास्की को इस शर्त पर देगा कि वह विवाह के समाचार को गुप्त रखेगा और स्काटलैण्ड में अपनी स्वतन्त्र जीविका कमाने वाली फ्रिडा से अध्ययन की समाप्ति तक नहीं

मिलेगा[1]। १९१४ में लास्की ने इतिहास में प्रथम श्रेणी में उपाधि प्राप्त की और पिता ने खर्च देना बन्द कर दिया। उसका यह कहना था कि फ्रिडा को यहूदी धर्म में दीक्षित होना चाहिए, ऐसा होने पर ही लास्की अपने परिवार का सदस्य और सम्पत्ति का अधिकारी बन सकता है। लास्की और फ्रिडा इस बात के लिए तैयार नहीं थे, अतः उन्हें अपने परिवार से अलग होना पड़ा। १९२० में फ्रिडा ने लास्की के न चाहते हुए भी यहूदी धर्म स्वीकार करके पारिवारिक विवाद को शान्त किया तथा अपने सास-ससुर को सन्तुष्ट किया।

१९१४ में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से स्नातक होने के बाद पैतृक सम्पत्ति और सहायता से वंचित होने के कारण आजीविका कमाने के लिए लास्की ने अपने मित्र जार्ज लैन्सबरी के समाचारपत्र डेली हेरल्ड में आयर्लैण्ड आदि की सामयिक समस्याओं पर लेख लिखना शुरू कर दिया। कुछ समय बाद प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने पर उसने सेना में भर्ती होने के लिए आवेदनपत्र दिया, किन्तु सैनिकों के लिए निर्धारित किया गया आवश्यक शारीरिक स्वास्थ्य न होने के कारण वह सेना में नहीं लिया जा सका। इसी समय उसे कनाडा के माण्ट्रील नगर के मैकगिल विश्वविद्यालय में इतिहास के व्याख्याता का पद मिला, सितम्बर १९१४ में वह माण्ट्रील चला गया। एक वर्ष तक यहाँ पढ़ाने के बाद वह सं० रा० अमेरिका के सुप्रसिद्ध विश्वविद्यालय हार्वर्ड में अध्यापन कार्य करने लगा। १९२० में वह इंगलैण्ड वापिस लौटा, लन्दन स्कूल आफ इकनामिक्स में व्याख्याता तथा ग्राहम वालास के बाद राजनीतिशास्त्र का प्रोफेसर बना। उसने अपनी आयु के शेष ३० वर्ष लन्दन विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य में ही व्यतीत किए।

लास्की अपने शिष्यों और छात्रों से अगाध स्नेह रखता था। संसार के सभी देशों से लन्दन आकर राजनीतिशास्त्र का अध्ययन करने वाले छात्र उसके पितृतुल्य वात्सल्य और प्रेम का पात्र बनते थे। वह न केवल छात्रों को बड़ी लगन से पढ़ाता था, अपितु उनकी वैयक्तिक समस्याओं के समाधान में भी बड़ी दिलचस्पी लेता था। आर्थिक सहायता के लिए आने वाले छात्र उसके द्वार से निराश नहीं लौटते थे, वह गरीब छात्रों के लिए आवश्यक पुस्तकें पुरानी किताबों की दुकानों से खरीदकर उन्हें दिया करता था। उसके यहाँ विभिन्न कार्य एवं समस्याएँ लेकर आने वाले छात्रों का तांता बँधा रहता था। विद्यार्थियों से मिलने में उसे सदैव प्रसन्नता होती थी। वह कहा करता था कि पता नहीं इनमें से कौन मिल्टन जैसा मेधावी और यशस्वी बनने वाला है। पढ़ाई में निकम्मे और रद्दी विद्यार्थियों के बारे में भी वह यह कहा करता था कि बेवकूफ होने पर भी मुझे अमुक विद्यार्थी को थर्ड डिवीज़न में पास कराना है, क्योंकि उसके माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धी उसे डिग्री दिलाना अत्यावश्यक समझते हैं। लास्की एक अत्यन्त सफल शिक्षक था। उसके व्याख्यानों, वाद-विवाद और विचार-विमर्श से छात्रों को चिन्तन की नवीन दिशा एवं प्रेरणा मिलती थी। वह अपने शिष्यों की अगाध श्रद्धा और अमित सम्मान का पात्र था।

---

१. हर्बर्ट डीन—दी पोलिटिकल आइडियाज आफ हेरल्ड जे० लास्की, पृ० ४-५

सैद्धान्तिक राजनीतिशास्त्र को पढ़ाने के साथ-साथ उसे क्रियात्मक राजनीतिक कार्यों में भी बड़ी अभिरुचि थी। ब्रिटेन के मजदूर दल के साथ उसका गहरा सम्बन्ध था; वह कई वर्ष तक इसकी कार्यकारिणी का सदस्य था, १९४५ में मजदूर दल के सत्तारूढ़ होने पर वह इसका अध्यक्ष भी था। उस समय अनेक विदेशियों को यह भ्रान्ति थी कि मजदूर दल का वास्तविक नेता लास्की है, क्योंकि वह अपने विशद और गम्भीर ज्ञान एवं बौद्धिक गुणों के कारण मजदूर दल के प्रधान नेताओं—एटली, मारिसन और बेविन का पथ-प्रदर्शन किया करता था। इसके अतिरिक्त इंगलैण्ड से बाहर के अन्य देशों के प्रमुख विचारकों, मन्त्रियों, नेताओं आदि से लास्की का पत्र-व्यवहार चलता रहता था। सं० रा० अमेरिका के न्यायाधीश होम्ज़ (Holmes) तथा फ्रैंक फुर्टर और ब्रिटेन में लार्ड हाल्डेन उसके परम मित्र थे। वह रूज़वैल्ट, जवाहरलाल नेहरू आदि संसार के बड़े राजनीतिज्ञों को परामर्श दिया करता था। वह न केवल राजनीतिशास्त्र का एक विचारक, अध्यापक और मजदूर दल का पत्रकार तथा प्रभावशाली सार्वजनिक वक्ता था, अपितु विश्व के प्रमुख राजनीतिज्ञों का विश्वस्त परामर्शदाता भी था। राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में उसने संसद् का सदस्य और मन्त्री बनने के अतिरिक्त सभी कार्य किए[1]। मजदूर दल ने उसे कई बार अपना स्पष्ट बहुमत रखने वाले निर्वाचन क्षेत्रों से पार्लियामैण्ट के चुनाव में खड़ा करने के प्रस्ताव किए, किन्तु उसने इन्हें कभी स्वीकार नहीं किया।

रचनाएँ—लास्की बहुत अधिक लिखने वाला था। उसने ३५ वर्ष की अवधि में ३० पुस्तकें, ६० पुस्तिकाएँ लिखने के अतिरिक्त शोध-पत्रिकाओं तथा समाचारपत्रों के लिए सैकड़ों लेख लिखे[2]। उसकी सुप्रसिद्ध और महत्वपूर्ण कृतियाँ निम्नलिखित हैं—'प्रभुसत्ता की समस्या' (The Problem of Sovereignty, 1917), 'आधुनिक राज्य में सत्ता का स्वरूप' (Authority in Modern State, 1919), 'लॉक से बेन्थम तक की राजनीतिक विचारधारा' (Political Thought from Locke to Bentham, 1920), 'प्रभुसत्ता के आधार' (Foundations of Sovereignty, 1921), 'राजनीतिशास्त्र के मूल तत्व' (A Grammar of Politics, 1925), 'आधुनिक राज्य में स्वतन्त्रता' (Liberty in the Modern State, 1930), 'संकटापन्न लोकतन्त्र' (Democracy in Crisis, 1933), 'राज्य का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप' (The State in Theory and Practice, 1935), 'इंगलैण्ड में संसदीय शासन' (Parliamentary Government in England, 1938), 'अमेरिका की राष्ट्रपति-पद्धति' (American Presidency, 1940), 'अमेरिकन लोकतन्त्र' (American Democracy, 1948), 'हमारे युग की दुविधा' (The Dilemma of Our Times, 1952)। इन पुस्तकों में प्रतिपादित लास्की के विचारों पर तत्कालीन परिस्थितियों का बड़ा प्रभाव पड़ता रहा और इनमें परिवर्तन होता रहा। उसके प्रधान विचार निम्नलिखित हैं—

---

१. डीन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४

२. हर्बर्ट डीन—दी पोलिटिकल आइडियाज़ आफ हेरल्ड जे० लास्की, पृ० ३३३-३४

लास्की के प्रमुख विचार : (क) प्रभुसत्ता के सिद्धान्त का खण्डन—लास्की ने ग्रास्टिन द्वारा प्रतिपादित (पृ० ५७) प्रभुसत्ता के सिद्धान्त (Theory of Sovereignty) का उग्र विरोध किया है। पहले (पृ० ५२०) यह बताया जा चुका है कि उस पर विलियम जेम्स ग्रादि ग्रमेरिकन विचारकों के बहुलवाद (Pluralism) का तथा व्यवहारवाद (Pragmatism) का बहुत प्रभाव पड़ा था। इसलिए वह राज्य को सर्वशक्तिमान् तथा प्रभुसत्तासम्पन्न एवं समाज का सर्वोपरि समूह न मानकर, परिवार, चर्च ग्रादि ग्रन्य सामाजिक समूहों (Groups) की भाँति एक सामान्य समूह मानता था। ग्रास्टिन ने कहा था कि राज्य सर्वोच्च ग्रनियन्त्रित, ग्रप्रतिबद्ध सत्ता ग्रौर शक्ति रखने वाला संगठन है, उस पर किसी दूसरी शक्ति का नियन्त्रण नहीं है। वह समस्त शक्तियों का मूल स्रोत है, उसका ग्रादेश ही कानून है। लास्की ग्रास्टिन की राज्य की प्रभुसत्ताविषयक उपर्युक्त धारणाग्रों का खण्डन निम्नलिखित तर्कों तथा प्रमाणों के ग्राधार पर करता है।

(१) प्रभुसत्ता का सिद्धान्त ग्रवास्तविक, ग्रसत्य तथा ग्रत्युक्तिपूर्ण है। मानवजाति के सुदीर्घ इतिहास में हमें एक भी ऐसे शासक का प्रामाणिक उदाहरण नहीं मिलता है जो ग्रास्टिन द्वारा बताई गई ग्रनियन्त्रित तथा ग्रसीम शक्ति से सम्पन्न हो। प्रायः रूस के ज़ारों तथा टर्की के खलीफाग्रों को इस प्रकार का निरंकुश तथा सर्वशक्तिमान् शासक बताया जाता है। किन्तु यदि हम इनके शासन का सूक्ष्म ग्रध्ययन करें तो हमें यह ज्ञात होगा कि वे निरंकुश शासक नहीं थे, उन्हें ग्रपने देश की परम्परागत रूढ़ियों, रिवाजों, धार्मिक नियमों तथा लोकमत की भावना के सम्मुख नतमस्तक होना पड़ता था। उदाहरणार्थ, टर्की का सुल्तान इस्लाम के धार्मिक नियमों से बँधा हुग्रा था, वह किसी भी प्रकार खुल्लमखुल्ला इनकी ग्रवहेलना नहीं कर सकता था। ग्रतः ग्रास्टिन का 'प्रभुसत्तासम्पन्न राज्य का विचार' केवल कल्पना जगत् में ही है, वास्तविक इतिहास में हमें उसका कोई उदाहरण नहीं मिलता है। न केवल प्राचीन एवं मध्य काल के इतिहास में निरंकुश शासन के कोई दृष्टान्त नहीं मिलते, ग्रपितु वर्तमान काल के ग्रतीव प्रबल एवं शक्तिशाली राज्यों में भी ऐसी स्थिति नहीं है। कई बार राज्य को धार्मिक सम्प्रदायों या मजदूर संघों द्वारा प्रस्तुत की गई माँगों को स्वीकार करने के लिए बाधित होना पड़ा है। यदि राज्य वस्तुतः पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न होते तो उन्हें इन समुदायों के ग्रागे नतमस्तक न होना पड़ता। लास्की की यह युक्ति दोषपूर्ण है। प्रभुसत्ता के समर्थकों का यह मत है कि यदि मनुष्य सदैव राज्य की ग्राज्ञा का पालन नहीं करते हैं तो इसका यह ग्राशय नहीं है कि इससे ग्रास्टिन का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। इसका यह ग्रभिप्राय नहीं है कि राज्य के ग्रादेशों ग्रौर कानूनों का सदा पालन होता ही है। यदि ऐसा होता तो कानून भंग करने वाले ग्रपराधियों को पकड़ने तथा दण्ड देने के लिए पुलिस ग्रौर न्यायालयों की व्यवस्था करने की कोई ग्रावश्यकता न होती। इस सिद्धान्त का यह ग्राशय भी नहीं है कि राज्य की ग्राज्ञा को भंग करना नैतिक दृष्टि से बुरा या पाप है। यह सिद्धान्त केवल कानून के पक्ष पर बल देता है। इसका दोष केवल यही है कि यह राज्य के कानूनी पक्ष पर ग्रधिक बल देते हुए कानून के बल का निर्माण करने वाली सामाजिक

तथा राजनीतिक शक्तियों की उपेक्षा करता है।[1]

(२) लास्की प्रभुसत्ता के विचार का विरोध नैतिक आधार पर भी करता है। मनुष्य का सर्वोच्च नैतिक कर्म अपने व्यक्तिव का विकास करना है। प्रभुसत्ता का सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि व्यक्ति आँख मूँदकर राज्य की सभी आज्ञाओं का पालन करे, इस प्रकार का आज्ञा-पालन व्यक्ति के स्वतन्त्रतापूर्वक विकास करने में बड़ी प्रबल बाधा है। राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के विकास में सहायक होना है, न कि बाधक होना। यदि व्यक्ति राज्य की सभी आज्ञाओं का पालन बिना सोचे-समझे करेगा तो वह राज्य का दास मात्र बन जाएगा। इस प्रकार की दासता व्यक्ति के नैतिक विकास में कोई सहयोग नहीं दे सकती है। व्यक्ति को राज्य का आदेश इसलिए नहीं मानना चाहिए कि यह राज्य द्वारा दिया गया है, अपितु इसलिए मानना उचित है कि यह नागरिकों द्वारा उत्तम जीवन बिताने में तथा उनका कल्याण तथा नैतिक विकास करने में सहायक है। राज्य के पास अपने आदेश पालन करवाने का एकमात्र आधार प्रजाजनों की आवश्यकताएँ पूरी करना तथा उनके विकास में सहयोग देना है।

(३) तीसरा कारण इस सिद्धान्त का अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति उत्पन्न करना है। प्रभुसत्तासम्पन्न राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में अपने को सर्वथा स्वतन्त्र समझते हुए स्वच्छन्द आचरण करते हैं। जर्मनी, इटली जैसे शक्तिशाली राज्य बेल्जियम, पोलैण्ड, एबिसीनिया जैसे निर्बल राज्यों पर हमला करते हैं। इससे युद्ध छिड़ते हैं, विनाश और विध्वंस का ताण्डव होता है। मानव-जाति को असीम कष्ट पहुँचता है। अतः मानव-जाति के हित की दृष्टि से प्रभुसत्ता के सिद्धान्त की समाप्ति वांछनीय है।

उपर्युक्त एवं पहले (पृ० ५२१-२२) बताई गई युक्तियों के आधार पर लास्की प्रभुसत्ता का विरोध करता है तथा राज्य के आदेशों के पालन की यह कसौटी निश्चित करता है कि इनसे उसके प्रजाजनों का कल्याण होना चाहिए। इससे यह स्पष्ट है कि लास्की व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बल देने वाले उदारवाद (Liberalism) विषयक जॉन मिल (पृ० ६५) के विचारों से सहमत है; राज्य के जनकल्याणकारी उद्देश्य के बारे में वह बेन्थम की उपयोगितावादी (Utilitarian) परम्परा को (पृ० २६-३४) मानता है; व्यक्ति के भौतिक विकास के महत्व के विषय में वह ग्रीन के आदर्शवादी (Idealist) विचारों को स्वीकार करता है। फिर भी वह आदर्शवाद की भाँति राज्य को सर्वोच्च स्थान न देकर बहुलवादी (Pluralistic) विचारधारा के अनुसार गौण स्थान प्रदान करता है।

इस विषय में लास्की के विचारों में परिवर्तन होता रहा है। अपनी आरम्भिक रचनाओं में उसने उग्र बहुलवादी (Pluralistic) विचार प्रकट करते हुए प्रभुसत्ता का प्रबल विरोध किया है, राज्य की सर्वोच्च सत्ता का खण्डन किया है, इसे उसने मनुष्यों द्वारा अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए स्वेच्छापूर्वक बनाए गए संगठनों (Voluntary Associations) की भाँति स्वीकार किया है। किन्तु बाद में

१. डीन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० १४-१५

'राजनीतिशास्त्र के मूल तत्व' (Grammar of Politics) में उसने अपने प्रारम्भिक उग्र बहुलवाद में कुछ संशोधन कर दिया है। इसमें उसने यह माना है कि राज्य में अन्य संगठनों की अपेक्षा एक विशेषता यह है कि इसके पास अपने नियमों का पालन कराने के लिए बाध्य कराने वाली शक्ति (Coercive power) है, यह अन्य संगठनों के पास नहीं है, अतः अन्य सभी संगठनों की अपेक्षा यह अधिक शक्ति रखने वाला उत्कृष्ट संगठन है। इसे यह शक्ति विभिन्न सामाजिक समूहों में समन्वय स्थापित करने के लिए, आन्तरिक शान्ति स्थापित करने के लिए तथा विदेशी शत्रुओं से देश की रक्षा करने के उद्देश्य से प्रदान की गई है। लास्की के विचारों में यह परिवर्तन कई कारणों से हुआ : **पहला** कारण १९२० में स्वदेश लौटने पर उस पर सिडनी तथा बीट्रिस वैब का प्रभाव था। **दूसरा** कारण मजदूर दल की सदस्यता थी। **तीसरा** कारण १९३१ की भीषण आर्थिक मन्दी के समय ब्रिटेन में होने वाली घटनाएँ तथा उसका मार्क्सवाद की ओर झुकाव था। अब उसने बहुलवाद को दोषपूर्ण समझते हुए यह अनुभव किया कि राज्य की इच्छा जनकल्याण की दृष्टि से अपने क्षेत्र में सर्वोच्च होनी चाहिए। 'राजनीतिशास्त्र के मूल तत्व' के १९३८ के संस्करण की भूमिका में उसने इसके प्रथम संस्करण में प्रतिपादित बहुलवाद के संशोधित रूप को तिलांजलि दे दी और मार्क्स का राज्य सम्बन्धी सिद्धान्त (पृ० ३५८) स्वीकार किया। अब वह बहुलवादियों की भाँति यह नहीं मानता था कि राज्य समाज के विभिन्न संगठनों में समन्वय स्थापित करने वाला तथा आन्तरिक और बाह्य उपद्रवकारी तत्वों से रक्षा करने वाला है और इसकी बाध्यकारी शक्ति (Coercive power) को इस दृष्टि से नियन्त्रण में रखना चाहिए कि यह नागरिकों की स्वतन्त्रता का अपहरण न कर सके। किन्तु अब वह राज्य को उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखने वाले वर्ग की इच्छाओं को क्रियात्मक रूप देने का साधन समझने लगा। यह उसके सत्ताविषयक विचारों की विवेचना से स्पष्ट हो जाएगा।

(ख) **सत्ताविषयक विचार**—लास्की का पहले यह विचार था कि राज्य के पास मनुष्यों को उनके विकास का पूरा अवसर देने की उपयुक्त परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए आवश्यक बाध्यकारी शक्ति (Coercive power) होनी चाहिए। किन्तु उसे इस बात की पूरी आशंका और सम्भावना थी कि सत्ता का मद बड़ा प्रबल होता है, सत्तासम्पन्न व्यक्ति इसका प्रयोग जनहित के लिए न करके, शीघ्र ही अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए करने लगते हैं। अतः सदैव सरकार की शक्ति पर अंकुश लगाए जाने चाहिएँ। लास्की लोकतन्त्र-प्रणाली को इसीलिए अच्छा मानता है कि इसमें शासन-सत्ता पर प्रबल नियन्त्रण होता है और यह जनता के प्रति उत्तरदायी होती है। किन्तु इसमें भी इस बात की सम्भावना हो सकती है कि सत्ता और शक्ति का दुरुपयोग हो। इसे रोकने के लिए पुराना सिद्धान्त—शासन करने वाली, कानून बनाने वाली तथा न्याय करने वाली तीनों शक्तियों के पार्थक्य (Separation of powers) का सिद्धान्त था, किन्तु लास्की इससे सन्तुष्ट नहीं है। उसको इस पर एक बड़ी आपत्ति यह है कि इसमें सरकार अपने निर्णय करते हुए उन व्यक्तियों की इच्छाओं को ध्यान में नहीं रखती है जिन पर इनका प्रभाव पड़ता है। अतः लास्की इस दोष को दूर करने

के लिए तथा सत्ता के दुरुपयोग को रोकने के लिए सत्ता के विकेन्द्रीकरण पर बल देता है, उसके मतानुसार सत्ता एक स्थान पर केन्द्रित न होकर अधिक-से-अधिक स्थानीय (Local) तथा विभिन्न कार्य करने वाली (Functional) संस्थाओं में बँटी होनी चाहिए। सत्ता का मद केन्द्रीकरण से उत्पन्न होता है, यदि सत्ता को विभिन्न संस्थाओं में विकेन्द्रित कर दिया जाए तो शासन केन्द्रीकरण के दुष्परिणामों से बच जाएगा। जिस प्रकार एक संघीय (Federal) व्यवस्था में शासन-सत्ता इसका निर्माण करने वाले विभिन्न अंगों में बँटी रहती है, इसी प्रकार राज्य की सत्ता इसमें विद्यमान विभिन्न संगठनों में विभक्त होनी चाहिए। इसीलिए लास्की यह कहता है कि **सत्ता संघीय होनी चाहिए** (Authority must be federal)।

सत्ता को विकेन्द्रित करने अथवा विभिन्न समुदायों में बाँटने के सम्बन्ध में लास्की ने कई ऐसे साधनों का निर्देश किया है जिनकी सहायता से राज्य अपने नागरिकों की वास्तविक इच्छाओं तथा आवश्यकताओं को अपने निर्णयों तथा कार्यों द्वारा अधिकतम क्रियात्मक रूप प्रदान कर सके। ऐसा करने का **पहला** साधन सरकार द्वारा अपने विभिन्न विभागों के कार्य-संचालन में जनता की इच्छा को जानने तथा क्रियात्मक रूप देने के लिए परामर्शदात्री संस्थाओं (Advisory Bodies) की स्थापना है। उदाहरणार्थ, रेल विभाग को लीजिए। सरकार को इस सम्बन्ध में कार्य करने के लिए एक ऐसी परामर्शदात्री समिति बनानी चाहिए जिसमें रेल के व्यवसाय से सम्बन्ध रखने वाले सभी पक्षों—रेल के प्रशासकों, इसका प्रयोग करने वाले यात्रियों, रेल द्वारा अपना माल भेजने वाले व्यापारियों तथा व्यवसायियों, इसके माध्यम से अपने कारखानों के लिए कच्चा माल मँगाने तथा तैयार माल दूसरे स्थानों पर भेजने वाले उद्योगपतियों का तथा इसमें काम करने वाले मजदूरों एवं अन्य व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। सरकार को रेल के सम्बन्ध में कुछ निर्णय करने से पूर्व इस समिति की बैठक बुलाकर इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले सभी पक्षों से सलाह लेनी चाहिए, उनसे नए बनाए जाने वाले तथा अब तक बनाए गए कानूनों की उपयोगिता पर परामर्श करना चाहिए। **दूसरा** साधन संसद् या विधानसभा में प्रस्तुत होने वाले विभिन्न प्रशासनात्मक प्रश्नों पर विचार करने के लिए संसत्सदस्यों की समितियों के निर्माण पर बल देना है। इस सुझाव का अनुसरण करते हुए ग्रेट ब्रिटेन, भारत आदि देशों में संसत्सदस्यों की वित्त, शिक्षा, रक्षा आदि विभिन्न विषयों पर विचार करने के लिए इस प्रकार की समितियाँ बनाई जाती हैं। **तीसरा** साधन नगरपालिका आदि स्थानीय संस्थाओं को स्वशासन के अधिकाधिक अधिकार देकर इन्हें शक्तिशाली बनाना है। **चौथा** साधन वैयक्तिक या निजी उद्योगों के क्षेत्र में विद्यमान प्रत्येक उद्योग की समुचित व्यवस्था का संचालन करने के लिए औद्योगिक समिति (Industrial Council) का निर्माण है। इसमें तीनों पक्षों के अर्थात् उद्योग पर स्वामित्व रखने वाले, इस उद्योग से बनी वस्तुओं का उपभोग करने वाले तथा सरकार के प्रतिनिधि होने चाहिएँ। इस समिति को इस उद्योग से सम्बन्ध रखने वाले मामलों के बारे में नियम बनाने का अधिकार होना चाहिए। किन्तु इन नियमों पर उत्पादन मन्त्रालय की स्वीकृति तथा विधानसभा का नियन्त्रण होना चाहिए। इस

प्रकार इन साधनों से सत्ता का अधिकतम विकेन्द्रीकरण करके लास्की अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'राजनीतिशास्त्र के मूल तत्व' में व्यक्ति की स्वतन्त्रता में और राज्य के सामाजिक नियन्त्रण में समन्वय स्थापित करना चाहता है और बहुलवाद का प्रबल समर्थन करता है।

लास्की का विचार-परिवर्तन—१९३१ के बाद से अपनी पिछली रचनाओं में—विशेषत: **संकटकालीन लोकतन्त्र** (Democracy in Crisis) में तथा **इंगलैण्ड में संसदीय प्रणाली** में उसका झुकाव मार्क्सवाद की ओर है और उसने बहुलवाद को तिलांजलि दे दी है। अब वह राज्य को ऐसी सत्ता नहीं मानता जिसे विकेन्द्रीकरण के उपर्युक्त साधनों से इसलिए नियन्त्रित किया जाना चाहिए ताकि व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कोई आँच न आ सके; अब वह मार्क्सवादियों की भाँति राज्य को उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रखने वाली श्रेणी की इच्छा पूरी करने का उपकरण समझने लगा था। उसके विचारों में यह महत्वपूर्ण परिवर्तन १९३१ की विश्वव्यापी मन्दी के कारण ब्रिटिश राजनीति में होने वाले परिवर्तनों के कारण हुआ। उस समय ब्रिटेन में रैम्ज़े मैकडानल्ड के प्रधानमन्त्रित्व में मजदूर मन्त्रिमण्डल था। भीषण आर्थिक मन्दी के कारण ब्रिटेन में बेकारी बढ़ने लगी, इससे बेकारी की दशा में सरकार से सहायता पाने वाले मजदूरों की संख्या में भारी वृद्धि के परिणामस्वरूप सरकार का व्यय बहुत अधिक बढ़ गया, किन्तु मन्दी के कारण उसकी आमदनी में निरन्तर कमी होने लगी। राज्य के बजट में आय और व्यय का सन्तुलन रखना विकट प्रश्न बन गया। राज्य का व्यय और घाटा बढ़ने लगा। इसे पूरा करने के लिए प्रधानमन्त्री मैकडानल्ड तथा अर्थमन्त्री स्नोडन ने बजट को सन्तुलित करने के उद्देश्य से बेकार मजदूरों को दी जाने वाली सहायता में भारी कटौती का तथा स्वर्णमान को तिलांजलि देने का निश्चय किया। मजदूर दल के अधिकांश सदस्यों ने उपर्युक्त प्रस्तावों का उग्र विरोध किया। इसके परिणामस्वरूप मजदूर दल में फूट पड़ गई। रैम्ज़े मैकडानल्ड ने इस आर्थिक संकट का निवारण करने के लिए पूंजीपति अनुदार दल के साथ समझौता करके एक राष्ट्रीय सरकार (National Government) बनाई। मजदूर दल के अधिकांश नेताओं ने तथा लास्की ने इसे मजदूरों के साथ विश्वासघात समझा। लास्की यह समझता था कि इससे मार्क्सवादियों का यह मन्तव्य पुष्ट हुआ है कि चुनाव में मजदूर दल का बहुमत होने पर भी पूंजीपति उन्हें उल्लू बनाने में तथा अपना स्वार्थ सिद्ध करने में सफल होते हैं। इससे वह मार्क्सवादियों द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त को मानने लगा कि समाजवाद की स्थापना शान्तिपूर्ण उपायों से नहीं, किन्तु क्रान्ति से ही सम्भव है। 'इंगलैण्ड में संसदीय शासन' में उसने यह प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है कि लार्डसभा 'धनियों का दुर्ग' (Fortress of Wealth) है। यह लोकसभा में मजदूर दल का बहुमत होने पर, उसके द्वारा पास किए जाने वाले समाजवादी कानूनों का विरोध करेगी। देश पर वास्तव में शासन करने वाली सिविल सर्विस में ऊँचा स्थान रखने वाले व्यक्ति कुलीन परिवारों से सम्बद्ध होने के कारण पूंजीवाद के पोषक होते हैं। अतः वे मजदूर दल की सरकार द्वारा अपनायी गई समाजवादी नीति

को क्रियान्वित करने के मार्ग में रोड़े अटकाएँगे, इसलिए समाजवादी व्यवस्था को शान्तिपूर्ण रीति से स्थापित करना सम्भव नहीं है।

किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद लास्की को अपने उपर्युक्त सिद्धान्त की भ्रांति उस समय स्पष्ट हुई जब मजदूर दल ने १९४५ के चुनावों में बहुमत पाने के बाद ब्रिटेन में समाजवाद की दिशा में ठोस प्रगति की, शान्तिपूर्ण रीति से अनेकों उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया, मजदूरों के कल्याण के लिए, बेकारी, बीमारी तथा बुढ़ापे के संकटों का निवारण करने के लिए अनेक योजनाओं को क्रियात्मक रूप दिया। इस समय लास्की ब्रिटिश मजदूर दल का अध्यक्ष था, उसने शान्तिपूर्ण उपायों से ब्रिटेन में समाजवाद स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। इसके बाद ही १९५० में उसका स्वर्गवास हुआ।

राज्य की आज्ञा के पालन की समस्या (Problem of Obedience)—यह राजनीतिक चिन्तन की सबसे पुरानी और मौलिक समस्या है कि प्रजाजनों को राज्य के आदेशों का पालन क्यों और किस हद तक करना चाहिए। इस विषय में कई उत्तर दिए जाते हैं: **पहला** उत्तर धर्मशास्त्रियों का है कि राज्य एक दैवी व्यवस्था है, भगवान् के आदेशों की भाँति राज्य की सभी आज्ञाओं का पालन करना हमारा धार्मिक कर्त्तव्य है। **दूसरा** उत्तर यह है कि राज्य प्रकृति (Nature) द्वारा अथवा बुद्धि द्वारा की गई व्यवस्था है, अतः इसके आदेशों का पालन होना चाहिए। **तीसरा** उत्तर यह है कि मानव-समाज के उषाकाल में हुए एक सामाजिक समझौते (Social Contract) के कारण राज्य की आज्ञा का पालन किया जाता है। **चौथा** उत्तर दण्ड के भय से राज्य के आदेशों का पालन है। **पाँचवाँ** उत्तर उपयोगितावादियों का है कि राज्य के आदेशों का अनुसरण इसलिए किया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति की सुरक्षा और भलाई इस बात पर आधारित है कि राज्य के आदेशों का पालन होता रहे, अन्यथा अव्यवस्था और अराजकता मच जाएगी।

लास्की ने इस समस्या पर गम्भीर विचार किया है। वह व्यक्तियों पर राज्य की सर्वोच्च प्रभुसत्ता के सिद्धान्त में आस्था नहीं रखता, अतः उसके मतानुसार राज्य को अपने प्रजाजनों से पूर्ण राजभक्ति और निष्ठा पाने का अधिकार नहीं है। हमारे समाज में राज्य के अतिरिक्त अन्य अनेक प्रकार के समूह हैं, इनकी इच्छाएँ अलग-अलग प्रकार की हैं। इनमें से राज्य की इच्छा अथवा कानून को सर्वोपरि मानने का कोई विशेष कारण नहीं है। उसके मतानुसार कानून केवल ऐसा उत्तम नियम है जो अच्छे परिणाम उत्पन्न करता है।[1] उसका कानून का यह लक्षण उसके इस सामान्य विश्वास के अनुकूल है कि मनुष्यों के द्वारा अनुसरण किया जाने वाला उत्तम आचरण (Right conduct) वही है जो सर्वोत्तम सम्भव परिणाम (best possible consequences) उत्पन्न करे। लास्की के इस लक्षण में एक बड़ा दोष यह है कि उत्तम (Right) या अच्छे (Good) की व्याख्या करना बहुत कठिन है। व्यावहारिक रूप से शक्तिशाली और सफल कार्य उत्तम समझा जाता है। उदाहरणार्थ, १७७६ में

---

१. डीन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३५

सं० रा० अमेरिका के राज्यों ने इंगलैण्ड की शासन-सत्ता के विरुद्ध तथा १८६१ में सं० रा० अमेरिका के दक्षिणी राज्यों ने अपने संघीय शासन के विरुद्ध विद्रोह किया। इनमें पहला विद्रोह सफल हुआ तथा दूसरा विफल। अतः पहला विद्रोह न्यायोचित था और दूसरा उचित नहीं था। किन्तु सत्-असत् की यह कसौटी विद्रोह का परिणाम जानने के बाद ही लागू की जा सकती है, उससे पहले मनुष्य इस प्रश्न का निर्णय किस प्रकार करे।

इस विषय में अपनी उदारवादी व्यष्टिवादी प्रवृत्ति के कारण लास्की न्यूमैन द्वारा प्रतिपादित इस नैतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है कि "मनुष्य को वही कार्य करना चाहिए जिसे वह नैतिक दृष्टि से ठीक समझता है।"[1] इस सिद्धान्त को राज्य के क्षेत्र में लागू करते हुए वह कहता है कि राज्य व्यक्ति से केवल इसी आधार पर अपनी आज्ञाओं का पालन करवा सकता है कि ऐसा करते हुए प्रत्येक मामले में यह कार्य उसके लिए उत्तम तथा हितकर है। लास्की व्यक्ति द्वारा राजकीय आदेश के पालन को उसी दशा में उचित समझता है जब व्यक्ति को इस बात का निश्चय हो जाए कि राज्य के आदेश का प्रयोजन उसके नैतिक आदर्शों के अनुकूल है। मनुष्य एक नैतिक प्राणी है, उसका लक्ष्य अपना चरम विकास करना है, वह राज्य के सभी आदेशों की परीक्षा अपने अन्तःकरण से इस दृष्टि से करता है कि कौनसे आदेश इसमें सहायक हैं, वह उन्हीं का पालन करता है, इनमें बाधक बनने वाले आदेशों की अवज्ञा करता है। व्यक्ति को राज्य के आदेश का पालन तभी करना चाहिए जब वह उसे नैतिक दृष्टि से समुचित समझता हो।

लास्की के इस सिद्धान्त का **सबसे बड़ा** दोष यह है कि इसमें व्यक्ति को अत्यधिक स्वतन्त्रता देते हुए अराजकता को खुली छूट दे दी गई है। यदि प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता दी जाए कि अपने अन्तःकरण की भावना के प्रतिकूल कानूनों का पालन करना उसके लिए आवश्यक नहीं है तो सब व्यक्ति अपने को पसन्द न आने वाले कानून तोड़ने लगेंगे, कानूनों का पालन करने की भावना लुप्त होने से समाज में अव्यवस्था और अराजकता मच जाएगी, किसी प्रकार का संगठित तथा नियमबद्ध जीवन बिताना असम्भव हो जाएगा। **दूसरा** दोष यह है कि इसमें प्रत्येक व्यक्ति को बौद्धिक और नैतिक दृष्टि से इतना उन्नत मान लिया गया है कि वह राज्य के प्रत्येक कार्य का औचित्य एवं अनौचित्य नैतिक दृष्टि से आँक सकता है। ऐसी क्षमता सब व्यक्तियों में होना सम्भव नहीं है। लास्की सबको आवश्यकता से अधिक बुद्धिमान् मान लेता है। इससे अव्यवस्था और अराजकता का भीषण दोष उत्पन्न होने की सम्भावना है। लास्की इसे स्वीकार करते हुए कहता है कि यदि राज्य का कार्य ठीक है तो कोई व्यक्ति इसका विरोध नहीं करेगा। यदि यह कार्य ठीक नहीं है तो इसका विरोध होना उचित है। इस विषय में अराजकता का तर्क ठीक नहीं है, क्योंकि व्यक्ति के उच्चतम नैतिक विकास का उद्देश्य अराजकता की स्थिति से अधिक महत्वपूर्ण है। यह कई बार क्रान्तियों और विद्रोहों से अधिक अच्छी तरह पूरा होता

---

१. डीन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ३७

है। लास्की के मतानुसार क्रान्ति मुट्ठी-भर षड्यन्त्रकारियों से नहीं होती है, यह सदैव असह्य अन्यायों तथा अत्याचारों को दूर करने के लिए होती है। इससे हमेशा समाज का कल्याण होता है।[1]

अधिकारों का सिद्धान्त—लास्की के मतानुसार व्यक्ति उसी दशा में राज्य के कानूनों का पालन करता है जब यह उसको अपने नैतिक विकास की दृष्टि से उत्तम तथा उत्कृष्ट प्रतीत हो। यह तभी सम्भव है जब नागरिकों के व्यक्तित्वों का विकास करने के लिए राज्य अधिकतम अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करे। उत्तम जीवनयापन के लिए व्यक्ति की क्षमताओं का विकास करने के लिए आवश्यक बाह्य परिस्थितियों को ही 'अधिकार' (Rights) कहते हैं। राज्य का प्रधान प्रयोजन व्यक्ति के लिए अधिकारों या उत्कृष्ट जीवनयापन के लिए अनुकूल परिस्थितियों को बनाए रखना है। प्रमुख अधिकार निम्नलिखित हैं—व्यक्ति को अपना पेट भरने के लिए कार्य पाने का अधिकार, अपनी मेहनत का पूरा पारिश्रमिक पाने का अधिकार, शिक्षा पाने का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, समानता का अधिकार। लास्की के मतानुसार यदि कोई राज्य अपने नागरिकों को ये अधिकार नहीं प्रदान करता तो वे उसके कानूनों तथा आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य नहीं हैं।

लास्की अधिकारों के विषय में हॉब्स, लॉक और बेन्थम के 'अधिकारों के कानूनी सिद्धान्त' (Legal Theory of Rights) का खण्डन करता है। इसके अनुसार अधिकार की यह परिभाषा की जाती है कि अधिकार राज्य द्वारा किसी क्षेत्र में स्वीकार किया जाने वाला व्यक्ति का दावा (Claim) है। इसे राज्य कानून द्वारा स्वीकार और लागू करता है। अतः यह कानूनी सिद्धान्त कहलाता है। यह बड़ा दोषपूर्ण सिद्धान्त है, क्योंकि यह अधिकार के सम्बन्ध में इन मौलिक प्रश्नों पर कोई प्रकाश नहीं डालता है कि राज्य इस दावे को किस कारण से स्वीकार करता है और राज्य क्या वे सभी दावे मानता है जिनको उसे मानना चाहिए। उदाहरणार्थ, राज्य को अपने नागरिकों को यह अधिकार अवश्य देना चाहिए कि वे आजीविका के लिए काम प्राप्त कर सकें। किन्तु अभी तक सोवियत संघ के अतिरिक्त बहुत कम राज्यों ने व्यक्ति के इस अधिकार को स्वीकार किया है। लॉक ने तथा उसके अनुयायियों ने पहले प्रश्न का यह उत्तर दिया है कि सुदूर स्वर्णिम अतीतकाल में मनुष्य सभी अधिकारों का उपभोग करता था, बाद में मात्स्य न्याय अथवा 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का नियम प्रबल होने के कारण शक्तिशाली व्यक्तियों ने निर्बल लोगों से अधिकार छीन लिए। राज्य का प्रादुर्भाव इन अधिकारों को दिलाने के लिए हुआ है। किन्तु आरम्भिक स्थिति के सर्वथा काल्पनिक होने के कारण यह उत्तर सन्तोषजनक नहीं है। इस विषय में लास्की का उत्तर समीचीन जान पड़ता है। उसका यह कहना है कि "अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियाँ हैं जिनके बिना मनुष्य अपना सर्वोत्तम विकास नहीं कर सकता है।" अधिकार मनुष्य को इसलिए मिलने चाहिएँ कि वह इनसे अपना विकास कर सके। यदि उसे आजीविका कमाने का, समानता

---

१. डीन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४२

का, वैयक्तिक स्वाधीनता और विचारों के अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता का, शिक्षा पाने का अधिकार न मिले तो वह अपना विकास नहीं कर सकता, अतः उसे ये अधिकार मिलने चाहिएँ।

लास्की का मूल्यांकन—राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में लास्की के स्थान के सम्बन्ध में उग्र मतभेद है। एक ओर उसके जीवनी-लेखक किंगस्ली मार्टिन (Kingsley Martin) ने उसे एक महान् शिक्षक, विद्वान् तथा ऐसा विलक्षण प्रतिभाशाली राजनीतिक विचारक माना है जो १९३० से ४० तक इस क्षेत्र में सर्वोच्च बना रहा, जिसकी तुलना में लोकतन्त्रीय विचारों और संस्थाओं का अधिक गम्भीर ज्ञान रखने वाला कोई विचारक सत्रहवीं शताब्दी के बाद से उत्पन्न नहीं हुआ था। दूसरी ओर इसके विचारों का गम्भीर अध्ययन करने वाले हर्बर्ट डीन ने इससे सर्वथा विपरीत मूल्यांकन करते हुए कहा है कि उसने राजनीतिक विचारक या विद्वान् के रूप में कभी वैसा यश और कीर्ति नहीं प्राप्त की जैसी उसकी आरम्भिक रचनाओं से आशा की जा रही थी। शुरू में इसकी रचनाओं में होनहारपन के लक्षण थे, किन्तु वे बाद में पूरे नहीं हुए। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' वाली कहावत इसमें घटित नहीं हुई। १९३० के बाद उसकी बौद्धिक शक्तियों का चरम विकास अवरुद्ध होने लगा, वह गम्भीर विचारक के स्थान पर कुछ विशेष सिद्धान्तों का प्रचारक और लेखक बन गया। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अपने जीवन के पिछले २० वर्षों में उसने अपने अध्यापन द्वारा सैकड़ों विद्यार्थियों के मस्तिष्कों पर प्रभाव डाला, उनकी कल्पनाओं को उद्दीप्त किया, द्वितीय विश्वयुद्ध के क्रान्तिकारी स्वरूप को प्रकट किया, उसकी अध्यक्षता में मजदूर दल ने भारत तथा पाकिस्तान को स्वतन्त्रता प्रदान की। उसने वर्तमान शताब्दी के पूर्वार्द्ध में व्यक्ति की स्वतन्त्रता और राज्य की प्रभुसत्ता की समस्याओं को बड़े स्पष्ट तथा उग्र रूप में प्रस्तुत किया। किन्तु इन सब बातों के होते हुए भी, उसमें एक उच्चकोटि के दार्शनिक की भाँति विचारों की उच्चता, गम्भीरता एवं तटस्थभाव नहीं था, अतः उसे प्रथम कोटि के विचारकों में स्थान देना कठिन है। उसके भक्त जीवनी-लेखक मार्टिन की अपेक्षा उसके निष्पक्ष आलोचक श्री हर्बर्ट डीन का उपर्युक्त मूल्यांकन अधिक सही प्रतीत होता है। डीन के मतानुसार इसका प्रधान कारण लास्की का अपनी विलक्षण शक्तियों को चिन्तन के क्षेत्र में ही केन्द्रित न करके विभिन्न क्षेत्रों में लगा देना था।[1] यदि यह शक्ति एक ही क्षेत्र में लगी रहती तो अपने होनहारपन तथा विलक्षण चमक को अवश्य प्रदर्शित करती। एक अन्य आधुनिक आलोचक डॉ० शर्मा के मतानुसार लास्की में विभिन्न विरोधी विचारधाराओं—सन्देहवाद, आदर्शवाद, बहुलवाद, व्यवहारवाद (Pragmatism), उपयोगितावाद, व्यक्तिवाद और उदारवाद—का ऐसा संघर्ष बना रहा कि वह इन असंगत और विरोधी तत्वों से उच्चकोटि के एक नवीन राजनीतिक दर्शन का निर्माण करने में समर्थ नहीं हो सका।[2]

---

१. हर्बर्ट डीन—दी पोलिटिकल आइडियाज़ आफ हेरल्ड जे० लास्की, पृ० ३३३-३४
२. जी० एन० शर्मा—दी पोलिटिकल थाट आफ हेरल्ड जे० लास्की, पृ० १३३

कोल

कोल : जीवन तथा कृतियाँ—लास्की का समकालीन विचारक कोल (२५ सितम्बर १८८६—१४ जनवरी १९५९) २२ वर्ष की आयु में ही अपनी प्रतिभा और योग्यता से ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में फैलो (Fellow) बना और चालीस वर्ष तक यहाँ सामाजिक और राजनीतिक सिद्धान्तों का प्राध्यापक बना रहा। विद्यार्थी जीवन में उसने फेबियन आन्दोलन में गहरी दिलचस्पी ली, वह इस सोसायटी का सदस्य था, उसने इसका अनुसन्धान विभाग संगठित करने में बहुत भाग लिया। किन्तु यहाँ शीघ्र ही सिडनी वैब से उसका सैद्धान्तिक मतभेद बढ़ने लगा। अन्त में उसने फेबियन सोसायटी से त्यागपत्र देकर श्रेणी समाजवाद के सिद्धान्तों (पृ० ४७०) का प्रचार और प्रसार आरम्भ किया। किन्तु बारह वर्ष बाद १९२५ तक श्रेणी-समाजवाद के सिद्धान्तों की विफलता स्पष्ट होने लगी। इसी बीच में सिडनी वैब के विचारों में भी कुछ परिवर्तन आया, दोनों का उग्र विरोध कम होने लगा। कोल ने पुनःसंगठित की गई फेबियन सोसायटी की सदस्यता स्वीकार की और २५ वर्ष तक वह इसमें कार्य करता रहा। १९५२ में वह पुनःसंगठित फेबियन सोसायटी का सभापति बना। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री रैम्ज़े मैकडानल्ड ने कोल को आर्थिक परामर्शदात्री समिति का सदस्य बनाया। इससे उसे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्रीय समस्याओं के समझने का बहुमूल्य अवसर मिला। किन्तु कोल की प्रधान रुचि अपने छात्रों को पढ़ाने में तथा ग्रन्थ लिखने में थी। लास्की की भाँति वह अपने छात्रों में बहुत लोकप्रिय था; वह सदैव उन्हें गम्भीर अध्ययन और अनुसन्धान की प्रेरणा दिया करता था।

कृतियाँ—कोल बहुत अधिक लिखने वाला था। उसने विभिन्न प्रकार के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और ऐतिहासिक विषयों पर अपनी लेखनी बड़ी सफलता से चलाई है। उसकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं—'सामाजिक सिद्धान्त' (Social Theory), 'श्रेणी समाजवाद का पुनःप्रतिपादन' (Guild Socialism Restated), 'युद्धोत्तर विश्व में बुद्धिमान् पुरुष की पथ-प्रदर्शक पुस्तक' (Intelligent Man's Guide to the Postwar World), 'योरोप की समीक्षा' (A Review of Europe), 'युद्धोत्तर विश्व में ग्रेट ब्रिटेन' (Great Britain in Postwar World), 'विश्व की अव्यवस्था में बुद्धिमान् पुरुष की पथ-प्रदर्शक पुस्तक' (Intelligent Man's Guide through World Chacs), 'आर्थिक नियोजन के सिद्धान्त' (Principles of Economic Planning), 'फेबियन समाजवाद' (Fabian Socialism), 'सामाजिक सिद्धान्त-विषयक निबन्ध' (Essays in Social Theory)। उसकी अन्तिम महान् कृति चार खण्डों में 'समाजवादी विचारधारा का इतिहास' (History of Socialist Thought) है। उसके इतिहासविषयक अन्य ग्रन्थ 'काबेट की जीवनी' (Life of Cobbet) तथा 'मजदूर वर्ग के आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास' (A Short History of the Working Class Movement) हैं। कोल की सभी रचनाएँ अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की हैं। कोल के प्रमुख राजनीतिक विचारों का पहले

(पृ० ४७९) विस्तृत प्रतिपादन किया जा चुका है, अतः यहाँ इनका संक्षिप्त उल्लेख मात्र किया जाएगा।

कोल के विचार : सामाजिक सिद्धान्त—प्रायः समाज को तथा राज्य को व्यक्तियों का समूह समझा जाता है और राज्य को समाज में सर्वोच्च संगठन माना जाता है। कोल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **'सामाजिक सिद्धान्त'** में इन दोनों धारणाओं का खण्डन किया है। समाज व्यक्तियों का समूह नहीं, अपितु परिवार, विद्यालय, चर्च, क्लब तथा विभिन्न प्रकार का कार्य करने वाले विविध शैक्षणिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक समुदायों का समूह है। मनुष्य परिवार में पैदा होता है, शनैः-शनैः अपना विकास करते हुए विभिन्न संगठनों का सदस्य बनता है। इनमें कुछ ऐच्छिक (Voluntary) तथा कुछ अनैच्छिक (Involuntary) संगठन होते हैं। वह अपनी इच्छा से जिन संगठनों में सम्मिलित होता है, वे ऐच्छिक संगठन कहलाते हैं, जैसे विभिन्न राजनीतिक दल, धार्मिक सम्प्रदाय, विद्यालय, महाविद्यालय, मनोविनोद के क्लब, विभिन्न पेशों के संगठन। इन सब में वह अपनी इच्छा से अपने समान रुचियाँ रखने वाले व्यक्तियों के संगठन में सम्मिलित होता है, यदि उसे यह संगठन पसन्द नहीं है तो वह इसे छोड़ भी सकता है। किन्तु कुछ संगठनों में सम्मिलित होना हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं है। परिवार और राज्य ऐसे संगठन हैं जिनमें जन्म से ही हम सम्मिलित होते हैं। हम किस राज्य या परिवार में जन्म लें, यह हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं होता है।

उपर्युक्त विवरण से कई बातें स्पष्ट होती हैं : **पहली** बात समाज में विभिन्न समुदायों या समूहों की सत्ता है। **दूसरी** बात यह है कि ये सभी समूह अपना विशेष कार्य करने के लिए बनाए जाते हैं। परिवार का कार्य बच्चों का पालन-पोषण है, विद्यालय का शिक्षा देना, धार्मिक सम्प्रदाय का धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना। **तीसरी** बात यह है कि राज्य को इन सबमें सर्वोपरि समूह या संगठन नहीं माना जा सकता है, वह अन्य समूहों की भाँति कुछ विशेष कार्य करने के लिए बनाया गया है। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि उसने अपनी पुस्तक का नाम 'सामाजिक सिद्धान्त' जान-बूझकर रखा है, क्योंकि उसका यह कहना है कि हमें अपने अध्ययन का क्षेत्र राज्य के राजनीतिक कार्यकलापों तक सीमित न रखकर समाज में विद्यमान सभी समूहों के कार्यों तक विस्तीर्ण करना चाहिए, तभी हम समाज के समग्र रूप को अधिक अच्छी तरह समझ सकेंगे।

प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त—पहले (पृ० ४७५) यह बताया जा चुका है कि श्रेणी समाजवादी और बहुलवादी विचारक वर्तमान लोकतन्त्र-प्रणाली में प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों (Territorial Constituencies) के आधार पर होने वाले चुनावों के तथा प्रतिनिधित्व (Representation) के सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखते हैं, वे इस व्यवस्था के कटु आलोचक हैं (पृ० ४७५)। कोल भी इसी मत का है। उसका कहना है कि प्रजातन्त्र का मौलिक तत्व एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति और प्रेम रखना है। यह एक-दूसरे के साथ निकट एवं घनिष्ठ सम्पर्क रखते हुए ही सम्भव है। अतः बड़े-बड़े राज्यों में यह सम्भव नहीं है कि प्रतिनिधि अपने निर्वाचकों से कोई सीधा

सम्पर्क रख सकें, इसके अभाव में सच्चा लोकतन्त्र कभी नहीं स्थापित हो सकता है। अतः कोल इसे सफल बनाने के लिए छोटे-छोटे समूहों या संघों पर बल देता है। वह प्रादेशिक प्रतिनिधित्व (Territorial representation) के स्थान पर व्यवसायात्मक प्रतिनिधित्व (Functional representatian) की सिफारिश करता है।

राज्यविषयक सिद्धान्त : बहुलवाद तथा श्रेणी समाजवाद—पहले कोल के श्रेणी समाजवाद का प्रतिपादन और आलोचना की जा चुकी है (पृ० ४८४)। कोल के राज्यविषयक सिद्धान्त की **पहली** विशेषता यह है कि वह इसे समाज में सर्वोपरि और सर्वोच्च संस्था न मानकर, विशेष राजनीतिक कार्य एवं प्रयोजन पूर्ण करने वाली संस्था स्वीकार करता है। इसका यह अभिप्राय है कि मनुष्य जैसे अन्य समुदायों और समूहों में अपने सामान्य उद्देश्य पूर्ण करने की दृष्टि से सम्मिलित होते हैं, उसी प्रकार इसमें भी स्वयमेव अपने राजनीतिक उद्देश्य पूरे करने के लिए संगठित होते हैं। इससे राज्य की एक **दूसरी** विशेषता सूचित होती है कि राज्य का आधार शक्ति या बल-प्रयोग नहीं, अपितु प्रजाजनों की अपनी इच्छा है। वे इससे लाभ उठाने की दृष्टि से इसमें सम्मिलित होते हैं। यह राज्य के सम्बन्ध में सामान्य रूप से माने जाने वाले इस सिद्धान्त के विरुद्ध है कि राज्य कोरे पाशविक बल पर टिका होता है। **तीसरी** विशेषता यह है कि राज्य में प्रभुसत्ता (Sovereignty) निहित नहीं है तथा वह अन्य समुदायों पर असाधारण अधिकार नहीं रखता है। प्रत्येक समुदाय अपने सदस्यों की इच्छा पर आधारित होता है अतः प्रत्येक अपने कार्यों के क्षेत्र में प्रभुसत्तासम्पन्न होता है। यदि यह स्थिति ठीक मान ली जाए तो राज्य को अन्य समुदायों के ऊपर प्रभुसत्ता देना तथा उन्हें इसका वशवर्ती बनाना उचित है। वस्तुतः सब संगठन समानता का दर्जा और प्रभुसत्ता रखते हैं। इनमें केवल राज्य को अन्य संगठनों पर प्रभुसत्ता का प्रयोग करने का अधिकार देना नितान्त अनुचित है।

चौथी विशेषता राज्य के कार्यों में असाधारण वृद्धि को रोककर इन्हें अन्य समुदायों को सौंपना उचित है। पिछले पचास-साठ वर्षों में राज्य के कार्यों में निरन्तर वृद्धि हो रही है। राज्य 'कारखाना कानून' बनाता है, मजदूरी की दरों को तथा काम के घण्टों को निश्चित करता है, औद्योगिक विवादों का निर्णय करता है, कर लगाकर समाज में आर्थिक विषमता दूर करता है, विदेशी राज्यों के साथ युद्ध करता है, शान्तिकाल में वैदेशिक सम्बन्ध स्थापित करता है। राज्य का एक प्रधान कार्य इसमें विद्यमान विभिन्न समुदायों के कार्यों में समन्वय करना, तालमेल बिठाना, विरोध एवं संघर्ष को कम करना है। कोल राज्य के कार्यों में इस वृद्धि को भयावह एवं अवांछनीय समझता है। उसकी दृष्टि में राज्य को थोड़े से ही ऐसे कार्य करने चाहिएँ जिनका सब लोगों पर एक जैसा प्रभाव पड़ता हो। अतः उसे विभिन्न समुदायों के कार्यों में समन्वय करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, क्योंकि इनका प्रभाव सब समुदायों के लिए एक जैसा नहीं होता है। यही दशा उत्पादन (Production) सम्बन्धी कार्यों की है, अतः इनका संचालन भी राज्य को नहीं करना चाहिए। किन्तु उपभोग (Consumption) की वस्तुएँ सब प्रजाजनों के लिए समान रूप से आवश्यक हैं; अतः इनका नियन्त्रण राज्य के द्वारा होना चाहिए।

इस प्रकार कोल ने राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में बड़े क्रान्तिकारी विचार प्रकट किए हैं। राज्य को उत्पादन का तथा विभिन्न समुदायों के समन्वय का कोई कार्य नहीं करना चाहिए। इसे किसी भी रूप में अन्य समुदायों से श्रेष्ठ और प्रभुसत्तासम्पन्न संगठन नहीं समझा जाना चाहिए। किन्तु इस स्थिति में एक बड़ा खतरा यह है कि यदि सभी संगठन स्वतन्त्र और प्रभुसत्तासम्पन्न हो जाएँ, इनको अनुशासन तथा नियन्त्रण में रखने वाला तथा इनके पारस्परिक संघर्षों का समाधान करने वाला राज्य जैसा कोई सर्वोपरि संगठन न माना जाए तो समाज में कलह और विवाद बहुत बड़ी मात्रा में बढ़ जाएँगे। इन्हें रोकने के लिए कोल ने कम्यून अथवा विभिन्न समुदायों द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों के एक महासंघ को बनाने का प्रस्ताव किया है (देखिए ऊपर पृ० ४८१)। इस कम्यून में स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय स्तरों पर उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि होंगे। पहले (पृ० ४८४) इस पद्धति की आलोचना की चुकी है, यहाँ उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

कोल के राज्यविषयक सिद्धान्त में कई गम्भीर दोष हैं : **पहला** दोष तो यह है कि राज्य किसी भी तरह से अन्य समुदायों का समकक्ष अथवा उनसे समानता रखने वाला संगठन नहीं हो सकता है। इस विषय में अरस्तू का यह कहना सर्वथा सत्य है कि राज्य सर्वोच्च संगठन है, अन्य समुदाय तथा समूह इसके भीतर रहते हुए ही अपने कार्यों को सुचारु रूप से कर सकते हैं। **दूसरा** दोष यह है कि यदि विभिन्न समुदायों पर राज्य के अंकुश तथा नियन्त्रण को हटाकर इन्हें समान और स्वतन्त्र बना दिया जाए तो सभी समुदाय अपने स्वार्थों की सिद्धि में सार्वजनिक हितों की कोई परवाह न करेंगे। इससे समाज में अराजकता और अव्यवस्था का साम्राज्य स्थापित हो जाएगा।

समाजवाद—कोल अपने विद्यार्थी-जीवन में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में फेबियन समाजवाद का उपासक था। पहले (पृ० ६२१) बताया जा चुका है कि शीघ्र ही उसके विचारों में परिवर्तन आया, वह इसका उग्र विरोधी होकर श्रेणी समाजवाद (Guild Socialism) का समर्थन करने लगा। ऐसा करने का यह कारण था कि उसके मतानुसार सिडनी वैब का राजकीय समाजवाद (State Socialism) पूँजीवाद के सबसे बड़े दोष—मजदूरों की दासता को दूर नहीं कर सकता था (पृ० ४७४-७५); यह केवल श्रेणी समाजवाद द्वारा प्रतिपादित 'उद्योगों के संचालन में स्वशासन की व्यवस्था' (Self-Government) से ही स्थापित हो सकता था। राज्य द्वारा समाजवाद की स्थापना का वह इसलिए भी विरोधी था कि इससे उद्योगों का संचालन करने वाले सरकारी अफसरों की नौकरशाही स्थापित हो जाएगी और मजदूरों की दशा में कुछ भी सुधार न होगा।

कोल किसी समाज के समाजवादी होने के लिए उसमें कई विशेषताओं का होना आवश्यक समझता है : **पहली** विशेषता इसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार प्रकट करने, भाषण देने, इच्छानुसार अपना पेशा चुनने की पूरी स्वतन्त्रता का अधिकार होना चाहिए। **दूसरी** विशेषता यह है कि इसमें इस बात पर बल दिया जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्तियों का प्रयोग इस दृष्टि से ही करना चाहिए कि इससे

समाज के कल्याण में वृद्धि हो और वह समाज पर भार बनकर न रहे। **तीसरी** विशेषता ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाली जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना तथा उनके भौतिक जीवन को समृद्ध बनाना है। **चौथी** विशेषता उन्हें वैयक्तिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता प्रदान करना था। **पाँचवीं** विशेषता समाजवाद का एक नैतिक आन्दोलन होना है। यह केवल पेट भरने तथा तन ढँकने के लिए सबको समान मात्रा में भौतिक आवश्यकताओं की वस्तुएँ प्रदान करने तक सीमित नहीं है, यह ऐसी अर्थव्यवस्था भी नहीं है जिसमें राज्य विभिन्न उद्योगों का संचालन करता है ; अपितु यह ऐसी नैतिक व्यवस्था है जिसमें सब मनुष्यों की समानता पर और भ्रातृभाव के सिद्धान्तों पर बल दिया जाता है। उत्पादन के साधनों पर राज्य का अधिकार इसलिए होना चाहिए कि समाज में कोई दीन-हीन, दुःखी, भूखा-नंगा, अनाथ या असहाय होकर न रहे; पददलित वर्ग का परित्राण हो; दुखियों के आँसू पोंछे जाएँ; समाज से दैन्य और शोषण की अत्याचारपूर्ण व्यवस्था का अन्त हो। समाजवाद अपने-आपमें कोई लक्ष्य नहीं है, अपितु वह इन उदात्त भावनाओं को पूर्ण रूप देने का साधन मात्र है।

समाजवाद के बीसियों रूप प्रचलित हैं। इनमें से कोल का स्वाभाविक झुकाव श्रेणी-समाजवाद (Guild Socialism) की ओर था, क्योंकि केवल इसी से राजनीतिक लोकतन्त्र के साथ-साथ औद्योगिक लोकतन्त्र (Industrial Democracy) स्थापित किया जा सकता है (पृ० ४७५) तथा सत्ता का विकेन्द्रीकरण करके, इसे अधिक-से-अधिक समूहों तथा व्यक्तियों में बाँटकर, केन्द्रीकरण (Centralisation) के दुष्परिणामों को रोका जा सकता है। इसके साथ ही उसका यह भी विश्वास था कि सब देशों की परिस्थितियाँ विभिन्न प्रकार की हैं। इन सबके लिए समाजवाद का कोई एक रूप सामान्यतः उपयुक्त नहीं हो सकता है। प्रत्येक देश को अपनी परिस्थितियों के अनुसार समाजवाद का विकास करना चाहिए। विभिन्न देशों की समाजवाद-विषयक समस्याओं पर विचार करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी संगठन होना चाहिए। समाजवाद को सभी देशों में फैलाने का प्रयास किया जाना चाहिए, क्योंकि पूँजीपति देशों से घिरे हुए किसी एक देश में स्थापित किया गया समाजवाद सुदृढ़ नहीं हो सकता है। अतः उसने समाजवाद को एक प्रबल अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन बनाने का प्रयत्न किया, इसीलिए कोल को अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी (International Socialist) कहा जाता है।

साम्यवाद—समाजवादी होते हुए भी कोल इसके रूस में प्रचलित रूप साम्यवाद (Communism) में विश्वास नहीं रखता था। वह दो कारणों से इसका विरोधी था : **पहला** कारण व्यक्ति के अधिकारों पर बल देने वाली तथा उसे महत्वपूर्ण मानने वाली उदारवाद (Liberalism) की विचारधारा थी। इसके अनुसार राज्य का लक्ष्य व्यक्ति का विकास करना तथा उसके हितों की रक्षा करना है। साम्यवाद में इसका कोई स्थान नहीं है। वहाँ व्यक्ति के स्थान पर वर्गों (Classes) को महत्व दिया जाता है। साम्यवादी सर्वहारा वर्ग (Proletariat) के शत्रुओं का क्रूरतापूर्वक दमन करने में तनिक भी संकोच नहीं करते हैं, मानव के रूप में उनके कोई अधिकार

स्वीकार नहीं करते हैं। कोल के मतानुसार मानव होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति के कुछ मौलिक अधिकार हैं, भले ही वह किसी भी घृणित समझे जाने वाले वर्ग या जाति का व्यक्ति क्यों न हो। **दूसरा** कारण लोकतन्त्रीय केन्द्रीयतावाद (Democratic Centralism) का सिद्धान्त है। इसका यह अभिप्राय है कि पार्टी की केन्द्रीय समिति द्वारा किया गया निर्णय सब सदस्यों को मानना चाहिए, उन्हें इसका विरोध करने का कोई अधिकार नहीं है (देखिए ऊपर पृ० ३८५)। यदि इस सिद्धान्त का यह आशय हो कि पार्टी के सब सदस्यों द्वारा स्वतन्त्र रूप में अच्छी तरह वाद-विवाद करने के बाद और सबको अपने विचार प्रकट करने का पूरा अवसर देने के पश्चात् किए गए निर्णयों का सब सदस्यों द्वारा पालन किया जाना चाहिए तो इस सिद्धान्त में कोई दोष नहीं है; किन्तु रूस में, व्यावहारिक रूप में, स्तालिन के समय में इसका यह आशय था कि पार्टी के सब सदस्य आँख मूँदकर केन्द्रीय समिति के आदेशों का पालन करें, केन्द्रीय समिति स्तालिन के संकेतों और आदेशों पर सब निर्णय करती थी। अतः इस सिद्धान्त का अर्थ स्तालिन का निरंकुश और तानाशाही शासन था, उसमें रूसी जनता पर जो भीषण अत्याचार हुए उनकी चर्चा पहले की जा चुकी है (पृ० ३९५)। कोल किसी भी ऐसे सिद्धान्त का विरोधी था जो व्यक्ति की सुरक्षा और स्वतन्त्रता को उससे छीनने वाला है। साम्यवाद के विरोध का **तीसरा** कारण इस पद्धति में स्तालिन आदि मुट्ठी-भर व्यक्तियों के हाथों में शक्ति का केन्द्रीकरण (Centralisation of Power) था। पहले (पृ० ४७८-८०) बताया जा चुका है कि केन्द्रीकरण के दोषों को दूर करने के लिए कोल श्रेणी-समाजवाद में प्रभुसत्ता को अधिक-से-अधिक समूहों में बाँटने की व्यवस्था करता है।

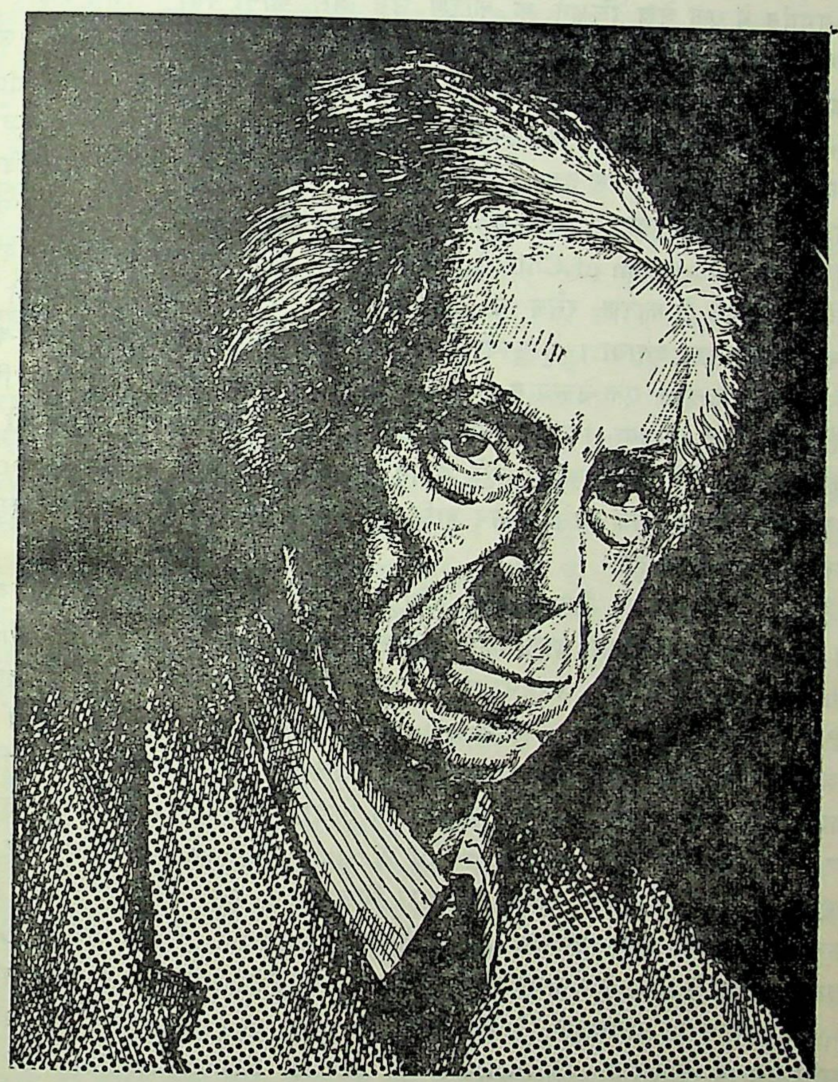
महत्व और मूल्यांकन—श्रेणी समाजवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित करने वालों में तथा इसे व्यावहारिक रूप देने का भगीरथ प्रयास करने वालों में कोल का स्थान बहुत ऊँचा है। किन्तु उसके सिद्धान्तों में गम्भीर दोष हैं (पृ० ४८४), वे सर्वथा अव्यावहारिक हैं, क्योंकि राज्य को अन्य समूहों की अपेक्षा कोई विशेष अधिकार या प्रभुसत्ता तथा सब समुदायों के कार्यों के समन्वय करने का अधिकार नहीं देते हैं; वे सिद्धान्त समाज में अराजकतापूर्ण परिस्थितियाँ उत्पन्न करने वाले हैं। फिर भी, कोल ने अपने सिद्धान्तों में नैतिकता के तत्व पर जो बल दिया है वह वस्तुतः महत्वपूर्ण है। उसके मतानुसार समाजवाद कोई आर्थिक आन्दोलन नहीं है, अपितु मनुष्य को उसके स्वाभाविक अधिकार प्रदान कराने वाला नैतिक आन्दोलन है। इस दृष्टि से उसकी तुलना गांधी जी जैसे सन्त विचारकों से की जा सकती है। नैतिक पक्ष पर बल देने के कारण ही किंगस्ली मार्टिन ने कोल को सांसारिक सन्त (Secular Saint) की उपाधि दी है।

बर्ट्रेण्ड रसेल

जीवन—रसेल वर्तमान समय के अत्यधिक मौलिक चिन्तन करने वाले दार्शनिकों में गिना जाता है।[1] इसका जन्म इंगलैण्ड के एक सुप्रसिद्ध महान् प्राचीन कुल

१. एबेन्स्टाइन—माडर्न पोलिटिकल थाट, पृ० ३

में हुआ था। इसका दादा १८३२ के सुधार कानून का, स्वतन्त्र व्यापार का तथा सभी क्षेत्रों में स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक था। वह कुछ समय तक ब्रिटेन का प्रधानमन्त्री रहा था। बर्ट्रेण्ड रसेल का जन्म १८ मई १८७२ को हुआ। दो वर्ष की आयु में उसकी माता तथा तीन वर्ष की आयु में उसके पिता स्वर्गवासी हुए, अतः उसका पालन-पोषण उसकी अत्यन्त धर्मनिष्ठ दादी ने किया। १८ वर्ष की आयु में वह



बर्ट्रेण्ड रसेल

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुआ। उसने गणितशास्त्र में तथा दर्शन में प्रथम श्रेणी में सम्मान सहित उपाधि प्राप्त की। १९०३ में उसकी पहली पुस्तक **गणितशास्त्र के सिद्धान्त** (Principles of Mathematics) प्रकाशित हुई। १९१० में वह कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में व्याख्याता बना। प्रथम विश्वयुद्ध आरम्भ होने पर, अपने युद्ध-विरोधी उग्र विचारों के कारण १९१४ में उसे अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ा,

क्योंकि उसने अपने अन्तःकरण की आवाज के आधार पर सैनिक आदेशों का उल्लंघन करने वाले (Conscientious Objector) तथा दो वर्ष के लिए दण्डित किए जाने वाले एक व्यक्ति के समर्थन में एक पुस्तिका लिखी थी। इस कारण उसे भी दण्डित होना पड़ा था। इसी समय अमेरिका के सुप्रसिद्ध हार्वर्ड विश्वविद्यालय ने उसे अपने यहाँ बुलाया, किन्तु ब्रिटिश सरकार ने उसे पासपोर्ट नहीं दिया। १९१८ में शान्तिवाद के समर्थन में एक लेख लिखने के कारण उसे जेल जाना पड़ा। जिस प्रकार श्री लोकमान्य तिलक ने मांडले की अपनी जेलयात्रा में 'गीता रहस्य' लिखा था, उसी प्रकार रसेल ने अपने कारावास में **गणितशास्त्रीय दर्शन की प्रवेशिका** (Introduction to Mathematical Philosophy) नामक ग्रन्थ लिखा। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद उसने बोल्शेविक रूस तथा चीन की यात्राएँ कीं। इसके बाद उसने 'बोल्शेविज़्म का सिद्धान्त और व्यवहार' (Theory and Practice of Bolshevism) तथा 'चीन की समस्या' (Problem of China) नामक पुस्तकें प्रकाशित कीं। कोई निश्चित नौकरी न रहने के कारण रसेल ने लेखन-कार्य को तथा विशेष व्याख्यान देने को अपनी आजीविका बनाया। मृत्युपर्यन्त ९८ वर्ष की अवस्था तक उनका लेखन-कार्य जारी रहा, उन्होंने एक उपन्यास के माध्यम से तीसरे विश्वयुद्ध का काल्पनिक चित्र खींचते हुए यह बताया कि उस समय तक विज्ञान की इतनी उन्नति हो जाएगी कि यह हाड़-माँस वाले सिपाहियों से नहीं, अपितु यन्त्रचालित मशीनी मानवों (Robots) द्वारा लड़ा जाएगा और इससे मानव-जाति की अपार क्षति होगी। उनकी मृत्यु ३ फरवरी १९७० को हुई।

कृतियाँ—रसेल जैसे उत्कृष्ट और प्रचुर मात्रा में लिखने वाले व्यक्ति बहुत ही कम मिलेंगे। **जीवित दार्शनिकों के पुस्तकालय** (Library of Living Great Philosophers) नामक ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुए 'बर्ट्रेण्ड रसेल के दर्शन' (Philosophy of Bertrand Russel) में उसके लेखों तथा ग्रन्थों की सूची ५४ पृष्ठों में छपी है। उसने गणितशास्त्र, दर्शन, राजनीति, समाजशास्त्र आदि विभिन्न विषयों पर उत्कृष्ट कोटि के ग्रन्थों का प्रणयन किया है। पश्चिमी दर्शन के इतिहास पर उसकी सुप्रसिद्ध कृति 'A History of Western Philosophy' है, इस पर उसे १९५० में साहित्यविषयक नोबल पुरस्कार मिला था। इसी विषय का सचित्र और आकर्षक विवरण उसने **पश्चिम की बुद्धिमत्ता** (Wisdom of the West, 1950) नामक पुस्तक में दिया है। राजनीतिशास्त्र पर उसकी कुछ प्रसिद्ध पुस्तकें निम्नलिखित हैं—'युद्ध, भय का मानसपुत्र' (War, the Offspring of Fear, 1915), 'सामाजिक पुनर्निर्माण के सिद्धान्त' (Principles of Social Reconstruction, 1916), 'स्वतन्त्रताप्राप्ति के मार्ग' (Roads to Freedom, 1918), 'बोल्शेविज़्म का सिद्धान्त और व्यवहार' (The Theory and Practice of Bolshevism, 1920), 'चीन की समस्या' (The Problem of China, 1922), 'स्वतन्त्रता और संगठन' (Freedom and Organisation, 1934), 'शक्ति, एक नवीन सामाजिक विश्लेषण' (Power, a New Social Analysis, 1938), 'पश्चिमी दर्शन का इतिहास' (A History of Western Philosophy, 1945), 'सत्ता और व्यक्ति' (Authority and the

Individual, 1949), 'सामान्य बुद्धि और अणुयुद्ध' (Common Sense and Nuclear War, 1958)। रसेल के प्रमुख विचार निम्नलिखित हैं—

युद्ध का विरोध—रसेल युद्ध का विरोधी है। उसने सदैव प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्धों में इनका दृढ़तापूर्वक विरोध करते हुए जेल आदि की यातनाओं का सहर्ष वरण किया। द्वितीय विश्वयुद्ध में अणुबम गिराए जाने के बाद उसने कहा था कि "इस वैज्ञानिक बर्बरता को आगे नहीं बढ़ने देना चाहिए"। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद वह अणु-परीक्षणों का घोर विरोधी रहा है। १९६२ में भारत पर चीन का आक्रमण होने पर उसने युद्ध के प्रति घोर घृणा के कारण तथा शान्ति स्थापित करने की दृष्टि से भारत को चीन का प्रस्ताव मानने को कहा था। वह युद्ध को सबसे बड़ी मुसीबत मानता है, उसे इस बात पर आश्चर्य है कि मनुष्यों ने सभ्यता को भीषण हानि पहुँचाने वाले इस युद्ध को अभी तक बन्द क्यों नहीं किया है। उसके मतानुसार युद्धों का प्रेरक कारण विभिन्न सरकारों की महत्वाकांक्षाएँ तथा कुछ जातियों का दुष्ट स्वभाव नहीं है, अपितु मनुष्य की कुछ मनोभावनाएँ तथा मनोवेग (Impulses) हैं।

रसेल ने इन मनोभावनाओं को दो वर्गों में बाँटा है—**संग्रहात्मक**(Possessive) तथा **सृजनात्मक** (Creative)। संग्रहात्मक मनोभावनाएँ मनुष्य को अधिक-से-अधिक धन, सम्पत्ति, भूमि तथा भौतिक वस्तुओं का संचय करने के लिए प्रेरित करती हैं। चूँकि संसार में भौतिक वस्तुओं की मात्रा सीमित है, अतः मनुष्य दूसरों से छीनकर ही इन वस्तुओं में वृद्धि कर सकता है। जब मनुष्य अधिक-से-अधिक वस्तुओं पर अपना अनन्य या एकमात्र स्वामित्व स्थापित करता है, तो इसके परिणामस्वरूप लड़ाइयाँ होती हैं। मनुष्य शक्ति एवं सत्ता को पाने तथा सदैव उसे अपने हाथों में बनाए रखने के लिए भीषण संघर्ष करते हैं। युद्ध संग्रहात्मक मनोवृत्तियों का परिणाम है।

दूसरे प्रकार की मनोभावनाएँ सृजनात्मक (Creative) होती हैं। इनका सम्बन्ध कला और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों से है। इनमें वैयक्तिक स्वामित्व की भावना नहीं होती है, इनका आनन्द सभी व्यक्ति सामान्य रूप से उठा सकते हैं। उदाहरणार्थ, कालिदास के अथवा शेक्सपीयर के नाटकों को लीजिए, इनका रसास्वादन करके प्रत्येक सहृदय काव्य-मर्मज्ञ अलौकिक आनन्द का अनुभव कर सकता है। कवि, चित्रकार, नाटककार न केवल अपनी कलात्मक कृतियों का सृजन करके स्वयमेव आनन्द प्राप्त करते हैं, अपितु अन्य सभी व्यक्तियों को भी इसे प्राप्त करने का अवसर प्रदान करते हैं। इनसे किसी प्रकार के संघर्ष या युद्ध का जन्म नहीं होता है, अपितु अद्वितीय आनन्द की सृष्टि होती है। अतः इस प्रकार सृजनात्मक मनोवृत्तियों को प्रोत्साहन दे कर मानव-जाति के कल्याण में वृद्धि करनी चाहिए।

रसेल का मनोवेगों (Impulses) का उपर्युक्त सिद्धान्त कुछ अंशों में अवश्य सत्य है। इनका हमारे जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। किन्तु इसके साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि ज्यों-ज्यों व्यक्ति की बुद्धि और ज्ञान का विकास होने लगता है, वह अपने मनोवेगों पर नियन्त्रण पाने लगता है, किसी विशेष निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनका संचालन करने में सफलता पा लेता है। यदि ऐसा न

होता तो वह मनोवेगों की कठपुतली मात्र ही बना रहता, अपनी उच्चतर मानवीय प्रवृत्तियों का विकास न कर पाता। रसेल के सिद्धान्त का एक बड़ा दोष उसकी यह मान्यता है कि विचार-शक्ति (Reason) मनोवेगों की बुद्धिमान् सेवक है, वह उसके उद्देश्यों का पालन करती है, उसका प्रधान कार्य उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए साधनों को बताना है जिनका अन्धानुसरण हमारे मनोवेग किया करते हैं। वस्तुत: यह स्थिति ठीक नहीं प्रतीत होती है। हमारी विचार-शक्ति मनोभावनाओं की दास नहीं, अपितु उनका स्वामी और नियन्त्रण करने वाली है। युद्धों का कारण मनोभावनाएँ ही नहीं, अपितु मनुष्यों की मूर्खताएँ और गलतियाँ भी होती हैं। अत: रसेल का उपर्युक्त सिद्धान्त दोषपूर्ण है। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं है कि समाज में संग्रहात्मक मनोवेगों (Possessive Impulses) की अपेक्षा सृजनात्मक मनोवेगों (Creative Impulses) को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

राज्य—रसेल अनिवार्य बुराई के रूप में ही राज्य की सत्ता स्वीकार करता है। अराजकतावादियों की भाँति वह राज्य की संस्था का समूलोन्मूलन नहीं करना चाहता है और न ही राजकीय समाजवादियों की भाँति इसे अधिकतम अधिकार और शक्तियाँ प्रदान करता है, अपितु वह श्रेणी समाजवादियों की भाँति इसका कार्यक्षेत्र अत्यन्त सीमित और संकुचित करना चाहता है। रसेल द्वारा राज्य का विरोध करने का मूल कारण यह है कि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सबसे बड़ा राजनीतिक वरदान मानता है। राज्य और उसके कानून इस स्वतन्त्रता में प्रबल रूप से बाधक हैं, क्योंकि वे इसे सीमित और नियन्त्रित करते हैं। अत: वह सैद्धान्तिक रूप से राज्य का विरोधी तथा अराजकतावादी है। किन्तु फिर भी वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए उसे राज्य की संस्था माननी पड़ती है, क्योंकि राज्य के न होने पर समाज में ऐसी आपा-धापी, गड़बड़ और अराजकता मच जाएगी कि उसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं रह सकेगी। इसे केवल सरकार की सत्ता से ही सुरक्षित बनाया जा सकता है। रसेल ने लिखा है कि "अराजकतावादी विचारकों के तर्कों के बावजूद ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ विशेष प्रयोजनों की दृष्टि से राज्य की संस्था का होना आवश्यक है। शान्ति और युद्ध, आयात-कर, स्वास्थ्यजनक परिस्थितियों का निर्माण, नशीली मादक वस्तुओं की बिक्री का नियन्त्रण, वितरण की न्यायपूर्ण पद्धति को स्थापित करना—ऐसे कार्य हैं जिन्हें समाज में केन्द्रीय सरकार की सहायता के बिना पूरा नहीं किया जा सकता है।" इन कार्यों के लिए राज्य की संस्था बनी रहनी चाहिए। किन्तु इसके साथ ही रसेल इस बात पर बल देता है कि "राज्य का कार्य इन्हीं कार्यों तक सीमित रहना चाहिए ताकि इसकी शक्ति पर नियन्त्रण बना रहे। यह केवल इसी प्रकार बना रह सकता है कि इनके अतिरिक्त अन्य सभी कार्य अपने विशेषाधिकारों को सुरक्षित बनाए रखने के लिए सदैव प्रयत्नशील एवं विभिन्न स्वरूप रखने वाले संघ करें। राज्य यद्यपि इस समय अनेक बुराइयों की जड़ है, फिर भी यह कुछ अच्छे कार्य करता है। इसकी तब तक आवश्यकता बनी रहेगी जब तक समाज में हिंसक और विध्वंसकारी मनोभावनाएँ विद्यमान हैं।[1]

१. रोड्स टु फ्रीडम, पृ० १४४-४५

राज्य समाज की सामूहिक शक्ति का आधार है। इस शक्ति का प्रयोग आन्तरिक क्षेत्र में, राज्य पुलिस और न्यायालयों के माध्यम से देश में शान्ति बनाए रखने के लिए करता है; बाह्य अथवा वैदेशिक क्षेत्र में इस शक्ति का रूप स्थल, जल और वायुसेनाओं के रूप में प्रकट होता है। इन्हें बनाने का उद्देश्य विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा करना होता है। अपने आन्तरिक क्षेत्र में राज्य शक्ति का प्रयोग सरकार द्वारा बनाए गए कानूनों के माध्यम से करता है; किन्तु विदेशी राज्यों के साथ व्यवहार में यह मनमाने ढंग से कार्य करता है, यह किसी अन्तर्राष्ट्रीय कानून को नहीं मानता है। अतः बाह्य क्षेत्र में राज्य की शक्ति का प्रयोग आन्तरिक क्षेत्र में इसके प्रयोग की अपेक्षा अधिक भीषण और हानिकारक है। इसी कारण युद्ध होते हैं। इसकी एक बड़ी बुराई अनिवार्य सैनिक सेवा (Conscription) है। रसेल को इस बात पर आश्चर्य होता है कि लोग सरकार की इस बेहूदी व्यवस्था का विरोध क्यों नहीं करते जो राजनीति से सर्वथा अनभिज्ञ स्वदेशवासी नागरिकों को इस बात के लिए बाध्य करती है कि वे सेना में भर्ती होकर तथा प्रशिक्षण प्राप्त करके दूसरे देशों के निर्दोष नौजवानों की हिंसा करें।

दूसरे देश के साथ युद्ध छेड़ने के राज्य के अधिकार पर अंकुश लगाने के लिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित करने के लिए रसेल एक त्रिसूत्री योजना प्रस्तुत करता है—(१) संसार में सारे विश्व की राजनीतिक शक्ति पर एकाधिकार रखने वाली एक सरकार की स्थापना की जाए। (२) विभिन्न राज्यों में धन का वितरण इस प्रकार समान रूप से कर दिया जाए कि कोई देश दूसरे देश से डाह या ईर्ष्या न रखे। इससे ईर्ष्या के कारण उत्पन्न होने वाले संघर्ष और युद्ध समाप्त हो जाएँगे। (३) सारी दुनिया में जन्म की दर को कम-से-कम रखा जाए। जनसंख्या कम होने के कारण सबको अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सभी साधन प्रचुर मात्रा में मिलेंगे, अतः प्रादेशिक विस्तार करने और साम्राज्य बनाने के लिए किए जाने वाले युद्ध समाप्त हो जाएँगे। किन्तु रसेल की उपर्युक्त शर्तों या परिस्थितियों का उत्पन्न होना सर्वथा असम्भव दिखाई देता है, अतः उसकी यह योजना सर्वथा अव्यावहारिक है।

राज्य द्वारा शक्ति का प्रयोग विभिन्न राज्यों में वैर, वैमनस्य तथा पृथक् रहने की भावना (Exclusiveness) उत्पन्न करता है। भारत और चीन हजारों वर्षों से पड़ोसी और मित्र देश थे। किन्तु १९६२ के बर्बर चीनी आक्रमण ने दोनों को एक-दूसरे का प्रबल शत्रु तथा एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् रहने वाला बना दिया है। वर्तमान राज्यों का एक बड़ा दोष इनमें अधिकारों का तथा सत्ता का केन्द्रीकरण है। इससे नौकरशाही सुदृढ़ हो रही है, व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का क्षेत्र संकुचित हो रहा है। इस बुराई को दूर करने के लिए सत्ता का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। राज्य के अधिकांश कार्य सहयोगी समितियों तथा उत्पादक संघों द्वारा किए जाने चाहिएँ। राज्य का कार्यक्षेत्र इन्हीं कार्यों तक सीमित होना चाहिए—आन्तरिक शान्ति और कानून की व्यवस्था, प्रतिरक्षा, शिक्षा, सफाई, सार्वजनिक स्वास्थ्य व आर्थिक न्याय। व्यक्ति जो कार्य नहीं कर सकता है, केवल वही कार्य राज्य के द्वारा कराना ठीक है।

सम्पत्ति—रसेल निजी सम्पत्ति की संस्था को मानवीय प्रगति के मार्ग में बड़ा बाधक समझता है, उत्कृष्ट सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के लिए इस पद्धति का उन्मूलन आवश्यक है। सम्पत्ति मानवीय उन्नति में इसलिए बाधक है कि जो व्यक्ति धन कमाने में लग जाता है, उसकी प्रवृत्ति अधिकाधिक धन का संचय करके आनन्द प्राप्त करने की होती है। वह सच्चे आनन्द के स्रोत—सृजनात्मक मनोभावनाओं (Creative Impulses) की ओर ध्यान न देकर झूठे सुख के मूल—संग्रहात्मक मनोभावनाओं (Possessive Impulses) के जाल में फँस जाता है। धन को महत्व देने वाला व्यक्ति सब वस्तुओं का मूल्यांकन धन की दृष्टि से करता है। उसकी दृष्टि में धनसम्पन्न न होने पर एक कलाकार, विद्वान् या वैज्ञानिक का कोई महत्व नहीं है। रसेल समाजवादियों की भांति न केवल निजी सम्पत्ति का विध्वंस करना चाहता है, अपितु वह पुत्र द्वारा पिता की जायदाद पाने का भी विरोध करता है, क्योंकि यह इस समय अनुपार्जित आय (Unearned Income) का एक बड़ा स्रोत है।

समाजवाद और साम्यवाद—निजी सम्पत्ति का विरोधी होने के कारण रसेल का झुकाव समाजवाद की ओर है। वह इसे समाज के पुनर्निर्माण के लिए आवश्यक मानता है। वह इसका स्वागत और समर्थन इसलिए करता है कि यह समाज में आर्थिक विषमताओं को दूर करने का प्रयत्न करती है। उसके मतानुसार एक आदर्श औद्योगिक व्यवस्था में चार बातें होनी चाहिएँ—(१) उत्पादन अधिक हो। (२) वितरण न्यायपूर्ण हो। (३) श्रमिकों के काम करने की दशाएँ उत्तम हों। (४) यह सबको अधिकतम स्वतन्त्रता प्रदान करे तथा प्रगति को प्रोत्साहित करे। पूँजीवादी पद्धति इनमें से पहली बात पर बल देती है किन्तु समाजवाद दूसरी-तीसरी बातों पर बल देता है, अतः समाजवाद पूँजीवाद से उत्कृष्ट है। किन्तु रसेल समाजवाद को भी पूरी तरह से ठीक नहीं मानता है, क्योंकि उसमें पहली तीन बातें होने पर भी चौथी बात अर्थात् व्यक्ति की स्वतन्त्रता नहीं है।

रसेल शुरू में सैद्धान्तिक दृष्टि से साम्यवाद का बड़ा प्रशसंक और समर्थक था। किन्तु १९१७ की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद रूस में इसका व्यावहारिक रूप देखकर उसे बड़ी निराशा हुई, क्योंकि व्यक्ति की स्वतन्त्रता को राज्य के द्वारा बुरी तरह से कुचल दिया गया था। वह व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पर आधारित लोकतन्त्र को वांछनीय आदर्श मानता था। रूस में इसका नितान्त अभाव था। स्वतन्त्र चिन्तन और खोज की प्रवृत्ति को वह मानव-समाज की उन्नति के लिए अनिवार्य समझता है। इनका बलिदान करके सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता में व्यक्तिगत स्वाधीनता का गला घोंटने वाले वातावरण में उत्पादन बढ़ाकर तथा आर्थिक विषमता दूर करके समाजवाद या साम्यवाद की स्थापना से वह पूरी तरह सहमत नहीं है। वह रूसी क्रान्ति के उद्देश्य से पूर्ण रूप से सहानुभूति रखता हुआ भी इसके साधनों से सहमत नहीं था। फिर भी वह १९१७ की बोल्शेविक क्रान्ति को इसलिए महत्वपूर्ण मानता था कि यह इसी उद्देश्य से की जाने वाली, साध्य तथा साधनों को पवित्र रखने वाली एक नवीन क्रान्ति का अग्रदूत होगी। किन्तु १९४८ में उसने **'स्वतन्त्रताप्राप्ति के मार्ग'** (Roads to Freedom) की भूमिका में लिखा है कि अभी तक मानव-जाति

वैयक्तिक स्वाधीनता और आर्थिक न्याय को एकसाथ प्रदान करने वाली व्यवस्था का विकास नहीं कर सकी है। रूस में आर्थिक न्याय है, पर स्वतन्त्रता नहीं है; पश्चिमी देशों में स्वतन्त्रता है, किन्तु आर्थिक न्याय नहीं है।

रूसी साम्यवाद में उसे कई बातें बुरी प्रतीत होती हैं : **पहली** बात शक्ति का केन्द्रीकरण है। यहाँ कम्यूनिस्ट पार्टी के मुट्ठी-भर अत्यन्त उत्साही, अनथक परिश्रम करने वाले अन्धश्रद्धालू व्यक्तियों के हाथ में सारी शासन-सत्ता केन्द्रित है। जिस प्रकार पूँजी के केन्द्रीकरण से पूँजीवाद के घोर सामाजिक दुष्परिणाम पैदा हुए थे, इसी प्रकार इसमें शक्ति के केन्द्रीकरण से बुराइयाँ पैदा होना स्वाभाविक था। इसलिए रसेल विश्वक्रान्ति (World Revolution) के विचार (देखिए पृ० ३९३) का विरोधी था, क्योंकि इससे अन्य देशों में ऐसी क्रान्तियाँ होने पर वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा स्वाधीन चिन्तन का अन्त होने की सम्भावना थी। यह बात सभ्यता के विकास के लिए एक महान् संकट था। **दूसरी** बात साम्यवाद का एक अन्धश्रद्धा या धर्म का रूप ग्रहण करना है। साम्यवादी व्यक्ति केवल उत्पत्ति के साधनों के राष्ट्रीय-करण के तथा आर्थिक विषमता को दूर करने के सिद्धान्तों में ही विश्वास नहीं रखता, अपितु वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism), वर्ग-संघर्ष तथा अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्तों में अगाध श्रद्धा रखता है। इन्हें वेदवाक्य की भाँति सत्य और प्रामाणिक समझता है, इस प्रकार कट्टर सिद्धान्तवादिता (Dogmatism) तथा प्रमाणवाद (Authoritarianism) पर बल देता है, स्वतन्त्र चिन्तन पर कुठाराघात करता है। अतः रसेल इसका घोर विरोध करता है। वह इसे रोमन कैथोलिक चर्च की भाँति वैज्ञानिक अन्वेषण और स्वाधीन चिन्तन का विरोधी मानता है। कार्ल मार्क्स के अनुयायी धर्म को अफीम मानते हैं, क्योंकि किसी भी धर्म के विचारों से बँधे व्यक्ति पर सदैव इसका नशा चढ़ा रहता है, वह इसके प्रभाव से मुक्त होकर स्वतन्त्रतापूर्वक कुछ नहीं सोच सकता है। यही दशा कम्यूनिस्ट की है, उस पर अपने सिद्धान्तों का नशा इतना गहरा होता है कि वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी बुद्धि से कुछ नहीं सोच सकता है। रसेल वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का भी विरोधी है।

स्वतन्त्रता, उदारवाद तथा लोकतन्त्र—रसेल स्वतन्त्रता को सबसे बड़ी मूल्यवान् वस्तु समझता है। इसके बिना व्यक्ति का विकास सम्भव नहीं है। मानव-समाज की प्रगति के लिए स्वतन्त्र चिन्तन, उदारवाद तथा सहिष्णुता आवश्यक तत्व हैं और इन पर बल देने वाली लोकतन्त्र की प्रणाली सर्वोत्तम है। उसका यह मत है कि सत्य का ज्ञान स्वतन्त्रतापूर्वक चिन्तन करने से ही प्राप्त हो सकता है। मनुष्य-जाति को विभिन्न प्रकार के धार्मिक तथा सैद्धान्तिक अन्धविश्वासों से मुक्त करने के लिए स्वतन्त्र वाद-विवाद और विचार करने की पद्धति अतीव वांछनीय और आवश्यक है। अतः रसेल कट्टर सिद्धान्तवादी तथा स्वतन्त्र चिन्तन के विरोधी प्लेटो, हेगल, मार्क्स तथा लेनिन का कटु आलोचक है, लॉक और उसके अनुभववाद (Empiricism) का तथा प्रजातन्त्र का प्रबल पोषक है।[1] स्वतन्त्र चिन्तन का गला घोंटने वाली विचारधाराओं—फासिज़्म, नाज़ीवाद तथा स्तालिन के साम्यवाद का एवं सभी प्रकार

---

१. एबेन्स्टाइन—माडर्न पोलिटिकल थाट, पृ० ४-५

के कट्टर और प्रमाणवादी (Dogmatic and Authoritarian) विचारों का विरोधी है। वह सामाजिक प्रगति के लिए लोकतन्त्र को आवश्यक समझता है। उसका लोकतन्त्र का विचार कुछ अंशों में गांधी जी के विचारों से मिलता है। उसने लिखा है कि "मैं गांधी जी के लोकतन्त्रविषयक आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सहमत हूँ। इसमें प्रतिनिधियों की संख्या पर बल नहीं दिया जाता। इस विषय में मैं गांधी जी की बात मानता हूँ कि आदर्श लोकतन्त्र का आधार सेवा और त्याग की भावना होनी चाहिए तथा इसे (पाशविक शक्ति के स्थान पर) नैतिक दबाव डालने की शक्ति का प्रयोग करना चाहिए।"

मूल्यांकन और महत्व—भारत के राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् ने वर्तमान काल के इस मूर्धन्य मनीषी और दार्शनिक का मूल्यांकन करते हुए कहा है कि "उसमें चतुर वैज्ञानिक का, विचारशील दार्शनिक का, अत्यधिक दयालु मानवतावादी का, उग्र नैतिकतावादी का तथा अन्तर्राष्ट्रीयतावादी का दुर्लभ संमिश्रण है।" श्री नेहरूजी के शब्दों में रसेल की महत्ता का सुन्दरतम रूप इस बात में निहित है कि "उसने गम्भीर राजनीतिक विचारों में तथा विज्ञान के स्थूल तत्वों में विलक्षण समन्वय स्थापित किया है।" राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उसकी सबसे बड़ी देन राज्य की निरन्तर बढ़ती हुई सत्ता और शक्ति के युग में व्यक्ति की स्वतन्त्रता और गरिमा का सिंहनाद करना है। वह कट्टर सिद्धान्तवादिता (Dogmatism) तथा प्रमाणवाद (Authoritarianism) का प्रबल शत्रु है। उसने विज्ञान द्वारा मानव-जीवन को सुखी बनाने पर बहुत बल दिया है। किन्तु उसका एक बड़ा दोष परम्परागत धर्ममूलक नैतिकता को तथा आस्तिकता को तिलांजलि देना है। वर्तमान समय की एक बड़ी समस्या यह है कि वैज्ञानिक दृष्टि से भौतिक क्षेत्र में विलक्षण उन्नति होने पर भी, नैतिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में मनुष्य की कोई विशेष उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई है। जब तक ऐसा नहीं होगा, राजनीति नैतिकता पर आधारित नहीं होगी, तब तक अणुयुद्धों की विभीषिका से संत्रस्त मानव-जाति का कल्याण असम्भव है। अतः राजनीतिक क्षेत्र में नैतिकता को गांधी जी ने विशेष महत्व दिया है, अगले अध्याय में उनके सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाएगा।

उन्नीसवाँ अध्याय

गांधीवाद

सामान्य परिचय—महात्मा गांधी (१८६९–१९४८) ने न केवल भारत के राजनीतिक क्षेत्र में विलक्षण कार्य किया, अपितु विश्व में राजनीतिक चिन्तन में बड़ी क्रान्तिकारी मौलिक देन दी। गांधी जी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को 'गांधीवाद' का नाम दिया जाता है। महात्मा गांधी प्लेटो आदि की भाँति कोरे दार्शनिक नहीं, किन्तु धार्मिक भावना से अनुप्राणित होकर जन-कल्याण के लिए अविरत कार्य करने वाले कर्मयोगी थे। उन्होंने प्लेटो, अरस्तू या मार्क्स की भाँति क्रमबद्ध या व्यवस्थित रूप से अपने सिद्धान्तों की विवेचना नहीं की, अपितु अपने सामने आने वाली समस्याओं के समाधान के लिए ही तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार चिन्तन किया, अपने विचार प्रकट किए तथा लेख लिखे। इसलिए विभिन्न अवसरों पर व्यक्त किए गए उनके विचारों में कुछ विरोध या असंगतियाँ भी मिलती हैं। अतः गांधीवाद कोई सुव्यवस्थित दर्शन नहीं है। गांधी जी ने स्वयमेव लिखा है—" 'गांधीवाद' जैसी कोई वस्तु है ही नहीं और मुझे अपने पीछे कोई सम्प्रदाय नहीं छोड़कर जाना है। मैंने कोई नया तत्व या सिद्धान्त खोज निकाला है—ऐसा मेरा दावा नहीं है।···मैंने शाश्वत सत्यों को अपने नित्य के जीवन और प्रश्नों से सम्बद्ध करने का प्रयास अपने ढंग से किया है। सत्य और अहिंसा अनादिकाल से चले आ रहे हैं। मैंने केवल यथासम्भव इसके प्रयोग किए हैं।···आप लोग इसे 'गांधीवाद' न कहें, इसमें वाद जैसा कुछ भी नहीं है।"[1] फिर भी कई कारणों से गांधी जी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को 'गांधीवाद' का नाम दिया जाता है।

इसका **पहला** कारण यह है कि गांधी जी ने प्राचीन सिद्धान्तों का प्रयोग वर्तमान युग की आवश्यकताओं के अनुसार नए ढंग से और नए रूप में किया है। उन्होंने स्वयमेव लिखा है कि "मैंने किसी नए सिद्धान्त की सृष्टि न करके, प्राचीन सिद्धान्तों का नए ढंग से प्रतिपादन किया है।" ये पुराने सिद्धान्त भगवान् को सृष्टि का आधार तथा नियन्ता मानना, उसकी प्राप्ति को अपने जीवन का लक्ष्य बनाना, सब मनुष्यों को ईश्वर की सन्तान होने के कारण समान मानना, उनकी सेवा को भगवान् की आराधना मानना तथा सत्य और अहिंसा को अपने जीवन में क्रियात्मक रूप देना है। गांधी जी परदुःखकातर सन्त महात्मा थे, उन्होंने अत्यन्त दीन-हीन भारतीय जनता के कल्याण को ही भगवान् की आराधना समझा। उन्होंने एक बार लिखा था कि "यदि मैं समझता कि भगवान् मुझे हिमालय पर्वत की कन्दरा में मिलेंगे तो मैं तुरन्त वहाँ चला जाता। किन्तु मैं जानता हूँ कि मैं उन्हें मानव-समाज से पृथक् नहीं पा सकता हूँ।" गांधी जी का भगवान् की प्राप्ति का यह उपाय सर्वथा नवीन और

---

१. हरिजन बन्धु, २९-३-३६

बीसवीं शताब्दी के मानवतावाद (Humanism) से मेल खाता था। **दूसरा** कारण यह था कि गांधी जी ने सत्य, अहिंसा आदि के पुराने सिद्धान्तों के प्रयोग के क्षेत्र में एक बड़ी क्रान्ति की। उनसे पहले इनका प्रयोग वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन तक ही सीमित था, उन्होंने सर्वप्रथम इनको सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में प्रयुक्त किया; राजनीतिक क्षेत्र में भारत की स्वतन्त्रताप्राप्ति से उनके सिद्धान्तों को विलक्षण महत्व प्राप्त हुआ। यहाँ पहले उनके जीवन का संक्षिप्त परिचय देने के बाद उनके सिद्धान्तों का वर्णन किया जाएगा।

जीवनी—महात्मा गांधी का जन्म २ अक्टूबर १८६९ को पोरबन्दर (सौराष्ट्र) के एक वैष्णव वैश्य कुल में हुआ। उनकी माता अत्यन्त श्रद्धालु, व्रत, पूजा-पाठ और धार्मिक अनुष्ठान करने वाली थी। महात्मा गांधी ने अपनी आत्मकथा के आरम्भ में इसका बड़ा सुन्दर और हृदयग्राही वर्णन किया है, उन पर इस धर्मनिष्ठा का बड़ा प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त बचपन में प्रह्लाद आदि की धार्मिक कथाओं के श्रवण तथा धार्मिक नाटकों के प्रदर्शन देखने का भी उन पर गहरा असर पड़ा। आत्मकथा में उन्होंने इस बात का उल्लेख किया है कि 'सत्य हरिश्चन्द्र' का उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने कहा कि सब लोग राजा हरिश्चन्द्र की भाँति सत्यवादी क्यों नहीं हो जाते ? सम्भवत: उसी समय से उन्होंने सत्य पर दृढ़ रहने का संकल्प कर लिया। यही कारण था कि जब उनके स्कूल में एक बार इंस्पेक्टर महोदय निरीक्षण के लिए पधारे तथा उनके शिक्षक ने गांधी जी को दूसरे विद्यार्थी की नकल करने का इशारा किया तो गांधी जी उसे नहीं समझे और नकल नहीं की। स्कूल में कुसंगति में पड़ जाने के कारण उन्होंने माँस खाना, तम्बाकू पीना, चोरी करना तथा झूठ बोलना शुरू किया। किन्तु बाद में अपनी भूल समझ में आने पर उन्हें बड़ी ग्लानि हुई, उन्होंने आत्महत्या तक का प्रयत्न किया। इस घटना से उनके जीवन को एक नई दिशा मिली। पिता जी के आगे उन्होंने सब अपराध स्वीकार किए, सत्यनिष्ठा उनके जीवन का ध्रुवतारा बन गई। १८८७ में मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद अगले वर्ष वे बैरिस्टरी के अध्ययन के लिए लन्दन गए। विलायत जाने से पहले माता जी के सम्मुख उन्होंने शपथ ली कि मैं तीन वस्तुओं—मद्य, मांस तथा नारी का सेवन नहीं करूँगा।

विलायत में इस शपथ ने, सत्यनिष्ठा ने, सादे जीवन तथा आस्तिकता ने सभी प्रकार के प्रलोभनों से उनकी रक्षा की। यहाँ रहते हुए उन्होंने बाइबल का अध्ययन किया, इसके न्यू टैस्टामैण्ट में अहिंसा का प्रतिपादन करते हुए ईसा द्वारा **पर्वत पर दिए गए प्रवचन** (Sermon on the Mount) का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। गीता का परिचय उन्हें सर्वप्रथम एडविन आर्नाल्ड के इस ग्रन्थ के अनुवाद 'स्वर्गीय गीत' (Song Celestial) से मिला। वे इस पर मुग्ध हो गए। उन्होंने प्रतिदिन दन्तमंजन करते समय इसके श्लोकों को स्मरण करना शुरू कर दिया। गीता उनके जीवन की मार्गदर्शिका बन गई। इसके अनासक्तिवाद, अपरिग्रह, समभाव आदि के विचारों ने उन पर बहुत गहरा प्रभाव डाला। १० जून १८९० को दो वर्ष के परिश्रम

और अध्ययन के बाद उन्हें बैरिस्टरी की उपाधि मिली, १२ जून को वे स्वदेश के लिए रवाना हो गए।

विलायत से लौटने के बाद पहले राजकोट में तथा इसके बाद बम्बई हाईकोर्ट में उन्होंने वकालत की। किन्तु बम्बई का व्यय अधिक होने के कारण वे पुनः राजकोट लौट आए। यहाँ पोरबन्दर की एक फर्म—दादा अब्दुल्ला एण्ड कम्पनी—ने अपना एक मुकद्दमा लड़ने के लिए गांधी जी को एक वर्ष के लिए १८९३ में दक्षिण अफ्रीका भेजा। गांधी जी अपने जीवन के अगले इक्कीस वर्ष तक (१८९३–१९१४) मुख्य रूप से यहीं रहे। उनके सिद्धान्तों के विकास की दृष्टि से यह काल अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसी समय उनके मौलिक सिद्धान्तों का तथा निःशस्त्र प्रतिरोध (Passive Resistance) एवं सत्याग्रह की पद्धति का आविष्कार एवं प्रयोग हुआ।

दक्षिण अफ्रीका के उपनिवेश के शासक गोरे योरोपियन अफ्रीका के और भारत के काले लोगों को घोर घृणा की दृष्टि से देखते थे और उनके साथ बड़ा अपमानजनक तथा पशुतुल्य व्यवहार करते थे। जब गांधी जी डरबन पहुँचे और उनका मुवक्किल उन्हें वहाँ की अदालत दिखाने ले गया उस समय गांधी जी ने काठियावाड़ी पगड़ी धारण की हुई थी। मैजिस्ट्रेट ने उनसे यह पगड़ी उतारने को कहा, गांधी जी ने पगड़ी नहीं उतारी और अदालत छोड़कर चले आए। इसके बाद गांधी जी ने अपने मुकद्दमे के सम्बन्ध में प्रिटोरिया जाना था। वे रेलगाड़ी के प्रथम श्रेणी के डिब्बे में बैठे। रास्ते में मेरिट्ज़बर्ग नामक स्टेशन पर एक योरोपियन यात्री इनके डिब्बे में आया, वह एक काले आदमी को देखकर जल-भुन गया और स्टेशन के अधिकारियों को बुला लाया। उन्होंने गांधी जी को उस डिब्बे से उतरकर दूसरे डिब्बे में जाने को कहा। जब गांधी जी ने इसे अस्वीकार किया तो पुलिस के एक सिपाही को बुलाया गया। उसने गांधी जी को धक्का देकर डिब्बे से बाहर किया तथा उनका सामान उतार दिया। गांधी जी दूसरे डिब्बे में नहीं चढ़े, रेलगाड़ी चली गई। वे मुसाफिरखाने में चले गए। उस रात कड़कड़ाती सर्दी में उनके मन में इस बात के लिए गम्भीर मनन और चिन्तन चलता रहा कि वे अपने अधिकारों के लिए लड़ें या अपने अपमान को भुलाकर प्रिटोरिया जाकर मुकद्दमा लड़ें। अन्त में उन्होंने यह निश्चय किया कि यह अपमान उनका वैयक्तिक अपमान नहीं, किन्तु गोरी जातियों के काली जातियों के प्रति घोर विद्वेष का परिणाम है, इसका समूलोन्मूलन होना चाहिए, ऐसा करने में जो कष्ट भोगने पड़ें, उनके लिए तैयार रहना चाहिए। किन्तु इस कार्य को शुरू करने से पहले मुकद्दमे का काम निपटा लेना चाहिए। सौभाग्यवश १८९४ में आपसी समझौते द्वारा इस मुकद्दमे का समाधान हो गया।

इस बीच में गांधी जी को दक्षिण अफ्रीका में रहते हुए वहाँ की समस्याओं की तथा सरकारी नीति की बड़ी अच्छी जानकारी हो गई थी। वे मुकद्दमा समाप्त होने के बाद कुछ समय के लिए भारत आना चाहते थे। इसी समय उन्होंने समाचार-पत्रों में यह पढ़ा कि नेटाल सरकार भारतीयों को मताधिकार से वंचित करने के लिए एक कानून बनाने वाली है। यह वहाँ बसे भारतीयों के मौलिक अधिकारों पर प्रबल कुठाराघात था। गांधी जी ने यह समाचार पढ़ते ही भारत लौटने का विचार

स्थगित कर दिया, इस विषय में आन्दोलन चलाने के लिए 'नेटाल इण्डियन' कांग्रेस की स्थापना की। गांधी जी के शब्दों में "ईश्वर ने दक्षिण अफ्रीका में मेरे जीवन की नींव डाल दी और राष्ट्रीय स्वाभिमान का बीज बो दिया"।

दक्षिण अफ्रीका में रहते हुए गांधी जी ने अपने सिद्धान्तों का विकास और प्रयोग किया। इस समय गांधी जी पर टालस्टाय और रस्किन की रचनाओं—'बैकुण्ठ तुम्हारे भीतर है' (The Kingdom of God is Within You) तथा 'सर्वोदय' (Unto This Last) का गहरा प्रभाव पड़ा। अपने आदर्शों और सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देने के लिए डरबन से कुछ मील की दूरी पर उन्होंने एक आदर्श कृषि बस्ती स्थापित की, इसका नाम 'फिनिक्स आश्रम'(Phoenix Settlement) रखा गया। यहाँ प्रत्येक आश्रमवासी को अपने हाथ से सब काम करते हुए व्यक्तिगत श्रम और सहयोग के आधार पर गांधी जी के पथ-प्रदर्शन में कार्य करना पड़ता था। यहाँ से गांधी जी ने 'इण्डियन ओपिनियन' (Indian Opinion) नामक एक साप्ताहिक पत्र भी निकाला। १९०६ में ट्रांसवाल की सरकार ने यह आज्ञा निकाली कि ८ वर्ष से अधिक आयु के प्रत्येक भारतीय स्त्री-पुरुष के लिए अपना नाम सरकारी दफ्तर में लिखवाकर पंजीकरण का प्रमाणपत्र (Registration Certificate) प्राप्त करना होगा, इसके बिना कोई भारतीय वहाँ नहीं रह सकेगा। १९०७ के Transval Immigrants Restriction Act के अनुसार कोई नया भारतीय ट्रांसवाल में प्रवेश नहीं कर सकता था। गांधी जी ने इन कानूनों के विरुद्ध एक आन्दोलन का संचालन तथा नेतृत्व किया, इस आन्दोलन के लिए सत्याग्रह के नाम का आविष्कार किया गया। अन्त में, १९१४ में यह आन्दोलन सफल हुआ। दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने 'भारतीय मुक्ति कानून' (Indian Relief Act) द्वारा भारतीयों के विरुद्ध बनाए गए अधिकांश कानूनों को रद्द किया। सत्याग्रह में सफलता पाने के बाद गांधी जी भारत लौट आए। भारत में अगले ३३ वर्ष तक (१९१४ से १९४८) गांधी जी भारत के स्वातन्त्र्य संग्राम में एवं जनकल्याण के कार्यों में लगे रहे।

इस अवधि में महात्मा गांधी द्वारा किए गए कार्य सर्वविदित हैं। भारत आकर उन्होंने १९१५ में अहमदाबाद में साबरमती नदी के तट पर अपना आश्रम स्थापित किया, प्रथम विश्वयुद्ध में भारतीयों को अंग्रेजों की सहायता करने के लिए प्रेरित किया। १९१७ में, भारत में उन्होंने सर्वप्रथम बिहार के चम्पारन जिले में अपने सत्याग्रह का पहला सफल प्रयोग नील की खेती में भारतीय कृषकों पर गोरों द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों के विरुद्ध किया। १९१९ में रौलट एक्ट बनने से गांधी जी को बड़ा धक्का लगा। उन्होंने युद्ध में ब्रिटिश सरकार का समर्थन इस आशा से किया था कि इसके बाद ब्रिटिश सरकार भारतीयों को स्वशासन के अधिकार प्रदान करेगी, किन्तु जब सरकार ने नागरिकों की मौलिक स्वतन्त्रताएँ छीनने वाला रौलट कानून पास किया तो गांधी जी ने इसका शान्तिपूर्ण प्रतिरोध करने का आन्दोलन आरम्भ किया। ३० मार्च से ६ अप्रैल १९१९ तक इसके विरुद्ध सारे देश में हड़तालें की गईं। १३ अप्रैल को अमृतसर में जलियांवाला बाग का हत्याकाण्ड हुआ। इससे देश में ब्रिटिश सरकार के अत्याचारों के विरुद्ध तीव्र रोष उत्पन्न हुआ।

देश की सबसे बड़ी राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वराज्य प्राप्ति के लिए शान्ति तथा सत्ययुक्त अहिंसात्मक असहयोग का अन्दोलन (Non-Cooperation Movement) शुरू किया। इसकी मूल भावना यह थी कि भारत में अंग्रेजों का शासन भारतीयों के सहयोग से चल रहा है, यदि सरकरी नौकरियों में लगे, सेना तथा पुलिस में कार्य करने वाले भारतीय अपनी नौकरियों से त्याग-पत्र दे दें, सरकारी न्यायालयों, विद्यालयों, कौन्सिलों तथा शासन-परिषदों का बहिष्कार करें, तो इस असहयोग से भारत में ब्रिटिश शासन पंगु हो जाएगा, अंग्रेज भारत को स्वराज्य देने के लिए बाधित हो जाएँगे। गांधी जी अपने आन्दोलन को पूर्ण रूप से अहिंसात्मक रखना चाहते थे। किन्तु चौरीचौरा आदि कुछ स्थानों पर हिंसात्मक घटनाएँ हुईं। इस पर गांधी जी ने १९२२ में इस आन्दोलन को बन्द कर दिया। १९३० में गांधी जी ने पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति के लिए 'नमक-कर' आदि सरकारी कानून तोड़ने की दृष्टि से 'सविनय आज्ञाभंग' (Civil Disobedience Movement) आन्दोलन आरम्भ किया। इसकी समाप्ति १९३१ में गांधी-इर्विन समझौते से हुई। १९३९ में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने पर १९४२ में गांधी जी ने 'भारत छोड़ो' नामक प्रबल आन्दोलन किया। ब्रिटिश सरकार ने गांधी जी को तथा कांग्रेस के सभी नेताओं को बन्दी बना लिया। अन्त में गांधी जी तथा कांग्रेस के प्रयत्नों के फलस्वरूप १५ अगस्त १९४७ के दिन भारत को स्वतन्त्रता मिली, किन्तु अंग्रेज़ों ने देश का विभाजन करने के बाद ही यह स्वाधीनता प्रदान की। इसके बाद देश में हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष चरमसीमा पर पहुँच गया। गांधी जी ने साम्प्रदायिक विद्वेष की अग्नि शान्त करने के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा दी। ३०-१-४८ को प्रार्थना सभा में जाते हुए गांधी जी नाथूराम गोडसे की गोलियों का शिकार होकर स्वर्गवासी हुए।

गांधी जी की कृतियां—गांधी जी ने अपने सिद्धान्तों, मन्तव्यों और प्रयोगों का प्रतिपादन प्रधान रूप से दो पुस्तकों 'हिन्द स्वराज्य' तथा अपनी आत्मकथा या 'मेरे सत्य के प्रयोग' (My Experiments with Truth) में किया है। पहली पुस्तक १९०८ में लन्दन से लौटते हुए जहाज पर उन्होंने प्रश्नोत्तर की शैली में लिखी थी, यह लेखमाला के रूप में 'इण्डियन ओपिनियन' में प्रकाशित हुई। इसमें पश्चिम की आधुनिक सभ्यता की कड़ी आलोचना है, हिन्दुस्तान की वर्तमान दुर्दशा के कारणों की मीमांसा है, रेलों, वकीलों, डाक्टरों, मशीनों की घोर निन्दा की गई है, सत्याग्रह या आत्मबल पर प्रचुर प्रकाश डाला गया है। दूसरी पुस्तक आत्मकथा गांधी जी ने अपने एक आश्रमवासी स्वामी आनन्द की प्रेरणा से १९२१ तक की अपने जीवन की घटनाओं के विवरण के रूप में लिखी है। इसके अतिरिक्त गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका में इण्डियन ओपिनियन नामक साप्ताहिक पत्र का, भारत में यंग इंडिया, नव जीवन (हिन्दी), हरिजन (अंग्रेजी), हरिजन सेवक (हिन्दी), हरिजन बन्धु (गुजराती) आदि पत्रों का सम्पादन करते हुए इनमें प्रति सप्ताह अपने विचारों का प्रतिपादन किया तथा सैकड़ों भाषणों में अपने सिद्धान्तों को स्पष्ट किया। भारत

सरकार का प्रकाशन विभाग गांधी जी के सभी लेखों और भाषणों का प्रामाणिक संग्रह कई खण्डों में प्रकाशित कर रहा है।

गांधीवाद के प्रेरणास्रोत—गांधी जी के विचारों के प्रधान स्रोतों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—पूर्वी और पश्चिमी। पूर्वी स्रोतों में उन्हें अपनी माताजी से प्राप्त वैष्णव हिन्दू धर्म के प्रभाव, जैन और बौद्ध धर्म, गीता और उपनिषदें, भारत के विभिन्न साधु-सन्तों की वाणियाँ तथा उपदेश एवं जैन साधक श्री रायचन्द्र जी का सम्पर्क है। पश्चिमी स्रोतों में बाइबल, विशेषत: उसका पर्वत-प्रवचन (Sermon on the Mount), टालस्टाय (१८२८–१९१०), जॉन रस्किन (१८१९–१९००) तथा थोरो (१८१७–६२) की रचनाएँ हैं। गांधी जी ने अपने प्रथम चरित्र-लेखक एक मिशनरी डोक को बताया था कि अहिंसक प्रतिकार (Passive Resistance) की कल्पना मुझे सर्वप्रथम श्यामलभट्ट रचित गुजराती कविता से सूझी थी। इसका सारांश इस प्रकार था—"यदि कोई तुम्हें पानी पिलावे और तुमने भी बदले में उसे पानी पिलाया तो उसका कोई महत्व नहीं है। अपकार के बदले में उपकार करने में ही सभी खूबी है।" इसके बाद मैंने बाइबल के 'पर्वत-प्रवचन' वाले भाग को देखा। "अत्याचारी का प्रतिकार मत करो, बल्कि जो तुम्हारे सीधे गाल पर चाँटा मारे उसके सामने बाँया गाल भी कर दो; अपने शत्रु से प्रेम करो।" ऐसे वचन मैंने पर्वत-प्रवचन में पढ़े और मुझे अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। भगवद्गीता के द्वारा यह विश्वास अधिक दृढ़ हुआ।[1] जॉन रस्किन के प्रभाव का गांधी जी ने अपनी आत्मकथा में उल्लेख किया।

गांधी जी ने १८९६ में नेटाल जाते हुए रास्ते में अपने मित्र पोलक द्वारा दी हुई जॉन रस्किन की एक पुस्तक Unto This Last को बड़े चाव से पढ़ा। उन्हें यह इतनी पसन्द आई कि उन्होंने 'सर्वोदय' के नाम से गुजराती में इसका अनुवाद किया। इसके द्वारा गांधी जी पर रस्किन की शारीरिक श्रम की महत्ता के आदर्श ने बड़ा प्रभाव डाला। उन्होंने इस पुस्तक से तीन बातें सीखीं—(१) एक व्यक्ति का हित सभी व्यक्तियों के हित में निहित है। (२) वकील के तथा नाई के काम का समान महत्व है क्योंकि सभी व्यक्ति अपने काम से आजीविका कमाने का समान अधिकार रखते हैं। (३) शारीरिक श्रम करने वाले किसान या कारीगर का जीवन ही वास्तविक जीवन है। गांधी जी ने रस्किन से प्रभावित होकर बुद्धि की अपेक्षा चरित्र पर अधिक बल दिया, मशीनों का विरोध किया, मानवीय चरित्र में उदात्त एवं दैवी अंश की प्रधानता स्वीकार की, आत्मिक बल को सर्वोच्च स्थान दिया, राजनीति तथा अर्थशास्त्र में धर्म को महत्ता दी, पूंजीपतियों से यह अपेक्षा तथा आशा रखी कि वे मजदूरों के संरक्षक बनें तथा उनसे पितृतुल्य व्यवहार करें।

गांधी जी पर अमेरिकन अराजकतावादी लेखक हेनरी डेविड थोरो (१८१७–६२) का भी प्रभाव पड़ा। उसने १८४९ में सर्वप्रथम अपने एक भाषण में 'सविनय आज्ञाभंग' (Civil Disobedience) शब्द का प्रयोग किया था। उसका यह सिद्धान्त था कि भलाई को बढ़ाने वाले सभी लोगों तथा संस्थाओं के साथ सहयोग एवं बुराई

१. रंगनाथ दिवाकर—सत्याग्रह मीमांसा (सस्ता साहित्य मण्डल, १९४९), पृ० १८-१९

को प्रोत्साहित करने वालों के साथ असहयोग करना चाहिए। दास-प्रथा के प्रश्न पर थोरो ने तत्कालीन अमेरिकन सरकार के प्रति निष्क्रिय प्रतिरोध के साथ-साथ सक्रिय प्रतिकार के मत का समर्थन किया था। वह मनुष्य की स्वाभाविक भलाई में तथा राज्यहीन समाज के आदर्श में विश्वास रखता था। थोरो की पुस्तक On the Duty of Civil Disobedience ने गांधी जी पर प्रभाव डाला। गांधी जी ने थोरो के विचारों को संशोधित करके व्यापक बनाया। थोरो के मतानुसार दास-प्रथा जैसी अनैतिक बातों का विरोध करने के लिए राज्य की आज्ञा का भंग करविषयक कानून (Revenue Laws) तोड़कर करना चाहिए, इसमें अहिंसा का पालन आवश्यक नहीं है; किन्तु गांधी जी ने अहिंसक रहते हुए सरकार के किसी भी अनैतिक कानून को तोड़ने पर बल दिया।

गांधी जी पर रूसी लेखक टालस्टाय (१८२८–१९१०) की रचनाओं—'संक्षिप्त सुसमाचार' (Gospel in Brief), 'क्या करें' (What to Do) तथा 'बैकुण्ठ तुम्हारे भीतर है' (The Kingdom of God is Within You) ने भी प्रभाव डाला। इनमें से अन्तिम रचना के बारे में गांधी जी ने आत्मकथा में लिखा है कि इसने मुझ पर स्थायी प्रभाव डाला। गांधी जी ने जब यह पुस्तक पढ़ी तब उनके मन में अहिंसा के सम्बन्ध में कई सन्देह थे। गांधी जी के शब्दों में इस पुस्तक ने उनके सन्देहों का निराकरण किया तथा उन्हें अहिंसा पर दृढ़ विश्वास करने वाला बना दिया। टालस्टाय की भाँति गांधी जी सत्य के सतत अन्वेषक, वर्तमान सभ्यता के कटु आलोचक, इसे हिंसा और शोषण पर आधारित और अनैतिक मानने वाले, हिंसक उपायों के विरोधी, व्यक्ति के सुधार तथा आत्मशुद्धि, सादगी, सरल जीवन, शरीर-श्रम तथा ब्रह्मचर्य पर बल देने वाले थे। वे साध्य और साधन दोनों की पवित्रता पर बल देने वाले थे। किन्तु टालस्टाय के विचारों का अनुयायी होते हुए भी गांधी जी का दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक और क्रियात्मक था, वे टालस्टाय की भाँति अहिंसा के अन्धभक्त नहीं थे, अपने आश्रम में मरणासन्न बछड़े की असह्य वेदना कम करने के लिए उन्होंने इन्जेक्शन द्वारा उसकी हत्या को हिंसा नहीं, अहिंसा माना था।

उपर्युक्त पश्चिमी लेखकों तथा पुस्तकों के अतिरिक्त गांधी जी पर कार्लाइल की 'वीरपूजा' (Hero Worship) का तथा इर्विंग वाशिंगटन की हज़रत मुहम्मद तथा उसके उत्तराधिकारियों के जीवन-चरित्र का प्रभाव पड़ा। एडोल्फ जुस्ट की पुस्तक 'प्रकृति की ओर लौटो' (Return to Nature) से वे प्राकृतिक चिकित्सा के भक्त बने।[1]

गांधीवाद के मौलिक दार्शनिक सिद्धान्त—गांधी जी के मतानुसार सत्य सत् शब्द से निकला है, इसका अर्थ है अस्तित्व या होना। उनके मतानुसार सत्य ही परमात्मा है और परमात्मा सत्य है। दोनों एक-दूसरे से अभिन्न हैं। सत्य को परमात्मा या ब्रह्म कहने का यह कारण है कि सत्य वही है जिसकी सत्ता होती है,

१. गांधी जी पर प्रभाव डालने वाली पुस्तकों के विवरण के लिए देखिए—जगदीश शर्मा, महात्मा गांधी बिब्लिओग्राफी (एस० चन्द, दिल्ली, १९५५), पृ० ४४७-५० तथा गोपीनाथ धवन कृत—दी पोलिटिकल फिलासफी आफ महात्मा गांधी, पृ० ६-३३

जो सदा टिका रहता है। ब्रह्म या परमात्मा की सत्ता तीनों कालों में बनी रहती है, अतः वह सत्य है। गांधी जी अपने जीवन का ध्येय सत्य की शोध करना समझते थे। उन्होंने अपनी आत्मकथा का नाम 'मेरे सत्य के प्रयोग' (My Experiments with the Truth) रखा है। शाश्वत सत्य की खोज के लिए वे अरबों जीवनों के बलिदान श्रेयस्कर समझते थे। उनके शब्दों में, "बुद्ध ने अपना सांसारिक वैभव-विलास इसलिए छोड़ दिया कि सत्य की शोध में त्याग करने और कष्ट सहने वालों का परम सुख समस्त संसार को प्राप्त हो। यदि थोड़े से सामान्य ज्ञान के लिए गौरीशंकर की चोटी पर चढ़कर अनेक प्राणोत्सर्ग किए जा सकते हैं, यदि दोनों ध्रुव प्रदेशों में जाकर एक झण्डा गाड़ने के लिए कई मनुष्यों का प्राणविसर्जन समुचित है तो अमर, अविनश्वर, शाश्वत सत्य की खोज में एक-दो नहीं, लाखों नहीं, बल्कि करोड़ों-अरबों जीवनों का उत्सर्ग क्या महान् कार्य नहीं है।"[1]

किन्तु सत्य की शोध और ज्ञान सुगम कार्य नहीं है। सत्य क्या है? गांधी जी के शब्दों में, "यह बड़ा कठिन प्रश्न है, किन्तु स्वयं मैंने अपने लिए इसका समाधान कर लिया है। तुम्हारी अन्तरात्मा जो कहती है, वह सत्य है।"[2] किन्तु सबका अन्तःकरण एक जैसी बात नहीं कहता। दुष्टों की अन्तरात्मा बुरी बातों को सत्य कहती है, अतः सत्य के लिए अन्तरात्मा की शुद्धि आवश्यक है।

आत्मशुद्धि के प्रधान साधन पतंजलि के मतानुसार निम्नलिखित पांच यम हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति को संचित न करना)।[3] गांधी जी यह समझते थे कि इन व्रतों और साधनों के पालन से चित्त उत्तरोत्तर निर्मल होता चला जाता है, वह सत्य के ग्रहण में अधिक समर्थ हो जाता है। गांधी जी के मतानुसार सत्य का सम्पूर्ण दर्शन अहिंसा के पालन के बाद ही हो सकता है, अतः अब अहिंसा का वर्णन किया जाएगा।

अहिंसा—अत्यन्त प्राचीन काल से भारत में अहिंसा को बहुत महत्व दिया जाता रहा है। सम्भवतः सर्वप्रथम छान्दोग्य उपनिषद् (३।१७) में तप, दान, सरलता और सत्य के साथ इसकी महिमा का बखान किया गया है। महाभारत में कहा गया है कि अहिंसा सबसे बड़ा धर्म, तप और सत्य है, इसी से धर्म का प्रादुर्भाव होता है।[4] योगदर्शनकार पतंजलि ने आत्मशुद्धि की साधना के पाँच यमों में अहिंसा को

१. हिन्दी नवजीवन, १५-१२-२७

२. यंग इंडिया, ३१-१२-३१, श्रीरामनाथ सुमन—अहिंसा और सत्य, पृ० ६४१

३. गांधी जी ने अपने आश्रमवासियों के जीवन शुद्धि के लिए इनमें ६ नई बातें—शरीर-श्रम, अस्वाद, निर्भीकता, सर्वधर्मसमानता, स्वदेशी तथा अस्पृश्यता का निवारण जोड़ दिया था। वे इन ग्यारह व्रतों का पालन प्रत्येक साधक के लिए आवश्यक मानते थे।

४. छान्दोग्य उपनिषद् ३। १५,

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणः।

महाभारत अनुशासनपर्व १०४। २५,

अहिंसा परमो धर्मः अहिंसा परमं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं ततो धर्मः प्रवर्त्तते।

मिलाइये अनुशासनपर्व १०५। २३-४५, शान्तिपर्व २५५। ३०-४०, वनपर्व २४। ३०

पहला स्थान दिया है। जैनधर्म में अहिंसा बड़ा महत्व रखती है। महात्मा गांधी पर विलायत से लौटने के बाद रायचन्द्र नामक जैन महापुरुष का बड़ा प्रभाव पड़ा। भगवान् बुद्ध ने यह घोषणा की थी कि वैर का अन्त वैर से नहीं, किन्तु प्रेम से होता है। गांधी जी ने उपर्युक्त भारतीय परम्परा से तथा बाइबल के पर्वत-प्रवचन से तथा टालस्टाय के ग्रन्थों से अहिंसा के सिद्धान्त को ग्रहण किया। किन्तु उनकी एक बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने इसका एक नवीन दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए यह बताया कि अहिंसा का यथार्थ रूप क्या है, उसका अवलम्बन हमें क्यों करना चाहिए और उसके प्रयोग के नवीन क्षेत्र और आयाम क्या हैं। उन्होंने अनेक क्षेत्रों में व्यावहारिक प्रयोग करके इसकी सफलता को निर्विवाद रूप से प्रमाणित किया।

स्वरूप—अहिंसा (Non-violence) का शब्दार्थ हिंसा या हत्या न करना है। हिंसा का अर्थ किसी भी जीव को स्वार्थवश, क्रोधवश या दुःख देने की इच्छा से कष्ट पहुँचाना या मारना है। इस प्रकार हिंसा के मूल में स्वार्थ, क्रोध या विद्वेष की भावना होती है। अहिंसा के साधक को इन सभी भावनाओं पर विजय पाते हुए प्राणिमात्र के प्रति—अपने घोरतम शत्रु के भी प्रति अगाध प्रेम और मैत्री की भावना रखनी चाहिए। इसी को अहिंसा कहते हैं।

सामान्य रूप से हिंसा को पाप समझा जाता है, किन्तु गांधी जी जीवन-निर्वाह के लिए की जाने वाली हिंसा को पाप नहीं मानते। शुद्ध अहिंसक दृष्टिकोण से गौ का दूध बछड़े का हिस्सा है, उसे मनुष्य द्वारा अपने लिए लेना पाप है। गांधी जी को कलकत्ता में जब फूका प्रथा द्वारा निर्दयतापूर्वक गौओं का दूध निकाला जाने की बात पता लगी तो उन्होंने दूध न पीने की प्रतिज्ञा की। किन्तु बाद में बीमार पड़ने पर डाक्टरों ने उनके लिए दूध का सेवन आवश्यक बताया, वे गौ के स्थान पर बकरी का दूध पीने लगे। किन्तु अन्य व्यक्तियों के जीवन धारण के लिए वे गौ का दूध पीना भी हिंसा नहीं समझते थे। हमें शरीर के भरण-पोषण के लिए भोजन प्राप्त करने में कुछ अनिवार्य जीवहिंसा करनी पड़ती है: मलेरिया आदि रोगों को दूर करने के लिए मच्छरों का संहार करना पड़ता है। आदमखोर शेरों से मनुष्यों की रक्षा करने के लिए इन्हें मारना पड़ता है: यदि कोई पागल तलवार लेकर लोगों की मारकाट करता है तो ऐसे आततायी का वध करना भी हिंसा नहीं है। इस प्रकार अपने शरीर के पोषण तथा आश्रितों की रक्षा के लिए की गई हिंसा पाप नहीं होती है। इसके अतिरिक्त कुछ विशेष दशाओं में पशुओं को भी भीषण पीड़ा से मुक्ति दिलाने के लिए उनकी हत्या को भी गांधी जी पाप नहीं मानते हैं। उनका यह कहना है कि "प्राण लेना सदा हिंसा नहीं है। अनेक अवसरों पर जीवन लेने में ही अहिंसा होती है।"[1] उदाहरणार्थ पागल कुत्ते को मरवाना ही अहिंसा है, इसे न मरवाना हिंसा है। अपने साबरमती आश्रम में जब गांधी जी से एक मरणासन्न बछड़े की असह्य वेदना न देखी गई तो उन्होंने इंजेक्शन द्वारा उसकी हत्या करा दी। जब पीड़ित व्यक्ति की वेदना-निवृत्ति का कोई उपाय न रह जाए तो एकमात्र उसके हित के विचार से

१. हिन्दी नवजीवन, २८-१०-६६

किया जाने वाला तथा ऊपर से हिंसापूर्ण प्रतीत होने वाला कृत्य वस्तुतः हिंसा नहीं है, अपितु दयावृत्ति से प्रेरित करुणापूर्ण अहिंसक कार्य है।

अहिंसा के दो पक्ष हैं—अभावात्मक या नकारात्मक (Negative) तथा भावात्मक या सकारात्मक (Positive)। किसी प्राणी को काम, क्रोध तथा विद्वेष के वशीभूत होकर हिंसा न पहुँचाना इसका नकारात्मक रूप है। किन्तु इससे अहिंसा का पूरा स्वरूप समझ में नहीं आता है। इसका यथार्थ स्वरूप तो हमें इसके भावात्मक पक्ष से पता लगता है। इस पक्ष वाली अहिंसा को सार्वभौम प्रेम और करुणा की भावना कहा जाता है। इसके **चार** मूलतत्व प्रेम, धैर्य, अन्याय का विरोध और वीरता हैं। जिस प्रकार हिंसा का आधार विद्वेष होता है, उसी प्रकार अहिंसा का आधार प्रेम है। अतः अहिंसा का व्रत लेने वाला साधक अपने उग्रतम शत्रु से भी वैसा ही प्रेम रखता है, जैसे पिता बुरा कार्य करने वाले अपने पुत्र से स्नेह करता है। वह शत्रु की बुराई से घृणा करता है, न कि बुराई रखने वाले शत्रु से। अहिंसा तथा प्रेम की शक्ति से वह शत्रु की बुराई दूर करने का यत्न करता है। वह स्वयं प्रसन्नतापूर्वक कष्ट सहन कर लेता है, किन्तु शत्रु को कष्ट नहीं पहुँचाता है। उसका लक्ष्य अपने प्रेम के ब्रह्मास्त्र से शत्रु के हृदय में परिवर्तन करके उसकी बुराई को दूर करने का यत्न करना है। **दूसरा** तत्व अनन्त धैर्य है। यदि उसे अपने प्रयत्न में जल्दी सफलता नहीं होती तो वह निराश नहीं होता है। उसे दृढ़ विश्वास है कि अहिंसा अचूक ब्रह्मास्त्र है, वह अन्त में अवश्य सफल होगी। अतः भारी विफलताएँ मिलने के बावजूद वह हिम्मत नहीं हारता और धैर्यपूर्वक अपने पथ पर अग्रसर होता है। **तीसरा** तत्व अन्याय का विरोध करना है। अहिंसा निष्क्रियता, अकर्मण्यता या उदासीनता नहीं, अपितु बुराई का तथा अन्याय का सतत प्रतिकार करते रहना है। अहिंसक योद्धा बुराइयों को खोजकर उनसे लोहा लेता है। अन्यायी के अत्याचारों से घबराता नहीं है, अपितु वीरतापूर्वक उनका सामना करता है। अतः अहिंसा का **चौथा** मूलतत्व **वीरता** है। गांधी जी ने इस पर बहुत बल दिया। उनके मतानुसार अहिंसा सबल, साहसी और सशक्त पुरुषों का गुण है, निर्बलों और कायरों का हथियार नहीं है। अन्धकार और प्रकाश की तरह कायरता और अहिंसा में विरोध है। अहिंसा के प्रयोग तभी महत्व रखते हैं जब हम बलवान होते हुए तथा पशुबल का पूरा सामर्थ्य रखते हुए भी इसका प्रयोग न करें, दण्ड देने की शक्ति रखते हुए क्षमा करें। निर्बल या कायर व्यक्ति किसी को क्या क्षमा करेगा ? अतः अहिंसक युद्ध के लिए ऐसी अदम्य शक्ति होनी चाहिए कि वह सत्य और न्याय की रक्षा के लिए समस्त संसार के विरोध की भी परवाह न करे। अहिंसक योद्धा का सबसे बड़ा गुण वीरता और निर्भयता है, इसमें शस्त्रयुद्ध की अपेक्षा अधिक साहस अपेक्षित है, क्योंकि उसमें व्यक्ति को शस्त्रों पर भरोसा होता है; इसमें सबसे बड़ा हथियार उसकी आत्मा का बल है। ऐसा वीरतापूर्ण आत्मबल न होने की दशा में गांधी जी हिंसा और बल-प्रयोग को अधिक श्रेष्ठ समझते थे। उनके मतानुसार, "विदेशी राज्य के सामने दीन-भाव से अपनी प्रतिष्ठा खोने की अपेक्षा यह कहीं अधिक अच्छा है कि भारत शस्त्र

धारण करके आत्मसम्मान की रक्षा करे।" अहिंसा के लिए आवश्यक बल शस्त्रों की पाशविक शक्ति नहीं, किन्तु आत्मबल है।

गांधी जी की **अहिंसा का आधार** अद्वैत की भावना है। इस चराचर सृष्टि की सभी वस्तुओं में एक ही चेतन सत्ता या ब्रह्म ओतप्रोत है। सभी में भगवान् का दिव्य अंश है। एक ही दैवी सत्ता का अंश होने से इनमें मौलिक एकता, समानता और प्रेमभाव है। जब सब कुछ भगवान् का रूप है और मैं भी वास्तव में उसी का रूप हूँ, तो मैं किसी से कैसे द्वेष कर सकता हूँ, किससे डर सकता हूँ और किसे डरा सकता हूँ। यह अद्वैत की भावना सृष्टि के सभी प्राणियों के प्रति मुझे आत्मरूप होने के कारण प्रेम और अहिंसा के धर्म का पालन करने के लिए बाधित करती है।

अहिंसा की श्रेष्ठता—गांधी जी इतिहास के आधार पर अहिंसा की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं। द्वन्द्वात्मक संघर्ष में विश्वास रखने वाले कार्ल मार्क्स से सर्वथा विपरीत वे मानव-समाज के इतिहास को उसकी अहिंसा का निरन्तर अग्रगामी विकास मानते हैं। आदिम जातियों के बारे में कहा जाता है कि वे नर-मांसभक्षी (Cannibals) थीं। किन्तु बाद में मनुष्यों ने मनुष्यों का मांस खाना अनुचित समझा, शिकार द्वारा पशुओं के मांस से उदरपूर्ति करने लगे। कुछ समय बाद मानव ने आखेट द्वारा आहार प्राप्त करने की पद्धति का परित्याग किया, क्योंकि मनुष्य निरन्तर भटकते रहने वाले, शिकारी जीवन से ऊब गया था। अब उसने पशुओं को मारने के स्थान पर उनका पालन करना तथा बाद में खेती करना शुरू किया। इससे उसके जीवन में स्थिरता आई; गांवों, नगरों, राष्ट्रों तथा सभ्यता का विकास हुआ। इस प्रकार सभ्यता के उपर्युक्त विकास से यह स्पष्ट है कि इतिहास में हिंसा का प्रयोग निरन्तर घटता जा रहा है और अहिंसा का प्रयोग बढ़ रहा है। सभी धर्मप्रवर्त्तकों तथा महापुरुषों ने अहिंसा का उपदेश किया है। यद्यपि आज भी संसार में हिंसा विद्यमान है, अणुबमों जैसे हिंसा के प्रबल साधनों का निर्माण हो रहा है; किन्तु इसके साथ ही अहिंसा की भावना भी प्रबल हो रही है। मनुष्य पशुतुल्य होने पर हिंसाप्रेमी होता है किन्तु अपना उच्चतर आध्यात्मिक विकास होने पर अहिंसाप्रेमी बन जाता है। मानव-समाज की प्रगति अब तक अहिंसा की दिशा में होती आई है और भविष्य में भी उसकी प्रगति इसी दिशा में होती रहेगी। वस्तुतः अहिंसा का नियम हिंसा के नियम से श्रेष्ठ एवं उच्चतर तथा मानव-जगत् का सर्वोच्च नियम है। यदि ऐसा न होता, हिंसा बढ़ती चली जाती और अहिंसा की मात्रा घटती जाती, तो मानव-जाति बहुत पहले ही नष्ट हो जाती।

ऐतिहासिक विकास के अतिरिक्त अहिंसा अन्य कई कारणों से भी श्रेष्ठ है: **पहला** कारण यह है कि यह आत्मिक शक्ति है जो छोटे-से-छोटे तथा कमजोर बच्चों और बूढ़ों में भी पाई जाती है। शस्त्रों द्वारा हिंसात्मक लड़ाई केवल नौजवान ही लड़ सकते हैं, किन्तु प्रेम की शक्ति का प्रयोग एक अत्यन्त बूढ़ी और कृश मां अपने हट्टे-कट्टे, नौजवान किन्तु पथभ्रष्ट पुत्र पर करके उसे सन्मार्ग पर ला सकती है। प्रेम की शक्ति का प्रयोग पशुओं पर भी हो सकता है, इसकी शक्ति से शेर-चीतों को भी पालतू और मित्र बनाने के दृष्टान्त मिलते हैं। **दूसरा** कारण हिंसा का सतत एवं

स्वतः क्रियाशील होना है, इसके प्रयोग के लिए हमें शारीरिक शक्ति का सहारा नहीं लेना पड़ता। शस्त्रों से अपने शत्रु का वध करने वाले सैनिक को २४ घण्टे में कुछ समय के लिए अवश्य विश्राम करना पड़ता है, किन्तु अहिंसाव्रतधारी के लिए ऐसे विश्राम की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसको किन्हीं बाह्य शस्त्रों का प्रयोग न करके हृदय के भीतर सदैव कार्य करने वाली प्रेम की भावना का प्रयोग करना है। **तीसरा** कारण यह है कि अहिंसा का आत्मबल शत्रु पर अचेतन, अज्ञात एवं अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालता है और यह शस्त्रबल की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता है। शस्त्रबल रखने वाले की कार्यवाही प्रत्यक्ष, तात्कालिक एवं क्षणिक प्रभाव डालने वाली होती है, किन्तु अहिंसा और प्रेम का प्रभाव अदृश्य, अप्रत्यक्ष और स्थायी होती है। **चौथा** कारण हिंसा की विफलता और अहिंसा की निश्चित सफलता है। प्रेम से प्राप्त की जाने वाली वस्तु स्थायी होती है, किन्तु द्वेष और घृणा से प्राप्त की जाने वाली वस्तु अस्थायी होती है क्योंकि यह हारे हुए शत्रु के हृदय में प्रबल प्रतिशोध और घृणा के भाव उत्पन्न करती है; वैर वैर को शान्त नहीं करता है, किन्तु उग्र बनाता है। आग आग से नहीं, बल्कि पानी से शान्त होती है। अहिंसा और प्रेम कुछ समय के लिए विफल हो सकते हैं, किन्तु उनकी अन्तिम सफलता निश्चित है, क्योंकि अहिंसा और प्रेम में पत्थर जैसे दिलों को भी पिघलाने की सामर्थ्य है। इन सब कारणों से अहिंसा मनुष्य के पास अणुबमों से भी अधिक शक्तिशाली ब्रह्मास्त्र है।

गांधी जी की अहिंसा की विशेषताएँ—गांधी जी की अहिंसा की दो बड़ी विशेषताएँ हैं: पहली विशेषता इसका सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन है तथा दूसरा इसके क्षेत्र का विस्तार करके इसे नूतन आयाम प्रदान करना है। गांधी जी से पहले अहिंसा का सामान्य अर्थ किसी जीव का प्राण न लेना तथा इसे खान-पान के विषय तक सीमित रखना था। गांधी जी ने इसका विस्तृत विवेचन करते हुए कहा कि यह खाद्याखाद्य के विषय से परे है; मांसाहारी अहिंसक हो सकता है, फलाहारी या अन्नाहारी घोर हिंसा करते देखे जाते हैं। एक व्यापारी झूठ बोलता है, ग्राहकों को ठगता है, कम तोलता है, एक महाजन लोगों की विवशता का लाभ उठाकर उनसे अत्यधिक ब्याज वसूल करता है। ये व्यापारी और महाजन चींटी को आटा डालते हैं, फलाहार करते हैं। फिर भी ये उस मांसाहारी की अपेक्षा अधिक हिंसक हैं जो मांसाहार करते हुए भी ईमानदार है और किसी को धोखा नहीं देता है। इस प्रकार गांधी जी ने जीवहिंसा की विवेचना करते हुए अहिंसा की परम्परागत परिभाषा और सीमा में नवीन क्रान्तिकारी परिवर्तन और विस्तार किया।[1]

दूसरी विशेषता अहिंसा के कार्यक्षेत्र का विस्तार है। गांधी जी से पहले अहिंसा ऋषि-मुनियों द्वारा कठोर साधना द्वारा सिद्ध किया जाने वाला व्यक्तिगत गुण समझा जाता था। उन्होंने इसका क्षेत्र विस्तीर्ण किया। व्यक्तिगत और कौटुम्बिक क्षेत्र की संकीर्ण परिधि से निकालकर इसे सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में सभी प्रकार के अन्यायों का प्रतिकार करने का शस्त्र बनाया, इसे ऋषि-मुनियों तक मर्यादित न रखकर सार्वजनिक और सार्वभौम बनाया। २२-२-४० को 'गांधी

१. श्री रामनाथ सुमन—अहिंसा और सत्य

सेवासंघ' के मालिकान्दा अधिवेशन में इस विषय पर उन्होंने अपने विचार स्पष्ट करते हुए कहा था कि "अहिंसा यदि व्यक्तिगत गुण है तो मेरे लिए त्याज्य वस्तु है। मेरी अहिंसा की कल्पना व्यापक है। वह करोड़ों की है। मैं तो उनका सेवक हूँ।...... हम तो यह सिद्ध करने के लिए पैदा हुए हैं कि सत्य और अहिंसा व्यक्तिगत आचार के नियम नहीं हैं ; वे समुदाय, जाति और राष्ट्र की नीति का रूप ले सकते हैं। मेरा यह विश्वास है कि अहिंसा सदैव के लिए है। यह आत्मा का गुण है, इसलिए व्यापक है।......अहिंसा सबके लिए है, सब जगहों के लिए है, सब समय के लिए है।" 'हरिजन सेवक' (१६-३-४०) में उन्होंने लिखा था—"हमें सत्य और अहिंसा को केवल व्यक्तियों की वस्तु नहीं बनाना है, बल्कि ऐसी वस्तु बनाना है जिस पर समूह, जातियाँ और राष्ट्र अमल कर सकें।" अन्यत्र उन्होंने यह लिखा था कि "मैंने यह विशेष दावा किया है कि अहिंसा सामाजिक वस्तु है, केवल व्यक्तिगत वस्तु नहीं है। मनुष्य केवल व्यक्ति नहीं, वह पिण्ड भी है, ब्रह्माण्ड भी है। वह अपने ब्रह्माण्ड का बोझ अपने कन्धे पर लिए फिरता है। जो धर्म व्यक्ति के साथ समाप्त हो जाता है वह मेरे काम का नहीं है। मेरा यह दावा है कि सारा समाज अहिंसा का आचरण कर सकता है।"[1] अहिंसा के विषय में गांधी जी की यह सबसे बड़ी मौलिक देन थी। भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए राजनीतिक क्षेत्र में अहिंसा के सफल प्रयोग से उन्होंने अपने उपर्युक्त दावे को वस्तुतः सत्य सिद्ध किया। उन्होंने अन्याय व अत्याचार के विरुद्ध गतिशील अहिंसा का प्रयोग सत्याग्रह के रूप में किया।

गांधी जी की कार्य-पद्धति—सत्याग्रह का नामकरण—गांधी जी ने अहिंसा के सिद्धान्त को मूर्त्तरूप देने के लिए राजनीतिक क्षेत्र में जिस कार्य-पद्धति का प्रयोग किया, वह सत्याग्रह है। इसके नाम और मौलिक सिद्धान्तों का विकास दक्षिण अफ्रीका में किया गया था। वहाँ की गोरी सरकार भारतीयों के प्रति अन्यायपूर्ण कानून पास कर रही थी। इनसे वहाँ बसे भारतीयों में तीव्र रोष और असन्तोष था। उन्होंने गांधी जी के नेतृत्व में इस अन्याय का अहिंसात्मक प्रतिरोध करने का निश्चय किया। उस समय इस आन्दोलन को अंग्रेजी में प्रचलित एक शब्द के आधार पर 'निष्क्रिय प्रतिरोध' (Passive Resistance) का नाम दिया गया। किन्तु गांधी जी को दो कारणों से यह शब्द पसन्द नहीं था। **पहला** कारण तो इसका अंग्रेज़ी शब्द होना तथा भारतीयों को इसका पूरा अर्थ समझ में न आना था। **दूसरा** कारण यह था कि इसमें गांधी जी द्वारा प्रतिपादित विचारों का पूरा समावेश नहीं होता था। यह आगे बताए जाने वाले 'निष्क्रिय प्रतिरोध' तथा 'सत्याग्रह' के भेद के विवेचन से स्पष्ट हो जाएगा। गांधी जी को अंग्रेजी शब्द का प्रयोग करने में लज्जा भी अनुभव होती थी। अतः वे यह समझते थे कि उन्होंने जिस आन्दोलन को आरम्भ किया है वह निःशस्त्र अथवा निष्क्रिय प्रतिकार (Passive Resistance) के सामान्य अर्थ से मूलतः भिन्न है। गांधी जी को इसके लिए उपयुक्त शब्द नहीं सूझा। अतः उन्होंने अपने पत्र 'इण्डियन ओपिनियन' में यह घोषणा प्रकाशित की कि इसके लिए जो व्यक्ति अच्छा शब्द सुझाएगा उसे इनाम दिया जाएगा। इसके परिणामस्वरूप कई लोगों ने

१. हरिजन सेवक, २२-६-४०

सुझाव भेजे। श्री मदनलाल गांधी ने 'सदाग्रह' शब्द सुझाया, इसका अर्थ है अच्छे काम में निष्ठा। गांधी जी को यह शब्द पसन्द आया, किन्तु वे इससे पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं हुए। पूरे अर्थ को अभिव्यक्त करने की दृष्टि से उन्होंने इसमें संशोधन करके इसका नाम 'सत्याग्रह' रखा। इसका अर्थ है सत्य के लिए आग्रह करना; इसका आधार है सत्य की अर्थात् सत्य से उत्पन्न होने वाले प्रेम तथा अहिंसा की शक्ति। यह शारीरिक बल अथवा शस्त्रों की भौतिक शक्ति से सर्वथा भिन्न है। यह आत्मा की शक्ति है। सत्याग्रह का संचालन इस आत्मिक शक्ति के आधार पर किया जाता है, अतः गांधी जी ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्द स्वराज्य' में सत्याग्रह को 'आत्मबल' का भी नाम दिया है और इसके स्वरूप का विशद विवेचन किया है।

दार्शनिक आधार—सत्याग्रह का अर्थ है सत्य पर आग्रह करते हुए अत्याचारी का प्रतिरोध करना, उसके सामने सिर को न झुकाना तथा उसकी बात को न मानना। अत्याचारी और अन्यायी को तभी सफलता मिलती है जब लोग भयभीत होकर उसके सामने घुटने टेक दें। किन्तु यदि लोग यह दृढ़ संकल्प कर लें और यह घोषणा कर दें कि 'तुम चाहे जो करो, हम तुम्हारी आज्ञा का पालन नहीं करेंगे' तो अत्याचारी शासक उन्हें मरवा सकता है, किन्तु उनसे अपनी आज्ञा का पालन नहीं करा सकता है। इस प्रकार लोगों को मरवाने से उसका अपनी आज्ञा का पालन कराने का उद्देश्य तो पूरा नहीं हो सकता है, क्योंकि वह उन्हें अपने आदेश के पालन के लिए विवश करना चाहता है। जब उसे इस बात का निश्चय हो जाता है कि वह अपने प्रजाजनों को मार डालने पर भी अपनी इच्छा इनसे नहीं मनवा सकता तो वह अपना दमन निरर्थक समझता है और इसे छोड़ देता है। इसके अतिरिक्त उसके हृदय पर सत्याग्रहियों द्वारा झेली जाने वाली कठोर यातनाओं और कष्टों का भी प्रभाव पड़ता है। कोई व्यक्ति कितना ही निष्ठुर, क्रूर और वज्रहृदय क्यों न हो, उसमें मनुष्यता, करुणा और प्रेम का सर्वथा अभाव नहीं होता है। सत्याग्रही द्वारा प्रसन्नतापूर्वक कष्ट झेलने से अत्याचारी में मनुष्यता की प्रसुप्त भावना जागृत हो उठती है। लोकमत का धिक्कार और निन्दा भी इसे जागृत करने में सहायक होती है। इसके परिणामस्वरूप अन्त में एक ऐसी स्थिति आ जाती है कि अत्याचारी की आँखें खुल जाती हैं, उसे अपने किए अत्याचारों पर पश्चात्ताप होने लगता है। उस समय वह सत्याग्रहियों से समझौता कर लेता है और सत्याग्रह की विजय होती है। यह आत्मबल द्वारा अत्याचारी के हृदय-परिवर्तन पर बल देने वाली प्रक्रिया है।

गांधी जी ने इसका विवेचन करते हुए लिखा है कि "यह शस्त्रबल से उलटा है।...मिसाल के लिए मान लीजिए सरकार ने एक कानून बनाया जो मुझ पर लागू होता है। वह मुझे पसन्द नहीं है। अब यदि मैं सरकार पर हमला करके उसे वह कानून रद्द करने को मजबूर करूँ तो मैंने शरीरबल से काम लिया। पर मैं उस कानून को मंजूर ही न करूँ, उसे न मानने की जो सजा मिले, उसे खुशी से भुगत लूँ तो मैंने आत्मबल से काम लिया अथवा सत्याग्रह किया। सत्याग्रह में अपनी ही बलि देनी होती है।"[1] यह आत्मबल का शरीरबल अथवा पशुबल के साथ संघर्ष है।

१. मोहनदास करमचन्द गांधी—हिन्द स्वराज्य (सत्साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, १९५८), पृ० ८४-८५

इसमें पशुबल पर आत्मबल की विजय निश्चित है। इस संघर्ष में संख्या का महत्व नहीं है। एक भी सच्चरित्र और दृढ़प्रतिज्ञ सत्याग्रही बड़े-से-बड़े साम्राज्य से टक्कर ले सकता है। स्वयं गांधी जी ने शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य से लोहा लिया था। किन्तु सत्याग्रही इस संघर्ष को तभी सफलतापूर्वक कर सकता है जब उसने इसके सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझकर अपने जीवन में सत्याग्रही के लिए सब आवश्यक गुण धारण कर लिए हों और पूर्णरूप से आत्मशुद्धि कर ली हो। जिस प्रकार सशस्त्र प्रतिरोध करने वाले सैनिक के लिए कुछ गुणों का होना आवश्यक है, उसी प्रकार सत्याग्रही के लिए भी कुछ गुण अपेक्षित हैं और उसका सत्याग्रह की रणकला से परिचित होना आवश्यक है।

'हिन्द स्वराज्य' में गांधी जी ने १९०८ में सत्याग्रही के आवश्यक गुण सत्य-निष्ठा या ईमानदारी, निर्भयता, ब्रह्मचर्य, निर्धनता और अहिंसा बताए थे। सत्यनिष्ठा का अर्थ है कि सत्याग्रही कभी किसी छल, झूठ या चालाकी का आश्रय नहीं लेता है। उसका समस्त व्यवहार सबके सामने पुस्तक के खुले पृष्ठ की भाँति स्पष्ट रहता है। निर्भयता सत्याग्रही का एक बड़ा गुण है। गांधी जी के शब्दों में अभय के बिना तो सत्याग्रही की गाड़ी एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकती है। उसे सभी बातों में निर्भय होना चाहिए; किसी प्रकार की मोह-ममता न रखकर, भूमि, घर, रुपया, पैसा, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा जीवन तक का बलिदान करने को तैयार होना चाहिए। ब्रह्मचर्य का अर्थ विषय-वासना के बन्धनों से मुक्त होना है, इनमें फँसा रहने वाला सत्याग्रही नहीं हो सकता है। सत्याग्रही को निर्धनता का भी व्रत लेने की आवश्यकता है। "पैसे का लोभ और सत्याग्रह की साधना दोनों चीजें एकसाथ नहीं हो सकती हैं।" अहिंसा सत्याग्रह का मूल है; इसका अर्थ है मन, वचन तथा कर्म से अहिंसा अर्थात् शत्रु को न तो मारना, पीटना, न कठोर वचन कहना और न मन से उसका बुरा सोचना। इसे पहले स्पष्ट किया जा चुका है। 'हिन्द स्वराज्य' में प्रतिपादित उपर्युक्त व्रतों में गांधी जी ने बाद में कुछ अन्य व्रतों की वृद्धि करके ११ व्रतों का पालन और साधना आवश्यक बताया है। ये व्रत निम्नलिखित हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह या अपरिग्रह, शरीर-श्रम, अस्वाद, निर्भयता, सब धर्मों को समान दृष्टि से देखना, स्वदेशी तथा अस्पृश्यता-निवारण।

सत्याग्रह के नियम—सत्याग्रह के शस्त्र का प्रयोग बड़ी सावधानी और बुद्धिमत्ता के साथ उस समय करना चाहिए जब शान्तिपूर्ण रीति से अन्याय का प्रतिकार करने के अन्य साधनों का प्रयोग विफल हो चुका हो। पहले अधिकारियों से अन्याय या कठिनाई को दूर करने की प्रार्थना करनी चाहिए, उन्हें तथा जनता को शान्तिपूर्वक युक्तियों द्वारा अपने पक्ष का समर्थक बनाना चाहिए, इस विषय में साधारण जनता में अनुकूल मत जागृत करने का प्रयत्न होना चाहिए। इन उपायों के विफल होने पर तथा जनमत तैयार करने के बाद ही सत्याग्रह आरम्भ करना चाहिए। सत्याग्रह शुरू करने से पहले अपनी न्यूनतम मांग निश्चित कर लेनी चाहिए, इस मांग को पूरा करने पर आग्रह करना चाहिए तथा घोर अत्याचार और दमन होने पर भी इस मांग के पूरा होने तक आन्दोलन जारी रखना चाहिए। इसमें अहिंसा का पालन

पूर्ण रूप से आवश्यक है। इसका उद्देश्य विरोधी को हराना या नीचा दिखाना नहीं, किन्तु उसका हृदय-परिवर्तन करके उसे अपने अनुकूल बनाना है। यह कार्य सत्याग्रही अपने ऊपर कष्ट झेलकर करता है। सत्याग्रही के स्वेच्छापूर्वक कष्ट सहने से तथा अपनी बात पर दृढ़तापूर्वक डटे रहने से ही विरोधी का हृदय द्रवित होता है। गांधी जी के शब्दों में, "सत्याग्रह में अपनी ही बलि देनी होती है। इस बात को सभी स्वीकार करेंगे कि परबलि से आत्मबलि कहीं ऊँची वस्तु है।"[1] अतः सत्याग्रही अधिकारियों द्वारा दिए गए दण्डों को अंगीकार करता है, इनसे बचने के लिए भागने या छिपने का यत्न नहीं करता है। सत्याग्रही के लिए यह भी आवश्यक है कि वह अधिकारियों का विरोध सीमित मात्रा में करे, इसे अन्यायपूर्ण कानूनों के विरोध तक ही मर्यादित रखे, इसे व्यापक बनाने से समाज में उच्छृंखलता तथा अराजकता के बढ़ने की सम्भावना है; अन्यथा यह सत्याग्रह दुराग्रह में परिणत हो जाएगा।

१९३० में डांडी यात्रा करने से पहले गांधी जी ने सत्याग्रहियों द्वारा पालन किए जाने वाले नियमों का प्रतिपादन २७-२-३० के 'हिन्दी नवजीवन' तथा 'यंग इंडिया' में किया था। इसके आरम्भ में गांधी जी ने लिखा था—"प्रेम दूसरों को नहीं जलाता, वह स्वयं को ही जलाता है। अतः सत्याग्रह अर्थात् सविनय कानून-भंग करने वाला प्राणान्तक कष्ट को भी प्रसन्नतापूर्वक सह लेता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि सविनय कानून-भंग करने वाला वर्तमान शासन-व्यवस्था का अन्त करने के लिए जहाँ रक्त की अन्तिम बूंद तक दे देगा, वहाँ किसी भी अंग्रेज को मनसा-वाचा-कर्मणा किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं देगा।" इस लेख में गांधी जी ने सत्याग्रही के लिए वैयक्तिक जीवन में, कारावास में बन्दी होने की दशा में, साम्प्रदायिक दंगों के अवसरों पर पालन किए जाने वाले नियमों का प्रतिपादन विस्तार से किया था। सत्याग्रही के वैयक्तिक जीवन में उन्होंने प्रधान रूप से निम्नलिखित नियमों के पालन पर बल दिया था—(१) सत्याग्रही अपने में गुस्से को कोई स्थान नहीं देगा। (२) वह विरोधियों के रोष को सहन करेगा। (३) ऐसा करते हुए वह बदले की भावना से विरोधियों पर हाथ नहीं उठाएगा। शत्रु द्वारा क्रोधावेश में दी गई आज्ञा, दण्ड या अन्य किसी प्रकार के भय के सामने वह अपना सिर नहीं झुकाएगा। (४) जिस समय कोई अधिकारी सविनय आज्ञाभंग करने वाले को पकड़ने आएगा तो वह स्वयं गिरफ्तार हो जाएगा; जब अधिकारी उसकी सम्पत्ति जब्त करने अथवा उसे ले जाने के लिए आएँगे तो वह उनका प्रतिकार नहीं करेगा। (५) यदि सत्याग्रही किसी सम्पत्ति का ट्रस्टी है तो वह उसे सरकार के कब्जे में देने से इनकार करेगा, भले ही इसमें उसके अपने प्राण खतरे में पड़ जाएँ। (६) सविनय कानून-भंग करने वाला विरोधियों का अपमान भी नहीं करेगा, ऐसा कोई नारा नहीं लगाएगा जो अहिंसा की भावना के विरुद्ध हो। (७) इस संघर्ष में यदि कोई किसी अधिकारी का अपमान करता है अथवा उस पर हमला करता है तो सविनय आज्ञाभंगकारी अपने प्राणों को संकट में डालकर भी उस अधिकारी की अथवा उन अधिकारियों की उस अपमान से रक्षा करेगा।

---

१. हिन्द स्वराज्य, पृ० ८५

सत्याग्रह के विभिन्न रूप : (१) निष्क्रिय प्रतिरोध—गांधी जी ने अपने जीवन में सत्याग्रह का प्रयोग अनेक राजनीतिक आन्दोलन चलाने के लिए किया तथा इन्हें विभिन्न समयों में विभिन्न नाम दिए। इसका पहला राजनीतिक प्रयोग उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में किया। वहाँ इसे पहले पाश्चात्य जगत् में प्रचलित शब्द के आधार पर 'निष्क्रिय प्रतिरोध' (Passive Resistance) का नाम दिया गया। उस समय इसका सामान्य अर्थ यह समझा जाता था कि अन्याय का विरोध शस्त्रों द्वारा न किया जाए, अपितु शान्तिपूर्ण रीति से किया जाए। अतः इसे 'निःशस्त्र प्रतिरोध' भी कहा जा सकता है। इसे कमजोर लोगों द्वारा अपनाया जाने वाला एकमात्र साधन समझा जाता है। इसमें अहिंसा या हथियारों के प्रयोग का निषेध इसलिए नहीं होता है कि हिंसा बुरी है, अपितु यह इसलिए होता है कि कमजोर होने के कारण अथवा हथियार न होने के कारण हिंसा का प्रयोग करने की शक्ति नहीं होती है, शस्त्रों के अभाव में अहिंसक प्रतिरोध के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं होता है। यदि शस्त्र मिल जाएँ तथा इनके प्रयोग से सफलता मिलने की सम्भावना हो तो इनका प्रयोग भी किया जा सकता है। इसमें किसी प्रकार का सैद्धान्तिक विरोध या आपत्ति नहीं होती। निःशस्त्र प्रतिरोध का उद्देश्य किसी विशेष कार्य के लिए शत्रु को परेशान करना तथा उस पर दबाव डालना है, उसमें प्रेम या अहिंसा के लिए स्थान नहीं है, वह घृणा और अविश्वास पर टिका हुआ है। किन्तु आदर्श सत्याग्रह इससे सर्वथा भिन्न है, सत्य के लिए आग्रह का कार्य अहिंसा के सिद्धान्त पर सुदृढ़ रहते हुए करना इसकी आधारशिला है। इसमें प्रत्येक अवस्था में हिंसा का त्याग किया जा सकता है। सत्याग्रह में शत्रु को अथवा उसकी सम्पत्ति को किसी भी प्रकार अहित न पहुँचाने की भावना, अपितु स्वयमेव कष्ट सहन करके शत्रु का हृदय-परिवर्तन करने की उदात्त भावना निहित है। सत्याग्रह मनुष्य की स्वाभाविक दैवी प्रवृत्तियों के उद्बोधन पर बल देता है। अतः सूक्ष्म विचार करने से **निष्क्रिय प्रतिरोध तथा सत्याग्रह में निम्नलिखित अन्तर** प्रतीत होते हैं—

(१) सत्याग्रही अहिंसा के सिद्धान्त को अपना मौलिक तत्व समझता है, किसी भी दशा में इसका परित्याग नहीं करता है। परिस्थिति अनुकूल होने पर भी वह किसी भी अवस्था में हिंसा का प्रयोग नहीं करता है। किन्तु निष्क्रिय प्रतिरोध में अपनी कमजोरी के कारण, नीति के रूप में अहिंसा का पालन किया जाता है, न कि मौलिक सिद्धान्त के रूप में। (२) निष्क्रिय प्रतिरोध में शत्रु को परेशान करने की भावना पर बल दिया जाता है, किन्तु सत्याग्रह में सत्याग्रही स्वयमेव अधिकतम कष्ट झेलता है, पर शत्रु को कभी कोई कष्ट नहीं देता है। (३) निष्क्रिय प्रतिरोध का उद्देश्य शत्रु पर दबाव डालकर उसे अन्याय का प्रतिकार करने के लिए विवश करना है, किन्तु सत्याग्रही प्रेम और अहिंसा की शक्ति से शत्रु का प्रतिकार करना चाहता है। (४) निष्क्रिय प्रतिरोध निर्बलों का हथियार है और सत्याग्रह वीरों का। "सत्याग्रह के लिए जिस हिम्मत और मर्दानगी की जरूरत होती है, वह तोप तथा बन्दूक का बल रखने वाले के पास हो ही नहीं सकती।"[1] गांधी जी के शब्दों में नामर्द

१. हिन्द स्वराज्य, पृ० ८७

कभी सत्याग्रही नहीं हो सकता है।[1] दूसरी ओर निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग प्रायः निर्बल व्यक्ति ही करते हैं। (५) निष्क्रिय प्रतिरोध द्वेषमूलक है, घृणा और अविश्वास पर टिका होता है। इसका उपयोग आत्मीय स्वजनों तथा रिश्तेदारों के विरुद्ध नहीं किया जा सकता है। सत्याग्रह प्रेममूलक है, वह शत्रु के प्रति प्रेम और उदारता के भाव रखता है। इस शस्त्र का प्रयोग अपने निकटतम और प्रियतम व्यक्ति के प्रति भी किया जा सकता है। जिसके लिए प्रेम होता है, सत्याग्रही उसके लिए अधिकतम कष्ट सहता है। (६) निष्क्रिय प्रतिरोध में रचनात्मक प्रवृत्ति या कार्यों के लिए कोई स्थान नहीं है, उसका कोई अपना विशिष्ट जीवन-सिद्धान्त नहीं है। किन्तु सत्याग्रह में प्रत्यक्ष लड़ाई न होने पर सत्याग्रही त्याग और सेवा की भावना से प्रेरित होकर अपने को खादी, ग्रामोद्योग, अस्पृश्यता-निवारण, प्रौढ़-शिक्षा, साक्षरता-प्रसार, समग्र-ग्रामसेवा, राष्ट्रभाषा-प्रचार, जातीय एकता, मद्यपान-निषेध आदि राष्ट्रहितकारी और जनकल्याणकारी कार्यों में लगा देता है।

सत्याग्रह के विभिन्न रूप—गांधी जी ने भारत के राजनीतिक आन्दोलनों में सत्याग्रह का तीन विभिन्न रूपों में प्रयोग किया—(१) असहयोग (Non-Cooperation), (२) सविनय आज्ञाभंग (Civil Disobedience), (३) व्यक्तिगत सत्याग्रह[2] (Individual Satyagraha)। इससे पहले दक्षिण अफ्रीका में उनके द्वारा चलाए गए आन्दोलन को 'निष्क्रिय प्रतिरोध' (Passive Resistance) का नाम दिया जाता है, यद्यपि उन्होंने स्वयं इसे 'सत्याग्रह आन्दोलन' कहा था तथा निष्क्रिय प्रतिरोध से भिन्न माना था। १९२०-२१ में गांधी जी द्वारा चलाए गए आन्दोलन को 'असहयोग' का नाम दिया गया, क्योंकि इस समय गांधी जी ने इस बात पर बल दिया था कि यदि हम अपने पर अन्याय करने वाली ब्रिटिश सरकार की पराधीनता से मुक्त होकर स्वराज्य प्राप्त करना चाहते हैं तो इसका एकमात्र उपाय भारतीयों द्वारा ब्रिटिश सरकार से सब प्रकार का असहयोग करना—उसकी नौकरियों को छोड़ना, अदालतों, स्कूलों, कालिजों का बहिष्कार करना है। यदि सरकार को शासन-कार्य में सहायता देने वाले भारतीय व्यक्ति ब्रिटिश सरकार से असहयोग कर दें तो मुट्ठी-भर अंग्रेज भारत पर शासन नहीं कर सकते हैं। इससे भारतवर्ष को अहिंसक रीति से स्वराज्य मिल जाएगा। गांधी जी का दूसरा आन्दोलन १९३०-३१ में 'सविनय आज्ञाभंग' (Civil Disobedience) का था। जब ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस के प्रस्ताव के अनुसार भारतवर्ष को पूर्ण स्वराज्य देना स्वीकार नहीं किया तो गांधी जी ने ब्रिटिश सरकार के अन्यायपूर्ण कानूनों की अवहेलना करने के लिए 'सविनय आज्ञाभंग आन्दोलन' चलाया। वे ब्रिटिश सरकार द्वारा नमक पर लगाए गए कर को गरीबों के लिए अत्यन्त अन्यायपूर्ण समझते थे। इसी प्रकार अनेक स्थानों पर जंगल-सम्बन्धी कानूनों से निर्धन व्यक्तियों पर घोर अत्याचार होता था। गांधी जी ने भारतीयों से ब्रिटिश सरकार के ऐसे कानूनों को तोड़ने को कहा और स्वयमेव गुजरात में समुद्रतट पर

१. हिन्द स्वराज्य, पृ० ८८
२. इनके विशद वर्णन के लिए देखिए : रंगनाथ दिवाकर—सत्याग्रह मीमांसा, पृ० २३१ से २७४

स्थित डांडी नामक स्थान पर 'नमक कानून' तोड़ने के लिए अहमदाबाद से पैदल प्रयाण किया। १९४०-४१ में अंग्रेजों द्वारा भारत को द्वितीय विश्वयुद्ध में घसीटने के बाद उन्होंने ब्रिटिश सरकार के विरोध में 'व्यक्तिगत सत्याग्रह' (Individual Satyagraha) का आन्दोलन शुरू किया, इसमें श्री विनोबा भावे को प्रथम सत्याग्रही बनाया गया।

इन तीन अखिल भारतीय सत्याग्रह आन्दोलनों के अतिरिक्त गांधी जी के नेतृत्व में कई अन्य सत्याग्रह आन्दोलन सफलतापूर्वक चलाए गए।[1] दक्षिण अफ्रीका का आन्दोलन (१९०६ से १९१४), वीरमगांव का चुंगी-कर आन्दोलन (१९१५), गिरिमिटिया मजदूरों की प्रथा बन्द करने का आन्दोलन (१९१७), चम्पारन में नील की खेती करने वाले गोरों के विरुद्ध आन्दोलन (१९१७), खेड़ा सत्याग्रह (१९१८), अहमदाबाद में मजदूरों का सत्याग्रह (१९१८), रौलट एक्ट सत्याग्रह (१९१९), वाइकोम सत्याग्रह (१९२५), बारडोली सत्याग्रह (१९२८), कर्नाटक में सिरशी, सिद्दापुर तथा हिरेकरूर के कर-बन्दी आन्दोलन (१९३१)।

सत्याग्रह के साधन—गांधी जी ने सामूहिक रूप से बड़े पैमाने पर सत्याग्रह के लिए निम्नलिखित साधनों के प्रयोग का परामर्श दिया है—(१) असहयोग, (२) सविनय कानून-भंग, (३) उपवास, (४) हिजरत, (५) धरना, (६) हड़ताल, (७) सामाजिक बहिष्कार।

पहले असहयोग के मौलिक सिद्धान्त पर प्रकाश डाला जा चुका है। गांधी जी के मतानुसार किसी देश का शासन उसकी सैनिक शक्ति पर नहीं अपितु जनता के सक्रिय सहयोग पर आधारित होता है। यदि जनता सरकार को यह सहयोग और समर्थन न प्रदान करे तो शासन सर्वथा निराधार होकर शीघ्र ही समाप्त हो जाएगा। "अधिकतम अत्याचारी शासन भी शासितों की सहमति के बिना नहीं टिक सकता। प्रजाजन ज्योंही इस शासन से डरना बन्द कर देते हैं तो शासक की शक्ति समाप्त हो जाती है। सामान्य रूप से प्रत्येक नागरिक को सरकारी आदेशों तथा कानूनों का पालन करना चाहिए। किन्तु यदि सरकार जनता की इच्छाओं की परवाह नहीं करती है, यदि इसके कार्य अनैतिक और अन्यायपूर्ण हैं तो जनता और नागरिकों का यह कर्त्तव्य है कि वे सरकार के साथ असहयोग करें।"[2] गांधी जी के शब्दों में अनन्त-काल से प्रजा का यह अधिकार स्वीकार किया जाता रहा है कि वे कुशासन करने वाले शासक को सहयोग देने से इनकार कर दें। किन्तु असहयोग के समय सत्याग्रही को सर्वथा अहिंसक रहना चाहिए।

दूसरा साधन सविनय कानून-भंग करने का है। गांधी जी ने १९३० में इसका आन्दोलन चलाया था। इसका पहले वर्णन किया जा चुका है (पृ० ६३९)।

तीसरा साधन उपवास है। गांधी जी इसे अहिंसा के शस्त्रागार में सबसे अधिक फलदायक अस्त्र मानते थे। उपवास के दो बड़े प्रयोजन आत्मशुद्धि तथा असत्य और अन्याय के विरुद्ध प्रतिकार है। यह कहावत प्रसिद्ध है—जैसा अन्न, वैसा मन। तामसिक और राजसिक आहार का हमारे मन पर बुरा असर पड़ता है और

---

१. रंगनाथ दिवाकर—सत्याग्रह मीमांसा, पृ० १४५—१६०
२. गोपीनाथ धवन—दी फिलासफी आफ महात्मा गांधी, पृ० २१०

सात्विक आहार का अच्छा। गांधी जी ने लिखा है—"मन का शरीर के साथ निकट सम्बन्ध है, विकारयुक्त मन अपने अनुकूल भोजन की तलाश में रहता है, फिर इस भोजन का और भोगों का असर मन पर होता है। इस अंश तक भोजन पर अंकुश रखने की और निराहार रहने की आवश्यकता होती है।" गांधी जी की 'उपवास' की परिभाषा व्यापक है। वे इसका अभिप्राय आत्मा की शुद्धि के लिए केवल अन्न का न ग्रहण करना ही नहीं समझते हैं, अपितु मन को भी सभी प्रकार के मलिन विचारों से मुक्त करना मानते हैं।[1] वे उपवास को न केवल अपनी आत्मशुद्धि के लिए अपितु दूसरों की शुद्धि के लिए और राजनीतिक समस्याओं का हल करने के लिए भी करते रहे हैं। १९२२ में चौरीचौरा का हिंसाकाण्ड होने पर इसे बन्द कराने के लिए उन्होंने पाँच दिन का उपवास किया। अस्पृश्यता को दूर करने तथा ब्रिटिश प्रधानमन्त्री रैम्ज़े मैकडानल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय की अस्पृश्यता-सम्बन्धी व्यवस्था रद्द कराने के लिए १९३३ में गांधी जी ने पांच दिन का सफल उपवास किया। हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए १९२४ में इक्कीस दिन का, १९४७ तथा १९४८ में दो उपवास किए। गांधी जी ने अपने उपवासों से अस्पृश्यता की और हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्याओं का सराहनीय समाधान किया।

चौथा साधन हिजरत या देश त्यागकर चला जाना है। यह बहुत पुराना साधन है। प्राचीन रोम में धनी एवं कुलीन वर्ग (Patricians) के अत्याचारों से परित्राण पाने के लिए निर्धन व्यक्ति (Plebians) जब रोम छोड़कर अन्यत्र चले गए तो कुलीन वर्ग को उनकी माँगें स्वीकार करने के लिए बाधित होना पड़ा। हज़रत मुहम्मद मक्का के कट्टरपन्थियों के अत्याचारों से बचने के लिए मदीना चले गए थे। इंगलैण्ड में प्यूरिटन लोग स्वतन्त्रतापूर्वक अपने धर्म का पालन करने के लिए सं० रा० अमेरिका में जा बसे थे। रूस के दुखोबोर लोगों ने भी ऐसा किया था।[2] गांधी जी ने 'हिन्द स्वराज्य' में इसका विवेचन करते हुए काठियावाड़ की एक रियासत का उदाहरण दिया है।[3] इसके एक राजा की आज्ञा प्रजा को पसन्द नहीं आई, इस पर लोगों ने गाँव खाली करना शुरू कर दिया। यह देखकर राजा घबराया, उसने प्रजा से माफी माँगी और अपनी आज्ञा वापिस ली। गांधी जी यह समझते हैं कि जब किसी देश में शासक के अत्याचार असह्य हो जाएँ, वहाँ सम्मानपूर्वक जीवन बिताना असम्भव हो जाए तो सत्याग्रही को वह स्थान छोड़कर चला जाना चाहिए। १९२८ के कर-बन्दी आन्दोलन में बारडोली के कृषकों पर जब बम्बई की सरकार की ओर से भीषण अत्याचार किए गए तो गांधी जी ने उन्हें हिजरत करने की सलाह दी। वहाँ के किसान पड़ोस के बड़ोदा राज्य में चले गए। १९३९ में गांधी जी ने लिम्बड़ी, जूनागढ़ और विट्ठलगढ़ के सत्याग्रहियों को भी यही परामर्श दिया था।

पाँचवाँ साधन धरना देना (Picketing) है। धरना देकर बैठने का अर्थ यह है कि जब तक हमारी बात नहीं मानी जाएगी, तब तक हम एक ही आसन पर स्थिर

१. आत्मकथा, पृ० १७१-७२
२. रंगनाथ दिवाकर—सत्याग्रह मीमांसा, पृ० २२१
३. हिन्द स्वराज्य, पृ० ८९

होकर भूखे बैठे रहेंगे । हिन्दू समाज में यह विश्वास प्रचलित है कि यदि इस प्रकार धरना देकर बैठने वाला व्यक्ति मर जाए तो वह भूत बनकर दुराग्रही प्रतिपक्षी को पछाड़ता है और उसे अत्यधिक कष्ट देता है । गांधी जी धरने के उस रूप को हिंसा मानते थे जिसमें हड़ताली मजदूर कारखाने के दरवाजे के आगे लेट जाते हैं और काम पर जाने वालों को उनके शरीरों पर से होकर जाने को लाचार करते हैं । वे शान्तिपूर्ण रीति से धरने के पक्षपाती थे । १९२०-२२ में तथा १९३०-३४ के आन्दोलनों में उनका यह कहना था कि शराब, अफीम आदि मादक द्रव्यों तथा विदेशी कपड़े की दुकानों पर इस प्रकार के घरने दिए जाने चाहिएँ । यह धरना स्त्रियों द्वारा दिया जाए तो अधिक अच्छा होगा । वे शराब आदि की दुकानों पर आने वाले लोगों को यह समझाएँ कि मद्यपान के कितने भीषण दुष्परिणाम होते हैं, इससे मजदूरों के बीबी-बच्चों को किस प्रकार के भीषण कष्ट उठाने पड़ते हैं । इस प्रकार व्यक्तियों को इन वस्तुओं के दोष समझ आ जाएँगे और वे इनका प्रयोग करना बन्द कर देंगे । इसमें गांधी जी शक्ति के प्रयोग के स्थान पर प्रेरणा के तत्व पर अधिक बल देते हैं ।

छठा साधन हड़ताल (Strike) का है । इसका आशय किसी अन्याय का प्रतिकार करने के लिए सारे व्यापार और कारोबार को तथा सभी दुकानों और कार्यालयों को बन्द रखना है । इसका उद्देश्य सरकार और जनता का ध्यान किसी अन्याय की ओर आकृष्ट करना तथा उसका प्रतिकार करना है । गांधी जी हड़तालों के प्रयोग में अत्यन्त सावधानी बरतने को तथा कई बातों पर ध्यान रखने को कहते थे : पहली बात तो यह है कि हड़तालें बार-बार नहीं होनी चाहिएँ, यदि ऐसा हो तो हड़तालों का महत्व और प्रभाव कम हो जाएगा । दूसरी बात इनका स्वेच्छापूर्वक किया जाना है । दुकानदारों को प्रेरणा तथा प्रचार के साधनों से प्रेरित करके स्वयमेव हड़ताल के लिए तय्यार करना चाहिए । उन पर हड़ताल के लिए किसी प्रकार का दबाव नहीं डालना चाहिए, क्योंकि उस दशा में यह हिंसापूर्ण कार्य होगा । मजदूरों को तब तक अपना काम छोड़ने के लिए नहीं कहना चाहिए जब तक उन्हें इसके लिए अपने स्वामी से अनुमति न मिल जाए । गांधी जी हड़ताल का प्रयोग विशुद्ध अहिंसक रहते हुए ही करना चाहते हैं । श्रमिक संघवादियों की भाँति (पृ० ४५७) वे हड़ताल का हिंसापूर्ण प्रयोग नहीं करना चाहते हैं । उनके मतानुसार हड़ताल केवल किसी अन्याय के विरुद्ध अपना विरोध प्रदर्शित करने के लिए ही की जाती है ।

इस प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिए कि गांधी जी साम्यवादियों की भाँति वर्ग-संघर्ष (Class war) के सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखते हैं । उनका यह मत नहीं है कि मिल-मालिक और मजदूर सदैव एक-दूसरे के विरोधी हैं । उनके मतानुसार उद्योग-धन्धों का संचालन मालिकों और मजदूरों का मिलजुलकर सहयोगपूर्वक किया जाने वाला कार्य है और उन्हें यह संचालन इसे समाज की धरोहर अथवा अमानत (Trust) समझते हुए करना चाहिए । हड़तालियों को यह अधिकार है कि वे अपनी माँगें अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में रखें, किन्तु ये माँगें अन्धाधुन्ध न होकर ऐसी होनी चाहिएँ जिन्हें पूरा करना पूंजीपतियों की सामर्थ्य में होना चाहिए । अहमदाबाद में १९१८ में गांधी जी ने मजदूरों की हड़ताल में सक्रिय भाग लेकर तथा अपने उपवास

द्वारा इसे सफल बनाकर हड़तालों को शान्तिपूर्ण ढंग से सफल बनाने का एक नवीन आदर्श स्थापित किया था।[1]

सातवां साधन सामाजिक बहिष्कार का है। भारत में यह अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। यदि कोई व्यक्ति समाज द्वारा जघन्य या बुरा समझे जाने वाले काम करता है तो उसकी जाति या बिरादरी उसके साथ सभी प्रकार का सामाजिक सम्पर्क रखना बन्द कर देती है, दूसरे शब्दों में इसे **हुक्कापानी बन्द करना** कहते हैं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, उस पर इसका प्रबल प्रभाव पड़ता है और वह समाज-विरोधी कार्य छोड़ने के लिए बाधित हो जाता है। गांधी जी ने इस साधन का प्रयोग अहिंसक रूप से किए जाने पर बहुत बल दिया है। अन्याय करने वाले किसी सरकारी अधिकारी का बहिष्कार इस रूप में भी हो सकता है कि उसके घर में काम करने वाले नौकर-चाकर और भंगी काम करना छोड़ दें, उसे दुकानदार खाद्य-सामग्री और वस्त्र देने से इनकार करें, डाक्टर उसका इलाज करना बन्द कर दें—गांधी जी की दृष्टि में ऐसा करना हिंसापूर्ण दबाव डालना है।[2] ऐसे व्यक्ति पर तानों तथा व्यंग्य बाणों की वर्षा करके उसका जीवन असह्य बना देना भी हिंसा है। किन्तु यदि ऐसे व्यक्ति को अपने सामाजिक समारोहों तथा पर्वों पर निमन्त्रित न किया जाए तो ऐसा अहिंसक बहिष्कार सर्वथा न्यायोचित है।

सत्याग्रह और युद्ध की तुलना—उपर्युक्त उपायों से लड़ा जाने वाला अहिंसक सत्याग्रह हिंसात्मक युद्धों के साथ कई महत्वपूर्ण समानताएँ तथा भेद रखता है। गांधी जी युद्ध के स्थान पर सत्याग्रह का उपयोग करना चाहते हैं। उदाहरणार्थ, आजकल विदेशी आक्रमण से देश की रक्षा का एकमात्र साधन लड़ाई द्वारा किया जाने वाला सशस्त्र प्रतिकार समझा जाता है। किन्तु गांधी जी इसके लिए सदैव सत्याग्रह तथा असहयोग पर बल देते थे। उन्होंने १९३६ में एबिसीनिया पर इटली का आक्रमण होने पर एबिसीनिया को तथा हिटलर द्वारा चैकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड पर हमला होने पर इन दोनों देशों को शत्रु का निःशस्त्र प्रतिरोध करने का परामर्श दिया था। चीन पर जापान का हमला होने पर उन्होंने कहा था : "यदि चीनी मेरे विचारों वाली अहिंसा का प्रयोग करें तो जापान को अपने नवीनतम संहारक शस्त्रों के प्रयोगों की आवश्यकता नहीं रहेगी। चीनी जापान को कहेंगे—तुम अपने सभी शस्त्र ले आओ। हम आधी जनता तुम्हें भेंट करते हैं। किन्तु शेष २० करोड़ चीनी तुम्हारे आगे सिर नहीं झुकाएँगे। यदि चीनी ऐसा करेंगे तो जापान उनका दास हो जाएगा।" भारत पर जापान के आक्रमण की आशंका होने की दशा में भी गांधी जी ने यह परामर्श दिया था कि उसका प्रतिरोध दो प्रकार के उपायों से किया जाना चाहिए : पहला उपाय तो असहयोग का है, आक्रमणकारी शत्रु को यह स्पष्ट बता देना चाहिए कि जनता उसे सहयोग देने के और उसकी वश्यता स्वीकार करने के स्थान पर मृत्यु का वरण करना अधिक पसन्द करेगी। दूसरा उपाय सत्याग्रहियों द्वारा अहिंसक प्रतिकार है। वे उसकी तोपों का चारा बनने के लिए सहर्ष अपने प्राणों की

१. रंगनाथ दिवाकर—सत्याग्रह मीमांसा, पृ० १७७-८१
२. गोपीनाथ धवन—दी पोलिटिकल फिलासफी आफ महात्मा गांधी, पृ० २१३

आहुति देंगे। सत्याग्रहियों का यह आत्मबलिदान नीरो जैसे निष्ठुर शासकों के हृदयों में भी अवश्य परिवर्तन उत्पन्न करेगा और सत्याग्रहियों को सफलता मिलेगी। इसमें प्राणों की हानि होगी, किन्तु यह वर्तमान युद्धों की जनहानि से बहुत कम होगी, स्थायी परिणामों की तथा नैतिकता की दृष्टि से अत्यधिक लाभकर होगी।

इस प्रकार सत्याग्रह का प्रयोग युद्ध के विकल्प के रूप में किया जा सकता है। सत्याग्रह में तथा एक सामान्य युद्ध में कई बड़ी समानताएँ हैं। दोनों का उद्देश्य शत्रु पर विजय पाना, सामूहिक अथवा वैयक्तिक रूप से लड़ाई करना, सेनापतियों के अनुशासन में रहते हुए तथा आज्ञापालन करते हुए संघर्ष जारी रखना, प्राणों तक की आहुति देने के लिए प्रस्तुत रहना, युद्ध की कला में प्रशिक्षण तथा प्रवीणता प्राप्त करना, कठोर संयम और नियन्त्रण में रहना है। दोनों में प्रमुख भेद निम्नलिखित हैं—(१) शत्रु पर विजय पाने का सामान्य ध्येय होते हुए भी दोनों में यह मौलिक भेद है कि लड़ाई में शत्रु के देश और विरोधी सैनिकों के शरीरों पर हमला किया जाता है, सत्याग्रह में इसके स्थान पर शत्रु के हृदय पर हमला किया जाता है। एक का लक्ष्य शत्रु के भौतिक शरीर पर विजय पाना है, दूसरे का उद्देश्य उसका हृदय परिवर्तन करना तथा उसके दिल को जीतना है। एक विरोधी पर हथियारों से प्रहार करता है, दूसरा इसे कायरता समझता है। (२) लड़ाई में एकमात्र उद्देश्य शत्रु पर विजय पाना होता है, भले ही वह किसी भी साधन से प्राप्त की जाए। अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए छल, कल, बल, धूर्त्तता, धोखेबाजी, मक्कारी आदि अनैतिक साधनों का प्रयोग करने में भी कोई दोष नहीं है क्योंकि प्रेम और युद्ध में सभी कुछ ठीक होता है (All is fair in love and war)।

किन्तु इसके सर्वथा विपरीत गांधी जी ने इस बात पर बल दिया है कि **साध्य और साधन दोनों पवित्र होने चाहिएँ**। गांधी जी से पहले यह सिद्धान्त प्रचलित था कि उद्देश्य अच्छा होना चाहिए, उसे किसी भी प्रकार के—अच्छे तथा बुरे साधनों से प्राप्त किया जा सकता है। उद्देश्य की पवित्रता साधनों को ठीक बना देती है (The end justifies the means)। इसे 'फल भला तो साधन भला' का सिद्धान्त कहा जाता है। उदाहरणार्थ, देश के लिए स्वतन्त्रता प्राप्त करना एक उत्तम उद्देश्य है, इसके लिए आवश्यक हथियार पाने के लिए यदि क्रान्तिकारियों को धनी लोगों के घर में चोरी या डकैती करनी पड़े, इसमें किसी की हत्या हो तथा छलपूर्ण उपायों का प्रयोग करना पड़े तो भी इसमें कोई बुराई नहीं है। किन्तु गांधी जी का मत इससे सर्वथा प्रतिकूल है। उनका कहना है कि हमारे साधन भी पवित्र होने चाहिएँ, भले ही हमें लक्ष्य या फल पाने में देर हो जाए। यदि हमारे साधन दूषित और भ्रष्ट होंगे तो इनसे प्राप्त होने वाला उद्देश्य या फल भी दूषित हो जाएगा। उदाहरणार्थ, यदि भारत को लड़ाई या हिंसा के माध्यम से स्वतन्त्रता मिले तो गांधी जी की दृष्टि में वह अस्वीकरणीय, त्याज्य और हेय थी क्योंकि ये 'साधन भला तो फल भला' (Means justify the end) में विश्वास रखते हैं। इस विषय में उनके ये वाक्य स्मरणीय हैं—"साधन बीज के समान होते हैं और परिणाम वृक्ष के समान, जिस प्रकार बीज-वृक्ष का सम्बन्ध अमिट रहता है, उसी प्रकार साधन और परिणाम का

रहता है।"[१] जिस प्रकार नीम के बीज से आम का मीठा फल नहीं पैदा हो सकता, उसी प्रकार बुरे साधनों से अच्छे उद्देश्य नहीं उत्पन्न हो सकते। अतः सत्याग्रह में साधनों की पवित्रता बनी रहनी चाहिए। गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन को इसीलिए स्थगित कर दिया था कि लोग हिंसापूर्ण साधनों का प्रयोग करने लगे थे।

सत्याग्रह की मौलिक देन का सामाजिक क्रान्ति के साधन के रूप में मूल्यांकन— युद्ध और क्रान्ति के विकल्प के रूप में राजनीतिक क्षेत्र में सत्याग्रह के साधन का आविष्कार गांधी जी की सम्भवतः एक बहुत बड़ी देन है। सत्याग्रह का विचार गांधी जी से पहले पारिवारिक क्षेत्र तक ही सीमित था। बचपन से गांधी जी के मन पर भारत के पुराने सत्याग्रही वीरों—हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद आदि के उदाहरणों का गहरा प्रभाव पड़ा था। उन्होंने अपनी आत्मकथा में हरिश्चन्द्र के नाटक के प्रभाव का उल्लेख किया है, वे अपने भाषणों में बार-बार प्रह्लाद के सत्याग्रह का वर्णन करते हैं। उन्होंने अहिंसा के पुजारी सन्तों के वृत्तान्त पढ़े थे। वे ईसा मसीह के उपदेशों, सुकरात के विषपान तथा महावीर और बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित थे। पतंजलि का अहिंसा का सिद्धान्त उन्हें बहुत प्रिय था। किन्तु इन सभी ऋषि-मुनियों ने सत्याग्रह और अहिंसा का प्रयोग वैयक्तिक और पारिवारिक क्षेत्र तक सीमित रखा था। गांधी जी की यह विशेषता थी कि उन्होंने इसे सामूहिक और व्यापक बनाया, सत्याग्रह के शस्त्र का प्रयोग सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में सफलतापूर्वक किया और यह सिद्ध किया कि सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन तथा क्रान्ति के लिए इस शस्त्र का प्रयोग युद्ध एवं क्रान्ति के समान महत्वपूर्ण है। मार्क्स और लेनिन जिस परिवर्तन को हिंसापूर्ण क्रान्ति से करना चाहते हैं, गांधी जी ने उसे अहिंसक सत्याग्रह से सम्पन्न किया। इस विषय में उनकी निम्नलिखित सफलताएँ सत्याग्रह के महत्व को स्पष्ट करती है।

आलोचक प्रायः भारत में गांधी जी के सत्याग्रह के प्रयोग की विफलताओं का वर्णन करते हुए नहीं अघाते हैं। उनका यह कहना है कि गांधी जी ने १९२० में असहयोग आन्दोलन से एक ही वर्ष में स्वराज्य दिलाने का आश्वासन दिया था, वह पूरा नहीं हुआ। ब्रिटिश सरकार ने अपने भीषण दमन-चक्र से १९२०-२२ का असहयोग आन्दोलन, १९३०-३२ का सविनय अवज्ञा आन्दोलन तथा १९४२ का 'भारत छोड़ो' आन्दोलन बुरी तरह कुचल दिए थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये आन्दोलन अपने तात्कालिक उद्देश्यों की पूर्ति में सफल नहीं हुए, किन्तु जनता में इनसे जो जागृति उत्पन्न हुई वह अभूतपूर्व थी। ऐसी जागृति कई पीढ़ियों में भी पैदा होना सम्भव नहीं था। इसने सैकड़ों वर्षों की पराधीनता के दुष्प्रभावों को दूर करते हुए भारतीयों में एक नई चेतना, आत्मविश्वास और स्फूर्ति का संचार किया। लोगों में अपने देश के लिए मर-मिटने और बलिदान करने की भावना उत्पन्न हुई। १९२०-२२ के आन्दोलन में जेल जाने वालों की संख्या ९०,००० थी और १९३०-३३ में यह संख्या बढ़कर ४,९०,००० हो गई। इस जागृति ने राष्ट्रीय जीवन

१. हिन्द स्वराज्य, पृ० ६०

के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया। हमारे देश में चिरकाल से चली आने वाली अस्पृश्यता आदि सामाजिक कुरीतियों का निवारण हुआ, हरिजनों की तथा स्त्रियों की दशा उन्नत हुई। ग्रामोद्योगों का पुनरुत्थान हुआ, लोकभाषाओं को तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी को प्रोत्साहन मिला। संसार में सर्वाधिक शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य के साथ लोहा लेने के कारण भारत में नवीन चेतना का संचार हुआ, इससे ब्रिटिश सरकार के रोब तथा दबदबे को गहरा धक्का लगा, सेना में असन्तोष फैला। १९३०-३४ में विलायती माल के बहिष्कार के आन्दोलन के कारण ब्रिटिश व्यापार को भारी धक्का लगा। इन आन्दोलनों के कारण ही ब्रिटिश सरकार को १९३५ के 'भारत शासन कानून' (Government of India Act) द्वारा शासन-सम्बन्धी सुधार देने को वाधित होना पड़ा। भारत में गांधी जी के आन्दोलनों की सफलता न केवल भारतीयों ने, अपितु अंग्रेजों ने भी स्वीकार की है। बम्बई के गवर्नर सर जार्ज लायड ने ड्रयू पियर्सन के साथ एक भेंट में इस बात को स्वीकार किया था कि १९२०-२१ का गांधी जी का आन्दोलन विश्व-इतिहास में एक ऐसा महान् परीक्षण था जिसकी सफलता में केवल एक इंच की ही कसर रह गई थी।[1] सत्याग्रह आन्दोलन और अहिंसा ने भारत की राजनीति को आदर्शवाद के उच्चतम धरातल तक पहुँचाया और संसार में भारत की प्रतिष्ठा और गौरव में वृद्धि की। श्रीमती फ्रांसिस गन्थर ने लिखा है कि भारत की अहिंसक क्रान्ति संसार के इतिहास में पहली ऐसी क्रान्ति है जिसमें अपने ध्येय को प्राप्त करने के लिए उदात्त साधनों का प्रयोग किया गया है, जो क्रान्तियों की सामान्य बुराइयों—घृणा, आतंक, गुप्तचर-पद्धति, धोखेबाजी तथा हत्याओं से मुक्त रही है।[2]

सत्याग्रह व क्रान्ति की तुलना तथा सत्याग्रह की उत्कृष्टता—मार्क्सवादी, लेनिन के अनुयायी तथा श्रमिक संघवादी वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए तथा पूंजीवाद और शोषण का अन्त करने के लिए हिंसापूर्ण क्रान्ति को अनिवार्य समझते हैं; इससे सर्वथा विपरीत गांधी जी अहिंसक क्रान्ति और सत्याग्रह के माध्यम से वर्गहीन (Classless) तथा राज्यहीन (Stateless) लोकतन्त्र की स्थापना करना चाहते हैं। यदि सामाजिक परिवर्तन के इन दोनों साधनों की तुलना की जाए तो सत्याग्रह की पद्धति कई कारणों से श्रेष्ठ प्रतीत होती है: **पहला कारण** मार्क्सवादियों की समाजशास्त्र की दृष्टि से यह भ्रान्त कल्पना है कि पूंजीपतियों का सुधार सम्भव नहीं है, मजदूरों के साथ उनका संघर्ष अनिवार्य है। वस्तुतः समाज में इन दोनों वर्गों के हितों में सघर्ष की बातें बहुत कम हैं, सहयोग के आधार बहुत अधिक हैं। यदि यह सहयोग अत्यधिक मात्रा में न हो तो समाज का संचालन असम्भव हो जाए। **दूसरा** कारण मनोविज्ञान की साक्षी है। यह हमें इस बात को प्रदर्शित करती है कि मनुष्य में विकास और उन्नति की अमित सम्भावनाएँ हैं, इतिहास में इस प्रकार के बीसियों उदाहरण हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि समाज-विरोधी तथा अहितकर कार्य करने वाले व्यक्तियों का सुधार सम्भव है। क्रान्ति

१. गोपीनाथ धवन—दी पोलिटिकल फिलासफी आफ महात्मा गांधी, पृ० २५४
२. वही, पृ० २५८

व्यक्तियों के वध पर बल देती है और सत्याग्रह उनके आन्तरिक सुधार पर। आन्तरिक सुधार से होने वाली क्रान्ति आन्तरिक भावनाओं को प्रभावित करती है, अतः वह स्थायी होती है, किन्तु हिंसा द्वारा तथा भय और आतंक से की जाने वाली क्रान्ति का प्रभाव उसी समय तक रहता है जब तक यह हिंसा चलती रहे और पाशविक शक्ति बनी रहे। इसके समाप्त होते ही दण्ड का भय न रहने से क्रान्ति का प्रभाव निर्मूल हो जाता है। **तीसरा** कारण हिंसा का मनुष्य के पतन में सहायक होना है। हिंसा और युद्ध मनुष्य को क्रूर और पशु बनाते हैं; हिंसा, विद्वेष और घृणा से प्रेरित होकर एक देश या वर्ग दूसरे देश या वर्ग के साथ लड़ता है, दोनों में वैमनस्य, विद्वेष और क्रोध की भावनाएँ प्रचण्ड और प्रबल होती हैं, ये उनमें पाशविक प्रवृत्तियों को जागृत करती हैं। इसके विपरीत, सत्याग्रही जब अहिंसा की शक्ति से लड़ता है तो वह न केवल अपनी आत्मा की शुद्धि करता है, अपितु अपने विरोधी के हृदय का परिवर्तन करके उसकी मलिनताओं को भी दूर करने का यत्न करता है। **चौथा** कारण हिंसा का अलोकतन्त्रीय (Undemocratic) होना है। यह लोकतन्त्र के इस सिद्धान्त में आस्था नहीं रखती है कि छोटे-से-छोटे व्यक्ति में अनन्त नैतिक शक्ति है, उसके उद्बोधन से ही सब कार्य किए जाने चाहिएँ। हिंसा का प्रयोग एक अन्य दृष्टि से भी लोकतन्त्र-विरोधी है। यह अधिनायकवादी प्रवृत्ति को जन्म देता है। हिंसा द्वारा शक्ति पाने वाला व्यक्ति सदैव अपनी शक्ति को बढ़ाना चाहता है, वह इसे स्थायी बनाने के लिए सैनिक शक्ति बढ़ाता है, शत्रुओं का दमन करता है, विरोधियों का पता लगाने के लिए गुप्तचरों का जाल बिछाता है, फासिस्ट और नाज़ी ढंग के शासन स्थापित करता है, अपनी शक्ति को बनाए रखने के लिए नीचतम साधनों का प्रयोग करता है। एक बार सत्ता हाथ में आने के बाद वह इसे किसी भी प्रकार नहीं छोड़ता है, सत्ता का मद उसे विवेकान्ध बना देता है। जितनी प्रबल हिंसा का प्रयोग होगा, शक्ति उतनी अधिक केन्द्रित होगी, उतना ही सत्ता का मद होगा और वह नैतिक दृष्टि से सत्तारूढ़ शासक को भ्रष्टाचारी बनाएगा। हिंसा का नैतिकता से और न्याय से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः हिंसा शोषक और शोषित के अन्यायपूर्ण सम्बन्धों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती है। **पाँचवाँ** कारण यह है कि हिंसा के अस्त्र का प्रयोग केवल समर्थ और शक्तिशाली व्यक्ति ही कर सकते हैं, किन्तु सत्याग्रह में प्रेम के तत्व की प्रधानता होने से इसका प्रयोग निर्बलतम व्यक्ति—बच्चे और बूढ़े भी कर सकते हैं। हिंसापूर्ण क्रान्ति में यह सम्भव नहीं है। **छठा** कारण हिंसा का संघर्षों तथा समस्याओं का समाधान करने में समर्थ न होना है। तलवार से आज तक किसी प्रश्न का निर्णय नहीं हुआ है। इसमें केवल शत्रु को दबाने की शक्ति है, उसका दिल जीतने और विरोध का अन्त करने की सामर्थ्य नहीं है। हिंसात्मक युद्ध में निर्बल पक्ष शक्तिशाली पक्ष से पराजित होने पर केवल लड़ना ही बन्द कर देता है, किन्तु उसके हृदय में भीषण प्रतिशोध और विद्वेष की अग्नि सुलगती रहती है, उसका हृदय कलुषित बना रहता है। किन्तु सत्याग्रही विरोधी के मन की मैल को धोने का प्रयत्न करता है। यह प्रतिशोध के स्थान पर प्रतिपक्षी के हृदय में सत्य और न्याय की भावना को उत्पन्न करता है। **सातवाँ** कारण यह है कि युद्ध में

शक्तिशाली की विजय होती है, यह सम्भव है कि वह अन्यायी तथा अत्याचारी हो। परन्तु सत्याग्रह में शक्तिशाली के स्थान पर सत्य और न्याय की विजय होती है। **आठवाँ** कारण यह कि वर्तमान समय में राज्य इतने शक्तिशाली हो गए हैं कि हिंसात्मक क्रान्ति केवल वहीं सफल हो सकती है जहाँ सरकार ज़ारकालीन रूस जैसी असंगठित, शिथिल और निर्बल हो। किन्तु वर्तमान समय में ऐसा बहुत कम होता है। ऐसी परिस्थिति में सत्याग्रह की सफलता की सम्भावना बहुत अधिक है क्योंकि वह शस्त्रबल पर नहीं, वल्कि आत्मबल पर आधारित है। वह प्रबलतम शक्तिशाली साम्राज्य का भी सामना कर सकता है, भारत ने इसी प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य का सामना किया था। भारत शस्त्रबल के आधार पर अंग्रेजों से नहीं लड़ सकता था। अत: समस्याएँ और विवाद सुलझाने तथा अन्यायों का प्रतिकार करने की दृष्टि से सत्याग्रह निर्विाद रूप से हिंसात्मक क्रान्ति और युद्ध के उपाय से उत्कृष्ट एवं श्रेष्ठ है।

राजनीति और धर्म का सम्बन्ध—सत्याग्रह के अतिरिक्त गांधी जी की एक बड़ी विशेषता राजनीति को धार्मिक तथा आध्यात्मिक बनाना था। उनसे पहले राजनीति और धर्म दो सर्वथा पृथक् और स्वतन्त्र क्षेत्र समझे जाते थे। धर्म का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं माना जाता था। धर्म ऋषि-मुनियों, साधु-सन्तों और महात्माओं का क्षेत्र था; राजनीति धर्म और नैतिकता से कोई सम्बन्ध न रखने वाले धूर्त्त, चालाक, अवसरवादी, सफलता पाने के लिए नैतिकता के सभी नियमों को तिलांजलि देने वाले, न्यायान्याय विवेकशून्य राजनीतिज्ञों का रंगमंच माना जाता था। गांधी जी ने इन दोनों का अद्‌भुत समन्वय किया। वे स्वयमेव प्रबल आस्तिक, सत्य और अहिंसा के पुजारी तथा धर्म में अगाध श्रद्धा और आस्था रखने वाले थे। उन्हें भारत की जनता ने महात्मा की उपाधि दी थी। वे यदि चाहते तो भारत के अन्य साधु-सन्तों की भाँति अपना सारा जीवन हिमालय की किसी कन्दरा में, गंगा के तट पर अपनी वैयक्तिक साधना में व्यतीत कर सकते थे। किन्तु उन्होंने इसे भारतीय जनता के कल्याण के लिए समर्पित किया तथा राजनीति में प्रवेश करके भारतीय राजनीति को उच्च नैतिकता और धार्मिकता की भावना से ओत-प्रोत किया। एक बार अपने मित्र पोलक से उन्होंने कहा था—"मैं जिन धार्मिक व्यक्तियों से मिला हूँ, उनमें से अधिकांश प्रच्छन्न रूप से राजनीतिज्ञ हैं। किन्तु राजनीतिज्ञ का चोला धारण करने वाला मैं अपने हृदय से एक धार्मिक व्यक्ति हूँ।" १९२९ में गांधी जी ने श्री अरण्डेल को एक पत्र लिखा था कि "मेरी प्रवृत्ति राजनीति में नहीं, किन्तु धर्म की ओर है।"[1]

प्रबल धार्मिक प्रवृत्ति होने के कारण ही गांधी जी राजनीति में गए। उनकी धार्मिक भावना सभी क्षेत्रों में अन्याय और अत्याचार का प्रबल प्रतिरोध करती थी। दक्षिणी अफ्रीका में तथा भारत में वह सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र के सभी अन्यायों के विरुद्ध आजीवन संघर्ष करते रहे, इसके लिए उन्होंने सत्य और अहिंसा के

१. गोपीनाथ धवन—दी पोलिटिकल फिलासफी आफ महात्मा गांधी, पृ० ३४

धार्मिक साधनों का प्रयोग किया तथा साध्य के समान साधन की पवित्रता और नैतिकता बनाए रखने पर बल दिया। उन्होंने अपने धार्मिक विश्वासों—आस्तिकता, ईश्वर में अगाध श्रद्धा, आत्मबल की प्रधानता और श्रेष्ठता, अद्वैत की कल्पना, सर्वत्र चराचर जगत् में एक ही सत्ता का व्याप्त होना, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि के सिद्धान्तों को राजनीतिक क्षेत्र में लागू किया। उनके मतानुसार मनुष्य का सबसे बड़ा लक्ष्य अपनी आत्मा का विकास करना था; यह तब तक नहीं हो सकता जब तक वह समूचे मानव-समाज से अपने को अभिन्न न समझे और सब व्यक्तियों के हित-साधन या सर्वोदय को अपने जीवन का लक्ष्य न बनाए। इसकी पूर्ति के लिए उसे राजनीति में भाग लेना चाहिए क्योंकि मनुष्य के सभी कार्यों में एक मौलिक एकता और अखण्डता है, इसे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्रों में बाँटना सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ, राजनीतिक बुराइयाँ—पराधीनता और इससे उत्पन्न होने वाले दुष्परिणाम आत्मा के विकास में बाधक हैं। अतः इसके लिए राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करना आवश्यक है। आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए संघर्ष करना अनिवार्य है। इस प्रकार धर्म और राजनीति अभिन्न हैं, इनमें गहरा सम्बन्ध है। वे कहा करते थे—"जो यह कहते हैं कि धर्म का राजनीति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है वे यह नहीं जानते हैं कि धर्म का क्या अर्थ है।" इसी प्रकार उनका यह भी कहना था कि "जो देश-भक्ति की भावना से अपरिचित है वह अपने कर्त्तव्य और धर्म को नहीं जानता।" धर्मप्राण गांधी जी यह मानते थे कि सत्य और अहिंसा के रूप में इस सृष्टि में भगवान् सर्वत्र प्रकट हो रहा है। वस्तुतः एक ही दैवी, आध्यात्मिक सत्ता सभी क्षेत्रों में प्रकट हो रही है। अतः उनका यह कहना था कि "मैं इसमें विश्वास नहीं रखता हूँ कि आध्यात्मिक नियम एक विशेष क्षेत्र में कार्य करता है। इसके विपरीत, यह जीवन के सभी सामान्य कार्यों में अभिव्यक्त होता है; यह आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में अपना प्रभाव डालता है।" इससे यह स्पष्ट है कि गांधी जी राजनीति को धर्ममूलक, धर्मप्राण तथा सत्य और अहिंसा के धार्मिक सिद्धान्तों से ओत-प्रोत और संचालित किया जाने वाला मानते थे, वे राजनीति को धार्मिक क्षेत्र के समान आध्यात्मिक और शुद्ध पवित्र बनाना चाहते थे।

मानवीय प्रकृति का स्वरूप—इस सृष्टि में सर्वत्र भगवान् का रूप देखने वाले गांधी जी मानवीय प्रकृति में ईश्वर के दिव्य अंश का दर्शन करते हैं। उनके मतानुसार प्रत्येक प्राणी की आत्मा समग्र सृष्टि में व्याप्त दैवी सत्ता का अंग है। किन्तु इससे यह कल्पना नहीं करनी चाहिए कि गांधी जी मनुष्य के बारे में कोई आदर्श, ऊँची या अव्यावहारिक कल्पना रखते हैं। वे अपने जीवन में सभी प्रकार के व्यक्तियों, सज्जनों और दुर्जनों, साधु-महात्माओं, अपराधियों के सम्पर्क में आए थे, इस कारण उन्हें मानवीय प्रकृति का बहुत अच्छा वास्तविक ज्ञान था। वे मनुष्य को न तो विशुद्ध देवता समझते थे और न कोरा पशु। उनका यह कहना था कि "हम में से प्रत्येक प्राणी सत्-असत् का, अच्छाई-बुराई का तथा दैवी-आसुरी प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण है। हममें बुराई की मात्रा बहुत अधिक है। मैं भगवान् से प्रार्थना करता

हूँ कि वह मुझे इससे मुक्त करके शुद्ध एवं पवित्र बनाए।" वे यह जानते थे कि आरम्भ में, मनुष्य में पाशविक प्रवृत्तियाँ प्रबल थीं। "मैं यह मानने के लिए तय्यार हूँ कि हम विकास की एक मन्दगामी प्रक्रिया द्वारा पशु से मनुष्य बने हैं" (हरिजन, २ अप्रैल १९३५)। "मनुष्य को दो मार्गों में से एक मार्ग चुनना पड़ेगा। एक उत्थान और उन्नति का मार्ग है, दूसरा पतन और अवनति का रास्ता है। चूँकि मनुष्य में पाशविक प्रवृत्तियाँ हैं, अतः वह उत्थान के मार्ग की अपेक्षा पतन के मार्ग को अधिक आसानी से चुनता है।"[1] गांधी जी इस बात पर बहुत बल देते हैं कि मनुष्य को अपनी पाशविक प्रवृत्तियों का दमन करते हुए दैवी प्रवृत्तियों को विकसित करना चाहिए। इस प्रसंग में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि बड़े-से-बड़े साधु-महात्माओं में भी आसुरी प्रवृत्तियाँ और कमजोरियाँ होती हैं। "कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसमें दोष न हों। भगवान् की उपासना करने वाले व्यक्ति भी इन दोषों से मुक्त नहीं हैं। उन्हें भगवान् का भक्त इसलिए नहीं कहा जाता कि वे दोषों से मुक्त हैं।......अपितु इसलिए कहा जाता है कि वे अपने दोषों का सुधार करने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं।"[2]

गांधी जी को मनुष्य की प्रकृति के सुधार में अगाध विश्वास था। यद्यपि मनुष्य में पाशविक प्रवृत्तियाँ हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इनका सुधार और संशोधन नहीं हो सकता है। बुरे-से-बुरे मनुष्य में भी दैवी प्रवृत्तियों का सात्विक अंश है। उसे प्रेरित और जागृत करके उसका सुधार किया जा सकता है। मनुष्यों में अपना सुधार करने की इच्छा स्वाभाविक है, यह उनके जीवन में आमूलचूल परिवर्तन ला सकती है। गांधी जी ने कहा था—"हम पशुओं की शक्ति लेकर पैदा हुए हैं, किन्तु इसके साथ हम इसलिए भी पैदा हुए हैं कि हम अपनी आत्मा में निवास करने वाले भगवान् को प्राप्त करें। मनुष्य की यही विशेषता है और यह उसे पशु-जगत् से पृथक् करती है।"[3] इससे यह स्पष्ट है कि गांधी जी मनुष्य में पशुता के साथ-साथ देवत्व को स्वीकार करते थे और यह मानते थे कि उसमें ऊँचा उठने की प्रवृत्ति है और इसे प्रोत्साहित करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति में ऊँचा उठने का सामर्थ्य है, साधारण-से-साधारण व्यक्ति दैवी गुणों का विकास करके अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है, क्योंकि सब व्यक्तियों में एक ही दैवी आत्मा का निवास है। मनुष्यों में उन्नति और विकास की अमित सम्भावनाएँ हैं।

राज्यविषयक विचार—(१) गांधी जी किसी भी रूप में राज्य की सत्ता के प्रबल विरोधी तथा अराजकतावादी (Anarchist) थे। वे दार्शनिक, नैतिक, ऐतिहासिक और आर्थिक कारणों के आधार पर राज्य का विरोध करते थे, अतः उनके सिद्धान्त को दार्शनिक अराजकतावाद (Philosophical Anarchism) कहा जाता है। दार्शनिक आधार पर राज्य का विरोध इसलिए किया जाता है कि राज्य में व्यक्ति की नैतिकता

---

१. हरिजन, १ फरवरी १९३५

२. हरिजन, २८ फरवरी १९३९

३. हरिजन, २ अप्रैल १९३८

के विकास का कोई अवसर नहीं है। कोई कार्य उसी दशा में नैतिक हो सकता है जब उसका करना हमारी स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर हो। नैतिकता सत्-असत्, भले-बुरे तथा न्याय-अन्याय के विवेक पर निर्भर है, किन्हीं दो कार्यों में से हम जिसे अच्छा समझते हैं वह नैतिक और बुरा कार्य अनैतिक माना जाता है। अतः नैतिकता का आधार हमारे स्वेच्छापूर्ण कार्य (Voluntary actions) हैं। "कोई भी ऐसा कार्य जो हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं है, नैतिक नहीं कहा जा सकता है। जब तक हम मशीनों की भाँति (दूसरे की इच्छा से) कार्य करते हैं, तब तक नैतिकता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। यदि हम किसी कार्य को नैतिक समझना चाहते हैं तो इसके लिए यह आवश्यक है कि हम इसे सोच-समझकर, जान-बूझकर अपनी इच्छा से कर्त्तव्य समझते हुए करें। राज्य अनैतिक इसलिए है कि वह हमें सब कार्य अपनी इच्छा से नहीं, किन्तु दण्ड और कानून की अपनी शक्ति से बाधित करके कराना चाहता है। राज्य में रहते हुए नैतिकता का पालन सम्भव नहीं है। (२) राज्य के विरोध का एक कारण यह भी है कि वह हिंसा और पाशविक शक्ति पर आधारित है। राज्य कितना ही अधिक लोकतन्त्रात्मक क्यों न हो, उसका आधार सेना और पुलिस का पाशविक बल है। गांधी जी के शब्दों में, "राज्य हिंसा का घनीभूत और संगठित रूप है। एक व्यक्ति में आत्मा होती है, किन्तु राज्य आत्मारहित यन्त्र मात्र है, यह हिंसा पर जीवित रहता है और इसे हिंसा से कभी पृथक् नहीं किया जा सकता है।"[१] गांधी जी अहिंसा के पुजारी हैं, वे राज्य का विरोध इसलिए करते हैं कि यह हिंसामूलक है। (३) राज्य के विरोध का तीसरा कारण इसके अधिकारों में निरन्तर वृद्धि होना है और इससे व्यक्ति के विकास में बड़ी बाधा पहुँच रही है। गांधी जी ने एक बार यह कहा था—"मैं राज्य की शक्ति में वृद्धि को बहुत ही भय की दृष्टि से देखता हूँ, क्योंकि जाहिरा तौर पर तो वह शोषण को कम-से-कम करके लाभ पहुँचाती है, परन्तु मनुष्य के उस व्यक्तित्व को नष्ट करके वह मानव-जाति को अधिकतम हानि पहुँचाती है जो सब प्रकार की उन्नति की जड़ है।"[२] इसलिए गांधी जी राज्य का विरोध करते हुए कहते हैं—"मुझे जो बात नापसन्द है, वह है बल के आधार पर बना हुआ संगठन; राज्य ऐसा ही संगठन है।"[3]

अतः गांधी जी का आदर्श राज्य की समाप्ति करना तथा इसके स्थान पर राज्यहीन लोकतन्त्र (Stateless Democracy) की स्थापना करना है। इसमें सब व्यक्ति सामाजिक जीवन का स्वयमेव अपनी इच्छा से नियमन करते हैं, मनुष्यों का इतना अधिक विकास हो जाता है कि वे अपने कर्त्तव्यों और नियमों का स्वेच्छापूर्वक पालन करते हैं। इस स्थिति में राज्य जैसी किसी राजनीतिक सत्ता की आवश्यकता नहीं रहती। इसका स्पष्टीकरण करते हुए गांधी जी ने लिखा है—"राजनीतिक सत्ता का अर्थ है राष्ट्रीय प्रतिनिधियों द्वारा राष्ट्रीय जीवन का नियमन करने की

१. माडर्न रिव्यू, अक्तूबर १९३५, पृ० ४२२
२. वही
३. वही

शक्ति। अगर राष्ट्रीय जीवन इतना पूर्ण हो जाता है कि वह स्वयं आत्मनियमन कर लेता है तो किसी प्रतिनिधित्व की आवश्यकता नहीं रह जाती। उस समय **ज्ञानपूर्ण अराजकता** (Enlightened Anarchy) की स्थिति हो जाती है। ऐसी स्थिति में हर एक अपना राजा होता है। वह इस ढंग से अपने पर शासन करता है कि वह अपने पड़ोसियों के लिए कभी बाधक नहीं बनता है। इसलिए आदर्श अवस्था में कोई राजनीतिक सत्ता नहीं होती क्योंकि कोई राज्य ही नहीं होता। **परन्तु जीवन में आदर्श की पूरी सिद्धि कभी नहीं होती**। इसीलिए थोरो ने कहा है कि जो सबसे कम शासन करे, वही उत्तम सरकार है।[1]

गांधी जी का आदर्श, अराजक, लोकतन्त्रीय समाज सत्याग्रह के सिद्धान्तों का पालन करने वाले व्यक्तियों के आत्मनिर्भर ग्रामीण समुदायों का संघ (Federation of Village Communities) है। "अहिंसा पर आधारित समाज केवल ऐसे व्यक्तियों का ही हो सकता है जो स्वेच्छापूर्ण सहयोग से शान्तिपूर्ण अस्तित्व का जीवन बिताने वाले हों।" इस समाज का निर्माण विकेन्द्रीकरण (Decentralisation) तथा स्वेच्छापूर्ण सहयोग के आधार पर होगा। सब व्यक्तियों के समान अधिकार होंगे, सबको अपनी योग्यता के अनुसार समाज की सेवा करने का पूरा अवसर दिया जाएगा। इस समाज में सब व्यक्तियों के लिए शारीरिक श्रम करना आवश्यक होगा, वे अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अनिवार्य सम्पत्ति से अधिक अपने पास किसी भी वस्तु का संग्रह नहीं करेंगे। यह असंग्रह या अपरिग्रह (Non-possession) गांधीवादी समाज की बहुत बड़ी विशेषता है। जिन धनी व्यक्तियों के पास अपनी आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति हो उन्हें इसे एक पवित्र धरोहर या अमानत (Trust) के रूप में रखना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपने सब कार्य स्वयमेव करने चाहिएँ, किसी व्यक्ति को मजदूरी पर रखकर उससे काम नहीं लेना चाहिए। इस समाज में किसी भी प्रकार का शोषण नहीं होना चाहिए। गांधी जी यद्यपि मशीनों के प्रयोग के विरोधी नहीं थे, फिर भी वे मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के विरोधी थे, क्योंकि इससे सत्ता और सम्पत्ति मिल-मालिकों और पूंजीपतियों के हाथ में केन्द्रित हो जाती है, वे मजदूरों का भीषण शोषण करते हैं, अपने कारखानों के लिए आवश्यक कच्चा माल पाने के लिए तथा तय्यार माल को बेचने की मंडियाँ प्राप्त करने के लिए साम्राज्यों का निर्माण करते हैं, साम्राज्य निर्माण की होड़ अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों तथा युद्धों को जन्म देती है, इनसे भीषण विध्वंस और हिंसा की सृष्टि होती है। अतः अहिंसक समाज का आधार हिंसा को बढ़ाने वाले कारखाने नहीं, बल्कि लघु ग्रामोद्योग और कुटीर उद्योग हैं। भारत के लिए यह इसलिए भी आवश्यक है कि यहाँ जनसंख्या बहुत अधिक है, यदि मशीनों से उत्पादन किया गया तो हाथ से काम करने वालों की संख्या कम हो जाएगी तथा देश की बेकारी में भीषण वृद्धि होगी।

गांधी जी के आदर्श समाज में रेल, भारी मशीनें, न्यायालय, वकील और बड़े शहर नहीं होंगे। उनका यह विश्वास था कि वकील झगड़े और डाक्टर बीमारी

---

१. यंग इंडिया, २-७-३१

बढ़ाते हैं। यदि समाज से इन दोनों वर्गों का लोप हो जाए तो समाज को कोई हानि नहीं होगी, अपितु उसका कल्याण ही होगा।[1]

आदर्श समाज की व्यावहारिकता—गांधी जी का अहिंसक समाज क्या इस भूतल पर सम्भव है अथवा प्लेटो की 'रिपब्लिक' की भाँति कल्पना का अथवा स्वप्न-लोक का ही विषय है? गांधी जी स्वयमेव यह मानते थे कि उनके आदर्श समाज की स्थापना पूर्ण रूप से कभी सम्भव नहीं है। "एक सरकार कभी भी पूर्ण रूप से अहिंसक नहीं बन सकती है क्योंकि इसमें सभी प्रकार के व्यक्ति रहते है। मैं ऐसे स्वर्ण युग की कल्पना नहीं करता जब ऐसा समाज स्थापित होगा। किन्तु मैं ऐसे समाज की स्थापना में विश्वास रखता हूँ जो **प्रधान रूप से अहिंसक** हो और मैं इसके लिए प्रयत्न कर रहा हूँ।" अगर हम ऐसे समाज के लिए प्रयत्न करते रहें तो वह किसी हद तक धीरे-धीरे बनता रहेगा और उस हद तक लोगों को उससे फायदा पहुँचेगा।" यूक्लिड ने कहा है—"रेखा वही हो सकती है जिसमें चौड़ाई न हो, लेकिन ऐसी रेखा न तो आज तक कोई बना पाया और न बना पाएगा। फिर भी आदर्श रेखा को ध्यान में रखने से ही प्रगति हो सकती है। जो बात रेखा के बारे में सच है वही प्रत्येक आदर्श के बारे में सच है।"[2] गांधी जी यह समझते थे कि वर्तमान समय में कुछ व्यक्तियों की समाज-विरोधी प्रवृत्तियों के कारण राज्य की सत्ता बनी रहनी चाहिए, किन्तु हमें राज्यहीन समाज की आदर्श स्थिति को लाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

व्यक्ति का साध्य तथा राज्य का साधन होना—गांधी जी यह समझते थे कि राज्य अपने-आपमें कोई साध्य नहीं है, अपितु व्यक्तियों को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी परिस्थितियों को उत्कृष्ट बनाने में सहायता देने का साधन है। व्यक्ति राज्य के लिए नहीं, अपितु राज्य व्यक्ति के लिए है। राज्य का प्रधान कार्य सभी व्यक्तियों के अधिकतम हित का सम्पादन करना है। इसका लक्ष्य सर्वोदय अर्थात् सब व्यक्तियों का कल्याण है। राज्य की संस्था मनुष्य के लिए आवश्यक नहीं है; अपितु मनुष्य की कमजोरियों के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई है। गांधी जी को राज्य पर बहुत अविश्वास था, वे समझते थे कि राज्य शोषण का साधन है और अपने अधिकारों का दुरुपयोग करता है। इसके शक्तिशाली होने से व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध होता है, अतः वे राज्य द्वारा उसके अधिकार का दुरुपयोग होने पर उसके प्रतिरोध करने का अधिकार सत्याग्रही व्यक्ति को प्रदान करते हैं।

गांधी जी व्यक्ति को प्रधानता देते हैं, किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वे बेन्थम, मिल आदि पश्चिमी विचारकों के व्यक्तिवाद (Individualism) में विश्वास रखते हैं। उनका व्यक्तिवाद पश्चिम के व्यक्तिवाद की भाँति पूँजीवाद या व्यक्तिगत स्वार्थ का समर्थन नहीं करता है। वह सम्पत्ति का वितरण लोगों की

---

१. हिन्द स्वराज्य, पृ० ४२-४६ (रेलों की आलोचना), पृ० ५४ से ६० (वकीलों तथा डाक्टरों की आलोचना)

२. हरिजन सेवक, १५-९-४६

आवश्यकता के अनुसार करना चाहते थे, किन्तु उनकी सम्मति में यह कार्य राज्य की ओर से जोर-जबर्दस्ती या बलपूर्वक न होकर व्यक्तियों के विवेक से तथा हृदय-परिवर्तन से होना चाहिए। इसके अतिरिक्त वे व्यक्ति के अधिकारों के साथ-साथ उसके कर्त्तव्यों पर बहुत बल देते थे।

प्रभुसत्ता का विरोध—बहुलवादियों (देखिए ऊपर पृ० ५२१) तथा अराजकतावादियों की भाँति गांधी जी राज्य की ऐसी निरंकुश प्रभुसत्ता (Absolute Sovereignty) के विरोधी थे जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का प्रधान कर्त्तव्य आँख मूँदकर राज्य की आज्ञा का पालन करना है। इसके विपरीत गांधी जी "विशुद्ध नैतिक सत्ता पर आधारित जनता की प्रभुसत्ता में विश्वास रखते हैं।" राज्य के प्रति मनुष्य की निष्ठा सीमित है, वह अपने अन्तःकरण के आधार पर यह निश्चय करता है कि उसे राज्य के कौनसे आदेशों का पालन करना है और किन आज्ञाओं तथा कानूनों की अवहेलना करनी है। इससे राज्य में अराजकता उत्पन्न होने की सम्भावना है। फिर भी गांधी जी इस खतरे को मोल लेने को तैयार हैं क्योंकि वे राज्य द्वारा अपनी सत्ता के दुरुपयोग पर अंकुश लगाना चाहते हैं। वे नैतिकता का विरोध करने वाले सभी कानूनों का प्रतिरोध करने का व्यक्ति को अधिकार ही नहीं प्रदान करते हैं अपितु उसका यह कर्त्तव्य समझते हैं। उनके मतानुसार सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना के लिए ऐसी व्यवस्था आवश्यक है। किन्तु इससे उत्पन्न होने वाली अराजकता के दोष को कम करने के लिए उन्होंने राजकीय कानूनों की अवहेलना को अहिंसात्मक और सविनय बताया है और सत्याग्रही के लिए बड़ी कड़ी शर्तें रखी हैं (देखिए ऊपर पृ० ६४९-५०); इनसे अराजकता और उच्छृंखलता की प्रवृत्ति पर बड़ी मात्रा में नियन्त्रण रखा जा सकता है।

संसदीय शासन तथा प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की आलोचना—गांधी जी ने 'हिन्द स्वराज्य' में ब्रिटिश पार्लियामैण्ट की कड़ी आलोचना करते हुए इसकी तुलना 'बांझ और वेश्या' से की है[1]। "उसे मैं बाँझ इसलिए कहता हूँ कि अब तक उसने एक भी अच्छा काम अपने-आप नहीं किया है।...उसके ऊपर दबाव डालने वाला कोई न हो तो वह कुछ भी न करे। वह वेश्या इसलिए है कि जो मन्त्रिमण्डल वह बनाती है, उसके वश में रहती है। आज उसके स्वामी एस्क्विथ हैं, कल बालफोर तथा परसों कोई और।...पार्लियामैण्ट के मैम्बर ढोंगी और स्वार्थरत होते हैं। जिस समय बड़े-बड़े मामलों पर बहस हो रही होती है उस समय उसके मैम्बर लम्बी तानते हैं या बैठे-बैठे झपकियां लिया करते हैं। कभी-कभी वे इतना चीखते चिल्लाते हैं कि सुनने वाले घबरा जाते हैं। उन्हीं के एक महान् लेखक कार्लाइल ने पार्लियामैण्ट को 'दुनिया का बकवासखाना' (Talking shop of the World) कहा है। जो जिस दल का सदस्य होता है, वह आँख मूँदकर उसी को वोट देता है।...प्रधानमन्त्री को पार्लियामैण्ट की अधिक चिन्ता नहीं होती, वह अपनी शक्ति के मद में चूर रहता है। अंग्रेज मतदाता अखबारों के सहारे अपनी राय कायम करते हैं। अखबार ईमानदार नहीं

---

१. हिन्द स्वराज्य (सत्साहित्य प्रकाशन), १९५८, नई दिल्ली, पृ० २४-२७

हैं। वोटर घड़ी के पेण्डुलम की भाँति इधर से उधर झूलते रहते हैं।...जितना समय और पैसा पार्लियामैण्ट बरबाद करती है, उतना समय और पैसा थोड़े से भले आदमियों को सौंप दिया जाए तो राष्ट्र का उद्धार हो जाए। यह जनता का खिलौना मात्र है, उसके मन बहलाने की वस्तु है, इस पर जनता का बहुत पैसा खर्च हो जाता है।" गांधी जी के इन विचारों से स्पष्ट है कि वे पश्चिमी ढंग की संसद के और संसदीय शासन-प्रणाली के उग्र विरोधी थे।

किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वे प्रतिनिधि संस्थाओं और चुनावों के विरोधी थे। उनके मतानुसार स्वराज्य का यह अर्थ था कि भारत का शासन यहाँ निवास करने वाले वयस्क नर-नारियों की बहुसंख्या की सहमति से होना चाहिए। मतदाता ऐसे नर-नारियों को बनाया जाना चाहिए जिन्होंने शारीरिक श्रम द्वारा राज्य की सेवा की हो तथा मतदाता होने के लिए अपना नाम दर्ज कराया हो। १९३१ तथा १९४२ में गांधी जी ने गाँव-पंचायतों के लिए प्रत्यक्ष निर्वाचन के सिद्धान्त का समर्थन किया था। उनका यह कहना था कि ७ लाख गाँवों का शासन उनके निवासियों की इच्छा के अनुसार होना चाहिए। सभी गाँवों को अपने जिले पर प्रशासन करने वालों को चुनने का अधिकार दिया जाना चाहिए; किन्तु इसमें एक गाँव का एक ही वोट हो। जिला प्रशासन इसी प्रकार प्रान्तीय प्रशासन को तथा प्रान्तीय प्रशासन राष्ट्रपति को चुनें। इस प्रकार सारी शक्ति गाँवों में बँटी रहेगी।

गांधी जी ने चुनाव के लिए खड़े होने वाले उम्मीदवारों के लिए बड़ी कड़ी योग्यताएँ प्रस्तावित की हैं। उनके मतानुसार उन्हें स्वार्थरहित, योग्य तथा भ्रष्टाचार से मुक्त, आत्मविज्ञापन से दूर रहने वाला, पदलोलुपता से रहित, विरोधियों की कटु आलोचना तथा छिद्रान्वेषण के दूषण से मुक्त होना चाहिए। वोट प्रचार द्वारा नहीं, बल्कि सेवा द्वारा प्राप्त किए जाने चाहिएँ। मतदाताओं के लिए आवश्यक योग्यता की शर्त्त सम्पत्ति या सामाजिक स्थिति की नहीं, अपितु शारीरिक श्रम की होनी चाहिए।

लोकतन्त्र की एक विशेषता बहुमत द्वारा शासन है। किन्तु गांधी जी के मतानुसार इसका यह अभिप्राय नहीं है कि "बहुमत सदैव अल्पमत की अवहेलना करे। अन्तःकरणविषयक मामलों में बहुमत का कोई स्थान नहीं है।...ब्यौरे की बातों में बहुमत को मानना चाहिए, किन्तु (सिद्धान्तविषयक मामलों में) बहुमत की बात मानना दासता का सूचक है।...लोकतन्त्र ऐसा राज्य नहीं है कि जिसमें जनता भेड़चाल का अनुसरण करे।...बहुमत के नियम का यह अर्थ नहीं है कि यह एक व्यक्ति द्वारा प्रतिपादित ठीक सम्मति का भी दमन करे। यदि एक व्यक्ति की सम्मति ठीक हो तो इसको अनेक व्यक्तियों की सम्मति से अधिक महत्व दिया जाना चाहिए। मेरी दृष्टि में सच्चा लोकतन्त्र यही है।"[1] गांधी जी इस बात पर भी बल देते थे कि बहुमत को अल्पसंख्यकों के प्रति उदार होना चाहिए और अल्पमत पर बहुमत का अत्याचार नहीं होना चाहिए।

राज्य का कार्यक्षेत्र—गांधी जी राज्य के कार्यक्षेत्र को अधिकतम मात्रा तक घटाने के पक्ष में थे। थोरो का अनुसरण करते हुए वे ऐसी सरकार को सर्वोत्तम

१. धवन—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० २८३

समझते थे जो कम-से-कम शासन करे। अतः वे राज्य के कार्यों को कम करके उन्हें स्वेच्छापूर्वक काम करने वाली दूसरी संस्थाओं को सौंपना चाहते थे। राज्य को केवल वही कार्य करने चाहिएँ जो राजनीतिक सत्ता के बिना न किए जा सकें। राज्य के कार्यों का एकमात्र लक्ष्य जनता का कल्याण या सर्वोदय की भावना होनी चाहिए। जनकल्याण का विरोध करने वाले सभी राजकीय कार्यों का संशोधन या समाप्ति होनी चाहिए। सच्चा लोकतन्त्रीय शासन उसी देश में होता है जहाँ राज्य के हस्तक्षेप के बिना ही सभी कार्य निर्विघ्न रीति से चलते रहते हैं।

राज्य को अपने कार्यों में शक्ति का प्रयोग कम-से-कम करना चाहिए। उसे "जनता की अधिकतम सद्भावना पर आधारित नैतिक शक्ति द्वारा ही समूचा शासन चलाना चाहिए।" अहिंसक राज्य में अपराधों की तथा बल-प्रयोग की मात्रा कम हो जाएगी। फिर भी कुछ समाज-विरोधी, पराश्रयी, परोपजीवी, आज्ञा-भंग तथा हिंसा करने वाले तत्व बने रहेंगे। सरकार का यह कर्त्तव्य है कि इनका दमन करने के लिए वह शक्ति का प्रयोग करे। गांधी जी के मत में राज्य के लिए फौज अनावश्यक है, किन्तु पुलिस आवश्यक है।

पुलिस—समाज-विरोधी तत्वों का दमन करने के लिए गांधी जी पुलिस को आवश्यक मानते हैं। उनका यह कहना है कि "अहिंसक राज्य में पुलिस की जरूरत हो सकती है। मैं विश्वास करता हूँ कि यह मेरी अपूर्ण अहिंसा का चिह्न है। मुझमें फौज की तरह पुलिस के बारे में यह घोषणा करने का साहस नहीं है कि हम पुलिस की ताकत के बिना काम चला सकते हैं।...परन्तु मेरी कल्पना की पुलिस आजकल की पुलिस से भिन्न होगी। उसमें सभी सिपाही अहिंसा को मानने वाले होंगे। वे जनता के मालिक नहीं, उसके सेवक होंगे। लोग स्वाभाविक रूप से उन्हें हर प्रकार की सहायता देंगे और आपस के सहयोग से वे दिन-ब-दिन होने वाले दंगों का आसानी से सामना कर लेंगे। पुलिस के पास किसी-न-किसी प्रकार के हथियार तो होंगे, परन्तु उन्हें बहुत ही कम प्रयोग में लाया जाएगा। असल में तो पुलिस वाले सुधारक बन जाएँगे। उनका काम मुख्यतः चोर डाकुओं तक सीमित रह जाएगा। मजदूरों और पूँजीपतियों के झगड़े और हड़ताल अहिंसक राज्य में यदाकदा ही होंगे।"[1]

विकेन्द्रीकरण (Decentralisation)—गांधी जी राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में शक्ति और धन के केन्द्रीकरण को सब बुराइयों की जड़ समझते थे, अतः विकेन्द्रीकरण पर बहुत बल देते थे। वे कई कारणों से केन्द्रीकरण के विरोधी थे: **पहला** कारण इसका उनके अहिंसक समाज की कल्पना से उग्र विरोध था। वर्तमान राज्यों के अधिकारों में निरन्तर वृद्धि होने से इनमें शक्ति का केन्द्रीकरण हो रहा है, इससे वे प्रबल बन रहे हैं, इन राज्यों का आधार हिंसा और पशुबल की शक्ति है। इनकी शक्ति जितनी क्षीण होगी उतना ही पशुबल कम होगा। अतः हिंसा को कम करने के लिए यह आवश्यक है कि राजनीतिक क्षेत्र में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को कम किया जाए। आर्थिक क्षेत्र में भी यही स्थिति है। जब मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर

---

१. हरिजन, १-९-४०

उत्पादन होने लगता है तो उद्योगों का संचालन कुछ मुट्ठी-भर पूँजीपतियों के हाथ में केन्द्रित होने लगता है, समाज का अधिकांश धन भी इनके हाथों में चला जाता है। इस धन का वितरण समान न होने के कारण समाज में शोषण, गरीबी, भुखमरी और आर्थिक विषमता बढ़ती चली जाती है। विभिन्न देशों में पूँजीपति अपने कारखानों के लिए कच्चा माल पाने तथा अपने तैयार माल की मण्डियाँ प्राप्त करने के लिए साम्राज्य के निर्माण की होड़ आरम्भ कर देते हैं। इससे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव, अशान्ति और महायुद्ध उत्पन्न होते हैं। इनमें हिंसा अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। इसे रोकने के लिए उत्पादन के क्षेत्र में भी विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। बड़े पैमाने पर चलने वाले उद्योगों को समाप्त करके लघु ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। **दूसरा** कारण केन्द्रीकरण द्वारा व्यक्ति के विकास में बाधा डालने वाले दुष्परिणामों का उत्पन्न होना है। राज्य में शक्तियों का अत्यधिक केन्द्रीकरण स्थानीय स्वशासन की मात्रा को न्यून करता है, व्यक्ति पर विभिन्न प्रकार के अंकुश और नियन्त्रण लगाता है, व्यक्ति के मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास को अवरुद्ध करता है। पहले (पृ० ६०६-२६) यह बताया जा चुका है कि पश्चिमी जगत् के लास्की व कोल जैसे कुछ प्रसिद्ध विचारक और मनीषी राज्य की प्रभुसत्ता का विरोध करते हुए इसी आधार पर बहुलवाद (Pluralism) का समर्थन करते हैं। ये सब विचारक गांधी जी की भाँति विभिन्न आधुनिक राज्यों में विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता स्वीकार करते हैं।

गांधी जी के राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का यह अभिप्राय है कि गाँव-पंचायतों को अपने गाँवों का प्रबन्ध और प्रशासन करने के सब अधिकार दे दिए जाएँ। इनके मामलों में राष्ट्रीय अथवा प्रान्तीय सरकारों का हस्तक्षेप और नियन्त्रण बहुत कम हो जाए। सभी गाँव आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी तथा राजनीतिक दृष्टि से स्वशासन का पूर्ण अधिकार रखने वाले हों। उन्होंने स्वावलम्बी गाँवों का सुन्दर चित्र उपस्थित करते हुए यह लिखा है कि "मेरे ग्रामस्वराज्य का आदर्श यह है कि प्रत्येक गाँव एक पूर्ण गणराज्य हो। अपनी आवश्यक वस्तुओं के लिए वह अपने पड़ोसियों पर निर्भर न रहे।...इस प्रकार प्रत्येक गाँव का पहला काम होगा खाने के लिए अन्न और कपड़ों के लिए रुई की फसलों को उत्पन्न करना। पशुओं के लिए वहाँ गोचर भूमि होनी चाहिए और लोगों के खेल-कूद व मनोरंजन के लिए खेल के मैदान। यदि और भूमि हो तो रुपया पैदा करने वाली लाभदायक फसलें उत्पन्न की जाएँ, परन्तु उनमें गाँजा, अफीम, तम्बाकू आदि सम्मिलित न समझे जाने चाहिएँ। गाँव की अपनी नाट्यशाला, सार्वजनिक भवन व पाठशाला भी होनी चाहिएँ। स्वच्छ जल के जलाशयों का प्रबन्ध भी आवश्यक है; चाहे वे सुरक्षित कूप हों या तालाब। प्रारम्भिक शिक्षा अन्तिम कक्षा तक अनिवार्य होगी। यथासम्भव प्रत्येक कार्य सहकारिता के आधार पर किया जाएगा।...दण्ड के स्थान पर ग्राम-समाज अहिंसामूलक सत्याग्रह तथा असहयोग से काम लेगा। ग्राम-रक्षकों का एक दल रहेगा जो ग्रामवासियों में से ही बारी-बारी से ही चुना जाएगा। ग्राम का शासन पाँच व्यक्तियों की पंचायत के द्वारा संचालित होगा। इन पंचों में निर्धारित निम्नतम योग्यता का होना आवश्यक होगा,

इनका चुनाव प्रतिवर्ष ग्रामवासी सभी वयस्क स्त्री-पुरुषों द्वारा होगा। सभी आवश्यक अधिकार इन्हीं के हाथ में होंगे। आजकल की तरह दण्ड-व्यवस्था होगी ही नहीं। पंचायत ही गाँव की व्यवस्थापिका सभा, कार्यकारिणी सरकार व न्यायपालिका, सभी कुछ होगी। कोई भी गाँव चाहे तो आज इस प्रकार का गणराज्य बन सकता है। इसमें व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के आधार पर बना पूर्ण लोकतन्त्र होगा।"

गांधी जी के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि उनकी कल्पना में प्रत्येक गाँव शासन, उत्पादन, वितरण आदि के पूर्ण अधिकार रखता है। इस समय विभिन्न राज्यों द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली सभी शक्तियों का वह प्रयोग करता है। गाँवों को इस प्रकार सब अधिकार देकर गांधी जी राजनीतिक सत्ता का पूर्ण विकेन्द्रीकरण करना चाहते हैं।

आर्थिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण का अभिप्राय बड़े पैमाने पर मशीनों द्वारा कारखानों में किए जाने वाले उत्पादन के स्थान पर खादी, गुड़, तेल-घानी आदि के लघु कुटीर-उद्योग स्थापित करना है। पहले यह बताया जा चुका है कि आधुनिक उद्योगवाद ने किस प्रकार उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों और युद्धों को उत्पन्न किया है। इनका मूल कारण औद्योगिक उत्पादन की पद्धति है। यदि इसका अन्त कर दिया जाए तो संसार महायुद्धों की विभीषिका से मुक्त हो जाएगा।

किन्तु यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न करना सम्भव है कि क्या हम वर्तमान युग के महान् आविष्कारों—रेलों, मशीनों, कारखानों का परित्याग करके २०० वर्ष पहले की स्थिति में जा सकते हैं। गांधी जी का तो दृढ़ विश्वास है कि हमारा काम रेल आदि के बिना चल सकता है। उनके आदर्श समाज में रेलों और जहाजों का कोई स्थान नहीं है। वे जीवन को अधिक-से-अधिक सरल और सादा बनाने पर तथा आवश्यकताएँ घटाने पर बल देते हैं। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वे अहिंसक समाज में रेलों तथा मशीनों के प्रयोग की अनुमति इस आधार पर देते हैं कि ये उद्योगवाद के दुष्परिणामों को उत्पन्न न करें।

वर्ण-व्यवस्था या वर्ण-धर्म का सिद्धान्त—यह गांधी जी के अहिंसक समाज के संगठन का एक प्रमुख मौलिक सिद्धान्त है। यह भारतीय समाजशास्त्र का एक प्राचीन शब्द है। इसका अभिप्राय सामान्य रूप से यह लिया जाता है कि समाज का संगठन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्णों के आधार पर होना चाहिए। किन्तु गांधी जी ने इस प्राचीन शब्द का प्रयोग करते हुए भी उसमें कुछ नवीन भावों को भरने का प्रयत्न किया है। उनके मतानुसार, "वर्ण का अर्थ अत्यन्त सहज है। इसका अर्थ इतना ही है कि हम सब अपने वंश और परम्परागत काम को **केवल जीविका के लिए** ही करें, बशर्ते कि वह नैतिकता के मूल सिद्धान्तों के विरुद्ध न हो।"[1] इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि "मेरा विश्वास है कि मनुष्य इस जगत् में कुछ स्वाभाविक योग्यताएँ लेकर पैदा होता है। इन्हीं के आधार पर वर्ण का सिद्धान्त बनाया गया है। इसके अनुसार सबको अपना काम करना चाहिए। इससे अनावश्यक प्रतियोगिता

---

१. नवजीवन, ३-११-२७

समाप्त हो जाती है। व्यक्ति की स्वाभाविक योग्यताओं को मानते हुए भी वर्ण-व्यवस्था ऊँच-नीच के कोई भेद नहीं मानती है। एक ओर तो यह व्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति को उसके परिश्रम के अनुसार पारिश्रमिक प्रदान करती है, दूसरी ओर अपने पड़ोसी को प्रतियोगिता से परेशान नहीं करती।

विनोबा जी के मतानुसार गांधी जी की वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त का सार तीन बातों में निहित है : **पहली** बात आनुवंशिक संस्कारों से लाभ उठाना है। प्रत्येक व्यक्ति अपने परम्परागत पेशे की कुछ स्वाभाविक योग्यताएँ लेकर उत्पन्न होता है और बचपन में इस पेशे के वातावरण में पलते हुए इन्हें जल्दी से ग्रहण करता है और इनमें शीघ्र ही निष्णात हो जाता है। यह व्यवस्था समाज के लिए हितकर है। इंजीनियर का बेटा अच्छा इंजीनियर और डाक्टर का लड़का अच्छा डाक्टर बनता है। समाज को इस व्यवस्था से पूरा लाभ उठाना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को समाज के प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा करने के लिए पैतृक पेशे को करना चाहिए। **दूसरी** बात इस कारण से होड़ या प्रतियोगिता का समाप्त होना है। आजकल समाज में बड़ी अव्यवस्था और अराजकता है। प्रत्येक व्यक्ति उसी पेशे की ओर जाना चाहता है जिसमें अधिक पैसा मिलने की आशा हो, भले ही उसके लिए आवश्यक योग्यता उसमें न हो। उदाहरणार्थ, सभी लोग आर्थिक लाभ की दृष्टि से वकील, डाक्टर या इंजीनियर बनना चाहते हैं, इससे इन पेशों में होड़ बढ़ जाती है, इस कारण बेकारी में वृद्धि होती है, समाज की अपार प्रतिभा बरबाद होने लगती है। यदि पैतृक पेशों को ही करने का नियम कठोरता से लागू कर दिया जाए तो यह बन्द हो सकती है। समाज में यह भावना उत्पन्न की जानी चाहिए कि विभिन्न पेशे आर्थिक लाभ की दृष्टि से नहीं, अपितु समाज के प्रति अपना कर्त्तव्यपालन की दृष्टि से किए जाने चाहिएँ। सभी पेशे इस दृष्टि से समान हैं कि वे समाज के लिए आवश्यक हैं, उनमें किसी प्रकार की ऊँच-नीच का भाव नहीं है। **तीसरी** बात मजदूरी की या पारिश्रमिक की समानता है। गांधी जी का यह विचार है कि समाज को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से सब पेशे बराबर हैं, सबकी सामान्य आवश्यकताएँ भी लगभग एक-सी हैं। अतः इनके पारिश्रमिक में कोई भेदभाव या विषमता नहीं होनी चाहिए। इस समय एक डाक्टर या वकील को नाई या भंगी की अपेक्षा अधिक पैसा दिया जाता है। यह व्यवस्था समाज में अनावश्यक विषमता को उत्पन्न करती है। सामाजिक दृष्टि से नाई या भंगी का काम वकील के काम से कम महत्व नहीं रखता है, अतः दोनों को समान पारिश्रमिक या वेतन दिया जाना चाहिए। इससे वकालत और डाक्टरी जैसे पेशों के लिए होने वाली होड़ समाप्त हो जाएगी।

इस सिद्धान्त की इस दृष्टि से कड़ी आलोचना की जाती है कि यह जात-पाँत के बुरे परिणामों को स्थायी बनाकर समाज में निम्न समझी जाने वाली जातियों को ऊँचा उठाने तथा उन्नति करने के अवसरों से वंचित करता है क्योंकि इसके अनुसार भंगी तथा नाई के लड़कों को सदैव अपने पिता के पेशे ही करने चाहिएँ। किन्तु गांधी जी के मतानुसार यह आलोचना कई कारणों से सही नहीं है : (१) वे नाई या भंगी के प्रतिभासम्पन्न लड़कों द्वारा अन्य पेशे किए जाने में दोष नहीं समझते हैं,

बशर्ते कि वे यह पेशा आर्थिक लाभ की दृष्टि से नहीं, अपितु समाज की सेवा के उद्देश्य से करें। उनके शब्दों में किसी बुद्धिमान बढ़ई के लिए रुपया कमाने के हेतु से नहीं, अपितु सेवा करने के लिए वकालत करना ठीक होगा। (२) गांधी जी अपने वर्ण-धर्म की धारणा में ऊँच-नीच की कल्पना को कोई स्थान नहीं देते हैं। "मेरी समझ में कोई मनुष्य न तो जन्म से और न कर्म से ही बड़ा बन जाता है। मेरा विश्वास है कि जन्म के समय सभी मनुष्य बराबर होते हैं। चाहे वे हिन्दुस्तान में पैदा हों, चाहे इंग्लैण्ड में या अमेरिका में, वे चाहे जिस स्थिति में पैदा हुए हों, किन्तु सभी मनुष्यों में एक ही आत्मा है।...मुझे अपने-आपको झाड़ू देने वाला भंगी, सूत कातने वाला, कपड़ा बुनने वाला जुलाहा, किसान और मजदूर कहलाने में आनन्द आता है। जहाँ-कहीं ब्राह्मणों ने विद्या, बल या जन्म के नाम से बड़प्पन का दावा किया है, मैंने उनसे लोहा लिया है। मेरी राय में दूसरे किसी मनुष्य से श्रेष्ठ होने का दावा करना मनुष्यता को लांछन लगाना है। जो अपनी उच्चता का दावा करता है वह उसी क्षण मनुष्य होने के अधिकार भी खो देता है।"[1]

गांधी जी के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वे वर्तमान समय में समाज में प्रचलित ऊँच-नीच के विचारों को सही नहीं मानते हैं, सभी पेशों को समानता की दृष्टि से देखते हैं, वे भंगी के तथा ब्राह्मण के लड़के में प्रतिष्ठा और वेतन की दृष्टि से कोई भेद नहीं रखना चाहते हैं। यदि समाज में यह व्यवस्था सर्वमान्य हो जाए तो सामाजिक एवं आर्थिक विषमता तथा इनसे उत्पन्न होने वाले भीषण वर्ग-संघर्ष समाप्त हो जाएँगे। गांधी जी की वर्ण-व्यवस्था पर यह आपत्ति की जा सकती है कि यह बहुत ऊँचा आदर्श है, इसे व्यावहारिक रूप देना कठिन है। इस विषय में उनका यह कहना है कि भले ही हम इस आदर्श तक न पहुँच सकें, किन्तु प्रत्येक भारतीय का यह कर्त्तव्य है कि वह इस आदर्श की ओर अग्रसर हो।

संरक्षकता (Trusteeship) **का सिद्धान्त**—समाज की वर्तमान आर्थिक विषमता के दुष्परिणामों का अहिंसक प्रतिकार करने की दृष्टि से इस सिद्धान्त का विशेष महत्व है। इसका यह अभिप्राय है कि धनी व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं से अधिक जमीन-जायदाद, कारखाने तथा विविध प्रकार की सम्पत्ति का अपने को स्वामी न समझें, अपितु इसे समाज की अमानत या धरोहर (Trust) मानें; वे उसका उपयोग अपने लाभ के लिए नहीं, अपितु समाज के कल्याण के लिए करें। गांधी जी का यह सिद्धान्त अपरिग्रह के विचार पर आधारित है। अपरिग्रह का यह तात्पर्य है कि मनुष्य को अपने जीवन की आवश्यकताओं से अधिक किसी वस्तु का संग्रह या संचय नहीं करना चाहिए। ऐसा करने वाला चोर है। यदि किसी के पास इससे अधिक सम्पत्ति हो गई है तो उसे यह अपनी न समझकर ईश्वर की तथा समाज की समझनी चाहिए। जगत् की सभी वस्तुओं पर ईश्वर का स्वामित्व है[2], मनुष्य को अपने परिश्रम और

---

१. हिन्दी नवजीवन, ६-१०-२७

२. इस विषय में गांधी जी ईशावास्योपनिषद् के निम्नलिखित मन्त्र की प्रशंसा करते हुए कहते थे कि यदि सभी वेद शास्त्र लुप्त हो जाएँ और केवल यही मन्त्र शेष रह जाए तो भी इससे सब शास्त्रों का सारभूत उपदेश हमें मिल जाएगा। यह मन्त्र इस प्रकार है—

आवश्यकता के अनुसार इसमें से अपना हिस्सा लेने का अधिकार है। अतः वह किसी भी प्रकार की सम्पत्ति का स्वामी नहीं, अपितु उसका संरक्षक मात्र है।

आधुनिक समय की उग्र आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए समाजवादी विचारक शक्ति के प्रयोग से उत्पादन के साधन धनियों से छीनकर, उन पर राज्य का स्वामित्व स्थापित करना चाहते हैं। इस प्रकार वे समाज में पूँजीपतियों का और पूँजीवाद का उन्मूलन करने के लिए उत्सुक हैं। ग्रेट ब्रिटेन जैसे कल्याण राज्य (Welfare State) के सिद्धान्तों में आस्था रखने वाले देश पूँजीपतियों पर अधिकाधिक कर (Progressive taxation) लगाकर विषमता को दूर करना चाहते हैं। किन्तु गांधी जी समाज में धन के समान वितरण के लिए संरक्षकता के सिद्धान्त का आश्रय लेते हैं। गांधी जी धनियों से उनकी सम्पत्ति और उत्पादन के साधन जबर्दस्ती से छीनने के पक्ष में नहीं हैं। उन्हें यह हिंसापूर्ण मार्ग पसन्द नहीं है, इससे समाज में कटुता, रोष, तनाव और वर्ग-संघर्ष का हिंसक वातावरण बनेगा। यदि समाज में क्रान्ति द्वारा पूँजीपति वर्ग का उन्मूलन कर दिया जाए तो समाज सम्पत्ति के उत्पादन में उनकी सेवाओं द्वारा उठाए जा सकने वाले लाभ से वंचित हो जाएगा। मजदूरों को भी हिंसक उपायों से कोई लाभ नहीं होगा, अपितु सत्तारूढ़ होने के बाद वे इनका प्रयोग विरोधियों का दमन करने के लिए करने लगेंगे।

अतः गांधी जी ने आर्थिक विषमता के निराकरण का यह अहिंसक मार्ग ढूँढ़ा। उन्होंने कहा था—"मेरा दृढ़ निश्चय है कि यदि राज्य ने पूँजीवाद को हिंसा के द्वारा दबाने की कोशिश की तो वह खुद ही हिंसा के जाल में फँस जाएगा और फिर कभी अहिंसा का विकास नहीं कर सकेगा। राज्य हिंसा का केन्द्रित और संगठित रूप ही है।...इसलिए उसे हिंसा से मुक्त नहीं किया जा सकता है क्योंकि हिंसा से ही उसका जन्म होता है। इसीलिए मैं ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को तरजीह देता हूँ।"[1]

गांधी जी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के अनुसार धनी लोगों को स्वेच्छापूर्वक समझना या समझाया जाना चाहिए कि उनके पास जो धन है वह समाज की धरोहर है, वे उसमें से केवल अपने निर्वाह के लिए आवश्यक धनराशि ही ले सकते हैं, शेष सारी धनराशि उन्हें समाज की दृष्टि से हितकर कार्यों में लगा देनी चाहिए। लोकहितकारी कार्यों में सम्पत्ति को लगाने का यह अर्थ नहीं है कि धनी अपने जीवन-निर्वाह से बची हुई सम्पत्ति को निर्धन व्यक्तियों में बाँट दें। ऐसा करने पर तो यह सम्पत्ति उपभोग में आकर शीघ्र ही नष्ट हो जाएगी। धनी व्यक्ति अपनी फालतू सम्पत्ति को ऐसे उद्योग-धन्धों में लगाए जिनसे साधारण जनता को रोजगार मिल

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मागृधः कस्यस्विद्धनम्॥

अर्थात् यह समस्त जगत् और इसमें जो कुछ भी है वह ईश्वर से व्याप्त अथवा परिपूर्ण है। इसका त्याग के साथ उपभोग करो। जो कुछ दूसरे का धन है उसका लालच मत करो। यह त्यागपूर्वक उपभोग ही उनके 'सर्वोदय' का मूल सिद्धान्त था।

१. माडर्न रिव्यू, अक्तूबर १९३५, पृ० ४१२

सके। उसे दूसरों को काम देकर तथा उत्पादन बढ़ाकर अपनी पूंजी का सदुपयोग सार्वजनिक हित के कल्याण एवं वृद्धि के लिए करना चाहिए। वह इसे जलाशय, विद्यालय आदि जनकल्याणकारी कार्यों में भी लगा सकता है। जमींदार अपनी फालतू जमीन भूमिहीन निर्धन व्यक्तियों को जोतने-बोने के लिए दे सकता है।

इस बात में सन्देह किया जा सकता है कि धनी लोग स्वेच्छापूर्वक अपना धन समाज को समर्पण करने के लिए कैसे और क्यों तैयार होंगे? मार्क्सवादियों के मतानुसार पूंजीपति हिंसा और रक्तपात के बिना अपने धन का त्याग नहीं करेंगे। किन्तु गांधी जी मानवीय प्रकृति की उदात्तता (ऊपर पृ० ६६२), दिव्यता और सुधार में अगाध विश्वास रखते थे। उनका यह विचार था कि आरम्भ में दो-चार साधु स्वभाव वाले पूंजीपति कर्त्तव्यबुद्धि से प्रेरित होकर अपनी सम्पत्ति को समाज की अमानत समझने लगेंगे, बाद में इनके उदाहरण से प्रेरणा पाकर अन्य धनी लोग भी इनका अनुसरण करेंगे। किन्तु समाज में ऐसे धनी पूंजीपतियों का होना भी सम्भव है जो इस प्रकार स्वेच्छापूर्वक अपनी सम्पत्ति का परित्याग करने के लिए तैयार न हों। गांधी जी के मतानुसार उनको अहिंसात्मक असहयोग और सत्याग्रह के साधनों से सन्मार्ग पर लाया जाएगा; क्योंकि धनी, जमींदार और उद्योगपति किसानों और मजदूरों के सहयोग से ही अपने सब कार्य सम्पन्न कर सकते हैं। यदि किसान सहयोग न दें तो जमींदार के खेत जोते, बोये और काटे नहीं जा सकते; यदि मजदूर कारखानों में काम करना बन्द कर दें तो पूंजीपतियों के कारखाने ठप्प हो जाएँगे। अतः असहयोग के अहिंसक ब्रह्मास्त्र से धनियों को ट्रस्टी बनने के लिए बाधित किया जा सकता है। विनोबा भावे ने भूदान आन्दोलन द्वारा गांधी जी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देते हुए जमींदारों की हजारों एकड़ भूमि भूमिहीन किसानों को दिलवाई है। जिस प्रकार अहिंसात्मक असहयोग के आन्दोलनों से भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता मिली है, ऐसे ही ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त से हमें आर्थिक समानता और स्वतन्त्रता की प्राप्ति होगी।

किन्तु गांधी जी के आलोचकों को यह कोरा मिथ्या आशावाद प्रतीत होता है कि धनी लोग स्वेच्छापूर्वक अपनी सम्पत्ति को छोड़ने तथा उसका ट्रस्टी समझने के लिए तैयार हो जाएँगे। गांधी जी ने इसका उत्तर देते हुए कहा है—"आप कह सकते हैं कि ट्रस्टीशिप तो कानूनशास्त्र की एक कल्पना मात्र है, व्यवहार में उसका कहीं कोई अस्तित्व दिखाई नहीं पड़ता है। किन्तु यदि लोग इस बात पर सतत विचार करें, उसे आचरण में उतारने की कोशिश भी करते रहें तो मनुष्य-जाति की नियामक शक्ति के रूप में प्रेम आज जितना काम करता है उससे कहीं अधिक काम करेगा। निस्सन्देह पूर्ण ट्रस्टीशिप तो यूक्लिड के बिन्दु की व्याख्या की तरह एक कल्पना ही है और उतनी ही अप्राप्य भी है। किन्तु यदि इसके लिए प्रयत्न किया जाए तो दुनिया में समानता की दिशा में हम दूसरे किसी उपाय से जितनी दूर तक जा सकते हैं उसके बजाय इस सिद्धान्त से ज्यादा दूर तक जा सकेंगे।"[1]

---

१. माडर्न रिव्यू, अक्तूबर १९३५, पृ० ४१२

गांधीवाद और समाजवाद—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि गांधी जी समाज में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, समानता और सामाजिक न्याय के उदात्त सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देना चाहते थे। वे अपरिग्रह और ट्रस्टीशिप के सिद्धान्तों द्वारा आर्थिक विषमता को दूर करके सबके लिए धन का समान वितरण करना चाहते थे, सबको उन्नति के समान अवसर देने के लिए उत्सुक थे। इस दृष्टि से गांधी जी सच्चे समाजवादी थे। उन्होंने 'हरिजन' (२-१-३७) में लिखा था—सच्चा समाजवाद तो हमें पूर्वजों से प्राप्त हुआ है, जो हमें यह सिखा गए हैं कि—"सब भूमि गोपाल की है, इसमें कहीं मेरी या तेरी की सीमाएँ नहीं हैं। ये सीमाएँ आदमियों की बनाई हुई हैं, इसलिए वे इन्हें तोड़ भी सकते हैं। गोपाल यानी कृष्ण भगवान्। आधुनिक भाषा में गोपाल यानी राज्य यानी जनता।···जमीन और दूसरी सारी सम्पत्ति उसकी है जो उसके लिए काम करे।" २०-२-३७ के 'हरिजन' में उन्होंने यह विचार प्रकट किया था कि समाजवाद का विचार नवीन नहीं है, उसका जन्म पूंजीवाद के दुरुपयोग के कारण नहीं हुआ है। किन्तु यह बहुत प्राचीन सिद्धान्त है। समाजवाद का ही नहीं अपितु साम्यवाद का भी ईशोपनिषद् के पहले मन्त्र में स्पष्ट प्रतिपादन है।[1] लुई फिशर से जुलाई १९४६ में वार्त्तालाप करते हुए गांधी जी ने यह दावा किया था—"मैं सच्चा समाजवादी हूँ। मेरे समाजवाद का अर्थ है सर्वोदय।" गांधी जी समाज के सभी वर्गों—विशेषतः किसानों, मजदूरों, निर्धनों का सर्वविध कल्याण चाहते थे, उनके साथ होने वाले अन्याय और अत्याचारों को तथा आर्थिक विषमता को दूर करना चाहते थे, अतः वे सच्चे समाजवादी थे। उद्देश्य की दृष्टि से गांधीवाद और समाजवाद में कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं है।

किन्तु समाजवादी होते हुए भी गांधी जी का समाजवाद पश्चिमी जगत् के आधुनिक समाजवाद से कई बातों में मौलिक रूप से भिन्न है। दोनों के कुछ प्रमुख भेद ये हैं—(१) पश्चिम के समाजवाद का जन्म पूंजीवाद के दोषों और दुष्परिणामों से हुआ है (देखिए ऊपर पृ० २६९); उसका प्रेरणा-स्रोत भौतिक आर्थिक विषमता है। किन्तु गांधी जी के समाजवाद का मूल आधार आध्यात्मिक है, यह सत्य और अहिंसा के आदर्शों से प्रेरित है। उनका विश्वास है कि सब व्यक्तियों में भगवान् की दिव्य सत्ता का अंश विद्यमान है, अतः सभी व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से समान हैं, सबकी आवश्यकताएँ समान रूप से पूरी होनी चाहिएँ। अपनी आवश्यकताओं से अधिक सम्पत्ति रखना पाप है। प्रत्येक वस्तु ईश्वर की है, अतः उस पर सबका समान अधिकार है।

(२) **दूसरा** अन्तर गांधी जी द्वारा साधनों की शुद्धता पर और अहिंसा पर बल दिया जाना है (ऊपर पृ० ६५७)। समाजवादी अपना लक्ष्य प्राप्त करने के लिए हिंसा, क्रान्ति और असत्य के प्रयोग में कोई संकोच नहीं करते हैं। किन्तु गांधी जी अहिंसा के उपासक हैं। उनकी पद्धति सदैव एकमात्र शुद्ध अहिंसा की रही है। वे समाजवाद को स्फटिक की तरह शुद्ध मानते हैं और उसे प्राप्त करने के साधनों की शुद्धता पर बहुत बल देते हैं। उनके शब्दों में, "अशुद्ध साधनों से प्राप्त होने वाला

१. हरिजन, २०-२-३७

साध्य भी अशुद्ध ही होता है। इसलिए राजा का सिर काट डालने से राजा और प्रजा बराबर नहीं हो जाएँगे; मालिक का सिर काटने से मालिक और मजदूर बराबर नहीं होंगे। हम असत्य से सत्य को नहीं प्राप्त कर सकते हैं। सत्यमय आचरण द्वारा ही सत्य को पाया जा सकता है।...अतः सत्यपरायण, अहिंसक और शुद्ध हृदय समाजवादी ही भारत और संसार में समाजवादी समाज स्थापित कर सकेंगे।"[1] पश्चिमी समाजवादी पूँजीवाद की समाप्ति क्रान्ति और युद्ध से करना चाहते हैं, गांधी जी इसे अहिंसात्मक असहयोग से करने के लिए कटिबद्ध हैं। वे यह कार्य धनियों और जमींदारों के हृदय-परिवर्तन एवं ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त से करना चाहते हैं। यदि धनी अपनी अतिरिक्त सम्पत्ति समाज की सेवा के लिए अर्पित नहीं करेंगे तो श्रमिक पूँजीपतियों से असहयोग करके उन्हें इसके लिए विवश कर देंगे।

(३) समाजवाद और गांधीवाद दोनों एक ही प्रकार के वर्गहीन (Classless) समाज की स्थापना करना चाहते हैं। किन्तु समाजवादी वर्ग-संघर्ष (Class struggle) को अनिवार्य मानते हैं, उनका यह कहना है कि सर्वहारा वर्ग क्रान्ति द्वारा ही पूँजीपति वर्ग का उन्मूलन करके वर्गहीन समाज का निर्माण करेगा। किन्तु गांधी जी इस हिंसात्मक पद्धति के विरोधी हैं। उनका यह कहना है कि "आप जमींदारों और पूँजीपतियों का हृदय-परिवर्तन हिंसा से नहीं, बल्कि केवल समझा-बुझाकर ही कर सकते हैं।" गांधी जी अपने सिद्धान्त को सर्वोदय अर्थात् समाज के सभी वर्गों तथा व्यक्तियों का अभ्युत्थान करने वाला समझते थे। वे समाज में वर्ग-संघर्ष के स्थान पर वर्ग-सहयोग (Class co-operation) तथा वर्ग-समन्वय (Class collaboration) की भावना को प्रबल बनाना चाहते थे। उदाहरणार्थ, कारखानों में मजदूर और मिल-मालिक मिल-जुलकर काम करेंगे, मजदूर अपनी एकमात्र पूँजी श्रम को कारखानों में लगाते हैं, अतः उन्हें भी कारखाने में हिस्सेदार माना जाएगा।[2]

(४) समाजवादी उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण (Nationalisation) में अगाध विश्वास रखते हैं, वे इस साधन से समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं। किन्तु गांधी जी को राष्ट्रीयकरण का विचार पसन्द नहीं है। इसका बड़ा कारण यह है कि इससे राज्य अत्यधिक शक्तिशाली हो जाएगा। पहले यह बताया जा चुका है कि गांधी जी मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन के, बड़े उद्योगों के तथा केन्द्रीकरण के विरोधी हैं (पृ० ६६९–७१)। इसीलिए वे राष्ट्रीयकरण के भी विरोधी हैं। उन्होंने १९३४ में इस विषय में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था—"उत्पादन, वितरण और विनिमय के सारे साधनों के अधिकाधिक राष्ट्रीयकरण" की माँग इतनी अविचारपूर्ण है कि वह स्वीकार नहीं की जा सकती है। रवीन्द्रनाथ टैगोर अद्भुत उत्पादन के एक साधन हैं। मैं नहीं मानता कि वे अपने पर राष्ट्र का अधिकार होने की बात स्वीकार करेंगे।"[3]

---

१. हरिजन, १३-७-४७

२. गांधी जी—मेरा समाजवाद, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, पृ० १४

३. गांधी जी—मेरा समाजवाद, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, पृ० १०

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाजवाद को यदि ऐसी नूतन सामाजिक व्यवस्था समझा जाए जो सब व्यक्तियों को हर प्रकार की समानता देने वाली, प्रत्येक प्रकार के अन्याय, अत्याचार और शोषण का विरोध करने वाली, व्यक्ति के सर्वांगीण विकास पर तथा समाज के सभी वर्गों के अभ्युदय और उत्थान पर बल देने वाली हो तो गांधी जी अवश्यमेव समाजवादी थे। किन्तु समाजवाद का अभिप्राय यदि क्रान्ति द्वारा पूँजीवाद का विध्वंस करके सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता स्थापित करना तथा उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण हो तो गांधी जी समाजवादी नहीं थे।

गांधीवाद और मार्क्सवाद की तुलना—महात्मा गांधी और महामना मार्क्स के सिद्धान्तों में कई विलक्षण समानताएँ हैं। दोनों दरिद्रता के दानव का संहार करना चाहते हैं, निर्धनों को धनिकों के शोषण तथा अत्याचारों से मुक्त करना चाहते हैं, दोनों समाज में अमीर-गरीब के भेद तथा वर्गों का अन्त करने के लिए उत्सुक हैं। दोनों श्रम को असाधारण महत्व देते हैं। मार्क्स श्रम को पूँजी की उत्पत्ति का प्रधान स्रोत मानता है; गांधी जी सबके लिए शारीरिक परिश्रम करना अनिवार्य मानते हैं, वे मताधिकार को श्रम करने वालों तक ही सीमित रखना चाहते हैं। दोनों इस सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप देना चाहते हैं कि "प्रत्येक से उसकी योग्यतानुसार काम लिया जाए तथा प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार पारिश्रमिक दिया जाए।" राज्य के विषय में दोनों का सिद्धान्त एक जैसा है। दोनों भावी आदर्श व्यवस्था में राज्य की सत्ता नहीं मानते हैं। मार्क्स का यह कहना है कि राज्य एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण करने का साधन है, गांधी जी इसे हिंसा का मूर्त्तरूप तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता का विरोधी समझते हैं। अतः दोनों राज्य की सत्ता के उन्मूलन पर बल देते हैं। इन समानताओं के होते हुए भी स्थूलरूप से इन दोनों में एक बड़ा भेद हिंसा के प्रश्न पर दिखाई देता है। गांधी जी अहिंसा के उपासक हैं, मार्क्स संघर्ष को सृष्टि का प्रधान तत्व मानते हैं। मार्क्सवादी साम्यवाद की स्थापना के लिए क्रान्ति, युद्ध तथा हिंसा के उपायों को बुरा नहीं समझता।

इन समानताओं के आधार पर कई बार यह कल्पना की जाती है कि **हिंसावर्जित साम्यवाद गांधीवाद है तथा साम्यवाद हिंसायुक्त गांधीवाद है।**[1] वस्तुतः यह धारणा अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है। दोनों में उपर्युक्त समानताओं के होते हुए भी बहुत अधिक मौलिक भेद हैं। श्री विनोबा जी ने इसका सरस विवेचन करते हुए लिखा है—"एक बार इस तरह की चर्चा हो रही थी कि 'गांधीवाद और साम्यवाद में केवल अहिंसा का ही अन्तर है'। मैंने कहा—'दो आदमी नाक, कान, आँख की दृष्टि से बिलकुल एक-से थे, इतने मिलते-जुलते थे कि राजनीतिक छल के लिए एक की जगह दूसरे को बिठाया जा सकता था। फर्क इतना ही था कि एक की नाक से साँस चल रही थी और दूसरे की साँस बन्द हो गई थी। परिणाम यह हुआ कि एक के लिए भोजन की तैयारी हो रही थी और दूसरे के लिए शवयात्रा की।[2] अहिंसा का

१. मशरूवाला—गांधी और साम्यवाद, पृ० १३
२. किशोरलाल मशरूवाला—गांधी और साम्यवाद, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, १९५३, पृ० १३

होना या न होना, यह 'छोटा-सा' फर्क छोड़ देने पर बची हुई समानता इसी तरह की है।" प्रसिद्ध गांधीवादी विचारक किशोरलाल मशरूवाला ने भी लिखा है कि "गांधीवाद यानी बगैर हिंसा का साम्यवाद, ऐसा कहने से सुनने वाले के दिल पर यह असर होता है कि साम्यवाद में हिंसा का जो थोड़ा मैल पैठा हुआ है, उतना साफ कर दिया जाए तो गांधीवाद और साम्यवाद एक हो जाते हैं। यह छोटी-सी शर्त्त नहीं, किन्तु एक बड़ा पहाड़ है। इस शर्त्त में इतना विशाल अर्थ समाया हुआ है कि यह तुलना बिलकुल भ्रान्तिपूर्ण और बेकार बन जाती है। यह उतनी ही बेकार है जितना यह कहना कि लाल का अर्थ पीलेपन और नीलेपन से रहित हरा रंग है और कीड़े का अर्थ निर्विष साँप है।"[1] इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि इन दोनों वादों में हिंसा का एक ऐसा प्रधान और मौलिक अन्तर है जो इन्हें सर्वथा भिन्न सिद्धान्त बना देती है। इसके अतिरिक्त दोनों के प्रधान भेद निम्नलिखित हैं—

(१) मार्क्स विशुद्ध भौतिकवादी (Materialist) है, वह विश्व में जड़ प्रकृति (Matter) के अतिरिक्त कोई चेतन सत्ता नहीं मानता है, उसका यह विश्वास है कि चेतना का आविर्भाव जड़ प्रकृति से एक विशेष प्रक्रिया द्वारा होता है (देखिए ऊपर पृ० ३१३), इसके सर्वथा विपरीत गांधी जी अद्वैतवादी हैं, वे समूचे चराचर जगत् में एक ही ब्रह्म या ईश्वर की सत्ता का विस्तार देखते हैं। वे सर्वव्यापक, सर्वज्ञ भगवान् में और धर्म में गहरी आस्था रखते हैं। उनके जीवन के सब क्रियाकलापों का मूल प्रेरणा-स्रोत धर्म, आस्तिकता, सत्य और अहिंसा के विश्वास थे। किन्तु मार्क्स तथा उसके अनुयायी धर्म तथा ईश्वर के कट्टर विरोधी हैं। वे इसे जनता को मोहनिद्रा में सुलाने वाली अफीम समझते हैं। उनके मतानुसार धर्म का आविष्कार इसलिए किया गया है कि पूंजीपति गरीबों का शोषण करते रहें और वे इसे भगवान् द्वारा बनाई गई व्यवस्था समझकर अपनी दशा से सन्तुष्ट बने रहें, पूंजीपतियों के विरुद्ध विद्रोह न करें। गांधी जी का कहना था कि साम्यवाद उन्हें इसलिए पसन्द नहीं है कि यह हिंसा और और नास्तिकता पर आधारित है। गांधीवाद आध्यात्मिकता और आस्तिकता में तथा साम्यवाद भौतिकता और नास्तिकता में विश्वास करता है।

(२) साम्यवाद साध्य को महत्व देता है, उसके लिए पवित्र-अपवित्र सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग उचित मानता है। साम्यवादी क्रान्ति को सफल बनाने के लिए किसी भी प्रकार की चालाकी, असत्य व्यवहार, धोखाधड़ी और धूर्त्तता को बुरा नहीं समझता है। किन्तु गांधी जी साध्य के साथ साधनों की पवित्रता पर भी बहुत बल देते हैं (देखिए ऊपर पृ० ६५७)।

(३) गांधीवाद अहिंसा और प्रेम पर आधारित है। गांधी जी बाइबल के इस वाक्य में विश्वास रखते थे कि अपने शत्रुओं से भी प्रेम करना चाहिए। उनकी पद्धति प्रेम के बल से विरोधी को परास्त करने की थी। इसके विपरीत काटलिन के मतानुसार मार्क्सवाद विद्वेष का उपदेश देता है। वह पूंजीपतियों से, धर्म से और ईश्वर से घृणा करने का पाठ पढ़ाता है। स्तालिन ने कहा था कि आप अपने शत्रु

---

१. वही, पृ० ३२

को तब तक नहीं जीत सकते जब तक आप अपनी आत्मा की पूरी शक्ति से उसके साथ घृणा न करने लगें।

(४) दोनों का एक महत्वपूर्ण मौलिक अन्तर हिंसा और अहिंसा का है। साम्यवादी यह मानते हैं कि जिस प्रकार बच्चा पैदा करने के लिए दाई की आवश्यकता है, उसी प्रकार समाजवादी रूपी शिशु का जन्म हिंसा और क्रान्ति की दाई द्वारा कराया जाता है, इसके बिना नूतन साम्यवादी व्यवस्था का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता है। इसके विपरीत गांधी जी अहिंसा पर कितना बल देते हैं, इसका पहले प्रतिपादन किया जा चुका है। गांधी जी ने तो यहाँ तक कहा था कि यदि भारत हिंसा का मार्ग ग्रहण करेगा तो मैं भारत में रहना पसन्द नहीं करूँगा। उनका यह मत है कि हिंसा से किसी समस्या का समाधान नहीं हो सकता है। मार्क्स संघर्ष को सृष्टि का परम तत्व मानते हैं। उनके मतानुसार संघर्ष के सिवाय दुनिया में और कुछ नहीं है। किन्तु गांधीवाद सृष्टि का प्रधान तत्व सहयोग ओर प्रेम को समझता है।

(५) गांधीवाद में व्यक्ति को साध्य मानते हुए उसे अधिक महत्व दिया गया है, राज्य उसके विकास का साधन मात्र है। मार्क्स तथा अन्य साम्यवादी व्यक्ति को नहीं, अपितु राज्य को महत्व देते हैं। इसी कारण दोनों की कार्य-प्रणाली में मौलिक अन्तर है। गांधी जी समाज में परिवर्तन लाने के लिए उसका निर्माण करने वाले व्यक्ति का सुधार और चरित्र का विकास करना चाहते हैं। वे नूतन सामाजिक व्यवस्था का श्रीगणेश व्यक्ति से करते हैं। इससे सर्वथा विपरीत साम्यवादी अपना श्रीगणेश राज्य द्वारा करते हैं, वे क्रान्ति या षड्यन्त्र द्वारा सर्वप्रथम राजनीतिक सत्ता हस्तगत करने का प्रयास करते हैं और इसे हस्तगत करने के बाद अपनी इच्छानुसार समाज के आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन करके नवीन सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करते हैं।

(६) साम्यवाद और गांधीवाद के सामाजिक मूल्यों में तथा सभ्यता की धारणा में मौलिक अन्तर है। मार्क्स के अनुयायी वर्तमान औद्योगिक सभ्यता को वरदान समझते हैं और गांधी जी अभिशाप (देखिए ऊपर पृ० ६६९-७०)। उनका दृष्टिकोण मार्क्सवादियों से भिन्न है। वे धन-दौलत और सत्ता के पीछे भागने को पागलपन तथा व्यक्ति के सच्चे विकास में बाधक समझते हैं। गांधी जी आध्यात्मिक जीवन को सर्वोत्तम आदर्श मानते हैं, मार्क्सवादी भौतिक जीवन और इसके सुखों की प्राप्ति को ही अपना सर्वोच्च लक्ष्य मानते हैं। गांधी जी सरल जीवन पर और आवश्यकताओं के घटाने पर बल देते हैं, साम्यवादी इनके बढ़ाने में विश्वास रखते हैं।

(७) साम्यवादी पूँजीवाद का उन्मूलन करने के लिए उद्योगों के राष्ट्रीयकरण पर तथा उत्पादन के सभी साधनों पर राज्य का स्वामित्व चाहते हैं; गांधी जी बड़े उद्योगों के तथा इनके राष्ट्रीयकरण के विरोधी हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दोनों में अनेक मौलिक मतभेद हैं। मार्क्सवादी वर्ग-विग्रह (Class war) तथा सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता के सिद्धान्तों में विश्वास रखते हैं। इसके विपरीत गांधी जी वर्ण-व्यवस्था या विभिन्न वर्गों द्वारा अपने परम्परागत कार्य करने में सत्याग्रह, पंचनिर्णय, विकेन्द्रीकरण, ट्रस्टीशिप, वैयक्तिक स्वाधीनता और लोकतन्त्र के सिद्धान्तों में आस्था

रखते हैं। ये भेद इतने अधिक और मौलिक हैं कि हिंसारहित मार्क्सवाद को गांधीवाद नहीं कहा जा सकता है।

गांधीवाद के दोष—इसका पहला और सबसे बड़ा दोष यह कहा जाता है कि यह कोरा आदर्शवाद है, गांधी जी का सत्य और अहिंसा पर आधारित राज्यहीन समाज प्लेटो की 'रिपब्लिक' की भाँति कल्पनालोक की वस्तु है, वह स्वर्णिम राज्य इस भूतल पर कभी व्यावहारिक रूप धारण कर सकेगा, यह सर्वथा असम्भव प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में ऐसे युग पर विश्वास करना सम्भव नहीं प्रतीत होता है कि जब व्यक्ति अपनी इतनी आत्मशुद्धि कर लेंगे कि सारी सामाजिक व्यवस्था राज्य के बिना आत्मनियन्त्रण से स्वयमेव संचालित होगी, किसी बाहरी भौतिक शक्ति द्वारा सामाजिक सम्बन्धों के नियन्त्रण की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी, सत्य और अहिंसा से सब व्यवहार चलेंगे और राज्य की संस्था समाप्त हो जाएगी।

गांधी जी से उनके जीवनकाल में उनके आदर्शों की अव्यावहारिकता के बारे में बार-बार शंकाएँ की जाती थीं। इनका उत्तर देते हुए गांधी जी यह कहा करते थे कि आदर्श सदैव ऊँचा और अप्राप्य बना रहना चाहिए, यदि हम उसे प्राप्त कर लें तो वह आदर्श नहीं रहेगा। सच्चा आनन्द आदर्श के लिए सतत प्रयास करने में है, न कि उसे पा लेने में। वेदान्तियों की भाँति इस विषय में वे पारमार्थिक और व्यावहारिक स्थितियाँ मानते हैं। पारमार्थिक या आदर्श स्थिति हमारा वास्तविक लक्ष्य है, मानव-समाज का उस तक पहुँचना सम्भव नहीं है, वह हिमालय के उत्तुंग गिरिशिखिर की भाँति हमारा आह्वान कर रहा है; हमें उस ओर, जहाँ तक सम्भव हो, आगे बढ़ना है, ऊँचा चढ़ना है। सत्य और अहिंसा का यदि हम अपने जीवन में पूर्णरूप से पालन नहीं कर सकते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं है कि हम उसके पालन का प्रयास ही छोड़ दें। हमें इसके पालन का प्रयास यथासम्भव अधिक-से-अधिक करना चाहिए। इस विषय में उन्हें यूक्लिड के बिन्दु और रेखा का उदाहरण बहुत प्रिय था। उन्होंने 'हरिजन सेवक' (१५। ९। ४६) में लिखा था कि यूक्लिड ने कहा है कि रेखा वही हो सकती है जिसमें चौड़ाई न हो, किन्तु ऐसी रेखा न तो आज तक कोई बना सका है और न बना सकेगा। फिर भी आदर्श रेखा को ध्यान में रखने से ही प्रगति हो सकती है। जो बात रेखा के बारे में सच है, वही प्रत्येक आदर्श के बारे में सच है।...अगर हम ऐसे (अराजक) समाज के लिए मेहनत करते रहें तो वह किसी हद तक बनता रहेगा और उस हद तक लोगों को उससे फायदा पहुचेगा।"

इस विषय में गांधी जी की तुलना प्लेटो से की जा सकती है। उसने 'रिपब्लिक' में अपने आदर्श राज्य की योजना प्रस्तुत की थी,[१] किन्तु उसे अपने जीवन के वैयक्तिक अनुभव और परीक्षणों से यह ज्ञात हो गया कि ऐसे राज्य की स्थापना सम्भव नहीं है, अतः उसने इस उच्चतम आदर्श से नीचे उतरकर अपने कानून या 'लाज़' (Laws) नामक ग्रन्थ में एक घटिया किन्तु व्यावहारिक राज्य की योजना रखी। इसी प्रकार गांधी जी ने अपने आरम्भिक जीवन में वर्तमान सभ्यता, यन्त्रवाद,

---

१. हरिदत्त वेदालंकार—पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, खण्ड १, पृ० ११८

उद्योगवाद, संसदीय शासन-प्रणाली और हिंसामूलक राज्य की घोर निन्दा करते हुए एक अराजक (Stateless) समाज का सपना लिया। किन्तु शीघ्र ही उन्हें जीवन की वास्तविकताओं को देखते हुए यह पता लग गया कि वर्तमान सभ्यता का, भारी उद्योगों का, मशीनों का तथा राज्य-व्यवस्था का समूलोन्मूलन और बहिष्कार करना सम्भव नहीं है, अतः उन्होंने अपने स्वप्नलोक से नीचे उतरकर व्यावहारिक जगत् के ऐसे अहिंसक लोकतन्त्र की कल्पना की जिसमें उनके आदर्शों को अधिकतम मूर्त्तरूप दिया जा सके। उनके मतानुसार यदि हम आदर्श के माउण्ट एवरेस्ट या गौरीशंकर के शिखर पर नहीं चढ़ सकते तो भी हमें सदैव उसे लक्ष्य में रखते हुए यथासम्भव अधिकतम ऊँचाई तक ऊपर चढ़ना चाहिए।

दूसरा दोष अहिंसा के सिद्धान्त को अत्यधिक महत्व देना और व्यापक बनाना है। गांधी जी का यह विचार ठीक नहीं प्रतीत होता है कि हिन्दू धर्म अहिंसा का उपासक है। वैदिक साहित्य में, रामायण, महाभारत तथा गीता में दुष्टों के दलन के लिए हिंसा और युद्ध का प्रतिपादन है। वैदिक युग के अन्त में छान्दोग्य उपनिषद् में हमें पहली बार अहिंसा का उल्लेख मिलता है (देखिए ऊपर पृ० ६४२)। प्राचीन काल में जैन धर्म ने तथा वर्तमान समय में गांधी जी ने इसे असाधारण महत्व दिया। गांधी जी ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अहिंसा के अस्त्र का प्रयोग करने का जो परामर्श दिया है वह भी अव्यावहारिक प्रतीत होता है। उनका यह विश्वास था कि सच्चे सत्याग्रही द्वारा हृदय से की गई प्रार्थना बमों की वर्षा करने वाले वायुयानचालक के हृदय पर प्रभाव डालेगी और उसे इस नृशंसतापूर्ण तथा अमानुषिक कार्य करने से विरत करेगी। किन्तु अणुयुद्धों को रोकने के इस उपाय की विफलता निश्चित है। गांधी जी ने जर्मनी के यहूदियों को हिटलर का अहिंसक रीति से सामना करने की सलाह दी, एबिसीनियनों, चैकोस्लोवाक तथा पोल लोगों को भी उनका यही परामर्श था। किन्तु इस प्रकार के प्रतिरोध के वर्तमान परिस्थितियों में सर्वथा निष्फल और निरर्थक होने में कोई सन्देह नहीं है।

तीसरा दोष राज्य को हिंसा का प्रतीक तथा मनुष्य की स्वतन्त्रता का विरोधी मानना है। पहले रूसो तथा ग्रीन (ऊपर पृ० १८२) के विचारों का विवेचन करते हुए बताया जा चुका है कि राज्य का एक मात्र आधार हिंसा या शक्ति नहीं, अपितु जनता की सामान्य इच्छा (General Will) है। यदि लोगों में ऐसी इच्छा न रहे तो राज्य का थोड़े समय के लिए भी बना रहना सम्भव नहीं प्रतीत होता है।

चौथा दोष गांधी जी के अहिंसात्मक उपायों का हिंसापूर्ण होना है। गांधी जी ने १९२० में शान्तिपूर्ण उपायों से स्वराज्य पाने के लिए जब अपने कार्यक्रम में विदेशी कपड़ों के बहिष्कार की तथा उनकी होली जलाने की बात रखी तो दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रयूज़ ने इसकी आलोचना करते हुए कहा था कि इस प्रकार से ब्रिटिश कारखानों में तैयार किए गए वस्त्रों की होली करना उन्हें 'हिंसापूर्ण, दूषित और अस्वाभाविक' कार्य प्रतीत होता है। इससे भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध वैसी विद्वेषपूर्ण राष्ट्रीयता की

भावना उत्पन्न होगी जैसी योरोप के विभिन्न राष्ट्रों में पाई जाती है।[1] 'स्टेट्समैन' के सम्पादक आर्थर मूर ने सत्याग्रह को 'मानसिक हिंसा' (Mental Violence) कहा था क्योंकि यह मनुष्यों के मनों पर प्रबल दबाव डालने का प्रयत्न करता है।[2] जिस प्रकार युद्ध में शस्त्रों द्वारा शत्रु के शरीर पर प्रहार करके उसे अपनी बात मनावाने के लिए विवश किया जाता है, उसी प्रकार इसमें शत्रु के मन पर हमला करके उसे हराने का प्रयत्न किया जाता है। लड़ाई में यदि शारीरिक हिंसा होती है तो सत्याग्रह में मानसिक हिंसा; अतः सत्याग्रह को अहिंसापूर्ण उपाय कहना ठीक नहीं है। मूर के मतानुसार सत्याग्रह न तो कोई धार्मिक या आध्यात्मिक शस्त्र है और न ही इसमें नैतिक दृष्टि से कोई उत्कृष्टता है। जब गांधी जी ने सत्याग्रह का प्रयोग आरम्भ किया था तो आलोचकों ने यह कहा था कि सत्य का स्वरूप जटिल होने के कारण इसका पालन कम होगा और यह शीघ्र ही दुराग्रह में परिणत हो जाएगा। आजकल सत्याग्रह के साधनों—हड़ताल, उपवास आदि का इतना दुरुपयोग होने लगा है कि उपर्युक्त आलोचना में कुछ सचाई प्रतीत होती है।

इसी प्रकार गांधी जी के अन्य सिद्धान्तों—विकेन्द्रीकरण, वर्ण-व्यवस्था, ट्रस्टीशिप या संरक्षकता के सिद्धान्तों में भी गम्भीर दोष हैं। पहले (पृ० ६६६-७५) इनका प्रतिपादन किया जा चुका है। वर्तमान युग में राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त को लागू करना सम्भव नहीं प्रतीत होता है। वर्ण-व्यवस्था का सिद्धान्त निम्न जातियों के बच्चों को अपने परम्परागत पेशों के साथ बाँधकर रखते हुए उनको उन्नति करने के अवसरों से वंचित करता है। उनके संरक्षकता के सिद्धान्त की व्यावहारिकता में प्रबल सन्देह है। इस भूतल पर ऐसा स्वर्ण युग आना असम्भव प्रतीत होता है जब धनी स्वेच्छापूर्वक अपनी विशाल सम्पत्ति समाज को समर्पित कर देंगे। विनोबा जी को भूदान में मिली अधिकांश भूमि बंजर और बेकार बतायी जाती है।

गांधी जी की देन और महत्व—उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में गांधी जी की कुछ विशिष्ट देनें हैं। **पहली** देन अणुबमों द्वारा प्रलयंकर ताण्डव की सम्भावना से भयभीत मानव-जाति को आत्मसंरक्षण के लिए अहिंसा के पथ का प्रदर्शन करना है। वस्तुतः संसार को अहिंसा की इतनी प्रबल आवश्यकता पहले कभी नहीं थी जितनी सर्वनाश की विभीषिका से संत्रस्त मानवता के लिए इस समय है। विध्वंस और विनाश के घनान्धकार में इस समय गांधीवाद ही उज्ज्वल आशा की एकमात्र किरण है। लार्ड बायड आर ने कहा था—"मेरे विचार में अब वह समय आ गया है जब गांधी जी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को विश्व-व्यापी स्तर पर व्यवहार में लाना चाहिए, इनका अवश्य प्रयोग करना चाहिए। इनका प्रयोग अवश्य किया जाएगा, क्योंकि जनता यह अनुभव करती है कि इसके सिवाय (विध्वंस से परित्राण की) कोई आशा नहीं है।" दूसरी देन धूर्तता, धोखेधड़ी

---

१. गोपीनाथ धवन—दी पोलिटिकल फिलासफी आफ माहात्मा गांधी, पृ० २१६

२. वही पुस्तक, पृ० २४४

और असत्य व्यवहार से परिपूर्ण राजनीति को धर्म और नैतिकता से अनुप्राणित करना तथा आध्यात्मिक बनाना है (देखिए ऊपर पृ० ६६१-६२)। **तीसरी** देन साध्य के साथ-साथ साधनों की पवित्रता और शुद्धता पर बल देना था (पृ० ६५७)। **चौथी** देन सत्य और अहिंसा के क्षेत्र को व्यापक और विशाल बनाना था। उनसे पहले इनका प्रयोग ऋषि-मुनियों तक तथा पारिवारिक क्षेत्र तक सीमित था। उन्होंने इसका प्रयोग सभी व्यक्तियों तथा सभी क्षेत्रों के लिए आवश्यक माना (ऊपर ६४६)। उन्होंने स्वयमेव राजनीतिक अन्यायों का प्रतिकार करने के लिए दक्षिण अफ्रीका तथा भारत में सत्याग्रह, असहयोग और सविनय आज्ञाभंग के विलक्षण आन्दोलन चलाए, इनसे भारत में अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न हुई, इसके परिणामस्वरूप भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। उन्होंने पददलित, पराधीन, पराजित और निःशस्त्र देशों को स्वाधीनता प्राप्त करने के अहिंसात्मक पद्धति वाले पथ का प्रदर्शन किया। **पाँचवीं** देन उनका समग्र जीवनव्यापी दर्शन था। उनकी दृष्टि में मानवीय जीवन एक अपरिच्छिन्न और अखण्ड समष्टि (One Whole) है। इसके सभी पक्ष एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। धर्म राजनीति से और राजनीति धर्म से सम्बद्ध है। इसीलिए उन्होंने राजनीति को धर्म से अनुप्राणित कर उसे आध्यात्मिक बनाया। इसी तरह ऋषि-मुनियों द्वारा पालन किए धर्म को पीड़ित और शोषित जनता की सेवा का साधन बनाया। उनसे पहले धर्म का सम्बन्ध परलोक से समझा जाता था, उन्होंने इसे इहलोक की वस्तु तथा मानव-जाति की सेवा का माध्यम बनाया। **छठी** देन व्यक्ति के विकास, महत्व और गरिमा पर बल देना था। राज्य की शक्ति में असाधारण वृद्धि और केन्द्रीकरण से राज्य का महत्व बढ़ने के साथ-साथ व्यक्ति का महत्व घट गया है, वह राज्यरूपी महायन्त्र का एक छोटा-सा पुर्जा मात्र रह गया है। राज्य के विशाल सागर में वह नन्हीं बूंद है। नाज़ी जर्मनी, फासिस्ट इटली तथा साम्यवादी रूस में व्यक्ति को बिलकुल नगण्य और तुच्छ बना दिया गया है। कल्याण-राज्य का आदर्श मानने वाले ग्रेट ब्रिटेन आदि देशों में भी व्यक्ति की स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। गांधी जी ने इस शोचनीय स्थिति को अस्वीकार करते हुए राज्य की सत्ता व्यक्ति के विकास के लिए मानी तथा इस बात पर बल दिया कि सच्चा लोकतन्त्र उस समय तक स्थापित नहीं हो सकता है जब तक जनता को शासन-सत्ता का दुरुपयोग करने वालों के प्रतिरोध का अधिकार न हो। उन्होंने पीड़ित और पददलित मनुष्यों में भी एक नवीन आशा, विश्वास और श्रद्धा का संचार कर उन्हें नई चेतना, शक्ति और स्फूर्ति से ओतप्रोत और आप्लावित किया। वे भंगी तक के बालक में दैवी अंश देखते थे और उसे उद्बुद्ध करने का प्रयत्न करते थे। सब व्यक्तियों की समानता, स्वतन्त्रता और महत्ता में उनका अगाध विश्वास था। **सातवीं** देन पूंजीवाद के दुष्परिणामों का प्रतिरोध करने के लिए क्रान्ति और युद्ध के अतिरिक्त संरक्षकता (Trusteeship) और असहयोग के अहिंसात्मक मार्ग का नवीन आविष्कार था (पृ० ६७३)। **आठवीं** देन उनका कोरा दार्शनिक न होकर कर्मयोगी होना तथा अपने सिद्धान्तों को स्वयमेव व्यावहारिक रूप प्रदान करना था। उनकी यह विशेषता थी कि वे दूसरों को अधिक उपदेश नहीं देते थे, किन्तु अपने

सिद्धान्तों को पहले स्वयमेव अपने जीवन में ढालते थे। महाकवि रवीन्द्रनाथ ने उनकी एक बड़ी विशेषता यही बतलायी है कि वे जब-कभी समाज में कोई नया परीक्षण करना चाहते थे तो उसे पहले अपने जीवन में लागू करते थे। यदि वे दूसरों से बलिदान की मांग करते थे तो सर्वप्रथम स्वयमेव अपनी आहुति देने के लिए प्रस्तुत रहते थे। यह इनकी विलक्षण सफलता और प्रभाव का एक बड़ा कारण था। वे दूसरों का सुधार करने के स्थान पर अपने या व्यक्ति के सुधार पर बल देते थे।

उपर्युक्त देनों के तथा विलक्षण प्रयोगों के कारण राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में गांधी जी का नाम अमर है। अणुबमों द्वारा लड़े जाने वाले प्रलयंकर विश्वयुद्धों की पृष्ठभूमि में उनके अहिंसा के प्रयोग विलक्षण महत्व रखते हैं, वे युद्ध-पीड़ित एवं सर्वनाश की आशंका से संत्रस्त मानव-जाति के लिए घनान्धकारपूर्ण रात्रि में उज्ज्वल उषा की किरण हैं। डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में गांधी जी को सदैव इस रूप में स्मरण किया जाएगा कि वे युद्ध से विह्वल (Distracted) विश्व को शान्ति प्रदान करने वाली एक नैतिक और आध्यात्मिक क्रान्ति को सम्पन्न करने वाले महापुरुष थे।[1]

---

१. 'विश्वभारती' त्रैमासिक का 'गांधी स्मृति शान्ति अंक', पृ० २६१

आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन में सहायक ग्रन्थों की सूची

(क) सामान्य ग्रन्थ

Alexander Gray : The Socialist Tradition, Longmans, London, 1948.

Barker, Earnest : Political Thought in England, Herbert Spencer to 1914, Oxford University Press.

Bhandari, D. R. : History of European Political Philosophy, Bangalore,, 4th ed., 1952.

Catlin, George : A History of Political Philosophies, Allen and Unwin, London, 1950.

Coker, Francis : Recent Political Thought, Applenton-Century, New York, 1934.

Coker, Francis : Readings in Political Philosophy, Macmillan, New York, 1937.

Davidson, William : Political Thought in England : Bentham to Mill, Oxford University Press.

Durant, Will : The Story of Philosophy, N.Y.

Doyle, Phyllis : A History of Political Thought, London, 1949.

Dunning, W. A. : A History of Political Theories, Vol. III, From Rousseau to Spencer, Macmillan, N.Y.

Ebenstein, William : Modern Political Thought : Great Issues, 2nd ed., Holt, N.Y., 1960.

Ebenstein, William : Great Political Thinkers, Plato to the Present, 3rd ed., Fascism Socialism.

Ebenstein, William : Today's Isms—Communism, Fascism, Capitalism, Socialism, 3rd ed., Prentice Hall, N.J., 1962.

Gettel, R. G. : History of Political Thought, The Century Co., N.Y.

Golob, Eugene : The Isms, Harper Brothers, N.Y.

Hallowell, J. H. : Main Currents in Modern Political Thought, Holt, N.Y., 1950.

Joad : Modern Political Theory, Oxford University Press.

Lancaster, L. W. : Masters of Political Thought, Vol. III, Harrap, London, 1959.

Maxey, Chester C. : Political Philosophies, Macmillan, N.Y., 1959.

Merriam, Barnes and Other : Political Theories, Present Times, Macmillan, New York, 1932.

Roucek, J. S. : Contemporary Political Ideologies.

Russel, Bertrand : A History of Western Philosophy, Allen and Unwin, London, 1946.

Russel, Bertrand : Wisdom of the West, Macdonald, London, 1959.

Sabine, G. A. : A History of Political Theory, Harrap, London, 1951.

Sharma, Ram Prakash : Modern Political Thought, Sterling, Delhi, 1966.

Suda, Jyoti Prasad : Modern Political Thought, Vol. III and IV, Meerut, 1960.

Utley, J. E. and Stuart Maclure : Documents of Modern Political Thought, Cambridge University Press, 1957.

Wayper, C. L. : Political Thought, London, 1954.

गणेशप्रसाद : राजनीतिक विचारधाराएँ, द्वितीय संशोधित संस्करण, कलकत्ता, १९५७।

गैटिल : राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, सत्यनारायण दुबे कृत हिन्दी अनुवाद, आगरा, १९६०।

कोकर : आधुनिक राजनीतिक चिन्तन, रामनारायण यादवेन्दु कृत अनुवाद, आगरा।

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा : पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा का इतिहास, हिन्दी समिति, लखनऊ, १९६४।

इंगलैण्ड का राजदर्शन : डेविडसन तथा बार्कर के उपर्युक्त ग्रन्थों का अनुवाद, इलाहाबाद।

राजनारायण गुप्त तथा राधानाथ चतुर्वेदी : पाश्चात्य राजदर्शन का इतिहास, इलाहाबाद, १९५४।

महादेवप्रसाद शर्मा : आधुनिक राजनीति के विभिन्न वाद, चैतन्य पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, १९५९।

डॉ० विमलेश : आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएँ, बुकलैण्ड, इलाहाबाद, १९६१।

जयनारायण पाण्डेय : प्रमुख राजनीतिक विचारकों की चिन्तनधारा, लोकचेतना, जबलपुर, १९५६।

(ख) अध्यायों के क्रम से प्रमुख राजनीतिक विचारकों के विचारों के अध्ययन में सहायक ग्रन्थ

Chapter I, II, III, IV—Utilitarianism

Albee, E. : History of English Utilitarianism (London, 1902).

Atkinsom, C. M. : Jeremy Bentham : His Life and Work.

Bain, A. : John Stuart Mill.

Bentham, J. : Fragment on Government (ed. by F. C. Montagu, Oxford, 1891).

Brinton, C. : English Political Thought in the 19th Century (London, 1933).

Brown, W. J. (ed.) : The Austinian Theory, London, 1906.

Coker, F. W. : Readings in Political Philosophy (Rev. ed., New York, 1938).

Dunning, W. A. : A History of Political Theories from Rousseau to Spencer (N.Y., 1920).

Halevy, E. : The Growth of Philosophic Radicalism, 3rd ed., Faber, 1952).

Hayck, F. A. : John Stuart Mill and Herriet Taylor : Their Correspondence and subsequent marriage (Routledge, 1951).

Mary, P. Mack : Jeremy Bentham, An Odyssey of Ideas (Heinmann, London, 1962).

Mill, J. S. : Utilitarianism, Liberty and Representative Govt. (Everyman's Library, 1910).

Mill, J. S. : On Liberty, the Subjection of Woman (Oxford University Press, 1954).

Mill, J. S. : Autobiography (World Classics, 1924).

मिल, जॉन स्टुअर्ट : स्वाधीनता, हिन्दी अनुवाद महावीर प्रसाद द्विवेदी कृत, बम्बई, १९१२।

मिल, जॉन स्टुअर्ट : स्वतन्त्रता तथा प्रतिनिधि शासन, हिन्दी अनुवाद, हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९६६।

Packe, M. St. J. : The Life of John Stuart Mill (Secker and Warburg, 1954).

Stephen, Sir L. : The English Utilitarians, 3 Vols. (Duckworth, London School of Economics, 1950).

Chapter V, VI—Idealism

Kant, Hegel, Green, Bosanquet and Breadly

Bosanquet B. : The Philosophical Theory of the State (Macmillan, 3rd ed., 1920).

Dunning, W. A. : A History of Political Theories from Rousseau to Spencer (Macmillan, N.Y., 1920)—Chapter IV.

Fair Brothers, W. H. : The Philosophy of Thomas Hill Green (London, 1896).

Findlay, J. N. : Hegel : A Reexamination (Collier Book, New York, 1962).

Gettell, R. G. : History of Political Thought (N. York, 1924), Chapter XIX.

Green, T. H. : Lectures on the Principles of Political Obligations with an Introduction by A. D. Lindsay (Longmans, 1941).

Green, T. H. : Works ed. by R. L. Nettleship, 3 Vols. (Longmans, 1886-88, London).

Harris, F. P. : The Neo-Idealist Political Theory (New York, 1944).

Hobhouse, L. T. : The Metaphysical Theory of the State (Allen and Unwin, 1918).

Hegel, G. W. F. : The Philosophy of Right, translated with notes by T. M. Knox (Oxford University Press, 1942).

Hegel, G. W. F. : The Philosophy of History (translated by J. Sibsee, 1857), Willey Book Co. (1944).

Kant, I. : Critique of Pure Reason (J. M. Dent and Co., Everyman's Library, 1934).

काण्ट : शुद्ध बुद्धि मीमांसा, उपर्युक्त पुस्तक का मूल जर्मन भाषा से हिन्दी अनुवाद, श्री भोलानाथ शर्मा कृत, हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९६५।

Kant, I. : Perpetual Peace, Peace Book Co., London, 1939.

Marcuse, H. : Reason and Revolution : Hegel and the Rise of Social Theory (Routledge, 1941).

Morris, G. S. : Hegel's Philosophy of the State and History (Chicago, 1887).

Muirhead, J. H. : The Service of the State, Four Lectures on the Political Teaching of T. H. Green (London, 1908).

Ritchie, D. G. : The Principles of State Interference (London, 1891).

Sabine, G. H, : A History of Political Theory, Chapter XXX.

Stace. W. T. : The Philosophy of Hegel (London, 1924).

Willibald Klinke : Kant for Everyman (Collier Books, New York, 1962).

Zimmern, A. (ed.) : Modern Political Doctrines (London, 1939).

Chapter VII—Spencer and Huxley

Barker, E. : Political Thought in England from Herbert Spencer to the Present Day (Home University Library, Oxford University Press), Chapter IV. हिन्दी अनुवाद किताब महल, इलाहाबाद।

Spahr, M. : Readings in Recent Political Philosophy (New York, 1935), Chapter VI.

Spencer, Herbert : Social Statistics (1850).

Spencer, H. : The Social Organism (1860).

Spencer, H. : Principles of Sociology (1878-80)
Spencer, H. : Sins of Legislators.
Spencer, H. : Man versus the State (1884).
Spencer, H. : Autobiography, 3 Vols.
Watson, J. : Comte, Mill and Spencer (N.Y., 1895).

Chapter VIII—Maine and Comte

Barker, E. : Political Thought in England from 1848 to 1914, Oxford University Press.
Dunning, W. A. : A History of Political Theories, Vol. III.
Maine, H. J. S. : Ancient Law.
Maine, H. J. S. : Early Law and Custom.
Maine, H. J. S. : Early History of Institutions.
Maine, H. J. S. : Popular Government.
McLennan, J. F. : The Patriarchal Theory, 1885, Mailtand and Pollock, History of Ancient Law, 1895.
Grant Duff, M. E. : Sir Henry Maine, A Brief Memoir, London, 1920.
Comte, Auguste : Cours de Philosophic Positive, 6 tomes, Paris, 1829-42. System of Positive Polity, 4 Vols., translated by a group of collaborators; Vol. II, Social Statics, translated by Frederic Harrison; Vol. III, Social Dynamics, edited by E. S. Beesly.

Chapter IX—Socialism

General History of Socialism

Alexander Gray : The Socialist Tradition from Marx to Lenin.
Cole, G. D. H. : A History of Socialist Thought, 5 Vols., London, 1953-7.
Crossland, C. A. R. : The Future of Socialism, Macmillan, New York, 1957.
Laidler, Harry : History of Socialism, Routledge, 1968.
Mackenzie, Norman : Socialism, A Short History (Hutchinson's University Library, London, 1949).
Massino Salvadori (ed.) : Modern Socialism, Macmillan, London, 1968.
डॉ० सम्पूर्णानन्द : समाजवाद, पंचम संस्करण, भारतीग ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९६० ।
अशोक मेहता : लोकतान्त्रिक समाजवाद, अनुवादक श्यामाप्रसाद प्रदीप, अखिल भारतीय सर्व सेवा संघ, काशी, १९५९ ।
अशोक मेहता : एशियाई समाजवाद, अ० भा० सेवा संघ, काशी ।

Chapter X—Karl Marx

(A) Biographies :—

Beer, Max : The Life and Teaching of Karl Marx (London, 1929).
Berlin, I. : Karl Marx, His Life and Environment (London, 1948).
Carr, E. H. : Karl Marx, A Study in Fanaticism (Dent, 1935).
Franz Mehsing : Karl Marx, The Story of his Life translated by E. Fitzerald, London, 1948.
हरदयाल : कार्ल मार्क्स, विशाल भारत बुक डिपो, कलकत्ता।

(B) Original Sources :—

Selected Works of Marx and Engels, 2 Vols., London.
Handbook of Marxism : ed. by Emil Burns, New York, 1934.
Sidney Hook : Marx and Marxists, New York, 1955.
Marx : Capital, 3 Vols. translated by S. Moore and E. Aveling, London, 1909-13. Modern Library, 1906 and Everyman's Library Edition translated by Eden and Cedar Paul.
कार्ल मार्क्स : पूंजी, खण्ड १, ओमप्रकाश संगल कृत हिन्दी अनुवाद, प्रगति प्रकाशन, मास्को, १९६६।
Marks and Engels : Communist Manifesto in many editions.
मार्क्स तथा एंगल्ज : कम्यूनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र (पीपल्स पब्लिशिंग हाउस, बम्बई)।

(C) General Survey and Critical Studies :—

Henry, B. Mayo. : Introduction to Marxist Theory, Oxford University Press, 1960.
G. D. H. Cole : The Meaning of Marxism, London, 1950.
R. N. Carew Hunt : The Theory and Practice of Communism, rev. ed., N.Y., 1957.
R. N. Carew Hunt : Marxism, Past and Present, 1954.
John Plamenatz : German Marxism and Russian Communism, London, 1954.
K. R. Popper : The Open Society and its Enemies, Princeton, 1950. The enemies are Plato, Hegel and Marx.
Arthur Rosenberg : A History of Bolshevism, London, 1939.
Hugh Seton-Watson : From Lenin to Malenkov, The History of World Communism, N.Y., 1957.
Milovan Djilas : The New Class, An Analysis of the Communist System, N.Y., 1957.
Robert Conquest : Marxism Today, London, 1965.

टी० बी० बोटोमोर : आधुनिक समाज में वर्ग, हिन्दी अनुवादक सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, नेशनल अकादमी, दिल्ली।

Dan N. Jacobs : The New Communist Manifesto and Related Documents, Harper Torchbook, N.Y., 1963.

Emil Burns : What is Marxism ?

एमिल बर्न्स : मार्क्सवाद क्या है? पीपल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, तीसरा हिन्दी संस्करण, १९६२।

करपात्री जी : मार्क्सवाद और रामराज्य, गीता प्रेस, गोरखपुर।

Chapter XI—Lenin, Stalin, Mao Tse-Tung

(A) Biographies :—

Bertram D. Wolfe : Three who made a Revolution : Lenin, Trotsky and Stalin.

I. Deutscher : Stalin : A Political Biography, New York, 1949.

(B) Original Works :—

Lenin : Selected Works, 3 Vols., Moscow, 1947.

लेनिन : संकलित रचनाएँ, तीन खण्ड, मास्को।

लेनिन, व्ला० इ० : साम्राज्यवाद, पूँजीवाद की चरम अवस्था, विदेशी प्रकाशन गृह, मास्को।

लेनिन, व्ला० इ० : राजसत्ता और क्रान्ति, विदेशी प्रकाशन गृह, मास्को।

Lenin : Selected Works, 12 Vols., New York, 1936-9.

Stalin : Leninism, Selected Writings, New York, 1936.

Stalin : Collected Works of Stalin, 46 Vols., Laurence and Wisart, London, 1953.

Mao Tse-Tung : Selected Works, 4 Vols., New York, 1954-6. These are only to 1945. Later works are : On Practice, N.Y., 1953, On Contradiction, N.Y., 1953, Let a Hundred Flowers Bloom, On the Correct Handling of Contradictions among the People ed. by G. F. Hudson, N.Y., 1960.

माओ त्से-तुंग ग्रन्थावली : पाँच भाग, पीपल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

(C) Critical Studies :—

David Floyd : Mao against Khrushchev, London, 1964.

Stuart R. Sraum : The Political Thought of Mao Tse-Tung, N.Y., 1963.

Leopold Labdez : Revisionism, Library of International Studies, Allen and Unwin, London, 1962.

Crankshaw : Khrushchev's Russia, Penguin Books, 1960.

Crossman, Richard : The God That Failed, Bantam Books, N.Y., 1952.
Djilas, Milovan : The New Class, Praegar, N.Y., 1959.
Koestler, Arthur : Darkness at Noon, Mentor Book, N.Y., 1948.
Seton-Watson, Hugh : From Lenin to Khrushchev : The History of World Communism, Praegar Paperbacks, 1960.

Chapter XII—Evolutionary Socialism : Collectivism and Fabianism

Basic Texts :—

Barnard Shaw : Essays in Fabian Socialism.
Sidney Webb : Graham Wallas, Annie Besant.
Edward R. Pease : The History of the Fabian Society, Fifield, 1916.
Beatrice Webb : My Apprenticeship, Longmans, 1942.
Beatrice Webb : Our Partnership, Longmans, 1948.
Cole, G. D. H. : Fabian Socialism.
Cole, M. (ed.) : The Webbs and Their Work, Muller, London, 1948.
Crossman, R. H. S. (ed.) : New Fabian Essays, Surnstile Press, 1952.
Ulam, A. : Philosophical Foundations of English Socialism, Oxford University Press, 1951.

Chapter XIII—Syndicalism and Guild Socialism

Syndicalism :—

Coker : Recent Political Thought, Chapter VIII.
Elliot, W. Y. : The Pragmatic Revolt in Politics, Macmillan, 1928.
Gray, A. : The Socialist Tradition, Chapter XV.
Sorel : Reflections on Violence, Free Press, London, 1950.

Guild Socialism :—

Cole, G. D. H. : Self Government in Industry, London, 1917.
Cole, G. D. H. : Social Theory, New York, 1920.
Cole, G. D. H. : Guild Socialism Restated, London, 1920.
Hobsen, S. G. : Guild Principles in War and Peace, London, 1917.
Penty, A. J. : The Restoration of Guild System, London, 1906.

Chapter XIV—Psychological School

Bagehot : Physics and Politics, London, 1876.
E. S. Bogardus : Essentials of Social Psychology, Berkley, 1917.

M. Ginsberg : The Psychology of Society.
G. Lebon : Psychology of the Peoples N.Y., 1898.
G. Lebon : The Crowd, 2nd ed., London, 1897.
G. Lebon : The Psychology of Revolution, N.Y., 1913.
W. Mcdougall : The Group Mind, London, 1920.
W. Mcdougall : Social Psychology, Boston, 1921.
R. M. MacIver : Community, London, 1917.
G. Wallas : Human Nature in Politics, London, 1908.
G. Wallas : The Great Society, N.Y., 1914.
G. Wallas : Our Social Heritage, London, 1921.

Chapter XV—Pluralism

Coker, F. W. : Recent Political Thought.
Duguit, Leon : Law in the Modern State.
Elliot, W. Y. : The Pragmatic Revolt in Politics.
Figgis, J. N. : The Will to Freedom, 1917.
Figgis, J. N. : The Churches in the Modern State, 1913.
Follet, M. P. : The New State, 1918.
Laski, H. J. : The Problem of Sovereignty, 1917.
Laski, H. J. : Authority in the Modern State, 1919.
Laski, H. J. : Foundations of Sovereignty and other Essays, 1921.
Maitland, F. W. : Introduction to Gierke's Political Theories of the Middle Ages, 1900.
Merriam, C. E. : History of the Theory of Sovereignty since Rousseau.

Chapter XVI—Fascism and Nazism

For Fascism :—

Ascoli, M. and Feiler, A. : Fascism for Whom, New York, 1938.
Coker, F. W. : Recent Political Thought (N.Y., 1934), Chapter XVIII.
Dutt, R. P. : Fascism and Social Revolution (N.Y., 1934).
McGovern, W. M. : From Luther to Hitler (Boston, 1941), Chapter XI.
Mussolini, B. : My Autobiography (London, 1928).
Mussolini, B. : The Political and Social Doctrines of Fascism (London, 1933).
Oakshott, M. J. : The Social and Political Doctrines of Contemporary Europe (N.Y., 1942), Chapter IV.

For Nazism :—

Baynes, N. H. : The Speeches of Adolf Hitler (N.Y., 1942).
Dewey, J. : German Philosophy and Politics (Rev. ed., N.Y., 1942).
Ebenstein, W. : The Nazi State (N.Y., 1943).
Hitler, A. : Mein Kampf (Annotated translation, N.Y., 1939).
हिटलर : मेरा संघर्ष ।
McGovern : From Luther to Hitler, Chapter XII.
Roucek, J. (ed.) : Twentieth Century Political Thought (New York, 1946), Chapters VI-VII.

Chapter XVII—Democracy

Appleby, P. H. : Big Democracy (New York, 1945).
Blaich and Others : The Challenge to Democracy (N.Y., 1942).
Bryce : Modern Democracy (Macmillan, 1921).
Burns : The Challenge to Democracy.
Burns : The Merits and Demerits of Democracy.
Calton, F. : Hereditary Genius.
Chambers, W. N. and Salisbury, R. H. : Democracy Today, Problems and Prospects, Collier Books, N.Y., 1962.
Coker, F. W. : Democracy, Liberty and Property (New York, 1942).
Coker, F. W. : Recent Political Thought.
Gay Peter : The Dilemma of Democratic Socialism, Collier Books, N.Y., 1962.
Hattersly, A. F. : A Short History of Democracy (Cambridge, 1930).
Hook, Sidney : Political Power and Personal Freedom, Critical Studies in Democracy, Communism and Civil Rights, Collier Books, N.Y., 1962.
Lindsay, A. D. : The Essentials of Democracy, Philadelphia, 1929.
Mallock, W. H. : Limits of Pure Democracy (London, 1918).
Merrian, C. E. : The New Democracy and the New Despotism (New York, 1939).
Niebhur, R. : The Children of Light and the Children of Darkness : A Vindication of Democracy (New York, 1944).
Orton, W. A. : The Liberal Tradition (New Haven, 1945).
Rappard, W. E. : The Crisis of Democracy (Chicago, 1938).

Chapter XVIII—Laski, Cole and Bertrand Russel

Deane, H. A. : The Political Ideas of H. J. Laski (Columbia University Press, 3rd impression, 1958). It contains an exhaustive biblio-

graphy on the works of Laski and books and articles about Laski, p. 346-369.

Martin, Kingsley : Harold Laski : A Biographic Memoir.

Russel, Bertrand : Principles of Social Reconstruction.

Russel, Bertrand : Roads to Freedom.

Russel, Bertrand : Authority and the Individual (London, 1949).

Russel, Bertrand : Power, A New Analysis.

Sarma, G. N. : The Political Thought of Harold J. Laski (Orient Longmans, Bombay, 1965).

Chapter XIX—Gandhism

(क) महात्मा गांधी के जीवन तथा उनके सिद्धान्तों के विषय में १९५५ तक देश-विदेश में प्रकाशित ३६७१ पुस्तकों तथा लेखों का विशद आलोचनात्मक परिचय ५६५ पृष्ठ के निम्नलिखित ग्रन्थ में है :—

Jagdish Saran Sharma : Mahatma Gandhi, A Descriptive Bibliography (S. Chand & Co., Delhi, 1955).

महात्मा गाँधी के सभी भाषणों और लेखों का प्रामाणिक विवरण कालक्रमानुसार भारत सरकार के प्रकाशन विभाग द्वारा कई खण्डों में प्रकाशित हो रहा है। इसके १९ खण्ड अब तक छप चुके हैं। इनमें १९२१ तक के लेख और भाषण हैं।

(ख़) महात्मा गांधी की जीवनी और कार्यों का विवेचन कालक्रमानुसार निम्नलिखित ग्रन्थों में है :—

Doke, Joseph J. : M. K. Gandhi : An Indian Patriot in South Africa, London, 1909.

यह पहला जीवन-चरित्र एक पादरी ने दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी के सत्याग्रह आन्दोलन से प्रभावित होकर लिखा था, इसमें उनके आरम्भिक जीवन का सुन्दर विवेचन है।

Rolland, Romain : Mahatma Gandhi, Paris, 1924.

Gandhi, M. K. : The Story of My Experiments with Truth. Translated from the original in Gujarati by Mahadev Desai, Navjivan Press, 1922-29, 2 Vols.

गांधी जी : आत्मकथा, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली, २ खण्ड।

Fulop-Miller, Rene : Lenin and Gandhi (G.P. Putnams, 1922).

Polak, H. S. L. : Mahatma Gandhi (Natesan, Madras, 1931).

Fischer, Louis : Gandhi (New American Library, New York, 1954).

Tendulkar, Dinanath Gopal : Mahatma, Life of M. K. Gandhi, 8 Vols. (Times of India Press, Bombay, 1951-54).

(ग) गांधी जी के सिद्धान्तों और विभिन्न विषयों में उनके वचनों तथा लेखों के संग्रह नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली (स० स० दि०) तथा सर्वोदय संघ राजघाट, बनारस (स० रा० ब०) से छपे हैं। गांधी जी के सभी भाषणों और लेखों का संग्रह भारत सरकार के पब्लिकेशन डिवीज़न द्वारा The Collected Works of Mahatma Gandhi के नाम से छप रहा है। अभी तक १९ खण्डों में उनके दिसम्बर १९२१ तक दिए गए भाषणों और लेखों का प्रकाशन हो चुका है। १९२२ से १९४८ तक के भाषणों तथा लेखों वाले खण्ड अगले कुछ वर्षों में प्रकाशित हो जाएँगे। उनके प्रधान राजनीतिक सिद्धान्तों का विवेचन निम्नलिखित ग्रन्थों में है :—

Agrawal, A. N. : Gandhism, A Socialistic Approach (Kitab Mahal, Allahabad, 1944).

Alexander, Horace : Social and Political Ideas of Gandhiji (Council of World Affairs, New Delhi, 1949).

Dantwala, M. L. : Gandhism Reconsidered (Bombay, 1944).

Datta, Dhirendra Mohan : The Philosophy of Mahatma Gandhi (Mudisers University of Wisconsin Press, 1953).

Dhawan, G. N. : The Political Philosophy of Mahatma Gandhi (Pupular Book Depot., Bombay, 1946).

Mashruwala, K. G. : Gandhi and Marx (Navjivan Publishing House, Ahmedabad, 1951).

Mazumdar : *Biman Bihari* (ed.) : The Gandhian Concept of the State (M. C. Sarkar, Calcutta, 1957).

Radhakrishnan, S. (ed.) : Mahatma Gandhi, Essays and Reflections on his Life and Work (Allen and Unwin, London, 1949).

The Collected Works of Mahatma Gandhi

गांधी मोहनदास करमचन्द : हिन्द स्वराज्य, अनुवादक कालिकाप्रसाद, सत्साहित्य प्रकाशन, दिल्ली १९५८।

गांधी, मो० क० : मेरा समाजवाद (नवजीवन प्र० अ०, १९५९)।

गांधी, मो० क० : अहिंसक समाजवाद की ओर (नवजीवन प्र० अ०)।

गांधी, मो० क० : मेरे सपनों का भारत, सं० आर० के० प्रभु (नव० प्र० अ० १९६०)।

गांधी, मो० क० : अहिंसा और सत्य, सम्पादक रामनाथ सुमन, (उत्तर प्रदेश गांधी स्मारक निधि, सेवापुरी, वाराणसी, १९६५)।

दिवाकर, रंगनाथ : सत्याग्रह मीमांसा (सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली, १९४९)।

नारायणसिंह : मार्क्स और गांधी का साम्यदर्शन (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १८८५ शकाब्द)।

मशरूवाला, कि० घ० : गांधी और साम्यवाद (नवजीवन प्र० अ०, मई, १९५६)।

अनुक्रमणिका